श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्री वीर जिनालय
सत् असत्
अनेक
नित्य अनित्य
अजीव
मोक्ष
पुण्य पाप
परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
प्रमाण
अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक' तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना, जैसे विद्या संस्थाओं लायब्रेरियों सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५) ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—

मैनेजर—'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

ओं अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोक हितके संदेशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास साहित्यकला और
समाज-शास्त्रके प्रौढ़ विचारोंसे परिपूर्ण
सचित्रमासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)
१ दरियागंज, देहली

बारहवाँ वर्ष

[जूनसे वैशाख, वीर नि० सं० २४७९-८०]

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

[illegible]षिक मूल्य
छह [illegible]रुपये

मई
१९५४

एक किरण का मूल्य
आठ आने

अनेकान्तके बारहवें वर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक	पृष्ठ

विषय और लेखक	पृष्ठ

नवीन वर्षसे कुछ उपयोगी योजनाएँ

अनेकान्त प्रतिमास ऐतिहासिक, अनुसन्धानात्मक एवं स्वाध्यायोपयोगी सामग्री पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करता है। परन्तु प्रतिवर्ष घाटा रहनेसे वह जैसी और जितनी उत्तम सामग्री प्रस्तुत करना चाहता है, उसे नहीं कर पाता। इस घाटेकी पूर्ति तभी हो सकती है, जब कि इसकी ग्राहक संख्या बढ़े। इसके लिए आगामी वर्षसे निम्नलिखित योजनाएं की गई हैं:—

(१) मनीआर्डरसे १०) पेशगी भेजने वालोंका प्रत्येक किरणकी दो कापी दी जायेंगी, एक उनके लिए और दूसरी उनके किसी इष्ट मित्र, रिश्तेदार या संस्था आदिको जिसे वे भिजवाना चाहेंगे।

(२) जो विद्वान स्थानीय किसी संस्था और मंदिर का ग्राहक बनाकर १२) मनीआर्डरसे पेशगी भेजेंगे उन्हें अनेकान्त एक वर्ष तक भेंटस्वरूप भेजा जायगा।

आवश्यक सूचना—आगामी वर्षसे स्वाध्यायोपयोगी सामग्री एवं शंका-समाधानका स्तम्भ रखनेकी खास व्यवस्था की जारही है। अतः लोगोंको नवीन वर्षके प्रारम्भसे ही ग्राहक बनने तथा बनानेकी शीघ्रता करना चाहिए।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

अतिशय क्षेत्र श्री चाँदनपुरके महावीर स्वामी
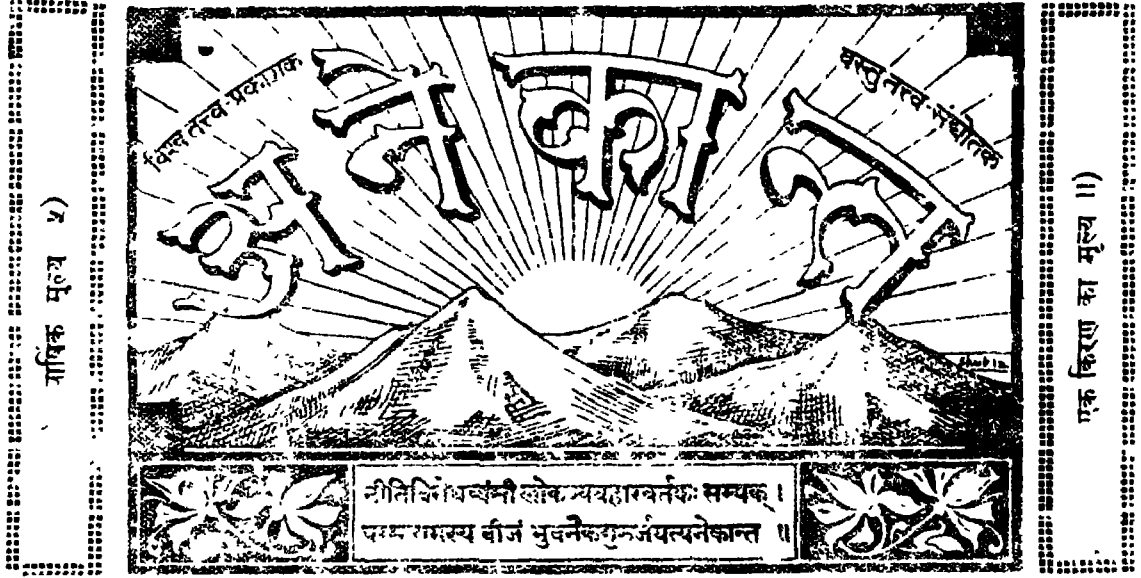
ॐ अर्हम्

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली	जून
किरण १	ज्येष्ठ वीरनि० संवत् २४७९, वि० संवत् २०१०	१९५३

श्रीमत्पण्डिताऽऽशाधर-विरचितं

सिद्ध-गुण-स्तोत्रम्

यस्याऽनुग्रहतो दुराग्रह परित्यक्तात्मरूपात्मनः, सद्द्रव्यं चिदचित्त्रिकालविषयं स्वैः स्वैरभीक्ष्णं गुणैः ।
सार्थ-व्यंजन-पर्ययैः समवयज्जानाति बोधः समं, तत्सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुरं सिद्धाः ! परं नौमि वः ॥१॥

यत्सामान्यविशेषयोः सह-पृथक्-स्याऽन्यस्थयोर्दीपवच्चित्तं, ग्रातक्रमुद्रिरन्मुदमरं नो रज्यति द्वेष्टि न ।
धारावाह्यपि तत्प्रतिक्षण-नवीभावोद्धुराऽर्थापित-प्रामाण्यं प्रणमामि वः फलितदृग-ज्ञप्त्युक्ति-मुक्ति-श्रिये ॥२॥

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं, साकारं च विशेषगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छया ।
ते नेत्रे क्रमवर्तिनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः, स्फूर्जती युगपत्पुनर्विरजसां युष्माकमंगोतिगाः ! ॥३॥

शक्ति-व्यक्ति-विभक्त-विश्व-विविधाकारौघ-किम्मीरिताऽनन्तानन्त-भवस्थ-मुक्त-पुरुपोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवत् ।
स्वं स्वं तत्त्वमसंकर-व्यतिकरं कर्तुं न् क्षणं प्रत्ययो, भोक्तृन्नन्वयतः स्मरामि परमाश्चर्यस्य वीर्यस्य वः ॥४॥

यं व्याहन्ति न जातु किंचिदपि न व्याहन्यते केनचिच्चान्निष्पीत-समस्त-वस्त्वपि सदा केनापि न स्पृश्यते ।
यत्सर्वज्ञ-समक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थोद्गिरां, तद्वः सूक्ष्मतमं सतत्वमभवा ! भाव्यं भवोच्छित्तये ॥५॥

गत्वा लोक-शिरस्यधर्मवशतश्चन्द्रोपमे सन्मुख—प्राग्भाराख्य-शिलातलोपरिमनागूनैकगव्यूतिके ।
योगो ष्मांगदरोर्नामत्यपि मिथोऽसंबाधमेकत्र यत्तत्क्ष्याऽनंतमितोऽपि निष्ठथ स वः पुण्यावगाहो गुणः ॥६॥

सिद्धाश्चेद्गुरवो निराश्रयतया भ्रश्यंत्ययःपिंडवत्तेऽधश्चेल्लघवोऽर्कतूलवदितस्ततश्च चंडेन तत् ।
क्षिप्यन्ते तनुवात-वातवलये नेत्युक्ति-युक्त्युद्धतैर्नाऽऽप्तोपज्ञमवीष्यतंऽगुरुलघु क्षुद्रैः कथं वो गुणः ॥७॥

यत्तापत्रयहेति भैरव-भवोदर्चिः शमाय क्षमा, युष्माभिर्विदधे व्ययप्रत्यय तदव्याबाधमेतद्ध्रुवम् ।
येनोद्वेल-सुखामृतार्णव-निरातंकाभिषेकोल्लसच्चित्कायान् कलयाऽपि वः कलयितुं श्रम्यंति योगीश्वराः ॥८॥

एतेऽनंतगुणादगुणाः स्फुटमपोद्धृत्याष्ट दिष्टाभवत्तत्वाद्‌भावयितुं सतां व्यवहृति प्राधान्यतस्तात्विकैः ।
एतद्भावनया निरंतरगलद्वीकल्पजालस्य मेस्तादत्यन्तलयः सनातनचिदानंदात्मनि स्वात्मनि ।।९।।
उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकयन्नेतां सिद्धगुणस्तुतिं पठति यः शश्वच्छिवाशाधरः ।
रूपातीत-समाधि-साधित-वपुःपातः पतद्दुष्कृत-व्रातः सोऽभ्युदयोपभुक्तसुकृतः सिद्धयेत् तृतीये भवे ।।१०।।

इत्याशाधरकृत-सिद्धगुणस्तोत्रं समाप्तम् ।

नोट :—इस गम्भीर स्तोत्रकी एक सुन्दर संस्कृतटीका भी जयपुरके शास्त्र-भण्डारसे उपलब्ध हुई है, जो वादीन्द्र विशालकीर्तिके प्रियसूनु (शिष्य) यति विद्यानन्दकी रचना है। टीका - प्रति फालगुन सुदि ४ संवत् १६२० की लिखी हुई है। इस टीकाको फिर किसी समय प्रकाशित किया जायगा।

समन्तभद्र-वचनामृत

[१०]

(श्रावक-पद)

श्रावक-पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः॥१३६

'श्रीतीर्थंकरदेवने—भगवानवर्द्धमानने—श्रावकोंके पद—प्रतिमारूप गुणस्थान—ग्यारह बतलाए हैं, जिनमें अपने-अपने गुणस्थानके गुण पूर्वके सम्पूर्ण गुणोंके साथ क्रम-विवृद्ध होकर तिष्ठते हैं—उत्तरवर्ती गुणस्थानोंमें पूर्ववर्ती गुणस्थानोंके सभी गुणोंका होना अनिवार्य (लाजिमी) है, तभी उस पद गुणस्थान अथवा प्रतिमाके स्वरूपकी पूर्ति होती है।'

व्याख्या—जो श्रावक-श्रेणियाँ आमतौर पर 'प्रतिमा' के नामसे उल्लेखित मिलती हैं उन्हें यहाँ 'श्रावकपदानि' पदके प्रयोग-द्वारा खासतौरसे 'श्रावकपद' के नामसे उल्लेखित किया गया है और यह पद-प्रयोग अपने विषयकी सुस्पष्टताका द्योतक है। श्रावकके इन पदोंकी आगम-विहित मूल संख्या ग्यारह है—सारे श्रावक ग्यारह दर्जोंमें विभक्त हैं। ये दर्जे गुणोंकी अपेक्षा लिये हुए हैं और इस लिये इन्हें श्रावकीय-गुणस्थान भी कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि चौदह सुप्रसिद्ध गुणस्थानोंमें श्रावकोंसे सम्बन्ध रखनेवाला 'देशसंयत' नामका जो पाचवां गुणस्थान है उसीके ये सब उपभेद हैं। और इसलिये ये एकमात्र सल्लेखनाके अनुष्ठातासे सम्बन्ध नहीं रखते*। सल्लेखनाका अनुष्ठान तो प्रत्येक पदमें स्थित श्रावकके लिए विहित है, जैसा कि चारित्रसार के निम्नवाक्यसे भी जाना जाता है—

"उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या।"

* इस सम्बन्धकी बातको टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपने निम्न प्रस्तावना-वाक्यके द्वारा व्यक्त किया है—

"साम्प्रतं योऽसौ सल्लेखनाऽनुष्ठाता तस्य कति प्रतिमा भवन्तीत्याशंक्याह—।"

यहाँ पर एक बात खासतौरसे ध्यानमें रखने योग्य है और वह यह कि ये पद अथवा गुणस्थान गुणोंकी क्रम-विवृद्धिको लिये हुए हैं अर्थात् एक पद अपने उस पदके गुणोंके साथमें अपने पूर्ववर्ती पद या पदोंके सभी गुणोंको साथमें लिए रहता है—ऐसा नहीं कि 'आगे दौड़ पीछे चौड़' की नीतिको अपनाते हुए पूर्ववर्ती पद या पदोंके गुणोंमें उपेक्षा धारण की जाय, वे सब उत्तरवर्ती पदके अंगभूत होते हैं—उनके बिना उत्तरवर्ती पद अपूर्ण होता है और इसलिये पदवृद्धिके साथ आगे कदम बढ़ाते हुए वे पूर्वगुण किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं होते—उनके विषयमें जो सावधानी पूर्ववर्ती पद या पदोंमें रक्खी जाती थी वही उत्तरवर्ती पद या पदोंमें भी रक्खी जानी चाहिये।

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोग-निर्विण्णः।
पंचगुरु-चरण-शरणः दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः॥१३७

'जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है अथवा निरतिचार सम्यग्दर्शनका धारक है, संसारसे शरीरसे तथा भोगोंसे विरक्त है—उनमें आसक्ति नहीं रखता, पंचगुरुओंके चरणोंकी शरणमें प्राप्त है—अर्हन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके पदों पद-वाक्यों अथवा आचारोंको अपाय-परिरक्षकके रूपमें अपना आश्रयभूत समझता हुआ उनका भक्त बना हुआ है—और जो तत्त्वपथकी ओर आकर्षित है—सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गकी अथवा तत्त्वरूप अनेकान्त † और मार्गरूप अहिंसा' दोनोंकी पक्षको लिए हुए है—वह 'दर्शनिक' नामका (प्रथमपद या प्रतिमा-धारक) श्रावक है।'

† "तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं" (युक्त्यनुशासन)
"एकान्तदृष्टिप्रतिषेधितत्त्वं" (स्वयम्भूस्तोत्र)

—इति समन्तभद्रः

व्याख्या—जिस सम्यग्दर्शनकी शुद्धिका यहाँ उल्लेख है वह प्रायः उसी रूपमें यहाँ विवक्षित है जिस रूपमें उसका वर्णन इस ग्रन्थके प्रथम अध्ययनमें किया गया है और इसलिए उसकी पुनरावृत्ति करनेकी जरूरत नहीं है। पूर्व-कारिकामें यह कहा गया है कि प्रत्येक पदके गुण अपने पूर्वगुणोंको साथमें लिये तिष्ठते हैं। इस पदसे पूर्व श्रावक-का कोई पद है नहीं, तब इस पदसे पूर्वके गुण कौनसे? वे गुण चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती 'अव्रतसम्यग्दृष्टि' के गुण हैं, उन्हींका द्योतन करनेके लिये आरम्भमें ही 'सम्यग्दर्शन-शुद्धः' इस पदका प्रयोग किया गया है। जो मनुष्य सम्य-ग्दर्शनसे युक्त होता है उसकी दृष्टिमें विकार न रहनेसे वह संसारको, शरीरको और भोगोंको उनके यथार्थ रूपमें देखता है और जो उन्हें यथार्थ रूपमें देखता है वही उनमें आसक्ति न रखनेके भावको अपना सकता है। उसी भाव-को अपनानेका यहाँ इस प्रथम पदधारी श्रावकके लिये विधान है। उसका यह अर्थ नहीं है कि वह एक दम संसार देह तथा भोगोंसे विरक्ति धारण करके वैरागी बन जाय, बल्कि यह अर्थ है कि वह उनसे सब प्रकारका सम्पर्क रखता और उन्हें सेवन करता हुआ भी उनमें आसक्त न होवे—सदा ही अनासक्त रहनेका प्रयत्न तथा अभ्यास करता रहे। इसके लिये वह समय समय पर अनेक नियमों-को ग्रहण कर लेता है, उन बारह व्रतोंमें से भी किसी-किसीका अथवा सबका खण्डशः अभ्यास करता है जिनका निरतिचार पालन उसे अगले पदमें करना है और इसतरह वह अपनी आत्मशक्तिको विकसित तथा स्थिर करनेका कुछ उपाय इस पदमें प्रारम्भ कर देता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि वह नियमित रूपसे मांसादिके त्यागरूपमें मूलगुणोंका धारण-पालन शुरू कर देता है जिनका कथन इस ग्रन्थमें पहले किया जा चुका है और यह सब 'संसार शरीर-भोग-निर्विण्णः' और 'पंच गुरु चरण-शरणः' इन दोनों पदोंके प्रयोगसे साफ ध्वनित होता है। पंच गुरुओंमें अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच आगमविहित परमेष्ठियोंका अर्थात् धर्म गुरुओंका समा-वेश है—माता-पितादिक लौकिक गुरुओंका नहीं। 'चरण' शब्द आमतौर पर पदों—पैरोंका वाचक है, पद शरीरके निम्न (नीचेके) अंग होते हैं, उनकी शरणमें प्राप्त होना शरण्यके प्रति अति विनय तथा विनम्रताके भावका द्योतक है। चरणका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ 'आचार' भी है, जैसा कि इसी ग्रन्थके तृतीय अध्ययनमें प्रयुक्त हुए 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' 'सकलं विकलं चरणं' और 'अणु-गुण-शिक्षा-व्रतात्मकं चरणं' इन वाक्योंके प्रयोगसे जाना जाता है। आचारमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पांच प्रकारका आचार शामिल है* अपने अपने आचार-विशेषोंके कारण ही ये पंचगुरु हमारे पूज्य और शरण्य हैं अतः इन पंचगुरुओंके आचारको अपनाना—उसे यथाशक्ति अपने जीवनका लक्ष्य बनाना ही वस्तुतः पंच गुरुओंकी शरणमें प्राप्त होना है। पदोंका आश्रय तो सदा और सर्वत्र मिलता भी नहीं, आचारका आश्रय, शरण्य-के सम्मुख मौजूद न होते हुए भी, सदा और सर्वत्र लिया जा सकता है। अतः चरणके दूसरे अर्थकी दृष्टिसे पंच गुरुओंकी शरणमें प्राप्त होना अधिक महत्व रखता है। जो जिन-चरणकी शरणमें प्राप्त होता है उसके लिये मद्य-मांसादिक वर्जनीय हो जाते हैं; जैसा कि इसी ग्रन्थमें अन्यत्र (का० ८४) '......... मद्यं च वर्जनीयं जिन-चरणौ शरणमुपयातैः' इस वाक्यके द्वारा व्यक्त किया गया है।

इस पदधारीके लिये प्रयुक्त हुआ 'तत्त्वपथगृह्यः' विशेषण और भी महत्वपूर्ण है और वह इस बातको सूचित करता है कि यह श्रावक सन्मार्गकी अथवा अनेकान्त और अहिंसा दोनोंकी पक्षको लिये हुए होता है। ये दोनों ही सन्मार्गके अथवा जिनशासनके दो चरण हैं।

निरतिक्रमणमणुव्रत-पंचकमपि शीलसप्तकं चाऽपि धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः॥१३८

'जो श्रावक निःशल्य (मिथ्या, माया, और निदान नामकी तीनों शल्योंसे रहित) हुआ बिना अतीचारके पांचों अणुव्रतों और साथ ही सातों शीलव्रतोंको भी धारण करता है वह व्रतियों-गणधरादिक देवों-के द्वारा व्रतीके पदका धारक (द्वितीय श्रावक) माना गया है।'

व्याख्या—यहां 'शीलसप्तकं' पदके द्वारा तीन गुण-व्रतों और चार शिक्षाव्रतोंका ग्रहण है—दोनों प्रकारके

* दंसण-णाण-चरित्ते तव्वे विरियाचारम्हि पंचविहे।
—मूलाचार ५-२

व्रतोंके लिए संयुक्त एक संज्ञा 'शील' है और सप्तक शब्द उन व्रतोंकी मिली हुई संख्याका सूचक है। तत्वार्थसूत्रमें भी 'व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमं' इस सूत्रके द्वारा इन सातों व्रतोंकी 'शील' संज्ञा दी गई है। इन सप्तशील व्रतों और पंच अणुव्रतोंको जिनका अतीचार-सहित वर्णन इस ग्रन्थमें है पहले किया जा चुका है, यह द्वितीय श्रावक निरतिचाररूपसे धारण-पालन करता है। इन बारह व्रतों और उनके साठ अतीचारोंका विशेष वर्णन इस ग्रन्थमें पहले किया जा चुका है, उसको फिरसे यहां देनेकी जरूरत नहीं है। यहां पर इतना ही समझ लेना चाहिये कि इस पद (प्रतिमा) के पूर्वमें जिन बारह व्रतोंका सातिचार-निरतिचारादिके यथेच्छ रूपमें खण्डशः अनुष्ठान या अभ्यास चला करता है वे इस पदमें पूर्णताको प्राप्त होकर सुव्यवस्थित होते हैं।

यहां 'निःशल्यो' पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और इस बातको सूचित करता है कि व्रतिकके लिये निःशल्य होना अत्यन्त आवश्यक है। जो शल्यरहित नहीं वह व्रती नहीं—व्रतोंके वास्तविक फलका उपभोक्ता नहीं हो सकता। तत्वार्थसूत्रमें भी 'निःशल्यो व्रती' सूत्रके द्वारा ऐसा ही भाव व्यक्त किया गया है। शल्य तीन हैं—माया, मिथ्या और निदान। 'माया' वंचना एवं कपटाचारको कहते हैं, 'मिथ्या' दृष्टिविकार अथवा तत्तद्विषयक तत्व श्रद्धाके अभावका नाम है और 'निदान' भावी भोगोंकी आकांक्षाका द्योतक है। ये तीनों शल्यकी तरह चुभने वाली तथा बाधा करने वाली चीजें हैं, इसीसे इनको 'शल्य' कहा गया है। व्रतानुष्ठान करने वालेको इन तीनोंसे ही-रहित होना चाहिए; तभी उसका व्रतानुष्ठान सार्थक हो सकता है। केवल हिंसादिकके त्यागसे ही कोई व्रती नहीं बन सकता, यदि उसके साथ मायादि शल्यें लगी हुई हैं।

चतुरावर्त-त्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसंध्यमभिवन्दी

'जो श्रावक (आगम-विहित समयाचारके अनुसार) तीन तीन आवर्तोंके चार चार किये जानेकी, चार प्रणामोंकी, ऊर्ध्व कायोत्सर्गकी तथा दो निषद्याओं (उपवेशनों) की व्यवस्थासे व्यवस्थित और यथाजातरूपमें—दिगम्बरवेषमें अथवा बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहकी चिन्तासे विनिवृत्तिकी अवस्थामें—स्थित हुआ मन-वचन-कायरूप तीनों योगोंको शुद्धि पूर्वक तीनों सन्ध्याओं (पूर्वान्ह, मध्यान्ह, अपरान्ह) के समय वन्दना-क्रिया करता है वह 'सामयिक' नामका—तृतीयप्रतिमाधारी—श्रावक है।'

व्याख्या—यहाँ आगम-विहित कुछ समयाचारका सांकेतिक रूपसे उल्लेख है, जो आवर्तों, प्रणामों, कायोत्सर्गों तथा उपवेशनों आदिसे संबद्ध है, जिनकी ठीक विधि व्यवस्था विशेषज्ञोंके द्वारा ही जानी जा सकती है। श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने टीकामें जो कुछ सूचित किया है उसका सार इतना ही है कि एक एक कायोत्सर्गके विधानमें जो 'णमो अरहन्ताणं' इत्यादि सामायिक-दण्डक और 'थोस्सामि' इत्यादि स्तव-दण्डककी व्यवस्था है उन दोनोंके आदि और अन्तमें तीन तीन आवर्तोंके साथ एक एक प्रणाम किया जाता है, इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करने होते हैं। साथ ही, देववन्दनाके आदि तथा अन्तमें जो दो उपवेशन क्रियाएँ की जाती हैं उनमें एक नमस्कार प्रारम्भकी क्रियामें और दूसरा अन्तकी क्रियामें बैठकर किया जाता है। इसे पं० आशाधरजीने मतभेदके रूपमें उल्लेखित करते हुए यह प्रकट किया है कि स्वामी समन्तभद्रादिके मतसे वन्दनाकी आदि और समाप्तिके इन दो अवसरों पर दो प्रणाम बैठ कर किये जाते हैं और इसके लिये प्रभाचन्द्रकी टीकाका आधार व्यक्त किया है* इस तरह यह जाना जाता है कि चारों दिशाओंमें तीन तीन आवर्तोंके साथ एक एक प्रणामकी जो प्रथा आजकल प्रचलित है वह स्वामि समन्तभद्र-सम्मत नहीं है।

दोनों हाथोंको मुकुलित करके—कमल कलिकादिके रूपमें स्थापित करके—जो उन्हें प्रदक्षिणाके रूपमें तीन बार घुमाना है उसे आवर्तत्रितय (तीन बार आवर्त करना) कहते हैं। यह आवर्तत्रितयकर्म, जो वन्दना-मुद्रामें कुहनियोंको उदर पर रख कर किया जाता है, मन

* 'मतान्तर माह—मत इष्टं, के इनती। कैः कैश्चित स्वामिसमन्तभद्रादिभिः। कस्मात्प्रणमनात् प्रणमनात्। किं कृत्वा? निविश्य उपविश्य। कयोः? वन्दनाद्यन्तयोर्वन्दनायाः प्रारम्भे समाप्तौ च। यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डक-टीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादिसूत्रे द्विनिषद्य इत्यस्य व्याख्याने 'देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति'।

—अनगारधर्मामृत टीका पृ० ६०८।

वचन-कायरूप तीनों योगोंके परावर्तनका सूचक है१ और परावर्तन योगोंकी संयतावस्थाका द्योतक शुभ व्यापार कहलाता है, ऐसा पं० आशाधरजीने प्रकट किया है२। ऐसी हालतमें 'आवर्तत्रितय' पदका प्रयोग वन्दनीयके प्रति भक्तिभावके चिन्हरूपमें तीन प्रदक्षिणाओंका द्योतक न होकर त्रियोगशुद्धिका द्योतक है ऐसा फलित होता है। परन्तु 'त्रियोगशुद्धः' पद तो इस कारिकामें अलगसे पड़ा हुआ है, फिर दुबारा त्रियोगशुद्धिका द्योतन कैसा ? इस प्रश्नके समाधान रूपमें कुछ विद्वानोंका कहना है कि "आवर्तत्रितय में निहित मन-वचन काय-शुद्धि कृतिकर्मकी अपेक्षासे है और यहाँ जो त्रियोग-शुद्धः पदसे मन-वचन-कायकी शुद्धिका उल्लेख किया है वह सामायिक की अपेक्षासे है।" परन्तु कृतिकर्म (कर्मछेदनोपाय) तो सामायिकका अंग है और उस अंगमें द्वादशावर्तसे भिन्न त्रियोगशुद्धिको अलगसे गिनाया गया है३ तब 'त्रियोग-शुद्धः पदके वाच्यको उससे अलग कैसे किया जा सकता है ? यह एक समस्या खड़ी होती है। अस्तु।

'यथाजातः' पद भी यहां विचारणीय है। आम तौर पर जैन परिभाषाके अनुसार इसका अर्थ जन्म-समयकी अवस्था-जैसा नग्न-दिगम्बर होता है; परन्तु आचार्य प्रभाचन्द्रने टीकामें 'बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः' पदके द्वारा इसका अर्थ 'बाह्य तथा अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहोंकी चिन्तासे विमुक्त' बतलाया है और आजकल प्रायः इसीके अनुसार व्यवहार चल रहा है। परिस्थिति-वश पं० आशाधरजीने भी इसी अर्थको ग्रहण किया है।

इस सामायिक पदमें, सामायिक शिक्षाव्रतका वह सब आचार शामिल है जो पहले इस ग्रन्थमें बतलाया गया है। वहां वह शीलके रूपमें है तो यहाँ उसे स्वतन्त्र व्रतके रूपमें व्यवस्थित समझना चाहिए।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणधिपरः प्रोषधाऽनशनः॥१४०

'प्रत्येक मासके चारों ही पर्व-दिनोंमें—प्रत्येक अष्टमी-चतुर्दशीको—जो श्रावक अपनी शक्तिको न छिपाकर, शुभ ध्यानमें रत हुआ एकाग्रताके साथ प्रोषधके नियमका विधान करता अथवा नियमसे प्रोषधोपवास धारण करता है वह 'प्रोषधोपवास' पद-का धारक (चतुर्थ श्रावक) होता है।

व्याख्या—द्वितीय 'व्रतिक' पदमें प्रोषधोपवासका निरतिचार विधान आ गया है तब उसीको पुनः एक अलग पद (प्रतिमा) के रूपमें यहाँ रखना क्या अर्थ रखता है ? यह एक प्रश्न है। इसका समाधान इतना ही है कि प्रथम तो व्रत-प्रतिमामें ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मास-की अष्टमी-चतुर्दशीको यह उपवास किया ही जावे—वह वहाँ किसी महीनेमें अथवा किसी महीनेके किसी पर्व दिन-में स्वेच्छासे नहीं भी किया जा सकता है; परन्तु इस पद-में स्थित होने पर, शक्तिके रहते, प्रत्येक महीनेके चारों ही पर्वदिनोंमें नियमसे उसे करना होता है—केवल शक्तिका वास्तविक अभाव ही उसके न करने अथवा अधूरे रूपसे करनेमें यहाँ एकमात्र कारण हो सकता है। दूसरे वहाँ (दूसरी प्रतिमामें) वह शीलके रूपमें—अणुव्रतोंकी रक्षिका परिधि (बाड़) की अवस्थामें—स्थित है और यहाँ एक स्वतन्त्र व्रतके रूपमें (स्वयं शस्यके समान रक्षणीय-स्थितिमें) परिगणित है। यही दोनों स्थानोंका अन्तर है४।

---

१. कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसां।
स्तव-सामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणा॥—अमितगतिः

२. शुभयोग-परावर्तानावर्तान् द्वादशाद्यन्ते।
साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगीः संयतं परावर्त्यम्॥

३. द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादशावर्तमित्यपि।
चतुर्नति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत्॥—चारित्रसारः

४. कवि राजमल्लजीने 'लाटीसंहिता' में अन्तरकी जो एक बात यह कही है कि दूसरी प्रतिमामें यह व्रत सातिचार है और यहाँ निरतिचार है ('सातिचारं च तत्र-स्यादत्राऽतीचार वर्जितं) वह स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिसे कुछ संगत मालूम नहीं होती; क्योंकि उन्होंने दूसरी प्रति-मामें 'निरतिक्रमणं' पदको अलगसे 'अणुव्रतपञ्चकं' और 'शीलसप्तकं' इन दोनों पदोंके विशेषण रूपमें रक्खा है और उसके द्वारा अणुव्रतोंकी तरह सप्तशीलोंको भी निरति-चार बतलाया है। यदि व्रतप्रतिमामें शीलव्रत निरतिचार नहीं हैं तो फिर देशावकाशिक, वैय्यावृत्य और गुणव्रतों-की भी निरतिचारता कहाँ जाकर सिद्ध होगी ?—कोई भी पद (प्रतिमा) उनके विधानको लिए हुए नहीं है। पं० आशाधरजीने भी व्रतप्रतिमामें बारह व्रतोंको निरतिचार प्रतिपादन किया है१।

१. यथा—'धारयन्नुत्तरगुणानक्षूणान्व्रतिको भवेत्।'' टी० अक्षूणान् निरतिचारान्।

उपवासके दिन जिन कार्योंके न करनेका तथा जिन कार्योंके करनेका विधान इस ग्रन्थमें शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हुए किया गया है उनका वह विधि-निषेध यहाँ भी प्रोषध-नियम-विधायी' पदके अंतर्गत समझना चाहिये।

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥१४१

'जो दयालु (गृहस्थ) मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल) करीर गांठ-कैरी), कन्द, फूल और बीज, इनको कच्चे (अनग्नि पक्व आदि अप्रासुक दशामें) नहीं खाता वह 'सचित्तविरत' पदका—पांचवीं प्रतिमाका—धारक श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहाँ 'आमानि' और 'न अत्ति' ये दो पद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं। 'आमानि' पद अपक्व एवं अप्रासुक अर्थका द्योतक है और न अत्ति' पद भक्षणके निषेधका वाचक है, और इसलिये वह निषेध उन अप्रासुक (सचित्त) पदार्थोंके एकमात्र भक्षण-से सम्बन्ध रखता है—स्पर्शनादिकसे नहीं १—जिनका इस कारिकामें उल्लेख है। वे पदार्थ वानस्पतिक हैं, जलादिक नहीं और उनमें कन्द-मूल भी शामिल है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकार महोदय स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें यह श्रावकपद (प्रतिमा) अप्रासुक वनस्पतिके भक्षण-त्याग तक सीमित है, उसमें अप्रासुकको प्रासुक करने और प्रासुक वनस्पतिके भक्षणका निषेध नहीं है। 'प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः' इस उक्तिके अनुसार प्रासुक (अचित्त) के भक्षणमें कोई पाप भी नहीं होता। अप्रासुक कैसे प्रासुक बनता अथवा किया जाता है इसका कुछ विशेष वर्णन ८९ वीं कारिकाकी व्याख्यामें किया जा चुका है।

अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाऽश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः॥१४२

'जो श्रावक रात्रिके समय अन्नं—अन्न तथा अन्नादिनिर्मित या विमिश्रित भोजन-, पान-जल-दुग्ध-रसादिक, खाद्य २ अन्नभिन्न दूसरे खानेके पदार्थ जैसे पेड़ा, बर्फी, लौजात, पाक, मेवा, फल, मुरब्बा इलायची, पान, सुपारी आदि; और लेह्य चटनी, शर्बत, रबड़ी आदि (इन चार प्रकारके भोज्य पदार्थों) को नहीं खाता है वह प्राणियों-में दयाभाव रखने वाला 'रात्रिभुक्तिविरत' नामके छठे पदका धारक श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहां 'सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः' पदका जो प्रयोग किया गया है वह इस व्रतके अनुष्ठानमें जीवों पर दयादृष्टिका निर्देशक है; और 'सत्त्वेषु' पद चूंकि बिना किसी विशेषणके प्रयुक्त हुआ है इसलिए उसमें अपने जीवका भी समावेश होता है। रात्रिभोजनके त्यागसे जहां दूसरे जीवोंकी अनुकम्पा बनती है वहां अपनी भी अनुकम्पा सधती है—रात्रिको भोजनकी तलाशमें निकले हुए अनेकों विषैले जन्तुओंके भोजनके साथ पेटमें चले जानेसे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होकर शरीर तथा मनकी शुद्धिको जो हानि पहुँचाते हैं उनसे अपनी रक्षा होती है। शेष इन्द्रियोंका जो संयम बन आता है और उससे आत्माका जो विकास सधता है उसकी तो बात ही अलग है। इसीसे इस पदके पूर्वमें बहुधा लोग अन्नादि-के त्यागरूपमें खण्डशः इस व्रतका अभ्यास करते हैं।

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः॥१४३

'जो श्रावक शरीरको मलबीज—शुक्र शोणितादि-मलमय कारणोंसे उत्पन्न हुआ—मलयोनि—मलका उत्पत्तिस्थान—, गलन्मल मलका झरना—दुर्गन्ध-युक्त और बीभत्स—घृणात्मक-देखता हुआ कामसे—मैथुन कर्मसे-विरक्ति धारण करता है वह ब्रह्मचारी पद (सातवीं प्रतिमा) का धारक होता है।'

व्याख्या—यहाँ कामके जिस अंगके साथ रमण-करके संसारी जीव आत्म-विस्मरण किये रहते हैं उसके स्वरूपका अच्छा विश्लेषण करते हुए यह दर्शाया गया है कि वह अंग विवेकी पुरुषोंके लिए रमने योग्य कोई वस्तु

---

१ भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चाऽत्र भोजयेत्॥
—लाटीसंहिता ७-१७

२ खाद्यके स्थान पर कहीं कहीं 'स्वाद्य' पाठ मिलता है जो समुचित प्रतीत नहीं होता। टीकाकार प्रभाचन्द्रने भी 'खाद्य' पदका ग्रहण करके उसका अर्थ मोदकादि किया है जिन्हें अन्नभिन्न समझना चाहिए।

नहीं—वह तो घृणाकी चीज है, और इसलिये उसे इस घृणात्मक दृष्टिसे देखता हुआ जो मैथुन कर्मसे अरुचि-धारण करके उस विषयसे सदा विरक्त रहता है वह 'ब्रह्मचारी' नामका सप्तम-प्रतिमा धारक श्रावक होता है। वस्तुतः कामांगको जिस दृष्टिसे देखनेका यहां उल्लेख है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उस दृष्टिको आत्मामें जागृत और तदनुकूल भावनाओंसे भावित एवं पुष्ट करके जो ब्रह्मचारी बनता है वह ब्रह्मचर्य पदमें स्थिर रहता है, अन्यथा उसके भ्रष्ट होनेकी संभावना बनी रहती है। इस पदका धारी स्व-परादिरूपमें किसी भी स्त्रीका कभी सेवन नहीं करता है। प्रत्युत इसके, ब्रह्ममें—शुद्धात्मामें—अपनी चर्याको बढ़ाकर अपने नामको सार्थक करता है।

सेवा-कृषि-वाणिज्य-प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति।
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भ-विनिवृत्तः॥१४४

'जो श्रावक ऐसी सेवा और वाणिज्यादिरूप आरम्भ-प्रवृत्तिसे विरक्त होता है जो प्राणपीड़ाकी हेतुभूत है वह 'आरम्भ-त्यागी' (८ वें पदका अधिकारी) है।'

व्याख्या—यहां जिस आरम्भसे विरक्ति धारण करनेकी बात कही गई है उसके लिये दो विशेषण पदोंका प्रयोग किया गया है—एक 'सेवा-कृषि-वाणिज्य प्रमुखात्' और दूसरा 'प्राणातिपात हेतोः'। पहले विशेषणमें आरम्भके कुछ प्रकारोंका उल्लेख है, जिनमें सेवा, कृषि और वाणिज्य ये तीन प्रकार तो स्पष्ट रूपसे उल्लेखित हैं, दूसरे और कौनसे प्रकार हैं जिनका संकेत 'प्रमुख' शब्दके प्रयोग द्वारा किया गया है, यह अस्पष्ट है। टीकाकार प्रभाचन्द्रने भी उसको स्पष्ट नहीं किया। चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें जहाँ इस ग्रन्थका बहुत कुछ शब्दशः अनुसरण किया है वहाँ वे भी इसके स्पष्टीकरणको छोड़ गए हैं *। पंडित आशाधरजीका भी अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें ऐसा ही हाल है ×। 'अनुप्रेक्षा' के कर्ता स्वामी कार्तिकेय और लाटीसंहिताके कर्ता कवि राजमल्ल आरम्भके प्रकार-विषयमें मौन हैं और आचार्य वसुनन्दीने एकमात्र 'गृहारम्भ' कह कर ही छुट्टी पाली है। ऐसी हालतमें 'प्रमुख' शब्दके द्वारा दूसरे किन आरम्भोंका ग्रहण यहाँ ग्रन्थकार महोदयको विवक्षित रहा है, यह एक विचारणीय विषय है। हो सकता है कि उनमें शिल्प और पशुपालन जैसे आरम्भोंका भी समावेश हो; क्योंकि कथनक्रमको देखते हुए प्रायः आजीविका-सम्बन्धी आरम्भ ही यहां विवक्षित जान पड़ते हैं। मिलोंके महारम्भोंका तो उनमें सहज ही समावेश हो जाता है और इसलिये वे इस व्रतधारीके लिए सर्वथा त्याज्य ठहरते हैं।

रही अब पंचसूनाओंकी बात, जो कि गृहस्थ जीवनके अंग हैं, सूक्ष्मदृष्टिसे यद्यपि उनका समावेश आरम्भोंमें हो जाता है परन्तु इसी ग्रन्थमें वैयावृत्यका वर्णन करते हुए 'अप-सूनाऽऽरम्भाणामार्याणामिष्यते दानं' वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'अपसूनारम्भाणां' पदमें सूनाओंको आरम्भोंसे पृथक् रूपमें ग्रहण किया है और इससे यह बात स्पष्ट जानी जाती है कि स्थूल दृष्टिसे सूनाओंका आरम्भोंमें समावेश नहीं है। तब यहां विवक्षित आरम्भोंमें उनका समावेश विवक्षित है या कि नहीं, यह बात भी विचारणीय हो जाती है और इसका विचार विद्वानोंको समन्तभद्रकी दृष्टिसे ही करना चाहिये। कवि राजमल्लजीने इस प्रतिमामें अपने तथा परके लिये की जाने वाली उस क्रियाका निषेध किया है जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो*; परन्तु स्वयं वे ही यह भी लिखते हैं कि वह अपने वस्त्रोंको स्वयं अपने हाथोंसे प्रासुक जलादिके द्वारा धो सकता है तथा किसी साधर्मीसे धुला सकता है ×; तब क्या शुद्ध अग्नि जलसे कूकर आदिके द्वारा वह अपना भोजन भी स्वयं प्रस्तुत नहीं कर सकता?

दूसरा विशेषण आरम्भोंके त्यागकी दृष्टिको लिए हुए है और इस बातको बतलाता है कि सेवा-कृषि-वाणिज्यादिके रूपमें जो आरम्भ यहाँ विवक्षित हैं उनमें वे ही आरम्भ त्याज्य हैं जो प्राणघातके कारण हैं—जो किसीके

---

* उन्होंने इतना ही लिखा है कि —"आरम्भविनिवृत्तोऽसिमसि-कृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भात् प्राणातिपात-हेतोर्विरतो भवति।" यहाँ सेवाकी जगह असि, मसि कर्मोंकी सूचना की गई है। शेष सब ज्योंका त्यों है।

× वे अपने 'कृष्यादीन्' पदकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—'कृषि-सेवा-वाणिज्यादिव्यापारम्'

* "बहुप्रलपितेनालमात्मार्थं वा परात्मने।
यत्रारम्भस्य लेशोऽस्ति न कुर्यात्तामपि क्रियाम्॥"

× "प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना।
कुर्याद्वा स्वस्यहस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा॥"

प्राणघातमें कारण नहीं पड़ते वे सेवादिक आरम्भ त्याज्य नहीं हैं। और इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि इन सेवादिक आरम्भोंके दो भेद हैं—एक वे जो प्राणघातमें कारण होते हैं और दूसरे वे जो प्राणघातमें कारण नहीं होते। अतः विवक्षित आरम्भोंमें विवेक करके उन्हीं आरम्भोंको यहाँ त्यागना चाहिए जो प्राणातिपातके हेतु होते हैं—शेष आरम्भ जो विवक्षित नहीं हैं तथा जो प्राणघातके हेतु नहीं उनके त्यागकी यहाँ कोई बात नहीं है। इस विशेषणके द्वारा व्रतीके विवेकको भारी चुनौती दी गई है।

बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
स्वस्थः संतोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥१४५॥

'जो दस प्रकारकी बाह्य वस्तुओंमें—धन-धान्यादि परिग्रहोंमें—ममत्वको छोड़कर निर्ममभावमें रत रहता है, स्वात्मस्थ है—बाह्य पदार्थोंको अपने मानकर भटकता नहीं—और परिग्रहकी आकांक्षासे निवृत्त हुआ संतोष धारणमें तत्पर है वह 'परिचित्तपरिग्रहविरत'—सब ओरसे चित्तमें बसे हुए परिग्रहोंसे विरक्त—९वें पदका अधिकारी श्रावक है।'

व्याख्या—यहां जिन दस प्रकारकी बाह्य वस्तुओंका सांकेतिक रूपमें उल्लेख है वे वही बाह्य परिग्रह हैं जिनका परिग्रहाणुव्रत-ग्रहणके अवसर पर अपने लिये परिमाण किया गया था और जो अपने ममत्वका विषय बने हुए थे। उन्हींको यहां 'परिचित्तपरिग्रह' कहा गया है और उन्हींसे विरक्ति धारणका इस नवम पदमें स्थित श्रावकके लिए विधान है। उसके लिए इतना ही करना होता है कि उन चित्तमें बसी हुई परिग्रहरूप वस्तुओंसे ममत्वको-मेरापनके भावको—हटाकर निर्ममत्वके अभ्यासमें लीन हुआ जाय। इसके लिए 'स्वस्थ' और 'सन्तोषतत्पर, होना बहुत ही आवश्यक है। जब तक मनुष्य अपने आत्माको पहचान कर उसमें स्थित नहीं होता तब तक पर-पदार्थोंमें उसका भटकाव बना रहता है। वह उन्हें अपने समझकर उनके ग्रहणकी आकांक्षाको बनाए रखता है। इसी तरह जब तक सन्तोष नहीं होता तब तक परिग्रहका त्याग करके उसे सुख नहीं मिलता और सुख न मिलनेसे वह त्याग एक प्रकारसे व्यर्थ हो जाता है।

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः॥१४६॥

'जिसकी निश्चयसे आरम्भमें—कृष्यादि सावद्य-कर्मोंमें—, परिग्रहमें—धन धान्यादिरूप दस प्रकारके बाह्य पदार्थोंके ग्रहणादिकमें—और लौकिक कार्योंमें—विवाहादि तथा पंचसूनादि जैसे दुनियादारीके कामोंमें—अनुमति करने-कराने की सलाह, अनुज्ञा, आज्ञा—नहीं होती वह रागादि-रहित-बुद्धिका धारक 'अनुमतिविरत' नामका—दशम पदस्थित—श्रावक माना गया है।'

व्याख्या—यहां 'आरम्भे' पदके द्वारा उन्हीं आरंभोंका ग्रहण है जो प्राणातिपातके हेतु हैं और जिनके स्वयं न करनेका व्रत नवमपदको ग्रहण करते हुए लिया गया था। इस पदमें दूसरोंको उनके करने-करानेकी अनुमति आज्ञा अथवा सलाह देनेका भी निषेध है। 'परिग्रहे' पदमें दसों प्रकारके सभी बाह्य परिग्रह शामिल हैं और 'ऐहिकेषु कर्मसु' इन दो पदोंमें आरम्भ तथा परिग्रहसे भिन्न दूसरे (विवाहादि जैसे) लौकिक कार्योंका समावेश है—पारलौकिक अथवा धार्मिक कार्योंका नहीं। इन लौकिक कार्योंके करने-करानेमें इस पदका धारी श्रावक जब अपनी कोई अनुमति या सलाह नहीं देता तब कहकर या आदेश देकर कराने की तो बात ही दूर है। परन्तु पारलौकिक अथवा धार्मिक कार्योंके विषयमें उसके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है—उनमें वह अनुमति दे सकता है और दूसरोंसे कहकर करा भी सकता है।

यहां इस पदधारीके लिए 'समधीः' पदका प्रयोग अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि वह दूसरोंके द्वारा इन आरम्भ-परिग्रह तथा ऐहिक कर्मोंके होने न होनेमें अपना समभाव रखता है। यदि वह समभाव न रक्खे तो उसे रागद्वेषमें पड़ना पड़े और तब अनुमतिका न देना उसके लिए कठिन हो जाय। अतः समभाव उसके इस व्रतका बहुत बड़ा रक्षक है।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥१४७॥

'जो श्रावक घरसे मुनिवनको जाकर और गुरुके निकट व्रतोंको ग्रहण करके तपस्या करता हुआ

भैक्ष्य-भोजन करता है—भिक्षाद्वारा ग्रहीत भोजन लेता अथवा अनेक घरोंसे भिक्षा-भोजन लेकर अन्तके घर या एक स्थान पर बैठकर उसे खाता है—और वस्त्रखण्डका धारक होता है—अधूरी छोटी चादर (शाटक) अथवा कोपीन-मात्र धारण करता है—वह 'उत्कृष्ट' नामका—ग्यारहवें पद (प्रतिमा) का धारक सबसे ऊँचे दर्जेका—श्रावक होता है।'

व्याख्या—यहां मुनिवनको जानेकी जो बात कही गई है वह इस तथ्यको सूचित करती है कि जिस समय यह ग्रन्थ बना है उस प्राचीनकालमें जैन मुनिजन वनमें रहा करते थे—चैत्यवासादिकी कोई प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी। घरसे निकल कर तथा मुनिवनमें जाकर ही इस पदके योग्य सभी व्रतोंको ग्रहण किया जाता था—जो व्रत पहलेसे ग्रहण किए होते थे उन्हें फिरसे दोहराया अथवा नवीनीकृत किया जाता था। व्रत-ग्रहणकी यह सब क्रिया गुरुसमीपमें—किसीको गुरु बनाकर उसके निकट अथवा गुरुजनोंको साक्षी करके उनके सांनिध्यमें—की जाती थी। आजकल मुनिजन अनगारित्व धर्मको छोड़ कर प्रायः मन्दिरों-मठों तथा गृहोंमें रहने लगे हैं अतः उनके पास वहीं जाकर उनकी साक्षीसे अथवा अर्हन्तकी प्रतीकभूत किसी विशिष्ट जिनप्रतिमाके सम्मुख जाकर उसकी साक्षीसे इस पदके योग्य व्रतोंको ग्रहण करना चाहिये।

इस पदधारीके लिए 'भैक्ष्याशनः'-'तपस्यन्' और 'चेलखण्डधरः' ये तीन विशेषण खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं। पहला विशेषण उसके भोजनकी स्थितिका, दूसरा साधनाके रूपका और तीसरा बाह्य वेषका सूचक है। वेषकी दृष्टिसे वह एक वस्त्रखण्डका धारक होता है, जिसका रूप या तो एक ऐसी छोटी चादर-जैसा होता है जिससे पूरा शरीर ढका न जा सके—सिर ढका तो पैरों आदिका नीचेका भाग खुल गया और नीचेका भाग ढका तो सिर आदिका ऊपरका भाग खुल गया और—या वह एक लंगोटीके रूपमें होता है जो कि उस वस्त्रखण्डकी चरम स्थिति है। 'भैक्ष्य' शब्द भिक्षा और 'भिक्षा-समूह' इन दोनों ही अर्थोंमें प्रयुक्त होता है * प्रभाचन्द्रने अपनी टीकामें 'भिक्षाणां समूहो भैक्ष्यं' इस निरुक्तिके द्वारा 'भिक्षासमूह' अर्थका ही ग्रहण किया है और वह ठीक जान पड़ता है; क्योंकि स्वामी समन्तभद्रको यदि भिक्षा-समूह अर्थ अभिमत न होता तो वे सीधा 'भिक्षाशनः' पद ही रख कर सन्तुष्ट हो जाते—उतने से ही उनका काम चल जाता। उसके स्थान पर 'भैक्ष्याशनः' जैसा क्लिष्ट और भारी पद रखने की उन जैसे सूत्रात्मक लेखकोंको जरूरत न होती—खास कर ऐसी हालतमें जबकि छन्दादि-की दृष्टिसे भी वैसा करनेकी जरूरत नहीं थी। श्री कुन्द-कुन्दाचार्यने अपने सुत्तपाहुडमें, उत्कृष्ट श्रावकके लिंगका निर्देश करते हुए जो उसे 'भिक्खं भमेइ पत्तो' जैसे वाक्य-केद्वारा पात्र हाथमें लेकर भिक्षाके लिये भ्रमण करने वाला लिखा है उससे भी प्राचीन समयमें अनेक घरोंसे भिक्षा लेनेकी प्रथाका पता चलता है। भ्रामरी वृत्ति-द्वारा अनेक घरोंसे भिक्षा लेनेके कारण किसीको कष्ट नहीं पहुँचता, व्यर्थके आडम्बरको अवसर नहीं मिलता और भोजन भी प्रायः अनुद्दिष्ट मिल जाता है। 'तपस्यन्' पद उस बाह्या-भ्यन्तर तपश्चरणका द्योतक है जो कर्मोंका निर्मूलन करके आत्मविकासको सिद्ध करनेके लिये यथाशक्ति किया जाता है और जिसमें अनशनादि बाह्य तपश्चरणोंकी अपेक्षा स्वाध्याय तथा ध्यानादिक अभ्यन्तर तपोंको अधिक महत्व प्राप्त है। बाह्य तप सदा अभ्यन्तर तपकी वृद्धिके लिए किये जाते हैं। यहाँ इस व्रतधारीके लिये उद्दिष्ट-विरत या क्षुल्लक जैसा कोई नाम न देकर जो 'उत्कृष्टः' पदका प्रयोग किया गया है वह भी अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि स्वामी समन्तभद्र अपने इस व्रतीको क्षुल्लकादि न कह कर 'उत्कृष्ट श्रावक' कहना अधिक उचित और उपयुक्त समझते थे। श्रावकका यह पद जो पहलेसे एक रूपमें था समन्त-भद्रसे बहुत समय बाद दो भागोंमें विभक्त हुआ पाया जाता है, जिनमेंसे एकको आजकल 'क्षुल्लक' और दूसरे-को 'ऐलक' कहते हैं। ऐलक पदकी कल्पना बहुत पीछे की है ×।

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८

* "भिक्षैव तत्समूहो वा अण्"—वामन शिवराम एप्टेकी संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी।

× देखो, 'ऐलक-पदकल्पना' नामका वह विस्तृत निबन्ध जो अनेकान्त वर्ष १० वें की संयुक्त किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ है और जिसमें इस ११ वीं प्रतिमाका बहुत कुछ इतिहास आगया है।

'जीवका शत्रु पाप—मिथ्यादर्शनादिक—और बन्धु (मित्र) धर्म—सम्यग्दर्शनादिक—है, यह निश्चय करता हुआ जो समयको—आगम शास्त्रको—जानता है वह निश्चयसे श्रेष्ठ ज्ञाता अथवा श्रेय-कल्याणका ज्ञाता होता है—आत्महितको ठीक पहचानता है।'

व्याख्या—यहां ग्रन्थका उपसंहार करते हुए उत्तम ज्ञाता अथवा आत्महितका ज्ञाता उसीको बतलाया है जिसका शास्त्रज्ञान इस निश्चयमें परिणत होता है कि मिथ्यादर्शनादिरूप पापकर्म ही इस जीवका शत्रु और सम्यग्दर्शनादिरूप धर्मकर्म ही इस जीवका मित्र है। फलतः जिसका शास्त्र-अध्ययन इस निश्चयमें परिणत नहीं होता वह 'श्रेयो ज्ञाता' पदके योग्य नहीं है। और इस तरह प्रस्तुत धर्मग्रन्थके अध्ययनकी दृष्टिको स्पष्ट किया गया है।

येन स्वयं वीत-कलंक-विद्या
दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्ड-भावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव
सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु-विष्टपेषु ॥१४६॥

'जिस भव्य जीवने अपने आत्माको निर्दोषविद्या, निर्दोषदृष्टि तथा निर्दोषक्रियारूप रत्नोंके पिटारेके भावमें परिणत किया है—अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मका आविर्भाव किया है—उसे तीनों लोकोंमें सर्वार्थसिद्धि—धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि—स्वयंवरा कन्याकी तरह स्वयं प्राप्त हो जाती है—उक्त सर्वार्थसिद्धि उसे अपना पति बनाती है अर्थात् वह चारों पुरुषार्थोंका स्वामी होता है, उसका प्रायः कोई भी प्रयोजन सिद्ध हुए बिना नहीं रहता।'

व्याख्या—यहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्मके धारीको संक्षेपमें सर्वार्थसिद्धिका स्वामी सूचित किया है जो बिना किसी विशेष प्रयासके स्वयं ही उसे प्राप्त हो जाती है और इस तरह धर्मके सारे फलका उपसंहार करते हुए उसे चतुराईसे एक ही सूत्रमें गूँथ दिया है। साथही, ग्रन्थका दूसरा नाम 'रत्नकरण्ड' है यह भी श्लेषालंकारके द्वारा सूचित कर दिया है।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव ।
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ॥
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीताज्-
जिन-पति-पद्-पद्म प्रेक्षिणी दृष्टि-लक्ष्मीः॥१५०॥

'जिनेन्द्रके पद-वाक्यरूपी-कमलोंको देखने वाली दृष्टिलक्ष्मी (सम्यग्दर्शनसम्पत्ति) सुखभूमिकेरूपमें मुझे उसी प्रकार सुखी करो जिस-प्रकार कि सुखभूमि-कामिनी कामीको सुखी करता है, शुद्ध शीलाके रूपमें उसी प्रकार मेरी रक्षा—पालना करो जिस प्रकार विशुद्धशीला माता पुत्रकी रक्षा-पालना करती है और गुणभूषाके रूपमें उसी प्रकार मुझे पवित्र करो जिस प्रकार कि गुणभूषा कन्या कुलको पवित्र करती है—उसे ऊँचा उठाकर उसकी प्रतिष्ठाको बढ़ाती है।

व्याख्या—यह पद्य अन्त्य मंगलके रूपमें है। इसमें ग्रन्थकार महोदय स्वामी समन्तभद्रने जिस लक्ष्मीके लिए अपनेको सुखी करने आदिकी भावना की है वह कोई सांसारिक धन-दौलत नहीं है, बल्कि वह सद्‌दृष्टि है जो ग्रन्थमें वर्णित धर्मका मूल प्राण तथा आत्मोत्थानकी अनुपम जान है और जो सदा जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंका-उनके आगमगत पद-वाक्योंकी शोभाका-निरीक्षण करते रहनेसे पनपती, प्रसन्नता धारण करती और विशुद्धि एवं वृद्धिको प्राप्त होती है। स्वयं शोभा-सम्पन्न होनेसे उसे यहां लक्ष्मीकी उपमा दी गई है। उस दृष्टि-लक्ष्मीके तीन रूप हैं—एक कामिनीका दूसरा जननीका और तीसरा कन्याका, और वे क्रमशः सुखभूमि, शुद्धशीला तथा गुणभूषा विशेषणसे विशिष्ट हैं। कामिनीके रूपमें स्वामीजीने यहां अपनी उस दृष्टि-सम्पत्तिका उल्लेख किया है जो उन्हें प्राप्त है, उनकी इच्छाओंकी पूर्ति करती रहती और उन्हें सुखी बनाये रखती है। उसका सम्पर्क बराबर बना रहे यह उनकी पहली भावना है। जननीके रूपमें उन्होंने अपनी उस मूलदृष्टिका उल्लेख किया है जिससे उनका रक्षण-पालन शुरूसे ही होता रहा है और उनकी शुद्धशीलता वृद्धिको प्राप्त हुई है। वह मूलदृष्टि आगे भी उनका रक्षण-पालन करती रहे, यह उनकी दूसरी भावना है। कन्याके रूपमें स्वामीजीने अपनी उस उत्तरवर्तिनी दृष्टिका उल्लेख किया है जो उनके विचारोंसे उत्पन्न हुई

हैं, तत्त्वोंका गहरा मन्थन करके जिसे उन्होंने निकाला है और इसलिये जिसके वे स्वयं जनक हैं। वह निःशंकितादि गुणोंसे विभूषित हुई दृष्टि उन्हें पवित्र करे और उनके गुरुकुलको ऊँचा उठाकर उसकी प्रतिष्ठाको बढ़ानेमें समर्थ होवे, यह उनकी तीसरी भावना है। दृष्टि-लक्ष्मी अपने इन तीनों ही रूपोंमें जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलों अथवा उनके पद-वाक्योंकी ओर बराबर देखा करती है और उनसे अनुप्राणित होकर सदा प्रसन्न एवं विकसित हुआ करती है। अतः यह दृष्टि-लक्ष्मी सच्ची भक्तिका ही सुन्दर रूप है। सुश्रद्धामूलक इस सच्ची सविवेक भक्तिसे सुखकी प्राप्ति होती है, शुद्धशीलतादि सद्गुणोंका संरक्षण-संवर्धन होता है और आत्मामें उत्तरोत्तर पवित्रता आती है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थके अन्तमें उस भक्तिदेवीका बड़े ही अलंकारिक रूपमें गौरवके साथ स्मरण करते हुए उसके प्रति अपनी मनोभावनाको व्यक्त किया है। अपने एक दूसरे ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' के अन्तमें भी उन्होंने वीर-स्तुतिको समाप्त करते हुए उस भक्तिका स्मरण किया है और 'विधेयामे भक्ति पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ' इस वाक्यके द्वारा वीरजिनेन्द्रसे यह प्रार्थना अथवा भावना की है कि आप अपने ही मार्गमें जिसको जोड़का दूसरा कोई निर्बाध मार्ग नहीं, मेरी भक्तिको सविशेषरूपसे चरितार्थ करो—आपके मार्गकी असोधता और उससे अभिमत फलकी सिद्धिको देखकर मेरा अनुराग (भक्तिभाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े, जिससे मैं भी उसी मार्गकी पूर्णतः आराधना-साधना करता हुआ कर्मशत्रुओंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊँ और निःश्रेयस (मोक्ष) पदको प्राप्त करके सफल मनोरथ हो सकूँ। *

—युगवीर

* समी चीनधर्म शास्त्रके अप्रकाशित हिन्दी भाष्यसे।

कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण

(आश्रव बंधादि तत्त्वोंकी एक संक्षिप्त वैज्ञानिक विवेचना)

लेखक—अनन्तप्रसाद जैन, 'लोकपाल' B. Sc. (Eng.)

प्रास्ताविक

विश्वमें कुल छह मूल द्रव्य हैं और वे हैं:—१ जीव (आत्मा, Soul), २ अजीव (पुद्गल, Matter), ३ धर्म(other), ४ अधर्म (Conterether) ५ आकाश (Space) और ६ (Time)। जिनमें प्रथम दो तो मूल उपादान कारण हैं और बाकी सहायक। मानवों और सभी जीवधारियोंका निर्माण आत्मा और पुद्गल दो द्रव्योंके संयोगसे ही होता है। बाकी जितनी भी दृश्य या अदृश्य वस्तुएँ संसारमें हैं वे प्रायः सभी पुद्गल निर्मित हैं। धर्म और अधर्म द्रव्य पुद्गलों तथा जीवोंकी क्रमशः गति और स्थितिमें सहायक हैं। आकाशमें सभी वस्तुएँ, जीव तथा ग्रह-उपग्रहादि अवस्थित हैं। काल वस्तुओं और जीवादिके परिवर्तनोंमें सहायक कारण है। विश्वमें जो कुछ हम देखते हैं वे या तो सजीव हैं या अजीव हैं। सजीव (जीवधारी) जीव और पुद्गल द्वारा संयुक्त रूपमें निर्मित हैं और अजीव, अचेतन या जड़ वस्तुएँ प्रायः पुद्गल (Matter) निर्मित हैं।

इन मूल द्रव्योंके अतिरिक्त जीव और पुद्गलके सम्बन्धको स्थापित, नियमित, नियन्त्रित और प्रगतिशीलता पूर्वक सक्रियरूपमें संचालित करने वाले पाँच तत्त्व जैनसिद्धान्तमें माने गए हैं जिनमें जीव, अजीवको जोड़ देनेसे इनकी संख्या सात हो जाती है। इन्हें हम सप्त तत्त्व कहते हैं। वे हैं १ जीव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बंध ५ संवर, ६ निर्जरा और ७ मोक्ष। बादके पाँच तत्त्व यह व्यक्त करते हैं कि पहले दो तत्त्वों या द्रव्योंका आपसी मेल, संयोग, समन्वय, वियोग इत्यादि कैसे होते रहते हैं, जीवधारियोंमें ये संयोगादि कितने काल (समय) तक क्यों कैसे रहते हैं; इनका पारस्परिक प्रभाव, क्रिया प्रक्रिया; असर इत्यादि कैसे कैसे और किस प्रकार होते हैं;

ये सम्बन्धादि कब तक रहते हैं; ये सम्बन्धादि कैसे सुदृढ़ होते या घटते बढ़ते हैं और इनका यह संयुक्त मेल क्यों, कैसे, कब छूट सकता है; इत्यादि। इन सबका विधिवत्, व्यवस्थित, सुनियन्त्रित, सांगोपांग, शृंखलाबद्ध ज्ञान होना ही ज्ञानका चरम आदर्श—'सम्यक्ज्ञान'—है। सच्चे सम्यक्ज्ञानकी वह पूर्णता है जहाँ इन द्रव्यों और तत्वोंके कार्य-कारण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, संयोग-वियोग, क्रिया-प्रतिक्रिया, प्रकृति स्वभाव गुण आदिके विषयमें एक ऐसी 'स्वात्मोपलब्ध अन्तर्दृष्टि' (सम्यक्दर्शन) हो जाय जहाँ हम इनकी प्रगति या क्रियादिको 'ज्ञानदृष्टि' द्वारा प्रत्यक्ष होता हुआ अनुभव करने लगें और फिर कोई आशंकादि इस विषयमें न रह जाय। यही ज्ञान सचमुच 'सम्यग्ज्ञान' है और ऐसी अन्तर्दृष्टि ही सचमुच सम्यग्दर्शन है। जहाँ स्वात्मोपलब्ध अन्तर्दृष्टिमय ज्ञान तो न हो पर विषयका ज्ञान हो वह ज्ञान श्रुतज्ञान या किताबी ज्ञान है जो सुनी सुनाई या पढ़ी पढ़ाई बातों द्वारा अपने मनमें कोई विश्वास या श्रद्धान बना लेनेसे हो जाता है—यह न तो 'स्वोपज्ञ' है न प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाला 'प्रत्यक्षदर्शी' है—और इसलिए अधूरा है प्राकृत स्वाभाविक या असली नहीं है। जैसे किसी मनुष्यने अंगूर न खाए हों या हँस पक्षी न देखे हों लेकिन पुस्तकोंमें पढ़कर या लोगोंसे सुन कर अंगूरके स्वादकी और हँस पक्षीकी रूप-रेखा रंगादिकी एक धारणा अपने मनमें बना ली हो और भी इस तरहके बहुतसे दृष्टान्त दिए जा सकते हैं जिनमें धारणाका आधार अपना 'स्वानुभव' न होकर सुनी सुनाई या पढ़ी पढ़ाई बातों और वर्णनोंके ही ऊपर हो। हो सकता है कि ऐसी कोई धारणा या धारणाएँ असलियतसे बहुत मेल खाती हों या एकदम असलीके अनुरूप ही हों, फिर भी कोई ऐसी धारणा या उस व्यक्तिका अंगूर और हंसविषयकज्ञान अधूरा, अपूर्ण और अधकचरा है—असली नहीं है। सच्चा ज्ञान तो उसे तभी होना कहा जायगा जब वह स्वयं विभिन्न प्रकारके अंगूर चखले और हंस पक्षी देखले और तब अपनी धारणा उनके विषयमें पढ़ी पढ़ाई और सुनी सुनाई बातोंके साथ मेल बैठाकर (तुलनाकर) जो करे तो वही धारणा या ज्ञान सच्चा और अधिक पूर्ण कहा जायगा। परन्तु कठिनाई एक यह है कि सभीकी मानसिक शक्तियाँ और परिस्थितियाँ एकसी नहीं हैं। सभी कोई सभी बातोंको नहीं समझ सकते, स्वयं अनुभव हर बातका प्राप्त करना तो असम्भवसा ही है। संसारमें जानने योग्य बातों और विषयोंकी संख्या अनंतानंत, अपरंपार और असीम या असंख्य है। जिन जिन व्यक्तियोंने जिन जिन बातों और विषयोंकी जानकारी प्राप्त करली उन्होंने उसे दूसरोंको जबानी बतलाया या पुस्तकोंमें लिपिबद्ध कर दिया उससे होने वाले ज्ञानको ही 'श्रुतज्ञान' कहते हैं जिसे पढ़ने और सुनने वाले पढ़कर और सुनकर प्राप्त करते हैं। सुनने-पढ़ने वालोंमें भी सभीकी समझदारी, बुद्धि विकाश अथवा मस्तिष्क भिन्न-भिन्न योग्यताके होते हैं उसीके अनुसार लोग विभिन्न धारणाएं बनाते हैं। बहुतसे व्यक्तियोंकी शिक्षा-दीक्षा ऐसी नहीं कि इन विषयोंकी ओर ध्यान दे सकें। कुछको समयका अभाव है, कुछ दूसरी ही बातोंमें बंधे हुए हैं, कुछ इन्हें जरूरी नहीं समझते, कुछको यह सब कुछ समझमें ही नहीं आता और अधिकतर तो अशिक्षित हैं अथवा भत-मतान्तरों और धर्मसम्प्रदायोंके भेद-भावोंमें बुरी तरह उलझे हुए भ्रमात्मक बातों और धारणाओंके चक्करमें पड़े हुए, ठीक मार्ग या दिशामें नहीं चलनेके कारण अथवा जोरदार प्रचार और प्रभावशाली लेख व्याख्यानके प्रभावमें ग़लत सही, अपूर्ण जो धारणाएं बना लेते हैं उन्हीं पर चलते जाते हैं। मानवकी आयु भी सीमित है। ऐसी हालतमें स्वयं पूर्णज्ञानकी प्राप्ति प्रायः संभव नहीं। हमें तो शीघ्राति शीघ्र ज्ञानके विकाशके लिए उन सभी लिखित अलिखित बातों और विषयोंके वर्णन और प्रतिपादनसे मदद लेनी है। जिसे हम प्राप्त कर सकें या जिसे हम जरूरी समझें। ज्ञानका विकाश संसारमें अबतक इसी प्रकार होता आया है और होता रहेगा। जिन्हें समयका अभाव है या जो स्वयं स्वानुभव नहीं प्राप्त कर सकते या जिन्हें नीचेसे आरम्भ कर ऊपर चढ़ना है उनके लिए तो 'श्रुतज्ञान' की सहायता लेनी ही होगी और जो कुछ पहलेके अनुभवी ज्ञानी कह गए हैं उसे ही सत्यमानकर चलना होगा—और ऐसा करके ही कोई व्यक्ति ठीक तौरसे आगे आगे उन्नति कर सकता है। जिन्हें स्वयं भी कुछ करना है उन्हें भी अपने अनुसंधानों और प्रयोगोंकी सफलता, शुद्धि और समर्थनके लिए पहले किए गए प्रयोगों, अनुभवों और आविष्कारोंकी मदद एवं जानकारी जरूरी है। आज संसारमें आधुनिक भौतिक-विज्ञानकी आश्चर्यजनक

उत्पत्ति इसी तरह हुई है, हो रही है और होगी। इस विज्ञानके ज्ञानोंमें पारस्परिक मतभेद, विरोध या पूर्वार्ध उत्तरार्धमें विरोधाभाव नहीं होनेसे एक शृंखलाकी तरह आविष्कार होते जाते हैं और ज्ञानकी वृद्धि उत्तरोत्तर होती जाती है। इस तरहके भौतिक-विज्ञानको भौतिक-विषयोंका 'सम्यक्ज्ञान' हम कह सकते हैं। जिसका सब कुछ प्रत्यक्षरूपसे प्रमाणित और सिद्ध है।

यही बात दर्शन, सिद्धान्त, धर्म और जीव-अजीव आदिके ज्ञान-विज्ञानके बारेमें हम नहीं पाते हैं। यहां तो जितनी शाखाएं या भिन्न-भिन्न दर्शन-पद्धतियाँ हैं उनके भिन्न २ मत और एक दूसरेके कमबेश विरोधी सिद्धान्त हर जगह मिलते हैं। इन विरोधोंने एक भारी घपला, गड़बड़ी या गोलमाल उत्पन्न कर लोगोंको इस विषयके सुव्यवस्थित विज्ञानसे प्रायः वंचित कर रखा है। यह इस संसारका दुर्भाग्य अबतक रहा है और जबतक ये विरोध और भिन्नताएं रचनात्मक रूपसे (in a Constructive way) दूर न की जांयगी संसारकी अव्यवस्था, लड़ाई, झगड़े, हिंसादि, शोषण और दुःख दारिद्र्य दूर नहीं हो सकते।

वस्तुके अनेकों गुण और परिवर्तनानुसार अनेकों रूप तथा एक दूसरेके साथ भिन्न भिन्न वस्तुओंकी भिन्न-भिन्न क्रिया प्रक्रियाएं होती हैं। सबके असर प्रभाव अलग-अलग स्थानों, परिस्थितियों एवं संयोग अथवा मेलमें विभिन्न या अलग अलग होते हैं। ऐसी हालतमें किसी एक वस्तुके विषयकी पूर्ण जानकारी तो तभी प्राप्त हो सकती है जब उसको हर क्रिया प्रक्रियाकी हर अवस्थाकी, हर दूसरे वस्तुके साथकी और विभिन्न संयोगोंके साथकी जांच, प्रयोग, अनुसंधान और अन्वेषण अकेला भी और सामूहिक रूपसे भी करके ही कुछ विवेचनात्मक एवं सम्मिलित फल (Results) या सिद्धान्त या अंतिम निर्णय (Final conclusion) निकालें और तब कोई धारणा उस विषय या वस्तुके गुण क्रिया आदिके बारेमें बनाई जाय। यही धारणा या ज्ञान सही ठीक और विधिवत् (सम्यक्—Systematic, scientific and rational) होगा। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय-की जांच करनेको ही "अनेकान्त" पद्धति कहते हैं। अनेकान्तका ही दूसरा नाम जैनदर्शनमें "स्याद्वाद" रखा गया है। इसमें किसी भी विषयके जितने भी प्रश्न और उत्तर हो सकते हैं उन्हें कुल सात भागोंमें विभक्त कर दिया गया है—इसलिए इसे 'सप्तभंगी' भी कहते हैं। यह एक (System of reasoning and analysing) दर्शन न्याय, तर्क और विवेचना अथवा अन्वेषणकी पद्धति है और 'स्याद्वाद' वाद" एक महान "मथनी" है जिसके द्वारा "ज्ञान महो-दधि" का मंथन करनेसे ग्यारह महान् रत्न निकले हैं। महाभारतकी कथामें जैसे देवताओं और राक्षसोंने क्षीरमहासागरका मंथन करके चौदह रत्न प्राप्त किए उसी तरह स्याद्वाद मथानीकी सहायतासे जैन तीर्थंकरोंने ज्ञान-महासागरका मंथन करके संसार और मानवताके कल्याणके लिए इन महान रत्नोंको प्रकाशित किया। षट् द्रव्य और पाँच तत्व-ये ही वे ग्यारह महा दिव्य-अपूर्व-अनुपम रत्न हैं। इनके बिना संसारके बाकी सारे ज्ञान खोखले, अपूर्ण, अधकचरे या किसी हद तक भ्रमपूर्ण अथवा अंशतः या पूर्णतः मिथ्या हैं। अनेकान्त अथवा स्याद्वादकी इस अद्वितीय (Without any parallel) पद्धतिको दूसरे लोग धर्मद्वेष, स्वार्थ, प्रमाद अथवा विभिन्न राजाओं या गुट्टोंके प्रभावमें नहीं अपना पाए। और तब मतमतान्तरोंका समन्वय या एकता कभी भी नहीं हो सकी। हर धर्म, दर्शन और मत एक दूसरेका कम बेश विरोध करते रहे। लोग मानव मानवको एक और समान या एक कुटुम्बके व्यक्ति न समझकर अलग अलग धर्मों, सम्प्रदायों और जातियों आदिके रूपमें ही देखते, समझते और व्यवहार करते रहे। इतना ही नहीं तत्त्वोंके अज्ञानमें लोगोंने तरह तरहके नीति, नियम और शृंख-लाएँ समय समय पर बना कर राज्यादेशके जोरसे उन्हें प्रचलित करा दिया और वे ही समयके साथ रूढ़ियों और "सत्य" में परिणत हो गए और स्वयं सत्यका लोप होते होते या अपभ्रंश होते होते वह विकृत हो गया। जैनगुरुओंने भी लोक या संसारमें प्रचलित रीति नीति-के प्रभावमें पड़कर षट्द्रव्य और पाँच तत्त्वोंके साथ दो और तत्त्व निर्माण करके जोड़ दिये। वे दोनों हैं 'पुण्य" और "पाप"। इस तरह आस्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षके साथ पुण्य और पाप मिलाकर तथा मूलद्रव्य जीव और अजीव मिलाकर कुल नौ तत्त्व या पदार्थ मान लिए गए। सच पूछिए तो पुण्य और पाप तो सांसारिक या लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे प्रचलित नियमों, व्यवस्थाओं

सामाजिक या राजनैतिक आदेशों और किसी भी समयके व्यवहृत रीति-नीतिके अनुसार बदलते भी रहते हैं। भिन्न भिन्न देशों, लोगों और धर्मोंमें इनकी व्याख्या या विवरण काफी भिन्नता लिए हुए हैं। जो एकके यहां पाप है हो सकता है कि दूसरेके यहां "वही हलाल" हो Virtue (वर्च्यू) हो और जो दूसरे के यहाँ "हराम" या Sin (सिन) हो वह एकके यहां पुण्यमय माना जाता हो। ऐसे उदाहरण संसारके भिन्न धर्मावलम्बियों और जातियोंके रीति-रिवाजों या इतिहासोंका अध्ययन, मनन, अवलोकन करनेसे बहुतेरे मिलेंगे। एक ही रीति जो किसी समय पुण्यमय मानी जाती रही हो वही दूसरे समय पापमय या गलत समझी जाने लगती है अथवा जो रीति कभी बुरी समझी जाती हो वह कुछ समयके बाद अच्छी सराहनीय समझी जाने लगती है। दोनोंके दो उदाहरण हमारे सामने हैं। सती-प्रथा और विदेश-यात्रा। सती प्रथा पहले अच्छी बात थी अब वर्जित है। विदेश-यात्रा पहले वर्जित थी अब वही आदरणीय हो गई है। लोक व्यवहारमें अच्छे काम जिन्हें समाज और देशके लोग या सरकारें अच्छा ठीक समझें उन्हें पुण्यमय और जो इनके द्वारा बुरे समझे जायें वे पापमय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो सर्वदा ही सभी देशमें बुरे समझे जाते हैं उन्हें हम पाप कह सकते हैं। पर जो काम मानवके लिये पाप है वही एक पशुके लिये स्वाभाविक हो सकता है। आदिम लोग या जातियां मनुष्य-भक्षी थीं—मनुष्य भक्षण उनमें पाप नहीं गिना जाता था—पर जैसे-जैसे सभ्यता, संस्कृति और शिक्षाका विकास होता गया, वे रीतियाँ या मान्यताएँ भी बदलती गईं। आज मनुष्य-भक्षण सबसे महान् पाप गिना जाता है। फिर भी जैनदर्शन या जैनधर्म और दूसरे कुछ धर्म हिंसा या माँस-भक्षणको एक बड़ा हानिकारक पाप समझते हैं। संसारके निन्यानवे फीसदी लोग मांस-भक्षी हैं। इस तरह लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे पाप-पुण्यके कोई स्थायी नियम नहीं हो पाते। और भी यह कि मनुष्य परिस्थितियों और और आवश्यकताओंका गुलाम है और उसमें बड़ी भारी कमियाँ या कमजोरियाँ हैं जिनपर विजय न पा सकनेके कारण वह ऐसे-ऐसे काम करता ही रहता है जो वर्जित हैं या जो उसके लिए स्वयं हानिकारक हैं। लेकिन यदि तत्त्वोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो हम पाप और पुण्यकी भी एक ऐसी व्याख्या दे सकते हैं जो हर समय हर हालतमें ठीक, सही और लागू हो और कभी न बदले। फिर भी ये दोनों (पाप और पुण्य) बाकी पाँच तत्त्वोंमें सन्निहित हैं या उन्हींके कोई विशेष भाग है और यदि कोई व्यक्ति उन पाँच तत्त्वों और षट् द्रव्योंको अच्छी तरह जान और समझ जाय तो उसके लिए इनकी अलग व्याख्याकी जरूरत नहीं रह जाती।

विभिन्न दर्शन पद्धतियों या धर्मावलम्बियोंने संसारकी उत्पत्ति और जीवधारियोंकी जीवनी इत्यादिके बारेमें विभिन्न मत दिए हैं जो आजके आधुनिक विज्ञानके खोजों, प्रयोगों और आविष्कारों-द्वारा बहुत कुछ या एकदम गलत और भ्रमपूर्ण सिद्ध हो जाते हैं। फिर भी लोग दूसरा ठीक कुछ नहीं जाननेके कारण या प्राचीन समयसे अब तक पुश्त दर पुश्तमें उसी प्रकारकी बातोंको मानने और उन्हींमें विश्वास करते रहनेके कारण ऐसे बन गये हैं कि गलती जान कर भी उसमें सुधार नहीं कर पाते और भ्रम, मिथ्यात्व तथा अव्यवस्थाएँ ज्यों-की त्यों चलती जाती हैं। एक भारी कठिनाई, दिक्कत या कमी और भी है वह यह है कि हमारे आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ता भी विज्ञानका बहुमुखी विकास होने पर भी अब तक इस बातकी निश्चित व्यवस्था या निर्णय नहीं दे सके हैं कि मानवकी 'संज्ञान-चेतना' का क्या कारण है और मानव या दूसरे जीवधारियोंके या स्वभाविक वृत्ति, जीवनी, चर्या, आदि तरह तरहकी विभिन्नताएँ जो हम देखते या पाते हैं उनका मूल कारण क्या है। आजका संसार उन्हीं बातोंको ठीक मानता है जिनके विषयमें वैज्ञानिक लोग अपने प्रयोग, अन्वेषण, अनुसंधान, खोज, ढूँढ़, जाँच-पड़ताल इत्यादि द्वारा देखकर, परीक्षाकर, विवेचना करके ठीक निश्चित परिणाम या निर्णय निकालकर संसारके सामने रख देते हैं। विज्ञान हर बातका प्रत्यक्ष दर्शन करके ही उसकी स्वीकृति देता है। परन्तु आधुनिक विज्ञान भी अबतक शरीरका रूप और उसके कर्मसे शरीरकी बनावटके साथ कोई आन्तरिक गहरा सम्बन्ध खुले शब्दोंमें स्थापित नहीं कर सका है। मानवके शरीरका या किसी भी जीवधारीके शरीरका आन्तरिक निर्माण, बाह्य गठन या रूप-रेखा ही उसके कर्मों या हलन-चलनको निर्मित, नियन्त्रित परिचालित और परिवर्तित करती रहती है—इसकी स्थापना, व्यवस्था और सम्यक् (विधिवत वैज्ञानिक Systemotic & Rational) वर्णन अभी भी वैज्ञानिकोंने पूरा

नहीं किया है। कहीं कहीं कुछ लोगोंने कुछ चेष्टा इधर दिखलाई है पर उनके विचार उपयुक्त आधार पर नहीं होनेसे अपूर्ण, दोषपूर्ण अथवा गलत रह गए हैं। विभिन्न धर्मावलम्बियोंने भी स्याद्वाद या अनेकान्तकी सहायता न ली इससे उनके वर्णन या विचार भी एकांगी, दोषपूर्ण, अपूर्ण या एकदम गलत रह गए। मूलतत्त्वोंके मूल तक पहुँचना तो केवल स्याद्वाद द्वारा ही संभव था जिसका प्रयोग करके जैन गुरुओं या तीर्थंकरोंने इन तत्त्वोंका विकास किया। बगैर इन तत्त्वोंके जानकारीके मानव या जीवधारियोंकी पूरी जानकारी संभव नहीं है। इन तत्त्वोंके ज्ञान विना सारा ज्ञान ही अधूरा रह जाता है। इसी अधूरे ज्ञानके आधार पर संसारकी व्यवस्थाओंका निर्माण हुआ है जिसका फल है कि संसारमें हर जगह रक्तपात, लड़ाई-झगड़े, दुख-दारिद्र्य फैले हुए हैं। जब तक तत्त्वोंकी ठीक-ठीक जानकारी या ज्ञान लोगोंमें, संसारमें नहीं फैलता या पूर्ण रूपसे इसका व्यापक विस्तार या विकास नहीं होता संसारसे अव्यवस्था, धाँधली, लूट-मार, अपहरण छल, कपट झूठ, हिंसा इत्यादि दूर नहीं हो सकते।

आश्चर्य तो यह है कि विज्ञानके इस तर्क-बुद्धि-सत्यके युगमें भी स्याद्वाद जैसी महान् महत्त्वपूर्ण तर्कशैली, पद्धति, रीति या सिद्धान्तका प्रचार नहीं हुआ। आधुनिक विज्ञान तो स्वयं ही अनेकान्तमय, या अनेकान्तसे परिपूर्ण है अथवा अनेकान्तकी देन है—पर इसी अनेकान्तका प्रयोग अबतक संसारके विद्वान मानवके साथ और मानव-जीवन तत्त्वकी जानकारीके लिए ठीक तौरसे नहीं कर पाए हैं, जिसके कारण ही सारा रगड़ा-झगड़ा या दुर्व्यवस्था है। रोज-रोजके साधारण नित्य नैमित्तिक कार्योंमें भी अनेकान्त रूपसे जानकारी रखकर प्रवर्तन करनेवाला अधिक सफल रहता है। और उच्च विज्ञान, ज्ञान और दर्शन इत्यादिमें तो यह अनिवार्य हो जाता है। दुःख तो यह है कि अनेकान्त या स्याद्वादको जैनियोंने संसारकी संपदा न होने देकर अपनी बनाकर रख ली। अपने कल्याणके लिए तथा संसारके कल्याणके लिए भी इसके सर्वत्र व्यापक प्रचारकी बड़ी भारी अनिवार्य आवश्यकता है। संसारका कल्याण होनेसे ही अपना भी वास्तविक कल्याण हो सकता है। अपने चारों तरफका वातावरण शुद्ध होनेसे कोई व्यक्ति शुद्ध वायु पा सकता है और स्वस्थ रह सकता है। गंदे वातावरण या परिस्थितियोंमें मानसिक और शारीरिक गंदगीका होना स्वाभाविक है। अतः इसलिए कि हम सचमुच अपने स्वस्थ, शुद्ध जीवन पा सकें, अपने चारों तरफके वातावरणको शुद्ध करना परम आवश्यक है—जो केवल स्याद्वाद अथवा अनेकान्तका उपयुक्त प्रयोग करके 'श्रुतज्ञान' द्वारा जरूरी जानकारी प्राप्त करके अपने आप द्रव्यों और तत्त्वोंका पूरा ज्ञान उपलब्ध करने और उस मुताबिक आचरण करनेसे ही हो सकता है। अनेकान्तको अपनाए विना किसीकी गति नहीं। आज जो हर तरफ हर एककी दुर्गति नजर आ रही है वह अनेकान्तके अभावके ही कारण है।

अनेकान्तके समर्थक जैन विद्वान भी अनेकान्त और स्याद्वादकी चर्चा प्रायः शास्त्र-चर्चा तक ही सीमित रखते हैं. उसे जीवनमें या रोज रोजके आचरण-व्यवहारमें उतारनेकी चेष्टा नहीं करते। यही विडम्बना है। जैनियोंने अपने तत्त्वोंकी जानकारी और अपने शुद्ध ज्ञानकी वार्ताको पोथियोंमें इस प्रकार सात सात वेष्टनोंके भीतर बन्द रखा था कि बाहर वाले कुछ जान ही नहीं पाए। बाहर वाले तो अलग ही रहे स्वयं जैन लोग और जैन विद्वान सच्चे ज्ञानसे दूर होते गए और ज्ञान दर्शनका सच्चा मार्ग छोड़ कर कोरे क्रियाकांड और अधिकतर पाखंडमें लीन होते चले गए। धर्मका अपभ्रंश तथा सच्चे ज्ञानका अभाव सब जगह हो गया। और तत्त्वकी गहरी जानकारी लुप्त प्राय हो गई। जिन्होंने पोथियोंको पढ़ कर या किसीसे सुन कर कुछ जाना भी तो उनका ज्ञान थोड़ा या ऊपरी होकर ही रह गया और द्रव्यों तथा तत्त्वोंका इस तरह केवल ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके ही उन्होंने अपनेको 'सम्यक्' समझ लिया, जो उनके दोहरे पतनका कारण हुआ। व्यक्तिके पतनसे समाजका भी पतन हुआ और अवांछकता हर जगह हर बातमें आवश्यकता मान कर घुसती गई। जैनदर्शन सिद्धान्त और धर्म किसी भी बात या विषयको निर्णय या परीक्षा किये बगैर स्वीकार करनेको मना करता है, पर आज लोग दूसरोंकी देखा देखी यही अधिकतर करने लगे हैं। जो विद्वान नहीं हैं उन्हें तो विद्वानोंके आदेश और मार्गसे चलना ही है, वे तो परीक्षा लेने या परीक्षा करनेकी योग्यता नहीं रखते। पर विद्वानोंको तो तर्क-न्याय और बुद्धिपूर्वक परीक्षा लेकर ही स्वयं कोई मान्यता माननी और धारणा बनानी चाहिए एवं दूसरोंको भी ऐसी ही सीख या सलाह देनी चाहिए। पर आजके अधिकांश

विद्वान प्रायः प्रमाद और अपनी विद्वत्ता या पांडित्यके अभिमानमें इतना भूल जाते हैं कि असल-नकलमें विभेद नहीं कर पाते। फिर सबके ऊपर वर्तमान कालमें धनकी सत्ता और प्रभुता सबसे महान हो गई है। धनिक जो चाहता है वही पण्डित अच्छा, सही, और उत्तम साबित कर देता है। इसका नतीजा हुआ कि समाजमें ज्ञानका सच्चा विकास एकदम रुक गया और ज्ञान विकास जैसे महानतम पुण्य-कार्यको छोड़ कर लोग केवल दूसरे निम्न धार्मिक साधनोंकी वृद्धिको ही महत्ता देने लगे और वे ही महत्तम पुण्यकार्य गिने जाने लगे। जबकि "जैन" शब्द और जैनतीर्थंकरोंके उपदेशोंका सर्वप्रमुख ध्येय शुद्ध ज्ञान-का विकास स्वयं करना और दूसरोंमें कराना यही मानव कल्याण और स्वकल्याणकी कुन्जी समझी या मानी गई है। मन्दिर, मूर्ति, पूजन इत्यादि तो ज्ञानलाभकी ओर शुभ प्रवृत्ति उत्पन्न करने और सुदृढ करनेके साधनमात्र हैं—भावोंकी शुद्धता तो यों एक दो फीसदी इन क्रियाकलापों-से होती है पर बाकी निन्यानवे फीसदी शुद्धि तो शुद्ध ज्ञानकी वृद्धि द्वारा ही उत्तरोत्तर हो सकती है। मुनि, त्यागी, ब्रह्मचारी और विद्वानका समागम भी इसी निमित्त-से महत्वपूर्ण माना गया है, नहीं तो ये सब भी स्वयं केवल एक फीसदी ही लाभ देने वाले हैं। बाकी निन्यानवे फीसदी लाभ तो स्वयं ज्ञान उपलब्ध करने से ही हो सकता है। आज हम यही पाते हैं कि लोग इस एक फीसदीमें ही इतने लीन होगए हैं कि बाकी निन्यानवे फीसदी उनके लिए या तो गौण हो गया है या उसे वे भूल ही बैठे हैं। यह तो विद्वानों और जानकार गुरुओंका काम है कि लोगों-का ध्यान पुनः इधर आकर्षित करें—तभी उनका भी सच्चा कल्याण हो सकता है और लोग भी 'भव्यजन' कहे जाने लायक सचमुच धीरे-धीरे होते-होते हो जायगे। इतना ही नहीं जैनधर्म तो सब जीवोंको समान समझने और समान दर्जा देने वाला 'समतामय' धर्म है पर इसमें भी लोगोंने प्रमाद और अज्ञानवश या अपनेको गलतीसे सम्यक्दृष्टि समझ कर ऊँच नीच, छूत अछूत, सवर्ण अवर्ण इत्यादिके भेद भाव खड़े कर दिये हैं—यह जैन तत्त्वों, सम्यक् दर्शन शब्द और तीर्थंकरोंकी शिक्षाका सबसे बड़ा अपमान है। इसका परिमार्जन होना सबसे पहले जरूरी है।

हमारे शास्त्रोंमें वर्णित बातें एक ऐसी पद्धति या शैली-में लिखी गई हैं कि उसे हम बहुत पुरानी कह सकते हैं जो उस समयके लिए ठीक थीं जब ये शास्त्र आरम्भमें बनाए या लिखे गए थे। आजके विकसित ज्ञान-विज्ञानके युगमें अब इन्हें एक नई वैज्ञानिक शैली या पद्धतिसे पुनः निर्माण करने, रचने, बनाने, लिखने, प्रतिपादित या प्ररूपित करनेकी परम आवश्यकता है। हमारे विद्वान लोग जो टीकाएँ करते या टिप्पणियां देते या विवेचना, समा-लोचना इत्यादि करते कराते हैं वे सब भी पुरानी रूढ़िमई पद्धतिको लिए हुए ही होते हैं—उनमें समयकी जरूरत और मांगके अनुसार सुधार होना जरूरी है। और तो और जैन पंडितोंकी शिक्षा पद्धति भी ऐसी ही है कि पंडित लोग विद्वान बन जाने पर भी संकुचितता नहीं छोड़ पाते और अनेकान्त' का उनका अपनाना ठीक वैसा ही होता है जैसे हाथीके दाँत खानेके और दिखलानेके और, इसे दूर करना होगा, तभी हम उपयुक्त सुधार लोगोंकी मनोवृत्ति, विचार और भावनाओंमें लाकर वह ठीक वातावरण हर काम और बातके लिए पैदा कर सकते हैं जिसे स्वस्थ कहा जा सकता है और जो समाज और व्यक्तिकी ठीक सही सच्ची उन्नति करनेमें आधार, कारण और सहायक होगा। तभी सच्चे जैन सिद्धान्तका प्रकाश व्यापकरूपमें हर ओर फैले और बिखरेगा जो सचमुच मानव कल्याणकी वृद्धि और विस्तार करेगा। इसके लिए द्रव्यों और तत्त्वोंका शुद्ध अनेकान्तात्मक और व्यावहारिक ज्ञान परम जरूरी है।

हमारे विद्वानोंको एक बड़ी भारी कठिनाई भी है। वह यह है कि उनका आधुनिक विज्ञानसे सम्बन्ध नहीं रहा है। द्रव्यों और तत्त्वोंकी पूरी महत्ता प्रकृति और प्रभाव समझनेके लिए अथवा उनकी क्रिया प्रक्रियाविमें एक अन्तर्दृष्टि होने अथवा एक प्रत्यक्ष दर्शन-सा अनुभव प्राप्त करनेके लिए आधुनिक भौतिक या रासायनिक विज्ञान-के कुछ प्रारम्भिक एवं मौलिक तथ्यों या सिद्धान्तोंकी जान-कारी आवश्यक है। आज कल तो विज्ञान इतनी अधिक उन्नति कर गया है कि अब यह सम्भव हो सका है कि हम अपने द्रव्यों और तत्त्वों या पदार्थोंकी सत्यता, समी-चीनता और शुद्धताका प्रमाण लोगोंको ठीक ठीक दे सकें। पहले तो लोग समझते थे कि यों ही संसारकी उलझी समस्याओंका समाधान करनेके लिए ही किसी तरह जैन गुरुओंने ये बातें तर्कके जोर पर मन गढ़ंत निकाल ली होंगी—पर अब विज्ञानसे यह पूर्ण-रूपसे साबित हो गया है कि ये सिद्धान्त मनगढ़ंत या ग़लत न होकर ये ही केवल मात्र सही, ठीक और सत्य हैं। अब जरूरत है कि हम अपने सिद्धान्तोंको और दूसरी

बातोंको जो प्राचीन पद्धतिसे लिखी गई थीं या कही गई थीं उन्हें नई वैज्ञानिक पद्धति, शैली और व्याख्याके साथ पुनः प्रतिपादन करें और तब लोगोंका ध्यान उनकी ओर इतना आकर्षित होगा जैसा पहले कभी नहीं। मैंने संक्षेपमें इस बातकी चेष्टा की है कि ऐसा दृष्टिकोण हमारे विद्वानोंमें उत्पन्न हो जाय। मैंने एक लेख 'जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य' शीर्षकसे लिखा जो 'अनेकान्त' वर्ष १०, किरण ४-५ (अक्टूबर नवम्बर १९४९) में प्रकाशित हुआ। मेरा विश्वास था कि इस नए दृष्टिकोण को या प्रतिपादन-शैलीको जैन विद्वान ध्यानपूर्वक अपनावेंगे, पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। कारण सोचने पर यही नतीजा निकलता था कि ये विद्वान अधिकतर आधुनिक विज्ञानके ज्ञानसे परिचित नहीं होनेके कारण ऐसी बातों पर ध्यान नहीं देते अथवा पुरानी पद्धतियोंमें पैदा हुए, पले, पढ़े और बढ़े ये लोग कुछ नयापन या नई रीतियाँ स्वीकार नहीं करते अथवा ऐसी बातोंका मनन करने और समझनेके बजाय उलटे शशंक दृष्टिसे देखते हैं मैंने और भी कुछ छोटे छोटे लेख हिन्दी और अंग्रेजीके इसी प्रकारके लिखे ताकि विद्वानोंका ध्यान वर्तमान समयकी इस आवश्यकता या मांगकी ओर जाय। वे लेख केवल इस वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी तरफ लोगोंका ध्यान आकर्षित करनेके लिए ही लिखे गए थे वे पूर्ण नहीं थे न हो ही सकते हैं। मानव व्यक्तिरूपसे पूर्ण नहीं है न उसकी शक्तियां ही पूर्ण हैं इससे अकेला किसी का किया कुछ भी पूर्ण नहीं हो सकता, पूर्णता तो तब आती है जब अनेक लोग मिल कर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे अपने अपने विचार व्यक्त करते हैं और तब हम किसी बात, विषय, मसला, समस्या या प्रश्नका 'अनेकान्तात्मक' या बहुमुखी समाधान पाते हैं और तभी हम उस विषयके ज्ञानमें अधिकाधिक पूर्णताको पहुँचते जाते हैं। वे मेरे लेख हैं—(१) 'जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य', (२) विश्व एकता और शान्ति, (३) शरीरका रूप और कर्म, (४) The Three Jewels (रत्नत्रय) ५) Soul, Conscious, Life, (६) Bhagwan Rishabh His Atomic Theory and Eternal Vibrations* । 'यह वर्तमान लेख कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण' भी उसी वैज्ञानिक विचारधाराका ही एक और छोटा प्रयास है। इसमें यह दिखलाया गया है कि पुद्गल किस प्रकार आत्माके गुणोंको नियन्त्रित या सीमित कर देता है, जीवधारीके सारे क्रिया कलाप किस प्रकार पुद्गलके रूपी शरीरमें परिवर्तनादि द्वारा ही संचालित होते हैं, अथवा आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष इत्यादि सचमुच किस प्रकार घटित होते रहते हैं एवं उनका आधुनिक वैज्ञानिक आधार क्या, क्यों, कैसे है; क्या सचमुच 'कर्म' पुद्गल जनित ही है? आत्माका और कर्मोंका सम्बन्ध किस प्रकारका है और उसे हम आधुनिक विज्ञान द्वारा किस प्रकार साबित कर सकते हैं या किस तरहसे स्वयं अनुभूत कर सकते हैं; जैनियोंके ये तत्त्व आज कलके विज्ञान द्वारा प्रतिपादित और निश्चित सिद्धान्तोंसे कितना साम्य रखते हैं और यदि हम उनका वर्णन, व्याख्या वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति शैली दृष्टिकोण या आधारसे करें तो मानवताका कितना बड़ा कल्याण कर सकते हैं? इत्यादि। शुद्ध सच्चा सही ज्ञान ही मानवताका कल्याण सच्चे रूपमें कर सकता है और यह ज्ञान जैनियोंके आत्मविज्ञान, कर्म सिद्धान्त और आधुनिक भौतिक विज्ञानके मेल समन्वय और सहयोग द्वारा ही ठीक प्राप्त हो सकता है और इस पूर्ण समन्वयान्वित और सच्चे ज्ञानका बहु व्यापक विकास और संसारमें आधुनिकतम उपायों द्वारा अधिकसे अधिक प्रचार और विस्तार करना हमारा कर्त्तव्य है—अपने कल्याण के लिए भी और मानवताके कल्याणके लिए भी। आशा है कि जिज्ञासु विद्वान इधर ध्यान देंगे। (क्रमशः)

* 'जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य'—लेख 'अनेकान्त' वर्ष १०—किरण ४-५ अक्टूबर नवम्बर १९४९ में प्रकाशित हो चुका है—पुस्तक रूपमें भी छपा था। पत्रिका तथा पुस्तक दोनों—संपादक अनेकान्त, १ दरियागंज दिल्लीसे मिल सकते हैं। 'विश्व एकता और शान्ति'—'अनेकान्त' वर्ष ११ किरण ७-८, सितम्बर, अक्टूबर १९५२ में प्रकाशित हो चुका है। शरीरका रूप और कर्म—'जैन सिद्धान्त भास्कर' के जून १९५० के अंकमें प्रकाशित हुआ है। 'The Three Jewels' SoulConsciousness and Life' और Bhagwan Rishabha, His Atomic Theory and Eternal Vibrations' नामक लेख क्रमशः Voice of Ahisa नामक अंग्रेजी पत्रिकाके सितम्बर अक्टूबर १९५१ और जनवरी फरवरी १९५२ के अंकोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। २, ३, ४ और ५ ट्रैक्ट रूपमें भी छपे हैं और संचालक, अखिल विश्व जैन मिशन, पो० अलीगंज, जि० एटा, उत्तर प्रदेश से पत्र भेजकर अमूल्य मँगाए जा सकते हैं।

बंगीय जैन पुरावृत्त

(श्री बा० छोटेलाल जैन-कलकत्ता)

बंगदेशमें मेरा निवास होनेके कारण इच्छा हुई कि प्रागैतिहासिक युगसे प्रारम्भकर वर्तमान कालतक जैनोंका सम्बन्ध इस बंगदेशसे क्या रहा है, इसका अनुसन्धान करूँ। किन्तु सन् १९३७ में इसके उपादान-संग्रहमें प्रयत्न किया तो हतोत्साह ही होना पड़ा। कारण इस सम्बन्धकी जितनी सामग्री उपलब्ध है वह अत्यल्प है।

नूतन आविष्कारके प्रकाशमें प्राचीन इतिहासका अंधकार दिनोंदिन दूर होता जाता है। यह अल्प उपादान भी किसी न किसी दिन इतिहास-निर्माणमें सहायक अवश्य होगा, यही विचारकर इस लेखको लिख रहा हूँ।

ऐतिहासिक युगमें गौड, मगध, अंग और बंगका इतिहास स्वतन्त्र नहीं है और खृष्टाब्द (ईस्वी सन्) के प्रथम छः सौ वर्षमें मगधकी ही प्रधानता थी। गौड़ और बंगके कभी कभी स्वतन्त्र हो जाने पर भी यह स्वतन्त्रता अधिक समयतक स्थायी नहीं हुई। इसलिये यह (कहना) अनुचित नहीं होगा कि बंग देशका इतिहास भारतवर्षके इतिहासका एक क्षुद्र अंश है।

भूमिका

विशाल साम्राज्योंके ध्वंसके साथ-साथ बड़े बड़े प्रासाद, मन्दिर, मठ, शास्त्रभण्डार आदि भी नष्ट हो गये। जन-विहीन ग्रामादि-मृत्तिकादिसे आच्छादित होनेके कारण विलुप्त हो गये। इस प्रकार इतिहास तमसाच्छन्न होगया। दूसरे, जैन और बौद्ध इतिहासको ब्राह्मणोंने जान बूझकर और घोर शत्रुता धारणकर इस तरह लुप्त कर दिया कि इनके राज्यमें किस समयमें इन दो प्रधान धर्मावलम्बी सम्प्रदायोंकी कैसी आश्चर्यजनक लीला हुई थी उसका चिन्हमात्र किसी प्रकार रहने न दिया। इसीलिये हमारे प्राचीन इतिहासोद्धारका पथ अन्धकारमय है। तीसरे मुसलमानोंने भी जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्मायतनोंके विलोप-साधनमें कुछ उठा न रक्खा था।

किस भीषण अत्याचारके साथ ब्राह्मणोंने जैन और बौद्ध धर्मको भारतसे निर्मूल करनेकी चेष्टा की थी वह शंकर-विजय नामक पुस्तककी निम्नलिखित कथा पढ़नेसे भली प्रकार जाना जा सकता है :—

"दुष्ट-मतावलम्बिनः बौद्धान् जैनान् असंख्यतान् राजमुख्याननेक-विद्या-प्रसंग-भेदैर्निर्जित्य तेषां शिरांसि परशु-भिश्छित्वा बहुषु उदखलेषु निक्षिप्य-भ्रमणैश्चूर्णीकृत्य चैवं दुष्टमतध्वंसमाचरन् निर्भयो वर्त्तते।"

इन कट्टर पंथियोंने वेदबाह्य सभी धर्मावलंबियोंको अस्पृश्य लिख दिया। पराशर स्मृतिकी टीकामें माधवाचार्यने "चतुर्विंशतिमतसंग्रह" का निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है उससे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है।

बौद्धान् पाशुपतान् जैनान् लोकायतिक कापिलान्।
निकर्म स्थान-द्विजान् स्पृष्ट्वा सचेलो जलमाविशेत्॥*

श्रीमान् बा० दिनेशचन्द्रसेनने अपने 'बृहत्बंग' में लिखा है कि "भारत युद्धके प्राक्कालमें पूर्व भारत अनेक परिमाणोंमें नवप्रवर्तित ब्राह्मण्य धर्मका विरोधी हो गया था। इस विरुद्धताने उत्तरकालमें बौद्ध और जैन प्राधान्य युगमें पूर्व भारतको कई एक शताब्दीकाल पर्यन्त नवयुगके हिन्दूगणके निकट वर्जनीय कर दिया था। हिन्दू विद्वेषके कारण ही हम इस देशके प्रकृत इतिहास सम्बन्धमें इतने अज्ञ थे। कृष्णकी प्रबल सहायतासे जो ब्राह्मण्य धर्मका पुनरुत्थान हुआ था, उसी पुनरुत्थित हिन्दूधर्मने जैन-बौद्धगणके उज्जवल अध्यायको इस देशके इतिहासके पृष्ठोंसे बिलकुल मिटा दिया।"

प्रथम तो बंगदेश नदी मात्रिक है। इसलिये यहां मनुष्यकी कीर्ति अधिक दिन रह नहीं सकती; दूसरे इस भूमिमें पत्थरके गृह और विग्रह प्रस्तुत करना सहज नहीं। यहां बहुत दूरसे और बहुत खर्चसे पत्थर लाना पड़ता था। इसीलिये जब बहुत कष्ट और व्यय निर्मित मन्दिर और मूर्तियाँ अत्याचारों द्वारा खण्डित होने लगीं तबसे

* Bib. Ind. Vol. 1 p. 259.

बंगदेशका प्रस्तर-शिल्प विलीन हो गया। मुसलमानोंके अमानुषिक अत्याचारसे अनेक जैनमन्दिर और मूर्तियां नष्ट हो गई हैं। काला पहाड़ने मन्दिरों और मूर्तियोंपर कितना गजब ढाया था, यह सभी जानते हैं। मुसलमानोंने क्रमागत हिन्दुओंकी प्राचीन कीर्तिको ध्वंसकर निःशेष कर दिया है। अस्तु, जैनधर्मकी इस बंगभूमिपर किस-किस समय कैसी-कैसी अवस्था थी यह ऐतिहासिक समस्या है। इस प्रश्नको हल करनेकी क्षमता वर्तमानयुगके ऐतिहासिकों की नहीं है और वह भूगर्भमें अथवा भविष्यके गर्भमें निहित है।

बहुआयासलब्ध क्षुद्र खुडखण्डप्रमाण-योजना कर तमसाछन्न इतिहास प्रस्तुत होता है। तदनुसार मैं भी उपलब्ध सामग्रीको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करता हूँ।

यहां यह भी बात ध्यानमें रखनेकी है कि एक समय मगध ही समस्त पूर्व भारतका एकमात्र आदर्श था और मगधेश्वरगण समस्त भारतके अद्वितीय सम्राट् थे। मगधकी शिक्षा-शिल्पकला आदि सभीने गौडमें प्रतिष्ठा प्राप्तकी थी, क्योंकि मगधकी अवनतिके बाद गौड ही उस देशके विनष्ट गौरवका उत्तराधिकारी हुआ था। आर्यावर्तमें विशेषकर मगधमें जो रीति-नीति प्रचलित थीं उनमें अनेक अभी तक बंगालमें प्रचलित हैं और वर्तमान बंगाली जाति मागधियोंकी वंशधर है। पाटलीपुत्रके मानसिक और आध्यात्मिक वैभवके सर्वापेक्षा श्रेष्ठ उत्तराधिकारी बंगाली हैं। अस्तु, मगधको बाद देकर बंगालका इतिहास रचा नहीं जा सकता।

इस प्रकार उड़ीसाका सम्बन्ध भी बंगालसे घनिष्ट था, यहाँतक कि चतुर्दश शताब्दी पर्यन्त बंगला और उड़िया अक्षरोंमें × विशेष अन्तर नहीं था। एक समय उड़ियाका तमलुक (ताम्रलिप्ति) ही बंग वासियोंकी समुद्रयात्राका प्रधान बन्दर था। उड़ीसा पंच गौडमण्डलका अन्तर्वर्ती था। किन्तु इस लेखमें मगधका केवल प्रासंगिक विवरण ही लिखा जायगा और उड़ीसाका विवरण पीछे मैं एक स्वतन्त्र लेखमें लिखूँगा।

प्रागैतिहासिक युग

इतिहासके एक युगका नाम है प्रस्तरयुग। धातु द्वारा शस्त्रादि निर्माण करनेके पूर्व जिस समय तीक्ष्णधार पाषाण खण्ड ही एक मात्र अस्त्र-शस्त्रादि थे उस समयको इतिहासकारोंने प्रस्तरयुग (Stone Age) कहा है। इस प्रस्तरयुगको दो भागोंमें विभिक्त किया गया है। प्रस्तरयुगके प्रथम भागको प्रत्नप्रस्तरयुग (Palaeolithic Age) और दूसरे भागको नव्यप्रस्तरयुग (Neolithic Age) कहते हैं। प्रत्नप्रस्तरयुगके अस्त्रोंमें मनुष्यके शिल्पचातुर्यका विशेष परिचय नहीं मिलता है और नव्यप्रस्तरयुगके अस्त्र नानाविध सुदृश्य और सयत्न निर्मित हैं। जबसे धातुव्यवहारमें आने लगी उस कालको अर्थात् नव्यप्रस्तरके परवर्ती कालको ताम्रयुग (Copper Age) कहते हैं। ताम्रयुगके शेष भागको मिश्रधातुव्यवहारकाल (Bronze Age) कहते हैं। तथा इसके बादके कालको लोहयुग (Iron Age) कहते हैं।

इस बंगदेशकी मिट्टीके निम्नस्तरसे प्रस्तरयुगके अस्त्र-शस्त्र कई जगह प्राप्त हुए हैं। मिस्टैन्ट बाल साहबको सन् १८७८ में बंगालके प्रसिद्ध पार्श्वनाथ पर्वत (श्री सम्मेदशिखर) के पादमूलमें एक छेदनास्त्र मिला था❀। सन् १९१० में हजारीबागके श्रीयुत नवीनचन्द्र चक्रवर्तीको पार्श्वनाथ पर्वतके निकट और हजारी बागके अन्यान्य स्थानोंमें पाँच नव्य प्रस्तर युगके अस्त्र मिले थे ✱।

भूतत्त्वविद्गणोंका मत है कि आधुनिक भारतवर्षका उत्तरांशीय आर्यावर्त प्रदेश यहाँ तक कि हिमालयका भी एक समय अस्तित्व नहीं था। विन्ध्यपर्वतके उत्तरमें एक प्रकांड समुद्र था। पीछे किसी सुदूर अतीतकालमें हिमालय समुद्र गर्भसे उत्थित हुआ और हिमालय-निश्रित नदी वाहित-मृतिका द्वारा आर्यावर्त-प्रदेशकी सृष्टि हुई। जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि पहले यहाँ कोई नगरादि नहीं थे और सर्व प्रथम भगवान आदिनाथने नगरादिकी रचना इन्द्रसे करवाई (आ. पु.)।

श्री जिनसेनाचार्यके आदि पुराण पर्व १६ श्लोक १५२-१५६ से मालूम होता है कि भगवान आदिनाथ

× Origin of Bengali Script P.P. 5-6

❀ Proceedings of the Asiatic Society of Bengal 1878 p. 125.

✱ Catalogue Raisonne of the Pre—historic Antiquities in the Indian Musium p. 160.

(प्रथम तीर्थंकरकी आज्ञासे इन्द्रने ५२ देशोंकी रचना की। उनमें पुण्ड्र, उण्ड्र, कलिंग अंग, बंग, सुह्म, मगध भी थे। भगवान आदिनाथने इन देशोंमें अर्थात् सुह्म, पुण्ड्र, अंग, बंग, मगध, कलिंगमें भी विहार कर धर्मोपदेश दिया था। (आदि पु. पर्व २० श्लोक २८७) । और इस पुराणके पर्व २९ श्लोक ४१ से मालूम होता है कि आदिनाथके पुत्र महाराज 'भरत' के आधीन पुण्ड्र और गौड देश भी थे। इन प्रमाणोंसे बंग देशकी प्राचीनता और उनके साथ जैन धर्मका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

जैन हरिवंशपुराण (रचना काल सन् ७८३) में भारतवर्षके पूर्वके देशोंमें निम्न लिखित देशोंको गिनाया गया है (सर्ग ११, श्लोक ६४-७६)—

खड्ग, आंगारक, पौण्ड्र, मल्लप्रवक, मस्तक, प्राघोतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव। हरिवंश पु० के सर्ग १७ श्लोक २०-२१ में लिखा है कि राजा ऐलेयने ताम्रलिप्ति नामक नगर बसाया था।

भूगोल

भारतवर्षके पूर्वभागमें बंग देश अवस्थित है। आजकल बंग देशकी जो सीमा है पहले वह नहीं थी। प्राचीन कालमें कितनी ही बार इस बंगदेशकी राष्ट्रीय सीमाका परिवर्तन हुआ है इसलिए इसकी सीमा निर्देश करनी सहज नहीं है। गौड साम्राज्य, पंच गौड, द्वादश बंग आदिके अन्तर्गत समस्त आर्यावर्त ही गर्भित होता रहा है। ऐतिहासिक युगके प्रारम्भमें बंगदेशका बहुभाग तमलुक (ताम्रलिप्ति) के अन्तर्गत था। बंगालका जो अंश भागीरथी पश्चिमकी ओर अवस्थित है उसका नाम राढ है। आचारांग सूत्रमें लाढ या राढ देशका उल्लेख हुआ है। प्राचीन सुम्ह ही पीछे राढ देश एवं कौशिक-कच्छ बंग और पुंड्रने वरेन्द्रदेश नामसे प्रसिद्धि लाभ की थी

प्राचीन बंगदेश मगध, मिथला, पौंड्र, गौड, अंग, सुम्ह, कौशिक, कच्छ, बंग एवं त्रिपुरा राज्यको लेकर गठित हुआ था। त्रिपुरा-व्यतीत इन सब देशोंको सम्मिलित-भावसे गंगारिडी राज्य कहते थे ऐसा कई विद्वानोंका मत है। खृष्टीय (ईसाकी) द्वितीय। शताब्दीमें प्रादुर्भूत प्रसिद्ध भौगोलिक टालेमि लिख गया है कि गंगाके मुहानासमूहके समीपवर्ती प्रदेशमें गंगारिड्गिण वास करते हैं ×।

वर्तमान उड़ीसा और उड़ीसाके दक्षिण ओर अवस्थित गोदावरी-पर्यन्त विस्तृत भूभागको प्राचीन कालमें कलिंग कहते थे। परवर्तिकालमें जब उड़ीसाका 'उड्र' या 'उत्कल' नाम प्रचलित हुआ और प्राचीन कलिंगका दक्षिण भाग ही केवल कलिंग नामसे अभिहित होने लगा तब भी उत्कल 'सकल कलिंग या 'कलिंग' एक कलिंगको लेकर गणय होता था। प्लीनी (मेगस्थिनिसका अनुसरण कर) लिख गया है कि गंगा नदीका शेष भाग गंगारिडी-कलिंग राज्यके भीतर होकर प्रवाहित हुआ है इस राज्यकी राजधानी पर्थलिस है। प्लीनी द्वारा गंगारिडि और कलिंग को एकत्र उल्लिखित देख यह धारणा होती है कि कलिंग उस समय गंगारिडी राज्यके ही अन्तर्भूत था। डिउडो-रसने भी मेगस्थिनिसका अनुसरन कर लिखा है कि गंगा नदी गंगारिडी देशकी पूर्व सीमासे प्रवाहित होकर सागर-में गिरती है। टालेमीके समय आर्यावर्त में कुशाण साम्राज्य प्रतिष्ठित था। उस समय वारगोसा (भृगु कच्छ या भरोंच) और गंगारिडीका प्रधान नगर 'गंगे' भारतवर्षके प्रधान बन्दर थे और इन दोनों बन्दरोंसे भारतका वाहिर्वाणिज्य सम्पादित होता था।

एक बात यह भी विचारणीय है कि गिरीक लोगोंने जिस गंगारिडी राज्यका उल्लेख दिया है उसकी उत्पत्ति 'गंगा और राढ' इन शब्दोंके योगसे 'गंगाराढ' बन जाता है और गंगाराढी शब्द एक ग्रीकगणों द्वारा विकृत भावसे उच्चारित होकर 'गंगारीडी हो सकनेकी सम्भावना है। अतः प्राचीन राढ देश हो ग्रीक गणोंका गंगारीडी हो सकता है। यहांका ताम्रलिप्ति बन्दर भी उस समय लोकप्रसिद्ध था।

गंगा और ब्रह्मपुत्रके कछार प्रदेशके अधिवासियों तथा उससे निम्नतर नदी मुखस्थ प्रदेश अर्थात् बंगाल, विहार-के प्रधान भागके निवासियोंमें सदैवसे न्यूनाधिक घनिष्ट सम्बन्ध चला आता है। प्राचीनकालमें बंगाल और विहारका राजनैतिक सम्बन्ध भी घनिष्ट था। इनका विभिन्न राजनैतिक और भौगोलिक विभाग जैसे मगध विदेह, अंग, बंग, समतट, पुण्ड्र गौड, राढ, सुह्म आदि-के इतिहासका अनुसन्धान करें तो ज्ञात होगा कि ईस्वी सन् पूर्व चतुर्थ और पंचम शताब्दीमें साम्राज्यवाद (Imperialism) के प्रारम्भ कालसे ये प्रदेश प्रायः एक राज्यके शासनाधीन रहे हैं मौर्योंने इन प्रदेशों पर शासन

× Mc Crindle's Ancient India as described by Ptolemy p. 172.

अवश्य किया था और यहाँ गुप्तोंका भी शासनाधिकार छठी शताब्दीके प्रारम्भकाल तक था। ×

बंगालकी वर्तमान सीमा अंकित करनेके लिए इसके उत्तरमें हिमालय दक्षिणमें तमलुक-प्रान्तसमाश्रित वारिधि-वक्ष (बंगोपसागर) पूर्वमें ब्रह्मदेश आराकनका अरण्य और आसाम विभाग (आसामसे होकर ही ब्रह्मपुत्र नद बंगालमें आया है) और पश्चिममें विहार और उड़ीसा प्रदेश।

इस चतुः सीमाके मध्यवर्ती विपुल समतल क्षेत्रको बंग कहते हैं।

वर्तमानमें बंगालके तीन हिस्से हैं। पूर्व बंगाल, पश्चिम बंगाल और उत्तर बंगाल। दक्षिणमें प्रायः ६०० मील समुद्रका किनारा है। बंगाल प्रायः ४०० मील लम्बा और प्रायः इतना ही चौड़ा है पर तिकोनासा देश है। बंगालमें गंगाकी मुख्य धाराका नाम पद्मा तथा ब्रह्मपुत्रकी मुख्य धाराका नाम जमुना है और इन दोनोंकी सम्मिलित धाराओंको मुहानेके पास मेघना नाम दिया गया है। उत्तरपुराणके पर्व २६ श्लोक १२१–१५० पर्व २७ श्लोक १—१६ और पर्व ४५—श्लोक १४८–१५२ और श्लोक १६०–१६६ में गंगा नदीके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा गया है। बंगालके वर्तमान पाँचों विभागोंकी सीमा और उनके जिले निम्न प्रकार हैं :—

१ वर्द्वान विभाग

पूर्वमें भागीरथी (हुगली) नदी और प्रेसीडेन्सी विभाग दक्षिणमें बंगालकी खाड़ी, पश्चिममें उड़ीसा और छोटा नागपुर, उत्तरमें संथल पर्गना और मुर्शिदाबाद जिला है। यह विभाग सबसे छोटा है। इसके जिले हैं वर्द्वान, वीरभूमि, बाकुड़ा, मेदिनीपुर, हुगली और हवड़ा। मेदिनीपुर जिलेमें हीतमलुक है, जो प्राचीन कालमें ताम्रलिप्ति नामका प्रसिद्ध बन्दर था, किन्तु अब समुद्र यहाँ से ५५ मील दूर है। हरिषेणके बृहत् कथाकोषमें कई स्थलों पर ताम्रलिप्ति नगरका वर्णन किया गया है। यह कथाकोष सन् ६३१ की रचना है। करकण्डु महाराजकी कथामें लिखा है—

ताम्रलिप्तौ पुरे श्रेष्ठी वसुमित्रो महाधनः।
तस्य भार्याऽभवन् तन्वी नागदत्ता प्रियंवदा ॥११६॥

इसी प्रकारका चारुदत्तकी कथामें लिखा है—

गृहीत्वा तत्र कर्पासं बहुं बहुधनेन सः
सार्थेन सह सार्थेन स ययो ताम्रलिप्तिकाम् ॥५५॥

आराधना कथाकोषकी १०वीं कथा जिनेंद्रभक्त सेठमें लिखा है—

यथास्ति गौड़देशे च ताम्रलिप्ति भिधापुरी।
यत्र संतिष्ठते लक्ष्मी दान पूजायशःकारी ॥ ६ ॥

सन् ७८३ में रचित जैन हरिवंशपुराणके सर्ग २१ श्लोक ७६–७१ से पता लगता है कि उसीरावर्तसे कपास खरीद कर उसे लोग ताम्रलिप्तिमें बेचने जाते थे। इसी प्रकार ६८ वीं विद्युच्चर मुनिकी कथामें लिखा है कि उन्होंने ताम्रलिप्तिमें केवल ज्ञान प्राप्त किया—

मुनिश्चशतं युक्तं विरक्तो मदनादिषु।
ताम्रलिप्तिपुरीं प्राप्तो न लिप्तो मोहकर्दमः ॥ ३८ ॥

शुक्लध्यानप्रभावेन हत्वा कर्मारि सञ्चयम्
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोहमक्षयम् ॥ ४४ ॥

इससे ताम्रलिप्ति सिद्ध स्थान प्रमाणित होता है। हुगली जिलेमें चिनसुरा है, जहाँ दिगम्बर जैन मन्दिर है। यहीं प्रसिद्ध सप्तग्राम त्रिवेणी है, जहांसे एक जैन मूर्ति मिली है।

२ प्रेसीडेन्सी विभाग

पूर्वमें हरिनघाटा नदी, पूर्व और उत्तरमें मधुमती और पद्मा नदियां या ढाका और राजशाही विभाग, पश्चिममें भागीरथी (हुगली) नदी या संथाल परगना और वर्द्वान विभाग, दक्षिणमें बंगालकी खाड़ी। इस विभागमें समुद्रके किनारे नदियोंके मुहाने बहुत अधिक हैं। इसके जिले हैं चौबीस परगना कलकत्ता, नदिया, मुर्शिदाबाद, जसौर और खुलना। खुलना जिलेके दक्षिणमें सुन्दर वनका अधिकांश भाग है। समुद्रके पास सुन्दर वन नामका जांगल प्रदेश है ॐ।

३ राजशाही विभाग

उत्तरमें सिकिम और भूटान राज्य, पूर्वमें आसाम और ब्रह्मपुत्र (जमुना) या ढाका विभाग, दक्षिणमें गंगा (पद्मा) पश्चिममें बिहार प्रान्त और नेपाल राज्य। बंगालमें यह सबसे बड़ा विभाग है।

× Dynastic History of Northern India by H. C. Roy p. 271-72

ॐ यह पूर्व पश्चिम प्रायः २०० मील लम्बा और उत्तर-दक्षिण ६०.७० मील चौड़ा है।

मालदा, राजशाही, दीनाजपुर और बोगडा जिलोंका एक भाग वरेन्द्र भूमि कहलाता है। हरिषेणके बृहत्कथा-कोषमें भी शोमशर्माकी कथामें प्रथम श्लोकमें भी 'वरेन्द्र' शब्द इस प्रदेशके लिए आया है—

पूर्वदेशे वरेन्द्रस्य विषये धनभूषिणे।
देवकोटपुरं रम्यं बभूव भुवि विश्रुतम ॥

इसके जिले हैं—राजशाही, दीनाजपुर, जलपाई गोडी, दार्जिलिंग, रंगपुर, बोगडा, पबना और मालदा। बोगडा जिलेके महास्थानगढ़में ही पौण्ड्रवर्द्धन राजधानी थी, यहीं पहाड़पुर है जहाँ बड़ा प्राचीन मन्दिर निकला है जिसमें जैन ताम्रलेख भी प्राप्त हुआ है। पुराने मालदासे १०/११ मील दक्षिण-पश्चिममें गौड नामक ऐतिहासिक स्थान है।

४ ढाका विभाग

उत्तर पूर्वमें आसाम प्रान्त, पूर्वमें मेघना नदी और चटगाँव विभाग, दक्षिणमें बंगालकी खाड़ी, दक्षिण-पश्चिम में मधुमती (हरिनघाटा) नदी और प्रेसीडेन्सी विभाग, उत्तर-पश्चिममें जमुना नदी और राजशाही विभाग। इसके जिले हैं—ढाका, मैमनसिंह, फरीदपुर और बाकरगंज।

५ चटगांव विभाग

उत्तरमें आसाम, पूर्वमें आसाम और बर्मा, दक्षिणमें बर्मा और बंगालकी खाड़ी और ढाका विभाग। इसके जिले हैं—चटगाँव, त्रिपुरा (टिपरा) और नोआखाली। त्रिपुराके निकट कोमिला है जो जैनशास्त्रोंमें कोमलाके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ से ६ मील पर मैनामती नामक स्थानसे दो जैन मूर्तियां उपलब्ध हुई थीं।

स्वामी विश्वभूषणकृत संस्कृत भक्तामर कथाका हिन्दी अनुवाद (पद्यमें) पं विनोदीलालजीने सं० १७४७ में किया था उसमें श्रीरत्न वैश्यकी कथामें पूर्वबंगालमें सभद्रा नगरीका उल्लेख है, जहाँ जैनमुनि भी थे। अब सन् १९४७ मे बंगालके दो भाग हो गए हैं—पूर्व बंगाल (पाकिस्तान) और पश्चिमी बंगाल (हिन्दुस्तान)। अस्तु, पूर्व पाकिस्तानमें अब हैं—२ प्रेसीडेन्सी विभागके नदिया-का बहुभाग, जैसोर और खुलना। ३ राजशाही विभागके पूर्व दीनाजपुर, रंगपुर, बोगडा, पबना और मालदाका कुछ भाग। ४ ढाकाविभाग सम्पूर्ण और ५ चटगाँव विभाग सम्पूर्ण। (क्रमशः)

१४वीं शताब्दीकी एक हिन्दीरचना

(पं० कस्तूरचन्दकाशलीकाल एम०ए०)

जैन शास्त्रभण्डारोंमें कितने अमूल्य रत्न छिपे हुये हैं यह हमें समय समय पर उपलब्ध रचनाओंके आधार पर ज्ञात होता है। इन ज्ञानभण्डारोंको यदि आजसे ५० वर्ष पूर्व भी देख लिया जाता तो अपभ्रंश, संस्कृत एवं हिन्दी साहित्यके इतिहास लेखनमें आशातीत सफलता मिलती और जैन विद्वानों द्वारा लिखित साहित्यका अत्यधिक महत्वके साथ उल्लेख किया जाता। देशकी बोल-चाल-की भाषामें साहित्य निर्माणका सदा ही जैन विद्वानोंका ध्येय रहा है इसीलिये जैन भण्डारोंमें देशकी प्रायः सभी भाषाओंमें महत्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध होता है।

अपभ्रंश भाषाके साहित्यमें तो जैनाचार्योंका एकाधिपत्य हिन्दीके प्रायः सभी विद्वानों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है किन्तु हिन्दीभाषामें भी प्रारम्भसे ही जैनविद्वानोंकी साहित्य-निर्माणमें अतिरुचि रही है और यह धारणा समय समय पर उपलब्ध होने वाली हिन्दी रचनाओंके आधार पर और भी दृढ़ हो जाती है।

अभी कुछ समय पूर्व राजस्थानके ज्ञानभण्डारोंकी सूची बनाते समय श्री दि० जैन बड़ा मन्दिर तेरहपंथियोंके शास्त्र भंडारमें संवत् १५३४ का लिखा हुआ एक प्राचीन गुटका मिला है। इसी गुटकेमें संवत् १३७१ की एक हिन्दी रचनाका भी संग्रह किया हुआ है। यद्यपि रचना शुद्ध हिन्दीमें नहीं है किन्तु रचनाकी हिन्दी, हिन्दीके आदिकालकी अन्य रचनाओंके समान है। रचनाकी भाषा पर अपभ्रंशका स्पष्ट प्रभाव झलकता है। हिन्दी भाषाकी इसी प्राचीन रचनाका परिचय आज पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

रचनाका नाम 'चउवीसी' है इसमें जैनोंके वर्तमान २४ तीर्थंकरोंका अति संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

यह चउवीसी 'देल्ह' कवि द्वारा लिखी गयी है जिसमें कुल २६ छन्द हैं। उनमें २४ छन्दोंमें २४ तीर्थंकरोंका परिचय और शेष दो छन्दोंमें कविने अपना और ग्रंथके रचनाकाल आदिका परिचय दिया है।

कविका उद्देश्य कोई साहित्यिक रचनाका अथवा रसालंकार पूर्ण रचनाके निर्माण करनेका नहीं था। उसे तो सीधी-सादी उस समयकी बोलचालकी भाषामें २४ तीर्थंकरोंका परिचय लिखना था। यही कारण है कि कविने रचनामें उस समयकी बोलचालकी भाषाके शब्दोंका ही प्रयोग किया है। क्योंकि उस समयकी अपभ्रंशके शब्दोंका बोलचालमें काफी प्रयोग था इसलिये कविकी रचनामें भी वे शब्द बहुलतासे प्रवेश पा गये हैं। कविने रचना निर्माण करनेका निम्न उद्देश्य बतलाया है :—

दुसमु कालु पंचमउ धम्मकी दिन दिन हाणी।
बोधि करहु फलु लेहु कहहु चउवीस बखाणी ॥

दूसरी प्रकार जिसके आग्रहसे यह स्तवन लिखा गया है उसने कविसे निम्न शब्दोंमें स्पष्ट प्रार्थनाकी है :—

'कम्मक्खय कारण णिमित देल्ह तुम्हि रचहु कवित्त'

अर्थात् कर्मोंके क्षयके कारण हे देल्ह तुमही कोई रचना लिखो।

स्वयं कविने भी अपना परिचय लिखा है। वे परवाड (परवार) जातिमें पैदा हुये थे। उनके धर्मसाह, पैतूसाह और उदैसाह ये तीन भाई थे। वे टिहडा नगरीके रहने वाले थे। इस परिचयको कविके शब्दोंमें भी पढ़िये:—

कहउं जाणि कुलु आपणउ परवाडु भणाउं।
धमेसाहु हि पणतिउ आखिहि पैतूं नाउं ॥
उदैसाह दिउ भायं ए तीनिउ लघु भाई।
टिहडा णयरि वसंतु देल्ह चउवीसी गाई ॥

कविने रचनाको संवत् १३७१ वैशाख सुदी ३ गुरुवार रोहिणी नक्षत्र एवं ब्रह्मयोगमें समाप्त की थी जैसा कि निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है :—

तेरहसइ इकहत्तरे संवच्छरु [सुभ] होइ।
मासु वसंतु अतीतउ अक्खइ तिज दिन होइ।
गुरुवासरू पभणिज्जइ रोहिणि रिषु सुणेहु।
ब्रह्मायोग पसिद्धउ जोइसु एम कहेइ ॥

रचनाकी भाषा जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है शुद्ध हिन्दी नहीं है। किन्तु इसकी भाषाको पुराना हिन्दी कहा जा सकता है। जिसपर अपभ्रंशका पूरा प्रभाव झलकता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि जिस क्रमसे अपभ्रंश हिन्दी भाषामें परिवर्तित हो गयी थी, उस परिवर्तनके भी हमें इसमें स्पष्ट दर्शन मिलते हैं। छन्द शास्त्रकी दृष्टिसे रचना अपूर्ण है क्योंकि इसमें किसी एक अथवा अधिक छन्दोंका निश्चित एवं उचित रूपमें प्रयोग नहीं हुआ किन्तु कविको एक तीर्थंकरके परिचय लिखनेमें जितनी पंक्तियोंकी आवश्यकता जानपड़ी उतनीही पंक्तियोंका एक छन्द बना दिया गया है।

फिर भी हिन्दीके आदिकालकी दृष्टिसे यह उत्तम रचना है। यद्यपि रचना पूर्ण धार्मिक है। किन्तु उसमें काव्यत्वकी झलक होनेके कारण हिन्दी साहित्यके इतिहासमें उल्लेखनीय है तथा आदिकालकी हिन्दी रचनाओंमें इसे उचित स्थान मिलना चाहिये। निम्न दो छन्दोंसे पाठक जान सकेंगे कि रचना कितनी सरल एवं बोल चालकी भाषामें लिखी हुई है एवं कितनी अर्थगम्य है। कविने भगवान महावीरका परिचय निम्न प्रकार दिया है :—

कुंडिलपुर सुर वसउ सिद्धारथ तहि राउ।
पियकारिणी तसु राणी एय देल्ह पभणेइ।
वीर जिणेसर नन्दणु जिहि कंपायउ मेरू।
सात हाथ काया पमाण लंछणु सींह सुणेहु।
वरिस वहत्तरि जासु आउ सो कहिउ णिरुत्तु।
पावापुरी उजाणमांहि णिव्वाणु पहंतु ॥

इसी प्रकार प्रत्येक छन्दमें तीर्थंकरके माता पिताका नाम, जन्मस्थान, आयु, शरीर, चिन्ह एवं जिस स्थानसे मोक्ष गये थे उसका नाम दिया गया है। पद्य कुछ अशुद्ध रूपमें लिखे गए हैं और संशोधन के लिये दूसरी प्रति की अपेक्षा रखते हैं। पद्यगत यक्ष यक्षिणियोंके नाम त्रिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थोंसे भिन्न प्रतीत होते हैं। पूर्ण रचना इस प्रकार है :—

चउवीसी गीत

आदि रिसहु पणवेपिणु अन्त वीरू जिणणाहु।
अरुहु सिद्ध आचार्य अरु उज्झापति साहु ॥
गणहर देउ नएपिणु सारद करइ पसाउ।
हउं चउवीसी गाउं करि ति-सुद्ध समभाउ।
सा तन सहजा नन्दणु बोलइ वच्छे निरुत्त।

कम्मक्खय कारण णिमित देल्ह तुम्हि रचहु कवित्त
दुसमु कालु पंचमउं धम्मको दिन दिन हाणा।
बोधि करहु फलु लेहु कहहु चउवीस बखाणी ॥
गोरउ पभणइं णिसुणि णाह हउं दासि तुम्हारी।
जिण चउवीस कथंतरू सो मुहि कहहु विचारी ॥
वर्णनीय विषय।
बापु माय तित्थंकरू जनमु नयरू अरू आउ।
जक्खु जक्खिणी लंछणु अरु जिहि जेतउ काउ ॥

(१ आदिनाथ)

णाभिनरिंदु नरेसरु मरुदेवी सु-कलत्ता।
तसु उरि रिसहु उवयणो अवध वंदाहिकंत्ता ॥
पुणि कहि हउं आउस पमाणु जिहि जेता सखा।
आदिनाथ जिण कहिय आउ पुव्व चउरासी लक्खा
वृषभ तासु तल लंछणु अति सरूपु सुरतारू।
गोमुख जक्खु चक्केसरू, धणुसइ पंच शरीरु ॥
बड पयाग तलै दिक्षा बोलइ वच्छ निरुत्तु।
कैलासह गिरिवर चडे वि निव्वाण पहुंतु ॥ १ ॥

(२ अजित नाथ)

पुणि पिय अजिउ बन्दावहु अवध नयरि जिह ठाऊं
विजयादे उर धरियउ जितसत्तु जिणेसर ताऊ ॥
पुव्व बहंतरि लक्ख आऊ भावियहु णिसणेहु।
तासु चलण कमल हलगवि, कुसुमंजलि देहू ॥
चउद सइ धणु काया महाजक्खु तहि आही।
अजिते जक्खणि सूंमइ लंछणु गय वरु ताहां
सम्मेदह गिरिवरह जासु भइयउ णिव्वाणु ॥२॥

(३ संभवनाथ)

शंभउ सामि बन्दावहु साइति पुरह मझारी।
सेनादे जसु माता पिता नरिंदु जितारी।
साठि लक्ख पूरव पमाणु संभव जिण आऊ।
संमेदह गिरिवर चडे वि गउ शिवपुरि ठाउ ॥
तिरिमुक्खु जक्खु भणिज्जइ नम्मेदे जसु नारी।
लंछणु तुरिउ पचासिउ कया घणु खसइ वारी ? ॥३

(४ अभिनन्दननाथ)

तासु संवरणु राजा सिद्धारथदे नारी।
वंदरू लंछणु तल खसइ अहूठधणु काया दुरितारी।
विजसु जाखिणी तिहि कहियउ नाउं।
जक्खेसुरु सो जक्खु भणिउं सासण रखवालु।
धनुसर खेटकु पाणिहि किंकिणि सा हुवा मालू।
पुव्व लक्ख पंचास कहिउ आउ परिमाणु।
सम्मेदह गिरिवर चडेवि लद्धउ णिव्वाणु ॥४॥

(५ सुमतिनाथ)

मेघराउ अवधापुरि सुभ मंगल जसु नारी।
सुमतिनाथ तसु नंदण सामी कहहु विचारी।
धनुष तीनि सइ काया लंछण चक कहा जोल।
तुंबरु जक्खु भणिज्जइ संसारिणि ? जसु देवि।
पुव्वलक्ख चालीस आऊ सो कहिउ निरुत्त।
सम्मेदह गिरिवर चडेवि णिव्वाण पहुंतु ॥ ५ ॥

(६ पद्मप्रभ)

पद्मपहु कउसंबी सामीलाइसु वंदाऊ।
सुहसीमादे जसु माता धरणेसरू जसुताऊ।
पुप्फा सुवि सो जक्खु कहिउ, मोहिणि जक्खिणि जासु
सयइ अढाइ धणु तणु लंछणु कमलु पमाणु।
तीस लक्ख पूरव प्रमाणु जिणवर निसुणिज्जइ।
कम्मक्खय कारण णिमितु जिन पूज रइज्जइ।
सम्मेदह गिरिवर चडेवि कम्मक्खउ कीज्जइ। ६

(७ सुपार्श्व नाथ)

सुपइटु वाणारसी पृथिवीदे सु-कलत्ता।
दुइसइ धनुप शरीरू जासु वन्दावहु कंठा।
बीस लक्ख पूरव निबद्ध जसु आउ पमाणु।
संमेदह गिरिवर चडेवि लद्धउ णिव्वाणु।
मातंगुवि सो जक्खु कहिउ जक्खिणि मोहि णिदंवि
जिण सुपास लंछण सुस्तिकु तसु हउं पूजइ बिम्बु ॥७॥

(८ चन्द्रप्रभ)

महासेणु चन्द्रापुरि लक्खुमादे जसु नारी।
चन्द्रापहु तसु नन्दणु लंछण ससिहरु वारी ॥
पुव्वलक्ख दस आहि आउ सो कहिउ निरुत्तु।
संमेदह गिरिवर चडे वि णिव्वाणु पहुंतु ॥
स्यामा जक्खु जसु कहियउ ज्यालामालिणि देवी। *
धनुष डिवड्ढु सउकाय अक्खइ दल्हु नवेवि ॥ ८ ॥

(९ पुष्प दन्त)

किंकिंधी पुरि णयरि राया सुग्रीव महंतु।

रामादेवी नंदणु पुप्फदन्तु जिणु पुत्त ॥
लंछण मगरू सुहाउ आऊ सउ धनुष वखाणउ ।
अजितु जक्खु तसु लुकुटिदेवि दुहुँ कहियउ नाउं
सम्मेदह गिरि वससि रंमि साधिउ निव्वाणु ॥९॥

(१० शीतल नाथ)

दढरथुरा नन्दादे भादिलपुर सउथान् ।
धम्मु तासु घर नंदउ सीयलु जिणु णवि आन ॥
एकु लक्खु पुरव पमाणु दसमउं जिण होइ ।
संमेदह गिरिवर चडेवि गउ मोक्खुहि सोइ ॥
बंभ जक्खु रणाकारू जक्खिणी चावड देवी ।
सिरिवच्छु छइ लंछणु णव धनुष तणु आही ॥१०

(११ श्रेयांसनाथ)

विषहुराउ वेणुसिरिदेवि सिंहपुर वि वरथान ।
गेंडउ जीउ लंछण सित्थंकरू सिरियंसु ॥
वरिस लक्ख चौरासी आउसु कहिउ निरुत्तु ।
सम्मेदह गिरिवर चडेवि णिव्वाण पहुंतु ॥
ईसरू जक्खु प्रसिद्धउ मोमेधकि जसु देवी
असी धनुष छइ काया अक्खइ देव्हु नवेवि ॥

(१२ वासुपूज्य)

चंपापुरि वासपुज्ज राउ विजयदेवी धणसारी ।
वसुपूजु जिण वंदि हउं इम पभणइ नारी ।
समउसरण रचियउ कुवेर……………।
भयउ सई इंदूवरिस वहत्तर लक्ख आउ ।
वारहउं जिणंदु महिसु तासु जाणउ लंछणु ।
सत्तरि धनुष सरीरु जक्खु कुमारु पसिद्धउ
विद्युन्मालिणि देवि चंपापुरि णयरि पसिद्धे
तहंणिव्वाण पहुंतु ॥१२॥

(१३ विमलनाथ)

किप्तिवंसु तसु राजा सामादे जसु माइ ।
सो जिणवरु पिय वंदि हउं लंछणु सुयराहू ।
विमलुनाथु सो कहियउ कंपिलपुरि जसु थानु ।
साठि धनुष काया पमाणु कहियउ निरजासु ।
चउ मुक्खु जक्खु पयडु वीरू सासण रखवालू ।
जक्खिणि विद्यादेवी कहइ देल्हु णिसुणेहू ।
साठि लक्ख वरिसरु प्रमाणु कहियउ जिणआऊ ।
सम्मेदह गिरिवर चढे वि गउ सिवपुरि ठाऊ ॥१३॥

(१४ अनन्तनाथ)

सिंघसेनु जसु राजा सुजसादे जसु नारी ।
जिणु अणंतु पसिद्धउ धनुष पंचास सरीरू ।
जक्खु पतालु कहिज्जइ विजृंभिणि तसु देवी ।
सेही लंछणु तसु तला सो जिणु लहणाह चंदाउ ।
अवधउ पंणउं वलमहंतु रोरुहरु भरमिज्जइ ।
तीस लक्ख वरिसह पमाणु जसु आउ कहिज्जइ ।
सम्मेदह गिरिवर सिरंमि णिव्वाणु भणिज्जइ ।

(१५ धर्मनाथ)

भानुराउ सुव्रतादेवि रतनपुरु सउथानु ।
धम्मुनाथु तहि ऊपजउ लंछणु वज्ज पहाणु ।
किंनरू जक्खु परभृता देवि जक्खि सुवासु ।
पंचऊण पंचास धनुष तसु काय कहिज्जइ ।
धम्मनाथ दहलक्ख वरिस आऊसु पभणिज्जइ ।
न्हवण पूज उच्छव करेवि कुसुमंजलि दिज्जइ ।
सम्मेदह गिरिवर सिरंमि णिव्वाणु थुणिज्जइ ॥

(१६ शान्तिनाथ)

हस्तिनागपुरु पाटणु विश्वसेणु तहिं राउ ।
अइरादे उर धारियउ संतिजिणेसरु नाउं ।
गरडु जक्खु कंद्रपे ? देवि तिहुवणि सुपसिद्ध ।
चैतमास वंदि हउं संतिवर णयरि सिरंभि ।
धनुष चालीस सरीरू चक्रवर्ति सो पंचमउ ।
कामु वारहउं भणिज्जइ……………… ।
सोलहमउं तित्थंकरु जहि जगि पइडिउ संति ।
जमि जमि वंदिहउं णाहइं सुपभणइं कंति ।
सम्मेदह गिरिवर चढे वि णिव्वाणु पहुंतु ॥१६॥

(१७ कुंथुनाथ)

सूरसेणु सिरियाम तिह थिणु पुरुवर थानु ।
छेलउ लंछणु जसु तल कुंथु जिणेसर नाउं ॥
छटउ चक्र वल्लि कहियउ दहम तमउ जिणंदु ।
कुँथुनाथु पिय वंदहिउं मुहि ममह अणंदु ॥
पंचसहस ऊणउं लक्खु परि आउस पभणिज्जइ ।
पंचतीस धणु काय आक्खइ देल्हु णिरुत्तु ॥
सम्मेदह गिरिवर चढे वि णिव्वाण पहुंतु ॥

(१८ अरनाथ)

पुहमि सुदरिसनु राजा मित्रादे नरी ।

गजपुर नयरि उपन्नउ रियमुहि अरुहु दिखाली ॥
जक्खेन्द्र जतहि कालिका देवि जिणसासण तीणो ।
मीनु जुगलु तसु लंछणु तीस धनुष तणु होइ ॥
चक्कवट्टि सत्तमउं णाह वन्दाहि भोहो ।
अरु जिण आऊसु कहिउ वरिस चउरासी सहस णिरुत्तु
सम्मेदह गिरिवर चडे वि णिव्वाणु पहुंत्तु ॥

(१९ मल्लिनाथ)

कलसु जास छइ लंछण कुंभ नरिंदह पुत्तु ।
पद्मावतीदे उर धरियउ, मिथला नयरि निरुत्तु ॥
पंचावण सहस बरिस छइ जिणवर आऊ ।
जक्खु कुवेरु पसिद्धउ अनजातवि तसु देवि
पंचवीस धनुकाया तुम्हि सरिसी पिय वंदिहउं ।
करिणि मलचित्तु सम्मेदह गिरिवर चडे वि णिव्वाणपहंतु

(२० मुनिसुव्रत)

राय सुमित्तु पसिद्धउ पद्मादे जसु नारी ।
मुणिसुव्वउ जिणु णंदणु लंछणु करमु जाणी ॥
कोस ग्राम वरपाहणु कहइ देल्ह सुवरवाणी ।
वीसधणु तणु काया वरुणजक्खु तसु जाणी ॥
देवि सुगंधिणि कहिए जिणसासण रखवाली ।
तीस सहस वरिस हंमु आउ जाणिहुं परमाणु ॥
साम वरणु गुणणिम्मलु हरिवंसु पसिद्धु ।
गुण गहीरू रयणयरू वर अइसयं संजुत्तु ॥
सम्मेदह गिरिवर चढे वि णिव्वाणु पहुंतु ॥

(२१ नमिनाथ)

मिथिला णयरि खन्नी विजय नाम तहि राउ ।
वामादे तसु राणी नमि जिणवरू जसु पूत्त ॥
लंछण कमल पयासिउ पन्द्रह धनुष सरीरू ।
भकुटि जक्ख जसु कहिए कुसुमामणि तसु देवि
नमि जिणवरके नमउ पाइ इम पभणइ णारी ।
वरिस सहस दस कहिउ आउ सो भणिउं णिरूत्तु ।
सम्मेदह गिरिवर चडे वि णिव्वाण पहुंतु ॥ २१॥

(२२ नेमिनाथ)

सूरिपुर नयरि समुदविजय तहि राउ ।
णेमिणाथ तसु नंदणु दस धणु हर तसु काऊ ॥
सिवदे माता जसु माणो तसु लंछणु शंखु ।
अंमादेवि जक्खिणी जक्खु वि गोमेदू,
जीवदयाके कारणे जिहि परिहरियउ राजु ।
सहसु वरिस आउसु णिवद्धु नेमीसर सामी
मोलि राजु सतु परियणु पंच महव्वय धारू ॥
नव नवेवि उज्जंतगिरि भउ पंचम गय-गामी ॥

(२३ पार्श्वनाथ)

जग पसिद्ध वाणारसि अस्ससेणु तहि राउ ।
वंमा देवी णंदणु पासणाहु जिणु देहु ।
सप्त फणामणि मंडिउ लंछणु जासु फणिंदु ।
फणपति जक्खु मतंग जसु पद्मावनि देवि ॥
अतिसय वन्तु जिणेसरू कहइ देल्हु णिसुणेहु ।
वरिस एकु सउ आहि आऊ भवियहु णिसणेहु ॥
णव कक्काया णिम्मल हरित वरण सु णिरुत्तु
सम्मेदह गिरिवर चढे वि णिव्वाणु पहुंत्तु ।

(२४ वीरजिनेश्वर)

कुण्डलपुर सुर वंदउं सिद्धारथु तहि राउ ।
पियकारिणी तसु राणी एम देल्हु पभणेइ ॥
वीर जिणेसरू नन्दणु जिहि कंपायउ मेरू ।
सात हाथ काया पमाणु लंछणु सीहु सुणेहु ।
मातुंगाव सो जक्खु कीउ सिद्धवणि तसु देवि ।
वरिस वहत्तरि आऊ जासु सो कहियउ णिरुत्तु ॥
पावापुरी उज्जाण मांह णिव्वाणु पहुंतु ।
गोरउ पभणइ णिसुणि णाह तुम्ह फुरई आसा ।
वीरणाहुं जिणु वंदि वंदे जिण चउवीसा ।

(२५)

हउं तुम्हि गोरउ पुच्छिउ मुहि पुणि बुद्धिय आणी ।
सरसइ देवि पसाई जिण चउवीसी वखाणी ॥
अक्खर मात पद हीणु जो कहिउ णिरूत्त ।
सरसइ माइ खिमिज्जहु हउं पुणि बुद्धि विहीणु ॥
भवियण विणउ पयासमि उ जिण सासण लीणु ।
दुरिजन कहिउ मणि सुणहु पढ़हुं सुभाउ धरेवि ।
जिणगुण वंतणु णिसुणे भऊ संतारू अरेहू ।
दुक्खह भुक्खह दालिदह पाणि अंजुलि देहू ॥

(२६)

कहउं जाणि कुलु आपणउं परवाडु भणउं ।

धम्मे साहुहि पणातिउं आजिहि पैतू नाउं ॥	मासु वसन्तु अतीतउ अलखइ तिज दिनु होइ।
उदैसाहि दिउ भीयाँ ए तीनिउ लघु भाई।	गुरवासरू पभणिज्जइ रोहिणि रिसु गुणेहु।
टिहुा णयरि वसन्त देल्ह चउवीसी गाई॥	ब्रह्मा जोग पसिद्धउ जोइसु एम कहेइ।
हउं तुम्हि गोरउ पुंछिउ बुद्धि कहा मइपाइ।	पढइ पढावइ णिसुणइ लिहिं लिहा जो देइ।
तेरहसइ इकहत्तरे संवच्छरु होइ।	भव-समुदु सो उत्तरइ मोक्ख पुरह सो जाइ॥

(श्री दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्रीमहावीरजीके अनुसंधान विभागकी ओरसे)

कुछ नई खोजें

(पं० परमानन्द जैन)

१—भट्टारक धर्मकीर्ति मूलसंघ सरस्वति गच्छ और बलात्कारगणके विद्वान ललितकीर्तिके शिष्य थे। यह सत्रहवीं शताब्दीके विद्वान थे। इनकी इस समय दो कृतियाँ मेरे देखनेमें आई हैं। पद्मपुराण और हरिवंशपुराण। इनमें से प्रथम कृति पद्मपुराण इन्होंने आचार्य रविषेणके पद्मचरितको देखकर उसकी रचना वि० सं० १६६८ में श्रावण महीनेकी तृतिया शनिवारके दिन मालवदेशमें पूर्ण की थी। और हरिवंशपुराण भी मालवामें संवत् १६७१ के आश्विन कृष्णा पंचमी रविवारके दिन पूर्ण किया था। ग्रन्थमें कर्ताने अपनी गुरु परम्पराका तो उल्लेख किया है किन्तु अपने किसी शिष्यादिका कोई समुल्लेख नहीं किया। और न यही बतलाया है कि वे कहांके भट्टारक थे। उनकी गुरु परम्परा क्रमशः इस प्रकार है:—

देवेन्द्रकीर्ति, त्रिलोककीर्ति, सहस्रकीर्ति, पद्मनन्दी, यशःकीर्ति, ललितकीर्ति और धर्मकीर्ति

२ भट्टारक सोमकीर्ति काष्ठासंघ स्थित नन्दी तटगच्छके रामसेनान्वयी भट्टारक भीमसेनके शिष्य और लक्ष्मीसेनके प्रशिष्य थे। जो भ० रत्नकीर्तिके पट्टधर थे। इनकी तीन रचनाएं मेरे अवलोकनमें आई हैं, सप्त व्यसन कथा समुच्चय, प्रद्युम्न, चरित्र, और यशोधर चरित्र। इनमें से प्रथम ग्रन्थ इन्होंने वि० सं० १५२६ के माघ महीनेकी सोमवारके दिन दो हज़ार सरसठ (२०६७) श्लोकोंमें पूर्ण किया है। प्रद्युम्न-चरित्रको कविने संवत् १५३१ में भ० लक्ष्मीसेनके पट्टधर भ० भीमसेनके चरण प्रसादसे बनाकर समाप्त किया है। और तीसरा ग्रन्थ यशोधरचरित्र है जिसकी रचना कविने गोढिल्ल (गोंडवाना) देशके मेदपाट (मेवाड़) के भगवान शीतलनाथके सुरम्य भवनमें सं० १५३६ पौष कृष्णा पंचमीके दिन एक हज़ार अठारह श्लोकोंमें पूर्ण किया है। इनकी अन्य क्या कृतियां हैं? यह ज्ञात नहीं हो सका। यह विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान थे।

३—पंडित जिनदास वैद्य विद्यामें निष्णात विद्वान थे। पं० जिनदासके पूर्वज 'हरपति' नामके वणिक थे। जिन्हें पद्मावती देवीका वर प्राप्त था, और जो पेरोसाहि नरेन्द्रसे सम्मानित थे। उन्हींके वंशमें 'पद्म' नामक श्रेष्ठी हुए, जिन्होंने अनेक दान दिये और ग्यासशाह नामक राजासे बहुमान्यता प्राप्तकी। इन्होंने साकुम्भरी नगरीमें विशाल जिनमन्दिर बनवाया था, वे इतने प्रभावशाली थे कि उनकी आज्ञाका किसी राजाने उल्लंघन नहीं किया। वे मिथ्यात्व घातक तथा जिनगुणोंके नित्य पूजक थे। इनके पुत्रका नाम 'बिझ' था, जो वैद्यराट् थे। बिंझने

विदेशके लिये प्रस्थान

मेसर्स आर० मेकडिल एण्ड कंपनी लिमिटेड एवं मिश्रीलाल धर्मचन्द लि०-के मालिक श्री मिश्रीलालजी जैनके ज्येष्ठ पुत्र श्री **धर्मचन्दजी जैनने** एयरफोर्म द्वारा विश्व-भ्रमणके लिए गत २६ मईको प्रस्थान किया। आप लोग विभिन्न खानोंके मालिक एवं मैगनिज ओर, आयरन ओर, क्रोमाइट ओर, एवं केनाइट विश्व बाजारोंको निर्यात करते हैं। श्रीधर्मचन्दजीकी अवस्था इस समय १८ वर्षकी है और आपके भ्रमणका प्रोग्राम दो महीनेका ठहरा है। आप लोग 'अनेकान्त' पत्र तथा 'वीरसेवामन्दिर'के परम सहायक हैं, और इस मन्दिरका जो नया भवन देहलीमें निर्माण होने जा रहा है उसमें आपका भारी सहयोग प्राप्त होनेवाला है। हार्दिक भावना है कि आपका यह देशाटन सानन्द सफल हो।

श्रवण बेलगोलमें

वीरसेवा-मन्दिरके नैमित्तिक अधिवेशनके सभापति

सेठ मिश्रीलालजी काला, कलकत्ता

आप कलकत्ता दि० जैन समाजके प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। धर्मनिष्ठ और समाज हितैषी तथा आप आत्मप्रशंसादिसे सदा दूर रहते हैं समाजको आपसे बड़ी आशाएँ हैं। आपने कलकत्ता स्थित बेलगछियाके मन्दिर जीमें बहुतसा रुपया खर्च किया है। आप अनेकान्तके संरक्षक और वीर-सेवा-मन्दिरके विशेष सहायक हैं। आपसे संस्थाके नूतन भवन निर्माणमें भारी सहयोग प्राप्त होने वाला है। आप दीर्घजीवी होकर लोकमें यशस्वी बनें यही भावना है।

श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

आप भारत के अहिंसक आध्यात्मिक सन्त हैं। और सागर से ६०० मील की पैदल यात्रा कर अभी गया में पधारे हैं। तथा ईसरी (पार्श्वनाथहिल) में चातुर्मास करेंगे। आपकी आन्तरिक भावना है कि मेरा समाधिमरण पार्श्व प्रभुके चरणोंमें हो। आपने ज्येष्ठ वैसाखकी गर्मीकी लूओं की भी कोई परवा नहीं की। आपका आत्माके सम्बन्धमे दिया हुआ महत्वपूर्ण प्रवचन पृष्ठ ३३ पर पढ़िए।

श्री महावीरजीके मन्दिरके सामने बना हुआ विशाल मानस्तम्भ।

शाह नसीरसे उत्कर्ष प्राप्त किया था। इनके दूसरे पुत्रका नाम 'सुहृजन' था, जो विवेकी और वादिरूपी गजोंके लिये सिंहके समान था। सबका उपकारक और जिनधर्मका आचरण करने वाला था। यह भट्टारक जिनचन्द्रके पद पर प्रतिष्ठित हुआ था और उसका नाम 'प्रभाचन्द्र' रक्खा गया था। उक्त तिंकका पुत्र धर्मदास हुआ, जिसे महमूदशाहने बहुमान्यता प्रदान की थी। यह भी वैद्यशिरोमणी और विख्यातकीर्ति थे। इन्हें भी पद्मावतीका वर प्राप्त था। इसकी पत्नीका नाम 'धर्मश्री' था, जो अद्वितीय दानी, सद्दृष्टि, रूपसे मन्मथ विजयी और प्रफुल्ल वदना थी। इसका 'रेखा' नामका एक पुत्र था जो वैद्यकलामें दक्ष, वैद्योंका स्वामी और लोकमें प्रसिद्ध था। यह वैद्यकला अथवा विद्या आपकी कुल परम्परासे चली आरही थी और उससे आपके वंशकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। रेखा अपनी वैद्य विद्याके कारण रणस्तम्भ (रणथंभौर) नामक दुर्गमें बादशाह शेरशाहके द्वारा सम्मानित हुए थे। आपकी माताका नाम 'रिखश्री' और धर्मपत्नीका नाम जिनदासी था, जिनदासी रूप लावण्यादि गुणोंसे अलंकृत थी। जिनदासके माता पितादिके नामोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि उस समय कतिपय प्रान्तोंमें जो नाम पतिका होता था वही प्रायः पत्नीका भी हुआ करता था। पं० जिनदास नवलखपुरके निवासी थे। इनके एक पुत्र भी था और उसका नाम नारायणदास था।

पंडित जिनदासने शेरपुरके शांतिनाथ चैत्यालयमें ११ पद्यों वाली 'होली रेणुका चरित्र' की प्रतिका अवलोकनकर संवत् १६०८ के ज्येष्ठ शुक्ला दशमी शुक्रवारके दिन इस ग्रन्थको ८४३ श्लोकोंमें समाप्त है। ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपने पूर्वजोंका भी कुछ परिचय दिया है जिसे उक्त प्रशस्तिपरसे सहज ही जाना जा सकता। पंडित जिनदासजीने यह ग्रन्थ भ० धर्मचन्द्रजीके शिष्य भ० ललितकीर्तिके नामांकित किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह संभवतः उन्हींके शिष्य जान पड़ते हैं।

४—भास्करनन्दी मुनि जिनचन्द्रके शिष्य थे, जिनचन्द्र सर्वसाधु मुनिके शिष्य थे। जैसा कि उनकी 'तत्त्वार्थवृत्ति' के निम्न पद्योंसे प्रकट हैं :—

नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येति याहीति यातु,
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घटयेद्वा न दत्ते।
ना विष्टभ्नाति किंचिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यंकयोगः,
कृत्वा सन्न्यास मन्ते शुभ गतिरभवत्सर्वसाधुः सपूज्यः ॥२
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्त पारं गतः।
शिष्यः श्री जिनचन्द्र नाम कलितश्चारित्रभूषान्वितः।
शिष्यो भास्करनन्दि नाम विबुधस्तस्याऽभवत्तत्त्ववित्,
तेनाऽकारि सुखादि बोध विषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम् ॥३॥

भास्कर नन्दीकी इस समय दो कृतियां सामने हैं—एक 'ध्यानस्तव और दूसरी 'तत्त्वार्थवृत्ति', जिसे 'सुख बोध वृत्ति' भी कहा जाता है। इसमें तत्त्वार्थ वृत्ति आचार्य उमा स्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी संक्षिप्त एवं सरल व्याख्या है। इसकी रचना कब और कहां हुई यह ग्रन्थ प्रति पर से कुछ भी मालूम नहीं होता।

जिनचन्द्र नामके अनेक विद्वान भी हो गए हैं, उनमें प्रस्तुत जिनचन्द्र कौन हैं और उनका समय क्या है? यह सब सामग्रीके अभावमें बतलाना कठिन जान पड़ता है। एक जिनचन्द्र चन्द्रनन्दीके शिष्य थे, जिसका उल्लेख कन्नड कवि पंपने अपने शान्तिनाथपुराणमें किया है।

५ ब्रह्म रायमल—हूमडवंशके भूषण थे। इनके पिता का नाम 'मह्य' और माताका नाम चम्पादेवी था। यह जिन चरणकमलोंके उपासक थे। इन्होंने महासागरके तट भागमें समाश्रित 'ग्रीवापुर' के चन्द्रप्रभ जिनालयमें वर्णी कर्मसीके वचनोंसे 'भक्तामरस्तोत्र' की वृत्ति की रचना वि० संवत् १६६७ में अषाढ़ शुक्ला पंचमी बुधवारके दिन की है। सेठके कूचामन्दिर दिल्लीके शास्त्रभंडारकी प्रतिमें उसे मुनिरतनचन्द्रकी वृत्ति बतलाया गया है। अतएव दोनों वृत्तियोंको मिलाकर जांचने की आवश्यकता है कि दोनों वृत्तियाँ जुदी जुदी हैं या कि एक ही वृत्तिको अपनी २ बनाने का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्म रायमल मुनि अनन्तकीर्तिके जो भ० रत्नकीर्तिके पट्टधर एवं शिष्य थे। यह जयपुर और उसके आस-पास के प्रदेशके रहने वाले थे। यह हिन्दी भाषाके विद्वान थे। पर उसमें गुजराती भाषाकी पुट अंकित है दोनों भाषाओंके शब्द व बहुत कुछ रखे मिले से पाए जाते हैं। इनकी हिन्दी भाषाकी ७-८ रचनाएँ और भी पाई जाती हैं। नेमीश्वररास, हनुवंतकथा, प्रद्युम्नचरित सुदर्शनरास,

श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी

आप भारत के अहिंसक आध्यात्मिक सन्त हैं। और सागर से ६०० मील की पैदल यात्रा कर अभी गया में पधारे हैं। तथा ईसरी (पार्श्वनाथहिल) में चातुर्मास करेंगे। आपकी आन्तरिक भावना है कि मेरा समाधिमरण पार्श्व प्रभुके चरणोंमे हो। आपने ज्येष्ठ वैसाखकी गर्मीकी लूओं की भी कोई परवा नहीं की। आपका आत्माके सम्बन्धमे दिया हुआ महत्वपूर्ण प्रवचन पृष्ठ ३३ पर पढ़िए।

श्री महावीरजीके मन्दिरके सामने बना हुआ विशाल मानस्तम्भ।

शाह नसीरसे उत्कर्ष प्राप्त किया था। इनके दूसरे पुत्रका नाम 'सुहृजन' था, जो विवेकी और वादिरूपी गजोंके लिये सिंहके समान था। सबका उपकारक और जिनधर्मका आचरण करने वाला था। यह भट्टारक जिनचन्द्रके पद पर प्रतिष्ठित हुआ था और उसका नाम 'प्रभाचन्द्र' रक्खा गया था। उक्त सिंहका पुत्र धर्मदास हुआ, जिसे महमूद-शाहने बहुमान्यता प्रदान की थी। यह भी वैद्यशिरोमणी और विख्यातकीर्ति थे। इन्हें भी पद्मावतीका वर प्राप्त था। इसकी पत्नीका नाम 'धर्मश्री' था, जो अद्वितीय दानी, सदृष्टि, रूपसे मन्मथ विजयी और प्रफुल्ल वदना थी। इसका 'रेखा' नामका एक पुत्र था जो वैद्यकलामें दक्ष, वैद्योंका स्वामी और लोकमें प्रसिद्ध था। यह वैद्य-कला अथवा विद्या आपकी कुल परम्परासे चली आरही थी और उससे आपके वंशकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। रेखा अपनी वैद्य विद्याके कारण रणस्तम्भ (रणथंभौर) नामक दुर्गमें बादशाह शेरशाहके द्वारा सम्मानित हुए थे। आपकी माताका नाम 'रिखश्री' और धर्मपत्नीका नाम जिनदासी था, जिनदासी रूप लावण्यादि गुणोंसे अलं-कृत थी। जिनदासके माता पितादिके नामोंसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि उस समय कतिपय प्रान्तोंमें जो नाम पतिका होता था वही प्रायः पत्नीका भी हुआ करता था। पं० जिनदास नवलखपुरके निवासी थे। इनके एक पुत्र भी था और उसका नाम नारायण-दास था।

पंडित जिनदासने शेरपुरके शांतिनाथ चैत्यालय-में ५१ पद्यों वाली 'होली रेणुका चरित्र' की प्रतिका अवलोकनकर संवत् १६०८ के ज्येष्ठ शुक्ला दशमी शुक्रवारके दिन इस ग्रन्थको ८४३ श्लोकोंमें समाप्त है। ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपने पूर्वजोंका भी कुछ परिचय दिया है जिसे उक्त प्रशस्ति-परसे सहज ही जाना जा सकता। पंडित जिनदासजी-ने यह ग्रन्थ भ० धर्मचन्द्रजीके शिष्य भ० ललित-कीर्तिके नामांकित किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह संभवतः उन्हींके शिष्य जान पड़ते हैं।

४—भास्करनन्दी मुनि जिनचन्द्रके शिष्य थे, जिनचन्द्र सर्वसाधु मुनिके शिष्य थे। जैसा कि उनकी 'तत्त्वार्थ-वृत्ति' के निम्न पद्योंसे प्रकट हैं :—

नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीति यातु,
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्धटयेद्वा न दत्ते।
ना विष्ट भाति किंचिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यंकयोगः,
कृत्वा सन्न्यास मन्ते शुभ गतिरभवत्सर्वसाधुः सपूज्यः ॥२
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्त पारं गतः।
शिष्यः श्री जिनचन्द्र नाम कलितश्चारित्रभूषान्वितः।
शिष्यो भास्करनन्दि नाम विबुधस्तस्याऽभवत्तत्त्ववित्,
तेनाऽकारि सुखादि बोध विषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम् ॥३॥

भास्कर नन्दीकी इस समय दो कृतियाँ सामने हैं— एक 'ध्यानस्तव और दूसरी 'तत्त्वार्थवृत्ति', जिसे 'सुख बोध वृत्ति' भी कहा जाता है। इनमें तत्त्वार्थ वृत्ति आचार्य उमा स्वातिके तत्त्वार्थ सूत्रकी संक्षिप्त एवं सरल व्याख्या है। इसकी रचना कब और कहां हुई यह ग्रन्थ प्रति पर से कुछ भी मालूम नहीं होता।

जिनचन्द्र नामके अनेक विद्वान भी हो गए हैं, उनमें प्रस्तुत जिनचन्द्र कौन हैं और उनका समय क्या है? यह सब सामग्रीके अभावमें बतलाना कठिन जान पड़ता है। एक जिनचन्द्र चन्द्रनन्दीके शिष्य थे, जिसका उल्लेख कन्नड कवि पंपने अपने शान्तिनाथपुराणमें किया है।

५ ब्रह्म रायमल—हूमडवंशके भूषण थे। इनके पिता का नाम 'मह्य' और माताका नाम चम्पादेवी था। यह जिन चरणकमलोंके उपासक थे। इन्होंने महासागरके तट भागमें समाश्रित 'ग्रीवापुर' के चन्द्रप्रभ जिनालयमें वर्णी कर्मसीके वचनोंसे 'भक्तामरस्तोत्र' की वृत्ति की रचना वि० संवत् १६६७ में अषाढ शुक्ला पचमी बुधवारके दिन का है। सेठके कूचामन्दिर दिल्लीके शास्त्रभंडारकी प्रतिमें उसे मुनिरत्नचन्द्रकी वृत्ति बतलाया गया है। अतएव दोनों वृत्तियोंको मिलाकर जांचने की आवश्यकता है कि दोनों वृत्तियाँ जुदी जुदी हैं या कि एक ही वृत्तिको अपनी २ बनाने का प्रयत्न किया गया है।

ब्रह्म रायमल मुनि अनन्तकीर्तिके जो भ० रत्नकीर्तिके पट्टधर एवं शिष्य थे। यह जयपुर और उसके आस-पास के प्रदेशके रहने वाले थे। यह हिन्दी भाषाके विद्वान थे। पर उसमें गुजराती भाषाकी पुट अंकित है दोनों भाषाओं-के शब्द व बहुत कुछ रखे मिले से पाए जाते हैं। इनकी हिन्दी भाषाकी ७-८ रचनाएँ और भी पाई जाती हैं। नेमीश्वररास, हनुवंतकथा, प्रद्युम्नचरित सुदर्शनरास,

निर्दोषसप्तमीव्रतकथा, श्रीपालरास, और भविष्यदत्तकथा। इन्होंने नेमीश्वररास सं० १६२५ में, हनुवंत कथा सं० १६१६ में, प्रद्युम्नचरित सं० १६२८ में, सुदर्शनरास, सं० १६२९ में और श्री पालरास सं० १६३० में, तथा भविष्यदत्तकथा सं० १६६३ में बनाकर समाप्त की हैं। निर्दोषसप्तमी कथाकी प्रतिमें मुझे रचनाकाल नहीं मिला, संभव है अन्य किसी प्रतिमें मिल जाय। इनके अतिरिक्त इनकी और भी रचनाओंका होना संभव है।

६ ब्रह्म ज्ञानसागर — काष्ठासन्घ नन्दीतट गच्छ और विद्यागणके भट्टारक विद्याभूषणके शिष्य श्रीभूषणके शिष्य थे, जो सम्भवतः लौजित्राकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्हीं भ० श्रीभूषणके शिष्य प्रस्तुत ब्रह्मज्ञानसागर हैं। भ० श्रीभूषण विक्रमकी १७वी शताब्दीके विद्वान हैं क्योंकि उनका रचनाकाल सम्वत् १६२९से सम्वत् १६६७ तक पाया जाता है। अतएव श्री भूषणके शिष्य ज्ञानसागरका समय भी विक्रमकी १७वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है। ब्रह्मज्ञानसागरकी इस समय १० रचनाओंका पता चला है, जिनमें ९ व्रतोंकी कथाएँ और एक पूजन है। ये सब रचनाएँ हिन्दी पद्योंमें रची गई हैं जिनकी कविता साधारण हैं। ये नौ कथाएँ धर्मपुरा देहलीके नया मन्दिर शास्त्रभण्डारके गुटका नम्बर १ में सुरक्षित हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—१ आदित्यवार लघु कथा, २ अष्टाह्निक व्रत कथा ३ सोलह कारकारण व्रत कथा, ४ आकाशपञ्चमी कथा, ५ रत्नत्रयव्रतकथा, ६ दशलक्षणीव्रतकथा, ७ अनन्तचतुर्दशीव्रतकथा, ८ निःशल्याष्टमी कथा और ९ सुगन्धदशमी कथा। इन कथाओंके अतिरिक्त भक्तामरस्तवन पूजन नामकी कृति भी अन्यत्र पाई जाती हैं। अन्य रचनाएँ अन्वेषणीय हैं।

अध्यात्म तरङ्गिणी टीका

(ले० परमानन्द जैन शास्त्री)

'अध्यात्मतरंगिणी' नामक संस्कृत भाषाका एक छोटा सा ग्रन्थ है जिसकी श्लोक संख्या चालीस है। इस ग्रन्थका नाम बम्बईके ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वति भवनकी प्रतिमें 'योगमार्ग' दिया हुआ है। चूंकि ग्रन्थमें 'योगमार्ग' और योगीका स्वरूप बतलाते हुए आत्मविकासकी चर्चा की गई है। इस कारण यह नाम भी सार्थक जान पड़ता है। इस ग्रन्थके कर्ता हैं आचार्य सोमदेव। यद्यपि सोमदेव नामके अनेक विद्वान हो गए हैं; परन्तु प्रस्तुत सोमदेव उन सबसे प्राचीन, प्रधान और लोक प्रसिद्ध विद्वान थे। सोमदेवकी उपलब्ध कृतियाँ उनके पाण्डित्यकी निदर्शक हैं। संस्कृतभाषापर उनका असाधारण अधिकार था, वे केवल काव्य मर्मज्ञ ही न थे; किन्तु राजनीतिके प्रकाण्ड पण्डित थे। वे भारतीय काव्य-ग्रन्थोंके विशिष्ट अध्येता थे। दर्शनशास्त्रोंके मर्मज्ञ और व्याकरण शास्त्रके अच्छे विद्वान थे। उनकी वाणीमें ओज, भाषामें सौष्ठवता और काव्य-कलामें दक्षता तथा रचनामें प्रासाद और गाम्भीर्य है। सोमदेवकी सूक्तियाँ हृदयहारिणी थीं। इन्हीं सब कारणोंसे उस समयके विद्वानोंमें आचार्य सोमदेवका उल्लेखनीय स्थान था।

आचार्य सोमदेव 'गौडसंघ' के विद्वान आचार्य यशोदेवके प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य थे। सोमदेवने अपना यशस्तिलक चम्पू नामका काव्य-ग्रन्थ बनाकर उस समय समाप्त किया था, जब शक संवत् ८८१ (वि० सं० १०१६) में सिद्धार्थ संवत्सरान्तर्गत चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन, श्री कृष्णदेव (तृतीय), जो राष्ट्रकूट वंशके राजा अमोघवर्षके तृतीय पुत्र थे, जिनका दूसरा नाम 'अकालवर्ष था, पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेर आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटी (मेलाडि नामक गाँव) के सेना शिविरमें विद्यमान थे। उस समय उनके चरणकमलोपजीवी सामन्त वद्दिगकी जो चालुक्यवंशीय राजा अरिकेसरी प्रथमके पुत्र थे—गंगधारा नगरीमें उक्त ग्रन्थ समाप्त हुआ था*।

* शकनृपकालातीत संवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु (८८१) सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमास मदन त्रयोदश्यां पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेरमप्रभृतीन्महीपती-

शक संवत् ८८८ (वि० सं० १०२३) के अरिकेशरी वाले दानपत्रसे, जो उनके पिता वद्यगदेवके बनवाए हुए शुभधाम जिनालयके लिये आचार्य सोमदेवको दिया गया था। उससे यह स्पष्ट है कि यशस्तिलकचम्पूकी रचना इस ताम्रपत्रसे सात वर्ष पूर्व हुई है ×।

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि जैन समाजके दिगम्बर श्वेताम्बर विभागोंमेंसे श्वेताम्बर समाजमें राजनीति पर सोमदेवके 'नीतिवाक्यामृत' जैसा राजनीतिका कोई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा गया हो यह ज्ञात नहीं होता, पर दिगम्बरसमाजमें राजनीति पर सोमदेवाचार्यका 'नीतिवाक्यामृत' तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु यशस्तिलकचम्पूमें राजा यशोधरका चरित्र चित्रण करते हुए कविने उक्त ग्रन्थके तीसरे आश्वासमें राजनीतिका विशद विवेचन किया है। परन्तु राजनीतिकी वह कठोर नीरसता, कवित्वकी कमनीयता और सरसताके कारण ग्रन्थमें कहीं प्रतीत नहीं होती और उससे आचार्य सोमदेवकी विशाल प्रज्ञा एवं प्रांजल प्रतिभाका सहज ही पता चल जाता है।

सोमदेवाचार्यके इस समय तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू और अध्यात्मतरंगिणी। इनके अतिरिक्त नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे तीन ग्रन्थोंके रचे जानेका और भी पता चलता है—युक्तिचिंतामणी, २ त्रिवर्ग महेन्द्रमातलिसंजल्प और ३ षण्णवति प्रकरण। इसके सिवाय, शकसंवत् ८८८ के दानपत्रमें आचार्य सोमदेवके दो ग्रन्थोंका उल्लेख और भी है जिसमें उन्हें 'स्याद्वादोपनिषत्' और अनेक सुभाषितोंका भी कर्ता बतलाया है। परन्तु खेद है कि ये पाँचों ही ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं। संभव है अन्वेषण करने पर इनमें से कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय। ऊपर उल्लिखित उन आठ ग्रन्थोंके अतिरिक्त उन्होंने और किन ग्रन्थोंकी रचना की है यह कुछ ज्ञात नहीं होता।

न्प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमानराज्यप्रभावे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत पञ्चमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्री मदरिकेसरिणः प्रथम पुत्रस्य श्री मद्वद्यगराजस्य लक्ष्मी प्रवर्धमान वसुधारायाँ गङ्गधारायाँ विनिर्मापित मिदं काव्यमिति।"

—यशस्तिलकचम्पू प्रशस्ति

× देखो, एपि ग्राफिक इंडिका पृष्ठ २८१ में प्रकाशित करहाड ताम्रपत्र।

आचार्य सोमदेवके इस अध्यात्मतरंगिणी ग्रन्थ पर एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है, जिसके कर्ता मुनि गणधरकीर्ति हैं। टीकामें पद्य गत वाक्यों एवं शब्दोंके अर्थके साथ-साथ कहीं-कहीं उसके विषयको भी स्पष्ट किया गया है. विषयको स्पष्ट करते हुए भी कहीं-कहीं प्रमाणरूपमें समन्तभद्र, अकलंक, और विद्यानन्द आदि आचार्योंके नामों तथा ग्रन्थोंका उल्लेख किया गया है, टीका अपने विषयको स्पष्ट करने में समर्थ है। इस टीकाकी इस समय दो प्रतियां उपलब्ध हैं, एक ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वति भवन झालरापाटनमें और दूसरी पाटनके श्वेताम्बरीय शास्त्रभंडारमें, परन्तु वहां वह खंडित रूपमें पाई जाती है—उसकी आदि अन्त प्रशस्ति तो खण्डित है ही। परन्तु ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वतिभवन झालरापाटनकी प्रति अपनेमें परिपूर्ण है। यह प्रति संवत् १४३० आश्विन शुक्ला २ के दिन हिसारमें (पेरोजापत्तन) में कुतुबखानके राज्यकालमें सुवाच्य अक्षरोंमें लिखी गई है, जो सुनामपुरके वासी खंडेलवाल वंशी संघाधिपति श्रावक 'कल्हू' के चार पुत्रोंमेंसे प्रथम पुत्र धीराकी पत्नी धनश्रीके द्वारा जो श्रावक धर्मका अनुष्ठान करती थी, अपने ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयार्थ लिखाकर तात्कालिक भट्टारक जिनचन्द्रके शिष्य पंडित मेधावीको प्रदानकी गई है❀। इससे यह प्रति ५०० वर्षके लगभग पुरानी है।

टीकाकार मुनि गणधरकीर्ति गुजरात देशके रहने वाले थे। गणधरकीर्तिने अपनी यह टीका किसी सोमदेव नामके सज्जनके अनुरोधसे बनाई है, टीका संक्षिप्त और ग्रन्थार्थकी अवबोधक है। टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें टीकाकारने अपनी गुरुपरम्पराके साथ टीकाका रचनाकाल भी दिया है। गुरु परम्परा निम्न प्रकार है:—

सागरनन्दी, स्वर्णनन्दी, पद्मनन्दी, पुष्पदन्त, कुवलचन्द्र और गणधरकीर्ति।

❀ सम्वत् १४३३ वर्षे आसोज सुदि २ दिने हिसार पेरोजापत्तने लिखितमिति॥

श्रियं क्रियात्सरामर्त्य नागयाच्यं पदाम्बुजः।
देवोध्यात्मतरंगिण्याः शास्त्रदातु र्जिनोऽनघां ॥१॥
त्रयस्त्रिंशाधिके वर्षे शत पंच दश प्रमो।
शुक्ल पक्षेऽश्वने मासे द्वितीयायां सुवासरे ॥२॥

गणधरकीर्तिने अपनी यह टीका विक्रम संवत् ११८९ में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवारके दिन गुजरातके चालुक्य-वंशीय राजा जयसिंह या सिद्धराज जयसिंहके राज्य-कालमें बनाकर समाप्तकी है—जैसाकि उसके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

एकादशशताकीर्णे नवाशीत्युत्तरे परे ।
संवत्सरे शुभे योगे पुष्पनक्षत्रसंज्ञके ॥१७॥
चैत्रमासे सिते पक्षेऽथ पंचम्यां रवौ दिने ।
सिद्धा सिद्धप्रदा टीका गणभृत्कीर्तिविपश्चितः ॥१८॥
निस्त्रंशतर्जितारातिर्विजयश्री विराजनि ।
जयसिंहदेव सौराज्ये सज्जनानन्ददायनि ॥१९॥

जयसिंहदेवका राज्य सं० ११५० से ११९९ तक वहां रहा है। अतः संवत् ११८९ में वहां गणधरकीर्ति द्वारा टीकाके रचे जानेमें कोई बाधा नहीं आती।

नोटः—यह ग्रन्थ संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवामन्दिरसे जल्दी ही प्रकाशित होगा।

देहली, २५-५-'५३.

श्रीहिसाराभिधे रम्ये नगरे ऊन संकुले ।
राज्ये कुतुबखानस्य वर्तमानेन पावने ॥३॥
अथ श्री मूलसंघेस्मिन्ननघे मुनिकुंजरः ।
सूरिः श्री शुभचन्द्राख्यः पद्मनंदि पदस्थितः ॥४॥
तत्पट्टे जिनचन्द्रोभूत्स्याद्वादांबुधि चन्द्रमाः ।
तदन्तेवासि मेहाख्यः पंडितो गुणमंडितः ॥५॥
तदाम्नाये सदाचार चैत्रपालीयगोत्रके ।
मुनामपुर वास्तव्ये खंडेलान्वयके जनि ॥६॥
संघाधिपति कल्हूकः श्रावको व्रतपालकः ।
राणी संज्ञा भवत्पुण्यो तज्जनी शीलशालिनी ॥७॥
चत्वारो नंदना जातास्तयोर्नंदित सज्जनाः ।
तेष्वाद्यः संघनाथो भूत्हंवा नामा महामनाः ॥८॥
धीरोभिधो द्वितीयोतः संघवात्सल्य कारकः ।
सर्वज्ञचरणाम्भोज चंचरीको पमोऽसमः ॥९॥
कामा नामा तृतीयोभूद्दयाद्विव्रतधारकः ।
साधुः सुरपतिर्नाम चतुर्थस्तु प्रियंवदः ॥१०॥
तत्र संघेश धीराख्य भार्याजाता मनोरमा ।
धनश्रीः कान्ति सम्पन्ना शीलनीरतरंगिणी ॥११॥
लघ्वो लहुकनि ख्याता साध्वीरूपगुणाश्रिता ।
एतयोः परमा प्रीती रति प्रीत्यो रिवाभवत् ॥१२॥
एतन्मध्ये धनश्रीर्या श्राविका परमा तया ।
लिखापितमिदं शास्त्रं निजाज्ञान-तमो हतौ ॥१३॥
पूजयित्वा पुनर्भक्त्या पठनाय समर्पितं ।
मेहाख्याय सुशास्त्रज्ञ पंडिताय सुमेधसे ॥१४॥
ज्ञानी स्याद् ज्ञानदानेन निर्भीरभयतो जनः ।
आहारदानतस्तृप्तो निर्व्याधिर्भेषजात्सदा ॥१५॥
यावद्व्योम्नि शशांके नौ भूतले मेरु वारिधी ।
तावत्पुस्तकमेतद्धि नंदताज्जिनशासने ॥१६॥

अध्यात्मतरंगिणी लेखक प्रशस्ति

सूचना

आत्मा

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

'ज्ञान स्वभाव' आत्माका लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमें पाया जावे। आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामें अनंत गुण हैं जैसे दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख इत्यादि, पर इन सब गुणोंको बतलानेवाला कौन है? एक ज्ञान ही है। धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञानही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यंजनादिके स्वाद लेते हैं, उसमें ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर हो जाय तो सुन्दरसे सुन्दर विषय-सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं? वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेय स्वयंमेव झलकते हैं। तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पणके सामने शेर गुंजार करता है तो क्या शेर दर्पणमें चला जाता है? नहीं। केवल दर्पणमें शेरके आकाररूप परिणमन अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगह पर है, शेर अपने स्थानपर है। उसी तरह ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं तो झलको उसका स्वभावही देखना और जानना है; इसको कोई क्या करे? हाँ, रागादिक करना यही बन्धका जनक है। हम इनको देखते हैं, उनको देखते हैं और सबको देखते हैं, तो देखो, पर अमुकसे रूचि हुई उससे राग और अमुकसे अरूचि हुई उससे द्वेष कर लिया, यह कहांका न्याय है? बताओ। अरे उस ज्ञानका काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञानको ज्ञान रहने देनेका ही उपदेश है, उसमें कोई प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पना करनेको नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञानको ज्ञान कहां रहने देते हैं? कठिनता तो यही है।

भगवानको देखो और जानो। यदि उनसे राग कर लिया तो स्वर्गमें जाओ और द्वेष कर लिया तो नरकमें पड़ो। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हें देखो, और जानो। जैसे प्रदर्शनीमें वस्तुएँ केवल देखने और जाननेके लिये होती हैं वैसे ही संसारके पदार्थ भी केवल देखने और जानने के लिये हैं। प्रदर्शनीमें यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बंधना पड़ता है उसी प्रकार संसारके पदार्थोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बंधन है, अन्यथा देखो और जानो। कभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोहमें व्याकुल हो गये। दवाई लानेकी चिन्ता हो गई; क्योंकि उसे अपना मान लिया, नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दुःखका कारण है।

'समयसार' में एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया—महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं। और अज्ञानी है तो उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं। आचार्यने कहा कि जबतक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तबतक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी बनोगे।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है। लड़का तो स्वेच्छासे इधर-उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामादका यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा-सिकुड़ासा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धिही कल्याणप्रद है। आचार्यने वही एक शुद्ध ज्ञान-स्वरूपमें लीन रहनेका उपदेश दिया है। जैसाकि नाटक समयसारमें लिखा है :—

'पूर्णैकाच्युतशुद्धबोध महिमा बोद्धा न बोध्यादयं।
यायात्कामपि विक्रिया तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ॥
तद्वस्तु्स्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुंचन्त्युदासीनताम् ।२१।'

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञानस्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछ भी विकार को नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घट पटादि पदार्थोंसे विकारको प्राप्त

नहीं होता उस तरह। ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं ?

कुछ लोग ज्ञानावरण कर्मके उदयको अपना घातक मान दुःखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयमें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमें आनन्द मानो। पर हम मानते कहां हैं ? सर्वज्ञता लानेका प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञतामें क्या है ? हमने इतना देख लिया और जान लिया तो हमें कौनसा सुख हो गया ? तो देखने और जाननेमें सुख नहीं है। सुखका कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनंत पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिये पूर्ण सुखी हैं। अतः देखने और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमें ही है।

लेकिन हम चाहते हैं कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने ? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आजाय; यह कैसे हो सकता है ? रागादिक तो दुखके ही कारण हैं; उनमें यदि सुख चाहो तो कैसे मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादिकालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नहीं जाना, इसलिये रागके द्वारा उत्पन्न किंचित् सुखको वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अब देखो, कड़वी दवाको मां कहती है कि 'बेटा इसे आंख मीच कर पी जाओ।' अरे, आँख मीचनेसे कहीं कड़वापन तो नहीं मिट जायगा ? पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किंचित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि बच्चोंसे मोह छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जाय।

'हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा आ जाय।'

अच्छा, बच्चोंसे मोह मत छोड़ो तो उस स्वात्मीक सुखका तो घात मत करो। पर क्या है ? उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिये दुःखके पात्र हैं।

ऐसी बात नहीं है किसीके रागादिक घटते न हों। अभी संसारमें ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़नेका शक्ति भर प्रयास करते हैं। पर, सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुःख-दायी समझकर त्याग दिया, वही हमतो कहते हैं 'धन्य है।' कहने सुननेसे क्या होता है ? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागादिकोंकी निवृत्ति हो गई ? अब देखो आल्हा ऊदलकी कथा बांचते हैं तो वहां कहते हैं 'यों मारा, यों काटा' पर यहां किसीके एक तमाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसीका मजा है। जैसे हलवाई मिठाई तो बनाता है पर उनके स्वादको नहीं जानता। वैसे ही शास्त्र वाचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसीको ही मजा है।

आत्माका आवृत स्वरूप

आत्मामें अनन्त शक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघपटलोंसे अच्छादित होने पर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आवरणसे आत्माकी अनन्त शक्तियां प्रकट नहीं होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियां पूर्णरूपेण विकसित हो जाती हैं। देखो निगोद-से लेकर मनुष्य पर्याय धारणकर मुक्तिके पात्र बने, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है अतः हमें उस (आत्मा) को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये। जसे बालक मिट्टीके खिलौने बनाते फिर बिगाड़ देते हैं वैसे ही हम ही ने संसार बनाया और हम ही यदि चाहें तो संसारसे मुक्त हो सकते हैं।

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। उनमें एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमे हमारे सब मनोरथ बालूकी भीतिकी भाँति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहाँ मोह गला कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करें—यह भी कहींका न्याय है ? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसहीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुँचा देंगे। मुक्ति पाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा

अरे 'बहुतोंकी स्त्रियाँ मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है ? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी मम बुद्धि लगी है इसीलिये मैं दुखी हूँ। दुनियांकी स्त्रियां मरती हैं तो उनसे मेरा ममत्व नहीं —इसही मे मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमे जब अहंबुद्धि है तभी तो ममबुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे ? तो अहबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है, उसे जानो। देखो लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गांवका नाम, अपने व्यवसायका नाम जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिये अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आंख मीचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रियां अपने अपने विषयोंमें क्यों नहीं प्रवर्ततीं ? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना ही मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं। जरा बजार हो आएँ। अब मार्गमे चले तो वहां मुनिराजका समागम हो गया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वहीं मुनि बनकर आहारके लिये वहां आ गये। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था अब कैसे भाव हो गये। चक्रवर्तीको हो देखो। वह छः खण्डको मोहमे ही तो पकड़े है। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड़ वनवासी बन जाता है। सो देखो वह उस इच्छाको ही तो मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छः खण्डको बताओ कौन संभाले ? जब महत्व हो न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दानभी यदि इच्छा करके दिया जाय तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन दे ? अरे उसे मिलना होगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है ? वास्तवमें तो कोई किसीकी चीज नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजीने उनसे कहा, 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ, तब कार्तिकेय और गणेश दोनों हाथ पकड़कर दौड़े। गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गये। गणेशजीने वहीं पर महादेवजीकी ही परिक्रमा करली। जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजीने गणेशजीकी ओर संकेत कर कहा, 'यह पहले आए' तो कार्तिकेयने पूछा 'यह पहले आये ? बताइये।' उसी समय उन्होंने अपना मुँह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दीखने लगे महादेवजी बोले 'देखो इन्होंने तीनों लोकोंकी परिक्रमा करली।' तो केवलज्ञानीकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएं भासमान होने लगती हैं। हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता— ऊंटका, घोड़ेका, सबोंका पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है। और वह ज्ञान तब ही पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें बरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। जब बरसा तो देखो रावी चिनाव झेलम सतलज होता हुआ फिर उसी समुद्रमें जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रहा था ज्योंही वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमें सिकुड़ कर अपनेमें ही समा जाता है। या ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमें ही संयोजित कर दिया—बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है ?

हम पर पदार्थोंमें सुख मानते हैं। पर उसमें सच्चा सुख नहीं है। मरावड़ाकी बात है। वहांसे ललितपुर २६ मीलकी दूरी पर पड़ता है। वहाँ सर्दी बहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमें उन्हें अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगोंने जंगलसे घासफूस इकट्ठा किया और उसमें दियासलाई लगा आँचसे तापने लगे। ऊपर वृक्षों पर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देख रहे थे। जब वे यात्री लोग चले गये तो बन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घासफूस इकट्ठा कर लिया। अब कुछ चिसमेक

चाहिए तो दियासलाईकी जगह वे जुगनूको पकड़कर लाए और घिसकर डालदी पर आँच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हें पकड़ कर लाए और घिस घिस कर डाल दें पर आँच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर पदार्थोंमें सुख मिले तो कैसे मिले? वहाँ तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामें सुख कहाँ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमें पूजा करें और फिर शास्त्र श्रवण करें। तो जब तक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तब तक तुम्हें सुख नहीं है; क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलता-को मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हें दुकान खोलनेकी आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सब आकुलताको मेटनेके लिए हैं। तो आकुलतामें सुख नहीं। आत्माका सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामें ही विद्यमान है; एक क्षण पर पदार्थोंसे राग द्वेष हटा कर देखो तो तुम्हें आत्मामें निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करें और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी: आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है और जितना पढ़ना लिखना है उसी आत्माको पहचाननेके अर्थ हैं: पुस्तकोंका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है वैराग्य कहीं नहीं धरा? तुम्हारी आत्मामें ही विद्यमान है। अतः जैसे बने वैसे उस आत्माको पहचानो।

एक कोरी था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरमें लपेट लेता तो भी ठीक नहीं बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामामें और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। वह बड़ा खुश हुआ। इसी तरह हम भी इतस्ततः भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिये उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिये।

(सुरारमें दिए हुए प्रवचनोंसे)

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

दक्षिणके गोम्मटेश्वर बाहुबलीकी उस लोक प्रसिद्ध प्रशान्तमूर्तिका दर्शन, महामस्तिकाभिषेक, जो बारह वर्षमें सम्पन्न होता है, उसे देखने तथा अन्य तीर्थ-क्षेत्रोंकी यात्रा करने एवं उनके सम्बन्धमें कुछ ऐतिहासिक बातें मालूम करनेकी आकांक्षा मेरे हृदयमें उथल-पुथल मचा रही थी। और तीर्थयात्राके लिए अनेक संघ भी जा रहे थे। तथा देहलीके प्रतिष्ठित सज्जन और वीरसेवामन्दिरके व्यवस्था-पक ला० राजकृष्णजीजैनने अपनी मोटर द्वारा सपरिवार यात्रा करना निश्चितकर लिया था, उन्हें यात्राका अनुभव भी था, कार्य कुशलता उनके कर्मठ व्यक्ति होनेकी ओर संकेत भी कर रही थी। लालाजीने वीर सेवामन्दिरके अधिष्ठाता साहित्य तपस्वी आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारसे प्रेरणा की कि तीर्थयात्राके सम्बन्धमें ऐसी कोई पुस्तक नहीं है, जिसमें तीर्थक्षेत्रोंका ऐतिहासिक परिचय निहित हो और तीर्थयात्राके मार्गों तथा यात्रियोंके ठहरने आदिके स्थानोंका भी निर्देश हो, जिससे यात्री अपनी यात्रा सुविधा-पूर्वक कर सकें। इसके सिवाय, श्रवणबेलगोल जैसे पवित्र स्थान पर वीरसेवामन्दिरका नैमित्तिक अधिवेशन करने, मार्गमें पड़ने वाले तीर्थक्षेत्रोंका इतिहास मालूम करने एवं वहाँकी ऐतिहासिक सामग्रीके संकलित करने और उनके चित्रादि लेनेकी योजनाको सम्पन्न करनेकी भावना व्यक्तकी उक्त भावनाको साकार रूप देने तथा उन सब सद् उद्देश्यों-को लेकर मुख्तार साहबने भी वीरसेवामन्दिर संघ ले चलने की अपनी स्वीकृति प्रदान की फलस्वरूप किरायेकी एक लारीमें वीरसेवामन्दिर परिवार, जिसमें एक फोटो-ग्राफर भी शामिल है, तथा अन्य कुछ सज्जन जिनमें ला० पन्नालालजी अग्रवाल, देहली भी थे।

हम सब लोगोंने गणतंत्र दिवस मनानेके उपरान्त ता० २६ जनवरीको लाला राजकृष्णजीकी अपनी स्टेशन वैगन-के साथ चार बजे के करीब देहलीसे प्रस्थान किया! और

तीर्थयात्रा को प्रस्थान करते समय लिया गया चित्र ।

श्री महावीरजीकी छतरी, जहांसे भगवान महावीरकी मूर्ति प्राप्त हुई थी ।

श्रीगोम्मटेश्वरकी ५७ फुट ऊँची विशाल प्रतिमा

हम लोग देहलीसे ६० मील चलकर चौरासी मथुरामें पहुँचकर रात्रिको नौ बजेके करीब संघ भवनमें ठहरे। वहाँ फिरोजाबाद निवासी सेठ छदामीलालजी भी अपने परिवारके साथ संघमें मिल गए प्रातःकाल उठकर दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर मन्दिरजीमें पहुँचे और वहाँ दर्शन पूजन किया; मंदिरजीकी मूलवेदी कुछ अधिक ऊँचाईको लिये हुये है जिस पर मूलनायक भगवान अजितनाथकी भव्य-मूर्ति विराजमान है, उसके सामने ही किसी सज्जनने दूसरी एक मूर्ति और भी विराजमान कर दी है, जिससे दर्शकको दर्शन पूजन करनेमें असुविधाका अनुभव होता है और दर्शकके चित्तमें ठेस पहुँचती है। उसके चित्रादि लेनेमें भी बाधा पड़ती है। और यह कार्य ठीक भी नहीं है। यहाँ मन्वादि चारण ऋद्धिधारी सप्त ऋषियोंकी मूर्तियाँ नई प्रतिष्ठित हैं। मूलवेदी की मूर्तिभी अधिक प्राचीन नहीं है, वह विक्रमकी १५ वीं शताब्दीकी प्रतिष्ठित जान पड़ती है, क्योंकि उस पर अंकित लेखसे ज्ञात होता है कि वह ग्वालियर के तोमरवंशी राजा गणपतीके पुत्र राजा डूंगरसिंहके राज्यमें प्रतिष्ठित हुई है। चूँकि राजा डूँगरसिंहका राज्यकाल विक्रम सं० १४८१ से १५१० तक सुनिश्चित है। अतः यह मूर्ति भी विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके उत्तरार्धकी जान पड़ती है। मूर्ति लेखसे प्रतिष्ठाका सवत् अंकित नहीं है। चौरासीमें दि० जैन संघ कार्यालय और ऋषभब्रह्मचर्याश्रम दोनों ही संस्थाएँ अपना अपना कार्य रही हैं।

मथुरा एक प्राचीन नगर है हिन्दू और जैनियोंका एक पवित्र स्थान है। किसी समय मथुरा जैन संस्कृतिका केन्द्र था। यहांके कंकाली टीलेसे जैनियों और बौद्धोंकी अनेक मूर्तियाँ कुषाण कालकी प्राप्त हुई हैं। श्रीकृष्णका जन्म भी यहीं हुआ था। कंकाली टीलेसे जो सामग्री उपलब्ध हुई है। उससे जैन संस्कृतिकी महत्ताका अच्छा आभास मिल जाता है।

यहाँकी पुरातन बहुमूल्य सामग्रीका विनाश विदेशियोंके हमले और मुसलमानी बादशाहोंके समयमें हुआ है मथुराके आस पासके टीलोंमें जैन इतिहासकी प्रचुर सामग्री दबी पड़ी है जो खुदाई करने पर प्राप्त हो सकती है। पर जैन समाजकी इस दिशामें भारी उपेक्षा है। अस्तु,

मथुरामें दि० जैनियोंके ५१४ स्तूपोंके होनेका उल्लेख पांडे राजमल्लके जम्बूस्वामीचरितमें मिलता है। और जिनका जीर्णोद्धार साधु टोडरने, जो भटानियाकोल (अलीगढ़) का रहने वाला अग्रवाल वंशी श्रावक था, चतुर्विध संघको बुलाकर उत्सवके साथ संवत् १६३१ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी बुधवारके दिन ६ घड़ीके ऊपर पूजन तथा सूरिमंत्र पूर्वक प्रतिष्ठा कराई थी।

इस समय मथुरामें जैनियोंके ४ शिखर बन्द मन्दिर हैं और दो चैत्यालय हैं। यहाँ अनेक धर्मशालाएँ हैं परन्तु उन सबमें जैनियोंके ठहरनेके लिए घियामंडीमें मन्दिरजीके सामने वाली धर्मशाला उपयुक्त है। परन्तु शहरकी अपेक्षा चौरासीमें ठहरने में सुविधा अधिक है।

भोजनादिके पश्चात् हम सब लोग मथुरा शहरके मन्दिरके दर्शन करने गए। और मथुरा शहरसे बाहर वृन्दावन पर बिरला मन्दिरके इस ओर एक पुराने मन्दिरके भी दर्शन किये, जिसका जीर्णोद्धार संवत् १८०८ में किया गया था। यह मन्दिर वास्तवमें प्राचीन रहा है। वेदीमें कुल चार मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिनमें पार्श्वनाथकी एक मूर्ति सबसे अधिक प्राचीन है और वह विक्रम संवत् १२२ की प्रतिष्ठित है। और दो मूर्तियाँ पद्मप्रभु और पार्श्वनाथकी संवत् १२४८ की प्रतिष्ठित हैं चौथी मूर्ति सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथकी है जो वीर नि० संवत् २४६६ मे प्रतिष्ठित हुई है। मन्दिरके सामने चहार दीवारीके अन्दर एक छोटा सा बाग है और बागमें कुवां भी स्थित है।

मथुरासे ११२ मील चलकर भरतपुर तथा महुआ होते हुए हमलोग रात्रिको १० बजेके करीब श्री महावीरजीमें पहुँचे, और धर्मशालामें ठहर गए थोड़ी देर बाद रात्रिमें मन्दिरजीमें दर्शन करने गए, उस समय मन्दिरजीमें सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य था। भगवान महावीरकी उस मूर्तिका दर्शन किया साथमें अगल बगलकी अन्य मूर्तियोंका भी दर्शन कर अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ। रात्रिमें विश्राम करनेके बाद प्रातः काल नैमित्तिक क्रियाओंसे मुक्त होकर भगवान महावीरका दर्शन पूजनादि किया महावीरजीका स्थान बड़ा ही सुन्दर और शान्तिप्रद है।

महावीरजी से ११० मील चलकर जयपुर पहुँचे। जयपुरसे कोई ३-४ मील पहले ही हमलोग 'खानियां' स्थान पर रुक गए और वहाँ मन्दिरजीके बाहर ठहर कर शामको भोजन किया, तथा मन्दिरोंके दर्शन किये। यह

मन्दिर विक्रमकी १६ वीं शताब्दीका प्रतिष्ठित किया हुआ है—संवत् १८६१ में वैशाख शुक्ला पंचमीके दिन भट्टारक सुखेन्द्रकीर्तिके उपदेशसे संगही रायचन्द्र छावड़ाने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी* इस मन्दिरके कुएँका पानी मीठा और अच्छा है, वैसा पानी जयपुर शहरमें नहीं मिला। वहाँसे चलकर ८ बजे के करीब जयपुर पहुँचे सेठ गोपीचन्दजी ठोल्याकी धर्मशालामें ठहरनेका विचार किया, और वहाँ देखा तो धर्मशालामें अत्यन्त बदबू और गंदगी थी जिससे ठहरनेके लिये जी नहीं चाहा। तब कलकत्ता निवासी सेठ बैजनाथजी सरावगीके मकान पर ठहरे। आज कल जयपुर शहरमें गंदापन बहुत अधिक रहने लगा है, सफाईकी ओर जनताका ध्यान कम है।

जयपुर राजपुतानेका एक प्रसिद्ध शहर है। इसकी बसासत बड़े अच्छे ढँगसे की गई है। टाड साहबके अनुसार विद्याधरने, जो जैन था इसके बसानेमें अपना पूरा योग दिया था। जयपुरकी राजधानी पहले आमेर थी। किन्तु सवाई जयसिंहने सन् १७१८ वि० संवत् १७८४ में आमेरसे राजधानी जयपुरमें स्थापित की। जयसिंह (द्वितीय) बड़े बुद्धिवान थे। उन्होंने ज्योतिषविद्याके भी कई स्थानों पर यन्त्र बनवाये। जयपुर जैन संस्कृतिका अच्छा केन्द्र रहा है। यहाँ खण्डेलवाल दि० जैनियोंका अच्छा प्रभुत्व था। अनेक खण्डेलवाल श्रावक राज्यके ऊँचे-से-ऊँचे पद पर आसीन रहे हैं। उन्होंने जयपुर राज्यका संरक्षण और संवर्द्धन किया है। दीवान रामचन्द्र छावड़ाने तो आमेर राजधानीको मुसलमानोंके पंजेसे छुड़ाकर स्वतन्त्र किया था। राज्यमें अनेक दीवान (प्रधानमंत्री जैसे पद पर अपना कार्य कर चुके हैं। यहाँ जैनियोंके ५७ मन्दिर शिखर बन्द हैं और ७६ चैत्यालय हैं। कितने ही मन्दिरोंमें हस्तलिखित ग्रन्थोंके बृहद् शास्त्र भण्डार हैं। जयपुर शहरके बाहर भी अनेक मन्दिर निशि या नशियाँ हैं। यहाँ भट्टारकोंकी दो गद्दियाँ थी। जयपुरमें प्राकृत संस्कृतके जानकार अनेक विद्वान हुए हैं जिन्होंने प्राकृत संस्कृतके अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी हिन्दी टीकाएँ बनाकर जैन तत्त्वोंका जगतमें प्रचार किया है। गुमानपंथका जन्म भी जयपुरसे ही हुआ है। तेरह पंथियोंके बड़े मन्दिरमें बाबा दुलीचन्दजीका एक बहुत बड़ा शास्त्र भण्डार है, बाबाजी हूमडवंशी श्रावक थे और जैनधर्मके दृढ़ श्रद्धालु। उन्होंने बड़े भारी परिश्रमसे शास्त्रभण्डारकी योजना की थी। उनकी आयु सौ वर्षसे अधिक थी। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंको स्वयं अपने हाथसे लिखा है। वे बहुत बारीक एवं सुन्दर अक्षर लिखते थे। एक बार भोजन करते थे और सातवें दिन नीहार (मलमोचन) करने जाते थे। प्रकृतिसे उच्च और निर्भय थे। जो कुछ कहना होता था उसे स्पष्ट कह देते थे।

जयपुरके प्राचीन मन्दिरोंका तो कोई पता नहीं चलता क्योंकि वहाँ कितने ही मन्दिर शिवालय आदिके रूपमें परिणत कर दिये गए हैं। अतः विद्यमान मन्दिर दो-तीन सौ वर्ष पुराने प्रतीत होते हैं। निगोतियोंके मन्दिरमें सबसे प्राचीन मूर्ति भगवान पार्श्वनाथ की है, जो विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके उत्तरार्धकी अर्थात् सं० ११७१ की प्रतिष्ठित है। अठारह महाराज वाले मन्दिरमें भी एक मूर्ति विक्रम की १४ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध—वि० संवत् १३२० की प्रतिष्ठित है जिसे जमीनमें से निकली हुई बतलाया जाता है। सांगाके मन्दिरमें भी सं० १५०१ की प्रतिष्ठित मूर्ति विराजमान है। इसके सिवाय सं० १५३८, १५४८, १६६१ और १८२६ आदि की भी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। हम सब लोगोंने सानन्द यात्रा की। कई मन्दिर कलापूर्ण और दर्शनीय हैं। जयपुरकी कला प्रसिद्ध है।

महावीर तीर्थ क्षेत्र कमेटीके प्रधानमंत्री सेठ बधीचन्दजी गंगवालने सभी संघको भोजन पानादिसे सम्मानित किया। यहाँ पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ बड़े मिलनसार विद्वान हैं। वह वहाँ की समाजमें जैनधर्म व संस्कृतिका प्रचार करते हुए अपना समय अध्ययन अध्यापनमें व्यतीत कर रहे हैं। वे प्रकृतितः भद्र हैं।

ता० २१ जनवरी सन् ५३ को हम लोग तीन बजेके करीब जयपुरसे ८० मील चल कर अजमेर पहुँचे, रास्तेमें ४॥ बजे के करीब किशनगढ़में हम लोगोंने शामका भोजन किया। और फिर वहांसे चलकर ७॥ बजे अजमेरमें सरसेठ भागचन्दजी सोनीकी धर्मशालामें ठहरे। रात्रिमें विश्राम करनेके बाद प्रातःकाल नैमित्तिक क्रियाओंसे निपट कर शहरमें यात्राके लिये गये।

* संवत् १८६१ वर्षे वैशाख शुक्ल पंचम्यां श्री सवाई जयसिंह नगरे भट्टारक श्री सुखेन्द्रकीर्ति गुरुवाम्नु पयोदेशात् छावड़ा गोत्रे संग (ही) श्री [वाह्य] रायचन्द्रेण प्रतिष्ठा कारिता।

अजमेर एक पुराना शहर है, जिसे अजयपाल चौहानने बसाया था। अजयपालके पुत्र 'आना' ने अजमेरमें 'आनासागर' नामक एक झील बनवाई थी, जो ६०० गज लम्बी और १०० गज चौड़ी है। वर्षातके दिनोंमें इस झीलका घेरा कई मीलका हो जाता है। झीलके निकट जहांगीरका बनवाया हुआ 'दौलतबाग' है कहा जाता है कि आनासागरके किनारे पर संगमरमरका चबूतरा शाहजहाँ ने बनवाया था। उस परसे आनासागरका प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है।

अजमेर प्राचीन समयसे ही जैन संस्कृतिका केन्द्र रहा है—यहां जैन संस्कृतिके पुरातन अवशेष समय-समय पर निकलते रहे हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि अजमेर किसी समय जैनसंस्कृतिका केन्द्र बना हुआ था।

सन् १८३६ ई० में ६ या १० जैन मूर्तियां, जो संगमरमरके पाषाणकी निर्मित हैं मुसलमानी कबरिस्तानसे निकली थीं। अजमेरमें यह कबरिस्तान ख्वाजा साहबकी दरगाहसे परे एक प्राचीन जैन मन्दिरके पास अवस्थित है, जहांसे तारागढ़को रास्ता गया है। उनमें से छह मूर्तियोंके नीचे पट्टी पर मूर्तिलेख उत्कीर्ण हैं, जिन पर सं० १२३६, १२४३, १२३४, १२४७, १२३६ और ११६२ अंकित हैं।*

इनके सिवाय, सन् १६२१ में चार मूर्तियोंका एक स्तम्भ सं० ११६७ का पद्मप्रभुका पाषाणखंड स्वैंडमेमोरियल हाई स्कूलके पास एक कुएँमसे निकला था।

अजमेरका अढाई दिनका झोंपड़ा तो प्रसिद्ध ही है वह एक जैन मन्दिर था जो ढाई दिनमें मस्जिदके रूपमें परिणित कर लिया गया था आज भी उसमें ५-६ स्वस्तिक बने हुये हैं और उसकी छतोंके चौक और बेलबूटे आबूके मन्दिरोंसे मिलते जुलते देशी पत्थरके बने हुए हैं। उसका तमाम ढांचा ही जैन मन्दिरका मालूम होता है उसमें अनेक वेदियों पर जैन मूर्तियाँ विराजमान होंगी। कहा जाता है कि अजमेरके भट्टारकीय मन्दिरमें अढाई दिनके झोंपड़ेकी कई मूर्तियाँ मौजूद हैं परन्तु इस बातका निश्चय उसी समय हो सकता है जब वहांके मूर्तिलेखोंको नोट कर उन पर भली भांति विचार किया जाय। इस मन्दिरमें भट्टारकीय गद्दी है जिसका पहले कभी सम्बन्ध देहली की गद्दीसे था। यहाँ अनेक प्रभावशाली भट्टारक हुए हैं, जो मन्त्र तन्त्र विद्यामें भी निपुण थे। ऐसी एक खास घटना अजमेरमें घट चुकी है जिसे अजमेरके प्रायः सभी व्यक्ति जानते हैं। अजमेर के भट्टारक विशालकीर्तिके शिष्य पंडित अखयराजने सं० १६६० मे उपदेश रत्नमाला (महापुराण कालिका) नामका ग्रन्थ बनाया था। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें कविने अन्य नगरोंके नामोंके साथ अजमेरका भी उल्लेख किया है। यहांके भट्टारकीय मन्दिरमें संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका एक बड़ा शास्त्र भंडार है जो भ० हर्षकीर्तिके नामसे प्रसिद्धिको प्राप्त है।

वर्तमानमें भी अजमेरमें जैनियोंका गौरवपूर्ण स्थान है। जैनियोंकी संख्या भी अच्छी है—और वे विभिन्न मुहल्लोंमें आबाद हैं उनके मन्दिर भी अनेक मुहल्लोंमें बने हुए हैं जिनकी कुल संख्या १८ है जिनमें ४ नसियां और दो चैत्यालय भी शामिल हैं। उनके नामादि इस प्रकार हैं:—

१ नसियां स्व० सेठ नेमीचन्द्र टीकमचन्द्रजी—इसका दूसरा नाम 'सिद्धकूट' चैत्यालय है। इसमें नन्दीश्वरद्वीप और समवसरणकी रचना अपूर्व है, पौराणिक कथाओंके अनेक ऐतिहासिक चित्र भी अंकित हैं अयोध्या नगरीका सुवर्णमय चित्र दर्शनीय है। भूगोल सम्बन्धी जैन सिद्धांतों का मूर्त चित्रण किया गया है, इसी स्थान पर ढाई द्वीपों और अनेक समुद्रोंसे घिरे हुये कनकगिरि सुमेरू, जहाँ पर भगवान ऋषभदेवका अभिषेक हुआ था। भगवान ऋषभदेवकी तपस्या और निर्ग्रन्थ दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाणकी प्राप्ति आदिके चित्र दिये हुए हैं। भरत और बाहुबली तीनों युद्धके चित्र भी अच्छे हैं जो दर्शकोंको अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। नसियांकी इस रचनाके उद्गम का मूलस्रोत जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान पं० सदासुख कासलीवालकी प्रेरणासे हुआ था और रचना भगवान जिनसेनके आदि पुराणके अनुसार सम्पन्न की गई है। नसियां जीके सामने संगमरमरका ८३ फुट ऊँचा एक विशाल मानस्तम्भ भी बना हुआ है, जो उस समय तक प्रतिष्ठित था और अब उसकी प्रतिष्ठा हो रही है। सेठ भागचन्द जी सोनीके सौजन्यसे वीर सेवा-मन्दिरने इनके सब चित्रादि लिये हैं।

* See Journal of the Asiatic Society of the Bengal. Vol. VII Part 1, January to June 1838, P. 51

साहित्य परिचय और समालोचन

१ तत्त्व समुच्चय—सम्पादक डा० हीरालालजी जैन एम० ए० डी० लिट्। प्रकाशक भारत जैन महामंडल वर्धा पृष्ठ संख्या २००, मूल्य ३) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकमें जैनतत्त्वज्ञान और आचार-सम्बन्धी प्राकृत गाथाओंका संकलन किया गया है। मूल गाथाओंके यथा क्रम संकलनके बाद उनका क्रमसे अनुवाद भी दिया हुआ है और अन्तमें शब्दकोष भी दे दिया गया है। डा० साहबने इस ग्रन्थका निर्माण छात्रोंको प्राकृतका अध्ययन कराते समय जो प्रेरणा मिली उसीसे प्रेरित होकर उक्त ग्रन्थका निर्माण किया है। ग्रन्थकी संकलित गाथाएँ दिगम्बर-श्वेताम्बर साहित्य परसे उद्धृत की गई हैं जिनकी संख्या ६०० के करीब है। यह ग्रन्थ नागपुर महाविद्यालयके बी० ए० और एम० ए० के कोर्समें दाखिल हो गया है, यह प्रसन्नताकी बात है। इस ग्रन्थकी १४ पेजकी प्रस्तावनामें जैनधर्म, साहित्य और सिद्धान्तके सम्बन्धमें अच्छा प्रकाश डाला गया है और विषयको बड़े ही रोचक ढंगसे रखनेका प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद मूलानुगामी है और शब्दकोष जिज्ञासु विद्यार्थियोंके लिये बड़ा ही उपयोगी है। पुस्तक पठनीय है। इसके लिए सम्पादक महोदय धन्यवादके पात्र हैं। आशा है डाक्टर साहब इसी प्रकारसे अन्य पठनक्रमकी नूतन सामग्री प्रस्तुत करेंगे।

२ सलौना सच—लेखक महात्मा भगवानदीन जी, प्रकाशक भारत जैन महामण्डल वर्धा, पृष्ठ संख्या ४२ मूल्य दस आने

इस पुस्तकमें बालकोंके मनोवैज्ञानिक दिलों पर किसी प्रकारका बोझ न लादते हुए सत्यके सम्बन्धमें १० कहानियाँ रोचक ढंगसे लिखी गई हैं। उन्हें पढ़कर बालक-बालिकाएँ सत्यके स्वरूपको समझनेमें बहुत कुछ सफल हो सकेंगे। कहानी बड़ी सुन्दर हैं, उनकी भाषा, भाव सरल तथा शिक्षाप्रद हैं। महात्माजी स्वभावतः बाल-शिक्षक हैं, उन्हें बालकोंकी शिक्षासे प्रेम है। वे बड़े से बड़े गम्भीर विषयको बालकोंके गले सहज ही उतारना चाहते हैं। पुस्तक उपयोगी है। इसका समाजमें यथेष्ट प्रचार होनेकी जरूरत है। साधारण कागजके संस्करणका मूल्य आठ आने है।

३ महावीर वर्धमान—लेखक डा० जगदीशचन्द्र जी एम० ए० प्रकाशक, भारत जैन महामण्डल वर्धा। पृष्ठ संख्या ६० मूल्य बारह आना।

प्रस्तुत पुस्तकमें डा० साहबने भगवान पार्श्वनाथ और उनकी परम्पराका समुल्लेख करते हुए भगवान वर्धमानका जीवन-परिचय श्वेताम्बर साहित्यके आधार पर दिया है। महावीरके विवाहका उल्लेख करते हुए श्वेताम्बर परम्पराकी तरह दिगम्बर परम्परामें भी दो मान्यताएँ होनेकी कल्पना की है। जब कि दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र एक मान्यताका ही उल्लेख पाया जाता है। डा० साहबने दिगम्बर हरिवंश पुराणके ६६ वें पर्वके ८ वें पद्यसे पूर्वके पद्य तथा उक्त पद्यसे आगेके पद्यको छोड़ कर 'यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर-विवाह मंगलं' नामक ८ वें पद्यमें निहित 'वीर विवाहमंगलं' वाक्यसे भगवान महावीरके विवाहित होनेकी कल्पनाको जन्म देनेका साहस किया है। जबकि ग्रन्थमें राजा जितशत्रुका परिचय देते हुए भगवान महावीरके विवाह सम्बन्धमें चलने वाली उस चर्चाका उल्लेख मात्र किया गया है, और निम्न ९ वें पद्यमें भगवान महावीरके तपमें स्थित होने तथा केवल ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है वह पूरा पद्य इस प्रकार है:—

स्थितेऽथनाथे तपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययं।

अतः ग्रन्थका पूर्वापर सम्बन्ध देखते हुए डा० साहबका उक्त नतीजा निकालना किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। पुस्तकके लिखनेका ढंग रोचक है।

—परमानन्द जैन

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जोहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्रीमती श्रीमालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, देहली

श्री वीर-जिन का
सर्वोदय तीर्थ
सर्वाऽन्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वाऽन्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्
सर्वा पदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥
श्रीवीर जिनालय
अ ने का न्त
सत् असत्
एक अनेक
नित्य अनित्य
जीव अजीव
बन्ध मोक्ष
पुण्य पाप
लोक परलोक
स्वभाव विभाव
द्रव्य पर्याय
सामान्य विशेष
हित अहित
हिंसा अहिंसा
सम्यक् मिथ्या
विद्या अविद्या
सापेक्ष निरपेक्ष
दैव पुरुषार्थ
नय प्रमाण
युक्ति आगम
शुद्धि अशुद्धि
आत्मा परमात्मा
समाधि
आराधना
मैत्री
प्रमोद
समता
तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलङ्क-भाव-कृतये प्राभावि काले कलौ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ॥

विषय-सूची

साहित्यके प्रचारार्थ सुन्दर उपहारोंकी योजना

जो सज्जन, चाहे वे अनेकान्तके ग्राहक हों या न हों, अनेकान्तके तीन ग्राहक बनाकर उनका वार्षिक चन्दा १५) रुपये मनीआर्डर आदिके द्वारा भिजवायेंगे उन्हें स्तुतिविद्या, अनित्यभावना और अनेकान्त-रस-लहरी नामकी तीन पुस्तकें उपहारमें दी जायेंगी। जो सज्जन दो ग्राहक बनाकर उनका चन्दा १०) रुपये भिजवायेंगे उन्हें श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, अनित्यभावना और अनेकान्त-रस लहरी नामकी ये तीन पुस्तकें उपहारमें दी जायेंगी और जो सज्जन केवल एक ही ग्राहक बनाकर ५) रुपया मनीआर्डरसे भिजवायेंगे उन्हें अनित्य-भावना और अनेकान्त-रस-लहरी ये दो पुस्तकें उपहारमें दी जायेंगी। पुस्तकोंका पोस्टेज खर्च किसीको भी नहीं देना पड़ेगा। ये सब पुस्तकें कितनी उपयोगी हैं उन्हें नीचे लिखे संक्षिप्त परिचयसे जाना जा सकता है।

(१) **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंको जीतनेकी कला, सटीक साहित्याचार्य पं० पन्नालालजीके हिन्दी अनुवाद-सहित और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत, जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि स्तुति आदिके द्वारा पापोंको कैसे जीता जाता है। सारा मूल ग्रन्थ चित्रकारोंसे अलंकृत है। सुन्दर जिल्द सहित, पृष्ठसंख्या [illegible]०२, मूल्य डेढ़ रुपया।

(२) **श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र**—यह आचार्य विद्यानन्द-रचित महत्वका तत्वज्ञानपूर्ण स्तोत्र हिन्दी अनुवादादि-सहित है। मूल्य बारह आने।

(३) **अनित्यभावना**—आचार्य पद्मनन्दीकी महत्वकी रचना श्रीजुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित, जिसे पढ़कर कैसा भी शोक सन्तप्त हृदय क्यों न हो शान्ति प्राप्त करता है। पृष्ठसंख्या ४८, मूल्य चार आने।

(४) **अनेकान्त-रस-लहरी**—अनेकान्त-जैसे गूढ़-गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित, बालगोपाल सभीके पढ़ने योग्य। पृष्ठ संख्या ४८, मूल्य चार आने।

विशेष सुविधा—इनमेंसे कोई पुस्तकें यदि किसीके पास पहलेसे मौजूद हो तो वह उनके स्थान पर उतने मूल्यकी दूसरी पुस्तकें ले सकता है, जो वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हों। वीरसेवामन्दिरके प्रकाशनोंकी सूची अन्यत्र दी हुई है। इस तरह अनेकान्तके अधिक ग्राहक बनाकर बड़े बड़े ग्रन्थोंको भी उपहारमें प्राप्त किया जा सकता है।

मैनेजर वीरसेवामन्दिर
१ दरियागंज, देहली,

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली	जुलाई
किरण २	अषाढ़ वीर नि० संवत् २४७९, वि० संवत् २०१०	१९५३

सम-आराम-विहारी

सम आराम विहारी, साधुजन सम आराम विहारी ॥ टेक ॥
एक कल्पतरु पुष्पन सेती, जजत भक्ति विस्तारी।
एक कंठविच सर्प नाखिया, क्रोध-दर्प जुत भारी ।
राखत एक वृत्ति दोउनमें, सबही के उपगारी ॥ १ ॥
सारंगी हरिबाल चुखावै, पुनि मराल मंजारी ।
व्याघ्रबालकरि सहित नन्दिनी, व्याल नकुलकी नारी ।
तिनके चरन कमल आश्रयतैं, अरिता सकल निवारी ॥ २ ॥
अक्षय अतुल प्रमोद विधायक, ताकौ धाम अपारी।
कामधरा विवगडी सो चिरतैं, आतम-निधि अविकारी।
खनत ताहि लैकर करमें जे, तीक्ष्ण बुद्धि-कुदारी ॥ ३ ॥
निज शुद्धोपयोगरस चाखत, पर ममता न लगारी।
निज सरधान ज्ञान चरनात्मक, निश्चय शिव-मग-चारी।
'भागचन्द' ऐसे श्रीपति प्रति फिर फिर ढोक हमारी ॥ ४ ॥

पं० भागचन्द

वंगीय जैन पुरावृत्त

(श्री बा० छोटेलाल जैन, कलकत्ता)

[गत किरणसे आगे]

उपर्युक्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि वर्तमान वर्द्धवान विभागमें प्राचीन कालकी वर्द्धमानभुक्ति थी और इसीका बहुभाग समृद्धिशाली और प्राचीन राढ़ था। प्रेसीडेन्सी विभाग और ढाका विभागका बहु भाग प्रदेश ही प्राचीन बंग था और वर्तमान राजशाही विभागमें ही प्राचीन पुण्ड्रवर्द्धन था, जिसका एक मंडल सुविख्यात वरेन्द्र था, कई विद्वानोंका मत है कि भौगोलिक टालेमी और प्लीनी कथित गङ्गारिढ़ि प्रदेश यही है। चटगांव विभागमें प्राचीन समतट था। दिनाजपुरका बानगढ़ ही प्राचीन कोटीवर्ष था।

यहाँ नदियोंके गमनमार्गमें निरन्तर परिवर्तन होनेके कारण, अनेक प्राचीन स्थानोंका जलप्लावनसे, स्थानोंके दुर्गम और अस्वास्थ्यकर हो जानेके कारण ध्वंस हो चुका है। कोसी नदीके तलदेशमें परिवर्तनके कारण दलदल और बाढ़ोंका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे गौड़नगरका विध्वंस हो गया। अस्थिर पद्मानदी अनेक ग्राम और नगरोंको बहा ले गई। इसी प्रकार अन्य नदियोंका विध्वंसकारी प्रभाव बंगदेश पर कैसा हुआ है, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। सुन्दर वन एक समय जनाकीर्ण प्रदेश था किंतु प्रकृतिके प्रकोपने उसे जनशून्य बना दिया। दक्षिणमें बंगोपसागरके प्रत्यार्पणके कारण दक्षिण जिलोंके कुछ भागोंका अंचल प्रसारित हो रहा है इसीसे अब ताम्रलिप्त (तामलुक) से समुद्र ४५ मील दूर है।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि विहार प्रांतके वर्तमान सीमान्तर्गत मानभूम, सन्थल परगना और पुर्णियाके आदिवासियोंकी भाषा बंगला है।

बंगालकी जनसंख्या ६ करोड़से अधिक है। पश्चिम बंगमें हिन्दुओंकी संख्या अधिक है और पूर्व बंग (पाकिस्तान) में मुसलमानोंकी।

मानव-जाति

आधुनिक नृतत्त्वविद्गणोंने प्रमाणों द्वारा यह सिद्धांत स्थिर किया है कि "पृथ्वीकी कोई भी जातिका किसी भी जातिके साथ मज्जागत पार्थक्य नहीं है। जाति-गत पार्थक्य स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय नहीं है। यह पार्थक्य कृत्रिम और अनेक स्थल पर काल्पनिक है। जो पार्थक्य आज दृष्टिगत हो रहा है वह शिक्षा-दीक्षा और परिपार्श्विक अवस्थाकी विभिन्नतासे संगठित हुआ है। सुसभ्य और सुकृष्टि-सम्पन्न जातियां जिस परिपार्श्विक अवस्थामें पड़कर उन्नत हुई हैं, अति निम्नस्तरकी कोई भी जाति वैसी पारिपार्श्विक अवस्था और शिक्षा दीक्षाका सुयोग पाकर उन्हींकी तरह उन्नत अवस्थामें उपनीत हो सकती थी। मानव यदि अभिमान शून्य होकर उदार दृष्टिसे विचार कर देखें तो उन्हें मालूम हो जायगा कि जातियोंमें मज्जागत प्रभेद नहीं है। जैन शास्त्रोंके अनुसार भोगभूमि कालमें मानव मात्र एक ही जातिके थे।

भारतीय जातिसमूहके विषयमें नृतत्त्वविद्गणोंका यह अभिमत है कि मध्य एशियाकी 'आल्पीय" नामक जातिने प्रागैतिहासिक युगमें महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, कर्ण और कुर्ग इन सब प्रदेशोंमें वास किया था और तत्रत्य आदिम अधिवासी निषाद, द्राविड़ एवं आर्यजातिके संमिश्रणसे इन सब देशोंकी आर्य हिन्दु समाजकी सृष्टि हुई है। फिर उन्हींकी एक शाखाने बंगाल, बिहार और उड़ीषामें उपनिवेश स्थापित कर एक ही रूपसे तत्रत्य हिन्दुसमाजका गठन किया है। वर्ण और आकृति, शरीरकी उच्चता करोटी और मस्तक, नासिकाका गठन, आंख, केशका रंग, मुखमण्डलकी श्मश्रु-गुम्फादिका न्यूनाधिक प्रभृतिके सादृश्य और पार्थक्य द्वारा पंडितगण जाति-प्रभेद अर्थात् वंश निर्णय करते हैं। इसी प्रमाणके बलसे यह सिद्ध हुआ है कि बंगाली हिन्दूसमाजकी ब्राह्मण और अब्राह्मण सभी जातियां मूलतः अभिन्न हैं। और इसका समर्थन पुराणोंसे होता है 'एकोवर्ण आसीत् पुरा'। बंगाली हिन्दु समाजान्तर्गत अधिकांश जातियाँ मूलतः एक जातिसे समुद्भूत है। *

* बंगे क्षत्रिय पुण्ड्र जाति-मुरारी मोहन सरकार।

जैनोंके आदिपुराणके आदिमें लिखा है कि भोगभूमि-कालमें स्त्री और पुरुष साथमें ही उत्पन्न होते थे और सभी मनुष्य एक समान वैभव वाले थे और कोई किसीके आश्रित नहीं था। इसके बाद कर्म-भूमिके समय आदिनाथ ऋषभदेवने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंकी कल्पना कर लोगोंको उनके योग्य आजीविकाके उपाय बताये। और प्रजाके पालन और शासनके लिए राजा नियुक्त किये। जिस जिस राजाका जो नाम रखा गया उन्हीं नामोंसे विभिन्न वंश जैसे—कुरुवंश, हरिवंश नाथवंश, उग्रवंश बन गये। आदिनाथने इक्षु (ईख) के रसका संग्रह करनेका उपदेश दिया था इसलिए लोग उन्हें इक्ष्वाकु कहने लगे। वे काश्य अर्थात् तेजके अधिपति थे इसलिये लोग उन्हें काश्यप कहते थे। आदिनाथके पुत्र महाराज भरतने ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की थी।

आदिम अधिवासी और आर्यजाति।

जैनशास्त्रोंके अनुसार भारतवर्ष ही आर्योंका आदिम निवास स्थान है। पर पाश्चात्य इतिहासकारोंका मत है कि खिृष्ट (ईसा) जन्मके १५०० या २००० वर्ष पूर्व प्राचीन आर्यजाति एशिया खण्डके मध्य भागमें अवस्थित थी, जो मरुमय पुरातन आवासभूमिका परित्याग कर दक्षिणकी ओर बढ़ने लगी। खिृष्ट जन्मसे पंचदश शताब्दी पूर्व समयमें इन आर्यगणोंके आक्रमणोंसे (Babylon) और मिसर (Egypt) देशके प्राचीन साम्राज्य ध्वंस हो गये। खिृष्ट पूर्व षोडश शताब्दीमें आर्य वंशजात काशीय जाति (Kassites, Cassites, Kash—shee) ने बाबिरुष पर अधिकार कर नूतन राज्य स्थापित किया था। ये काशीयगण आर्य जातीय थे। प्राचीन आर्यजातिने लोहनिर्मित अस्त्रोंकी सहायतासे खिृष्ट जन्मसे २००० से १५०० वर्ष पूर्व कालमें प्राचीन बाबिरुष और आसूर (Assyria) राज्योंको जय किया था।

इसी आर्य जातिकी एक शाखाने भारतके उत्तर-पश्चिम सीमान्तकी पर्वत-श्रेणीको अतिक्रम कर पंचनद प्रदेशमें उपनिवेश स्थापित किया था। इन लोगोंने क्रमशः पूर्वकी ओर अपना अधिकार विस्तार किया और दो तीन शताब्दीके मध्य ही उत्तरापथके अधिकांश भागको हस्तगत कर लिया और जब आर्यगण अपनी बस्ती विस्तार करते करते हुए इलाहाबाद पर्यन्त उपस्थित हुए तब बंग, बगध (मगध) और चेर देशवासियोंकी सभ्यतासे ईर्ष्यावश उन्हें धर्मज्ञानहीन और भाषा शून्य पक्षी कह कर इनकी वर्णना वेदोंमें की है। वर्तमान युगके पण्डितोंने स्थिर किया है कि आर्यगणोंके बंगाल अधिकारके पूर्व इस देशमें द्राविड़ नामकी एक जाति वास करती थी वह सभ्यतामें इन आर्योंसे न्यून न थी।

प्रत्नविद्या विशारद हाल साहबका मत है कि द्राविड़गण अति प्राचीनकालसे भारतवर्षके निवासी हैं और प्रागैतिहासिक युगमें इन्हीं लोगोंने खृष्ट जन्मसे तीन सहस्र वर्ष पूर्व बाबिरुष और ऐरान पर अधिकार कर वहाँकी बाबिरुष और आसूर आदिकी प्राचीन सभ्यताकी भित्ति स्थापित की थी॥।

नृतत्त्वविद्गणोंने आधुनिक बंग वासियोंकी नासिका और मस्तककी परीक्षा कर यह निश्चय किया है कि ये लोग द्रविड़ और मोंगोलियन जातिके संम्मिश्रणसे उत्पन्न मालूम होते हैं।

मेजर जनरल फरलांगने प्रमाणित किया है कि आर्योंके आगमनके पूर्व भारतवर्षके प्राचीन अधिवासी द्राविड़ गण थे और इनमें जैनधर्मको मानने वाले खृष्टसे सहस्रों वर्ष पूर्व यहाँ वास करते थे। जैनधर्म एक प्राचीन सुसंगठित, दार्शनिक, नैतिक और कठोर तपस्या-परायण धर्म था ×। यह बात सिंधदेशके मोंहेंजोदरोकी खुदाईसे और भी अधिक पुष्ट हो गई है। वहाँ जैन प्रभावके अति प्राचीन चिन्ह उपलब्ध हुए हैं †।

ऋग्वेदमें जिनको दस्यू कहा है वह सम्भवतः यही द्राविड़ जाति है। बौद्धायन धर्मसूत्र (१/१/२) में लिखा है कि बंग, कलिंग, सौवीर प्रभृति देशोंमें गमन करनेसे शुद्धिके लिए यज्ञादि अनुष्ठान करना चाहिए।

॥ H R. Hall's The Ancient History of the Near East p. 171-174

× Short studies in the Science of Comparative Religion p. 243-44

† Twenty-First Indian Science Congress Bombay 1934 section of Anthropology-Sramanism by Rai Bhadur Rama Prasad Chanda.

इसका कारण यही था कि वहाँ जैनधर्मका विशेष प्रभाव था।

प्राचीनकालमें द्रविड़ जातिका राज्य बंगोपसागरसे लेकर भूमध्यसागर पर्यन्त विस्तृत था। वर्तमानमें द्रविड़जाति मध्यभारत और दक्षिणात्यमें वास करती है।

दक्षिणके प्राचीन राज्य चेर, चोल और पाण्ड्य हैं इन तीनों राज्योंका अस्तित्व अशोकके समयमें भी पाया जाता है। दक्षिण भारतके इतिहाससे यह भली प्रकार प्रगट हो चुका है कि पाण्ड्य नृपतिगण जैनधर्मावलम्बी थे। चेर नृपति (सन् ११३ के लगभग) के लघु भ्राता द्वारा लिखित 'शिलप्पडिकारम्' नामक तामिल ग्रन्थसे प्रगट होता है कि प्राचीन चेर नृपतिगण भी जैन थे। चोल नृपतिगण भी बीच बीचमें जैनधर्मके प्रतिपोषक थे, पर पश्चात् कालमें वे शैव हो गए थे। खृष्टीय (ईसाकी) प्रथम शताब्दीमें पल्लववंशी राजा भी जैन धर्मावलम्बी या जैनधर्मके पोषक थे। इन पल्लवोंकी उत्पत्ति कुरुम्बादि आदिम निवासियोंसे बतायी जाती है। कुरुम्ब जातिके लोग भी जैनी थे, इसके प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी जो दक्षिण देशमें प्रथम शताब्दीमें हुए हैं और जिन्होंने आचार्यपद खृष्टपूर्व ८ में ग्रहण किया था, वे द्राविड़ थे।

सन् ४७० में आचार्य वज्रनन्दीने 'द्राविड़संघ' की स्थापना की थी ॐ।

इस प्रकार परवर्तीकालके द्रविड़ लोगोंमें भी क्रमानुगत जैनधर्मका अस्तित्व पाया जाता है।

इस समय द्राविड़ या तामिल भाषा तामिल, तेलगू, कनड़ी और मलयालम ऐसे चार प्रधान भागोंमें विभक्त हैं। हिन्दू ग्रन्थोंमें द्राविड़ भाषाको भी अनार्य कह दिया है। उपलब्ध तामिल और कनड़ी भाषाका प्राचीन और उच्च साहित्य जैनों-द्वारा लिखा हुआ है।

आर्य सभ्यता जब यहाँ विस्तृत हुई, तब भी आदिम द्राविड़ अधिवासीगणोंने बंगालका परित्याग नहीं किया। भारतवर्षके अन्यान्य प्रदेशोंमें जिस प्रकार आर्योंकी रीति नीति, भाषा और धर्म प्रचलित हुए थे उसी प्रकार मगध और बंगदेशमें भी इनका प्रवर्तन आरम्भ हुआ था। किन्तु दाक्षिणात्य वासी द्राविड़ोंने सम्पूर्णरूपसे आर्य-भाषा ग्रहण नहीं की; परन्तु उनके अनेक आचार-व्यवहारोंका अनुकरण अवश्य किया।

खृष्ट पूर्व प्रथम सहस्राब्दीमें उत्तरापथके पूर्व सीमान्त स्थित प्रदेश आर्यगणोंके आधीन हो गए थे पर इसके तीनचार शताब्दी बाद समग्र आर्यावर्त्त मगध राजगणोंकी आधीनतापाशमें बद्ध हो गया था। उन मगधके राज्यगणोंको हिन्दू-लेखकोंने शूद्र जातीय या अनार्यवंश संभूत लिखा है।

आर्य

आर्योंका देशान्तरोंसे भारतवर्षमें आगमन हुआ, इस सिद्धांतको स्वीकार करें या न करें पर यह बात निश्चित है कि उन प्राचीन भारतीय आर्योंमें भी जैनधर्मका प्रचार था। उपनिषदों × से ज्ञात होता है कि एक बार नारद मुनि राजा सनत्कुमारकी राजसभामें आत्मविद्याके परिज्ञानमें दीक्षित होने के लिये गये। वहाँ नारदमुनि कहते हैं कि यद्यपि मैं वैदिक विद्याको भले प्रकार जानता हूँ तथापि (Eastern Arya) प्राच्य आर्योंकी आत्मविद्या या परविद्यासे अनभिज्ञ हूँ जो कुरु पंचाल आर्योंकी अपरविद्या या वैदिकज्ञानके प्रतिकूल है। आत्मविद्यामें ही वैदिक यज्ञों (बलिदान) को निरर्थक और आत्माके विकास (Evolution of the soul) के लिए हानिकारक बताकर उनकी घोर निन्दा की है। यहां यह भी विचारणीय है कि गांगेय उपत्यकाके अधिवासियों या प्राच्यार्यों Eastern Aryans जो काशी, कोशल, विदेह और मगधमें वास करने वाले थे उनको याज्ञवल्क्यने भ्रष्ट और भिन्नमतावलम्बी कहा है। इसका कारण यही था कि पूर्व देशीय आर्य वैदिक हिंसामय यज्ञोंकी केवल निन्दा ही नहीं करते थे वरन् साथ साथ यह भी कहते थे कि इन यज्ञोंको करना पाप है और इनका परित्याग करना धर्म है। वाजसनेही संहिता भी यही सूचना है। अतः इसमें

ॐ देवसेनकृत दर्शनसार (वि० सं० ६६० का) श्लोक २४, २८

× prof A. chakravurty-Jain gazette vol. XIX NO. 3 p. 91.

बंगीय जैन पुरावृत्त
राजशाही
पबना
नदिया
जैसोर
फरीदपुर
मैमनसिंह
मिदनापुर
२४ परगना
हुगली
बंगोपसागर

नेपाल
भूटान
सिक्किम
दार्जिलिंग
प्राग्ज्योतिष
जलपाइगुड़ी
ग्वालपाड़ा
कामरूप
कूचबिहार
ब्रह्मपुत्र
मुजफ्फरपुर
दरभंगा
पूर्णिया
गंगा
दिनाजपुर
कोटीवर्ष
रंगपुर
गारो पहाड़ी
शिलांग
पटना
मुंगेर
भागलपुर
अङ्ग
गया
मालदा
बोगड़ा
मैमनसिंह
श्रीहट्ट
पारसनाथ
संथाल परगना
राजशाही
वरेन्द्री
हजारीबाग
उत्तरराढ़ा
मुर्शिदाबाद
पबना
पलामू
वीरभूमि
दक्षिणराढ़ा
ढाका
त्रिपुरा
राँची
मानभूमि
बाँकुड़ा
वर्द्धमान
जेसोर
कोमिल्ला
फरीदपुर
हुगली
खिदरपुर
नोआखाली
सिंहभूमि
कलकत्ता
खुलना
बाकरगंज
मेदिनीपुर
चौबीस-परगना
सुन्दर वन
ताम्रलिप्ति
तामलुक
मोरभंज
क्योंझर
बामरा
सुन्दरवन
बङ्गोप सागर
बङ्गदेश
बालासोर
मील ५० २५ ० ५० १०० १५० मील
कटक
महानदी

बंगाल का मानचित्र

संदेह नहीं है कि ये आत्माकी श्रेष्ठताके प्रचारक आर्य जैनधर्मावलम्बी थे।

आर्य राजगणोंके अधःपतनके पूर्व उत्तरापथके पूर्वाञ्चलमें आर्यधर्मके विरुद्ध देशव्यापी प्रबल आन्दोलन उपस्थित हुआ था और उसके फलस्वरूप जैनधर्मका विस्तार और प्रभाव बढ़ गया तथा बौद्धधर्मका जन्म हुआ। उस समय मगध † के राजगण जैन और बौद्धधर्मावलम्बी थे। इसीसे उनको भी शूद्र जातीय और अनार्य कहा है तथा उस समय इन दोनों धर्मोंका प्राबल्य आर्यावर्त्तके पूर्वांशमें जोरोंसे था इसीसे 'विन्ध्यस्योत्तरे भागे' आदि श्लोकोंकी रचना कर उन प्रदेशोंकी यात्रा वर्जित करदी गई थी।

प्रसिद्ध पुरातत्त्व विद् बा० राखालदास वन्द्योपाध्यायने अपने बंगालके इतिहासमें पृष्ठ २८/२९ पर लिखा है कि—"जैनधर्मके २४ तीर्थंकरोंमें १४ ❀ तीर्थंकरोंने मगध और बंगालसे निर्वाण लाभ किया था। २४ तीर्थंकरोंमें १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ और २१ वें तीर्थंकर नमिनाथने मिथिलामें और २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथने राजगृहमें और २४ वें तीर्थंकर महावीर वर्द्धमानने वैशाली × नगरमें जन्म लिया था। २४ तीर्थंकरोंमे द्वादश † तीर्थंकरोंने सम्मेशिखर तथा पार्श्वनाथ पर्वत पर निर्वाण लाभ किया था। द्वितीय = तीर्थंकर वासुपूज्यने चम्पा नगरसे और २४ वें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीरने आपापा पुरीसे‡ निर्वाणलाभ किया था। ये दोनों नगर अंग और मगध देशमें अवस्थित हैं। जैन और बौद्धधर्मके इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे स्पष्ट बोध होता है कि दीर्घकाल-व्यापी विवादके बाद सनातन आर्यधर्मके विरुद्ध वादी यह नूतन धर्मद्वय भारतवर्षमें प्रतिष्ठा लाभ करनेमें समर्थ हुए थे। २४ वें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीरके आविर्भावके पूर्व मगध और अंग छोटे छोटे खण्ड राज्योंमें विभक्त थे। गौतमबुद्ध और महावीर वर्द्धमानकी निर्वाणप्राप्तिके अति अल्पकाल बाद ही शिशुनाग वंशीय महानन्दके पुत्र महापद्मनन्द भारतके समस्त क्षत्रिय कुलको निर्मूल कर एकछत्र सम्राट् हुए थे। इस समयसे लेकर गुप्तराज वंशके अधःपतन पर्यन्त मगध राज्य उत्तरापथमें एकछत्र सम्राट् रूपसे पूजित होते रहे और पाटलीपुत्रही सम्राट् की एक मात्र राजधानी थी।"

श्रीमान डाक्टर भण्डारकर × ने लिखा है कि यह सत्य है कि ब्राह्मण-धर्मको बंगालमें फैलनेके लिए बहुत समय लगा था। अभी तक ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जिससे यह सिद्ध किया जासके कि ब्राह्मण धर्मका आधिपत्य गुप्तकालके पूर्व इस प्रान्तमें था। प्राचीन बंगालमें आर्य सभ्यताका विस्तार प्रथम जैनों-द्वारा हुआ था। प्राचीन जैनग्रन्थोंमें बंगालके ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष और पुण्ड्रवर्द्धन ऐसे तीन स्थानोंके नामसे जैन संघोंका नाम प्रचलित हुआ मिलता है। इनमें "ताम्रलिप्ति" वर्तमान मेदिनीपुर जिलेका तामलुक है, 'कोटिवर्ष" दीनाजपुर जिलेका बाणगढ़ है और 'पुण्ड्रवर्द्धन बोगड़ा जिलेका महास्थान है। यह एक विचित्र बात है कि अपने धर्ममें दीक्षित करनेका कार्य्य-क्षेत्र बिहार और कोशलको बुद्ध और उनके अनुयायियोंने बनाया था और महावीर और उनके अनुयायियोंने इस कार्य्यके लिए बंगालको मनोनीत किया था। यह सत्य है कि इस मूल जैनधर्मके चिन्ह अब बङ्गालमें नहीं बचे हैं किन्तु खृष्टीय (ईसाकी) सप्तम शताब्दीके मध्यभाग तक पुण्ड्रवर्द्धनमें अनेक निर्ग्रन्थ जैनोंका अस्तित्वसे ह्यूऐनत्सांग नामक चीनी यात्रीके विवरणसे ❀ प्रमाणित होता है। पाहाड़पुर (बंगाल) में जो खृष्टीय पंचम शताब्दीका ताम्रशासन प्राप्त हुआ है उसमें एक विहारके अर्हन्तोंकी पूजाके लिए निर्ग्रन्थाचार्य गुहनन्दिके शिष्योंको एक दानकी वार्ता है।

† सभी पूर्वकालीन और परवर्ती वैदिक ग्रन्थोंमें मागधोंके प्रति विद्वेष प्रदर्शन किया गया है। स्मृति साहित्य में भी मगधकी गणना उन देशोंमें की है जिनमें जाना निषेध किया गया है तथा वहाँ जाने पर प्रायश्चित करना निर्देश किया गया है J. N. Samaddar, The Glories of magadh p.6.)

❀ की जगह २२ होने चाहिए।

× कुंडग्राम या कुंडपुरमें।

† विंशत। = १२ वें‡ पावापुरी।

× Ep. Ind. Vol xxvi, p 90 and J. A. S. B. xxviii [N. S.] p, 125

❀ S. Beal's-Buddhist Records of the Western World-London 1906.

खृष्टीय सप्तम शताब्दी तक बंगालमें जैनधर्म प्रचलित था इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। और इन्हीं जैनोंने ही प्राचीन बंगालमें सर्व प्रथम और मौर्यकालमें आर्यसभ्यता का प्रचार किया था।

मौर्यकालमें पुण्ड्रवर्द्धनमें जैनधर्म अतिप्रबल था; यह बात दिव्यावदानकी कथासे अवगत होती है। इसमें लिखा है कि यह जानकर कि जैनोंने निर्ग्रन्थके पाँय पड़ती हुई बुद्धकी एक प्रति मूर्ति चित्रितकी है, राजा अशोकने सर्व आजीवकों (जैनों) की हत्या कर देनेका आदेश दे दिया और १८०० आजीवक एक दिनमें वध कर दिये गये ×।

बंगालके प्रसिद्ध साहित्यक बा० दिनेशचन्द्रसेनने अपने "वृहत बंग" [पृष्ठ ६-११] में लिखा है कि कृष्णाके ज्ञाति २२वें तीर्थंकर नेमिनाथने † अंग बंग प्रभृति देशमें आकर ब्राह्मणधर्मके प्रति विद्रोहके भावकी शिक्षा दी। उन्होंने इन सब देशोंमें जैनधर्मका विशेषकर प्रचार किया एक समय जैन और बौद्ध धर्मके बान [बाण] से पूर्व भारत बह गया था। सुतरां ब्राह्मणोंने इन दोनों धर्मों-को इस देशमे निकाल देनेके लिए अनेक चेष्टाएँ की। अस्तु, ब्राह्मणोंने अपने प्राचीन शास्त्रोंमें अनेक श्लोक प्रक्षिप्तकर समस्त पूर्व भारतको अत्यन्त लांच्छित कर दिया था। अंग, बंग, कलिंग, मगध और यहाँ तक कि सौराष्ट्र पर्यन्त वृहत् जनपदको इन्होंने आर्यमण्डली-के बहिर्भूत कहकर निर्देश किया और यह व्यवस्था दी कि जो तीर्थयात्रा उपलक्ष-भिन्न इन सब देशोंमें जावेंगे वे प्रायश्चित्त कर स्वदेशमें लौट सकेंगे। यथा:—

"अंग-बंग-कलिंगेषु सौराष्ट्रे मगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गच्छन्‌: पुन.सस्कारमर्हति ॥"

एक समय जिन सर्व स्थानों पर ऋषियोंने तीर्थस्थान किया था, परवर्ति युगमें वे निषिद्ध राज्य परिगणित और परि-त्यक्त क्यों हुए? इसका उत्तर यह है कि "जैन और बौद्ध-धर्मकी हवाने बह कर हिन्दुओंकी दृष्टिमें इस देशको दूषित कर दिया था। तीर्थंकर चूडामणि पार्श्वनाथने ※ पुंड्र, राढ़ और ताम्रलिप्ति प्रदेशोंमें चातुर्याम धर्मके प्रचार-पूर्वक कल्पसूत्रकी शिक्षा दे यज्ञ और कर्मकाण्डमय ब्राह्मण धर्मकी विद्रोह घोषणा की। इसीलिये हिन्दुओं द्वारा यह देश निषिद्ध हुआ। जो मगध और कलिंग प्रभृति देश भारतके इतिहासके सर्वश्रेष्ठ गौरव हैं उनको अनार्य घोषणा करना घोर असूयाका फल है।"

'हिन्दुओंने बौद्धधर्म और जैनधर्मको केवल नष्ट कर ही छोड़ नहीं दिया, वे दोनों हाथोंमे बौद्ध और जैन-भण्डारोंको लूट कर समस्त लुंठित द्रव्यके ऊपर निज निज नामांकरकी छाप देकर उसको सर्वतोभावसे निजस्व कर लिया। हिन्दुओंके परवर्ति न्यायदर्शन, धर्मशास्त्र प्रभृति समस्त विषयोंमें इस लूटका परिचय है—कहीं भी ऋण स्वीकार नहीं है। इस प्रकार हिन्दुओंने बौद्ध (और जैन) धर्मके इतिहासका विलोप साधन किया है। आगे चल कर दिनेश बाबूने (पृष्ठ ३१६) पर लिखा है कि हमारा देश (बंग) एक हजार या बारहसौ वर्ष पूर्व बौद्ध और जैनधर्मकी बदस्तूर आदत थी; किन्तु उस सम्बन्धमें हम लोग बिल्कुल अज्ञ और उदासीन हैं। जैन और बौद्ध देवताओंके विग्रह बंगालके गाँव-गाँवमें पाई जाती हैं किंतु वे बौद्ध व जैनधर्मके अन्तर्गत हैं यह कब किसने विचार किया है। किसी स्थान पर दिगम्बर तीर्थंकर शिवरूपसे पूजित हो रहे हैं। केवल बौद्ध धर्मके प्रति ही नहीं जैनोंके प्रति भी ब्राह्मण विद्वेष प्रचलित था। 'हस्तिनापीड्य मानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम् ॥' इस एक ही वाक्यसे वह विद्वेष विशेष भावसे व्यक्त हो जाता है। दाक्षिणात्य शैवोंने बौद्ध और जैनोंके मस्तक छेदन कर किस रूप निष्ठुर भावसे उनके मतका ध्वंस किया था यह स्थानान्तर पर लिखा जावेगा।

'जैन और बौद्धोंके अधिकार कालमें प्राणीहिंसा मूलक यज्ञादि बहु परिमाणमें मुक्त होगये थे। हमारा यह बृहत् बंग पहिलेसे ही नव ब्राह्मण नेता कृष्णका विद्वेषी था। यहाँ कृष्ण विरोधी दलकी चेष्टासे यज्ञाग्नि बहुकालके लिये निर्वापित होगई थी ×

"एक समय स्वयं पार्श्वनाथने इस देशमें बहुवत्सर धर्म प्रचार किया था। एवं इस देशमें विशेष कर सुन्दर-वन विक्रमपुर और मानभूमके अंचल पर अनेक लोगोंने

× Divyavadana Ed. by Cowell and Neill p 427.

† नेमिनाथ कृष्णके संपर्क भ्राता (ताऊके लड़के थे) ले०

※ पार्श्वनाथ भगवान महावीरसे २५० वर्ष पूर्व हुए थे।

× बृहत् बंग पृष्ठ ४४।

इस धर्मका अवलम्बन किया था। अनेक बंग-पल्लियोंमें तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। यह धर्म उस समय कितना व्यापक हो गया था यह इससे भली प्रकार जाना जाता है। हमारे देशमें त्याग और दयाधर्मका जो अपूर्व अभिनय हुआ है उससे इतिहासज्ञ पाठक मात्र अवगत हैं। अभी भी बंगाली वैष्णवोंके घरोंमें रक्तका नाम लेनेसे ही नहीं 'काटा' शब्द ही उनके अभिधानमें नहीं है? तरकारी 'काटने' को ये लोग 'बनाओ' कहते हैं। जीव-दयाकी नीति क्या उस आदि कालसे ही इस देशमें इसी प्रकार चली आई है।"

बाबू दिनेशचन्द्र सेनने लिखा है † कि जैन कवियों-ने रामायणकी जिन कथाओंका वर्णन किया है वे एक समय बंगालमें अवश्य प्रचलित थीं, अतः इसीलिए बंगला रामायणोंमें उन अतिरिक्त कथाओंका समावेश हुआ है।

बंगालमें ब्राह्मण धर्मके पुनरुत्थानके पूर्वका जो भी साहित्य यहाँ उपलब्ध है उससे यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि उसमें भक्ति पर नहीं पर कर्म पर ही अधिक जोर दिया गया है अर्थात् जैसा करोगे वैसा पावोगे, मनुष्य अपना उद्धार स्वयं ही कर सकता है। सत्य, शौच, संयम, दान, तप, व्रत, ब्रह्मचर्य, प्रतिज्ञापालन आदिको उस समयकी जनता धर्म' मानती थी।

ये सब धार्मिक विश्वास जैनधर्मका पूर्वानुगत प्रभावका द्योतक है। परवर्ती कालीन साहित्यमें भक्तिकी प्रधानता और ब्राह्मणोंका प्रभाव पाया जाता है कारण उस समय जैनधर्म यहाँसे लुप्तप्राय: हो चला और ईश्वरभक्ति और ब्राह्मणोंमे ईश्वर तुल्य शक्तिके मानने वालोंकी संख्या बढ़ गई थी।

क्रमशः

† The Bengali Ramayanas p. 207

४२५ रु० के दो नये पुरस्कार

जो कोई विद्वान्, चाहे वे जैन हों या जैनेतर, निम्न विषयोंमें से किसी भी विषयपर अपना उत्तम निबन्ध हिन्दीमें लिखकर या दूसरी भाषामें लिखे जाने पर उसे हिन्दीमें अनुवादित कराकर भेजनेकी कृपा करेंगे उनमेंसे प्रथम विषयके सर्वश्रेष्ठ लेखकको १२५) रुपये और दूसरे विषयके सर्वश्रेष्ठ लेखकको ३००) रुपये बतौर पुरस्कारके वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टकी मार्फत सादर भेंट किये जाएंगे। जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमें न हों अथवा उसे लेना नहीं चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा। उन्हें अपने इष्ट एवं अधिकृत विषयपर लोकहितकी दृष्टिसे निबन्ध लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये। प्रथम विषयका निबन्ध फुलस्केप साइजके २५ पृष्ठों अथवा ८०० पंक्तियोंसे कमका नहीं होना चाहिये और उसे ३१ दिसम्बर सन् १९५३ तक विज्ञापकके पास निम्न पतेपर रजिस्ट्रीसे भेज देना चाहिये। यदि सब लेखक चाहेंगे तो इस समया-वधि में कुछ वृद्धि भी की जा सकेगी।

जो सज्जन किसी भी विषयके पुरस्कारकी रकममें अपनी ओरसे कुछ वृद्धि करना चाहेंगे तो वह वृद्धि यदि २५) से कमकी नहीं होगी तो स्वीकारकी जायगी और वह बढ़ी हुई रकमभी पुरस्कृत व्यक्तिको उनकी ओरसे भेंटकी जायगी। पुरस्कृत लेखोंको छपाकर प्रकाशित करनेका वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टको पूर्ण अधि-कार होगा। जो विद्वान् किसी भी निबन्धको लिखना चाहें वे अपने नाम तथा पतेकी सूचना काफी समय पहलेसे कर देनेकी कृपा करें, जिससे आवश्यकता होनेपर निबन्ध-सम्बन्धी कोई विशेष सूचना उन्हें दी जा सके। विषयोंके नाम और तत्सम्बन्धी कुछ सूचनाएं इस प्रकार हैं:—

१. सर्वज्ञका संभाव्यरूप

इस निबन्धमें सर्वज्ञकी सिद्धिपूर्वक सर्वज्ञके उस रूपको स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत है जो सब प्रकारसे संभाव्य हो। सर्वज्ञकी सिद्धिमें उन सब शंकाओं तथा युक्तियोंका पूरा समाधान होना चाहिये जिन्हें सर्वज्ञाऽभाववादी सर्वज्ञताके विरोधमें प्रस्तुत

करते हैं। सर्वज्ञके संभाव्यरूपको बतलानेमें पहले उन सब रूपोंकी चर्चा आ जानी चाहिये जिन्हें विभिन्न सर्वज्ञवादी अपने-अपने मतानुसार अपनाए हुए हैं, फिर उनमेंसे कौन रूप कितने अंशोंमें संभाव्य है और कितने अंशोंमें संभाव्य नहीं है इसे अच्छे युक्ति-बलके साथ प्रदर्शित करना चाहिये और अन्तमें स्पष्टीकरणके साथ सर्वज्ञके उस रूपको सामने रखना चाहिये जो सब प्रकारसे संभाव्य एवं अबाध्य हो। स्पष्टीकरणमें निम्न विषयोंका स्पष्ट होना आवश्यक है :—

(१) 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' इस सामान्य निरुक्तिके अनुसार क्या सर्वज्ञ किसी एक ही द्रव्य या पदार्थ को—जैसे जीवात्मा को—पूर्णरूपसे जानता है और इसी दृष्टिसे वह सर्वज्ञ है अथवा सब द्रव्यों-पदार्थोंको वह जानता है, इस दृष्टिसे सर्वज्ञ है?

(२) सर्व द्रव्य-पदार्थोंको वह जातिके रूपमें जानता है या व्यक्तिके रूपमें? यदि व्यक्तिके रूपमें जानता है तो क्या अलोक-सहित त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण जड़-चेतन व्यक्तियां उसके ज्ञानमें झलकती हैं?

(३) भूत और भविष्यकालकी व्यक्तियां ज्ञान-दर्पणमें कैसे झलकती हैं, जबकि वर्तमानमें उनका अस्तित्व ही नहीं?

(४) वह सर्व द्रव्य-पदार्थोंको उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंके साथ जानता है या उन सबकी कुछ पर्यायोंको जान लेनेसे भी सर्वज्ञता बन जाती है?

(५ वह सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको युगपत् जानता है या क्रमशः जानता है? यदि क्रमशः जानता है तो प्रथमादि समयोंमें जबतक जानकारी पूरी नहीं होती वह सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है? और जानकारीके पूरा होनेपर यदि वह स्थिर रहती है और ज्ञान फिर सबको युगपत् जाननेमें प्रवृत्त होता है तो फिर शुरूसे ही उसकी युगपत् प्रवृत्तिमें कौन बाधक है, जबकि जैन-मान्यताके अनुसार मोह, ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय नामक चार घातिया कर्मोंके अत्यन्त क्षयसे केवल ज्ञानके रूपमें सर्वज्ञता प्रकट होती है? ऐसी हालतमें सर्वज्ञका क्रमशः जानना कैसे बन सकता है?

(६) 'सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य' इस सूत्रके अनुसार केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों तक सीमित बतलाया है; तब जो न तो द्रव्य है और न किसी द्रव्यकी कोई पर्याय है उन बहुतसी कल्पित-आरोपित बातों तथा आपेक्षिक धर्मों जैसे छोटा बड़ापन नाप-ताल आदि और रिश्ते-नातेकी बातको केवली जानता है या कि नहीं? यदि नहीं जानता तो उसका सर्वज्ञान सीमित हुआ, और जानता है तो किस रूपमें जानता है और उस रूपमें जाननेसे भी वह ज्ञान सीमित होता है या कि नहीं?

(७) जो इन्द्रियज्ञान, स्मृतिज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और नय-निक्षेपादिके रूपमें श्रुतज्ञानके विषय अर्थात् ज्ञेय हैं वे क्या सब केवली सर्वज्ञके ज्ञानके भी विषय एवं ज्ञेय हैं? यदि नहीं हैं तो ज्ञान-ज्ञानके ज्ञेयोंकी विभिन्नता हुई तब सर्वज्ञ सम्पूर्ण ज्ञेयोंको जानने वाला कैसे कहा जा सकता है? उसका महान् ज्ञान अनन्तविषयोंको अपना साक्षात् विषय करने वाला होते हुए भी मर्यादित ठहरता है। इस विषयका निबन्धमें अच्छा ऊहापोह होना चाहिये। साथही, निबन्धको लिखनेसे पहले स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र तथा श्री कुन्दकुन्दके समयसारपर भी एक नजर डाल लेनी चाहिये।

२. समन्तभद्रके एक वाक्यकी विशद-व्याख्या 'तत्त्व-नय-विलास'

स्वामी समन्तभद्रका स्वयंभू स्तोत्र-गत एक पद्य-वाक्य निम्न प्रकार है—

"विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-
विशेषैः प्रत्येकं नियम-विषयैश्चाऽपरिमितैः।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतर-वशात् ॥"

इस पद्यमें सूत्ररूपसे जिनोपदिष्ट तत्त्व-विषयक तथा नय-विषयक जो भारी प्रमेय भरा हुआ अथवा संसूचित है उसे विस्तृत व्याख्याके द्वारा ऐसे सर्वांगीणरूपसे व्यक्त एवं स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत है जिससे संक्षेपमें जिन-शासनका सारा तत्त्व-नय-विलास प्रामाणिकरूपमे सामने आजाए और उस

(शेष पृष्ठ ७४ पर)

सल्लेखना मरण

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

[श्री १०५ पूज्य महामना वर्णीजी का यह लेख सुदीर्घ कालके अनुभव जनित सल्लेखना विषयक-विचारोंका दोहन रूप एक महत्वपूर्ण संकलन है, जो समाधि-मरणके अवसर पर दीपचन्द्रजी वर्णी, ब्र० मंजीलालजी सागर, और बाबा भागीरथजीके पत्रोंमें लिखे गये थे। लेखमें उल्लिखित भावना एवं विचार प्रत्येक मुमुक्षुके लिये उपयोगी, आवश्यक और अनुकरणीय हैं। आशा है पाठक महानुभाव उनसे यथेष्ट लाभ उठानेका यत्न करेंगे। —सम्पादक]

सल्लेखना—

काय और कषायके कृश करनेको ही सल्लेखना (समाधि) कहते हैं। उसमें भी कायकी कृशताकी कोई आवश्यकता नहीं, यह पर वस्तु है। इसको न कृश ही करना और न पुष्ट ही करना, अपने आधीन नहीं। हां, यह स्वाधीन वस्तु है, जो अपनी कषायको कृश करना; क्योंकि उसका उदय आत्मामें होता है। और उसीके कारण हम कृश हो जाते हैं। अर्थात् हमारे ज्ञान दर्शन घाते जाते हैं। और उसके घातसे ज्ञान दर्शनका जो देखना जानना कार्य है वह न होकर इष्टानिष्ट कल्पना सहित देखना जानना होता है। यही तो दुःखका मूल है। अतः आप त्यागकी मुख्यता कर शरीरकी कृशतामें उद्यम न कीजिये रही कषाय कृशकी कथा, सो उसके अर्थ निरन्तर चिद्रूपमें तन्मयता ही उसका प्रयोजन है। औदयिक भावोंका रुकना तो हाथ की बात नहीं, किन्तु औदयिक भावोंको अनात्मीय जान उनमें हर्ष-विषाद न करना ही पुरुषार्थ है। जहाँ अनुकूल साधन हों उन्हें त्यागकर अनुकूल साधन बनानेमें उपयोगका दुरुपयोग है। कल्याणका पथ आत्मा है, न कि बाह्य क्षेत्र। यह बाह्य क्षेत्र तो अनात्मज्ञोंकी दृष्टिमें महत्त्व रखते हैं। चिरकालसे हमारे जैसे जीवोंकी प्रवृत्ति बाह्य साधनोंकी ओर ही मुख्य रही, फल उसका यह हुआ जो आद्यावधि स्वात्म-सुखसे वञ्चित रहे।

मरण

आयुके निषेक पूर्ण होने पर मनुष्य पर्यायका वियोग मरण है। तथा आयुके सद्भावमें पर्यायका सम्बन्ध सो ही जीवन है। जैसे जिस मन्दिरमें हम निवास करते हैं उसके सद्भाव असद्भावमें हमको किसी प्रकारका हानि लाभ नहीं। तब क्यों हर्ष-विषाद कर अपने पवित्र भावोंको कलुषित किया जावे। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्रने नाटक समयसारमें कहा है—

'प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो,
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो च्छिद्यते जातुचित् ॥
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो,
निश्शंकं सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥'

अर्थ– प्राणोंके नाशको मरण कहते हैं। और प्राण इस आत्माका ज्ञान है। वह ज्ञान सत्‌रूप स्वयं ही नित्य होनेके कारण कभी नहीं नष्ट होता है। अतः इस आत्माका कुछ भी मरण नहीं है तो फिर ज्ञानीको मरणका भय कहांसे हो सकता है? वह ज्ञानी स्वयं निःशङ्क होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञानको सदा प्राप्त करता है।

इस प्रकार आप सानन्द ऐसे मरणका प्रयास करना जो परम्परा मासस्तन्यपानसे बच जाओ। इतना सुन्दर अवसर हस्तगत हुआ है, अवश्य इससे लाभ लेना।

आत्मा कल्याणका मन्दिर है

आत्मा ही कल्याणका मन्दिर है अतः पदार्थोंकी किञ्चित् मात्र भी आप अपेक्षा न करें। अब पुस्तक द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। अब तो पर्यायमें घोर परिश्रम कर स्वरूपके अर्थ मोक्षमार्गका अभ्यास करना उचित है। अब उसी ज्ञान शस्त्रको रागद्वेष शत्रुओंके ऊपर निपात करनेकी आवश्यकता है। यह कार्य उपदेष्टाका है और न समाधिकरणमें सहायक पण्डितोंका है।

अब तो अन्य कथाओंके श्रवण करनेमें समय को न देकर उस शत्रु सेनाके पराजय करनेमें सावधान हो कर प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि निमित्तको प्रधान मानने वाले तर्क द्वारा बहुत-सी आपत्ति इस विषयमें ला सकते हैं। फिर भी कार्य करना अन्तमें तो आप ही का कर्त्तव्य होगा। अतः जब तक आपकी चेतना सावधान है, निरन्तर स्वात्मस्वरूपके चिन्तवनमें लगा दो।

श्री परमेष्ठीका भी स्मरण करो, किन्तु ज्ञायककी ओर लक्ष्य रखना; क्योंकि मैं 'ज्ञाता दृष्टा' हूँ, ज्ञेय भिन्न हैं, उसमें निष्टानिष्ट विकल्प न हो, यही पुरुषार्थ करना और अन्तरङ्गमें मूर्छा (ममता) न करना। तथा रागादिक भावोंको तथा उसके वक्ताओंको दूर ही से त्यागना। मुझे आनन्द इस बातका है कि आप निःशल्य हैं। यही आपके कल्याणकी परमौषधि है।

शरीर नश्वर है

जहाँ तक हो सके इस समय शारीरिक अवस्थाकी ओर दृष्टि न देकर निजात्माकी ओर लक्ष्य देकर उसीके स्वास्थ्य लाभकी औषधिका प्रयत्न करना। शरीर पर द्रव्य है उसकी कोई भी अवस्था हो उसका ज्ञाता दृष्टा ही रहना। सो ही समयसारमें कहा है—

'को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥'२०७

भावार्थ—यह पर द्रव्य मेरा है ऐसा ज्ञानी पण्डित नहीं कह सकता, क्योंकि ज्ञानी जीव तो आत्माको ही स्वकीय परिग्रह मानता या समझता है।

यद्यपि विजातीय दो द्रव्योंसे मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति हुई है किन्तु विजातीय दो द्रव्य मिलकर सुधा हरिद्रावत् एक रूप नहीं परिणमें हैं। वहाँ तो वर्ण गुण दोनोंका एक रूप परिणमना कोई आपत्तिजनक नहीं है किन्तु यहां पर एक चेतन और अन्य अचेतन द्रव्य हैं। इनका एक रूप परिणमना न्याय प्रतिकूल है। पुद्गलके निमित्तको प्राप्त होकर आत्मा रागादिकरूप परिणम जाता है फिर भी रागादिकभाव औदयिक हैं। अतः बन्धजनक है, आत्माको दुःखजनक हैं, अतः हेय हैं। परन्तु शरीरका परिणमन आत्मासे भिन्न है, अतः न वह हेय है और न वह उपादेय है। इसही को समयसारमें श्री महर्षि कुन्दकुन्दाचार्यने निर्जराधिकारमें लिखा है।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०९

अर्थ—यह शरीर छिद जाओ अथवा भिद जाओ अथवा ले जाओ अथवा नाश हो जावे, जैसे तैसे हो जाओ तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है।

इसीसे सम्यग्दृष्टिके परद्रव्यके नाना प्रकारके परिणमन होते हुए भी हर्ष-विषाद नहीं होता। अतः आपको भी इस समय शरीरकी क्षीण अवस्था होते हुए कोई भी विकल्प न कर तटस्थ ही रहना हितकर है।

चरणानुयोगमें, जो परद्रव्योंको शुभाशुभमें निमित्तत्वकी अपेक्षा हेयोपादेयकी व्यवस्था की है, वह अल्पज्ञके अर्थ है। आप तो विज्ञ हैं। अध्यवसानको ही बन्धका जनक समझ उसीके त्यागकी भावना करना और निरन्तर ऐसा विचार करना कि ज्ञान दर्शनात्मक जो आत्मा है वही उपादेय है। शेष जो बाह्य पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं।

आपके शरीर की अवस्था प्रतिदिन क्षीण हो रही है इसका ह्रास होना स्वाभाविक है। इसके ह्रास और वृद्धिसे हमारा कोई घात नहीं, ज्ञानाभ्यासी स्वयं जानते हैं। अथवा मान लीजिये कि शरीरके शैथिल्यसे तद् अवयवभूत इन्द्रियादिक भी शिथिल हो जाती हैं तथा द्रव्येन्द्रियके विकृत भावसे भावेन्द्रिय स्वकीय कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती है किन्तु मोहनीय उपशम जन्य सम्यक्त्वकी इसमें क्या विराधना हुई? मनुष्य जिसकाल शयन करता है उस काल जाग्रत अवस्थाके सदृश ज्ञान नहीं रहता किन्तु जो सम्यग्दर्शन गुण संसारका अन्तक है उसका आंशिक भी घात नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन माना है जहाँ केवल तेजस कार्माण शरीर हैं। उत्तरकालीन शरीरकी पूर्णता भी नहीं। तथा आहारादि वर्गणाके अभावमें भी सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। अतः आप इस बातकी रञ्चमात्र आकुलता न करें कि हमारा शरीर क्षीण हो रहा है, क्योंकि शरीर पर द्रव्य है; उसके सम्बन्धसे जो कोई कार्य होने वाला है वह हो अथवा न हो, परन्तु जो वस्तु आत्मा ही से समन्वित है उसकी क्षति करने वाला कोई नहीं, उसकी रक्षा है तो संसार तट समीप ही है। विशेष बात यह है कि चरणानुयोगकी

पद्धतिमें समाधिके बाह्य संयोग अच्छे होना विधेय है किन्तु परमार्थ दृष्टिसे निज प्रबलतम श्रद्धानही कार्यकर है आप जानते हैं कि कितने ही प्रबल ज्ञानियोंका समागम रहे किन्तु समाधिकर्ताको उनके उपदेश श्रवण कर विचार तो स्वयं ही करना पड़ेगा। जो मैं एक हूँ, रागादिक शून्य हूँ, यह जो सामग्री देख रहा हूँ परजन्य है, हेय है, उपादेय निज ही है। परमात्माके गुणगानसे परमात्मा द्वारा परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलनेसे ही उस पदका लाभ निश्चित है अतः सर्व प्रकारके झंझटोंको छोड़कर अब तो केवल वीतराग निर्दिष्ट पथ पर ही आभ्यन्तर परिणामसे आरूढ़ हो जाओ बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहां तक निजभावमें बाधा न पहुँचे। अपने परिणामोंके परिणमनको देखकर ही त्याग करना; क्योंकि जैन सिद्धान्तमें सत्य-पथ मूर्छा त्याग वालेके ही होता है। अतः जो जन्मभर मोक्षमार्गका अध्ययन किया उसके फलका समय है उसे सावधानतया उपयोगमें लाना। यदि कोई महानुभाव अन्तमें दिगम्बर पदकी सम्मति देवें तब अपनी अभ्यन्तर विचारधारासे कार्य लेना। वास्तवमें अन्तरङ्ग बुद्धिपूर्वक मूर्छा न हो तभी उस पदके पात्र बनना। इसका भी खेद न करना कि हम शक्तिहीन हो गये अन्यथा अच्छी तरह यह कार्य सम्पन्न करते, हीन शक्ति शरीरकी दुर्बलता है। आभ्यन्तर श्रद्धामें दुर्बलता न हो। अतः निरन्तर यही भावना रखना।

'एगो मे सासदो आदा णाण दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥'

अर्थ—एक मेरा शाश्वत आत्माज्ञान-दर्शन लक्षणमयी है शेष जो बाहिरी भाव हैं वे मेरे नहीं है सर्वसंयोगी भाव हैं।

अतः जहाँ तक बने स्वयं आप समाधान पूर्वक अन्यको समाधिका उपदेश करना कि समाधिस्थ आत्मा अनन्त शक्तिशाली है तब यह कौनसा विशिष्ट कार्य है। वह तो उन शत्रुओंको चूर्ण कर देता है जो अनन्त संसारके कारण हैं।

जिनागमकी नौका पर चढ़ चलिये

इस संसार समुद्रमें गोते खाने वाले जीवोंको केवल जिनागम ही नौका है। उसका जिन भव्य प्राणियोंने आश्रय लिया है वे अवश्य एक दिन पार होंगे। परन्तु क्या करें, निरन्तर इसी चिंतामें रहते हैं कि कब ऐसा शुभ समय आवे जो वास्तवमें हम इसके पात्र हों, अभी हम इसके पात्र नहीं हुए, अन्यथा तुच्छ-सी तुच्छ बातोंमें नाना कल्पनायें करते हुए दुःखी न होते।

रागादिकको दूर कीजिये

हमारा और आपका मुख्य कर्त्तव्य रागादिकके दूर करनेका ही निरन्तर रहना चाहिए, आगमज्ञान और श्रद्धाके बिना संयतत्त्व भावके मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं, अतः सब प्रयत्नका यही सार होना चाहिये जो रागादिक भावोंका अस्तित्व आत्मामें न रहे। ज्ञान वस्तुका परिचय करा देता है अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानका फल है किन्तु ज्ञानका फल उपेक्षा नहीं, उपेक्षा फल चारित्रका है। ज्ञानमें आरोपसे वह फल कहा जाता है। जन्म भर मोक्ष मार्ग विषयका ज्ञान सम्पादन किया अब एक बार उपयोगमें लाकर उसका आस्वाद लो। आजकल चरणानुयोगका अभिप्राय लोगोंने परवस्तुके त्याग और ग्रहणमें ही समझ रखा है सो नहीं। चरणानुयोगका मुख्य प्रयोजन तो स्वकीय रागादिकके मेटनेका है परन्तु वह पर वस्तुके सम्बन्धसे होते हैं अर्थात् पर वस्तु उसका नोकर्म होती है अतः उसको त्याग करते हैं। सबसे ममत्व हटानेकी चेष्टा करो; यही पार होनेकी नौका है। जब परमें ममत्व भाव घटेगा तब स्वयमेव निराश्रव अहंबुद्धि घट जावेगी, क्योंकि ममत्व और अहङ्कारका अविनाभावी सम्बन्ध है; एकके बिना अन्य नहीं रहता। सर्वत्याग कर दिया परन्तु कुछ भी शान्तिका अंश न पाया। उपवासादिक करके शान्ति न मिली, परकी निन्दा और आत्मप्रशंसासे भी आनन्दका अँकुर न उगा, भोजनादिकी प्रक्रियासे भी लेशमात्र शान्तिको न पाया। अतः यही निश्चय किया कि रागादिक गये बिना शान्तिकी उद्भूति नहीं। अतः सर्व व्यापार उसीके निवारणमें लगा देना ही शान्तिका उपाय है। वाग्जालके लिखनेसे कुछ भी सार नहीं।

वास्तवमें आत्माके शत्रु तो राग-द्वेष और मोह हैं। जो इसे निरन्तर इस दुःखमय संसारमें भ्रमण करा रहे हैं। अतः आवश्यकता इसकी है कि जो राग-द्वेषके आधीन न होकर आत्मोत्थ परमानन्दकी ओर ही हमारा प्रयत्न सतत रहना श्रेयस्कर है।

औदयिक रागादि होवें इसका कुछ भी रंज नहीं करना चाहिये। रागादिकोंका होना रुचिकर नहीं होना चाहिये। बड़े-बड़े ज्ञानीजनोंके राग होता है। परन्तु उस रागमें रंजकताके अभावसे आगे उसकी परिपाटी रोधका (रोकनेका) आत्माको अनायास अवसर मिल जाता है। इस प्रकार औदयिक रागादिकोंकी सन्तानका अपचय (विनाश) होते-होते एक दिन समूल तलसे उसका अभाव हो जाता है और तब आत्मा स्वच्छस्वरूप होकर इन संसारकी यातनाओंका पात्र नहीं होता। मैं आपको क्या लिखूँ? यही मेरी सम्पत्ति है—जो अब विशेष विकल्पोंको त्यागकर जिस उपायसे राग-द्वेषका आशयमें अभाव हो वही आपका व मेरा कर्तव्य है, क्योंकि पर्यायका अवसान है। यद्यपि पर्यायका अवसान तो होगा ही किन्तु फिर भी सम्बोधनके लिये कहा जाता है तथा मूढ़ोंको वास्तविक पदार्थका परिचय न होनेसे बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है।

विचारसे देखिये तब आश्चर्यका स्थान नहीं भौतिक पदार्थोंकी परिणति देखकर बहुतसे जन क्षुब्ध हो जाते हैं। भला जब पदार्थ मात्र अनन्त शक्तियोंके पुँज हैं तब क्या पुद्गलमें वह बात न हो, यह कहाँका न्याय है। आजकल विज्ञानके प्रभावको देख लोगोंकी श्रद्धा पुद्गल द्रव्यमें ही जाग्रत हो गई है। भला यह तो विचारिये, उसका उपयोग किसने किया? जिसने किया उसको न मानना यही तो जड़ भाव है।

बिना रागादिकके कार्माणवर्गणा क्या कर्मादिरूप परिणमन करानेमें समर्थ हो सकती है? तब यो कहिये। अपनी अनन्त शक्तिके विकासका बाधक आप ही मोहकर्म द्वारा हो रहे हैं। फिर भी हम ऐसे अन्धे हैं जो मोहकी महिमा अलाप रहे हैं। मोहमें बलवत्ता देनेवाली शक्तिमान वस्तुकी ओर दृष्टि प्रसार कर देखो तो धन्य उस अचिन्त्य प्रभाव वाले पदार्थको कि जिसकी वक्रदृष्टिको संकोच कर एक समय मात्र सुदृष्टिका अवलम्बन किया कि इस संसारका अस्तित्व ही नहीं रहता। सो ही समयसारमें कहा है—

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो।
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः॥
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः।
स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः॥

अर्थ—एक तरफसे कषाय कालिमा स्पर्श करती है और एक तरफसे शान्ति स्पर्श करती है। एक तरफ संसारका आघात है और एक तरफ मुक्ति है। एक तरफ तीनों लोक प्रकाशमान हैं और एक तरफ चेतन आत्मा प्रकाश कर रहा है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आत्माकी स्वभाव महिमा अद्भुतसे अद्भुत विजयको प्राप्त होती है। इत्यादि अनेक पद्यमय भावोंसे यही अन्तिम करनप्रतिभाका विषय होता है जो आत्मद्रव्य ही की विचित्र महिमा है। चाहे नाना दुःखाकीर्ण जगतमें नाना वेष धारण कर नटरूप बहुरूपिया बने और चाहे स्वनिर्मित सम्पूर्ण लीलाको सम्वरण करके गगनवत् पारमार्थिक निर्मल स्वभाव धारण कर निश्चल तिष्ठे। यही कारण है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि वेदान्ती एकान्त दुराग्रहको छोड़ देवें तब जो कुछ कथन है अक्षरशः सत्य भासमान होने लगे। एकान्तदृष्टि ही अन्धदृष्टि है आप भी अल्प परिश्रमसे कुछ इस ओर आइये। भला यह जो पंच स्थावर और त्रसका समुदाय जगत् दृश्य हो रहा है, क्या है? क्या ब्रह्मका विकार नहीं? अथवा स्वमतकी ओर कुछ दृष्टिका प्रसार कीजिये। तब निमित्त कथनकी मुख्यतासे ये जो रागादिक परिणाम हो रहे है, क्या उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा है? अथवा इन्हें छोड़िये। जहाँ अवधिज्ञानका विषय निरूपण किया है, वहाँ क्षायोपशमभावको भी अवधिज्ञानका विषय कहा है अर्थात्–पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धसे जायमान होनेसे क्षायोपशमिक भाव भी कथञ्चित् रूपी है। केवल ज्ञान-भाव अवधिज्ञानका विषय नहीं; क्योंकि उसमें रूपी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि औदयिक भाववत् क्षायोपशमिक भाव भी कथञ्चित् पुद्गलके सम्बन्धसे जायमान होनेसे मूर्तिमान है न कि रूप-रसादिमत्ता इनमें है। तद्वत् अशुद्धताके सम्बन्धसे जायमान होनेसे यह भौतिक जगत् भी कथञ्चित् ब्रह्मका विकार है। कथञ्चितका यह अर्थ है कि जीवके रागादिक भावोंके ही निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य एकेन्द्रियादि रूप परिणमनको प्राप्त है। अतः जो मनुष्यादि पर्याय हैं वे दो असमान जातीय द्रव्यके सम्बन्धसे निष्पन्न है। न केवल जीवकी हैं और न केवल पुद्गलकी है। किन्तु जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जायमान हैं। तथा यह जो रागादि परिणाम हैं सो न तो केवल जीवके ही हैं और न केवल पुद्गलके

हैं किन्तु उपादानकी अपेक्षा जीवके हैं और निमित्त कारण की अपेक्षा पुद्गलके हैं। और द्रव्यदृष्टिकर देखें तो न पुद्गलके हैं और न जीवके हैं, शुद्धद्रव्यके कथनमें पर्यायकी मुख्यता नहीं रहती। अतः ये गौण हो जाते है। जैसे पुत्र पर्याय स्त्री पुरुष दोनोंके द्वारा सम्पन्न होती है। अस्तु इससे यह निष्कर्ष निकला यह जो पर्याय है, वह केवल जीवकी नहीं किन्तु पौद्गलिक मोहके उदयसे आत्माके चारित्रगुणमें विकार होता है अतः हमें यह न समझना चाहिये कि हमारी इसमें क्या क्षति है? क्षति तो यह हुई, जो आत्माकी वास्तविक परिणति थी वह विकृत भावको प्राप्त हो गई। यही तो क्षति है। परमार्थसे क्षतिका यह आशय है कि आत्मामें रागादिक दोष हो जाते हैं वह न होवें। तब जो उन दोषोंके निमित्तसे यह जीव किसी पदार्थमें अनुकूलता और किसीमें प्रतिकूलताकी कल्पना करता था और उनके परिणमन द्वारा हर्ष-विषाद कर वास्तविक निराकुलता (सुख) के अभावमें आकुलित रहता था। शान्तिके स्वादकी कणिकाको भी नहीं पाता था! अब उन रागादिक दोषोंके असद्भावमें आत्मगुण चारित्रकी स्थिति अकम्प और निर्मल हो जाती है। उसके निर्मल निमित्तको अवलम्बन कर आत्माका चेतन नामक गुण है वह स्वयमेव दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंको तद्रूप हो दृष्टा और ज्ञाता शक्तिशाली होकर आगामी अनन्त काल स्वाभाविक परिणमनशाली आकाशादिवत् अकम्प रहता है। इसीका नाम भावमुक्ति है। अब आत्मामें मोह-निमित्तक जो कलुषता थी वह सर्वथा निर्मूल हो गई, किन्तु अभी जो योग निमित्तक परिस्पन्दन है वह प्रदेश प्रकम्पनको करता ही रहता है। तथा तन्निमित्तक ईर्यापथास्रव भी साता वेदनीयका हुआ करता है। यद्यपि इससे आत्माके स्वाभाविक भावकी क्षति नहीं। फिर भी निरपवर्त्य आयुके सद्भावमें यावत् आयुके निषेक हैं तावत भव-स्थितिको मेटनेको कोई भी क्षम नहीं। तब अन्तर्मुहूर्त आयुका अवसान रहता है। तथा शेष जो नामादिक कर्मकी स्थिति अधिक रहती है, उसकालमें तृतीयशुक्लध्यानके प्रसादसे दण्डकपाटादि द्वारा शेष कर्मोंकी स्थितिको आयु सम कर चतुर्दश गुणस्थानका आरोहण कर नामको प्राप्त करता हुआ लघुपञ्चाक्षरके काल सम गुणस्थानका काल पूर्ण कर चतुर्थ ध्यानके प्रसादसे शेष प्रकृतियोंका नाशकर परम यथाख्यात चारित्रका लाभ करता हुआ, एक समयमें द्रव्य मुक्ति व्यपदेशताको लाभकर, मुक्तिसाम्राज्यलक्ष्मीका भोक्ता होता हुआ लोक शिखरमें विराजमान होकर तीर्थङ्कर प्रभुके ज्ञानका विषय होकर हमारे कल्याणमें सहायक होता है।

परदार्थसे मूर्च्छा छोड़िये

श्रेयोमार्गकी सन्निकटता जहाँ-जहाँ होती है वह वस्तु पूज्य है, अतः हम और आपको बाह्य वस्तुजातमें मूर्च्छाकी कृशता कर आत्मतत्त्वका उत्कर्ष करना चाहिये। ग्रन्थाभ्यासका प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन तक ही नहीं है, साथ ही में पर पदार्थोंसे उपेक्षा होनी चाहिए। आत्मज्ञानकी प्राप्ति और है किन्तु उसकी उपयोगिताका फल और है। मिश्रीकी प्राप्ति और स्वादमें महान् अन्तर है। यदि स्वादका अनुभव न हुआ तब मिश्री पदार्थका मिलना केवल अन्धेकी लालटेनके सदृश है, अतः अब यावान्पुरुषार्थ है वह इसीमें कटिबद्ध होकर लगा देना ही श्रेयस्कर है। जो आगमज्ञानके साथ साथ उपेक्षारूप स्वादका लाभ हो जावे।

विषाद इस बातका है जो वास्तविक आत्मतत्त्वका द्योतक है उसकी उपक्षीणता नहीं होती। उसके अर्थ निरन्तर प्रयास हैं। बाह्यपदार्थका छोड़ना कोई कठिन नहीं। किन्तु यह नियम नहीं कि अध्यवसानके कारण छूटकर भी अध्यवसानकी उत्पत्ति अन्तस्थलमें नहीं होगी। उस वासनाके विरुद्ध शस्त्र चलाकर उसका निपात करना, यद्यपि उपाय निर्दिष्ट किया है, परन्तु फिर भी वह क्या है? केवल शब्दोंकी सुन्दरताको छोड़कर गम्य नहीं दृष्टान्त तो स्पष्ट है, अग्नि-जन्य उष्णता जो जलमें है उसकी भिन्नता तो दृष्टि विषय है। यहाँ तो क्रोधमें जो क्षमाकी अप्रादुर्भूति है वह यावत् क्रोध न जावे तब तक कैसे व्यक्त हो। ऊपरसे क्रोध न करना क्षमाका साधक नहीं; आशयमें वह न रहे यही तो कठिन बात है। रहा उपाय तत्त्वज्ञान, सो तो हम आप सर्व जानते ही हैं किन्तु फिर भी कुछ गूढ़ रहस्य है जो महानुभावोंके समागमकी अपेक्षा रखता है, यदि वह न मिले तब आत्मा ही आत्मा है, उसकी सेवा करना ही उत्तम है। उसकी सेवा क्या है "ज्ञाता दृष्टा" और जो कुछ अतिरिक्त है वह विकृत जानना।

परतन्त्रताके बन्धन तोड़िये

वचन चतुरतासे किसीको मोहित कर लेना पाण्डित्य का परिचायक नहीं! श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने कहा है:—

'किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयण मौण-पहुदी समदारहियस्स समणस्स ॥'

अर्थ—समताके बिना वननिवास और कायक्लेश तथा नाना उपवास तथा अध्ययन मौन आदि कोई उपयोगी नहीं। अतः इन बाह्य साधनोंका मोह व्यर्थ ही है। दीनता और स्व कार्यमें अतत्परता ही मोक्षमार्गका घातक है। जहाँ तक हो इस पराधीनताके भावोंका उच्छेद करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। हा आत्मन्! तूने यह मानव पर्यायको पाकर भी निजतत्त्वकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। केवल इन बाह्य पञ्चेन्द्रिय विषयोंकी प्रवृत्तिमें ही सन्तोष मानकर अपने स्वरूपका अपहरण करके भी लज्जित न हुवा।

तद्विषयक अभिलाषाकी अनुत्पत्ति ही चारित्र है। मोक्षमार्गमें संवरतत्त्वही मुख्य है। निर्जरा तत्त्वकी महिमा इसके बिना स्याद्वादशून्य आगम अथवा जीवनशून्य शरीर अथवा नेत्रहीन मुखकी तरह है। अतः जिन जीवोंको मोक्ष रुचता है उनका यही मुख्यध्येय होना चाहिए कि जो अभिलाषाओंके उत्पादक चरणानुयोगोंकी पद्धति प्रतिपादित साधनोंकी ओर लक्ष्य स्थिर कर निरन्तर स्वात्मोत्थ सुखामृतके अभिलाषी होकर रागादि शत्रुओंकी प्रबल सेनाका विध्वंस करनेमें भगीरथ प्रयत्न कर जन्म सार्थक किया जावे किन्तु व्यर्थ न जावे, इसमें यत्नपर होना चाहिये। कहाँ तक प्रयत्न करना उचित है? जहाँ तक पूर्णज्ञानकी प्राप्ति न हो।

"भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
यावत्तावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥"

अर्थ—यह भेदविज्ञान अखण्डधारासे भावो, जब तक कि परद्रव्यसे रहित होकर ज्ञान ज्ञानमें (अपने स्वरूपमें) न ठहर जाय। क्योंकि सिद्धिका मूलमन्त्र भेदविज्ञान ही है। वही श्री आत्म-तत्त्वरसास्वादी अमृतचन्द्रसूरिने कहा है:—

'भेदविज्ञानतःसिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥'

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बन्धे हैं वे भेद विज्ञानके न होनेसे ही बन्धको प्राप्त हुए हैं।

रामबाण औषधिका सेवन कीजिये

अतः अब इन परनिमित्तक श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके प्रयत्नमें समयका उपयोग न करके स्वावलम्बनकी ओर दृष्टि ही इस जर्जरावस्थामें महती उपयोगिनी रामबाण तुल्य अचूक औषधि है। तदुक्तम्—

'इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्,
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥'

अर्थ—इस तरफ कुछ नहीं है और दूसरी तरफ भी कुछ नहीं है तथा जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ भी कुछ नहीं है। विचार करके देखता हूँ तो यह संसार भी कुछ नहीं है। स्वकीय आत्मज्ञानसे बढ़कर कोई नहीं है।

इसका भाव विचार स्वावलम्बनका शरण ही संसार बन्धनके मोचनका मुख्य उपाय है। मेरी तो यह श्रद्धा है जो संवर ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका मूल है।

मिथ्यात्वकी अनुत्पत्तिका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। और अज्ञानकी अनुत्पत्तिका नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागादिककी अनुत्पत्ति यथाख्यात चारित्र और योगानुत्पत्ति ही परमयथाख्यातचारित्र है। अतः संवर ही दर्शन ज्ञान चारित्राधनाके व्यपदेशको प्राप्त करता है तथा इसका नाम तप है, क्योंकि इच्छानुरोधका नाम ही तप है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि इच्छाका न होना ही तप है। अतः तप आराधना भी यही है। इस प्रकार संवर ही चार आराधना है, अतः जहाँ परमें श्रेयोमार्गकी आकाँक्षाका त्याग है वहाँ श्रेयोमार्ग है।

प्रभु बननेका पुरुषार्थ कीजिये

हमें आवश्यकता इस बातकी है कि प्रभुके उपदेशके अनुकूल प्रभुकी पूर्वावस्थावत आचरण द्वारा प्रभु इव-प्रभुताके पात्र हो जावें। यद्यपि अध्यवसानभाव परनिमित्तक है। यथा—

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन् निमित्तं परसंग एव,
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥

अर्थ—आत्मा, आत्म-सम्बन्धी रागादिककी उत्पत्तिमें स्वयं कदाचित् निमित्तताको प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् आत्मा स्वकीय रागादिकके उत्पन्न होनेमें अपने आप निमित्त कारण नहीं है, किन्तु उनके होनेमें पर वस्तु ही निमित्त है। जैसे अर्ककान्तमणि स्वयं अग्निरूप नहीं परिणमता है किंतु सूर्य किरण उस परिणमनमें कारण है। तथापि परमार्थ तत्त्वकी गावेषणामें वे निमित्त क्या बलात्कार अध्यवसान भावके उत्पादक हो जाते हैं? नहीं, किन्तु हम स्वयं अध्यवसान द्वारा उन्हें विषय करते हैं। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है तब पुरुषार्थ कर उस संसार जनक भावोंके नाशका उद्यम करना ही हम लोगोंका इष्ट होना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिमें निमित्तकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है। और अध्यात्म शास्त्रमें पुरुषार्थकी मुख्यता और उपादानकी मुख्यतासे व्याख्यान पद्धति है। और प्रायः हमें इसी परिपाटीका अनुसरण करना ही विशेष फलप्रद होगा। शरीरकी क्षीणता यद्यपि तत्त्वज्ञानमें बाह्य दृष्टिसे कुछ बाधक है तथापि सम्यग्ज्ञानियोंकी प्रवृत्तिमें उतना बाधक नहीं हो सकती। यदि वेदनाकी अनुभूतिमें विपरीतताकी कणिका न हो तब मेरी समझमें हमारी ज्ञानचेतनाकी कोई क्षति नहीं है।

कहने और लिखने और वाक् चातुर्यमें मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्गका अंकुर तो अन्तःकरणमें निज पदार्थमें ही उदय होता है। उसे यह पर जन्य मन, वचन, काय क्या जानें। यह तो पुद्गल द्रव्यके विलास हैं। जहाँ पर उन पुद्गलोंकी पर्यायोंने ही नाना प्रकारके नाटक दिखा कर उस ज्ञाता दृष्टाको इस संसारमें चक्करका पात्र बना रखा है। अतः अब दीपसे तमोराशिको भेदकर और चन्द्रसे परपदार्थ जन्य आतपको शमन कर सुधा समुद्रमें अवगाहन कर, वास्तविक सच्चिदानन्द होनेकी योग्यताके पात्र बनिये। वह पात्रता आपमें है। केवल साहस करनेका विलम्ब है। अब इस अनादि संसार जननी कायरताको दग्ध करनेसे ही कार्य सिद्धि होगी। निरन्तर चिन्ता करनेसे क्या लाभ? लाभ तो आभ्यन्तर विशुद्धिसे है। विशुद्धिका प्रयोजन भेदज्ञान है।

शास्त्र-स्वाध्याय कीजिये

भेदज्ञानका कारण निरन्तर अध्यात्म ग्रन्थोंकी चिन्तना है। अतः इस दशामें ग्रन्थाध्ययन उपयोगी होगा। उपयोग सरल रीतिसे इसमें संलग्न हो जाता है। उपक्षीण कायमें विशेष परिश्रम करना स्वास्थ्यका बाधक होता है, अतः आप सानन्द निराकुलता पूर्वक धर्मध्यानमें अपना अपना समय यापन कीजिये। शरीरकी दशा तो अब क्षीण सन्मुख हो रही है। जो दशा आपकी है वही प्रायः सबकी है। परन्तु कोई भीतरसे दुःखी है तो कोई बाह्यसे दुःखी है। आपको शारीरिक व्याधि है जो वास्तवमें अघातिकर्म असाताकर्म जन्य है वह आत्मगुणघातक नहीं। आभ्यन्तर व्याधि मोह जन्य होती है। जोकि आत्मगुण घातक है।

स्वाध्याय करिये। और विशेष त्यागके विकल्पमें न पडिये। केवल समादिक परिणामोंके द्वारा ही वास्तविक आत्माका हित होता है। क्या कोई वस्तु नहीं वह आप ही स्वयं कृश हो रही है। उसका क्या विकल्प? भोजन स्वयमेव न्यून हो गया है। जो कारण बाधक है उसे आप बुद्धि पूर्वक स्वयं त्याग रहे हैं। मेरी तो यही भावना है—"प्रभु पार्श्वनाथ स्वरूप परमात्माके ध्यानसे, आपकी आत्माको इस बन्धनके तोड़नेमें अपूर्व सामर्थ्य मिले।"

कल्याणके मूल मन्त्रको मत भूलिये

स्वतन्त्र भाव ही आत्म कल्याणका मूल मन्त्र है। क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टिसे तो सदा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाववाला है कर्म-कलङ्कसे ही मलिन हो रहा है। सो इसके पृथक् करनेकी जो विधि है उस पर आप रूढ हैं। बाह्य क्रियाकी त्रुटि आत्मपरिणामकी बाधक नहीं और न मानना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि जो निन्दा तथा गर्हा करता है, वह अशुद्धोपयोगकी है न कि मन, वचन, कायके व्यापार की।

देहकी दशा जैसी शास्त्रमें प्रतिपादित है तद्नुरूप ही है, परन्तु इससे हमारा क्या घात हुवा? यह हमारी बुद्धिगोचर नहीं हुवा। घटके घातसे दीपकका घात नहीं होता। पदार्थका परिचायक ज्ञान है। उसर ज्ञानमें ऐसी अवस्था शरीर प्रतिभासित होती है एतावत् क्या ज्ञान तद्रूप होगया।

पूर्णाकाच्युत शुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयम्।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादपि॥

तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजा मुंचत्युदासीनताम् ॥'

अर्थ—पूर्ण अद्वितीय नहीं च्युत है शुद्धबोधकी महिमा जिसकी ऐसा जो बोद्धा है वह कभी भी बोध्य पदार्थके निमित्तसे प्रकाश्य (घटादि) पदार्थसे प्रदीपकी तरह किसी भी प्रकारकी विक्रियाको नहीं प्राप्त होता है। इस मर्यादा विषयक बोधमें जिसकी बुद्धि बन्ध्या है वे अज्ञानी है। वे हो रागद्वेषादिकके पात्र होते हैं और स्वाभाविक जो उदासीनता है उसे त्याग देते हैं। आप विज्ञ हैं, कभी भी इस असत्य भावको आलम्बन न दें।

मृत्युसे मत डरिये

अनेकानेक मर चुके तथा मरते हैं। इससे क्या आया एक दिन हमारी भी पर्याय चली जावेगी इसमें कौनसी आश्चर्यकी घटना है। इसको तो आपसे विज्ञ पुरुषोंको विचार कोटिसे पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है।

वेदनासे भयभीत मन होइये

जो वेदना असाताके उदय आदि कारण कूट होने पर उत्पन्न हुई और हमारे ज्ञानमें आयी वह क्या वस्तु है? परमार्थसे विचारा जाय तो यह एक तरहसे सुख गुणमें विकृति हुई, वह हमारे ध्यानमें आयी। उसे हम नहीं चाहते। इसमें कौनसी विपरीतता हुई? विपरीता तो तब होती है जब हम उसे निज मान लेते। विकारज परिणतिको पृथक् करना अप्रशस्त नहीं; अप्रशस्तता तो यदि हम उसीका निरन्तर चिन्तवन करते रहें और निजत्वको विस्मरण होजावें तब है।

अतः जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिलने दो। उसके प्रति आदरभावसे व्यवहार कर ऋणमोचन पुरुषकी तरह आनन्दसे साधुकी तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। निदानको छोड़कर आर्तत्रय षष्ठम गुणस्थान तक होते हैं। थोड़े समय तक अर्जित कर्म आया, फल देकर चला गया। अच्छा हुआ, आकर हलका कर गया। रोगका निकलना ही अच्छा है। मेरी सम्मतिमें निकलना रहनेकी अपेक्षा प्रशस्त है। इसी प्रकार आपकी असाता यदि शरीरकी जीर्ण शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तब आपको बहुतही आनन्द मानना चाहिए। अन्यथा यदि वह अभी न निकलती तब क्या स्वर्गमे निकलती? मेरी दृष्टिमें केवल असाता ही नहीं निकल रही, साथ ही मोहकी अरति आदि प्रकृतियां भी निकल रहीं हैं; क्योंकि आप इस असाताको सुखपूर्वक भोग रहे हैं। शान्तिपूर्वक कर्मोंके रसको भोगना आगामी दुःखकर नहीं।

जितने लिखने वाले और कथन करने वाले तथा कथन कर बाह्य चरणानुयोगके अनुकूल प्रवृत्ति करने वाले तथा आर्षवाक्यों पर श्रद्धालु व्यक्ति हुए हैं, अथवा हैं तथा होंगे, क्या सर्व ही मोक्षमार्गी हैं? मेरी श्रद्धा नहीं। अन्यथा श्री कुन्दकुन्दस्वामीने लिखा है—हे प्रभो! हमारे शत्रुको भी द्रव्यलिंग न हो' इस वाक्यकी चरितार्थता न होती तो काहे को लिखते। अतः परकी प्रवृत्ति देख रञ्चमात्र भी विकल्पको आश्रय न देना ही हमारे लिये हितकर है। आपके ऊपर कुछ भी आपत्ति नहीं, जो आत्महित करने वाले हैं वह शिर पर आग लगाने पर तथा सर्वाङ्ग अग्निमय आभूषण धारण कराने पर तथा मन्त्रादि द्वारा उपद्रित होने पर मोक्ष-लक्ष्मीके पात्र होते हैं। मुझे तो आपकी असाता और श्रद्धा दोनोंको साथ देखकर इतनी प्रसन्नता होती हैं कि हे प्रभो! यह अवसर सबको दे। आपकी केवल श्रद्धा ही नहीं किन्तु आचरण भी अन्यथा नहीं। क्या मुनिको जब तीव्र व्याधिका उदय होता है, तब बाह्य चरणानुयोग आचरणके असद्भावमें क्या उनके छठवां गुण-स्थान चला जाता है? यदि ऐसा है तब उसे समाधिमरणके समय हे मुने! इत्यादि सम्बोधन करके जो उपदेश दिया है वह किस प्रकार संगत होगा। पीड़ा आदिमें चित्त चंचल रहना है इसका क्या यह आशय है कि पीडाका बारम्बार स्मरण हो जाता है। हो जाओ, स्मरण ज्ञान है और जिसकी धारणा होती है उसका बाह्य निमित्त मिलने पर स्मरण होना अनिवार्य है। किन्तु साथमें यह भाव तो रहता है कि यह चंचलता सम्यक् नहीं। परन्तु मेरी समझमें इस पर भी गम्भीर दृष्टि दीजिये। चंचलता तो कुछ बाधक नहीं। साथमें उसके अरतिका उदय और असाताकी भावना रहती है। इसीसे इसको महर्षियोंने आर्त्तध्यानकी कोटिमें गणना की है। क्या इस भावके होनेसे पंचम गुणस्थान मिट जाता है? यदि इस ध्यानके होने पर देशव्रतके विरुद्ध भावका उदय श्रद्धामें नहीं तब मुझे तो दृढतम विश्वास है कि गुणस्थानकी कोईभी क्षति नहीं, तरतमता ही होती है वह भी उसी गुणस्थानमें।

ये विचारे जिन्होंने कुछ नहीं जाना कहां जावेंगे, क्या करें इत्यादि विकल्पोंके पात्र होते हैं—कहीं जाओ हमें इसकी मीमांसासे क्या लाभ ? हम विचारे इस भावसे कहां जावेंगे इस पर ही विचार करना चाहिये।

आपका सच्चिदानन्द जैसा आपकी निर्मल दृष्टिने निर्णीत किया है द्रव्यदृष्टिसे वैसा ही है। परन्तु द्रव्य तो योग्य नहीं, योग्य तो पर्याय है, अतः उसके तात्त्विक स्वरूपके जो बाधक हैं उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करना ही हमारा पुरुषार्थ है।

चोरकी सजा देखकर साधुको भय होना मेरे ज्ञानमें नहीं आता। अतः मिथ्यात्वादि क्रिया संयुक्त प्राणियोंका पतन देख हमें भयभीत होने की कोई भी बात नहीं। हमारे तो जब सम्यक्रत्नत्रयकी तलवार हाथमें आगई है और वह यद्यपि वर्तमानमें मौथरी धारवाली है परन्तु है तो अग्नि। कर्मेन्धनको धीरे धीरे छेदेगी; परन्तु छेदेगी ही। बड़े आनन्दसे जीवनोत्सर्ग करना। अंशमात्र भी आकुलता श्रद्धामें न लाना। प्रभुने अच्छा ही देखा है। अन्यथा उसके मार्ग पर हम लोग न आते। समाधिमरणके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या पर निमित्त ही हैं ? नहीं।

जहां अपने परिणामोंमें शान्ति आई वहीं सभी सामग्री है। उपद्रवहारिणी कल्याण-पथानुसारिणा जो आपकी दृढ़ श्रद्धा है वही कर्म-शत्रु वाहिनीको जयनशीला तीक्ष्ण असिधारा है। उसे संभालिये समाधिमरणकी महिमा अपने ही द्वारा होती है ?

सत्य दान दीजिये।

मरण समय लोग दान करते हैं। वह दान तो ठीक ही है परन्तु सत्य दान तो लोभका त्याग है और उसको मैं चारित्रका अंश मानता हूँ। मूर्छाकी निवृत्ति ही चारित्र है। हमको द्रव्य त्यागमें पुण्यबन्धकी ओर दृष्टि न देनी चाहिये; किन्तु इस द्रव्यसे ममत्व निवृत्ति द्वारा शुद्धोपयोगका वर्धकदान समझना चाहिये। वास्तविक तत्त्व ही निवृत्तिरूप है। जहां उभय पदार्थका बन्ध है वही संसार है। और जहां दोनों वस्तु स्वकीय २ गुण-पर्यायोंमें परिणमन करते हैं वही निवृत्ति है यही सिद्धान्त है। नाटक समयसारमें कहा भी है—

'सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिस्सदैवास्म्यहम्॥
एते येतु समुल्लसन्ति विविधा भावाःपृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नाऽस्मि यतोऽत्र. ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदार चरित्र वाले मोक्षार्थियोंको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्म रहित) चैतन्य स्वरूप परम ज्योति वाला सदैव हूं। तथा ये जो भिन्न लक्षण वाले नाना प्रकारके भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे संपूर्ण परद्रव्य हैं।

इस श्लोकका भाव इतना सुन्दर और रुचिकर है जो हृदयमें आते ही संसारका आताप कहां जाता है पता नहीं लगता।

सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये।

आपके स्वास्थ्यमें आभ्यंतर तो क्षति है नहीं, जो है सो बाह्य है। उसे आप प्रायः वेदन नहीं करते, यही सराहनीय है। धन्य है आपको—जो इस रुग्णावस्थामें भी सावधान हैं। होना ही श्रेयस्कर है। शरीरकी अवस्था अपस्मार वेगवत् वर्धमान हीयमान होनेसे अध्रुव और शीतदाह ज्वरावेश द्वारा अनित्य है। ज्ञानीजनको ऐसा जानना ही मोक्षमार्गका साधक है। कब ऐसा समय आवेगा जो इसमें वेदनाका अवसर ही न आवे। आशा है एक दिन आवेगा। जब आप निश्चितावृत्तिके पात्र होवेंगे। अब अन्य कार्योंसे गौणभाव धारणकर सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये।

अब यह जो शरीर पर है शायद इससे अल्प ही कालमें आपकी पवित्र भावनापूर्ण आत्माका सम्बन्ध छूटकर वैक्रियक शरीरसे सम्बन्ध हो जावे। मुझे यह दृढ़ श्रद्धान है कि आपकी असावधानी शरीरमें होगी, न कि आत्म चिन्तवनमें। असातोदयमें यद्यपि मोहके सद्भावसे विकलताकी सम्भावना है। तथापि आंशिक भी प्रबल मोहके अभावमें चिन्तवनका बाधक नहीं हो सकती। मेरी दृढ़ श्रद्धा है कि आप अवश्य इसी पथ पर होंगे। और अन्त तक दृढ़तम परिणामों द्वारा इन क्षुद्र बाधाओंकी ओर ध्यान भी न देंगे। यही अवसर संसार-लतिकाके घातका है।

देखिये जिस असातादि कर्मोंकी उदीरणाके अर्थ महर्षि लोग उग्रोऽग्र तप धारण करते करते शरीरको इतना कृश बना देते हैं, जो पूर्व लावण्यका अनुमान भी नहीं होता, परन्तु वे आत्म दिव्य-शक्तिसे भूषित ही रहते हैं। आपका भाग्य है जो बिना ही निर्ग्रन्थ पद धारण किये कर्मोंका ऐसा लाघव हो रहा है, स्वयमेव उदयमें आकर पृथक् हो रहे हैं।

आपके ऊपरसे भार पृथक् हो रहा फिर आपके सुखकी अनुभूति तो आप ही जानें। शान्तिका मूल कारण न साता है और न असाता, किन्तु साम्यभाव है। जो कि इस समय आपके हो रहे। अब केवल स्वात्मानुभव ही रसायन पर महौषधि है। कोई कोई तो क्रम-क्रमसे अन्नादिका त्यागकर समाधिमरणका यत्न करते हैं। आपके पुण्योदयसे स्वयमेव वह छूटा। वही न छूटा, साथ-साथ असातोदय द्वारा दु:खजनक सामग्रीका भी अभाव हो रहा है।

अतः हे भाई! आप रंचमात्र क्लेश न करना, वस्तु पूर्व अर्जित है। यदि वह रस देकर स्वयमेव आत्माको लघु बना देती है तो इसमे विशेष और आनन्दका क्या अवसर होगा?

—(वर्णी वाणीसे)

कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण

(आश्रव बंधादि तत्वोंकी एक संक्षिप्त वैज्ञानिक विवेचना)

(ले०—अनन्तप्रसाद जैन, 'लोकपाल' B. Sc. Eng.)

(गत किरणसे आगे)

किसी भी जीवधारीका शरीर पुद्गल परमाणुओंका एक संगठित पुञ्ज है। शरीरकर्म और हलन चलनका आधार है जबकि शरीरके भीतरका अदृश्य आत्मा 'ज्ञान चेतना' का कारण है। आत्मा अरूपी होते हुए भी सारे शरीरमें व्याप्त होनेके कारण जिस शरीरमें विद्यमान रहता है उस शरीरकी रूपाकृतिको धारण किए रहता है शरीर तो स्वयं अचेतन-पुद्गल-निर्मित्त होनेसे संज्ञान या चेतनापूर्ण कुछ भी कार्य स्वयं नहीं कर सकता यदि उसके भीतर चेतन-आत्मा नहीं रहता, जैसा कि हम दूसरी बेजान वस्तुओंके बारेमें देखते या पाते हैं। आत्मा भी अकेला नहीं रहता जब तक उसे अन्तिम रूपसे 'मोक्ष' न मिल जाय। सर्वदासे पुद्गलके आधार या संयोग द्वाराही संसारमें आत्माकी अवस्थिति संभव रही है।

आत्मा अकेला कुछ नहीं कर सकता—संसारमें हम जो कुछ जीवन मुक्त और चेतनामय हलन चलन, क्रिया-कलाप आदि देखते हैं वे सब आत्मा और पुद्गलके संयुक्त कर्म ही हैं। आत्मा कर्मही हैं। आत्मा तो शुद्ध, अदृश्य, अरूपी और पुद्गल रहित होनेसे न तो आँखोंसे देखा जा सकता है न अन्य इन्द्रियाँ ही उसे अनुभूत कर सकती हैं। इन्द्रियां उन्हीं बातों, विषयों या वस्तुओंकी अनुभूति प्राप्त कर सकती हैं। जो पुद्गलमय या पुद्गल निर्मित हैं। चेतनामय या जीवनमय संज्ञान वस्तुओं (जीव धारियों) को छोड़कर संसारका बाकी सारी ही वस्तुएं या शक्तियां पुद्गल निर्मित हैं। पुद्गलको ही अंगरेजीमें मैटर (Matter) कहते हैं। आत्मा (जीव-Soul) और पुद्गल (Matter) का संयोग किस प्रकार रहता है, कैसे परिवर्तित होता रहता है, कैसे छूट सकता है, या कैसे छूट जाता है इन्हीं क्रियाओंका विधिवत् ज्ञान आस्रव, संवर बंध, निर्जरा, मोक्षकी विधियोंको ठीक ठीक जाननेसे ही हो सकता है। पुद्गल क्या है और पुद्गलका रूप क्या है। यह भी जानना सबसे पहले जरूरी है। इसका ठीक ज्ञान हमे आधुनिक विज्ञानमें वर्णित ऐटम मौलेक्यूल और इलेक्ट्रन इत्यादिकी जानकारी द्वारा ही संभव है। जबकि श्रुत अथवा शास्त्रोंमें वर्णित और आचार्यों द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्तोंका विधिवत मनन करके, तर्क और बुद्धिपूर्वक विवेचना द्वारा जीवधारियोंके कार्य कलापका

सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए एक समन्वयात्मक विश्लेषण-अनेकान्तकी पद्धतिसे करके ही हम यह सही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं कि आत्मा (जीव) क्या है।

संसारमें हम पुद्गलकी अवस्थिति विभिन्न रूपोंमें पाते हैं। बड़े-बड़े पदार्थ जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते हैं। जैसे पृथ्वी पहाड़, पेड़, मानवशरीर और पशु पक्षी कीट पतंग वगैरह। इसके अतिरिक्त जल (तरल) और वायु (गैस) रूपी वस्तुएं भी हम देखते हैं। हवा पारदर्शक वस्तु है जिसे हम देखते तो नहीं पर जिसका स्पर्श अनुभव करते हैं। फिर उष्णता प्रकाश, शब्द, बिजली और विभिन्न प्रकारके दृश्य या अदृश्य किरणें (Rays) और धाराएं (Waves) भी पुद्गलके ही रूप हैं। इस तरह अनंतानंत रूपों और संगठनोंमें हम पुद्गलको देखते और पाते हैं।

पुद्गलका संविभाग गुणोंके अनुसारभी हुआ है। किसी भी वस्तुका विभाजन करते-करते अन्तमें हम उस सबसे छोटेसे छोटे "कण" को पाते हैं जिसमें उस वस्तु के सभी गुण इकट्ठा वर्तमान रहते हैं, ऐसे कणोंको अंग्रेजीमें 'मौलक्यूल (Molecule) और शास्त्रोंमें 'वर्गणा' नाम दिया गया है। वैज्ञानिकोंने पुद्गलकी कुछ ऐसी किस्मोंकी स्वतन्त्र अवस्थिति स्वीकार की है जिनमें मिश्रण नहीं और उनके गुण सर्वदा उनमें एक समान मिलते हैं इन्हें ही मूलधातु (Elements) कहते हैं। इनके वे परम सूक्ष्म विभाग जिनमें उस मूल धातुके सारे गुण विद्यमान हों—ऐटम (Atom) या अणु कहे जाते हैं। दो या दो से अधिक मूल धातुओं (Elements) के ये ऐटम या अणु मिलकर किसी "वर्गणा" (Molecule) का निर्माण करते हैं। गुणके विचारसे ये ऐटम भी प्रारम्भिक प्रकारकी वर्गणाएं ही हैं। अब आधुनिक वैज्ञानिकोंने यह पूर्णरीतिसे सिद्ध कर दिया है कि हर धातुके हर ऐटम भी परम सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं द्वारा ही निर्मित हुए रहते हैं। इन पुद्गल परमाणुओं में मुख्य हैं (Electron) इलेक्ट्रन और प्रोटनर (Proton) और दूसरे हैं न्यूट्रन, पोज़ीट्रन, इत्यादि और इन्हींके संयुक्त रूप हैं आयन (Jons) और आइसोटोप (Isotopes) हर हर धातु विशेषके हर एटम, अणु या मूलसंघ (Atom) में इन परमाणुओंकी संख्या कमवेश-विभिन्न होती है। जैसे किसीमें एक प्रोटन और एक इलेक्ट्रन मिलकर एक एटम बना तो किसी दूसरेमें एक प्रोटन और दो या दो से अधिक कई कई इलेक्ट्रन मिलकर एक एटमका निर्माण हुआ। इलेक्ट्रनोंकी विभिन्न संख्याओं और उनके विभिन्न रूपोंमें प्रोटनसे सम्बन्धित होनेके कारण विभिन्न धातुएँ अलग अलग गुणरूप लिए हुए बन गईं। अथवा एक एक एटममें एक से अधिक प्रोटन हों और उसी तरह इलेक्ट्रनों-की संख्या भी कमवेश हो तो उनकी संख्याओंकी कमीवेशी और उनके अतिरिक्त संगठनके ऊपर ही अणुओं (Atoms) की विभिन्नता और तदनुरूप मूलधातुओं (elements) के गुण, रूप, प्रकृति इत्यादिकी विभिन्नता निर्भर करती है। ये ही एटम जब एक दूसरेसे मिलते हैं तो विभिन्न वस्तुओंकी वर्गणाओंका सृजन करते हैं। इन वर्गणाओं या वस्तुओंके गुण, रूप, प्रकृति आदि भी वर्गणाओंको बनाने वाले एटमों (अणुओं Atoms) की विभिन्न संख्याओं और गुणोंकी संयुक्त क्रिया प्रक्रियासे उत्पन्न होनेसे भिन्न-भिन्न होते हैं और तब हम उन वस्तुओंका भिन्न-भिन्न नामकरण करते हैं। संसारमें जितने प्रकारकी वस्तुएं हैं उतने ही प्रकारकी वर्गणाएं भी हैं। ये अगणित और अनन्त हैं। और तदनुसार इनके रूप गुणादि भी अगणित और अनन्त हैं। इन वस्तुओंको रसायन शास्त्रमें (Chemicals) या रासायनिक वस्तुएं और रासायनिक धातुएं कहा गया है और उनकी वर्गणाओंको रासायनिक वर्गणा या रासायनिक वस्तुओंकी वर्गणा (Molecules of chamical substances) कहा जाता है। इस लेखमें (Chemical Substances & elements) रासायनिक वस्तुओं और धातुओंको केवल रसायन या रासायनिक लिखेंगे। भिन्न-भिन्न वर्गणाओं या रसायनों (वस्तुओं-Chemicals) का एक दूसरेके साथ मिलने या संयुक्त होनेके परिमाण और क्रियात्मक प्रभाव भी (Chemical reactions) भिन्न भिन्न—कमवेश होते हैं। किन्हींकी आपसी क्रिया-प्रक्रियाएँ (Actions & Reactions) बड़ी तीव्र होती हैं और किन्हीं की मध्यम या बहुत कम या किन्हींमें मिलकर संयुक्त रूपसे एक वस्तु हो जाने की शक्ति एकदम ही नहीं होती दो या दो से अधिक विभिन्न धातुओं अथवा रसायकों जब इकट्ठा करते हैं तो उनमें भिन्न भिन्न परिस्थितियों अथवा सहायक रसायनोंकी

उपस्थितिमें विभिन्न हरकतें, क्रियाएँ होती हैं और अंतमें तरह तरहकी मिश्रित या संयुक्त वस्तुएँ (Mixtures & Compounds) तैयार होती हैं जिनके गुणादि भी अपने अपने अलग अलग होते हैं।

मानव या किसी भी जीवधारीके शरीरका निर्माण करने वाली वस्तुएँ या रसायनोंकी संख्या और वर्गणाएँ अनगिनत प्रकारकी हैं। एक एक वस्तुकी वर्गणाओंकी संख्या अलग अलग अगणित अनन्त हैं। एक बालकी नोकमें असंख्य वर्गणाओं और अणुओंका समूह रहता है तो फिर तो एक बड़े दृश्य शरीरमें उनकी संख्या अगणित, असीम अनन्त होगी ही। इन वर्गणाओंमें सर्वदा क्रिया, प्रक्रिया, एवं अणुओं और परमाणुओंका आदान-प्रदान या अदला बदली होकर स्वतः परिवर्तन होते ही रहते हैं। फिर हम भोजन पान करते हैं, श्वास निश्वासको छोड़ते रहते हैं, प्रकाश किरणें और वायु हमारे शरीरको हर ओर से वेष्ठित करते रहते हैं इनके अतिरिक्त भी अनन्त प्रकारकी वे किरणें और धाराएँ हैं जो हमारे शरीरसे टकराती हैं, कुछ भीतर घुसती हैं, कुछ घुसकर निकल जाती हैं इत्यादि। ये सभी कुछ पुद्गल निर्मित ही हैं। शरीरमें इनका प्रवेश होना नए पुद्गलका प्रवेश होना ही है। इस तरह इनकी भी क्रिया-प्रक्रियाएँ भीतरके रसायनों और वर्गणाओंके साथ हो होकर नई वर्गणाएँ या नए नए रसायन उत्पन्न कर परिवर्तन दिखाती ही रहती हैं।

इनके अतिरिक्त भी विश्वमें जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सर्वदा विभिन्न गतियों और कम्पन-प्रकम्पनादिसे युक्त हैं बड़े बड़े ग्रह सूर्य, पृथ्वी इत्यादि, और इन ग्रहों पर अवस्थित सभी वस्तुएँ अलग अलग कम्पन-प्रकम्पनसे युक्त हैं। अपनी अपनी विभिन्न गतियों और अवस्थितिके अनुसार सभी ग्रह-उपग्रह और सभी वस्तुएं एक दूसरे पर अपना विभिन्न प्रभाव डालती रहती हैं, जिनके कारण ये गतियाँ भी स्वतः होती रहती हैं और कम्पन-प्रकम्पन भी होते रहते हैं और ये सर्वदा ही होते रहेंगे। इनमें कमी बेशी फेर बदल-परिवर्तन हो सकते हैं पर ये गतियां और कम्पन-प्रकम्पनादि बन्द नहीं हो सकते, ये तो शास्वत और अबाधरूप से होते ही रहेंगे। इन गतियों, कम्पन प्रकम्पनादिके कारण हर ग्रह-उपग्रह और हर वस्तुसे निर्बाध अविराम शास्वत धारा प्रवाह अणुओं, परमाणुओं और वर्गणाओंका विभिन्न रूपों और संगठनोंमें होता ही रहता है। एक ग्रह उपग्रह या वस्तुकी ये धाराएँ या किरणें दूसरे ग्रह उपग्रह या वस्तुओं पर लगकर, उनमें प्रवेश करके क्रिया प्रक्रियादि द्वारा अपना प्रभाव डालती या उत्पन्न करती रहती हैं जिनके कारण भी हर वस्तुमें सतत परिवर्तन होते ही रहते हैं। मानव या किसी जीवधारीका शरीर भी इस पृथ्वीका प्राणी होने से इसके साथही गतिशील और सर्वदा कम्पन-प्रकम्पनसे युक्त रहता है। जो गतियाँ और कम्पन प्रकम्पनादि बाहरी प्रभावोंके कारण होते हैं उनके अतिरिक्त मानव शरीर स्वयं चलता फिरता है, हलन चलन करता है, हिलता डुलता है, हर क्रिया-कलापमें शरीरका या किसी न किसी अंग अथवा इन्हीं का संचालन होता रहता है, जिन्हें हम शारीरिक कम्पन और गतियाँ कह सकते हैं। पुनः मानवका मन जब भी एक विषयसे दूसरे विषयको बदलता है तब मनोप्रदेशमें कम्पन प्रकम्पन होते हैं और चूंकि मन भी शरीरका ही एक भाग है इससे उसके साथ ही बाकी सारा शरीर भी दृश्य या अदृश्य, अनुभूत या अननुभूत रूपसे कम्पित-प्रकम्पित होता है।

इन सभी गतियों और कम्पन प्रकम्पनादि द्वारा स्वतः सर्वदा पुद्गलपरमाणुओं, अणुओं और वर्गणाओंका निस्सरण हर वस्तुसे, हर शरीरसे, हर वस्तुका हर वर्गणा से भिन्न भिन्न संगठनों, धाराओं, किरणोंके रूपमें होता ही रहता है। हर वस्तु और हर शरीरसे पुद्गलों-की इस अबाध धाराका प्रवाह हर दूसरे वस्तु और शरीर से लगकर, घुसकर कमबेश क्रिया-प्रक्रिया द्वारा अपना क्षणिक अस्थायी और स्थायी प्रभाव करता ही रहता है। सभी जीवधारियों और मानवोंके साथ भी ये ही बातें होती रहती हैं। बेजान वस्तुओंमें केवल स्वाभाविक या प्राकृतिक कम्पन ही होते हैं पर जीवधारियोंके शरीरोंमें उनके कर्मों और सचेतन हलन चलनके द्वारा भी क्रियात्मक कम्पन प्रकम्पनादि होते हैं। जिन जीवोंके मन (Thinking faculty) रहता है उनकी मानसिक हलचलोंसे अलग कम्पन-प्रकम्पन होते हैं। मानवके मन, बुद्धि और हृदयका संयोग होनेसे भावनात्मक कम्पनादि भी होते रहते हैं। वचन या बोलना भी द्रव्यकर्म ही है। मनोप्रदेशके हलन चलन या मानसिक विचारोंमें परिवर्तन होने अथवा भावनात्मक प्रवृत्तियोंको "भावकर्म" कहते हैं।

सभी कर्मोंका आधार शरीर और मन है, जो दोनों ही पुद्गल निर्मित हैं। आत्मा स्वयं स्वेच्छासे कर्म नहीं करता। उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे किसी बिजली के यन्त्रमें बिजली या विद्युत-प्रवाह की। बिजली स्वयं कुछ नहीं करती केवल उसका प्रवाह यन्त्रोंमें होते रहनेसे यन्त्रोंकी बनावटके अनुसार वे यन्त्र काम करते हैं। विद्युत-शक्तिका प्रवाह यन्त्रोंमें न होनेसे वे भी कुछ काम स्वतः नहीं कर सकते न बगैर माध्यम, साधन और आधारके विद्युत प्रवाह ही हो सकता है। इसी तरह आत्माका आधार साधन और कर्मका माध्यम शरीर है और शरीरमें चेतनामय कर्म होते रहनेका मूल कारण शरीरमें आत्माकी विद्यमानता है। जैसे कार्य तो विद्युत-यन्त्रों द्वारा ही सम्पन्न होते हैं पर लोकमें कहा जाता है कि बिजलीसे ये काम हो रहे हैं अथवा बिजलीकी शक्ति यह काम कर रही है। उसी तरह कर्म तो शरीर ही करता है पर आत्माको ही कर्ता कहा जाता है। चूंकि आत्मा चेतनामय है इसलिए दुख सुखका अनुभव भी शरीर स्थित आत्माको होता है इसीसे उसे 'भोक्ता' भी कहते हैं। पर होता सभी कुछ है शरीरके सम्बन्धसे ही और पुद्गल द्वारा ही। इस तरह आत्मा कर्मोंका सचमुच कर्ता नहीं है। कर्म तो अपने आप स्वाभाविक रूपसे शरीरकी बनावट और योग्यताके अनुसार स्वतः ही हर ओरके बाह्य और आन्तरिक प्रभावोंके अन्तर्गत होते रहते हैं और तज्जन्य अच्छे-बुरे फल भी होते या मिलते रहते हैं जैसा कर्म होगा उसी अनुसार उसका फल या प्रभाव भी होगा—दूसरेका दूसरा नहीं हो सकता। हाँ, किसी व्यक्तिके किए कर्मों (द्रव्यकर्म और भावकर्म) द्वारा उत्पन्न हुए पौद्गलिक कम्पन-प्रकम्पन, जो उसके शरीरके अन्तर्गत वर्गणा निर्मित अन्तः प्रदेशमें होते रहते हैं उनमें बाहरसे आने वाली पौद्गलिक धाराएँ मिल मिलाकर या मिल बिछुड़कर आपसी क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा क्षणिक, अस्थायी या स्थाई परिवर्तनादि उत्पन्न करती हैं।

जैन दर्शनमें वर्णित 'आस्रव' इन बाह्य पौद्गलिक धाराओंका शरीर प्रदेशमें आना ही है। आस्रवके प्रधान मूल कारणों या स्रोतोंका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। आस्रवकी पौद्गलिक धाराएँ कई हैं; जैसे (१) दूसरे ग्रहों उपग्रहोंसे आने वाली धाराएँ; (२) इस पृथ्वी और इस पर स्थित सभी बेजान वस्तुओंसे निःसृत होने वाली धाराएँ इस पृथ्वीके वायु मंडलमें हलन चलन अथवा विभिन्न वस्तुओंकी गतियोंसे उत्पन्न होने वाली धाराएँ; (४) पृथ्वी पर स्थित जीवधारियोंके द्रव्यकर्म द्वारा उनके शरीरोंसे निःसृत होने वाली धाराएँ; (५) जीवधारियोंके भावकर्मके कारण उनके मनोप्रदेश और शरीरसे निकलने वाली धाराएँ, (६) स्वयं अपने शरीर के पौद्गलिक आकर्षण-द्वारा खिंच कर आने वाली धाराएँ (७) जीवधारीके भोजन पान द्वारा उसके शरीरमें जाने वाले पुद्गल पदार्थ एवं वहाँ शरीरके भीतर उनसे पैदा होने वाली पौद्गलिक धाराएँ। इत्यादि। ये सभी प्रकारकी धाराएँ किसी भी जीवधारीके शरीरमें प्रवेश करती रहती हैं और जीवधारीके शरीरके भीतर द्रव्यकर्म या भावकर्मसे होने वाले तीव्र मध्यम या क्षीण कम्पन-प्रकम्पन शरीरके अन्दरकी वर्गणाओंमें और विभिन्न वर्गणात्मक शृङ्खलाओंमें हलचल पैदा करते रहते हैं और तब इस आन्तरिक वर्गणात्मक उद्वेलनमें बाहरी वर्गणाओंका मेल मिलाप, संगठन, तीव्र, मध्यम या क्षीण—जैसा हो सकता है तथा होता है। जिस तरह कई रासायनिक द्रव्य मिल कर कोई नये रसायन नए गुणादि वाले पदार्थ उत्पन्न करते हैं उसी तरह इन शरीरान्तर्गत वर्गणा पुञ्जोंमें भी इसी तरहके स्थाई या अस्थाई फेर बदल, तबदीलियाँ और कई रचनाएँ हो जाती हैं। इस प्रकारके रासायनिक सम्मिश्रण या संगठनको ही जैन शास्त्रोंमें 'बन्ध' नाम दिया गया है। जैसे हाईड्रोजन और औक्सिजन मिल कर जल बन जाता है अथवा गंधक और आक्सिजन मिलकर गंधकका तेजाब या सल्फर डाई औक्साइड गैस बन जाता है, इत्यादि। 'बन्ध' को हम अंगरेजीमें या रसायन-शास्त्रकी परिभाषामें केमिकल कम्पाउन्ड (Chemical compownd) कह सकते हैं। यदि बाहरसे पौद्गलिक आस्रव तो होता रहे पर आन्तरिक पौद्गलिक रचनाके साथ उसके मेल या सम्मिश्रण द्वारा कोई परिवर्तन न हो जाय तो ऐसा आस्रव बन्ध न करने वाला कहा जाता है। बन्धकी तीव्रता और स्थायित्व ये दोनों हमारे द्रव्य और भावकर्मोंसे उत्पन्न तीव्र या हलके कम्पन-प्रकम्पनों पर निर्भर करते हैं। इसका वर्णन विशदरूपसे जैन शास्त्रोंमें मिलेगा।

मानव शरीरको बनाने वाली वर्गणाओंको जैन ज्ञानियोंने कई भागोंमें विभक्त किया है; जैसे औदारिक वर्गणा

तैजस वर्गणा और कर्माणवर्गणा। औदारिक शरीर तो रक्तमांसादिमय प्रत्यक्ष शरीर है जिसे हम देखते हैं और जिसके द्वारा कर्म होते हैं। तैजसशरीर तेजपूर्ण-प्रभामय शुभ्र शरीर है जो सूक्ष्म-पारदर्शक है और पूर्ण शरीरमें व्याप्त है पर उसे हम देख नहीं सकते। तीसरा 'कार्माण' शरीर है जो तेजससे भी अधिक सूक्ष्म या महीन अदृश्य पुद्गल वर्गणाओंसे बना है। यही मानवके द्रव्य (वचन और शरीर द्वारा किए जाने वाले कर्म) और भाव (मन द्वारा होने वाले) कर्मोंका प्रेरक, संचालक और नियंता है। औदारिक शरीर तो मृत्युके समय यहीं रह जाता है जबकि तैजस और कार्माण शरीर संसारावस्थामें बराबर आत्माके साथ साथ रहते हैं। कार्माण-शरीर ही मृत्यु और नई नई योनियोंमें नया जन्म लेने नया शरीर धारण करने करानेका मूल कारण है ※

इन तीनों ही शरीरोंमें सर्वदा परिवर्तन होता रहता है। बाहरी औदारिक शरीरकी रूप-रेखादिका निर्माण तो माँ के पेटमें ही हो जाता है। कार्माण शरीर धारी आत्मा जिस समय किसी रजवीर्यके संयोगसे रजकण और वीर्य-कणके सम्मिलनसे उत्पन्न सूक्ष्म शरीरमें आता है तो उसका वही एक निश्चित रूप रहता है। पर बाहरी औदारिक शरीरके परिवर्तनसे इस भीतरी कार्माण शरीर-का परिवर्तन भावानुकूल बहुत भिन्न होता है। दश प्राणों द्वारा मनुष्य जीवित रहता है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक इन प्राणोंके द्वारा दोनों शरीरोंके परिवर्तनोंमें ऐसा साम्य बना रहता है कि एक दूसरेके साथ रह सकें अथवा कर्माण शरीरकी प्रेरणानुसार बाहरी शरीर कर्म कर सके या संचालित हो सके तब तक तो दोनों साथ साथ रहते हैं अन्यथा कर्माणशरीर आत्माको लेकर निकल जाता है और दूसरी योनिमें नया जन्म लेकर ऐसा शरीर धारण करता है जो उसकी प्रकृतिके अनुकूल हो।

मानवके कर्माण शरीरके आठ भाग किए गए हैं। आत्माका गुण है अनन्त शुद्ध ज्ञान। पर जिस तरह शुद्ध जलमें यदि मिट्टीके कण या कोई रंग डाल दिए जांय तो जलमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब धुंधले या विकृत हो जायंगे, उसी तरह आत्माके प्रदेशोंमें पुद्गलकी विद्यमानताके कारण उसका ज्ञान सीमित या विकृत हो जाता है। आत्माकी शक्तियों या ज्ञान गुणको कम कर देने अथवा आच्छादित रखनेके कारण ही कर्मपुद्गलोंको या कर्माण वर्गणाओंको आठ भागोंमें विभक्त किया गया है। वे हैं १—ज्ञानावरणी वर्गणाएँ जो आत्माके अनन्तज्ञानको सीमित करती है; २—दर्शनावरणी वर्गणाएँ जो दर्शन बोध या अनुभव शक्तिको सीमित करती हैं; ३—वेदनीय वर्गणाएँ जो सुख दुःखका अनुभव कराती हैं; ४-मोहनीय वर्गणाएँ जिससे मनुष्य मोह तथा चरित्रको प्राप्त होता है; ५—आयुष्क, जिससे किसी शरीरमें रहनेको अवधि सीमित हो जाती है; ६—गोत्र कर्म-वर्गणाएँ, जिनसे अच्छे परिवार और लोगों एवं परिस्थितियोंमें जन्म होता है; ७—नामकर्म वर्गणाएँ, जिनसे शरीरकी बनावट ऐसी होती है कि अच्छे या खराब काम होते हैं, ८—अन्तराय कर्म वर्गणाएँ हैं जिनके कारण कार्य संचालन और तज्जन्य उपयुक्त फलके लाभमें विघ्न-बाधा या रुकावट पड़ती है। इनके भी अलग अलग विभेदोंका विस्तृत वर्णन शास्त्रोंमें दिया हुआ है।

शराब पीकर कोई व्यक्ति मतवाला हो जाता है या क्लोरोफार्म सूँघकर बेहोश हो जाता है क्लोरोफार्म और शराब दोनों पुद्गल हैं, इनका असर मनुष्यकी बुद्धि, मस्तिष्क और मन पर जोरदार पड़ता है—अधिक शराब-के नशेमें मनुष्य बहुतसे नए-नए कर्म या बातें करने लगता है उसी तरह ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म भी आत्माके चेतनामय ज्ञानको अथवा अनुभूति करनेकी शक्तिको इस तरह संचालित करते रहते हैं कि मानव वैसा ही व्यवहार करता है जैसा ज्ञानावर्णीय वर्गणाओं और दर्शनावरणीय वर्गणाओं द्वारा निर्मित अन्तर-शरीरका वह भाग संचालित होता है जो इन गुणोंको क्रियात्मक रूप देता है। जैसे बिजलीका कोई यन्त्र जो किसी विशेष काम-के लिए बना है वह वही काम कर सकेगा जिसके लिए वह यन्त्र बना है और जिसकी बनावटके ब्यौरे (details) उसी विशेष कामका ध्यान रखकर निर्माण किए गए हैं। बिजलीकी शक्ति तो सभी यन्त्रोंमें एक समान या एक ही होती है पर यन्त्रोंकी बनावटोंकी विभिन्नताके कारण ही उनसे होने वाले कार्य भिन्न होते हैं। विभिन्न मनुष्योंके

※ 'जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य' नामक अपने लेखमें मैं इस विषय पर संक्षेपमें प्रकाश डाल चुका हूँ। देखो, 'अनेकान्त'—वर्ष १०, किरण ४-५ (अक्टूबर नवम्बर १९४९)।

मस्तिष्कोंकी आन्तरिक बनावटमें विभिन्नता होनेके कारण ही उनके सोचने-विचारने आदिकी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। मस्तिष्क या मन वगैरह भी पुद्गल निर्मित ही हैं। मानवका शरीर मानवोचित काम करता है जब कि किसी पक्षीका शरीर, किसी पशुका शरीर, किसी कीट-पतंगोंका शरीर या किसी पेड़ पौधेका शरीर वही काम कर सकता है जिस कामके योग्य उस शरीरकी योग्यता, बनावट या निर्माण है। हर एक अंग उपांगके काम भी उनकी बनावटके अनुसार ही होते हैं। इसी तरह ये ज्ञानावरणीय आदि वर्गणाएँ भी पुद्गल पुँज हैं जो कार्माण शरीरको या तदनुसार बने औदारिक शरीरकी बनावटोंको ऐसा उत्पन्न करनेमें या निर्मित करनेमें कारण हैं जिनसे वे ही या उसी तरहके काम हो सकते हैं, जैसी उनकी बनावट हैं। अथवा यों समझिये कि ज्ञानावरणीय वर्गणाओंका पूंजीभूत असर या प्रभाव ही ऐसा होता है कि मनुष्य वैसा ही व्यवहार करे जैसा उन वर्गणाओंसे बने वर्गणात्मक शरीरके उस भागका निर्माण हुआ है जो मानवके ज्ञानका स्रोत और नियन्त्रण एवं संचालन करने वाला है। स्वयं आत्माको छोड़कर यह सब शारीरिक निर्माण पौद्गलिक है—पुद्गल वर्गणाओंसे विभिन्न रूपोंमें बना विभिन्न प्रभावों वाला है।

पुद्गल धाराओंका आस्रव हर समय होता ही रहता है और मन, वचन, कर्म द्वारा मानव शरीरमें और शरीर स्थित आत्मामें भी कम्पन-प्रकम्पन होते ही रहते हैं और इनके कारण इन ज्ञानवरणी, दर्शनावरणी आदि वर्गणात्मक पुँजीभूत पौद्गलिक अंतः कार्माणशरीरमें भी तबदीलियाँ या परिवर्तन भी होते रहते हैं। मानवका कोई भी कर्म उसके अंतः शरीरके किसी विशेष कर्माण वर्गणाओंके पूँजीभूत संघ या संगठनके प्रभावमें ही होता है अथवा कितनी ही प्रकारकी वर्गणाओंका सम्मिलित प्रभाव किसी समय किसी एक कर्मको प्रेरित करता है। अनादिकालसे अब तक न जाने कब या कबसे कब तक—कैसे इकत्रित एवं पूंजीभूत किसी विशेष कर्माण वर्गणाके प्रभावमें ही मनुष्य कोई काम किसी समय करता है। मनुष्य प्रायः कोई भी कर्म इन पौद्गलिक (कर्माण वर्गणाओंके प्रभाव या प्रेरणाके वशीभूत ही करता है। मनोदेशमें हलचल या मनको प्रेरित कर भावकर्म होते हैं और इन्द्रियों या शरीरके अंगोंको संचालित कर द्रव्यकर्म होते हैं। जिन वर्गणाओंकी प्रेरणाके अन्तर्गत कोई कर्म हो जाता है उन वर्गणाओंका संगठन बिखर जाता है इसीको 'निर्जरा' कहते हैं। एक कर्म होने पर उस कर्मकी प्रेरक वर्गणाओंमें या उनके पूंजीभूत संगठनमें परिवर्तन होकर नए कर्म द्वारा नए कम्पनोंके कारण नई वर्गणाएं फिर बनती भी जाती हैं वर्गणात्मक निर्माणोंका असर या प्रभाव भी उनकी रचनाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है—जैसे कोई वर्गणाएँ एक बार कर्म कराकर खतम हो हो जाती हैं कोई रोज रोज वर्षों तक वही कर्म कराती रहती हैं कोई कभी खास अन्तर पर एक ही तरहके कर्म कराती हैं। कोई एक एक क्षणमें बनती विनसती हैं कोई बहुत बहुत वर्षों तक रहती हैं कुछ कई जन्मों जन्मान्तरों तक रहती हैं इत्यादि। परिवर्तन हर एकमें कमवेश होते रहते हैं। मानव शरीर और मन कुछ न कुछ हरकत या कर्म तो हर दम करते ही रहते हैं। मानवके अन्तः शरीरमें अलग-अलग कर्मोंको कराने वाली या अलग अलग इन्द्रियोंको सञ्चालित करने वाली वर्गणाओंकी बनावट या पुञ्ज या संघ या संगठन भी अलग-अलग हैं। एकही समय हो सकता है कि कई-कई पुञ्ज समठन एक साथ ही कार्यशील या प्रभावशील हो जाय पर मानवके शरीर इन्द्रियां और मनका निर्माण ऐसा है कि कर्म एक समयमें एक ही प्रकारकी वर्गणाओं के प्रभावमें होता है जिधर मानवका मन भी लगा रहता है—बाकी दूसरी वर्गणाएँ या उनके पुञ्ज उस समयमें बिखरकर बेकार और निष्फल हो जाते हैं। वर्गणाओंके पूंजीभूत सगठनोंका इस प्रकार कर्म कराकर बिखर जाना या किसी एक प्रकारकी वर्गणाओंके प्रभावमें एक कर्ममें लगे रहनेके कारण दूसरी वर्गणाओंके पुञ्जोंके प्रभावका 'उदय' यदि उसी समयमें हुआ तो उनका अपने आप बिखरकर निष्फल हो जाना दोनों हालतोंमें ही कर्मोंकी 'निर्जरा' होती है। यह बात ठीक उसी तरह होती है जब भिन्न-भिन्न रासायनिक द्रव्य इकट्ठा किए जाने पर मिल बिखरकर नए-नए द्रव्योंमें परिणत हो जाते हैं। एक उदाहरण मैं यहाँ दूंगा। यदि गंधककी तेजाब (H_2SO_4) और तांबाको इकट्ठा करें तो तांबेके साथ तेजाबको एक प्रकारका भाग मिलकर तूतिया ($CuSO_4$) बन जायगा और कुछ जल (H_2O) और कुछ हाइड्रोजन गैस (H) अलग होकर निकल जायगा—इत्यादि। इसी तरह

इन पुद्गल रचित कर्माण वर्गणाओंमें भी आपसी क्रिया-प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन होकर एक प्रकारकी प्रेरक वर्गणाएँ दूसरे प्रकारकी प्रेरक वर्गणाओंमें अपने आप बदल जाती हैं। इन पौद्गलिक वर्गणाओं या कर्मवर्गणाओंका मिलकर सम्मिश्रण द्वारा एक सुदृढ़ संगठन बना लेना और पुनः समय आने पर बिखर जाना और फिर बिखरे हुए परमाणुओं अणुओं और वर्गणाओंका दूसरे परमाणुओं, अणुओं, और वर्गणाओंके साथ मिलकर नए संघ या संगठन बना लेना—यह चक्रमई (Cycle) क्रिया अपने आप आस्रव और कम्पनादिके फल स्वरूप होती ही रहती है। इसे हम 'कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण' कह सकते हैं। यह कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण (Chemicale Componding) होकर नए नए पुञ्ज सङ्गठन बन जाना ही "बंध" है। आश्रवके कारण मैं लिख चुका हूँ। बंधके लिए शास्त्रोंमें पाँच कारण बतलाए गए हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। बंधके चार प्रकार भी कहे गए हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व अविरति आदि द्वारा मानवके अन्तः प्रदेशमें इस प्रकारके कम्पन होकर पौद्गलिक अथवा वर्गणात्मक सङ्घों सङ्गठनों और पुञ्जोंमें (जो पर्तके ऊपर पर्तकी तरह बैठे रहते हैं) ऐसी हलचल पैदा होती है कि आस्रव-द्वारा रासायनिक सम्मिश्रण अथवा 'बन्ध' हो जाता है। बंधका रूप या प्रकार कैसा है या होता है? उसको यहां प्रकृति स्थिति आदि भेदों द्वारा बतलाया गया है। मानवकी जिस प्रकृति या स्वभावको जो 'कर्माणु' (पुद्गल कर्मवर्गणाएं) एक खास तरहका बनाते हैं उन कीटाणुओंके बन्धको 'प्रकृतिबंध' कहते हैं। ये आचार, व्यवहार, अथवा किस प्रकारके कर्म हों—इनको स्थापित या निर्मित या निश्चित कर देते हैं। स्थिति बंधका अर्थ है कि किस कर्माणुपुञ्जका असर कब-कब होगा और कब तक रहेगा। इत्यादि अनुभाग बंधका अर्थ है तीव्र या मन्द फलदानकी शक्ति। प्रदेश बंधका अर्थ है किन किन प्रकृतियोंके कौन कौन कर्मपुञ्ज कितनी संख्याओंमें मिले। इनके अतिरिक्त भी बंधके दस भेद और हैं बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता; उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, निधत्त और निकाचित। इनके विस्तृत भेद विभेद और विधिवत् सुव्यवस्थित विशद विवरण शास्त्रोंसे जाना जा सकता है।

जिस तरह इलेक्ट्रन और प्रोटन (पुद्गल परमाणु—स्निग्ध और (रुक्ष) ये ही दोनों कमबेश संख्याओंमें मिलकर विभिन्न धातुओं और वस्तुओंको विभिन्न स्वभाव और गुणों वाले बनाते हैं ठीक उसी तरह कर्मवर्गणा नामके पुद्गलपुञ्जोंमें भी विभिन्न प्रकृति, स्थिति आदि करनेवाली वर्गणाओंकी बनावट विभिन्न होती है पर उनको बनाने वाले पुद्गल परमाणु तो वे ही दो प्रकारके स्निग्ध और रुक्ष (Electron और Proton) ही होते हैं। अतः जब भी कोई एक बनावट टूटती या बिखरती है तो दूसरी बनावटें तुरन्त बन या तैयार हो जाती हैं—जिनमें बाहरसे आने वाले पुद्गलोंका भी भाग रहता है। इसके अतिरिक्त बनावटें बनने और टूटनेके कारण तथा कम्पनोंके कारण पुद्गल विभिन्न रूपोंमें शरीरसे निकलता भी रहता है। भावार्थ यह कि एक या कई पुद्गल पुञ्जोंकी बनावटें टूटकर कुछ नई भी बन सकती हैं। बन्ध' का टूटना ही निर्जरा' है। लेकिन एक कर्मकी निर्जरा' होकर दूसरे बन्ध भी हो सकते हैं या होते रहते हैं।

यदि अनन्तकाल तक ये निर्जराएं और बन्ध अथवा और निर्जराएँ एकके साथ एक या एकके बाद एक होते ही रहे तो फिर तो आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सकता—'मोक्ष' नहीं पा सकता। ऐसी बात नहीं है। मोक्ष होनेमें आत्माका चेतन गुण और स्वाभाविक उर्द्ध्वगति सहायक होती है। इसमें 'काललब्धि' और 'निमित्त' की भी आत्माका पौद्गलिक शारीरिक संयोग होनेसे आवश्यकता होती है फिर भी मूल कारण आत्माकी चेतना ही है। निमित्तका अर्थ है कि व्यक्तिके चारों तरफके वातावरण और उसकी परिस्थितियां अनुकूल हों और काललब्धिका अर्थ है कि मानव शरीरके अन्दर कर्माणवर्गणाओंका परिवर्तन होते होते जिस समय ऐसा निर्माण हो जाय कि वह मोक्षके उपयुक्त कर्म करनेके लायक बन जाय। आत्माकी शुद्धि या कर्मोंकी शुद्धि गुणस्थानानुसार धीरे-धीरे उत्तरोत्तर होती ही रहती है। पर इसके लिए भी जरूरी यह है कि ऐसे "कर्मपुञ्जों" का निर्माण न हो जो सम्यक् दर्शन ज्ञान और चरित्रमें अनन्त कालीनरूपसे बाधक हों। यहीं "संवर" की आवश्यकता पड़ती है। अवांछित कर्म-पुंजों (पौद्गलिक वर्गणात्मक निर्माण या संघ या सगठन) का रासायनिक सम्मिश्रण द्वारा सुदृढ़ बन्ध होनेसे रोकना ही "संवर" है। संवरके लिये द्रव्य और भावकर्मों

पर नियन्त्रण रखनेकी जरूरत है। यह नियन्त्रण व्रतों द्वारा या आचार-व्यवहारकी शुद्धि एवं परिमार्जनद्वारा संभव हो सकता है। तीव्र बन्धको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व अविरति,प्रमाद, कषायादिको हम जितना अधिकाधिक दूर या कम या कमजोर करते जांयगे बन्ध-योग्य आन्तरिक कम्पन-प्रकम्पन उतने ही कमजोर होंगे और तब बन्धकी स्थिति अनुभाग आदिमें कमी पड़ेगी और प्रकृति शुभ्र होती जायगी। बन्धका मुख्य कारण अन्तः प्रदेशका कम्पन-प्रकम्पन ही है। ये कम्पन प्रकम्पन जितने कम हो सकें जिस तरह कम हो सकें वही करना "संवर" करने वाला कहा जायगा या होगा। कम्पन नहीं होनेसे सुसंगठित, सुदृढ़रूपसे स्थित अथवा पर्त पर पर्तकी तहकी तरह जमे हुए पुद्गल कर्मपुञ्जोंमें हलचल और उद्वेलन नहीं होंगे और तब उनमें बाहरसे आनेवाली पुद्गल वर्गणाएँ नहीं प्रवेश कर सकेंगी—या कम्पनकी कम-बेशी तीव्रताके अनुसार कमवेश प्रवेश करेंगी और सम्मिश्रण (Compounding) भी कमबेश होगा, इत्यादि। इसीलिये संयम, व्रत, समिति, गुप्ति, ब्रह्मचर्य प्राणायामादिका विधान किया गया है। इनका विशेष विवरण यहाँ देना संभव नहीं एकबार यह समझ लेनेके बाद कि कर्म किस प्रकार पुद्गलवर्गणाओं या पुद्गलरचित संगठनों-द्वारा संपादित या प्रेरित होते हैं तथा उनका रासायनिक सम्मिश्रण किस तरह होकर उनमें परिवर्तनादि होते हैं उसी सिद्धान्तको इन बाकी बातोंमें भी युक्त करके उनकी क्रियाओं, प्रकृतियों और प्रभावोंको समझनेमें कोई दिक्कत नहीं रह जायगी।

सबसे अधिक संवर तब होता है जब ध्यानकी एकाग्रता होती है। ऐसे ही समय निर्जरा भी अधिक होती है। ध्यानकी एकाग्रता किसी एक विषयमें होनेसे केवल एक प्रकारके ही कम्पन होंगे अन्यथा एक प्रकारके कर्मपुद्गलपुंजमें ही उद्वेलन पैदा होगा और फिर उसी अनुरूप एक प्रकारका ही बंध होगा बाकी कर्मास्रवोंका संवर, और उदय आए हुए दूसरे कर्मपुंजोंकी निर्जरा हो जायगी। यदि ध्यानका विषय कषाय है तो कषायोंमे पुनः तीव्रबंध भी होगा। शारीरिक वाचनिक और मानसिक हलन-चलन (द्रव्य और भावकर्म) भी उस समय सबसे कम होते हैं जब मानव किसी एकाग्र ध्यानमें लीन स्थिर-स्थित हो। शुभ्र ध्यान करनेसे शुभ्र बंध होते हैं जिनका परिपाक—फल या तज्जन्य कर्म भी शुभ्र होते हैं। ध्यानका जैसा विषय होगा वैसा ही बंध भी होगा। आत्मा परम शुद्ध, निर्मल, ज्ञानमय है इसलिए आत्माका अपने ही भीतर ध्यान करनेसे बाहरी द्रव्यों, वस्तुओं और पुद्गलोंका संबन्ध एकदम छूट जाता है और तब बन्ध होता ही नहीं. संवरके साथ निर्जरा पूर्ण होती है। आत्मामें ध्यान लगाने पर इसीलिए सबसे अधिक जोर हर दर्शनशास्त्र और उपदेशमें दिया गया है। शारीरिक द्रव्यकर्मोंको एकदम कमसे कम करके भावको सर्वथा आत्मामें युक्त कर देना ही तप है, जिससे निर्जरा अधिकसे अधिक होती है। जब पुद्गलकर्म पुंज अपनी प्रकृति स्थिति आदिके अनुसार कर्म करा कर बिखर जाते या झड़ जाते हैं तब उस क्रियाको हम सकाम निर्जरा कहते हैं। पर जब आत्मामें ध्यान लगाए रखनेके कारण नए आस्रवोंका संवर हो जाता है और पुराने कर्मपुंज बगैर फल दिये ही बिखर या झड़ जाते हैं तो उस क्रियाको 'अकामनिर्जरा' कहते हैं।

आत्मध्यान या शुक्लध्यान-द्वारा प्रायः संवर और निर्जरा ही होते हों। गृहस्थ तो गार्हस्थ्य कर्ममें लीन होनेके कारण प्रायः कषायादि कर्मोंमें लगा ही रहता है इसलिए उसे देवदर्शन, तीर्थंकरकी शान्तमई ध्यानमुद्रामें युक्त मूर्तिका दर्शन ध्यानादि करनेकी व्यवस्था रखी गई है। शास्त्र-पठन-पाठनसे जानकारी बढ़ती है और ज्ञान ताजा होता रहता है—शुद्ध चेष्टाएँ बढ़ती हैं। गृहस्थ भी आत्मध्यान थोड़ा बहुत कर सकता है और जब भी जितना भी वह आत्मामें ध्यान लगा सकेगा उतना उसके कर्मोंका भी संवर और निर्जरा होगी, उसके कर्म शुभ्र या शुक्ल होंगे और साथ ही साथ उसकी मानसिक योग्यता और कार्यक्षमता भी बढ़ेगी। सारा जैनशास्त्र इन विषयोंके विशद वर्णनसे भरा हुआ है। संयम, नियम, प्राणायाम, व्रत, उपवास इत्यादि सब इसीलिए हैं कि मानव शुद्धताकी एक श्रेणीसे चढ़कर अधिक शुद्धताकी दूसरी श्रेणीसे तीसरीमें और फिर आगे आगे आत्मशुद्धि करता हुआ एक समय कर्मोंसे—पुद्गलके संयोग या संबन्धसे—एकदम छुटकारा पाकर मोक्ष पा जाय—अपना स्वरूप, शुद्ध परमज्ञानमय रूप प्राप्त करले और उसीमें लीन हो जाय—तभी उसे सर्वदाके लिए दुखोंसे छुटकारा मिल कर शाश्वत परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

शुभ्र या अच्छे कर्म या कर्मबन्ध वे होते हैं जिनसे मानव

ऐसे कर्म करनेको प्रेरित हो या करे जो अधिकाधिक आत्माको शुद्ध बनानेमें आगे आगे सहायक हों। पाप और पुण्यकी व्याख्या भी हम प्रायः इसी अर्थमें करते हैं। पापकर्म वे कर्म हैं जिनसे आत्माको बांधने वाले पुद्गलोंकी प्रकृति, अनुभाग इत्यादिमें वृद्धि हो उनका फल दुखदायक और आत्मशुद्धि एवं आत्म-विकासका हनन करने वाला हो। और पुण्य कर्म वे हैं जिन्हें ऊपर शुभ और अच्छे कर्मकी संज्ञा दी गई है—जिनसे आत्मशुद्धि बढ़े, आत्मविकास बढ़े और आत्मा मोक्षके अधिकाधिक निकट होता जाय। पर संसारमें रहने वाला प्राणी कषायोंसे इतना बंधा और मोहमायासे (मोहनीय कर्मोंसे) इतना घिरा हुआ है कि पहले वह सब कुछ सांसारिक लाभ एवं सुख और सांसारिक हानि एवं दुखके रूपमें ही समझता और मानता है। इसीलिए इन संसारी गृहस्थ प्राणियोंके समाधानके लिए कर्मोंके दो भाग कर दिए गए हैं शुभ या पुण्यकर्म और अशुभ या पापकर्म और कर्मानुसार उनके फलोंको भी अनुभव द्वारा बतला दिया गया है कि कैसे पुण्य कर्मोंका फल अच्छा, वांछित फलवाला, सुखदाई और आगेके परिणामोंको अच्छा बनाने वाला होता है तथा पाप कर्मोंका फल बुरा, दुखदाई, अवांछित फलोंको देनेवाला और आगेके परिणामोंको बुरा बनानेवाला होता है।

मानव जैसे कर्म (द्रव्य और भाव) करता है वैसे वैसे उसके कार्माणशरीरमें परिवर्तन होकर उसका निर्माण ऐसा हो जाता है कि जैसी प्रकृति उसमें सुदृढ़ हो जाय वैसी ही योनिमें वह आगे जाकर जन्म लेता है। एक मानवकी प्रकृति यदि बैलकी समानता करेगी तो वह मरनेके बाद नए जन्ममें बैलका ही शरीर धारण करेगा। मानवमें अच्छा बुरा सोचने-विचारनेकी शक्ति है—उसके आत्माकी संज्ञान चेतना शक्ति अधिक है, इससे वह किसी हद तक अपने कर्मोंका कुछ नियंत्रण एवं सुधार कर सकने में समर्थ है और तब उसके कर्मों और भावोंके अनुसार ही कार्माण शरीरकी प्रकृति और अगले जन्मको योनि बनती है। पर जानवरों और कीड़ों आदिके शरीरमें मन या बुद्धिका विकास या सोचने-विचारनेकी शक्ति अथवा कर्ममें सुधार करनेकी जरा भी क्षमता नहीं होनेसे उनके कर्म अपने आप आस्रव और कम्पनों द्वारा बिखरते बनते रहते हैं और योनियां एक शृङ्खलामें एकसे दूसरी बदलती जाती हैं; पर जब तक वे मन-बुद्धिधारी मानवका जन्म नहीं लेते संवर और अकामनिर्जराकी सुविधा उन्हें प्रायः नहीं मिलती, न वे मोक्ष हो पा सकते हैं। इसीलिए मोक्ष पानेके लिए मानव-शरीरका होना और उपयुक्त शिक्षा, दीक्षा, संस्कार और परिस्थितियोंका होना भी आवश्यक है।

गंदे वातावरणमें जहाँ बाहरी आस्रव गंदे ही होंगे वहाँ मनकी विशेष शुद्धि होते हुए भी कर्मोंके बंध उतने शुद्ध नहीं हो सकते; क्योंकि शुद्ध या शुभ बंध योग्य आस्रव (आने वाले पुद्गल वर्गणात्मक पुंज) की कमी होगी। आत्म-शुद्धिमें जरूरतसे अधिक समय लगेगा—देर होगी। इसलिए स्वयंकी सच्ची शुद्धि और पुण्यकर्म या शुभ बंधोंके लिए अपने चारों तरफके वातावरण और व्यक्तियोंके आचरणोंकी शुद्धता भी आवश्यक है।

व्यक्ति मिलकर कुटुम्बका, कुटुम्ब मिलकर समाजका, समाज मिलकर किसी प्रान्तका, प्रान्त मिलकर किसी देशका, देश मिलकर किसी महादेशका और महादेश मिलकर इस संसारका निर्माण करते हैं। अतः व्यक्ति सारे संसारसे सम्बन्धित है। सारे संसारका वातावरण शुद्ध होनेसे ही व्यक्तिके भीतर आने वाले आस्रव भी शुद्ध होंगे और उसके भाव और कर्म भी अधिक शुद्ध होंगे, जिनसे आन्तरिक कम्पनादि भी शुभबन्ध करने वाले ही होंगे जिनका उत्तम फल होगा और तभी वह सच्ची उन्नति करेगा। व्यक्ति पर कुटुम्बका और कुटुम्ब पर व्यक्तिका प्रभाव अक्षुण्ण रूपसे पड़ता है। इसी तरह समाज और व्यक्तिका सम्बन्ध है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है वैसा ही उसके भविष्य कर्मका स्रोत या आन्तरिक वर्गणाओंके निर्माणमें परिवर्तन होकर नए वर्गणात्मक संगठन बन जाते हैं, जो भविष्यमें उससे अपनी प्रकृति आदिके अनुसार कर्म कराकर वैसे ही फल भी देते हैं जिसे हम 'भाग्य' या भाग्यके ही अर्थमें 'कर्म' कहते हैं। व्यक्तिके कर्म मिलकर देशके कर्म और भाग्यका निर्माण होता है तथा देशके कर्म मिलकर संसारके कर्म और भाग्य बनाते हैं। संसारके भाग्य या कर्मोंका प्रतिफल और प्रभाव भी देशोंके भाग्य या कर्मों पर और देशों द्वारा व्यक्तियोंके भाग्यों और कर्मों पर अक्षुण्ण रूपसे होता या पड़ता है*। मानव अकेला

* इस विषयमें संक्षेपमें मैंने अपने लेख—'विश्व एकता और शान्ति' में कुछ विवरण दिया है उसे देखें। 'शरीरके रूप और कर्म' नामक लेख भी देखें। ये दोनों लेख ट्रैक्टके

नहीं है—वह अपने चारों तरफ एक भरे पूरे विश्वमें घिरा हुआ है और सारे विश्वका असर उसके ऊपर और उसके कर्मोंपर अबाध रूपसे पड़ता है और वह भी विश्वका प्राणी होनेसे विश्वके वातावरण और भाग्यको अच्छा बुरा बनानेमें अपने कर्मानुसार भाग लेता है। अपने अच्छे बुरे कर्मोंका फल तो व्यक्ति स्वयं भोगता ही है देश और संसारके अच्छे बुरे कर्मोंका फल भी उसे भोगना पड़ता है, ठीक उसी तरह जैसे कुटुम्बके प्राणीको कुटुम्बके सुख दुखका। संसारमें जो एक देश या एक व्यक्ति दूसरे देश या दूसरे व्यक्तिको दुखित रखकर भी अपनेको सुखी समझता है वह भारी गलतीमें है। सच्चा सुख शान्ति अकेले-अकेले होना संभव नहीं है। व्यक्ति और समष्टि अंग और शरीरके समान हैं।

विश्वमें जो कुछ रगड़ा-झगड़ा, स्वार्थोंके टक्कर, रक्त-पात, युद्ध, लूट, अपहरणादि होते रहते हैं वे केवल शुद्ध सच्चे ज्ञानकी कमीके ही कारण हैं। यह ज्ञान अनेकान्तात्मक स्याद्वादके द्वारा ही प्राप्त होना संभव है। जैन-दर्शनमें वर्णित द्रव्यों, तत्वों या पदार्थोंका शुद्ध ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। परन्तु शुद्ध ज्ञान केवल पढ़कर या दूसरोंसे सुनकर ही पूरी तरहसे नहीं हो सकता जब तक स्वयं उसमें अंतर्दृष्टि न प्राप्त करें। वस्तुओं, द्रव्यों, और पदार्थोंकी क्रियाओंका जब तक अनुभवित रूपसे प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला ज्ञानमय अनुभूति स्वयं न हो जाय सम्यक्दर्शन पूर्ण नहीं है, अधूरा है। सम्यक्दर्शनके शास्त्रोंमें भी दश भेद कहे गए हैं।

अतः केवल तत्वोंको सुन या पढ़ कर जैसाका तैसा मान लेना मात्र सम्यक्दर्शन नहीं है, वह तो सम्यक्दर्शन-का 'क ख ग घ'—प्रथम वर्णमालाके परिचय स्वरूप है। सम्यक्दर्शन तो सचमुच तभी सम्यक्दर्शन कहा जानेके योग्य है जब हम एक रसायनशास्त्री (Professor of Chemistry) की तरह यह जान जांय कि तत्त्व या पदार्थ सचमुच हैं, क्या चीज और इनका सम्बन्ध आत्मा और शरीरसे किस प्रकारका है तथा इनका आपसी सम्बन्ध और विभेद कहाँ, कब, कैसे. क्यों है। इसके लिए भी आधुनिक रसायनशास्त्रके कुछ प्रारम्भिक नियमों सूत्रों या सिद्धान्तोंको जानना जरूरी है। ऐसा सम्यक्दर्शन ही मोक्षमार्गमें सीधा ले जाने वाला है।

इस सदीके आरम्भमें कुछ विद्वानोंने सम्यक्दर्शनका अंग्रेजी अनुवाद Right faith या Right Belief किया जो प्रचलित हो गये। इनका पुनः भाषामें अनुवाद करनेसे Faith का अर्थ श्रद्धान होता है और Belief का अर्थ विश्वास होता है। इन अनुवादोंका असर अनजानमें ही दूसरे सभी-लोगों पर ऐसा पड़ा कि समझ लिया कि जैसा शास्त्रोंमें वर्णित है वैसा ही तत्वों पर केवल विश्वास और श्रद्धान बना लेना ही सम्यक्दर्शन हो जाता है। पर यह बात या धारणा भ्रमात्मक है। तत्वों पर ऐसी निःशंकित समाधानपूर्वक अंतर्दृष्टि स्वयं हो जाय कि उनकी आन्तरिक कार्यवाही, क्रिया-शीलता सम्बन्धादि हम स्वयं प्रत्यक्ष देखने या अनुभव करने लग जांय वही सच्चा सम्यक्दर्शन है और ऐसे ही दर्शनका धारी सचमुच सम्यक्दर्शी या सम्यक्त्वी कहा जा सकता है। बाकी तो भ्रमपूर्ण सांसारिक व्यवहार है जो झूठा प्रमाद उत्पन्न करने वाला है। सम्यक्दर्शनका अंग्रेजी अनुवाद होना चाहिये—Scientific Conception or Right Conception। कुछ लोग समझते हैं कि सम्यकज्ञान और सम्यक्दर्शन अलग अलग लिखे या व्याख्या किए जानेसे दो चीजें हैं। यह भी एक प्रकारसे भ्रमात्मक धारणा है। किसी वस्तुको कहीं दूरसे या नजदीकसे देखने पर पहले पहल जो बात धारणामें आती है कि-'कोई वस्तु है' यही 'दर्शन' है उसके बाद तो तुरन्त ही 'ज्ञान' की मददकी जरूरत पड़ती है, यह जाननेके लिये कि यह वस्तु क्या है अथवा लोकमें उसे क्या कहते हैं इत्यादि। और तब वह प्राथमिक दर्शन भी अधिक साफ होता है। केवल इसीलिए कि इस तरह किसी नई वस्तुका प्रथम दर्शन होता है 'दर्शन' को पहला स्थान मिला और सम्यक्दर्शनकी भी 'सम्यक्ज्ञान' से पहले गिनती की गई। पर 'सम्यकज्ञान' के बिना 'सम्यक्दर्शन' होना संभव नहीं न इन दोनोंको एक दूसरेसे अलग ही किया जा सकता है दोनों एकमें एक हैं। केवल शास्त्रचर्चा और व्यवहार एवं निश्चय दृष्टिकोणों द्वारा समझानेके लिए या अनेकांत रूपसे व्यवहार करके किसी बात मसले या प्रश्नका विशेष विधिवत् समाधान या हल करनेके लिए ही दोनोंको अलग रखा गया है—इसके अतिरिक्त भी व्यवहारिक रूपमें ज्ञान

रूपमें—संचालक, अखिलविश्वजैन मिशन, पो० अलीगंज, जिला एटा, से अमूल्य मिल सकते हैं।

जब मस्तिष्कका विषय माना गया है दर्शन इन्द्रियोंका विषय माना गया है। पर शुद्धदृष्टिसे तो ज्ञान-दर्शन-मय ही आत्मा है। आत्माकी चेतना ही ज्ञान-दर्शन मय है और दोनों एक दूसरेसे अलग नहीं किए जा सकते। शरीर और पुद्गल आत्माके अनन्त ज्ञान दर्शनको ढकने या सीमित करने वाले हैं परन्तु शरीरके द्वारा ही उचित साधना द्वारा तत्त्वोंकी पूरी जानकारी प्राप्त कर इस पुद्गलरचित शरीरसे और इसके ज्ञानावरणादि व्यवधानों या बंधनोंसे छुटकारा पाया जा सकता है। शास्त्र और तत्व-ज्ञान उसमें सहकारी हैं। पर शास्त्रों-द्वारा या गुरुओं-द्वारा ज्ञान प्राप्त कर उसे अपना स्वयं अनुभूति विषय बनाना प्रत्यक्ष बनाना ही कार्यकारी है और मोक्ष कराने वाला है। आत्मा क्या है अथवा आत्मा और पुद्गलके रूप और सम्बन्ध भी आरम्भमें शास्त्रों द्वारा ही जाने जा सकते हैं—उन पर विश्वास करके ही कोई आगे बढ़ सकता है। फिर आत्मा तो केवल आत्मा-द्वारा ही जाना जा सकता है। जो एक अन्तिम बात है—आरम्भमें तो आत्माकी स्थिति और गुणादिकी धारणा हम शास्त्रोंमें वर्णित रीतिसे ही पठन, पाठन, मनन तर्क, विवेचनादि द्वारा कर सकते हैं। यही सम्यक्दर्शनकी सीढ़ी है।

सच्चे सम्यक्ज्ञान और सम्यक्दर्शनके बिना सम्यक्-चारित्र पूर्ण रूपसे सम्भव नहीं है। चारित्रका ऊँचासे ऊँचा विकास भी बगैर सम्यक्दर्शन ज्ञानके मोक्षकी ओर नहीं ले जाता। पुण्यकर्म और शुभ बंध हो सकते हैं पर कर्मोंसे या पुद्गलोंसे पूर्ण छुटकारा नहीं मिल सकता। आत्मज्ञान और आत्मध्यान भी शुद्ध तभी सम्भव हैं जब प्रत्यक्षदर्शी सा अनुभवमें आने वाला तत्त्वज्ञान या तत्त्व दर्शन होजाय।

[परिशिष्ट:— यह लेख मेरे अपने स्वतन्त्र विचारोंको व्यक्त करता है किसी दूसरोंके विचारोंको खण्डन मण्डन करनेके लिए या उस ध्येयसे नहीं लिखा गया है। मेरा विश्वास है कि आधुनिक प्रचार-युगमें उपयुक्त प्रचारके साधनों द्वारा जैन सिद्धान्तोंमें वर्णित मानव मात्रके सच्चे कल्याणकारी तत्त्वोंकी वैज्ञानिक व्याख्या संसारमें शुद्ध ज्ञानकी वृद्धि और विकासके लिए करना परमावश्यक है। आजका वैज्ञानिक समाज जो विश्व-विचारका जनक या नेता है—आत्मा और दर्शनमें उसका झुकाव दिलचस्प या अनुराग, इन सिद्धान्तोंको उसीकी भाषा और शब्दोंमें समझाकर उत्पन्न किया जा सकता है। संसार विज्ञानकी बातोंको मानता और उन पर विश्वास करता है। धर्मको पाखंडने इतना बदनाम कर दिया है कि उसके नाममें कोई अच्छी से अच्छी और सच्चीसे सच्ची बात वैसा विश्वास नहीं उत्पन्न करती। इसीलिए जैनसिद्धान्तों में वर्णित इन सत्यतत्त्वोंको संसारको बतलानेके लिए उन्हें आधुनिक विज्ञानकी भाषामें रखना होगा। इसी ध्येयको लेकर इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण या पहलूकी तरफ विद्वानों-का ध्यान आकर्षित करनेके लिए ही मैंने यह लेख लिखा है। इसमें कुछ संकेत रूपसे ही थोड़ीसी बातें बतलाई गई हैं। विषय बहुत ही विशाल है और शास्त्रोंमें हर जगह विशद विवरण या वर्णन वर्तमान है ही। अतः जो विद्वान जैन सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठता और अपूर्व सत्यतामें परम विश्वास रखते हैं तथा यह मानते हैं कि उनका प्रचार, संसारमें सत्यकी स्थापना, सच्चे ज्ञानकी वृद्धि और विकास एवं मानवका सच्चा कल्याण करने वाला है वे तत्त्वोंकी विवेचनात्मक टीका इस वैज्ञानिक पद्धतिसे नए रूपमें पुनः करें यदि उन्हें समय शक्ति और सुविधाएँ सुलभ हों। यों भी जैन शब्द जैन संस्कृति और जैन संस्थाओंकी सुरक्षाके लिए भी वर्तमान प्रचार-युगमें यह प्रचार करना परम आवश्यक और हर जैनका कर्तव्य है। सुरक्षा, विश्वसुरक्षा, विश्वशान्ति और अहिंसा एवं सत्य-के व्यापक विस्तारके लिए भी तत्त्वोंके इस सम्यक्ज्ञान का नए रूपमें विकास, प्रतिपादन और विस्तार करना हमारा परम पावन कर्तव्य है।]

भारत देश योगियोंका देश है

(बाबू जयभगवानजी एडवोकेट)

तपमार्गकी परम्परा

वैदिक साहित्य की अनुश्रुतियां इस पक्षमें भली भांति सुरक्षित हैं कि मनुष्यका आदिधर्म तप था, उसके पश्चात् ज्ञानका युग आया और फिर द्वापरमें याज्ञिक संस्कृतिने जन्म पाया। इसी अनुश्रुतिके पोषक ब्राह्मण ग्रन्थोंके वे तमाम उपाख्यान हैं, जिनमें प्रजापतिकी तपस्या और तपस्या-द्वारा विसृष्टि उपक्रमका वर्णन किया गया है।

इन उपाख्यानोंमें प्रजापति शब्द निर्गुणब्रह्ममें उपयुक्त नहीं हुआ है, बल्कि जीवहितैषी, लोककल्याणक, जननायक धर्मानुशासकके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। इस अनुश्रुतिके अनुसार प्रजापतिने इस भावनासे 'एकमस्मि बहुस्याम् भवतः।' 'कि मैं एक हूं—बहुत हो जाऊँ तप किया, इस भावनाका आध्यात्मिक अर्थ तो वही है जो ईशावास्य उपनिषद्के मन्त्रमें किया गया है :—

> यस्मिन् सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहकः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

परन्तु इन आध्यात्मिक श्रुतियोंके समीचीन अर्थ विलुप्त हो जानेके कारण इनका जो आधिदैविक अर्थ किया जाता था उसके अनुसार यह माना जाने लगा कि प्रजापति एक था उसका चित्त अकेलेपनसे घबराया इसलिये उसने लोकोंकी सृष्टि करली। इस अध्यात्म मतकी पुष्टि इस अनुश्रुतिसे भी होती है कि 'प्रजापति एक वर्ष गर्भ में रहा।'

श्रमण शब्दकी व्याख्या

(शिश्नदेव और केशीका वर्णन)

शिश्नका अर्थ पुरुष-सम्बन्धी जननेन्द्रिय है। शिश्नदेवका अर्थ है नग्न दिगम्बर साधु। जो लोगोंमें देवसमान उपास्य है। इस अर्थमें यह शब्द ऋगवेदमें दो बार उपयुक्त हुआ है।

(i) ऋग. ७,२१,५ में इन्द्रसे प्रार्थनाकी गई है कि वह शिश्नदेवको यज्ञके समीप न आने दे।

(ii) ऋगवेद १०,९९,३ में कहा गया है कि इन्द्रने शिश्न देवोंका वध किया।

यह शब्द वैदिक विद्वानोंकी ही सृष्टि है। भारतीय जन स्वयं अपने इन नग्न दिगम्बर साधुओंको शिश्नदेवके नामसे न पुकारते थे, किन्तु वे उन्हें व्रात्य (व्रतधारी) यति (संयमी), श्रमण (तपस्वी), निर्ग्रन्थ (निर्मल), जिन, जिनेश आदि शब्दोंसे ही पुकारते थे।

वैदिक आर्यजनको प्रारम्भिक कालसे उनके तत्त्वदर्शन, उनके उच्च आदर्श, उनकी निर्मल विश्वव्यापिनी भावनाओंका कुछ पता न था—वे केवल उनके नग्न शरीरको या शिरकी जटाओंको और उनके प्रति लोगोंकी देवता समान भक्तिको देखते थे, और इस प्रकारके मनुष्य उनके लिये बहुत ही अनोखे मनुष्य थे। उनके लिए एक कौतुहलकी वस्तु थे। इसलिये उन्होंने उस प्रारम्भिककालमें उन्हें शिश्नदेव (नग्न साधु) केशीदेव, (जटाधारीदेव) आदि शब्दों द्वारा सम्बोधित किया है। पीछेके वैदिक साहित्यमें जब आर्य ऋषि इन त्यागी तपस्वी साधुओंके उच्च आदर्श और निर्मल व्रति-जीवनसे परिचित हुए और उनके प्रति उनमें भी भक्तिका उद्वेग प्रस्फुटित हुआ तो उन्होंने शिश्नदेव, केशीदेव कहनेकी बजाय उन्हें भारतीय लोगोंकी तरह उनकी महत्ता सूचक व्रात्य (व्रती) यति (संयमी) आदि नामोंसे पुकारना शुरू कर दिया। आर्यजनकी इस अनभिज्ञताकी ओर ही संकेत करते हुए ऋग्वेदके केशी सूक्तमें ये मुनिजन उन्हें कहते हैं:—

> उन्मादिता मौलेयेन वाताँ तस्थिमा वयम्।
> शरीरास्माकं यूयं मर्तासो (शो) अभिपश्यथ ॥

—ऋगवेद म० १०, १३६, ३

हम समस्त लौकिक व्यवहारोंके विसर्जनसे उन्मत्त (आनन्द रसलीन) हो गए हैं। हम वायु पर चढ़ गए हैं, तुम लोग केवल हमारा शरीर देखते हो। हमारी आत्मा वायु समान निर्लेप है।'

श्रमण—यह शब्द श्रम धातुसे बना है जिसका अर्थ है परिश्रम करना। चूंकि ये तपस्या-द्वारा अपनेमें समस्त प्रकारकी शारीरिक और यौगिक वेदनाओंको समता पूर्वक सहन करनेकी शक्तिको जगानेका परिश्रम करते हैं इसलिये ये श्रमण कहलाते हैं।

परित्यज्य नृपो राज्यं श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्धं तपो हि श्रम उच्यते ॥६-२१२
—रविषेणकृतपद्मचरित

ईसाकी पहली सदीके बाद सृजन होने वाले भारतीय साहित्यमें जगह जगह यह शब्द दिगम्बर जैन साधुओंके लिये प्रयुक्त हुआ मिलता है१।

वैदिक साहित्यमें जगह जगह कथन आता है कि प्रजापति 'अश्रम्यतः—अर्थात् प्रजापतिने तप किया।

प्राकृतभाषामें इन्हें शिम्यु व सयुन कहा जाता था। पीछे से यह शब्द (Sanskritised) होकर श्रमण होगया।

ऋ० १, १००-१८ में कथन है कि इन्द्रने अनेक आर्यगण-द्वारा आहूत होकर पृथ्वी-निवासी दस्युओं और सिम्युओंको मार डाला।

ऋ० २, १३-६ में कथन है कि इन्द्रने दमितके लिए १००० दस्यु और सयुन पकड़कर बन्दी बनाये थे।

प्राकृतभाषामें श्रमणको सवण, समन, समण, समनिय भी कहा जाता है।

दर्शन पाहुड २६, सूत्रपाहुड १ पंचास्तिकाय २

अरबके लोग समनिया कहते थे। ग्रीक लोग इन्हें सोफिस्ट (Sophist) कहते थे।

---

१ पञ्चास्तिकाय समयसार २. नीतिसार २६-२९, त्रिलोकसार ८४८, दर्शनपाहुड २७, सूत्रपाहुड १;

(क) दीर्घनिकाय वस्तुजातसुत्त १, ३२; उदान ६ १०

(ख ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चापि भुञ्जते।
—वाल्मीकिरामायण १४-२२

अर्थ—महाराज दशरथके यहाँ नित्य ही ब्राह्मण लोग, नाथवन्त लोग तापस लोग और श्रमण लोग भोजन पाते हैं।

(ग) कौटिल्य अर्थ शास्त्र अध्याय० ११ व अध्याय १२ में कहा गया है कि राज गुप्तचरोंको श्रमणरूप धारण करके अपने व्यक्तित्वको छिपाना चाहिये।

(घ) तैत्तरीय आरण्यक २, ७, १

पीछे से इनका संस्कृतरूप श्रमण बन गया है, इनका अर्थ है निर्ग्रन्थ, निष्पाप, निर्विकार, साधु अथवा मुनि। प्राकृत साहित्यमें जगह जगह जैन और बौद्ध साधुओंके लिये 'समण' शब्दका प्रयोग हुआ है। यूनानी यात्रियों और इतिहास लेखकोंने जैन और बौद्ध साधुओंको 'सरमिनीस, सरमीनिया और सिमूनी आदि लिखा है ॐ ।)

भारतमें अरब देशके जो यात्री समय समय पर आते रहे हैं—उन्होंने हिन्दुओंके सभी सम्प्रदायोंको दो भागोंमें बांटा है ब्रह्मनिय और समनिय। इन अरब लेखकोंने यह भी लिखा है कि संसारमें पहले दो ही धर्म या सम्प्रदाय थे—एक समनियन दूसरे कैल्डियन। (Chaldean) समनियन लोग पूरबके देशोंमें थे। खुरासान वाले इनको बहुवचनमें शमनान और एक वचनमें शमन कहते हैं x।

भारतीय योगियोंकी जीवनचर्य्या

ये महात्मा लोग मिट्टी और सोनेको बराबर समझते हैं। धर्म, अर्थ और काममें वे आसक्त नहीं होते, शत्रु, मित्र और उदासीन सभीको समान भावसे देखते हैं और मन, वचन तथा शरीरसे किसीका अपकार नहीं करते, उनके रहनेका कोई निश्चित स्थान नहीं है।

ये प्रायः बस्तियोंसे दूर अकृत्रिम अथवा प्राकृतिक स्थानोंमें, गिरि शिखरों पर, पहाड़ी गुफाओंमें, नदियोंके तटों पर वन-उद्यानोंमें, श्मशान भूमि और तरुकोटरोंमें, देव-मंदिरों अथवा किसी सूनी जगहमें रहा करते थे। ये प्राकृतिक परिषहोंको सहन करते हुये निर्जन देशोंमें रहते थे। ये हरितकाय जीवोंकी विराधनासे बचते हुये प्रासुक स्थानोंमें बैठते और विचरते थे। ये वर्षाऋतुके सिवाय अधिक दिन तक एक स्थान पर टिक कर न रहते थे. परन्तु वर्षा ऋतुके चतुर्मास (असाढ़का शुक्ल पक्ष, सावन, भाद्रपद, असौज और कार्तिकका कृष्णपक्ष) में यह हिंसाके भयसे कि कहीं उनके चलने फिरनेसे बरसातके कारण पैदा हो जाने वाले अनेक प्रकारके घास, वनस्पति, गुल्म, लता तथा

ॐ ईलियटकृत इन्डिया, पहला खण्ड—पृ० २०६

x मौलाना सुलेमान नदवी—अरब और भारतके सम्बन्ध पृ० १७६-१८७

अन्य छोटे बड़े प्राणि समुदायोंका विघात न हो जावे, ये एक ही स्थान पर रहकर जीवन निर्वाह किया करते थे १।

ये वर्षाऋतुकी समाप्ति पर जगह जगह प्रस्थान करते और सब प्रकारकी जनताको धर्मोपदेश देते हुए विचरते। वर्षाऋतुके अतिरिक्त यदि ये अधिक दिन तक एक ही स्थान पर ठहरते तो लोग उनकी बहुत टीका-टिप्पणी करते। पीछेसे जैसा कि हम ऐतिहासिक युगमें देखते हैं, ज्यों ज्यों भारतमें साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा और उन्होंने राज्याश्रय पानेका प्रयत्न किया त्यों, त्यों उनके अनुयायी राजाओं और धनी लोगोंने इनके विश्रामके लिए सुरक्षित स्थानोंमें अनेक विहार और उपाश्रय बना कर खड़े कर दिये और ये वनवास छोड़, आश्रमवासी, मठवासी और मन्दिरवासी बन गये।

ये सब प्रकारके परिग्रह से रहित, अचेलक, यथाजात दिगम्बररूप रहते थे। ये निरायुध, उद्वेग-रहित, शान्त और निर्भय होते थे। ये वायुको तरह स्वतन्त्र और निर्लेप हो विचरते थे। ये सभी जीवोंके प्रति दया और मैत्रीका भाव रखते थे। ये अपने किसी व्यवहारसे किसी जीवको भी पीड़ा न देते थे। जैसे माता अपने बच्चोंका हित चाहती है वैसे ही वात्सल्यभावसे ये सबका हित चाहते थे२।

गिरि गुफाओं और वनोंमें रहते हुए ये यद्यपि भेड़िया, रीछ, बाघ, चीता अथवा मृग, भैंस, बराह शेर और जंगली हाथी आदि क्रूर जन्तुओंसे घिरे रहते, उनकी भयानक आवाजोंको भी सुनते, परन्तु ये निर्भय बने कभी अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होते थे। ३

ये ममताविरक्त, भोग—इच्छाओंसे निवृत्त स्त्री व बालबच्चोंसे रहित, एकाकी, निस्संग, निरारम्भ विचरते थे, भिक्षा लेकर ही ये अपनी अनुजीविका करते थे१

इस भिक्षा द्वारा यह सदा अनुद्दिष्ट भोजन ही स्वीकार करते थे। यह न तो किसीसे कह कर अपने लिये भोजन तैयार कराते न दूसरोंके निमन्त्रण पर किसीके घर आहारार्थ जाते; बल्कि बिना किसीको बाधा पहुँचाये मधुकरके समान विचरते हुए दूसरोंके अर्थ तैयार किये हुए भोजनमें से ही ४६ दोष टाल कर प्रासुक भोजन ग्रहण करते। ये शरीर-पोषण आयुवृद्धि व स्वादके लिये भोजन ग्रहण न करते बल्कि प्राणरक्षा, संयमपालन, ज्ञानवृद्धिके लिए ही कई कई दिन कई कई पखवाड़े और कई कई मास तक अनशन व्रत धारण करते हुए दिनमें एक बार भोजन ग्रहण करते। भोजन-समय यदि उन्हें दातारके द्वार पर कोई कुत्ता, बिल्ली अथवा कोई याचक खड़ा हुआ दिखाई

१–(अ) श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत–बोधप्राभृत, ४२-४६

(आ) " " भावप्राभृत ८७

(इ) उत्तराध्ययन सूत्र ३५-३, ७

(ई) मूलाचार ९४६-९४९

(उ) विनयपिटक—वर्षायनायिका स्कन्धक-पहिला और दूसरा खण्ड।

(ऊ) मनुस्मृति—६, ३३-४६

(ए) वार्षिकांश्चतुरो मासान्विहरेन्नयतिः क्वचित्'
बीजांकुराणां जन्तूनां हिंसा तत्र यतो भवेत् ॥२१॥
गच्छेत् परिहरन् जंतून् पिवेत्कंवस्त्रशोधितम्।
वाचं वदेदनुद्वेगं न क्रुद्ध्येत्कैनचित् क्वचित् ॥२२॥
स्कन्धपुराण—काशी खंड अध्याय ४१

स्कन्धपुराण—काशीखण्ड-अध्याय ४१,
नागरखण्ड, अध्याय १८०

(ऐ) विष्णुपुराण—तृतीयांश–अध्याय ६-२८, २६

(ओ) तपः श्रद्धेय ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता
विद्वान्सो भैक्षचर्याचरन्तः
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥ मुण्डकउप०
१. २. ११

(औ) महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १६२

२—मूलाचार–७८७-७९८ मज्झिम निकाय—१२ वां महासीहनाद सुत्त। बोधप्राभृत ५१ दशवैकालिक सूत्र १–३, ३, १, १० सूत्रकृताङ्ग १, २, १, उत्तराध्ययन सूत्र ८-३४ ३५।

३—ऋग्वेद १० १३६ महा० शान्तिपर्व के खण्ड में अध्याय १६२ मूलाचार ७९०

दे पड़ता, तो उन्हें क्षोभ-रहित करने के लिए वे बिना आहार लिये ही, सन्तोष भावसे वनको वापिस हो जाते थे१।

वे सब जीव जन्तुओं पर दया करते हुये कभी रात्रिके समय भोजन न करते, न बिना देखे और शोधे भूमि पर चलते, न अनछने पानीको पीते, न किसीको कठोर और हानिकारक शब्द बोलते२।

ये मुनिजन सभी सांसारिक कामनाओंसे विरक्त हुए तत्त्वबोध जीवनशोध, आत्मचिन्तन और सदुपयोग आदि विश्वकल्याण कारी प्रवृत्तियोंमें ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करते थे३।

इनकी जीवन-चर्य्या सम्बन्धी यही वर्णन वेदों और उपनिषदोंमें दिया हुआ है४।

उपनिषदोंमें वर्णित परमहंसोंकी जीवनचर्य्या

वैदिक साहित्यमें इन योगियोंको आचार-सम्बन्धी विभिन्नताके आधार पर चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—१ कुटीचर, २ बहूदक, ३ हंस, और ४ परमहंस।

१—कुटीचर आठ ग्रासका भोजन करके योग मार्गसे मोक्षकी प्रार्थना (साधना) करते हैं, जैसे—गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, वशिष्ट आदि।

२—बहूदक संन्यासी, त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा यज्ञोपवीत और कषाय वस्त्र धारण करने वाले ब्रह्मर्षिके घरमें मधु मांसको छोड़कर आठ ग्रासका भोजन करके योग मार्गसे मोक्षकी प्रार्थना (साधना) करते हैं।

३—हंस नामके संन्यासी एक स्थानमें नहीं रहते; वे विभिन्न ग्राम-नगरोंमें घूमते रहते हैं, वे गोमूत्र और गोबर-का आहार करते हैं और योगमार्गसे मोक्षकी प्रार्थना करते हैं।

४—परमहंस यति संसारमें बहुत विरले हैं वे दण्ड, कमण्डलु शिखा, यज्ञोपवीत आदि वर्णाश्रमके चिन्होंसे रहित होते हैं, उनके पास किसी प्रकारकी वस्तु भी नहीं होती। आकाश ही उनका वस्त्र है। वे यथाजात रूप निर्ग्रन्थ निष्परिग्रहरूप विचरते हैं, वे नमस्कार स्वाहाकार आदि सभी लोक-व्यवहारोंको छोड़कर आत्माकी खोजमें लगे हैं। वे राग-द्वेष, काम-क्रोध, हर्ष-विषाद सभी खोटे परि-णामोंको छोड़कर सम्यक्त्व सम्पन्न, शुद्धभावरूप वर्तते हुए आत्म-शोधमें लगे हैं। वे पाणिपात्र और उदरपात्र बने हुए प्राणोंकी रक्षार्थ औषधि समान यथा समय भिक्षा मांगकर थोड़ासा प्रासुक भोजन ग्रहण करते हैं। उनके रहनेके कोई विशेष स्थान नहीं हैं। वे निन्दा स्तुति, लाभ-अलाभमें समता धारण किये जगह-जगह विचरते रहते हैं। परन्तु वर्षाऋतुके चतुर्मासमें वे एक स्थान पर ही ठहरते हैं। वे बस्तियोंसे दूर निर्जनस्थानोंमें गिरि, गुहा, कन्दर, तरु-कोटर, वृक्षमूल, श्मशानभूमि, शून्यागार, देवगृह, तृण-कूर, कुलालशाल, अग्निहोत्र-गृह, नदी तट आदि स्थानोंमें ही रहते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह अहिंसा अचौर्य्य और सत्य धर्मोंका अनुशीलन करते हैं। वे सदा निर्मम निरहंकार शुभाशुभ कर्मोंके उन्मूलनमें तत्पर अध्यात्मनिष्ठ शुक्लध्यान-परायण रहते हैं और मृत्युके समय सन्याससे देह त्याग कर देते हैं।१

इन परमहंसोंमें संवर्त्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, भृगु, निदाघ, जड़, भरत, दत्तात्रेय, रैवतक, शुकदेव और वामदेव बहुत प्रसिद्ध हुये हैं।२

परमहंसोंका उक्त वर्णन दिगम्बरजैन साधुओंके जीवनसे बहुत ही मिलता जुलता है। ऋग्वेदके केशी सूक्त

१—वट्टकेर आचार्य कृत मूलाचार श्लो० ६३४–१०००। कुन्दकुन्द आ०—बोधप्राभृत ४६; उत्तराध्ययन सूत्र–३२ वां अध्याय। मनुस्मृति ६, ३६–४६। पुराक उप० १, २, ११।

२—सूत्रकृताङ्ग १, १, ४-४३, २-२-७२, ७३; दश-वैकालिक सूत्र १–४। निर्ग्रन्थ प्रवचन ६–११ मूला-चार ४७६–४८१, मनुस्मृति ६, ४५–४८। महा० शान्ति पर्व अध्याय ६।

३-मनुस्मृति-अध्याय ६. ३६–४६
स्कन्ध पुराण–काशी खण्ड–अध्याय ४१-८२
विष्णुधर्मोत्तर–द्वितीय भाग–अध्याय १३१

४-कुन्दकुन्द आचार्यकृत भावप्राभृत, शील प्राभृत, मोक्ष प्राभृत ग्रन्थ। सूत्रकृताङ्ग १ श्रुतस्कन्ध ६ वां अध्याय। उत्तराध्ययन सूत्र ३२ वां अध्याय।

१-(अ) जाबालोपनिषद् ॥६॥ (आ) परमहंसोपनिषद्। (इ) भिक्षुकोपनिषद। (ई) आरुणिक उपनिषद्।

२-जाबालोपनिषद् ॥६॥ भिक्षुकोपनिषद्।

(१०-१३६) वामदेव सूक्त (४-२६-२७) अथवा अथर्ववेदके व्रात्य सूक्त काण्ड १५ तथा महाभारतमें दिये हुए कृष्ण द्वैपायन व्यासके पुत्र शुकदेवके वर्णनसे सिद्ध है कि भारतमें यतिचर्याकी जो अचेलक परम्परा ऋग्वैदिक कालके पूर्वसे चली आ रही थी वही परम्परा शृङ्खलाबद्ध रीतिसे महाभारत कालमेंसे होती हुई भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध तक प्रचलित रही। मज्झिमनिकायके महासीहनाद सुत्तसे प्रकट है कि निष्क्रमणके बाद शुरू शुरूमें भगवान बुद्ध परमहंस अचेलक वर्गके यति थे। वह नग्न रहा करते थे। वह उद्दिष्ट अर्थात् उनके उद्देश्यसे बनाये हुए भोजनके त्यागी थे। वह भोजनार्थ किसीका निमन्त्रण भी स्वीकार न करते थे, वह भिक्षा भोजन सब दोषोंको टालकर ग्रहण करते थे। बीचमें कई कई दिनके उपवास भी रखते थे। वे शिर और दाढ़ीके बाल बढ़ने पर उन्हें नोंचकर अलग करते थे। वे स्नान द्वारा शरीरको मैलसे भी न छुड़ाते थे। सभी जीवों पर दया पालते थे, एकान्त वन व श्मशानमें विचरते, गर्मी-सर्दी आदिकी परिषहोंको सहन करते थे।

महावीर निर्वाणके बाद भी, जैसा कि ईस्वी सन्‌की दशवीं सदी तकके भारतीय धार्मिक साहित्यसे विदित है दिगम्बर जैन यतिचर्या ही भारतीय योगियोंके लिये सदा एक आदर्श बनी रही है।

शिवपुराण व्यविय (?) संहिता २१ । २०, २१ में कहा है:—

ततस्तु जटिलो मुण्डः शिखैकः जट एव वा।
भूत्वा स्नात्वा पुनर्वर्ति लज्जइ चेत् स्याद्दिगम्बरः॥
अन्यकाषायवसनश्चर्मवीराम्बरोऽथवा।
एकाम्बरो वल्कली वा भवेद्दण्डी च मेखली॥

परन्तु इसी प्रकरणमें आगे चलकर कहा है कि वास्तवमें वही महात्मा और तपस्वी है जिसने दण्ड, कौपीन आदिका भी त्याग कर दिया है—

ततो दण्डजटाचरिमे बलाद्यपि चोत्सृजेत्।
सोऽत्याश्रमी च विज्ञेयो महापशुपतस्तथा।
स एव तपतां श्रेष्ठः स एव च महाव्रती॥

(२) भागवत पुराण—स्कन्ध ७, अध्याय १३ में अवधूत प्रह्लाद संवादके प्रकरणमें यतिधर्मका निरूपण इस प्रकार किया है—

'यदि वानप्रस्थीमें ब्रह्म-विचारकी सामर्थ्य हो तो शरीरके अतिरिक्त और सब कुछ छोड़कर वह सन्यास लेवे। तथा किसी भी व्यक्ति, वस्तु स्थान और समयकी अपेक्षा न रखकर एक गाँवमें एकही रात ठहरनेका नियम लेकर पृथ्वी पर विचरण करे। यदि कोई वस्त्र पहिने तो केवल कौपीन, गुप्त अंगोंको ढंकनेके लिये। जब तक कोई आपत्ति न आवे, तब तक दण्ड अथवा अपने आश्रमके चिह्नोंके सिवा अपनी त्यागी हुई कोई वस्तु भी ग्रहण न करे। उसे समस्त प्राणियोंका हितैषी होना चाहिये। शान्त और भगवत् परायण रहे। किसीका आश्रय न लेकर अपने आपमें ही रमे एवं अकेला ही विचरे। वह न तो मृत्युका ही अभिनन्दन करे, न अनिश्चित जीवनका। वह अपने निर्वाहके लिये किसी आजीविकाको न करे। केवल वाद-विवादके लिये किसीसे तर्क न करे। संसारमें किसीका पक्ष न ले। शिष्य-मण्डली न जुटावे। बहुतसे ग्रन्थोंका अभ्यास न करे। व्याख्यान न दे। बड़े-बड़े कामोंको आरम्भ न करे। ऐसे शान्त समदर्शी सन्यासीके लिये किसी आश्रमके चिन्होंकी भी जरूरत नहीं है। वह सदा आत्म अनुसन्धानमें निमग्न रहे। हो तो अत्यन्त विचार शील, परन्तु जान पड़े पागल और बालककी तरह। प्रतिभाशाली होते भी गूँगा सा जान पड़े।

(३) छठी से नवीं शताब्दी तकके तान्त्रिक साहित्यमें अवधूत जीवनका जो विवरण दिया हुआ है वह उपरोक्त परमहंस जीवनसे ही मिलता जुलता है। इस साहित्यके प्रसिद्ध ग्रन्थ महानिर्वाण तन्त्र १४. १४१—१७१ में कहा गया है—

कलियुगमें दो ही आश्रम होते हैं, गृहस्थ और भिक्षुक अथवा अवधूत। ये अवधूत चार प्रकारके होते हैं। पूर्णताकी अपेक्षा ये दो ही प्रकारके होते हैं—पूर्ण और अपूर्ण। पूर्ण अवधूत परमहंस कहलाते हैं, और अपूर्ण अवधूत परिव्राजक कहलाते हैं। इनमें परमहंसका स्वरूप निम्न प्रकार दिया गया है :—

(४) भारतके प्रसिद्ध राजऋषि भर्तृ महाराजने भी वैराग्यशतकमें अपने हृदयकी अन्तर भावना इन शब्दोंमें प्रगट की है—

एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥७२॥

अर्थ—हे शम्भो ! मैं कब एकाकी, निःस्पृह, शान्त, पाणिपात्री (कर पात्रमें भोजन करने वाला) और दिगम्बर हुआ कर्मोंका निर्मूलन करनेमें समर्थ हूंगा।

त्यजेत्स्वजातिचिन्हानि कर्माणि गृहमेधिनाम्।
तुरीयो विचरेत्क्षोणीं निःसङ्कल्पो निरुद्यमः ॥१४-१६९
सदात्मभावसन्तुष्टः शोक-मोह-विवर्जितः।
निर्भिकेतरितितिक्षुः स्यान्निःशङ्को निरुपद्रवः ॥१४-१७०,
नापणं भक्ष्यपेयानां न तस्य ध्यान-धारणाः।
मुक्तो विरक्तो निर्द्वन्द्वो हंसाचारपरो यतिः ॥१४-१७१

अर्थात्—चौथा, अवधूत जो परमहंस है वह अपने जाति चिन्होंको और गृहस्थके कर्मोंको छोड़ कर पृथ्वी पर निःसंकल्प तथा निरुद्यम हुआ विचरता है, सदा आत्म-भावमें सन्तुष्ट रहता है, शोक तथा मोहसे रहित होता है, संसारसे पार उतरनेकी इच्छाको लिये रहता है, निर्भय और निरुपद्रव होता है। वह भक्ष्य तथा पेयोंका अर्पण नहीं करता, न उसके ध्यान तथा धारणाएँ होती हैं, वह मुक्त, विरक्त और निर्द्वन्द्व होता है। ऐसा यति हंसाचार परायण कहलाता है। क्रमशः

(४८ वें पेज का शेष मेटर)

परसे सारे तत्त्व समूह और नयसमूहको आसानीसे समझा जा सके। इसके लिये जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन तत्त्वोंको लेकर उन्हें विधेयादि सप्तभंगोंके साथ सुघटित करके भी बतलाना चाहिये और इस बातको युक्ति-पुरस्सर ढंगसे खुलाशा करके समझाना चाहिये कि कैसे कोई तत्त्व या विशेष (धर्म) इन सप्त भंगोंके नियमसे बहिर्भूत नहीं हो सकता—जो बहिर्भूत होगा वह तत्त्व या धर्म-विशेषके रूपमें प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकेगा। इसके दो एक उदाहरण भी दिये जाने चाहिये। साथही स्वामी समन्तभद्रने तत्त्व तथा नयके विषयमें अन्यत्र अपने ग्रन्थोंमें जो कुछ कहा है उस सबका युक्तिके साथ इस व्याख्यामें समावेश हो जाना चाहिये और सारी व्याख्या सप्रमाण एवं 'तत्त्व-नय-विलास' के रूपमें व्यवस्थित होनी चाहिये।

पुरस्कार-दानेच्छुक
जुगलकिशोर मुख्तार
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

नोट :—इस विज्ञप्तिको दूसरे पत्र-सम्पादकभी अपने-अपने पत्रोंमें देनेकी कृपा करें, ऐसी प्रार्थना है।

श्रीमहावीरजी में वीरशासन जयन्ती

सर्व साधारणको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीका विचार इस बार कुछ विशेष व्रत-नियम ग्रहण करनेका है अर्थात् वे अपने आराध्य गुरुदेव स्वामि समन्तभद्रके सप्तम श्रावक बनना चाहते हैं। इस पदके योग्य व्रत नियमोंको वे वीरशासन जयन्तीके दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा (ता० २७ जुलाई सोमवारको, तीर्थावतरणकी बेलामें, श्रीवीर भगवानकी विशिष्ट प्रतिमाके सम्मुख महावीरजी (चांदन पुर) में ग्रहण करेंगे। और वहीं वीरशासन जयन्ती मनाएंगे। ऐसी स्थितिमें वीरसेवामन्दिर परिवार वीर-शासन जयन्तीका उत्सव इस बार श्रीमहावीरजीमें आषाढ़ी पूर्णिमाओं और श्रावण कृष्ण प्रतिपदा ता० २६ २७ जुलाई को मनाएगा। सूचनार्थ निवेदन है।

—राज कृष्ण जैन

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमे उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पाँच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... .. १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ... ॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... .. ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर रचना भारतीय पुरातत्त्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा० टी० एन० रामचन्द्रनकी महत्त्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३१) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्रीमती श्रीमालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली । मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक-जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

श्रीमहावीरजीमें मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीका सातवीं प्रतिमा ग्रहण और ५१२५) रु० का दान तथा वीरशासन जयन्ती

समाज को यह जानकर अत्यन्त खुशी होगी कि समाजके वयोवृद्ध साहित्य तपस्वी आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार भगवान महावीरकी उस विशिष्ट मूर्ति के सन्मुख स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डश्रावकचारमें प्रदर्शित सप्तम प्रतिमाके व्रतोंको धारण कर नैष्ठिक श्रावक हुए हैं। यद्यपि वे पहले से ही ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते थे परन्तु वह उस समय प्रतिमा रूपमें नहीं था। व्रत ग्रहण करनेके पश्चात मुख्तार साहबने परिग्रह परिमाणव्रतकी अपनी सीमाको और भी सीमित करनेके लिए वीरसेवामन्दिर ट्रस्टको दिये गये दानके अतिरिक्त अपने निजी खर्चके लिए रक्खे हुए धनमें से भी पाँच हजार एक सौ पच्चीस रुपयों के दानकी घोषणा की। जिसमें से पाँच हजार एक रुपया कन्याओंको छात्रवृत्तिके लिए, १०१) वीरसेवा मन्दिर बिल्डिंग फंडमें, ११) तीर्थक्षेत्र कमेटी, २) औषधालय महावीरजीको और पांच पाच रुपया दोनों महिला आश्रमोंको प्रदान किये। इस तरह यह उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

मुख्तार साहबका कार्य आत्मकल्याणकी दृष्टि से समयोपयोगी और दूसरोंके द्वारा अनुकरणीय है।

वीर शासन जयन्ती

इस वर्षकी वीरशासन जयन्तीका उत्सव श्री महावीरजी (चांदनगाव) में सानन्द मनाया गया। तीर्थक्षेत्र कमेटीकी ओरसे लाउडस्पीकर वगैरहका सब सब प्रबन्ध था और कमेटीके मंत्री सेठ बधीचन्दजी गंगवाल और सोहनलालजी उत्सवमें उपस्थित थे। उत्सवमें विभिन्न स्थानोंसे अनेक व्यक्ति पधारे थे जिनमें कुछ स्थानोंके नाम नीचे दिये जाते हैं:— जयपुर, रेवाड़ी जिला गुड़गांव, ब्यावर, देहली, सरसावा, सहारनपुर, नानौता, एटा, फिरोजाबाद, आगरा, ललितपुर (झांसी) गुना. खेमारी जि० उदयपुर और मेनपुरी जि० एटा आदि स्थानोंके सज्जन सकुटुम्ब पधारे थे। इसके अतिरिक्त स्थानीय मुमुक्षु जैन महिलाश्रमकी सचालिका श्रीमती ब्र० कृष्णाबाई जी सपरिवार और कमलाबाई आश्रमकी छात्राएँ और पाठिकाएँ उसमें शरीक थीं। मुमुक्षु महिलाश्रमकी छात्राओंने ता० २७की रात्रिको वीर शासन जयन्तीका का उत्सव मनाया था और मुख्तार सा० का अभिनन्दन भी किया था उत्सव ता० २६ और २७ को मुख्तार सा० और सेठ छदामीलालजीकी अध्यक्षतामें दोनों दिन मनाया गया था, ता० २७ को प्रातःकाल प्रभातफेरी और झंडाभिवादनके बाद भगवान महावीरकी पूजनकी गई थी। दोपहरको दोनों ही दिन सभाएँ हुई जिनमें विद्वानोंके अनेक सारगर्भित भाषण हुए जिनमें भगवान महावीरके शासन और उसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए उस पर स्वयं आचरण करनेकी ओर संकेत किया गया। रात्रिमें ला० राजकृष्णजी जैनने शास्त्र सभाकी, और उसमें व्रत नियम ग्रहण करने तथा दीक्षा लेनेकी आवश्यकता, उसका स्वरूप तथा महत्ताका विवेचन किया।

परमानन्द जैन

अनेकान्तका 'पर्यूषणांक'

अनेकान्तके प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस वर्ष अनेकान्तका 'पर्यूषणांक' निकालनेकी योजना हुई है। इस अङ्कमें दशलक्षणधर्म पर अनेक विद्वानोंके महत्वपूर्ण लेख रहेंगे। अतः लेखक विद्वानों और कवियोंसे सादर अनुरोध है कि वे अपनी अपनी महत्वपूर्ण रचनायें शीघ्र भेज कर अनुगृहीत करें। क्योंकि इस अङ्कको १२ सितम्बर तक प्रकाशित करनेका विचार है। साथ ही विज्ञापन दाता यदि अपने विज्ञापन शीघ्र ही भेज सकें तो उन्हें भी स्थान दिया जा सकेगा विज्ञापनके रेट पत्र व्यवहारसे तय करें।

निवेदक—परमानन्द जैन
प्रकाशक 'अनेकान्त'

ॐ अर्हम्

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ३	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली श्रावण वीरनि० संवत् २४७९, वि० संवत् २०१०	जुलाई १९५३

श्रीवीतराग-स्तवनम्

(अमरकवि-कृतम्)

जिनपते द्रुतमिन्द्रिय-विप्लवं दमवतामवतामवतारणम् ।
वितनुपे भव-वारिधितोऽन्वहं सकलया कलया कलयान्वया ॥ १ ॥
तव सनातन-सिद्धि-समागमं विनययतो नयतो नयतो जनं ।
जिनपते सविवेक मुदित्वराऽधिकमला कमलाकमलामया ॥ २ ॥
भव-विवृद्धिकृते कमलागमो जिनमतो नमतो न मतो मम ।
न रतिदामरभूरुहकामना सुरमणी रमणीरमणीयता ॥ ३ ॥
किल यशः शशनि प्रसृते शशी नरकतारक तारकतामितः ।
व्रजति शोपमतोऽपि महामतो विभवतो भवतो भव-तोयधिः ॥ ४ ॥
न मनसो मन येन जिनेश ते रसमयः समयः समयत्यसौ ।
जगदभेदि विभाव्य ततः क्षणादपरता परता परतापकृत ॥ ५ ॥
त्वयि बभूव जिनेश्वर शाश्वती शमवता ममता मम तादृशी ।
यतिपते तदपि क्रियते न किं शुभवता भवता भवतारणम् ॥ ६ ॥
भवति यो जिननाथ मनःशमां बितनुते तनुतेऽतनुतेजसि ।
कमिव ना भविनस्तमसां सुखप्रसविना सविता स निवारयेत् ॥ ७ ॥
परमया रमयाऽरमया-त्वयांऽह्रिकमलं कमलं कमलं भयं ।
न नतमानतमो न तमां नमनवरविभा रविभा रविभासुर ॥ ८ ॥

अमरसामरसाऽमर-निर्म्मिता जिननुतिर्ननु तिग्मरुचेर्यथा ।
रुचिरसौ चिरसौख्यपदप्रदा निहत-मोह-तमो रियुवीरते ॥ ६ ॥
इति वेणीकृपाण-अमरकवि-कृतं श्रीवीतरागस्तवनम् ।

नोट—गत वीर-शासन-जयन्तीके अवसर पर श्रीमहावीरजी अतिशय क्षेत्र (चांदनपुर) के शास्त्रभण्डारका अवलोकन करते हुए कई नये स्तुति-स्तवन वीरसेवामंदिरको प्राप्त हुए हैं जिनमें यह भी एक है, जो अच्छा सुन्दर भावपूर्ण एवं अलंकारमय स्तोत्र है। इसके कर्त्ता अमर कवि, जिनके लिये पुष्पिकामें 'वेणीकृपाण' विशेषण लगाया गया है, कब हुए हैं और उनकी दूसरी रचनाएँ कौन कौन हैं यह अभी अज्ञात है। ग्रन्थ प्रति सं० १८२७ की लिखी हुई है। अतः यह स्तवन इससे पूर्वकी रचना है इतना तो स्पष्ट ही है, परन्तु कितने पूर्वकी है यह अन्वेषणीय है।

—सम्पादक

उत्तर कन्नडका मेरा प्रवास

(लेखक—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री)

उत्तर कन्नडकी चौहद्दी इस प्रकार है उत्तरमें बेलगाम; पूर्वमें धारवाड एवं मैसूर; दक्षिणमें मद्रास प्रांतीय दक्षिण कन्नड, पश्चिममें अरब समुद्र और उत्तर पश्चिममें गोवा । यह प्रान्त दीर्घकालसे विश्रुत है। ई० पू० तीसरी शताब्दीमें मौर्य-सम्राट् अशोकने इस प्रान्तान्तर्गत वनवासिमें अपना दूत भेजा था। यहांके प्राप्त अन्यान्य शिलालेखोंसे प्रकट है कि यहाँपर क्रमशः कदंबोंने, रट्टोंने, पश्चिम चालुक्योंने और यादवोंने राज्य किया है। साथ ही साथ पुष्ट प्रमाणोंसे यह भी सिद्ध है कि यह प्रदेश सुदीर्घ काल तक जैनधर्मका केन्द्र रहा है। एम० गणपतिरावके मतसे कदंबोंने ई० पू० २०० से ई० सन् ६०० तक राज्य किया था*। हां, बादमें भी इस वंशके राजाओंने शासन किया है अवश्य। पर, चालुक्य, राष्ट्रकूट और विजयनगर के शासकोंकी आधीनतामें। दक्षिणके प्राचीन चोल, चेर पाण्ड्य और पल्लव राजाओंकी तरह कदंब राजाओंने भी खास कर मृगेशवर्मासे हरिवर्मा तकके शासकोंने जैनधर्मको विशिष्ट आश्रय प्रदान किया था ×।

मृगेशवर्मा स्वयं जैनधर्मानुयायी था। उसने अपने राज्यके तीसरे वर्षमें जिनेन्द्रके अभिषेक, उपलेपन, पूजन, भग्न संस्कार (मरम्मत) और महिमा (प्रभावना) कार्योंके लिए भूमिदान किया था। उस भूमिमें एक निवर्तन भूमि खास कर पुष्पोंके लिए निर्दिष्ट थी। × मृगेशवर्माका ग्रामदान सम्बन्धी एक दूसरा दानपत्र भी मिलता है। इसीके समान इसका पुत्र रविवर्मा भी पिता मृगेशवर्माकी तरह जैनधर्मका भक्त रहा इसका एक महत्त्वपूर्ण दानपत्र पलासिका (बेलगाम) में प्राप्त हुआ है†। जो कि जैनधर्ममें इसके दृढ सिद्धान्तको प्रकट करता है। रविवर्माका उत्तराधिकारी हरिवर्मा भी अपने प्रारम्भिक जीवनमें जैनधर्मका श्रद्धालु था। हां, वह अपने अन्तिम जीवनमें शैव हो गया था। इसने भी जैनमन्दिर आदिके लिये दान दिया है। सारांशतः कदंबवंशी राजाओंके शासनकालमें जैनधर्म विशेष अभ्युदयको प्राप्त हुआ था। श्री बी० एस० रावके शब्दोंमें कदंबोंके राजकवि जैन थे। उनके सचिव और अमात्य जैन थे, उनके दानपत्रोंके लेखक जैन थे और उनके व्यक्तिगत नाम भी जैन थे। साथ-ही-साथ कदंबोंके साहित्यकी रूप-रखा भी जैन काव्य-शैलीकी थी*। इस प्रांतके बादके राष्ट्रकूट और चालुक्य आदि शासकोंका सम्बन्ध भी जैनधर्मसे कितना घनिष्ट रहा, इस बातको इतिहासके अभ्यासी स्वयं भली प्रकार जानते हैं। इसलिए उस बातको फिर दुहराकर इस लेखके कलेवरको बढ़ाना मुझे इष्ट नहीं है।

वहांके उल्लेखनीय स्थानोंमे (१) वनवासि (२) सोंदे (३) गेरुसोप्पे (४) हाडुहल्लि (५) भट्कल और (६)

* दक्षिण कन्नड जिल्लेय प्राचीन इतिहास पृष्ठ १६

× 'जर्नल आव दी मीथिक सोसाइटी' भा० २२, पृ० ६१

* जैनीज्म इन साउथ इंडिया'

† 'जैन हितैषी' भा० १४, पृ० २२६. † 'जैन हितैषी भा० १४, पृ० २२७.

बिलेगि प्रमुख हैं पाठकोंके समक्ष इन प्राचीन स्थानोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार दिया जाता है—(१) वनवासि—सिरसीसे वनवासि १५ मील पर है। जैनोंके परम पुनीत ग्रन्थ षट्खण्डागमके प्रारम्भिक सूत्र, आचार्य पुष्पदन्तके द्वारा इसी पवित्र भूमिमें रचे गये थे। इस दृष्टिसे यह क्षेत्र जैनोंके लिये एक पवित्र तीर्थ सा है। इस प्रसगमें यह भी बतला देना आवश्यक है कि दिगम्बर सम्प्रदायके उपलब्ध साहित्यमें षट्खण्डागम ही आदिम-ग्रन्थ है। इससे पूर्व जैनोंके सभी पवित्र आगम ग्रंथ (अंग और पूर्व) पूज्य आचार्योंके द्वारा कण्ठस्थ ही सुरक्षित रखे गये थे। जैन आगमको सर्वप्रथम लिपिबद्ध करनेका परम श्रेय प्रातः स्मरणीय आचार्य पुष्पदन्तको ही प्राप्त है। साथ ही साथ, लिपिबद्ध करनेका पुनीत स्थान वही वनवासि है। कन्नड भाषाका आदि कवि महाकवि पंप भी इस स्थान पर विशेष मुग्ध था। इसने अपने भारत या 'विक्रमार्जुन विजय' में इस प्रदेशकी बड़ी तारीफ की है। महाकवि कहते हैं कि 'प्रकृति प्रदत्त असीम सौंदर्यसे शोभायमान त्याग भोग एवं विद्याका केन्द्र इस वनवासिमें जन्म लेने वाला वस्तुतः महा भाग्यशाली है।'

बड़े खेदकी बात है कि वनवासि इस समय एक सामान्य गांव है। उत्तर दिशाको छोड़ कर यह तीनों दिशाओंमें वरदा नदीसे घिरा हुआ है। साथ ही साथ भग्नावशिष्ट एक मृण्मय किलेसे - गाँव तेरुबीदि, कंचुगारबीदि और होलेमठबीदि आदि कतिपय मार्गोंमें विभक्त है। इस समय स्थित जैनोंका मन्दिर कंचुगार रास्ते में है। मन्दिर अधिक प्राचीन नहीं है। साथ ही साथ लकड़ीकी बनी हुई एक सामान्य इमारत है। मन्दिरमें विराजमान मूर्तियाँ भी साधारण हैं। हाँ, तेरुबीदिमें विशाल शिलामय मधुकेश्वर देवालयके नामसे वैष्णवोंका जो मन्दिर विद्यमान है, वह अवश्य दर्शनीय है। यह मूलमें जैन मन्दिर रहा होगा। इस समय इसके लिए सिर्फ दो प्रमाण दिये जाते हैं। एक तो मन्दिरके सामने दीप-स्तम्भके अतिरिक्त एक और स्तम्भ है जो कि जैन देवालयोंके सामने मानस्तम्भके नामसे अधिकांश पाये जाते हैं। दूसरा प्रमाण मन्दिरके मुख्य द्वार पर गजलक्ष्मी अंकित है। यह भी जैन देवालयोंमें प्रचुर परिमाणमें पाई जाती है। यह बात ठीक ही है कि इस समय तो यहाँ पर सर्वत्र हिन्दू चिन्ह ही नजर आते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं है कि ये सब चिन्ह बादके हैं। खेद इस बातका है कि यह स्थान जैनोंका एक प्राचीन पवित्र क्षेत्र होने पर भी इस समय यहाँ पर इनके कोई भी उल्लेखनीय चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते। आजकल यहाँ पर जैनोंके घर भी दो चार ही रह गये हैं। इनकी स्थिति भी संतोषप्रद नहीं है। सुना है कि वनवासिमें किलेके अन्दर और बाहर मिला कर इस समय लगभग ६०० घर हैं और जनसंख्या लगभग ६००० की है। यहाँके जैनमन्दिरमें दूसरीसे सत्रहवीं शताब्दी तकके १२ शिलालेख प्राप्त हुए हैं*। ई० पू० तीसरी शताब्दीके बौद्ध ग्रन्थों में भी वनवासिका उल्लेख मिलता है। टोलेमीने भी इसका वर्णन किया है। वस्तुतः प्राचीन कालमें यह बड़े ही महत्वका स्थान रहा है इसका प्राचीन नाम सुधापुर है। सोदे भी सिरसी से ही जाना पड़ता है। सिरसीसे सोदे १२ मील पर है। यह एल्लापुर जाने वाली मोटरसे जाना होता है। हाँ, मोटरसे उतर कर २½ मील पैदल चलना होगा। सोदे भी जैनोंका एक प्राचीन स्थान है। यहां पर जैन मठ है। यह मूलमें अकलंकके द्वारा स्थापित कहा जाता है। यहाँ पर भी अठारह समाधियोंको छोड़ कर कोई उल्लेखनीय जैन स्मारक दृष्टिगत नहीं होता। समाधियोंमें भी दो-चारोंको छोड़ कर शेष नाममात्र के हैं। इन समाधियोंमें एक का लेख पढ़ा जाता है। लेख सोलहवीं शताब्दीका है। मठके पास ही लकड़ीका बना हुआ एक जैन-मन्दिर है। इसकी खड्गासन मूर्ति दर्शनीय है। सामने सुत्तिनकेरेके नामसे भग्नावशिष्ट एक तालाब है। उक्त मन्दिर और यह तालाब एक रानीके द्वारा बनवाये गये कहे जाते हैं। वह भी अपने नासिका भूषण (नथिया) को बेचकर। इसकी कथा बड़ी रोचक है। कथाका सारांश इस प्रकार है—सोदेका जैन राजा अनजानमें गुब्बि (पक्षिविशेष) का मांस खा गया। मांस बाजीकरण सम्बन्धी औषधिमें वैद्यके द्वारा खिलाया गया था। यह बात राजाको बादमें मालूम हुई। राजाने तत्कालीन सोदेके भट्टारकजीसे इसका प्रायश्चित मांगा। अदूरदर्शी भट्टारकजीने प्रायश्चित नहीं दिया। फलस्वरूप राजा रुष्ट होकर लिंगायत अर्थात् शैव हो गया। मतान्तरित होने पर राजाने जैनोंपर बड़ा अत्याचार किया बल्कि बहुतसे जैनोंको शैव बनाया। बहुतसे

* 'बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक' पृ० १३१

जैन राज्य छोड़कर अन्यत्र भाग गये। भट्टारकजीको राजधानीसे अलग कर दिया। यही कारण है कि उन्हें दूसरे स्थान पर मठ बनवाना पड़ा। वही वर्तमान मठ कहा जाता है। थोड़े समयके बाद एक दिन राजा सख्त बीमार हो गया। बचनेकी आशा कम दिखाई दी। उसकी रानीने जो कट्टर जैन धर्मानुयायी रही, यह प्रतिज्ञा की कि इस कष्ट-साध्य बीमारीसे अगर राजा बच गया तो मैं अपने सौभाग्य-चिन्ह नासिका-भूषणको बेचकर एक जैन मन्दिर बनवा दूँगी। राजा स्वस्थ हो गया। सुना है कि बादमें रानीने प्रतिज्ञानुसार इस मन्दिरका निर्माण कराया था। साथ-ही-साथ सामनेका तालाब भी। इसलिये इस सरोवरका नाम मुत्तिनकेरे प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि नासिका-भूषण मोतियोंका बना हुआ था।

पूर्वोक्त मन्दिरके बगलमें एक विशाल शिलामय दूसरा मन्दिर है। इस समय यह वैष्णवोंके वशमें है। यह मूलमें जैन मन्दिर ही रहा होगा। इसके सामने मानस्तम्भ मौजूद है। मन्दिरके ऊपर सामने कीर्तिमुख भी। मठके आस-पास इमारतके बहुतसे पत्थर पड़े हुए हैं। ये सब प्राचीन स्मारकोंके ही मालूम होते हैं। वर्तमान भट्टारक श्री भद्रपरिणामी अध्ययनशील, व्यवहारकुशल त्यागी हैं। यहाँ पर ताड़पत्रके ग्रन्थोंका संग्रह भी है। पर इसमें कोई अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं मिला। अन्यान्य स्थानोंके शिलालेखोंकी तरह सोदेके शिलालेख भी बम्बई सरकारकी ओरसे प्रकाशित हो चुके हैं।

(३) गेरुसोप्पे—इसका प्राचीन नाम भल्लातकीपुर है। होनावरसे पूर्व अठारह मील पर शरावतीके किनारे यह गाँव है। प्रसिद्ध जोग जलपातसे भी इतनी ही दूर है। ई० सन् १४०६ से १६१० तक यह गेरुसोप्पेके जैन राजाओंकी राजधानी थी। स्थानीय लोगोंका विश्वास है कि अपने महत्वके दिनोंमें यहाँ पर एक लाख घर और चौरासी मन्दिर विद्यमान थे। जन श्रुति है कि विजयनगरके राजाओं (ई० सन् १३३६-१५५५) ने ही गेरुसोप्पेके जैन राजवंशको उन्नत बनाया था। १५वीं शताब्दी के प्रारम्भसे यहाँका राजत्व प्रायः स्त्रियोंके हाथमें ही रहा क्योंकि १६वीं और १७वीं शताब्दीके प्रथम भागके प्रायः सभी लेखक गेरुसोप्पे या भटकलकी महारानीका नाम लेते हैं। १७वीं शताब्दीके प्रारम्भमें गेरुसोप्पेकी अन्तिम महारानी भैरादेवी पर बिदनूरके वेंकटप नायकने हमला किया था। इस लड़ाईमें वह हार गई। स्थानीय समाचारके अनुसार भैरादेवी १६०८में मरी। ई० सन् १६२३ में इटलीका यात्री डेलावेले (Delavalle) इस नगरको एक प्रसिद्ध नगर लिखता है। हाँ, उस समय नगर और राजमहल नष्ट हो गये थे। यह नगर काली मिर्चके लिए इतना प्रसिद्ध था कि पुर्तगालियोंने गेरुसोप्पेकी रानीको Pepper queen लिखा है। वर्तमान गाँवसे प्राचीन नगरका ध्वंशावशेष डेढ़ मील पर हैं। इस समय यहाँ पर सिर्फ पाँच जैन मन्दिर हैं। वे भी सघन जंगलके बीचमें। उपर्युक्त पाँच मन्दिर पार्श्वनाथ, वर्धमान, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ पद्मावती और चतुर्मुख। इनमें चतुर्मुख बड़ा सुन्दर है। पद्मावती मन्दिरमें पद्मावती तथा अम्बिकाकी मूर्तियाँ और नेमिनाथ मन्दिरमें नेमिनाथकी मूर्ति सर्वथा दर्शनीय है। शेष मूर्तियाँ भी कलाकी दृष्टिसे कम सुन्दर नहीं हैं। चतुर्मुख मन्दिर बाहरके द्वारसे भीतरके द्वार तक ६३ फुट लम्बा है। मन्दिर २२ वर्ग फुट है। बाहर २४ फुट है। मण्डप और मन्दिरके द्वारों पर हर तरफ द्वारपाल मुकुट सहित वर्तमान हैं। मन्दिर भूरे पाषाणका है। इसके चार बड़े, मोटे, गोल खम्भे देखने लायक यहाँ हैं। के शिलालेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि 'गेरुसोप्पे' एक प्राचीन दर्शनीय स्थान है।

(४) हाडुहल्लि—इसका प्राचीन नाम संगीतपुर है। हाडुहल्लि भटकलसे उत्तर पूर्व ११ मील पर है। यहाँ पर भी तीनों मन्दिरोंके सिवा दर्शनीय वस्तु और कुछ नहीं है। हाँ, जहाँ-तहाँ भग्नावशेष अवश्य दृष्टिगत होते हैं। इन सबोंसे सिद्ध होता है कि एक जमानेमें यह एक वैभवशाली नगर रहा है भग्नावशेषोंमें मन्दिर, मकान और किला आदि हैं। पर अब अवशिष्ट ये चीजें भी जंगलमें विलीन होती जा रही हैं। इस समय यहाँ पर चारों ओर सघन जंगलका ही एकाधिपत्य है तीन मन्दिरोंमेंसे शिलामय एक मन्दिर अधिक सुन्दर है परन्तु साथ ही साथ जीर्ण भी। दूसरा एक मन्दिर भी शिलामय अवश्य है, पर कलाकी दृष्टिसे यह सामान्य है। तीसरा मंदिर मामूली मृण्मय है हां इसमें विराजमान २४ तीर्थंकरोंकी शिलामय मूर्तियाँ अवश्य अवलोकनीय हैं। इसमें यक्षी पद्मावतीकी मूर्ति भी है, जिसे जैन जैनेतर बड़ी भक्तिसे पूजते हैं। शेष दो मंदिरोंकी मूर्तियाँ भी

कलाकी दृष्टिसे बुरी नहीं है। हाँ ये दोनों मंदिर अनंतनाथ मंदिरके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन मंदिरोंके जीर्णोद्धारकी आवश्यकता है। यहाँ पर इस समय पुजारीके मकानके अलावा जैनोंका सिर्फ एक मकान और है यहाँ पर भी कई शिलालेख मिले हैं। ये बम्बई सरकारकी ओरसे प्रकट हो चुके हैं।

(५) भट्कल—इसका प्राचीन नाम मणिपुर है। यह नगर होन्नावर तालुकमें होन्नावरसे २४ मील दक्षिण अरब समुद्रमें गिरने वाली एक नदीके मुहाने पर बसा हुआ है। चौदहवीं और सोलहवीं शताब्दीसे यह व्यापारका केन्द्र रहा है। कप्तान हेमिलटनने इस नगरका उल्लेख गौरवके साथ किया है। १८वीं शताब्दीके प्रारंभमें यहाँ पर जैन और ब्राह्मणोंके बहुतसे मंदिर थे। जैनमंदरोंकी रचना अधिक प्राचीन कालकी है। वहाँके जैनमंदिरोंमें चंद्रनाथ मंदिर विशेष उल्लेखनीय है यह सबसे बड़ा है, साथ ही साथ सुन्दर भी। मंदिर एक खुले मैदानमें स्थित है और उसके चारों तरफ एक पुराना कोट है इसकी लम्बाई ११२ फुट तथा चौड़ाई ४० फुट है।

इसमें अग्रशाला, भोग मण्डप तथा खास मंदिर हैं। मंदिरमें दो खन हैं। प्रत्येक खनमें तीन तीन कमरे हैं। इनमें पहले अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि और पार्श्वनाथकी मूर्तियां विराजमान थीं। परन्तु अब वे मूर्तियां यहां पर नहीं हैं। भोग मण्डप की दीवालोंमें सुन्दर खिड़कियां लगी हैं। अग्रशाला का मंदिर भी दो खनका है। प्रत्येकमें दो कमरे हैं, जिनमें ऋषभ, अजित, शंभव, अभिनन्दन तथा चन्द्रनाथ की प्रतिमाएँ विराजमान थीं। वे भी अब वहाँ पर नहीं हैं। सामने १४ वर्गफुट चबूतरे पर २१ फुट ऊँचा चौकोर गुंबज वाला पाषाणमय सुंदर मानस्तंभ खड़ा है। मंदिरके पीछे ११ फुट लंबा ब्रह्मदेवका खंभा भी है। इस मंदिरको जट्टप्प नायकने बनवाया था। इसकी रक्षाके लिये निर्माताके द्वारा उस समय बहुतसी जमीनें दी गई थीं, जिनको टीपू सुलताननें ले लिया है। शांतिश्वर मंदिर भी लगभग इस मंदिरके समान था। पर अब वह मुसलमानोंके हाथ में है। पार्श्वनाथ मंदिरमें इस समय मूर्तियां अवश्य हैं। यह मंदिर ४८ फुट लंबा और १८ फुट चौड़ा है। यह शा० श० १४६५ में बना था। यहां बहुतसे शिलालेख मिले हैं। इन्हें बम्बई सरकारने प्रकाशित कराया है। इस प्रांतके अनेक शिलालेख, सुन्दर मूर्तियाँ आदि अब 'कन्नड संशोधन मंदिर' धारवाड़में बम्बई सरकारकी ओरसे रक्षित हैं।

(६) बिलगि—इसका प्राचीन नाम श्वेतपुर है यह सिद्धापुरसे पश्चिम पांच मील पर है। यहांके महत्वपूर्ण प्राचीन जैनस्मारकोंमें पार्श्वनाथमंदिर ही प्रमुख है। यह मंदिर कलाकी दृष्टिसे विशेष उल्लेखनीय है। द्राविड़ ढंगका यह मंदिर पश्चिम मैसूरके द्वार समुद्र (हलेबीडु) स्थित विष्णु मंदिरसे मिलता है। इसकी नक्काशीका काम वस्तुतः दर्शनीय है। कहा जाता है कि बिलिगि नगरको जैन राजा नरसिंहके पुत्रने बनाया था महाराजा नरसिंह बिलिगिसे पूर्व चारमील पर होसूरमें लगभग ई० सन् १२६१ में राज्य करता था। कहते हैं कि उपर्युक्त पार्श्वनाथ मंदिरको इस नगरको बसाने वाले राजाने ही बनवाया था। यहां पर भी महत्वपूर्ण कई शिलालेख हैं। ये शिलालेख भी बम्बई सरकारकी ओरसे प्रकट हो चुके हैं। श्रीयुत् एम० गणपतिरावके मतसे शा० श० १४०० से १६८१ तक बिलिगिमें जैनोंका ही राज्य था। यहांके शिलालेखोंसे सिद्ध होता है कि ऐलूर ग्राममें पार्श्वनाथ देवालयको बनवाने वाला राजा कल्लप्प (चतुर्थ), बिलिगि में पार्श्वदेव जिनालयको निर्माण कराने वाला अभिनव हिरिय भैरव ओडेय (अष्टम) और इसी बिलिगिमें शांतिनाथ देवालयको स्थापित करने वाला राजा तिम्मण्ण ये तीनों बिलिगिके जैन शासक थे। साथ ही साथ यहांके राजा रंग (त्रयोदश), राजा इम्मडि घंटेन्द्र (चतुर्दश) और राजा रंगप्प पंचदश) भी जैन धर्मानुयायी थे और इनके द्वारा जैन देवालय, मठ आदि निर्माण कराये गये थे। उपर्युक्त सभी शासकोंने इन जिनायतनोंको यथेष्ट दानभी दिया था। बिलिगिके शासकोंके राजगुरु संगीतपुरके भट्टाकलंक थे। यद्यपि उत्तर कन्नडमें मंकि, होन्नावर, कुमटा और मुरडेश्वर आदि और भी कई स्थान हैं जिनमें जैन स्मारक पाये जाते हैं और जिनका उल्लेख आवश्यक है। पर लेख वृद्धिके भयसे इस समय उन स्थानोंके सम्बन्धमें कुछ भी न लिख कर, यह लेख यहीं पर समाप्त किया जाता है। अन्तमें मैं भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभाके महामन्त्री श्रीमान् परसादीलालजी पाटनी दिल्लीको धन्यवाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृपासे गत '४२ के अप्रैल मासमें इन स्थानोंका दर्शन कर सका।

आत्मा, चेतना या जीवन

(ले० अनंत प्रसादजी B. Sc. Eng. 'लोकपाल')

संसारमें हम दो प्रकारकी वस्तुएँ देखते हैं। एक निर्जीव और दूसरी सजीव। सजीवोंका भी बाहरी शरीर या रूप-आकार निर्जीव वस्तुओं, धातुओं या रसायनोंका ही बना हुआ होता है। सजीवोंमें चेतना, ज्ञान और अनुभूति रहती है जबकि निर्जीव वस्तुएँ एकदम अचेतन, अज्ञान और जड़ होती हैं। मानव, पशु, पक्षी, कृमि कीट पतंग, मछली, पेड़ पौधे इत्यादि जानदार, सजीव या जीवधारी हैं पहाड़, नदी, पृथ्वी, पत्थर, सूखी लकड़ी शीशा, धातुएँ, जहाज, रेल, टेलीफोन, रेडियो, बिजली, प्रकाश, हवा, बादल, मकान, इत्यादि निर्जीव वस्तुएँ हैं। दोनों की विभिन्नताएँ हम स्वयं देखते पाते और अनुभव करते हैं। एक टेलीफोनके खंभेके पास यदि कोई गाना बजाना करे तो खंभेको कोई अनुभूति नहीं होगी—वह जड़ है। टेलीफोनके यन्त्रों और तारों द्वारा कितने संवाद जाते आते हैं पर वे यन्त्र या तार उन्हें नहीं जान सकते न समझ सकते हैं—उनमें यह शक्ति ही नहीं है। पर यदि मनुष्यसे कोई बात कही जाय तो वह तुरन्त उस पर विचार करने लगता है और उसके अनुसार उसके शारीरिक और मानसिक कार्य-कलाप अपने आप होने लगते हैं। एक पशु कोई चीज या रोशनी देखकर या आवाज सुनकर बहुतसी बातें जान जाता है जबकि कोई निर्जीव वस्तु ऐसा कुछ नहीं करती न कर सकती है। एक आईनेमें प्रतिबिम्ब कितनेभी पड़ते रहें आईना स्वयं उनके बारेमें कोई अनुभूति नहीं करता पर एक मानवकी आखोंमें पड़े प्रतिबिम्ब तरह तरहके विचार उत्पन्न करते हैं। जीवधारियोंको मारने, पीटने, दबाने, छेदने, जलाने आदिसे पीड़ा या दुखका अनुभव होता है जबकि निर्जीवोंको वैसा कुछ भी नहीं होता। लोहे या चान्दीके लम्बे लम्बे तार खींच दिए जाते हैं या चद्दरें तैयार कर दिए जाते है, शीशेके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते है धातुओंको आगकी तापमें गला दिया जाता है पर उन्हे जराभी पीड़ा कष्ट आदि होते नजर नहीं आते क्योंकि उनमें ज्ञान या चेतना एकदमही नहीं है

जैसे निर्जीव वस्तुओंकी किस्में रूप गुणादिकी विभिन्नताको लिए हुए अगणित, असंख्य और अनंत हैं उसी तरह जीवधारियोंकी संख्या और किस्में भी रूप, गुणादि एवं चेतनाकी कमीवेशी आदिकी विभिन्नताको लिए हुए अगणित, असंख्य और अनंत हैं। जीवधारियोंका विभाग उनकी चेतनाकी कमीवेशीके अनुसार जैन शास्त्रोंमें बड़ी सूक्ष्म रीतिसे किया हुआ मिलता है। एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रियों वाले, तीन इन्द्रियों वाले, चार इन्द्रियों वाले, पाँच इन्द्रियों वाले तथा पाँच इन्द्रियोंमे मन वाले और बेमन वाले करके कई मुख्य विभाग किए गए हैं। एक इन्द्री वाले जीव वे हैं जिनमें चेतना ज्ञान या अनुभूति कमसे कम रहती है—ये प्रायः जड़ तुल्य ही हैं—फिरभी इनमें जीवन और मृत्यु है और शरीरके साथ चेतना भी है—भलेही वह चेतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अथवा कमसे कम हो पर रहती अवश्य है। यही चेतना जड़ या निर्जीव और सजीव या जानदारके भेदको बनाती तथा प्रदर्शित करती है। चेतनाही जीवका लक्षण या पहिचान है।

अब प्रश्न यह उठता है कि निर्जीवोंमे यह ज्ञान-अनुभूतिमई चेतना क्यों नहीं रहती है और सजीवोंमे कहांसे कैसे क्यों हो आती या रहती है? विभिन्न दर्शनो और मतावलम्बियोंने इस समस्याको हल करनेके लिए विभिन्न विचारोंका आविष्कार कर रखा है। धर्मों और संप्रदायोंका मतभेद प्रथमतः यहींसे आरम्भ होता है और संसारके सारे भेदभावों एवं झगड़ोंकी जड़भी हम इसे ही कह सकते हैं। मनुष्यने अनादिकालसे अबतक ज्ञान विज्ञानमे कितनी वृद्धि की पर यह प्रश्न अबभी ज्योंका त्यों जटिलका जटिलही बना रहा। आधुनिक विज्ञानभी अबतक इसका समाधानात्मक एवं निर्णयात्मक कोई निश्चित उत्तर या हल नहीं दे सका है। जितना जितना विद्वानोंने इसे सुलझाने और समझने-समझानेकी चेष्टाकी यह उतनाही अधिकाधिक उलझता और गूढ़ होता गया।

जैनदर्शनने इस समस्याका बड़ाही विधिवत, व्यवस्थित वैज्ञानिक, परस्पर अविरोधी बुद्धिपूर्ण, सुतर्कयुक्त

और शृंखलाबद्ध समाधान संसारके सामने बड़े प्राचीन कालसे रखा है—परन्तु धार्मिक कट्टरता द्वेष विद्वेष छोटे बड़ेकी भावना तथा सुज्ञानकी कमी और तरह तरहके दूसरे कारणोंसे यह शुद्ध ज्ञान कुछही लोगों तक सीमित रह गया तथा संसारमें फैल नहीं सका। अब इस तर्क-बुद्धि-सत्यके युगमें इस शुद्ध, सही सुज्ञानको स्वकल्याण और मानव कल्याणके लिए विशद रूपसे विश्वमें फैलाना हमारा कर्तव्य है।

विविध स्थानों, समयों, वातावरणोंमें पैदा होने पलने और रहनेके कारण मनुष्यकी प्रवृत्तियोंमें महान् विभेद और अन्तर तथा विभिन्नताएँ रहती हैं। योग्यता शिक्षा और ज्ञानकी कमी-बेशीभी सभी जगह सभी व्यक्तियोंमें रहती ही हैं। इन विविध कारणोंसे विचार धर्म और दर्शनकी विविधता होना भी स्वाभाविक ही है। यदि ये स्वयं स्वाभाविकरूपमें ही विकसित होते तो कोई हर्ज नहीं था—अंतमें विकासके चरमोत्कर्षपर सब जाकर एक जगह अवश्य मिल जाते, पर सांसारिक निम्न स्वार्थ और अहंकारने ऐसा होने नहीं दिया—यही विडम्बना है। करीब करीब सभी अपनेको सही और दूसरेको कमबेश ग़लत कहते हैं। एक दूसरेकी बात समझ कर एक दूसरेसे मिलजुल कर एक निश्चित अंतिम मार्ग निकालना लोग पसन्द नहीं करते—संसारकी दुर्दशाओंका जनक और मुख्य स्रोत विरोधाभास रहा है। सारा संसार एक बहुत बड़े परिवारकी तरह एक है और मानवमात्र एक दूसरेसे संबन्धित निकटतम रूपसे उस परिवारके सदस्य हैं। अब तो विज्ञानके बहुव्यापी विकास और यातायातके साधनोंकी उन्नतिके कारण मानवमात्र और अधिक एक दूसरेके निकट आ गये हैं और आते जाते हैं। हर एकका कल्याण हर एक दूसरे और सबके कल्याणमें ही सन्निहित है। अब तो मानवमात्रके कल्याण द्वाराही अपना कल्याण होना समझकर सबको विरोधों और अज्ञान तथा कुज्ञानको जहांतक भी संभव हो सके दूर करना ही पहला कर्तव्य होना चाहिए

तर्क और बुद्धिकी कसौटी पर कसकर जो सिद्धांत ठीक, सही और सत्य जंचे उसेही स्वीकार करना और बाकीको भ्रमपूर्ण या मिथ्या घोषित करके छोड़नाही बुद्धिमानी कहा जा सकता है—अन्यथा केवल रूढ़ियोंको पकड़े रहना बड़ाही हानिकारक है। सुज्ञान या सही ज्ञानसे ही व्यक्तिकी और मानवताकी सच्ची उन्नति हो सकती है।

जो कुछ हम इस विश्व या संसारमें देखते या पाते हैं उस सबका अस्तित्व (Existance) है। यह अस्तित्व वह प्रत्यक्ष सत्य है जिसका निराकरण करना या जिसे नहीं मानना भ्रम तथा गलती है। कुछ नहीं (शून्य, Vacum) से कोई वस्तु (Matter) न उत्पन्न हो सकती है न बन या बनाई जा सकती है। मिट्टीसे ही घड़ा बनाया जा सकता है या बन सकता है बिना वस्तुके आधारके वस्तु या वास्तविक कुछ नहीं हो सकता। संसार में जो कुछ है वह सर्वदासे था और सर्वदा रहेगा—यही वैज्ञानिक, सुतर्कपूर्ण और बुद्धियुक्त सत्य है। इसके विपरीत कोईभी दूसरी धारणा ग़लत है। वस्तुओंके रूप परिवर्तित होते या बदलते बदलते रहते हैं। मिट्टीके कणोंको इकट्टा कर पानीकी सहायतासे निर्माण योग्य बनाकर घड़े का उत्पादन होता है और पुनः घड़ा टूट फूट कर ठिकरों या कणों इत्यादिमें बदल जाता है। हो सकता है कि यह हमारा संसार (पृथ्वी) किसी समय वर्तमान जलते सूर्यकी तरह ही कोई जलता गोला रहा हो या धूल-कणों और गैसों का 'लोन्दा' रहा हो और बादमें इनमें शक्लें बनती गई हों, तरह तरहके रूप होते गए हों। शकलों और रूपोंका बनना बिगड़ना तो अबभी लगा ही हुआ है। उस 'गोले' या 'लोन्दे' में जीव और अजीव दोनोंही सूक्ष्म या स्थूल रूपमें रहे ही होंगे। वस्तुओंके सूक्ष्म और स्थूल रूप एक दूसरेके संगठनओर विघटनसे बनते बिगड़ते रहते हैं। सर्वथा नया कुछभी पैदा नहीं हो सकता न पुरानेका सर्वथा नाश हो सकता है संयोग, वियोग, संघठन विघठन और परिवर्तन इत्यादि द्वारा ही हम कुछ नया उत्पन्न हुआ देखते या पाते हैं और पुरानेका विनाश हुआ सा दीखता है। पर वास्तवमें उसका विनाश नहीं होता, वह अपनी सत्ताको सदा कायम रखता है इसीसे वह ध्रुव भी कहलाता है। प्रत्येक पदार्थ बाह्य परिणमनसे अपने स्वाभाविक गुणको नहीं छोड़ता, किंतु वह ज्यों का त्यों बना रहता है। यदि उसके अस्तित्वसे इन्कार भी किया जाय तो फिर पदार्थोंकी इयत्ता (मर्यादा) कायम नहीं रहती। चेतन, अचेतन पदार्थ अपने अपने अस्तित्वसे सदाकाल रहे हैं और रहेंगे।

अचेतन जड़ पदार्थोंसे कुर्सी, मेज, तख्त, किवाड़, छड़ी, खड़ाऊँ, डैस्क, सन्दूक आदि विविध वस्तुएँ बनाये जाने पर भी उनकी जड़ता और पुद्गलपने (Matter) का अभाव नहीं होता, प्रत्युत वह सदाकाल ज्योंका त्यों बना रहता है। इससे ही उसके सदाकाल अस्तित्वका पता चलता है। चेतना जड़ वस्तुओंका गुण नहीं है किन्तु वह तो जीवका असाधारण धर्म है जो उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं पाया जाता फिर भी दोनोंका अस्तित्व जुदा जुदा है। अतः अचेतनके अस्तित्व (existance) के समान उसका भी 'अस्तित्व' है और सर्वदासे था तथा सर्वदा रहेगा। अचेतन वस्तुओं और चेतन देहधारियों (वस्तुओं) में इतना बड़ा विभेद स्पष्ट रूपसे हम पाते हैं कि यह मानना ही पड़ता है कि 'चेतना' कोई ऐसा गुण है जो जड़-वस्तुओंका अपना गुण नहीं हो सकता—क्योंकि यदि जड़ वस्तुओंमें चेतनाका गुण स्वयं रहता तो हर एक सूक्ष्म या स्थूल जड़ वस्तुमें चेतना और अनुभूति,ज्ञान थोड़ा या अधिक अवश्य रहता या पाया जाता। पर ऐसी बात नहीं है। इससे हमको मानना पड़ता है कि चेतनाका आधार या कारण जो कुछ भी हो उसका एक अपना अस्तित्व है और चेतना उसका स्वाभाविक गुण है—जो केवल मात्र जड़में सर्वथा अदृश्य या अनुपस्थित (Absent) है। किसी भी जीवधारीको लीजिये—उसका जन्म होता है और मृत्यु होती है। मृत्युके समय हम यह पाते हैं कि जीवधारीका शरीर या बाह्य रूप तो ज्यों का त्यों रहता है पर चेतना लुप्त हो गई होती है। शरीरके चेतना रहित हो जानेको ही लोकभाषामें मृत्यु कहते हैं। जब तक किसी शरीरमें चेतना रहती है उसे जीवित या जीवनमुक्त कहते हैं। शरीर तो वस्तुओं या विभिन्न धातुओंसे बना रहता है और यदि चेतना शरीरको बनाने वाले धातुओंका गुण रहता तो शरीरसे चेतना कभी भी लुप्त नहीं होती—पर चूंकि हम यह बात प्रत्यक्ष रूपसे देखते या पाते हैं इससे हमें मानना पड़ता है कि चेतना शरीरका निर्माण करने वाली वस्तुओं या धातुओंका अपना गुण नहीं हो सकता। तब चेतनाका आधार या स्रोत क्या है या वह कौनसी 'सत्ता' है जो जब तक शरीरमें विद्यमान रहती है तब तक उसमें चेतना रहती है और वह सत्ता हट जाने पर चेतना नहीं रहती—अथवा चेतना नहीं रहनेका अर्थ उस सत्ता' का नहीं रहना ही है और चेतना रहने या पाए जानेका अर्थ उस 'सत्ता' का रहना ही है। इसी 'सत्ता' को—जिसका गुण चेतना है या जिसके विद्यमान रहनेसे किसी शरीरमें चेतना रहती है भारतीय दार्शनिकोंने 'आत्मा' या 'जीव' कहा है आत्माका ही अपना गुण चेतना है। जहाँ आत्मा होगा वहाँ चेतना होगी जहाँ आत्मा नहीं रहेगा वहाँ चेतना नहीं होगी। पर यह चेतना भी किसी शरीर या किसी रूपी वस्तुमें (जिसे हम शरीर कहते हैं) ही पाई जाती है कि बिना शरीरके कहीं भी चेतना यों ही अपने आप परिलक्षित नहीं होती। इसका अर्थ यह होता है कि संसारमें बिना किसी प्रकारके शरीरके आधारके आत्मा या चेतनाका होना या पाया जाना सिद्ध नहीं होता। चेतना और वस्तु शरीरका संयुक्तरूपही हम जीवधारीके रूपमें पाते हैं। परन्तु चूंकि चेतना निकल जाने पर भी शरीर ज्योंका त्यों बना रहता है उसका विघटन नहीं होता है इससे हम मानते हैं कि चेतनाका आधार कोई अलग 'सत्ता' है जो वस्तुके साथ रहते हुए भी उससे अलग होती है या हो सकती है। इस तरह जड़ वस्तुकी और आत्माकी अलग अलग अवस्थिति (existence) और 'सत्ताएँ' मानी गई।

हर एक वस्तुके गुण उस वस्तुके साथ सर्वदा उसमें रहते हैं—गुण वस्तुको कभी भी छोड़ते नहीं। दो वस्तुयें मिलकर कोई तीसरी वस्तु जब बनती है तब उस तीसरी वस्तुके गुणभी इन दोनों वस्तुओंके गुणोंके संयोग और सम्मिश्रणके फलस्वरूपही होते हैं—बाहरसे उसमें नये गुण नहीं आते। इतनाही नहीं पुनः जब वह तीसरी वस्तु विघटित होकर दोनों मूल वस्तुओं या धातुओंमें परिणत हो जाती है तो उन मूल वस्तुओंके गुणभी अलग अलग उन वस्तुओंमें ज्योंके त्यों संयोगसे पहले जैसे थे वैसेही पाए जाते हैं—न उनमें जरासी भी कमी होती है न किसी प्रकारकी वृद्धि ही। यही वस्तुका स्वभाव या धर्म' है और सृष्टिका स्वतःस्वाभाविक नियम। इसमें विपरीतता न कभी पाई गई न कभी पाई जायगी।

दो एक रसायनिक पदार्थोंका उदाहरण इस शाश्वत 'सत्य' को अधिक खुलासा करनेमें सहायक होगा। तूतिया (नीला थोथा Copper Sulphate या $CuSO_4$) में तांबा, गंधक और आक्सिजन निश्चित परिमाणोंमें मिले रहते हैं। तूतियाके गुण इन मिश्रणवाली मूल

धातुओं या रसायनोंके गुणोंके मिश्रित फलस्वरूप अपने विशेष होते हैं—पर पुनः जब किसी प्रक्रिया या प्रक्रियाओं द्वारा इन विभिन्न मूल धातुओंको अलग अलग कर दिया जाता है तो उनके अपने गुण हर धातुके अलग अलग उन धातुओंमें पूर्णतः पाए जाते हैं या स्वभावतः ही रहते हैं। अब दूसरा उदाहरण लीजिए—गंधकका तेजाब (Sulphuric acid, $H_2 So_4$) इसमें हाइड्रोजन, गंधक और आक्सिजनका संमिश्रण (Compounding) रहता है, इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं पर इसको बनाने वाली मूल धातुएँ या रसायनें अलग अलग कर दो जानेपर पुनः अपने मूल गुणोंके साथही पाई जाती हैं न जरा कम न जरा अधिक, सब कुछ ज्योंका त्यों। गंधक और आक्सिजन दोनों ही (उपरोक्त) दोनों सम्मिश्रणों (Compounds) में शामिल थे। दोनों सम्मिश्रणोंके गुण अलग अलग विभिन्न थे। पर जब गंधक और आक्सिजन पुनः सम्मिश्रणोंमें से निकल गए या अलग कर लिए गए तो उनमे गंधक और आक्सिजनके अपने अपने गुण ही रहे। एक तीसरा उदाहरण लीजिए:— जल (H_2O)। इसमें हाइड्रोजन और आक्सिजनका मिलाप होता है। जलके गुण हम बहुत कुछ देखते, पाते या जानते हैं। जल एक तरल या द्रव (Liquid) पदार्थ है, जबकि इसके बनाने वाले दोनों अंश (Constituents) गैस या वायुरूपी पदार्थ हैं। सबके गुण अलग २ निश्चित हैं। शुद्ध अवस्थामें इनके अपने गुणोंमें जरा भी फर्क कभी भी कहीं भी किसी प्रकार भी नहीं पड़ सकता। इतनाही नहीं सम्मिश्रण होनेके पहले, सम्मिश्रणकालमें एवं सम्मिश्रण विघटित होने पर हर मूलधातुके गुण सर्वदा ज्योंके त्यों उन धातुओंके कणोंमें रहते हैं उनसे अलग नहीं होते न कमवेश होते हैं। हां, सम्मिश्रणकी अवस्थामें उन्हीं गुणोंके आपसमें संयुक्त रूपसे संघबद्ध हो जानेके कारण सम्मिश्रित वस्तुके गुणोंका निर्माण अपने आप गुणोंके सम्मिश्रण या संघबद्धताके फलस्वरूप (As a resultant) हो जाता है। पर पुनः संघबद्धता टूटने या विघटन होने अथवा मिश्रित धातुओंके अलग अलग हो जानेपर वे मूलगुण भी पुनः ज्योंके त्योंही अलग अलग हो जाते हैं या पाए जाते हैं। सम्मिश्रित या संघबद्ध वस्तुके आंशिक विघटन स्वरूप कोई एक या दो मूलधातुएँ ही अलग अलग निकलें तब भी उनके अपने गुणही उनमें अलग अलग रहेंगे। अथवा ६–७ धातुओंके किसी सम्मिश्रित वस्तुसे दो दो तीन तीन धातुओंकी सम्मिश्रित वस्तुएँ अलग अलग निकलें तब भी उन अलग अलग हुए छोटे सम्मिश्रणोंमेंभी वे ही गुण पाये जायंगे जो उनके बनाने वाली धातुओंको यदि अलग-से उन्हीं अनुपातोंमें अलग मिलाकर वैसाही कोई सम्मिश्रण कभी बनाया जाता। इत्यादि। सारांश यह कि किसी भी वस्तुका गुण, शुद्ध दशामें सर्वदा वही रहता है। जो उसका गुण है; मिश्रणकी दशामेंभी मिश्रित वस्तुका गुण सर्वदा वही रहता है जो उस मिश्रणका होता है; जब भी मिश्रणसे वह वस्तु पुनः मूलरूपमें निकलती है तो वह अपने मूलगुणोंके साथही होती है और एक मिश्रणसे निकलकर दूसरा मिश्रण बनाने पर अथवा विभिन्न मिश्रणोंके संघटन या विघटनोंकी संख्या चाहे कितनी भी क्यों न हो मूल वस्तुओं या धातुओंके मूलगुण सर्वदा ज्योंके त्यों उनमें सम्मिलित रहते हैं और विभिन्न मिश्रणोंके गुण भी सर्वदा वे ही गुण होते हैं जो विशेष धातुओं, वस्तुओं या रसायनोंके विशेष परिमाणोंमें मिलाए जाने पर कभी भी हों या होते हैं। ये स्वयं सिद्ध प्रकृति या सृष्टि (Nature or Creation) के स्वाभाविक (Fundamental) नियम हैं। ये शाश्वत, सत्य और ध्रुव हैं। इनमें विश्वास न करना या कुछ दूसरी तरहकी बातें सोचना समझना भ्रम, अज्ञान, गलती या ज्ञानकी कमीके कारण ही हो सकता है। आधुनिक विज्ञानने इन तथ्यों या सत्योंका प्रतिपादन ध्रुव या निश्चित और सर्वथा संशय रहित रूपसे कर दिया है-इसमें कोई शंका या आशंका या अविश्वासकी जगह ही नहीं रह गई है। वस्तुका अपना गुण या अपने गुण हजारों लाखों वर्षोंमें भी नहीं बदलते सर्वदा-शास्वत रूपमे वस्तु और गुण एकमेक रहते हैं। खनिज पदार्थोंको ही लीजिए लोहे वाले पत्थर (Iron pyrites) और आलुमीनियम वाले पत्थर (बौक्साइट Bauxite) न जाने सृष्टिके आरम्भमें जब पृथ्वी जमकर ठोस पदार्थके रूपमें पृथ्वी हुई तबसे कब बने थे पर अब भी उनके गुण ज्यों के त्यों हैं। सभी धातुओं और पदार्थोंके साथ यही बात है। गन्धक या आक्सिजन या हाइड्रोजन या तांबा-के सम्मिश्रणके दो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। गन्धक इत्यादिके जो गुण आजसे हजारों वर्ष पहले थे वे ही

अब भी हैं और वे ही आगे भी सर्वदा रहेंगे । गुण भी वस्तुके परिवर्तनके साथ ही बदल सकते हैं अन्यथा नहीं। वस्तुकी शुद्ध अवस्थाके गुण वस्तुकी शुद्ध अवस्थामें सर्वदा एक समान ही पाए जायेंगे कभी भी कमवेश नहीं। जब वस्तुओंका सम्मिश्रण होता है तब उनके गुणोंका समन्वय होकर नए गुण परिलक्षित होते हैं पर मूल वस्तु-के मूलगुण सर्वदा मूलवस्तुमें पूर्ण रूपसे सन्निहित रहते हैं-न अलग हो सकते हैं न कमवेश।

आत्माका गुण चेतना और जड़ वस्तुओंका गुण जड़त्व (अचेतना) भी अनादिकालसे उनके साथ हैं और रहेंगे। दोनोंमें संयोग होनेके कारण उनके गुणोंका समन्वय होकर जीवधारियोंके गुण विभिन्न रूपोंमें हम पाते हैं पर हर समय आत्माके गुण आत्मामें ही रहते हैं और शरीरको बनाने वाली जड़ वस्तुओं और रसायनोंके गुण जड़ वस्तुओं और रसायनोंके कारणों और संघोंमें ही रहते हैं। संयोगके कारण न तो आत्माका चेतनगुण जड़ वस्तुओंमें चला जाता है न जड़ वस्तुका गुण (जड़त्व) आत्मामें और जब भी दोनों अलग अलग होते हैं अपना अपना पूराका पूरा गुण लिए हुए ही अलग होते हैं।

विभिन्न जीवधारियोंके कार्य कलाप उनके शरीरकी बनावटके अनुसार ही होते हैं और हो सकते हैं । एक गाय गायके ही काम कर सकती है, एक चींटी चींटीके ही काम कर सकती है-एक सिंह सिंहके ही काम कर सकता है-अन्यथा होना कठिन और असंभव एवं अस्वाभाविक है। एक मानव-शरीरसे जो कार्य हो सकते हैं वे एक पशु शरीरसे नहीं हो सकते। एक पशु-शरीरके कार्य एक पक्षी-शरीरसे नहीं हो सकते। एक पक्षीके कार्य कृमि-कीट शरीर धारियोंसे नहीं हो सकते इत्यादि। जीवात्मा शरीरके साथ एक मेक रहकर शरीरको चेतना मात्र प्रदान करता है पर उसकी शरीरकी कार्य क्षमताको बदल नहीं सकता*।

"जीव" (आत्मा) की चेतना भी शरीरकी बनावट एवं सूक्ष्मता स्थूलताके अनुसार कमवेश रहती है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानचेतना इतनी कम रहती है कि हम उन्हें जड़तुल्य ही मान लेते हैं । जैसे जैसे शारीरिक क्रमोन्नति रूपमें (Evolution by stages) होता जाता है आत्माकी चेतनाका बाह्य विकास भी उसी अनुरूप बढ़ता जाता है। एकेन्द्रियमें भी कितनी ही किस्में हैं जिनमें एक शरीरसे दूसरे शरीरमें ज्ञान चेतनाकी उत्तरोत्तर वृद्धि पाई जाती है। एकेन्द्रियसे द्वीइन्द्रिय इत्यादि करके उत्तरोत्तर पंचेन्द्रियोंमें सबसे अधिक आत्मचेतना बाह्य रूपमें परिलक्षित होती है। उनमें भी मन वाले जीवोंमें और सर्वोपरि मानवोंमें चेतना अधिकसे अधिक उन्नत अवस्थामें मिलती है इसे अंग्रेजीमें विकाशवाद (Evolution) कहते हैं जिसकी हम अपने जैनशास्त्रोंमें वर्णित 'उर्ध्व गति' से तुलना लगा सकते हैं। (अगले अंकमें समाप्त।)

* इस विषयकी थोड़ी अधिक जानकारीके लिए मेरा लेख "शरीरका रूप और कर्म" देखें जो ट्रैक्टरूपमें अमूल्य अखिल विश्व जैनमिशन, पो० अलीगंज, जि० एटा, उत्तर प्रदेशसे मिल सकता है।

सूचना

जैनसमाजका ५० वर्षका इतिहास

बाबू दीपचन्द्रजी जैन संपादक वर्धमान १६०१ से १६५० तकका तैयार कर रहे हैं। जिन भाइयोंके पास इस सम्बन्धमें जो सामग्री हो वह कृपया उनके पास निम्न पते पर तुरन्त भेजनेकी कृपा करें।

बाबू दीपचन्द जैन, सम्पादक वर्धमान, तेलीवाड़ा, देहली.

प्राचीन जैन साहित्य और कलाका प्राथमिक परिचय

(एन० सी० वाकली वाल)

साहित्य और कलामें जैन समाजकी हजारों वर्ष प्राचीनकालकी संस्कृति भरी पड़ी है। जैनधर्मका प्रचार बौद्धधर्मकी भांति विदेशोंमें नहीं हुआ था किन्तु वह भारतवर्षमें ही सीमित रहा। इस देशमें धार्मिकता, विद्वेष और विदेशी आक्रमणोंके कारणोंके कारण जैन-साहित्य और जैनकलाका रोमांचकारी हनन हुआ वह तो एक ओर, किन्तु स्वयं जैन धर्मावलम्बियोंकी असावधानी और स्वामित्वजालसामें भी विशेष कर साहित्यका विनाश और प्रतिबंध हुआ। फलतः अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन रचनाओंका अभी तक पता नहीं लग पाया है और अनेक कृतियों परसे जैनत्वकी छाप मिट चुकी है।

फिर भी जैन साहित्य इतना विशाल और समृद्ध है कि ज्यों ज्यों उसको बंधनमुक्त किया जा रहा है या प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता रहा है त्यों त्यों अनेक महत्त्व-पूर्ण रचनायें उपलब्ध होती आरही हैं परन्तु यह कार्य अभी तक बहुत मंदगतिसे ही चल रहा है। उत्तर भारत और मध्य भारतमें, जहाँ कि विद्वानोंने विरोधके बावजूद ग्रन्थ प्रकाशनमें प्रगति जारी रखी और जैनग्रन्थोंको बंधनमुक्त कराने, संग्रहालय स्थापित कराने एवम् जिनवाणीके उद्धारके प्रति समाजमें चेतना लानेका कार्य अनवरत किया, वहां भी अब तक सभी भण्डारोंकी सूचियाँ एकत्र नहीं हो सकीं। कहां कहां किन किनके अधिकारमें कुल मिला-कर कितने हस्तलिखित ग्रन्थ हैं इसका मोटा ज्ञान भी अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। और दक्षिण प्रान्तका हाल तो और भी अधिक चिन्तनीय है। दक्षिणकी कनड़ी, तेलगू आदि लिपियोंमें बड़ी संख्यामें दिगम्बर जैन साहित्य है और वह उत्तर व मध्य भारतकी अपेक्षा प्राचीन भी है परन्तु उसमेंसे थोड़े ही साहित्यकी प्रतिलिपि देवनागरीमें हो पाई है। दक्षिण भारतकी भाषा और लिपि शेष भारतकी भाषा और लिपिसे अत्यन्त क्लिष्ट और असम्बद्ध होनेके कारण इधरकी प्रगतिका प्रभाव उधर बहुत ही कम मात्रामें पड़ा, उधरके जैनबंधुओंसे इधरके जैन-बंधुओंका सम्पर्क भी कम पड़ता गया उनके सामाजिक रीति रिवाज और पूजा विधानकी क्रियायें उधरके अन्य धर्मावलम्बियोंके रीति-रिवाज और क्रियाकाण्डसे अधिकाधिक मिलती चली गईं और आज अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है कि दक्षिणके कई स्थानोंमें जैन संस्कृतिका ही एक प्रकाशसे लोप हो गया है। उधरके अनेक मन्दिरोंकी अवस्था अतिशय शोचनीय हो गई है। उन मंदिरोंमें जो ग्रंथ रहे होंगे या हैं उनकी अवस्थाका अनुमान, सहज ही किया जा सकता है। उत्तर व मध्य भारतमें कागज पर लिखनेकी प्रथा प्रचलित होनेके बाद भी दक्षिण भारतमें ताड़पत्र और भोजपत्रका उपयोग बहुत समय तक होता रहा था और उन ताड़पत्रों पर लगातार तेल ब्रश न करनेके कारण उनकी आयु असमय में क्षीण हो जाना अनिवार्य है; चूहों, कीड़ों और सर्दी पानीसे भी वहांके ग्रंथोंका विनाश काफी मात्रामें होगया होगा, जबकि वे असावधानी और अवहेलनासे ग्रसित हुये होंगे। फिर भी भट्टारकोंके अधिकारमें व कुछ मंदिरों और व्यक्तियोंके संग्रहालयोंमें एक बड़ी राशिमें अब भी ग्रंथ मौजूद हैं परंतु उनको प्राप्त करनेमें या वहीं पर उनकी सुरक्षाका समुचित प्रबंध करनेमें शीघ्रता नहीं की जायगी तो भय है कि जैनसमाज इस अमूल्य निधिसे सदाके लिये हाथ धो बैठेगी।

जिस किसी वस्तु पर जैनधर्म और जैनपुरातत्व-सम्बन्धी कोई लेख उपलब्ध हो वही साहित्य है। अतएव ग्रन्थोंके साथ साथ शिलालेख, ताम्रपत्र, पट्टावलियां, गुर्वावलियां, मूर्तिके नीचेका उत्कीर्ण भाग, चरणपादुका-के लेख, ऐतिहासिक पत्र आदि सभी सामग्री साहित्यके इस व्यापक अर्थमें समावेशित हैं। समय निर्णय, तत्त्व विचार आदिकी दृष्टिसे यह सभी सामग्री अत्यन्त महत्त्व रखती है और भारतीय इतिहासका प्रत्येक अध्याय इस पुरातत्त्व को प्रकाशमें न लानेसे अपूर्ण रहता है।

अतएव साहित्यका मूल्यांकन उस पर लगी हुई लागत परसे नहीं किया जा सकता है। यदि लेखकोंका कागज कलम स्याहीका मूलप्रतिका और स्थानका साधन जुटाकर आज एक ग्रंथकी प्रतिलिपि १००) के खर्चसे हो सकती है तो उसमें सालभरका समय, उसको मूल प्रतिके साथ मिलाकर शुद्ध करनेमें विद्वानके कार्य और देखरेख का मूल्य मिलाकर उसका जो मूल्यांकन हो सकता है उससे

की गुणा मूल्य भी उसकी प्राचीनतर प्रतिके लिये ऐतिहासिक दृष्टिसे यथेष्ट नहीं है। यह अगाध सम्पत्ति जो पूर्वाचार्यों मुनियों, भट्टारकों, विद्वानों और अन्य पूर्वजोंने संसारके प्राणियोंके कल्याणकी भावनासे अपने ध्यान स्वाध्याय और आत्म चिन्तवनको गौण करके समाजके हाथोंमें सौंपी है उसकी रक्षाका उपाय न करना वास्तवमें अपने पूर्वजोंकी, धर्मकी और भगवान केवलीकी अवहेलना करना है क्योंकि श्रुतज्ञानको तीर्थंकर भगवानके समान ही पूजनीय माना गया है। साहित्यकी किसी भी अजोड़ वस्तुका विनाश होनेके कारण धर्मसे लेकर देश तकका और कभी कभी संसार तकका अहित हो सकता है। यदि कुन्दकुन्द स्वामीकी कुछ अनुपलब्ध कृतियोंकी भाँति समयसारादि कृतियां भी विनष्ट होगई होतीं तो अनेक सैद्धान्तिक शंकायें जो विद्वानोंके मनमें उठा करती हैं वे या तो उठती ही नहीं, या उनका समाधान प्रमाण पूर्वक तुरन्त हो जाता।

ग्रन्थ रचना किन्हीं खास व्यक्ति, समुदाय या फिरके के लिये नहीं किन्तु प्राणीमात्रके हितके लिये की गई है, ज्ञानोपार्जन द्वारा आत्मस्वरूपको पहचानने और आत्म कल्याणके निमित्त तत्पर होनेसे ही शास्त्रोंकी सच्ची भक्ति होती है और वह ज्ञानोपार्जन शास्त्रोंकी आलमारीके सामने अर्घ्य चढ़ाने और स्तुति पढ़नेसे नहीं, उनके पठन पाठनसे होती है। अतएव उनके पठन पाठनकी सुविधाका अधिकसे अधिक प्रसार करना ही जिनवाणीके प्रति सच्ची श्रद्धा और भक्ति है। इसके प्रतिकूल उनके पठन पाठन पर रोक लगाने और उनको तालोंमें बंद कर उन पर स्वामित्व स्थापित करनेके परिणाम स्वरूपमें जो अवस्था उत्पन्न हुई, वह वर्णातीत है।

रोकथाम और तालाबन्दीके कारण पठन पाठनकी प्रणालीमें ह्रास हुआ उसके साथही अब मुद्रणकलाके युगमें बहुतसे ग्रन्थ छप जानेके कारण हस्तलिखित ग्रन्थों परसे पठन पाठनकी प्रथा उठती जा रही है। परन्तु यह न भूलना चाहिये कि हस्तलिखित ग्रंथ परसे स्वाध्याय करनेमे प्राचीन समयके कागजकी बनावट, स्याहीकी चमक, अक्षरकी सुंदरता व सुघड़ता तत्कालीन लेखन-कला और परिपाटीके प्रत्यक्ष दर्शनसे हृदयमें जो श्रद्धा, भक्ति और भावशुद्धिका उदय और संचार होता है वह मुद्रित ग्रंथपरसे नहीं हो सकता है। इस कथनकी सत्यता उन सभी व्यक्तियोंने स्वीकारकी है जिनने छपे ग्रंथको स्वाध्याय करते करते कारणवश उसी ग्रंथकी प्राचीन प्रतिसे स्वाध्याय करना शुरू किया है। हस्तलिखित ग्रंथ परसे स्वाध्याय करनेमें प्राचीनताकी छाप बनी रहती है और इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि ग्रंथोंकी देख रेख बराबर रहनेसे चूहे, दीमक, कीड़ और सर्दी आदि उपद्रवोंसे ग्रंथ बचे रहते हैं। अतएव जिनवाणीको हमेशा उपयोगकी वस्तु समझकर हस्तलिखित ग्रंथों परसे पठन पाठन करनेकी प्रथाको प्रोत्साहन देना आवश्यक है। एक तो प्रतिलिपि करानेमें खर्च बहुत आता है, दूसरे लेखकोंका और मूल शुद्ध प्रतिका मिलना कठिन होनेसे हस्तलिखित ग्रंथोंकी कहींसे मांग आती है तो वह सहजही ठीक रीतिसे और ठीक समय पर पूरी नहीं हो पाती है इस कारण दिन दिन छापेके ग्रंथोंपरसे पठन पाठनका रिवाज बढ़ता जा रहा है। परन्तु अनेक कारणोंसे ऐसा होना ठीक नहीं है। यदि इसी प्रकार होता रहा तो हस्तलिखित ग्रंथोंकी लिपिका पढ़ना भी कुछ वर्षों बाद कठिन हो जायेगा। आज भी बहुतसे पंडित प्राचीन प्रतियोंकी लिपि पढ़नेमें असमर्थ रहते हैं कारण उनको अभ्यास नहीं है। अतएव जहां तक संभव हो, मंदिरोंमें, शास्त्रसभाओंमें, उदासीनाश्रमोंमें और मुनिसंघोंमें शास्त्र स्वाध्याय हस्तलिखित प्रति परसे होना चाहिये।

इस सुरक्षात्मक दृष्टिसे ग्रंथोंकी किसी एक स्थान पर अनेकानेक प्रतियोंका जमाव करनेकी अपेक्षा जहां जहां जिन ग्रंथोंकी आवश्यकता हो वहां वहां आवश्यकतानुसार प्रतियोंका विकेन्द्रीकरण होना चाहिये।

यह तभी हो सकता है जबकि छोटे बड़े सभी स्थानोंके मंदिरों, भंडारों व व्यक्तियोंके आधीन हस्तलिखित ग्रंथोंकी सूची प्राप्तकी जाय और उन पृथक् पृथक् सूचियां परसे एक सम्मिलित सूची ग्रन्थ कमसे कम तैयार हो जिससे पता लगे कि किस ग्रन्थकी कुल मिलाकर कितनी प्रतियाँ हैं, वे कहां कहां हैं किस अवस्थामें हैं, वे जहां हैं वहां उनका पठन पाठनके लिये उपयोग होता है या नहीं, यदि नहीं तो अन्य स्थान पर उनकी आवश्यकता है या नहीं। यदि अन्य स्थान पर उनकी आवश्यकता हो तो या तो अन्य-स्थानके अनावश्यक ग्रंथोंके द्वारा या उसका उचित मूल्य निर्धारण द्वारा या वापसीके करारपर ग्रंथको एक स्थानसे दूसरे स्थान भिजवानेकी व्यवस्था होनी चाहिये। प्राचीनतर

प्रतिका ज्ञानभी सम्पूर्ण स्थानोंकी सूची प्राप्त होने पर ही हो सकता है। एक स्थानकी आवश्यकता अनावश्यकताका ज्ञान भी सम्पूर्ण स्थानोंकी सूचीके बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता है तथा जीर्ण ग्रंथोंका उद्धारभी तब तक असंभव बना रहता है। अपूर्ण ग्रन्थोंकी पूर्तिभी सम्पूर्ण स्थानोंकी सूची प्राप्त होने पर अनायास और सहज हो हो सकती है। अतएव सभी दृष्टियोंसे सूचीका कार्य पूरा करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तथा प्राथमिक आवश्यकताका विषय है। इसी प्रकार कलाभी अत्यन्त चिन्तनीय स्थिति-में है। कलाके कई भेद हैं, यथा—

कला

खनन, वास्तु, शिल्प, लेखन, चित्र, सूची, नृत्य, अनुष्ठान ध्यान आदि। इसके प्रतीक :—

नक्काशी, पच्चीकारी सुघड़ता, निर्माण, दृढ़ता, सुन्दरता, भव्यता आदि अनेक दृष्टियोंसे जैन समाजकी ये वस्तुयें अपना सानी नहीं रखतीं और प्राचीन सभ्यताके स्मारक स्वरूप इन वस्तुओंकी गणना संसारकी अलभ्य और अद्वितीय वस्तुओंमें है। इनमेंसे अगणित वस्तुयें अब तक भी भूगर्भमें छिपी हुई हैं जिनका उद्धार अवश्यमेव करना चाहिये। इन वस्तुओंके निर्माणमें जैन समाजकी असंख्य धनराशि लगी है, व अबभी लगती आ रही है। न जाने कितने बंधुओंका इसके निर्माण और रक्षामें समय और शक्तिका ही नहीं किन्तु जीवन तकका बलिदान हुआ है। साहित्य और कलाके आधार पर ही समाजकी संस्कृतिका निर्माण होता है।

(१) नित्य व नैमित्तिक धार्मिक कर्म (२) धार्मिक अनुष्ठान (३) आत्माचिंतन (४) तत्व विचार (५) अहिंसा प्रधान जीवन (६) सत्यता (७) नैतिक दृढ़ता (८) सदसद् विवेक बुद्धि (९) वीरता (१०) शिष्ट सभ्य रहन सहन (११) धर्म प्रभावना (१२ ज्ञान प्रचार (१३) उच्च सहवास (१४) राजनीतिज्ञता (१५) वाणिज्य चतुरता (१६ अधिकार रक्षण (१७) परम्परा पालन, आदि लोकोत्तर गुण साहित्य और कलाकी ही देन हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि जैन समाजको अभीतक सब स्थानोंके विषयमें इस कलाके प्रतीक मंदिर मूर्ति आदिका सम्पूर्ण परिचय नहीं है। इस परिचयके अभावमें ही आये दिन पवित्र मंदिर, मूर्ति आदिके विषयमें अनेक दुर्घटनायें सुननेमें आती हैं, जब वे किसी अन्य धर्मावलम्बी या सरकारके अधिकारमें चली जाती हैं तब दौड़धूप, मुकद्दमाबाजी, प्रार्थनायें आदिमें बहुत कुछ समय, शक्ति और द्रव्य लग कर भी पूरी सफलता मुश्किलसे मिलती है परिचयके अभावमें ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करनेमें भी कठिनता आती है। इसलिये साहित्य और कलाकी सभी वस्तुओंका सभी स्थानोंसे पूरा पूरा परिचय प्राप्त करना तत्सम्बन्धी वर्तमान अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रथमावश्यक और अनिवार्य है। इसमें किसी दूसरे अभावकी अपेक्षा समाजकी उदासीनता ही देरीके लिये जिम्मेदार है। यदि समाज लगनसे काम ले, व्यवस्थित रीतिसे कार्य सम्पादन करना आरम्भ करे तो बरसोंका काम दिनोंमें पूरा हो सकता है अन्यथा मोटी मोटी रकमें खर्च करके भी दिनोंका काम बरसोंमें पूरा नहीं हो सकेगा जैसा कि आज तक का इतिहास बतलाता है।

बगैर योजनाके, बगैर क्रमिक उन्नतिशील व्यवस्थाके, कोई भी महान कार्य सम्पादित नहीं हो सकता है। कहना नहीं होगा कि हमारी समाजका साहित्य और कलाका क्षेत्र लगभग अखण्ड भारतके क्षेत्र जितना ही विस्तीर्ण है। प्रत्येक स्थानसे इन विषयोंका वास्तविक परिचय प्राप्त करनेका कार्य कहनेमें जितना सरल है, करनेमें उतना सरल नहीं है। परन्तु कार्यकी महानतासे भय खाकर उदासीन और निश्चेष्ट होना कोई बुद्धिमानी नहीं। आज जो रेगिस्तानोंको सरसब्ज किया जा रहा है, दुर्गम पहाड़ और बीहड़ जंगलोंको आवागमन और खेतीके योग्य बनाया जा रहा है, वह क्या कोई साधारण काम है? परन्तु निरन्तरके प्रयास, दृढ़ता, स्वावलंबन सहयोग आदि-के सहारे इन महान कार्योंमें सफलता मिलती आ रही है। भारत भरका बालिग मताधिकार निर्वाचन क्षेत्रोंके द्वारा

प्रदान किया जा चुका है यह देखते हुए यह कार्य कोई कठिन नहीं है यदि सुव्यवस्थित रीतिसे किया जाय।

वह रीति यह है कि प्रथम प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर लिया जाय। प्रारम्भिक परिचय प्राप्त करनेके बाद विस्तृत परिचयके लिये सभी सुविधाओंका मार्ग उन्मुक्त और प्रशस्त हो जायगा।

इस प्रारम्भिक परिचय प्राप्तिका कार्य एक निर्दिष्ट फार्म पर होना चाहिये कि जिससे अपने आप इन दोनों विषयकी डिरेक्टरी तैयार हो जाय, आगामी पत्रव्यवहारके लिये सब स्थानोंके नाम पते प्राप्त हो जांय, वीरसेवा मंदिरकी ओरसे प्रचारक भेजकर शास्त्रभंडारोंके निरीक्षणका कार्य प्रारम्भ हुआ है उसके लिये प्रत्येक स्थानका प्रोग्राम पहलेसे ही इस प्रकारका निश्चित कर लिया जाय कि उस दिशामें और उस लाइनमें कोई महत्वका स्थान छूटने न पावे और जिन स्थानोंकी शास्त्र सूची किसी सरस्वती भवनमें या किसी अन्य स्थान पर पहलेसे आई हुई हो तो उसे प्रचारक साथमें लेते जावें कि जिसको मिलान करके पूरी करनेका कार्य सहज और शीघ्र हो जाय।

ये फॉर्म प्रत्येक शास्त्र भंडार और प्रत्येक धर्मस्थानके लिये अलग अलग हों, छोटे आकारके पुष्ट कागज पर छपाये जावें और Loose leaf फाइलिंगके लिये पहले से ही छेद (Punch) करा दिये जावें। इनमे पूछताछके विषय इस प्रकारके रखे जायें:—

साहित्य सम्बन्धी फार्म—भंडार किसके अधिकार में है। किस स्थान पर है। सुरक्षाकी दृष्टिसे वह स्थान ठीक है या नहीं। हस्तलिखित ग्रन्थोंकी कुल संख्या। ताड़पत्रादि ग्रन्थोंकी संख्या। वर्षमें १, २ बार वेष्टन खोल कर ग्रन्थ देखे जाते हैं या नहीं। ग्रन्थोंकी सूची तैयार है या नहीं। अतिशय प्राचीन ग्रन्थोंका नाम व संख्या। मरम्मत योग्य ग्रन्थोंका नाम व संख्या। ग्रंथोंके देन लेनका लेखा रखा जाता है या नहीं। भंडारके कार्यकर्ताका नाम व पता। वहांकी जनता किस विषयोंके ग्रन्थोंका पठन पाठन करती है और किस विषयके ग्रन्थोंका वहां उपयोग नहीं हो रहा है। किन विषयोंके या कौन कौन ग्रन्थ मंगवाने की वहाँ आवश्यकता है। आदि।

धर्मस्थान सम्बन्धी फार्म:—मन्दिर या धर्मस्थान किस पंचायत या व्यक्तिके अधिकारमें है। किस स्थान पर है। मंदिरमें मूर्तियोंकी संख्या, प्राचीन मूर्तियोंकी संख्या और उन पर अंकित हो तो सम्वत्। प्राचीन यन्त्र और शिलालेखादि पुरातत्व सामग्रीका संक्षिप्त परिचय। मंदिरकी वार्षिक स्थायी आय और खर्चके अंक। मन्दिर सम्बन्धी स्थायी जायदादका संक्षिप्त परिचय। मन्दिरकी अस्थायी सम्पत्तिका अनुमानिक मूल्यांकन। पूजन प्रक्षाल नियमित रूपसे करने वालोंकी संख्या। मन्दिर सम्बन्धी पंचायतीकी घर संख्या व जन संख्या। पंचायती मुखिया या कार्यकर्ताका नाम व पता। जीर्णोद्धार आदिकी आवश्यकता क्या है और उसमें कितना व्यय होनेका अनुमान है। आदि। पुरातत्व सम्बन्धी संस्थाओं तीर्थक्षेत्र कमेटियों और सरस्वती भवनोंके अतिरिक्त अन्य सदाशयी महानुभावोंको भी उपरोक्त दोनों फार्मोंका ढाँचा विचार पूर्वक निश्चित कर लेना चाहिये और फार्म छपवाकर उसकी खानापूर्तिके लिए यह कार्य व्यवस्थित रूपमें तत्काल चालू होकर शीघ्रतया सम्पादित हो जाना चाहिए।

हालकी मर्दुमशुमारीके विस्तृत आंकड़े प्रकाशित होने पर इस अनुमानकी पुष्टि ही होगी कि छोटे गाँवकी जनता बड़े गाँव और नगरोंकी ओर आकृष्ट होती आ रही है जिसके कारण छोटे गांवोंकी आबादीमें इतनी तेजीसे कमी हो रही है कि वहाँके मन्दिरों व अन्य सार्वजनिक स्थानोंके साथ वहांके शास्त्रभंडारोंकी दशा भी चिन्तनीय हो उठी है। धर्मादेके द्रव्य और धर्मादा जायदादके विषयमें राजनीतिक हलचलसे समाज परिचित है। पंचवर्षीय योजनामें आर्थिक समस्या सुलझानेके लिए धर्मादेकी सम्पत्ति प्राप्त करनेका प्रस्ताव नेताओं द्वारा रखा जा चुका है। देखभाल और जीर्णोद्धार आदिकी त्रुटिके कारण उनके महत्वपूर्ण स्थानों पर सरकारके पुरातत्व विभागने कब्जा कर लिया है। प्रमाणाभावमें अनेक अनिष्ट घटनायें अब तक मंदिरों, तीर्थक्षेत्रों आदिके सम्बन्धमें घटित हो चुकी है अतएव मात्र साहित्य, कला और पुरातत्वकी दृष्टि से ही नहीं किन्तु आर्थिक दृष्टि व अन्य बहुसंख्यक कारणों से भी वर्तमानमें यह अत्यन्त आवश्यक है कि सब स्थानोंसे प्रस्तावित फार्म भरकर आ जावें और उनसे बिना किसी अतिरिक्त श्रमके डायरेक्टरी तैयार होकर भविष्यके लिये भलीभाँति सोच समझकर रक्षात्मक व्यवस्थाकी जाय।

किसी अनिष्ट घटनाके पश्चात् की गई प्रार्थना, मुकदमेबाजी और पश्चातापकी अपेक्षा वर्तमान परिस्थितिका समुचित ज्ञान प्राप्त कर संभावित अनिष्टसे बचनेका प्रयत्न करना विशेष प्रयोजनीय है।

आशा है कि समाज इस प्राथमिक आवश्यकताके प्रति उदासीन न रहकर कार्यक्षेत्रमे अग्रसर होगी।

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(गत किरण १ से आगे)

सोनिजी का परिवार एक धार्मिक परिवार है उन्होंने समय समय पर अपनी कमाईका सदुपयोग किया है विद्वानोंका समादर करते हैं संयम और त्याग मार्गका अनुसरण करते रहते हैं। सोनिजी स्वयं एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं। और गृहस्थोचित षट्कर्मोंका यथेष्टरीत्या पालन करते हैं।

२ नसिया गोधाजीकी, ३ नसिया बड़ा धड़ाकी, ४ नसिया छोटा धड़ाकी, ५ नसिया नया धड़ाकी। इन पांचों नसियोंमें दो व्यक्तिगत हैं और तीन नसिया तीन विभिन्न धड़ोंकी हैं जो उनके नामोंसे प्रसिद्ध है। जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अजमेरके जैनियोंमें किसी समय फिरकाबन्दी रही है। ६ शान्तिपुरा मन्दिरजी, दौलतबागमें क्रिश्चियन गंजमें है। ये सब धार्मिक स्थान सेठजीकी धर्मशालासे दो फर्लांगकी दूरी पर है। धर्मशाला मुहल्ला सरावगी ३ फर्लांगकी दूरी पर है और शान्तिपुराका यह मन्दिर इन धर्मशालाओंसे डेढ़ मील दूर है। ७ तेरहपंथी बड़ा मंदिरजी, सरावगी मुहल्लेमें, खजांचीकी गलीमें है सेठजीका नया चैत्यालय—मन्दिरके सामने।

९ चैत्यालय पिंडरियोंका, १० मन्दिरजी नयाधड़ा, ११ मन्दिर गोधाजीका, १२ पद्मावती मन्दिर, १३ बड़ा मन्दिरजी, १४ छोटा धड़ा मन्दिरजी सरावगी मुहल्लेमें घीपट्टीकी ओर जाते हुये सामने। १५ गोधा गुवाड़ा मन्दिर लाल बाजारमें है, जिसमें सरावगी मुहल्लेमें अजमेरी धड़ागलीमें होकर जाना होता है दो फर्लांगकी दूरी पर अवस्थित है। १६ उतार घसेटी मन्दिरजी, १७ डिग्गीका मन्दिर, इसमें उक्त घसेटा मुहल्ले से जाना होता है।

केसरगंज—धर्मशालासे ४-५ फर्लांगकी दूरी पर स्टेशन रोड पर मदिन्डल पुलके सामने गलीमें अवस्थित है। १८ पल्लीवालोंका मन्दिर केसरगंजके मंदिरके समीप तीनमंजिले मकान पर स्थित है।

वीरसेवामन्दिरके अधिष्ठाता आचार्य जुगलकिशोरजी से स्थानीय प्रायः सभी सज्जन मिलनेके लिए आए। यहाँ प्रमुख कार्यकर्ता हीराचन्द्रजी बोहरा सेठ सा० के सेक्रेटरी हैं। यहांके युवकोंकी इच्छासे मुख्तार साहब को मुझे और पं० बाबूलालजी जमादार को ठहरना पड़ा।

शामको चार बजेके करीब हम लोग किरायेकी एक टैक्सीमें यहांसे हिन्दुओंके तीर्थस्थान पुष्कर देखने गए जो अजमेरसे ७ मीलकी दूरी पर अवस्थित है। रास्ता पहाड़ी और सावधानीसे चलनेका है; चलते समय दृश्य बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है। जहाँ ब्रह्माजीका मंदिर सुन्दर है। वहां भगवान महावीर स्वामीकी विशाल मूर्तिका दर्शनकर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई। पुष्करमें सन् १९२० में मस्तक रहित एक दिगम्बर जैन मूर्तिका अवशेष मिला था जिसके लेखसे स्पष्ट है कि वह सं० ११९५ में आचार्य गोनानन्दीके शिष्य पंडित गुणचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी। * कार्तिकके महीनेमें यहां मेला भरता है। पुष्करकी सीमाके भीतर कोई जीव हिंसा नहीं कर सकता। पुष्करसे वापिस आकर हम लोगोंने हीराचन्द्रजी बोहराके यहां भोजन किया। रात्रिको सेठजीकी नसियामें सेठ भागचंद्रजी की अध्यक्षतामें एक सभा हुई जिसमें मुख्तार साहब बाबूलाल जमादार और मेरा भाषण हुआ। इसके बाद केसरगंज होते हुए हमलोग कार द्वारा रातको १ बजे ब्यावर पहुंचे।

ब्यावरमें हम लोग ला० बसन्तलालजीके मकानमें ठहरे, उन्होंने पहलेसे ही हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था कर रक्खी थी। ला० बसन्तलालजी ला० फिरोजीलालजी और लाला राजकृष्णजीके देहली भतीजे हैं। वे बड़े ही मिलनसार और सज्जन हैं। उन्होंने सबका आतिथ्य किया और भोजनादिकी सब व्यवस्था की। ब्यावरका स्थान आब हवाकी दृष्टिसे अच्छा है। परन्तु गर्मीके दिनोंमें यहां पानीकी दिक्कत रहती है। नशियांजीके शान्त वातावरणमें व्रती त्यागियोंके ठहरनेका अच्छा सुभीता है। प्रातःकाल होते ही नैमित्तिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर स्वर्गीय सेठ चम्पालालजी रानी वालोंकी नशियांजीमें दर्शन किये, और

---

* संवत् ११९५ आगण (अगहन) सुदी ३ आचार्य गोनानन्दी शिष्य पंडित गुणचन्द्रेण शान्तिनाथ प्रतिमा कारिता।

यहाँ ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवनको देखा। पं पन्नालालजी सोनी उसके सुयोग्य व्यवस्थापक हैं। उन्होंने भवनकी सब व्यवस्थासे अवगत कराया। चूँकि यहांसे जल्दी ही उदयपुरको प्रस्थान करना था, इसीसे समयकी कमीके कारण भवनके जिन हस्तलिखित ग्रन्थोंको देख कर नोट लेना चाहते थे वह कार्य शीघ्रतामें सम्पन्न नहीं हो सका। ब्यावरसे हम लोग ठीक ६ बजे सवेरेसे ११० मीलका पहाड़ी रास्ता तय कर रात्रिको १०॥ बजेके करीब उदयपुर पहुँचे। रास्तेमें हिन्दुओंके प्रसिद्ध तीर्थ नाथद्वारेको भी देखा और शामका वहीं भोजनादि कर सड़कके पहाड़ी विषम रास्तेको तय कर, तथा प्राकृतिक दृश्योंका अवलोकन करते हुए उदयपुरके प्रसिद्ध 'फतेसिंह मेमोरियल' में ठहरे। यह स्थान बड़ा सुन्दर और साफ रहता है, सभी शिक्षित और श्रीमानोंके ठहरनेकी इसमें व्यवस्था है। मैनेजर योग्य आदमी हैं। यद्यपि यहाँ ठहरनेका विचार नहीं था, परन्तु मोटरके कुछ खराब हो जानेके कारण ठहरना पड़ा।

उदयपुर एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। राजपूताने (राजस्थान) में उसकी अधिक प्रसिद्धि रही है। उदयपुर राज्यका प्राचीन नाम 'शिविदेश' था, जिसकी राजधानी महिमा या मध्यमिका नगरी थी, जिसके खण्डहर इस समय उक्त नगरीके नामसे प्रसिद्ध हैं और जो चित्तौड़से ७ मील उत्तरमें अवस्थित हैं ※। उदयपुर मेवाड़का ही भूषण नहीं है किन्तु भारतीय गौरवका प्रतीक है। यह राजपूतानेकी वह वीर भूमि है जिसमें भारतकी दासता अथवा गुलामीको कोई स्थान नहीं है। महाराणा प्रतापने मुसलमानोंकी दासता स्वीकार न कर अपनी आनकी रक्षामें सर्वस्व अर्पण कर दिया, और अनेक विपत्तियोंका सामना करके भारतीय गौरवको अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयत्न किया है। उदयपुरको महाराणा उदयसिंहने सन् १५५६ में बसाया था, जब मुगल सम्राट् अकबरने चित्तौड़गढ़ फतह किया। उस समय उदयसिंहने अपनी रक्षाके निमित्त इस नगरको बसानेका यत्न किया था। उदयपुर स्टेटमें जैन पुरातत्त्वकी कमी नहीं है। उदयपुर और आसपासके स्थानोंमें, तथा भूगर्भमें कितनी ही महत्वकी पुरातन सामग्री दबी पड़ी है। बिजोलियाका पार्श्वनाथका दिगम्बर जैन मन्दिर, चित्रकूटका जैन कीर्तिस्तम्भ, और चित्तौड़के पुरातन मन्दिर एवं मूर्तियाँ, और भट्टारकीय गद्दीका इतिवृत्त इस समय सामने नहीं है। धुलेव (केशरिया जी) का आदिनाथका पुरातन दि० जैन मन्दिर जैनधर्मकी उज्वल कीर्तिके पुंज हैं, परन्तु यह सब उपलब्ध पुरातन सामग्री विक्रमकी १० वीं शताब्दीके बादकी देन है।

उदयपुरमें इस समय ८ शिखरबन्द मन्दिर और ५ चैत्यालय हैं। हम सब लोगोंने सानन्द वन्दना की। उदयपुरके पार्श्वनाथके एक मन्दिरमें मूलनायककी मूर्ति सुमतिनाथकी है, किन्तु उसके पीछे भगवान पार्श्वनाथकी सं० १५४८ वैशाख सुदी १३ की भट्टारक जिनचन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति भी विराजमान है। समय कम होनेसे मूर्तिलेख नहीं लिये जा सके, पर वहाँ १२ वीं १३ वीं शताब्दीकी भी मूर्तियाँ विराजमान हैं। बसवा निवासी आनन्दरामके पुत्र पं० दौलतरामजी काशलीवाल, जो जयपुरके राजा जयसिंहके मन्त्री थे वहाँ कई वर्ष रहे हैं और वहाँ रह कर उन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया, वसुनन्दि श्रावकाचारकी सं० १८०८ में टब्बा टीका वहांके सेठ वेलजीके अनुरोधसे बनाई। इतना ही नहीं, किन्तु, संवत् १७९५ में क्रियाकोषकी रचना की। और संवत् १७९८ में अध्यात्म बारहखड़ी बना कर समाप्त की ×। इस ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें वहांके अनेक साधर्मी सज्जनोंका नामोल्लेख किया गया है जिनकी प्रेरणासे उक्त ग्रन्थकी रचना की गई है ※ उनके नाम इस प्रकार हैं—पृथ्वीराज, चतुर्भुज, मनोहरदास, हरिदास, बखतावरदास, कर्णदास और पण्डित चीमा।

※ देखो, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २ पृ० २२७

× संवत् सत्रहसौ अट्ठावन, फागुन मास प्रसिद्धा।
शुकलपक्ष पख दुतिया उजयारा, भायो जगपति सिद्धा ॥३०
जबै उत्तरा भाद्र नखत्ता, शुकल जोग शुभ कारी।
बालव नाम करण तब वरतै, गायो ज्ञान विहारी ॥ ३१
एक महूरत दिन जब चढ़ियो, मीन लगन तब सिद्धा।
भगतिमाल त्रिभुवन राजाकौं, भेंट करी परसिद्धा ॥ ३२

※ उदियापुरमें रुचिधरा, कैयक जीव सुजीव।
पृथ्वीराज चतुर्भुजा, श्रद्धा धरहिं अतीव ॥ ५
दास मनोहर अर हरी, द्वै बखतावर कर्ण।
केवल केवल रूपकों, राखैं एकहि सर्ण ॥ ६
चीमा पंडित आदि ले, मनमें धरिउ विचार।

यहाँ अनेक ग्रन्थ लिखे गए हैं, शास्त्रभण्डार भी अच्छा है। संवत् १७०१ और १७०२ में भट्टारक सकलकीर्तिके कनिष्ट भ्राता ब्रह्मजिनदासके हरिवंशपुराणकी प्रतिलिपि की गई, तथा सं० १७१८ में त्रिलोक दर्पण' नामका ग्रन्थ लिखा गया है। ज्ञान भण्डारमें अनेक ग्रन्थ इससे भी पूर्वके लिखे हुये हैं, परन्तु अवकाशाभावसे उनका अवलोकन नहीं किया जा सका। मन्दिरोंके दर्शन करनेके बाद हम सब लोग उदयपुरके राजमहल देखने गए और महाराणा भूपालसिंहजीसे दीवान खासआममें मिले। महाराणाने बाहुबलीको परोक्ष नमस्कार किया। उदयसागर भी देखा, यहाँ एक जैन विद्यालय है, ब्र० चाँदमलजी उसके प्राण हैं · उनके वहाँ न होने से मिलना नहीं हो सका। विद्यालयके प्रधानाध्यापकजीने २ छात्र दिये जिससे हम लोगोंको मन्दिरोंके दर्शन करने में सुविधा रही, इसके लिए हम उनके आभारी हैं। उदयपुरसे हम लोग ३॥ बजेके करीब ४० मील चलकर ६॥ बजे केशरियाजी पहुँचे। मार्गमें भीलोंकी ६ चौकियाँ पड़ी, उन्हें एक आना सवारीके हिसाबसे टैक्स दिया गया। यह भील अपने उस एरियामें यात्रियोंके जानमालके रक्षक होते हैं। यदि कोई दुर्घटना हो जाय तो उसका सब भार उन्हीं लोगों पर रहता है। साधु त्यागियोंसे वे कोई टैक्स नहीं लेते। यह लोग बड़े ईमानदार जान पड़ते थे।

केशरिया अतिशयक्षेत्रके दर्शनोंकी बहुत दिनों से अभिलाषा थी क्योंकि इस अतिशय क्षेत्रकी प्रसिद्धि एवं महत्ता दि० जैन महावीर अतिशय क्षेत्रके समान ही लोकमें विश्रुत है। यह भगवान आदिनाथका मन्दिर है, इस मन्दिरमें केशर अधिक चढ़ाई जाती है यहां तक कि बच्चोंके तोलकी केशर चढ़ाने और बोलकबूल करनेका रिवाज प्रचलित है इसीसे इसका नाम केशरियाजी या केशरियानाथ प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। यह मन्दिर मूलतः दिगम्बर सम्प्रदायका है, कब बना यह अभी अज्ञात है, परन्तु खेला मण्डपमें लगे हुए शिलालेखसे सिर्फ इतना ही ध्वनित होता है कि इस मन्दिरका संवत् १४३१में वैशाख सुदि ३ अक्षय तृतीया बुधवारके दिन खड़वाला नगरमें बागड़ प्रान्तमें स्थित काष्ठासंघके भट्टारक धर्मकीर्तिगुरुके उपदेशसे शाह बीजाके पुत्र हरदासकी पत्नी हारू और उसकेपुत्रों—पुंजा और कोता द्वारा—आदिनाथके इस मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया गया था*। प्रस्तुत धर्मकीर्ति काष्ठासंघ और लाल बागड़ संघके भट्टारक त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य और भ० पद्मसेनके प्रशिष्य थे भ० धर्मकीर्तिके शिष्य मलयकीर्तिने संवत् १४६२में भ०सकलकीर्तिके मूलाचारप्रदीपकी प्रशस्ति लिखी थी। इस मन्दिरमें विराजमान भगवान आदिनाथकी यह सातिशय मूर्ति बड़ौदा वटपद्रक के दिगम्बर जैनमन्दिर से लाकर विराजमान की गई है। मूर्ति कलापूर्ण और काले पाषाणकी है वह अपनी अक्षुण्ण शान्तिके द्वारा जगतके जीवोंकी अशान्तिको दूर करनेमें समर्थ है। मूर्ति मनोज्ञ और स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे भी महत्वपूर्ण है। ऐसी कलापूर्ण मूर्तियाँ कम ही पाई जाती हैं। खेद इस बातका है कि जैन दर्शनार्थी, उनके दर्शन करनेके लिये चातककी भांति तरसता रहता है पर उसे समय पर मूर्तिका दर्शन नहीं मिल पाता। केवल सुबह ७ बजे से ८ बजे तक दिगम्बर जैनोंको १ घंटेके लिये दर्शन पूजनकी सुविधा मिलती है। शेष समयमें वह मूर्ति श्वेताम्बर तथा सारे दिन व रातमें हिन्दुधर्मकी बनाकर पूजी जाती है और

बारहखड़ी हो भक्तिमय, ज्ञानरूप अविकार ॥ ७
भाषा छन्दनि मांहि जो, अक्षर मात्रा लेय।
प्रभुके नाम बखानिये, समुझै बहुत सुनेय ॥ ८
यह विचारकर सब जना, उर धर प्रभुकी भक्ति।
बोले दौलतरामसौं, करि सनेह रस व्यक्ति ॥ ६
बारहखड़ी करिये भया, भक्ति प्ररूप अनूप।
अध्यातमरसकी भरी, चर्चारूप सुरूप ॥ १०

*१ .... [येन स्वयं बोध मयेन]
२ लोका आश्वासिता केचन वित्त कार्ये [प्रबोधिता केच—]
३ न मोक्षमा गे (र्गे तमादिनाथं प्रणमामि नि [त्यम]
[श्री विक्र—]
४ दित्य संवत् १४३१ वर्षे वैशाख सुदि अक्षय [तृतिया]
५ तिथौ बुध दिना गुरुवज्ञेहा वापी कूप प्र···
६ सरि सरोवरालंकृनि खडवाला पत्तने। राजश्री ·····
७ विजयराज्य पालयंति सति उदयराज सेव पा······
८ श्री मज्जिनेकाय धन तत्पर पंचूली बागड प्रतिपाश्राश्री
९ [का] ष्ठा संघे भट्टारक श्री धर्मकीर्ति गुरोपदेशेना वा
१० ये साध रहा बीजासुत हरदास भार्या हारू तत्पुत्त्योः
११ पुंजा कोताभ्यां श्री [ना] मे (में) श्वर प्रासादस्य जीर्णोद्धार [कृतं]
१२ श्री नाभिराज वरवसकुला वतरि कल्पद्रु······
१३ महासंवनेसुः यस्मिन सुरप्रणयाः कि
१४ ······भोज स युगादि जिनश्वरोवः ॥ १ ॥······
(इस लेखका यह पद्य अशुद्ध एवं स्खलित है)

प्रातःकाल होते ही उसके सिंदूर आदिको पण्डे बुहारियोंसे साफ करते हैं, यह मूर्तिकी घोर अवज्ञा है साथही उससे मूर्तिके कितने ही अवयवोंके घिस जानेका भी डर है। मन्दिरमें यह दि०मूर्ति जब अपने स्वकीय दि०रूपमें आई तो उसी समय सब लोगोंके हृदय भक्तिभावसे भर गए, और मूर्तिको निर्निमेष दृष्टिसे देखने लगे। मन्दिर भगवान आदिनाथकी जय ध्वनिसे गूंज उठा, उस समय जो आनन्दातिरेक हुआ वह कल्पनाका विषय नहीं है। मन्दिरके चारों तरफ दिगम्बर मूर्तियां विराजमान हैं। मन्दिर बड़ा ही कलापूर्ण है। आजके समयमें ऐसे मन्दिरका निर्माण होना कठिन है।

मन्दिर का सभी मंडप और नौचौकी सं० १५७२ में काष्ठा संघके अनुयायी काछलू गोत्रीय कड़िया पोइया और उसकी पत्नी भरमीके पुत्र हांसाने धुलेवमें ऋषभदेवको प्रणामकर भ०यशः कीर्तिके समय बनवाया। इससे स्पष्ट है कि मन्दिरका गर्भगृह निज मन्दिर उसके आगेका खेला मंडप तथा एक अन्य मंडप १४३१ और १५७२ में बनें। अन्यदेव कुलकाएं पीछे बनी हैं। जैन होते हुए भी वहां सारे दिन हिन्दुत्वका ही प्रदर्शन रहता है। यद्यपि मूर्तिकी पूजा करनेका हम विरोध नहीं करते, उस प्रान्तके प्रायःसभी लोग पूजन करते हैं। और उन पर श्रद्धा रखते हैं परन्तु उसके प्राकृतिक स्वरूपको छोड़कर अन्य अप्राकृतिक रूपोंको बनाकर उसकी पूजा करना कोई श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। यहां इस बातका उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि श्रीचन्दनलालजी नागौरीने 'केसरियाजी का जो इतिहास' लिखा है और जिसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उसमें साम्प्रदायिक व्यामोहवश कितनी ही काल्पनिक बातें, पट्ट एवं शिलालेख दिये हैं जो जाली हैं और जिनकी भाषा उस समयके पट्ट परवानोंसे जरा भी मेल नहीं खाती। उसमें कुछ ऐसी कल्पनाएं भी की गई हैं जो गलत फहमीको फैलाने वाली हैं जैसे मरुदेवीके पास सिद्धिचन्द्रके चरण चिन्होंको, तथा सं० १६८८ के लेखका बतलाया जाना जबकि वहा हाथीके होदेपर वि० सं० १७११ का दिगम्बर सम्प्रदायका लेख* है और भी अनेक बातें है जिन पर फिर कभी प्रकाश डाला जावेगा। नागौरीजीकी कल्पनाओंका खण्डन श्री लक्ष्मीसहाय माथुर विशारदने किया है। पाठक उसे अवश्य पढ़ें। राजस्थान इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान महामना स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा भी अपने राजपूतानेके इतिहासमें इस मन्दिरको दिगम्बरोंका बतलाते हैं और शिलालेखोंसे यह बात स्वतः सिद्ध है। फिरभी श्वेतांबर समाज इसे बलात् अपने अधिकारमें लेना चाहती है यह नैतिक पतनकी पराकाष्ठा है

श्वेताम्बर समाजने इसी तरह कितने ही दिगम्बर तीर्थ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया, यह बात उसके लिये शोभनीक नहीं कही जा सकती।

पिछले ध्वजादण्डके समय साम्प्रदायिकताके नंगे नाचने कितना अनर्थ ढाया, यह कल्पना की वस्तु नहीं, यहाँ तक कि कई दिगम्बरियोंको अपनी बली चढ़ानी पड़ी। और अब मूर्तियां व लेख तोड़े गए, जिसके सम्बन्धमें राजस्थान सरकारसे जांच करनेकी प्रार्थना की गई। अस्तु।

भगवान महावीरके अनुयायियोंमे यह कैसा दुर्भाव, जो दूसरेकी वस्तुको बलात् अपना बनानेका प्रयत्न किया जाता है। ऐसी विषमतामें एकता और प्रेमका अभि संचार कैसे हो जा सकता है? दिगम्बर श्वेताम्बर समाजका कर्तव्य है कि वे दोनों समयकी गतिको पहचानें, और अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिको दूर रखते हुए परस्परमें एकता और प्रेमकी अभिवृद्धि करनेका प्रयत्न करें। एक ही धर्मके अनुयायियोंकी यह विषमता अधिक खटकती है। आशा है उभय समाजके नेतागण इस पर विचार करेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केशरियाजीका मन्दिर दि० सम्प्रदायका है। इसमें इंकार नहीं किया जा-सकता। परन्तु वहां जैन संस्कृतिके विरुद्ध जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए दुःख और आश्चर्य जरूर होता है। मन्दिरका समस्त वातावरण हिन्दुधर्मकी क्रियाओंसे ओत-प्रोत है। अशिक्षित पण्डे वहां पर पुजारी है, वे ही वहाका चढ़ावा लेते हैं। आशा है उभय समाज अपने प्रयत्न द्वारा अपने अधिकारोंका यथेष्ट संरक्षण करते हुए मन्दिरका असली रूप अव्यक्त न होने देंगे। क्रमशः—

—परमानन्द जैन,

* संवत् १७११ वर्षे वैशाखसुदि ३ सोमे श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे श्रीभट्टारक......मूललेख सं। (यह लेख मरुदेवीके हाथी पर बाईं ओर है।

भारत देश योगियोंका देश है

(ले०—बा० जयभगवान जी एडवोकेट)

(गत किरणसे आगे)

भारतीय योगियोंके अनेक संघ और सम्प्रदाय

इन इतिवृत्तोंसे पता लगता है, कि यह श्रमणगण प्राचीनतम समयसे काल, क्षेत्रकी विभिन्न २ परिस्थितिसे उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान व आचार व्यवहार सम्बन्धी भेद-प्रभेदोंके कारण—अनेक संघ और सम्प्रदायोंमें बटे हुए थे। इन्हींमें शैव, पाशुपत और जैन श्रमण भी शामिल थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महावीरकालमें थोड़े थोड़े से तत्त्व और आचार सम्बन्धी भेदोंके कारण श्रमणसंघ कई भेदोंमें बटा हुआ था— पार्श्वनाथ सन्तानीय साधुओंका केशी सम्प्रदाय वाला सचेलकसंघ, मस्करी गोशालक वाला आजीवक संघ जामालि वाला बहुरतसंघ, अपनेको तीर्थंकर कहने वाले सञ्जय, अजितकेश कम्बली, प्रकुद्ध कात्यायन पूर्ण कश्यप आदि आचार्योंके श्रमण संघ भगवान बुद्धका बौद्धसंघ। महावीर उपरान्त कालमें स्वयं उन द्वारा स्थापित संघभी दिगम्बर श्वेताम्बर संघोंमें और उसके पीछे ये संघभी गोपिच्छक, काष्ठा, द्राविड़ यापनीय, माथुर आदि पचासों उत्तर गण गच्छोंमें विभक्त हो गया था। ऐसी दशामें भारतकी विशालता और समयकी प्राचीनताको देखते हुये महावीर पूर्व कालीन भारतमें अनेक प्रकारके श्रमणसंघोंका रहना स्वाभाविक ही है, परन्तु आज इन सब संघोंके इतिहास और दार्शनिक सिद्धान्तोंका पता लगाना बहुत कठिन है।

इस सम्बन्धमें जो जैन अनुश्रुति हम तक पहुँची है उससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि इस युगके आदि धर्म-प्रवर्तक ऋषभ भगवानके जमानेमें ही बहुतसे श्रमण जिन्होंने उनके पास जाकर दीक्षा ली थी, इन्द्रिय संयम व्रत उपवास तपस्या और परिषहजयके कठोर नियमोंसे घबराकर शिथिलाचारी हो गये। इन्होंने भगवान् ऋषभ-के मार्गको छोड़कर अपने स्वतन्त्र योग साधनाके सम्प्रदाय स्थापितकर लिये। इनमेंसे कितनोंने दिगम्बरत्वको भी छोड़ दिया, किसीने अपनी नग्नताको छुपानेके लिए पेड़ोंकी छाल धारण करली, किसीने मृगछाल ढकली, किसीने भस्मसे ही शरीरका विलेपन कर लिया किसीने कौपीन पहिन ली और किसीने दण्ड धारण कर लिया। ये लोग वनमें ही छोटे छोटे पत्तोंके झोंपड़े बनाकर रहने लगे और वनमें उत्पन्न होने वाले फलफूल, कन्दमूल आदि खाकर जीवनका निर्वाह करने लगे। इन विचलित साधुओंमें मारीच ऋषि भी शामिल था जो जैनअनुश्रुति अनुसार स्वयं भगवान ऋषभका पौत्र था। इस अनुश्रुतिका पूरा विवरण जैन पौराणिक साहित्यमें मौजूद है[1]।

पीछेसे बढ़ते बढ़ते यह सम्प्रदाय भगवान महावीर काल में ३६३ की संख्या तक पहुंच गये इस गणनामें पाशुपत, शैव, शाक्त, तापस चार्वाक, बौद्ध, आजीवक, अवधूत तथा कपिल पातञ्जल, वादरायण जैमिनी कणाद, गौतम आदि भारतीय षड् दर्शनकार भी शामिल हैं। जैन शास्त्रकारोंने इन विभिन्न मतोंकी तात्त्विक मान्यताओंका उल्लेख करते हुए इन्हें चार मुख्य श्रेणियोंमें विभक्त किया है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी २। बौद्धमतके पिटक ग्रन्थोंमें भी इन विभिन्न धर्मोंकी मान्यताओंका उल्लेख मिलता है※ वैदिक साहित्य-मे भी इन विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंके अंकुर मौजूद हैं × इन सभी दार्शनिकोंका ज्ञातव्य विषय आत्मा व ब्रह्म था। इन सभीकी समस्या यह थी कि इस आत्माका

---

१. (अ) आदि पुराण १८-१-६१. (ईसाकी ८वीं सदी)
(आ) हरिवंश पुराण ९. १००-११४. „ „ „
(इ) पद्मचरित ३. २८६-३०५. (ईसाकी ७वीं सदी)

२ (अ) षट् खण्डागम धवला टीका-पुस्तक १-अमरावती, १७३०. १०७-१११. (ईसाकी ८वीं सदीके प्रारम्भमें धवला टीका लिखा गया)
(आ) भावप्राभृत-१३५, (१४० ईसाकी पहिली सदी)
(इ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ८७६-८७५.
(ईसाकी नवीं सदी)

※ (अ) सुत्त पिटक-दीर्घनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त, पहला, दूसरा तीसरा, चौथा और ७६ वा सुत्त.
(आ) मज्झिम निकाय ३० वां, ६९ वां और ७६वां सुत्त।

× श्वे० उप० १-१-४

मूल कारण क्या है—हम कहाँ से पैदा होते हैं, किसके सहारे जीते हैं। हमारा संचालन कौन करता है। कौन हमारे सुख दुःखोंकी व्यवस्था करता है।

इन अनेक प्रकारके दार्शनिक योगियोंका बाह्यरूप विभिन्न परिस्थिति और प्रभावोंके कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु यह निर्विवाद है कि इन सबको आत्मा एक ही थी जो श्रमणसंस्कृतिसे ओत-प्रोत थी। यह सभी श्रमण प्रायः अध्यात्मवादी थे। ये अपने त्यागबल, तपोबल, ज्ञानबल और आचारबलके कारण सभी भारतीय जनता द्वारा विनय और पूजाके योग्य माने जाते थे और तो और देवलोग भी सदा उन जैसा ही बननेकी उत्कट अभिलाषा रखते थे† ।

इस प्रकारके परिव्राजक मुनि इस देशकी स्थायी सम्पत्ति थे। यवन यात्री मैगस्थनीजसे लेकर—जो ई० पूर्वकी चौथी सदीमें यहाँ आया था और जिसने जि..नो-सोफिस्ट (Gymno Sophist) अर्थात् जैन फिलासफरके नामसे इनको इंगित किया है—जितने भी विदेशी यात्री और अभ्यागत यहाँ आये सभीने इन योगियोंके विशुद्ध और चमत्कारिक जीवन तथा इनके उदार सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है‡। आजभी यह देश इस प्रकारके योगियोंसे सर्वथा खाली नहीं है और आजभी अनेक विदेशी उनकी खोजमें यहां आते रहते हैं❀। महर्षि रमन और महर्षि अरविन्दघोष अभी हालमें ही भारतके महायोगी हो गुजरे हैं।

भारतीय योगियोंकी शिक्षाएँ

ये योगिजन गाँव गाँव और नगर नगरमें विचरते हुए जिन शिक्षाओं द्वारा लोक जीवनको उन्नत, स्वतन्त्र, और सुख सम्पन्न बनाते थे, उनका अनुमान निम्न उदाहरणोंसे किया जा सकता है।

जीव अजर अमर है, ज्ञान धन है, आनन्दमय है, अमृत मय है और यह लोक परिवर्तनशील और अनित्य संसारमें ये चार पदार्थ पाना बहुत दुर्लभ है—

मनुष्य भव, सद्धर्म उपदेश, सद्श्रद्धा और मोक्ष पुरुषार्थ, यह बात सोचकर मनुष्यको चाहिये कि संयमका पालन करे, ताकि वह कर्मोंका नाश कर सिद्ध अवस्थाको पा सके१।

काल बराबर बीत रहा है, शरीर प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है इसलिए प्रमादको छोड़ और जाग, यह मत सोच कि जो आज करना है यह कल हो जायगा। चूंकि सांसारिक जीवन अनित्य है न मालूम इसका कब अन्त हो जाय, इसलिए शरीर छिन्न भिन्न होनेसे पहले इसे आत्मसाधना में लगाना चाहिये२।

शरीरसे विदा होनेके दो मार्ग हैं, एक अपनी इच्छाके विरुद्ध और दूसरा अपनी इच्छाके अनुकूल। पहला मार्ग मूढ मनुष्योंका है और इसका बार बार अनुभव करना पड़ता है। दूसरा मार्ग पण्डित लोगोंका है जो शीघ्र ही मृत्युका अन्त कर देता है३।

जो आदमी विषम वासनाओंमें लिप्त हैं, जो वर्तमान जीवनको ही जीवन मानते हैं, जो मोहग्रस्त हुए पाप पुण्य के फलोंको नहीं निहारते जो स्वार्थसिद्धि, विषयपूर्ति, धनोपार्जन, सुख शीलताके लिए हिंसा, अनीति पापका व्यवहार करते हैं, वे मृत्युके समय दुख शोकको प्राप्त होते हैं, उन्हें मृत्यु भयानक दिखाई देती है। वे उससे कांपते हैं। उनकी मृत्यु उनके इच्छाके विरुद्ध है४।

जो आत्मनिष्ठ हैं, आत्म संयमी हैं, प्रमाद रहित हैं, आत्म साधनामें पुरुषार्थी हैं जो मासके दोनों पक्षोंके पर्वदिनोंमें प्रोषधोपवास करते हैं, वे मृत्युके समय शोक विषादको प्राप्त नहीं होते, वे उसका स्वागत करते हुए सहर्ष शरीरका त्याग कर देते हैं, यह पण्डित मरण है५।

जब सिंह मृगको आ पकड़ता है तो कोई उसका सहायक नहीं होता, वैसे ही जब मृत्यु अचानक आकर मनुष्यको पकड़ लेती है तब कोई किसीका सहायक नहीं होता। माता, पिता, स्वजन, परिजन, पुत्र कलत्र बन्धुजन सब हाहाकार करते ही रह जाते हैं६।

† दश वैकालिक सूत्र १. १.

‡ अरब और भारतके सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी प्रयाग पृ. १७८—१८८.

❀ डा० पालब्रटन—गुप्त भारतकी खोज, अनुवादक—श्री वेंकटेश्वर शर्मा शास्त्री वि० सम्वत् १९९६.

१. उत्तराध्ययन सूत्र ३. २०
२. " " ४. ६६
३. " " ५. २, ३
४. " " ५. ४, ११
५. " " ५. १७-२२
६. " " १३. २२

इन्द्रिय सुख नित्य नहीं हैं, वे मनुष्यके पास आते हैं पुण्य व्यतीत होने पर वे उसे छोड़ कर ऐसे चले जाते हैं जैसे पक्षी फल विहीन वृक्षको छोड़ कर चले जाते हैं ये सुख दुखकी खान हैं७।

जो निर्ममत्व हैं वे वायुके समान, पक्षीके समान, अविछिन्न गतिसे गमन करते हैं८।

सुखी वही है जो किसी वस्तुको अपनी नहीं समझता, जब किसी वस्तुका हरण व नाश हो जाता है तो वह यह समझकर कि उसकी किसी वस्तुका नाश व हरण नहीं हुआ, सम भाव बना रहता है९।

यदि धन धान्यके ढेर कैलाश पर्वतके समान ऊँचे मिल जावें तो भी तृप्ति नहीं होती, लोभ आकाश समान अनन्त है और धन परमित है, अत सन्तोष धन ही महान धन है१०।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता इसीलिए साधु जन कभी किसी प्राणीका घात नहीं करते, प्राणोंका घात महापाप है११।

प्राणियोंका घात चाहे देवी देवताओंके लिये किया जावे, चाहे अतिथि सेवा व गुरु भक्तिके लिये किया जावे चाहे उदरपूर्ति अथवा मनोविनोदके लिये किया जावे उसका फल सदा अशुभ है, इसीलिये हिंसाको पाप और दयाको धर्म माना गया है१२।

धर्मका मूल दया है, दयाका मूल अहिंसा है और अहिंसाका मूल जीवन - साम्यता है, इसलिये जो सभी जीवोंको अपने समान प्रिय समझता है, श्रेय समझता है वही धर्मात्मा है।

समझानेके लिये तो पापको पाँच प्रकारका बतलाया जाता है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, परन्तु वास्तवमें ये सब हिंसा रूप ही हैं क्योंकि ये सब आत्माकी साम्यदृष्टि और साम्यवृत्तिका घात करने वाले हैं१३।

मिथ्यात्व, अज्ञान, प्रमाद, कषाय, अविरति, राग-द्वेष, मोह-माया, अहंकार आदि जितने भी विपरीत भाव हैं, वे सभी आत्माके सुख - शान्ति सौन्दर्य रूप स्वभावके घातक हैं। इसलिये ये सभी हिंसा हैं और इनका अभाव अहिंसा है१४।

प्राणियोंका घात होनेसे आत्माका ही घात होता है। आत्मघात हित नहीं है इसलिए बुद्धिमान लोगोंको प्राणियोंका घात नहीं करना चाहिये१५।

भव्यजीवोंको चाहिये कि वह प्रमाद छोड़ कर दूसरे प्राणियोंके साथ बन्धु समान व्यवहार करें१६।

अहिंसा ही जगतकी रक्षा करने वाली माता है। अहिंसा ही आनन्दको बढ़ाने वाली पद्धति है, अहिंसा ही उत्तम गति है, अहिंसा ही सदा रहने वाली लक्ष्मी है१७।

श्रमण संस्कृतिके पर्व और धर्मकी प्रभावना

ये योगीजन प्रत्येक दिन सन्ध्या समय अर्थात्—प्रात-मध्यान्ह और सायंकालमें सामायिक करते थे। प्रत्येक पक्षके पर्वके दिनोंमें अर्थात् पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णमासी एवं अमावास्याको ये पोसह (उपवास) करते थे, तथा ज्ञान व अज्ञान वश किये हुये दोषोंकी निवृत्तिके अर्थ प्रायश्चित करनेके लिये प्रतिक्रमण पाठ अथवा प्रतिमोक्ष पाठ पढ़ते थे और एक स्थानमें एकत्र हो सर्वसाधारणको धर्मोपदेश देते थे। इन पाक्षिकपर्वोंके अतिरिक्त हर साल वर्षाऋतुके चतुर्मासमें असाढ़ सुदि एकमसे कार्तिक बदी पन्द्रस तक साधु सन्तोंके एकजगह ठहरनेके कारण लोगोंमें खूब सत्संग रहता था इन चतुर्मासमें धर्म-साधना प्रोषध-उपवास, वन्दना-स्तवन, प्रतिक्रमणादि धार्मिक साधनायें सविशेष करनेके लिये उपासक जन साधुओंके समागममें एक स्थानमें एकत्र होते थे। इन मेलोंकी एक विशेषता यह होती थी कि इस अवसर पर एकत्रित हुए जन एक दूसरेसे अपने दोषोंकी क्षमा मांगा करते थे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष एक सांवत्सरिक सम्मेलन

७ उत्तराध्ययन सूत्र १३-१६-३१
८ " " १९-४९
९ " " ९-१४
१० " " ९ ४८-४९
११ " " ६. ६
१२ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ॥ ४०९ ॥
१३ आचार्य अमृतचन्द्र-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ॥ ४२ ॥
१४ आचार्य अमृतचन्द्र-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ॥४४॥
१५ वट्टकेर आचार्य कृत मूलाचार ॥ ९२१ ॥
१६ शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव ११,
१७ " " ॥ ३२ ॥

भी होता था, इस अवसर पर कई देशोंके साधु संघ एक स्थान पर एकत्र होकर प्रतिक्रमणके अतिरिक्त तत्त्व सम्बंधी तथा आचार - विचार-सम्बन्धी तथा लोक कल्याणकी समस्याओं पर विचार किया करते थे १ ।

इस तथ्यकी ओर संकेत करते हुए विनयपिटकमें लिखा है, कि एक समय बुद्ध भगवान राजगृहके गृद्धकूट पर्वत पर रहते थे उस समय दूसरे मतवाले परिव्राजक चतुर्दशी, पूर्णमासी, और अष्टमीको इकट्ठा होकर धर्मोपदेश किया करते थे । इन अवसरों पर नगर और ग्रामोंके स्त्री पुरुष धर्म सुननेके लिए उनके पास जाया करते थे । जिससे कि वे दूसरे मतवाले परिव्राजकोंके प्रति प्रेम और श्रद्धा करने लग जाते थे और दूसरे मतवाले परिव्राजक अपने लिये अनुयायी पाते थे । यह देख बुद्ध भगवानने भी अपने भिक्षुओंको अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णमासीको एकत्र होने, धर्मोपदेश देने, उपोसथ करने और प्रतिमोक्ष-प्रतिक्रमणपाठ–करनेकी अनुमति दे दी थी २ ।

इन व्रात्य लोगोंकी (व्रतधारी श्रमण लोग) उपर्युक्त जीवनचर्याको ही दृष्टिमें रख कर ब्राह्मण ऋषियोंने अथर्ववेद - व्रात्यकाण्ड १५ सूक्त १६ में व्रात्योंके निम्न सात अपानोंका वर्णन किया है— १. पूर्णमासी, २. अष्टमी, ३. अमावश्या, ४ श्रद्धा, ५. दीक्षा, ६. यज्ञ, ७. दक्षिणा । इस सूक्तमें ऋषिवरको व्रात्योंके उन साधनोंका वर्णन करना अभीष्ट मालूम होता है जिनके द्वारा वे अपने भीतरी दोषोंकी निवृत्ति किया करते थे । इसीलिये ऋषिवरने इन दोष निवृत्तिमूलक साधनोंको सर्वसाधारणकी परिभाषामें 'अपान' संज्ञासे उद्बोधित किया है । आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें 'अपान' का अर्थ है वह गन्दी वायु, जो श्वास आदि द्वारा शरीरसे बाहर आती है । इन सात अपानोंमें पहले तीन अपान कालसूचक हैं और शेष अन्तिम चार अपान चर्या सूचक हैं । इस सूक्तका बुद्धिगम्य अर्थ यही है कि—पौर्णमासी, अष्टमी और अमावाश्या वाले दिन व्रात्य लोगोंमें पर्व दिन माने जाते थे और वे इन दिनोंमें श्रद्धा (धर्मोपदेश) दीक्षा (धर्मदीक्षा) यज्ञ (व्रत, उपवास, प्रतिक्रमण वन्दना-स्तवन)' और (दक्षिणादान दक्षिणा) द्वारा धर्मकी विशेष साधना कर आत्म शुद्धि किया करते थे । वृह उप १. ५. १४मे अमावस्याके दिन सब प्रकारका हिंसा कर्म वर्जित बतलाया गया है ।

इसी प्रकार महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १०६ और १०७ में पर्वके दिनोंमें साधुओं व गृहस्थीजन द्वारा किये जाने वाले व्रत उपवासोंकी महिमा भीष्म युधिष्ठिर संवाद द्वारा यों वर्णन की गई है—भीष्म युधिष्ठिरको कहते हैं कि—उपवासोंकी जो विधि मैंने तपस्वी अंगिरासे' सुनी है वही मैं तुझे बताता हूँ—जो मनुष्य जितेन्द्रिय होकर पंचमी अष्टमी और पूर्णिमाको केवल एक बार भोजन करता है वह क्षमायुक्त, रूपवान और शास्त्रज्ञ हो जाता है । जो मनुष्य अष्टमी और कृष्णपक्षकी चतुर्दशीको उपवास करता है वह निरोग और बलवान होता है । अध्याय १०६ श्लोक (४-२०)

पुनः अध्याय १०६ श्लोक १५ से लेकर श्लोक ३० तक अगहन, पौष माघ फाल्गुन, चैत्र आदि द्वादश महीनोंके क्रमसे उपवासोंका फल वर्णन किया गया है इन उपर्युक्त उपवासोंमें लोक सुख और स्वर्ग सुख मिलते हैं । पुनः अध्याय १०६ श्लोक ३०से अध्यायके अन्त तक तथा अध्याय १०७ में विविध प्रकारके उपवासोंका फल बतलाते हुए कहा है कि इन उपवासोंको यदि मांस, मदिरा, मधु त्याग कर ब्रह्मचर्य अहिंसा सत्यवादिता और सर्वभूत हितकी भावनासे किया जावे तो मनुष्यको अग्निष्टोम, वाजपेय, अश्वमेध गोमेध, विश्वजित अतिरात्र, द्वादशार, बहुसुवर्ण, सर्वमेध, देवसत्र, राजसूय

---

१ व्याख्या प्रज्ञप्ति १२. १. १२. ६ ॥ उत्तराध्ययन सूत्र ५. २७. २२

अंगपण्णत्ति—प्रकीर्णक श्लोक २८

इन्द्रनन्दी कृत—श्रुतावतार ॥ ८७

जिनसेन कृत—आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक २६-३४

त्रिलोकसार—॥ ९७६ ॥

आशाधर कृत—सागार धर्मामृत २. २६

जयसेनकृत—प्रतिष्ठापाठ ॥ ४५-४८ ॥

२. विनय पिटक—उपोसथ स्कन्धक ।

सोमपदा आदि विविध यज्ञोंके सम्पादन द्वारा जो ऐहिक और स्वर्गिक सुख मिलते हैं, उनसे भी सैकड़ों और हजारों गुण सुख इन उपवासोंके करनेसे मिलता है। जैसे वेदमें श्रेष्ठ कोई शास्त्र नहीं हैं, मातासे श्रेष्ठ कोई गुरु नहीं है, धर्मसे श्रेष्ठ कोई लाभ नहीं है वैसे ही उपवासोंसे श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। उपवासके प्रभावसे ही देवता स्वर्गके अधिकारी हुए हैं और उपवासके प्रभावसे ही ऋषियोंने सिद्धि हासिल की है। महर्षि विश्वामित्रने सहस्र ब्रह्मवर्षों तक एक बार भोजन किया था इसीके प्रभावसे वह ब्राह्मण हुए हैं। महर्षि च्यवन जमदग्नि, वसिष्ठ गौतम और भृगु इन क्षमाशील महात्माओंने उपवासके ही प्रभावसे स्वर्गलोक प्राप्त किया है। जो मनुष्य दूसरोंको उपवास व्रतकी शिक्षा देता है उसे कभी कोई दुख नहीं मिलता है। हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य अंगिराकी बतलायी हुई इस उपवास विधिको पढ़ता या सुनता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

उपरोक्त पर्वके दिनोंमें व्रत उपवास रखने, दान दीक्षा देने और क्षमा व प्रायश्चित्त करनेकी प्रथा आजतक भी जैन साधुओं और गृहस्थोंमें तो प्रचलित है ही, परन्तु सर्वसाधारण हिन्दू जनतामें भी किसी न किसी रूपमें जारी है। ये पर्व और इनमें किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठान निस्सन्देह भारतीय संस्कृतिके बहुमूल्य अंग हैं।

उपरोक्त पर्वके दिनोंमें उपोसथ रखनेकी प्रथा प्राचीन बेबीलोनिया (ईराक देशके लोगोंमें भी प्रचलित थी। बाबुलके सम्राट् असुरवनीपाल (६६१ से ६२६ ई० पूर्व) के पुस्तकालयमें एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है कि हर चन्द्रमासकी सातवीं चौदहवीं, इक्कीसवीं और अट्ठाईसवीं तिथियोंके दिन बाबलके लोग सांसारिक कामोंसे हट कर, देव आराधनामें लगे रहते थे। इन दिनोंको वे सब्बतु (Sabbath) दिवस कहते थे। 'सब्बतु' का अर्थ बाबली भाषामें हृदयके विश्रामका दिन है।

ईसाई धर्मकी अनुश्रुति अनुसार जो बाईबल-जेनेसिस अध्याय १ में सुरक्षित है, प्रजापति परमेश्वरने अपलोक (संस्तर) की तम अवस्था (अज्ञान दशा) में से छह दिन तक विसृष्टि विज्ञान का उद्धार करके सातवें दिन सब प्रकारके कर्मोंसे विरक्त होकर विश्राम किया था, ईसाई लोग इस सातवें दिन (रविवार) को Sabbath दिन मानते हैं और सांसारिक कार्योंसे विरुद्ध होकर धर्म साधना में लगाते हैं। सब्बतु और उपोसथके शब्द साम्य और भावसाम्यको देखकर अनुमानित होता है कि किसी दूर कालमें भारतीय संस्कृतिके ही मध्य ऐशियामें फैलकर वहांके भगवानका उद्धार किया था।

उपसंहार

इस तरह प्राचीन भारतमें ये पर्व (त्यौहार) भोग उपभोगकी वृद्धिके लिए नहीं बल्कि जनताके सदाचार और संयमको उनके ज्ञान और त्याग बलको बढ़ानेके लिये काम आते थे। आत्मज्ञान, अहिंसा संयम, तप, त्याग, मूलक भारतीय संस्कृतिको कायम रखने और देश विदेशोंमें जगह जगह भ्रमण कर उसका प्रसार करनेका एकमात्र श्रेय इन्हीं त्यागी तपस्वी श्रमण लोगोंका है यह उन्हींकी भूत अनुकम्पा, सद्भावना, सहनशीलता, धर्मदेशना और लोक कल्याणार्थ सतत परिभ्रमणका फल है कि भारत इतने राष्ट्र विप्लवोंमेंसे गुजरनेके बाद भी, इतने विजातीय और सांस्कृतिक संघर्षोंके बाद भी, भाषा भूषा, आचार-व्यवहारकी रद्दोबदलके बावजूद भी, अध्यात्मवादी और धर्मपरायण बना हुआ है। ये महात्मा जन ही सदा यहाँ राजशासकोंके भी शासक रहे हैं। समय समय पर धर्म अनुरूप उनके राजकाज कर्त्तव्योंका निर्देश करते रहे हैं। ये सदा उन्हें विमूढता, निष्क्रियता, विषयलालसा और स्वार्थताके अधम मार्गोंसे हटा कर धर्ममार्ग पर लगाते रहे हैं। भारतका कोई सफल राजवंश ऐसा नहीं है जिसके ऊपर किसी महान् योगीका वरद हाथ न रहा हो—जिसने उनकी मंत्रणा और विचारणासे आत्मबल न पाया हो। आजके स्वतन्त्र भारतका नतृत्व भी इस युगके महायोगी महात्मागांधीके हाथ में रहा है, तभी इतने वर्षकी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः वापिस पानेमें भारत सफल हो पाया है। वास्तवमें भारतीय संस्कृतिको बनाने वाले और अपने तप, त्याग तथा महत बलसे उसे कायम रखने वाले ये योगी जन ही हैं।

भारतके अजायबघरों और कला-भवनोंकी सूची

भारत सरकारने हालमें 'इण्डिया टूरिस्ट इन्फार्मेशन नामकी एक पुस्तिका प्रकाशित की है जो भारतका टूर (परिभ्रमण) करने वालोंको कितनी ही आवश्यक सूचनाएँ देती है। उसमें यह सूचित करते हुए कि भारतवर्ष म्यूजिमों (अजायबघरों-अद्भुतालयों) और आर्टगैलेरीज (कला-भवनों आदि) की दृष्टिसे समृद्ध है, उन सबकी एक सूची दी है, जिसे अनेकान्तके पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ प्रकाशित किया जाता है :—

(क) भारत सरकार द्वारा पलित पोषित (Maintained)

१. नेशनल आर्चिव्ज ओफ इण्डिया, न्यू देहली।
२. देहली फोर्ट म्युजियम ओफ आर्क्योलाजी, देहली।
३. सेन्ट्रल एशियन एन्टीक्युटीज म्युजियम न्यू देहली
४. आर्क्योलाजिकल म्युजियम, नालन्दा।
५. आर्क्योलाजिकल म्युजियम, सारनाथ।
६. आर्क्योलाजिकल म्युजियम, नगरजूनी कोण्डा
७. फोर्ट सेंट जार्ज म्युजियम, मद्रास।
८. राजपूताना म्युजियम, अजमेर।
९. इन्डियन म्युजियम, कलकत्ता।
१०. विक्टोरिया मेमोरियलहॉल, कलकत्ता।

(ख) रियासती सरकारों द्वारा पालित पोषित

१. स्टेट म्युजियम, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
२. स्टेट म्युजियम, लखनऊ।
३. गवर्नमेंट म्युजियम मद्रास।
४. कर्जन म्युजियम ओफ आर्क्योलाजी मथुरा।
५. सेन्ट्रल म्युजियम, नागपुर।
६. पटना म्युजियम, पटना।
७. स्टेट म्युजियम गोहाटी आसाम)
८. पैलेस कोलेक्सन, औंध।
९. मैसूर गवर्नमेंट म्युजियम, बैंगलोर।
१०. बारीपाद म्युजियम, मयूरगंज (उड़ीसा)
११. खिचिंग म्युजियम, मयूरगंज रियासत
१२. बड़ौदा स्टेट म्युजियम, एण्ड पिक्चर गैलेरी बड़ौदा।
१३. बर्टन म्युजियम, भावनगर (काठिया)
१४. भूरीसिंह म्युजियम, चम्बा (हिमाचल प्रदेश)
१५. आर्क्योलाजिकल म्युजियम हिम्मतनगर (ईडर)
१६. आर्क्योलाजिकल म्युजियम ग्वालियर।
१७. हैदराबाद म्युजियम, हैदराबाद।
१८. इन्दौर म्युजियम, इन्दौर।
१९. अलबर्ट म्युजियम, जयपुर।
२०. सरदार म्युजियम, जोधपुर
२१. जरडाईन म्युजियम, खजराहो, छतरपुर (विंध्य-प्रदेश)
२२. पदुदुकोट्टाइ म्युजियम पदुदुकोट्टाइ (मद्रास)
२३. वैटसन म्युजियम ओफ एण्टीक्युटीज राजकोट (काठियावाड़)
२४. म्युजियम ओफ आर्क्योलाजी, सांची (भोपाल)
२५. स्टेट म्युजियम त्रिचुर (कोचीन)
२६. गवर्नमेंट (नेपियर्स) म्युजियम, त्रिवेन्द्रम् (ट्रावनकोर)
२७. विक्टोरिया हॉल म्युजियम, उदयपुर (राजपूताना)
२८. जूनागढ़ म्युजियम जूनागढ़ सौराष्ट्र)
२९. नवानगर म्युजियम, नवानगर (सौराष्ट्र)

(ग) ट्रस्टों द्वारा पालित-पोषित।

१. प्रिंस ऑफ वेल्स म्युजियम ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, बम्बई।
२. लार्डरिए महाराष्ट्र इन्डस्ट्रीयल म्युजियम, पूना।

(घ) प्राइवेट रूपसे पालित-पोषित।

१. भारतकला-भवन, बनारस यू० पी०)
२. सैन्ट जेवीयर्स कालेज म्युजियम, बम्बई।
३. म्युजियम ओफ वंगीय साहित्यपरिषद्, कलकत्ता।
४. आशुतोष म्युजियम, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, कलकत्ता।
५. भारत इतिहास संशोधक मंडल, पूना।

(ङ) म्युनिस्पिलटी द्वारा पालित पोषित।

१. इलाहाबाद म्युनिस्पिल म्युजियम, इलाहाबाद।
२. विक्टोरिया जुबिली म्युजियम बेजवाड़ा।
३. आर्क्योलाजिकल म्युजियम, बीजापुर (बम्बई)
४. विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्युजियम, बम्बई
५. रायपुर म्युजियम, रायपुर (मध्यप्रदेश)

आशा है पुरातत्त्व तथा इतिहासादिके विद्वान इस सूची से लाभ उठाएँगे।

पन्नालालजैन अग्रवाल

वंगीय जैन पुरावृत्त

(श्री बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता)

(गत किरणसे आगे)

विभिन्न जातियाँ

महाभारत, मनुस्मृति देवलस्मृति, ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण आदि ग्रंथोंमें प्रक्षिप्त श्लोक लगाकर या उन्हें परिवर्तित या परिवर्द्धित कर ब्राह्मणोंने जैन और बौद्धोंके प्रति अपना विद्वेष खूब साधन किया है और जो जो जातियाँ जैन और बौद्धधर्मकी अनुयायी थीं उनको वृषत्व और शूद्रभावापन्न घोषित कर दिया है इसे सभी इतिहास लेखक स्वीकार कर चुके हैं। भारतवर्षमें कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जिनका अतीत गौरवान्वित है और हीन न होते हुए भी वे अपनेको हीन समझने लगी हैं किन्तु ज्यों २ पुरातत्व प्रकाशमें आता जाता है ये जातियाँ अपनी महानताको जानकर अपने विलुप्त उच्च स्थानको प्राप्त कर रही हैं।

+ महात्मा बुद्धके बहुत पहले बंगालमें वेदविरोधी जैनधर्मका प्रभाव बहुत बढ़ चुका था। २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ई० पू० ८७१ अब्दमें जन्मे थे। इन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड और पंचाग्नि-साधन प्रभृति की निन्दा की थी। काशीसे मानभूम पर्यंत सुविस्तृत प्रदेशमें अनेक लोग उनके धर्मोपदेशसे विमुग्ध हो उनके वशीभूत हो गये थे। पार्श्वनाथके पूर्ववर्ती २२ तीर्थंकरोंने राजगृह, चम्पा राढ़की राजधानी सिंहपुर और सम्मेदशिखरमें याज्ञिकोंके विरुद्ध जैनधर्मका प्रचार किया था। अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीर-स्वामी बुद्धदेवके प्रायः समसामयिक या अल्प पूर्ववर्ती थे। इन्होंने १२ वर्ष राढ़देशमें रहकर असभ्य जङ्गली जातियोंमें धर्मोपदेश प्रदान किया था। उस समय वेद विरोधी जैन और बौद्धमतोंने पौंड्रदेशमें और तत्पार्श्ववर्ती देशोंमें विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। सम्राट् विम्बिसारके समयसे मौर्यवंशके शेष राजा बृहद्रथके समय पर्यंत साढ़े तीनसौ वर्षों तक मगध पौंड्र बंगादि जनपद समूह बौद्ध और जैन प्रभावान्वित हो रहे थे। तत्पश्चात् गुप्तोंके प्रभाव-कालमें हिन्दू धर्मका पुनरभ्युदय हुआ। ऐतिहासिक गणोंने स्थिर किया है कि अष्टादश पुराणोंमें अनेकोंकी रचना इसी समय हुई थी। ब्राह्मणोंने वेदविरोधी जातियोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कल्पनासम्मत नाना कथाएँ रचकर ग्रन्थोंमें प्रक्षिप्त कर दी। गुप्त नृपति बौद्ध और जैनधर्मके विद्वेषी नहीं थे। इसी समय वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान प्रभृति तांत्रिक बौद्धधर्मका प्रवर्तन हुआ और बंगदेशके जनसाधारणमें इनका विशेष प्रचार हुआ। यह तांत्रिक बौद्धधर्मका अभ्युदय, बौद्ध और हिन्दूधर्मके समन्वयका फल मालूम होता है।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीने लिखा* है कि भारतवर्षमें पूर्वांचलमें ही बौद्धधर्मने सर्वापेक्षा अधिक प्राधान्य लाभ किया था। ह्युयेनत्सांगने सप्तम शताब्दीके प्रथमार्द्धमें बंगदेशमें ८-७ संघारामोंमें ।१२००० भिक्षु देखे थे। एतद्भिन्न जैनधर्मके भिक्षु भी थे। भिक्षुओंके लिये नियम था कि तीन घरोंमें जानेके बाद चतुर्थगृहमें नहीं जा सकते हैं। और एक बार जिस घरमें भिक्षा पा चुके हैं उसमें फिर एक मास तक नहीं जा सकते हैं। सुतरां एक व्रतिका प्रतिपालन करनेके लिये अन्ततः १०० घर गृहस्थोंके होना चाहिये। इस हिसाबसे तत्कालीन बंग देशवर्ती ८। ९ नगरोंमें ही एक कोटि बौद्ध संख्या हो जाती है तब सारे बंगदेशमें तो और भी अधिक होंगे इसमें सन्देह नहीं है। अतः इनकी प्रधानता इससे स्पष्ट हो जाती है।

बंगलार पुरावृत्त (पृष्ठ १२९ में लिखा है कि 'ईस्वी चतुर्दश शताब्दीमें भी बंगदेशमें बौद्ध और जैनोंका अत्यन्त प्रभाव था।'

यही कारण है कि अंग वंग, कलिंग सौराष्ट्र और मगधदेशमें तीर्थयात्रा व्यतीत अन्य उद्देश्यसे गमन करने पर पुनः संस्कार अर्थात् प्रायश्चित्त कर्तव्य मनुसंहिता + में लिखा गया। इसी प्रकार शूलपाणि और देवलस्मृतियों

+ बंगे क्षत्रिय पुण्डजाति—श्री मुरारीमोहन सरकार पृ०६१

* Discovery of Living Buddhism in Bengal.

+ अंग वंगकलिंगेपु सौराष्ट्रे मगधेषु च
तीर्थयात्रां विना गच्छन्-पुनः संस्कारमर्हति ॥

में भी यही आज्ञा दी है ❀। इन स्मृतियोंके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि अन्यान्य देशोंमें हिन्दुगण दीर्घकालसे जैन बौद्ध प्लावित देश समूहके संस्पर्शमें आनेका सुयोग पाकर कहीं उन धर्मोंको ग्रहण न कर लें। पाठक देखें कि बौद्ध और जैनगण हिन्दुओंकी आंखोंमें किस प्रकार हेय हो गए। यहाँ तक कि जैन और बौद्धधर्मानुराग प्रदर्शनके अपराधसे बंगालकी ब्राह्मणेतर तावत्-हिन्दुजाति मात्र शूद्रपर्यायान्तर्गत घोषित हो गई थी। यह उशनसंहिताके निम्नलिखित श्लोकसे स्पष्ट प्रतीयमान होता है :—

बुद्धश्रावकनिर्ग्रन्थाः पञ्चरात्रविदोजनाः
कापालिकाः पाशुपताः पाषंडाश्चैव-तद्विधा
यश्चश्नन्ति हविष्येते दुरात्मानस्तु तामसाः ४।२४ २५

अर्थात्–बौद्ध श्रावक, निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैन) पंचरात्रवित, कापालिक, पाशुपत इत्यादि जितने पाखण्ड हैं वे सब दुरात्मा तामस व्यक्ति जिसके श्राद्धमें भोजन करते हैं उनका श्राद्ध असिद्ध है।

यह विद्वेष और स्वार्थ यहाँ तक बढ़ा कि बंगाली ब्राह्मण समाज, ब्राह्मण भिन्न क्षत्रिय, और वैश्य द्विजातिद्वयका अस्तित्व बंगालमें स्वीकार ही नहीं करते हैं—सभीको शूद्र पर्यायमें ढकेल दिया है और उनकी उत्पत्ति भी नानारूप शंकरोंसे कल्पित करली है और जैन-प्राधान्यकालमें यह सब निषेधात्मक श्लोकावली प्रसिद्ध की गई है।

वेदमें लिखा है—अन्नान वः प्रजा भक्षीष्टेति। त एते अन्ध्राःपुण्ड्राः शबराः पुलिन्दाः मुतिबा इत्युदन्ता बहवो भवन्ति। ये वैश्वामित्रा दस्युनां भूयिष्ठाः ऐतरेय ७। १८)-अर्थात्-अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मुतिब प्रभृति जातियाँ विश्वामित्रकी सन्तान हैं एवं ये दस्यु अर्थात् म्लेच्छ हैं। मनुने दस्यु शब्दकी यह संज्ञा निर्देश की है—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यादि जो जातियाँ बाह्य जातिके भावको प्राप्त हो गई हैं, वे म्लेच्छभाषी वा आर्यभाषी जो भी हो सब दस्यु हैं (मनु–१०–४५) इसी प्रकार विष्णुपुराणमें 'भविष्य-मगधराजवंश प्रसङ्गमें लिखा है कि विश्वस्फाटिक नामक एक राजा होगा, वह अन्य वर्ण प्रवर्तित करेगा और ब्राह्मण धर्मके विरोधी कैवर्त, कद्द और

❀ सिन्धु-सौवीर-सौराष्ट्रांस्तथा प्रत्यान्तिवासिनः
अंग वंग-कलिंगौडान् गत्वा संस्कारमर्हति ॥

पुलिंद गणोंको राज्यमें स्थापित करेगा (वि० पु० ४ र्थ अंश, २४ अध्याय) ब्राह्मणधर्म विरोधी या भिन्नधर्मी-जनसमूहको ब्राह्मण शास्त्रोंमें दस्यु, म्लेच्छ, इत्यादि विशेषणोंसे अभिहित किया है।

अतएव ब्राह्मणोंने जिन प्राचीन जातियोंको भ्रष्ट, दस्यु, अनार्य वगैरह सम्बोधन करके घृणा प्रकट की है, उनका पता लगाया जाय तो उनमेंसे सब नहीं तो अनेक अवश्य जैनधर्मावलम्बी थीं ऐसा प्रगट होगा।

बङ्गालमें इस समय कई जातियाँ ऐसी हैं जो एक समय ज्ञानगुण शिक्षा और कर्मसे सभ्यताके उच्चतम सोपानपर अधिरूढ़ थीं किन्तु आज वे ही ब्राह्मणोंके विद्वेषके कारण अपने अतीत गौरवसे विस्मृत हो दीन हीन अवस्थामें हैं। इन जातियोंमेंसे अब यहाँ पुण्ड्र, पुलिन्द, सातशती सराक आदि कतिपय जातियों पर विचार करना है।

बङ्गालमें तीन प्रकारके जैनी हैं-एक तो वे जो यहाँके आदि अधिवासी हैं और जिनमें कितनोंको तो ब्राह्मण विद्वेषके कारण अपना धर्म परिवर्तन करना पड़ा, कितने ही दृढधर्मी शूद्र-संज्ञा-भुक्त हुए और कितने ही अत्याचारोंसे पिसते हुए अन्तमें मुसलमान हो गए। दूसरे वे जो प्राचीन-प्रवासी-पश्चात् निवासी हैं जैसे सराक। और तीसरे वे जो नूतन प्रवासी अर्थात् जिनका यहाँ गत तीन चारसौ वर्षोंसे प्रवास है।

सप्तशती (ब्राह्मण)

प्राच्यविद्या-महार्णव, विश्वकोषप्रणेता, श्री नगेन्द्रनाथ वसुने अपने बंगेर जातीय इतिहास (प्रथम भागमें लिखा है कि:—

'बंगालके नाना स्थानोंमें सप्तशती नामक एक श्रेणी ब्राह्मण वास करते हैं। उनमें अधिकांश वंगवासी आदि ब्राह्मणोंके वंशधर हैं। जिस प्रकार मानवका शैशव यौवन और वार्द्धक्य यथाक्रमसे आकर स्वस्थान अधिकार करता है उत्थान, पतन, विकाश अथवा विनाश जिस प्रकार प्रत्येक जीवनका अवश्यम्भावी फल है, प्रत्येक समाजका भी इसी प्रकार क्रमिक परिणाम परिदृष्ट होता है। सप्तशती समाज भी कालचक्रके आवर्तनमें यथाक्रमसे शैशव, यौवन, अतिक्रम कर जराजीर्ण वार्द्धक्यमें उपनीत हुआ है इसीसे यह प्राचीन समाज आज निस्तब्ध निश्चल और मुह्यमान

है अनेकों धर्मसंघर्षमें कितनी ही विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रबल आक्रमणोंसे यह समाज आक्रांत हुआ है, और कितने विषम शेलोंसे इसका वक्षस्थल घायल हुआ है। आज यह कौन जानता है।

वर्तमान ऐतिहासिकगण घोषणा करेंगे कि इस समाज का जो अधःपतन हुआ है उसका मूल है बौद्ध विप्लव। किन्तु हम कहेंगे कि केवल बौद्धोंसे इस समाजका विशेष अनिष्ट साधित नहीं हुआ है। जिस प्रकार बहु सहस्रवर्षों पूर्व इस समाजका अभ्युत्थान हुआ था उसी प्रकार बौद्धधर्म प्रचारके पहले ही इनका पतनारम्भ हुआ है।

पहले ये ब्राह्मण वेदमार्ग परिभ्रष्ट नहीं थे और वेदविद् और साग्निक ब्राह्मण कहे जाते थे। किन्तु यहाँ (वंग) की जलवायुका ऐसा गुण है कि सब कोई नित्यनूतनके पक्षपाती हैं और पुरातनके साथ नूतनको मिलानेके लिए तत्पर रहते हैं। इस आवहवामें पुरातन वैदिक मार्गके ऊपर भी अभिनव साम्प्रदायिकोंकी भीषण झटिका प्रवाहित हुई थी। उन्हींके फलसे गौड (वंग) देशमें जैनधर्मादिका अभ्युदय हुआ। जब भगवान् शाक्य बुद्धने जन्म ग्रहण नहीं किया था उसके पहलेसे ही गौडदेशमें शैव, कौमार, और जैनमत प्रवर्तित थे। जैनोंके धर्म-नैतिक इतिहाससे पता चलता है कि शाक्यबुद्धसे बहुत पहले बंगालमें जैन प्रभाव विस्तृत हो गया था। जैनोंके चौबीसों तीर्थंकर शाक्यबुद्ध-के पूर्ववर्ती हैं और इनमें २१ तीर्थंकरोंके साथ बंगालका संबंध है इनमें १२ वे तीर्थंकर वासुपूज्यने भागलपुरके निकटवर्ती चम्पापुरीमें जन्म ग्रहण किया और मोक्ष लाभ किया और तिर्थोंमें ११ वे १३ वें से २१ वें और २३ वें श्री पार्श्वनाथ इन २० तीर्थंकरोंने मानभूम जिलास्थ सम्मेद-शिखर वर्तमान पार्श्वनाथ पर्वत पर मुक्त हुए। पार्श्वनाथका निर्वाण ७७७ ख़ृष्ट पूर्वाब्दमें हुआ था। इन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड और पंचाग्निसाधन आदिकों विशेष निंदा की थी। उस समय वहिःसंस्कार और पंचाग्निसाधनादि अनेक कर्मकाण्ड प्रचलित थे। पार्श्वनाथकी जीवनीसे इनका अनेक आभास मिलता है। तीर्थंकरगण कर्मकाण्ड विद्वेषी होने पर भी ब्राह्मण विद्वेषी कोई न थे। सभी ब्राह्मणोंकी यथोचित भक्ति श्रद्धा करते थे अब भी जैन समाजमें उसका पालन है।

इन सब महात्माओंके प्रयाससे सहस्रों लोग जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। और इन्हींके प्रभावसे यहांके ब्राह्मणोंके हृदयमें कर्मकांडोंके प्रति आस्था कम होती गई। कर्मकांडों-का आदर कम होने पर ब्राह्मणेतर विधर्मीगण कर्मकांडका अनादर और निंदा करने लगे। उत्साहके अभावमें और निर्वातस्थानमें अग्निकी तरह साग्निक ब्राह्मणगण निरा-ग्निक हो गये। इसी समय उन ब्राह्मणोंकी रध-सामाजिक और धर्मनैतिक अवनतिका सूत्रपात हुआ। उसके बाद सम्राट् अशोककी अनुशासन लिपिमें 'अहिंसाका माहात्म्य सर्वत्र प्रचारित हुआ और जनसाधारणका मन उससे विचलित हुआ। यहाँके अधिकांश ब्राह्मणोंने वैदिकाचारका परित्याग किया। जिन्होंने पहले ब्राह्मणधर्म परित्याग नहीं किया वे वैदिकी पूजा विसर्जन कर पौराणिक देव-पूजामें अनुरक्त हो गये। पौराणिक देव पूजाका प्रभाव वंग वासियों पर हुआ। जिस समय बंगालमें पौराणिक देवपूजाका प्रसार हो रहा था उस समय धीरे धीरे उसके अभ्यन्तरमें बौद्धमत प्रवेश कर रहा था। पौराणिक और बौद्धगणोंके संघर्षमें बौद्धधर्मने जय लाभ किया। जैन प्रभृति अन्य प्रबल मत भी क्रमसे उसके अनुवर्त्ती होने लगे। इसी समय गौड मंडलमें तांत्रिकताकी सूचना प्रारम्भ हुई। वैदिकोंका प्रभाव तो पहिले ही तिरोहित हो चुका था। अब पौराणिक भी नतमस्तक हो गये।

ख़ृष्टीय (ईसवी) अष्टम शताब्दिमें गौडमें फिर ब्राह्मणधर्मका पुनरभ्युदय हुआ। इसी समय गौडेश्वरने कान्यकुब्जसे पंच साग्निक ब्राह्मणोंको आमन्त्रण कर बुलाया। इसी समय गौडीय ब्राह्मणोंने 'सप्तशती' आख्या प्राप्तकी। उस समय गौडमें ७०० घर उन प्राचीन ब्राह्मणोंके थे जिनको वेदाधिकार नहीं था। कन्नौजागत पंच ब्राह्मणोंसे ७०० ब्राह्मणोंके पार्थक्य या भिन्नता रखनेके लिये सप्तशती' आख्याकी सृष्टि हुई। दूसरा अभिमत यह है कि सरस्वती नदीके तीरवासी सारस्वत ब्राह्मण ही सर्वप्रथम गौडदेशमें आये थे और राढ देशके पूर्वांशमें सप्तशतिका (वर्तमान सातसइका) नामक जनपदमें वास करनेके कारण सप्तशती या सातशती नामसे कहे जाने लगे। इस सप्तशतिका जनपदका कितना ही अंश अब वर्द्ध-मान जिलेमें सातशतका या सातसइका परगनामें परिणत हो

गया है। इसकी वर्तमान सीमा उत्तरमें ब्राह्मणी नदी, दक्षिण-पूर्व सीमा भागीरथी (गंगा) और पश्चिममें शाहबाद परगना है।

उपरोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन कालमें ये सप्तशती ब्राह्मण भी जैनधर्मानुयायी थे। पहाड़पुरके गुप्तकालीन ताम्रशासनमें भी नाथशर्मा और उनकी भार्या रामीका उल्लेख हुआ है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि पंचम शताब्द तक बंगालमें जैन ब्राह्मण थे।

पुण्डोजाति

बंगालके उत्तर पश्चिमांशमें मालदा, राजशाही, वीरभूम, मुर्शिदाबाद, जिलोंमें पुंडो-पुण्डा पोंड्रा-पुण्डरी, पुण्डरीक, नामसे परिचित एक जाति वास करती है। ये अपनेको क्षत्रिय पुण्ड्रगणोंके वंशधर बताते हैं। शास्त्रोंमें (पुण्ड्र) शब्द देश और जातिवाचक रूपसे व्यवहृत हुआ है। पुण्ड्रदेशमें रहनेके कारण ये लोग पुण्ड्र कहे जाने लगे और पुण्ड्र या पौण्ड्र शब्दके अपभ्रष्ट उच्चारणसे पुण्डो, पुण्डरी आदि शब्द बन गये हैं। प्रसिद्ध मालदह नगरसे दो कोश उत्तरपूर्व और गौड नगरसे ८ कोश उत्तरमें फिरोजाबाद नामक एक अति प्राचीन स्थान है। स्थानीय लोग इस स्थानको पांडोया या पुंडावा कहते हैं। इस स्थानसे १ कोश उत्तर-पश्चिममें और मालदहसे २३ कोस उत्तरमें वारदांवारी—पुण्डोवाके भग्नावशेष हैं।

इस पुण्ड्रजातिने कमसे कम छः हजार वर्ष पहले वर्तमान बंगदेशके उत्तर पश्चिम भाग अर्थात्—पौण्ड्रदेश या पुण्ड्रदेशमें❀ अपने नामानुसार उपनिवेश स्थापनकर राज्य किया और ये लोग जैन धर्मानुयायी थे। अत एव इस क्षत्रिय पुण्ड्रजातिको भी ब्राह्मणोंने क्रोधके कारण शास्त्रोंमें प्रक्षेपण द्वारा वृषल या भ्रष्ट क्षत्रिय कहकर उल्लेख किया है×। इस जातिमें अभी तक जैनधर्मके संस्कारके फलस्वरूप मद्यमांसादिकका प्रचलन बिलकुल नहीं है और आचारविचार बहुत शुद्ध हैं। यदि ये लोग बौद्ध मतावलम्बी होते तो इनमें भी मांसका प्रचलन अवश्य रहता, फिर मत्स्यान्न भक्षी प्रधान बंगदेशमें और खासकर तांत्रिक युगमेंसे निकलकर भी अबतक निरामिष-भोजी रहना इनके जैनत्वको और भी पुष्ट करता है। किन्तु अब ये लोग वैष्णवधर्मावलम्बी हैं। व्यवसाय वाणिज्य आदि करनेसे अब इनकी वैश्यवृत्ति हो गई है। उपरोक्त चारों जिलोंमें इस पुण्डो (पुण्ड्र) जातिके अधिकांश जन रहते हैं। मध्य बंगके नदिया, दक्षिण बंगके यशोहर और पूर्व बंगके पवना जिलोंमें भी अल्प संख्यामें ये पाये जाते हैं। विहार जिलेके संथाल परगनेके पाकुर अंचलमें भी इनका वास है उड़ीसाके बाउद स्टेटमें भी इस जातिके लोग पाये जाते हैं और वहाँ पुण्डरी नामसे सत् शूद्र श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

राज्याधिकारच्युत हो जानेके कारण पुण्ड्र जातिके लोग कृषि और शिल्प कौशलसे जीविकार्जन करते आ रहे हैं। इनमें सगोत्र विवाह निषिद्ध है। पुण्ड्र जातिमें विधवा विवाह भी प्रचलित नहीं है। इनमें ३० गोत्र हैं जैसे काश्यप, अग्नि वैश्य, कन्व कर्ण, अवट विद् चान्द्रमास, मालायन, मौद्गल्य, माधूर ताण्डि मुद्गल, वैयाघ्रपद, तौडि, शालिमन, चिकित, कुशिक, वेणु, आलम्बायन शालाक्ष, लौक, वात्स्य, सौम्य, भलन्दन कांसलायन शाण्डिल्य, मौञ्जायन, पराशर लोहायन, और शंख इनमें कच्ची (सिद्धान्न) और पक्की (पक्वान्न) प्रथाकी कट्टरता और जाति-पांतिका प्रचलन है पौण्ड्रदेशमें पहले जैनोंका ही प्रभाव था। अतः विद्वेषके कारण इस जैनपुण्डजातिको ब्राह्मणोंने शूद्र संज्ञा दे दी है। वैष्णवधर्मको अपना लेनेके कारण इन पर इतनी कृपा कर दी कि इन्हें सत्-शूद्रोंमें गर्भित कर लिया है❀।

❀ जैन धर्मप्रवर्तक पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी एवं 'अहिंसा परमो धर्मः' मन्त्रके ऋषि और धर्मके संस्थापक भगवान बुद्धने एक समय अपनी पदधूलिसे पौण्ड्रवर्द्धनको पवित्र किया था।

(देखो बंगे क्षत्रिय पुण्ड्रजाति—श्री मुरारी मोहन सरकार)

× मोकला, द्राविडा, लाटा, पौण्ड्रा कोराव शिरस्तथा,
शौण्डिका दरदा दर्वा-श्चोराःशबरा वर्बरा।
किराता यवना श्चैवस्तथा क्षत्रिय जातयः
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानामर्षणात् ॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ३५

❀ यह ऊपर लिखा जा चुका है कि बंगालमें मात्र दो ही जाति या वर्ण हैं। ब्राह्मण और शूद्र।

पोदजाति

बंगालके उत्तर पश्चिमांश जिलोंमें पुण्ड्रोजातिके सम्बन्धमें ऊपर लिखा जा चुका है। उन्हीं जिलोंमें से मालदा, राजशाही, मुर्शिदाबाद और वीरभूममें एक पोद नामक जाति भी निवास करती है पोद और पुण्ड्रो (पुनरोसे) दोनों ही की मूल जाति एक है। किन्तु निवास स्थानकी दूरीके कारण उनका परस्पर सम्बन्ध भंग हो नहीं हो गया किन्तु वे एक दूसरेको अपनेसे हीन समझने लगे हैं।

कुलतंत्र विश्वकोष और मर्दुम सुमारी (Census Report) से पता लगता है कि पौंड्र क्षत्रियोंके चार विभाग है—जिनमें पुनरो तो उत्तर राढीय और दक्षिण राढीय इस प्रकार दो राढी विभागोंको और पोद बंगज और ओड्ज (उडिया) विभागोंको प्रदर्शित करते हैं।

पश्चिम बंगके अधिकांश भागमें और खासकर चौबीस-परगना, खुलना और मिदनापुर जिलोंमें इनका निवास है। और हवडा, हुगली, नदिया और जेसोर (यशोहर) जिलों में भी ये अल्पसंख्यामें पाये जाते हैं। गंगासागरके सन्निहित प्रदेश समूहमें इस जातिके अधिकांश लोग वास करते हैं। ये पोद, पोदराज, पद्मराज पद्मराज इन सब नामोंसे परिचित हैं। ये लोग अपनेको प्राचीन पुण्ड्रगणोंके वंशधर बताते हैं।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्रीके मतानुसार × महाभारत पुराण और वेद प्रभृति शास्त्रोंमें जिस पुलिंद नामक अनार्य जातिका उल्लेख हुआ है उसीसे समुत्पन्न यह पोद जाति है। अमरकोशमें पुलिंदोंको म्लेच्छ संज्ञा दी गई है। कवि कंकणने अपने चंडी काव्यमें (सन् १५७७) तदानीन्तन बंगदेशवासी जातियोंके साथ पुलिंदगणोंका किरात, कोलादि म्लेच्छोंमें रखा है "पुलिन्द किरात, कोलादि हाटेने वाजा चढोल।"

किन्तु पुलिंद शब्दका अपभ्रंश पोद किसी भी नियमके अनुसार बन नहीं सकता है।

वर्तमानमें इनकी हीनावस्था है और आचार व्यवहार भी निकृष्ट हैं। तो भी इनमें कर्णवेध, अन्नप्राशन, शौचाचार आदि उच्च जातियोंके धार्मिक अनुष्ठान प्रचलित हैं। इनमें विधवा विवाह वर्जित है और तलाक भी नहीं है। इनके गोत्र हैं—आंगिरस, आलम्यान, धानेश्री, शांडिल्य, काश्यप, भरद्वाज कौशिक, मौद्गल्य, मधुकुल्ल और हंमन इत्यादि। वैवाहिक नियम भी इनमें उच्चजातियों की तरहके हैं। कुशण्डिका, व्यतीत विवाहके सब अंग ये पालन करते हैं पर सम्प्रदानको विवाहका प्रधान अंग ये मानते हैं। अब इनकी गणना सत् शूद्रोंमें की जाती है। पोद जाती खांटी कृषक जाति है।

प्रोफेसर पंचानन मित्र, एम० ए० पी० आर० एस० ने लिखा है कि "यह सम्भव है कि बंगालके पोद मूलतः जैनी होनेके कारण क्षति ग्रस्त हुए हैं †। पोद (पुनरो) जाति पन्ना और पद्मरागकी खानोंसे धन संचय कर चुके हैं। दक्खनका 'पदिरूर' नामक स्थान इन्हीं पोदगणोंके नामसे प्रसिद्ध हुआ मालुम होता है। पन्ना पद्मराज खनिज रत्नोंके नामोंसे भी इस जातिके नाम मिलते जुलते हैं। प्राचीन कालमें पट्ट शब्दसे सनके वस्त्र समझे जाते थे। विश्वकोशमें पुण्ड्र और पट्ट वस्त्रके समानार्थवाची शब्द हैं। इससे मालूम होता है कि पुण्ड्रो और पोद जाति भी वस्त्र व्यवसायी थी। एक ओर पौंड्रादि जातियोंके ऊपर ब्राह्मणोंका अत्याचार बढा और दूसरी ओर मुसलमानोंने भी इन्हें तङ्ग करना प्रारम्भ किया इससे इन जातियोंके लाखों मनुष्य इसलाम धर्मानुयायी बन गये*। पोद जातिके कुछ लोग हुगली जिलेके पाण्डुआके आस पास भी पाये जाते हैं और वे मछुए, धीवर, हैं किन्तु अन्य पोद गणोंसे इनका किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है।

कायस्थजाति

गौड़वंगके सामाजिक, राजनैतिक, धर्मसाम्प्रदायिक इतिहासमें कायस्थ जातिने सर्वप्रधान स्थान अधिकार किया था। ज्ञान-गुण दया दाक्षिण्य, शक्ति-सामर्थ्य धर्म कर्म सभी विषयोंमें यहाँका कायस्थ समाज एक दिन उन्नतिकी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था इसीसे गौड़-वंगका प्रकृत इतिहासका प्रधान अंश ही कायस्थ समाजका

× History of India by H. P. Shastri p. 32.

† The Cultivating Pods by Mahendra Nath Karan

* History of Gour by R. K. Chakravarty.

इतिहास है। अकबरके प्रधान सभासद् और ऐतिहासिक अबुलफज़लने लिखा है कि मुसलमान आगमनसे पूर्व १६३२ वर्षोंसे यह बङ्गभूमि भिन्न २ स्वाधीन राजवंशोंके शासनाधीन थी। अर्थात् एक दिन गौड़ बङ्ग कायस्थ प्रधान स्थान था।

राजकीय लेख्यविभागमें जो पुरुषानुक्रमसे नियोजित होते रहे हैं, समय पाकर उन्होंने ही 'कायस्थाख्या' प्राप्त की थी। सामान्य नकलनवीसी किरानी (Clerk) के कार्यसे लगाकर राजाधिकरणका राज सभाके संधि विग्रहादिका कार्य पुरुषानुक्रमसे जिनकी एकांत वृत्ति हो गई थी वे ही कायस्थ कहलाने लगे

प्राचीन लेखमालामें यह जाति लाजू कथा राजूक, श्री करण, कर्णिक, कायस्थ ठकुर और श्री करणिक ठकुर इत्यादि संज्ञासे अभिहित हुई है। मौर्यसम्राट् अशोककी दिल्ली अलाहाबाद रधिया, मथिया, और रामपुर इत्यादि स्थानोंसे प्राप्त अशोकस्तम्भोंसे उत्कीर्ण धर्म लिपिसे राजूकोंका परिचय है—उसका अनुवाद निम्नलिखित है:—

"देवगणोंके प्रिय प्रियदर्शिराजा इस प्रकार कहते हैं—मेरे अभिषेकके *षड्विंशति वर्ष पश्चात् यह धर्मलिपी (मेरे आदेशसे) लिपिबद्ध हुई। मेरे राजूकगण बहु लोगोंके मध्यमें शतसहस्र प्राणियोंके मध्यमें शासन कर्तृरूपसे प्रतिष्ठित हुए हैं। उनको पुरस्कार और दंड-विधान करनेकी पूर्ण स्वाधीनता मैंने दी है। क्यों? जिससे राजूकगण निर्विघ्नता और निर्भयतासे अपना कार्य कर सकें, जनपदके प्रजा साधारणके हित और सुख विधान कर सकें एवं अनुग्रह कर सकें। किस प्रकार प्रजागण सुखी एवं दुखी होंगी यह वे जानते हैं। वे जन और जनपदको धर्मानुसार उपदेश करेंगे क्यों? इस कार्यसे वे इस लोक और परलोकमें परम सुख लाभ कर सकेंगे। राजूकसर्वदा ही मेरी सेवा करनेके अभिलाषी हैं मेरे अपर (अन्य) कर्मचारीगण भी, जो मेरे अभिप्रायको जानते हैं, मेरे कार्य करेंगे और वे भी प्रजागणको इस प्रकार आदेश देंगे कि जिससे राजूकगण मेरे अनुग्रह लाभमें समर्थ हो सकें। जिस प्रकार कोई व्यक्ति उपयुक्त धात्रीके हाथमें शिशुको न्यस्त कर शान्ति बोध करता है और मन ही मनमें सोचता है कि धात्री मेरे शिशुको भली प्रकार रखेगी, मैं भी उसी प्रकार जानपदगणके मंगल और सुखके लिये राजूकोंसे कार्य करवाता हूँ। निर्मलतासे एवं शान्ति-बोध कर विमन न होकर वे अपने कामको कर सकेंगे। इसी लिए मैंने पुरस्कार और दण्डविधानमें राजूकगणोंको सम्पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की है। मेरा अभिप्राय क्या है? वह यह है कि राजकीय कार्यमें वे समता दिखावेंगे, दण्ड-विधानमें भी समता दिखावेंगे।"

राजूकगणोंका किस प्रकार प्रभाव था, अशोक लिपिसे उसका स्पष्ट आभास मिलजाता है। बूल्हर साहबने राजूक-गणोंको "कायस्थ" माना है। मेदिनीपुर वासी एक श्रेणीके कायस्थ आज भी "राजू" नामसे कहे जाते हैं।

प्रोफेसर जेकोबीके जैन प्राकृतमें लाजूक या राजूक सूचक रज्जू शब्द कल्पसूत्रमें मिला है जिसका अर्थ है लेखक किरानी (Clerk)। राजूक और कायस्थ दोनों ही शब्द प्राचीन शास्त्रोंमें एकार्थवाची हैं। सुप्रसिद्ध बूल्हर साहबने लिखा है कि अशोकको उपरोक्त स्तम्भ लिपि जब प्रचारित हुई थी उस समय प्रियदर्शीने बौद्ध-धर्म ग्रहण नहीं किया था। और तब वे ब्राह्मण, बौद्ध, और जैनोंको समभावसे देखते थे। ऐसी अवस्थामें राजूक-गणोंको जो सम्मान और अधिकार प्रदान किया था वह पूर्व प्रथाका ही अनुवर्तन था।

पर्वत पर खोदित अशोकके तृतीय अनुशासनसे जाना जाता है कि राजूकगण केवल शासन या राजस्व विभागमें ही सर्वेसर्वा नहीं थे किन्तु धर्मविभागमें भी उनका विशेष हाथ आ गया था (जब अशोक बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था) और वे सम्राट् अशोकद्वारा धर्म महामात्यपदमें अधिष्ठित हो गये थे। अधिक सम्भव है कि जिस दिनसे राजूकगण कराध्यक्षसे धर्माध्यक्ष हुए उसी दिनसे ब्राह्मण शास्त्रकारगणोंकी विषदृष्टिमें पड गये और इसी कारण सारे पुराणमें (अध्याय १६) राजोपसेवक धर्माचार्य कायस्थगण अपांक्तेय बना दिये गये (अध्याय १६)।

विद्वानोंके मतसे मौर्यसम्राट् अशोक वृद्धावस्थामें यद्यपि कट्टर धर्मानुयायी थे तो भी सब धर्मोंके प्रति समभावसे सम्मान प्रदर्शन करते थे और प्रजाको धर्मसम्ब-न्धमें पूर्ण स्वाधीनता थी। साधारण प्रजावर्ग अशोकके व्यवहारसे सन्तुष्ट होने पर भी ब्राह्मण धर्मके नेता ब्राह्मण-गण कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। कारण स्मरणातीत-

* बंगेर जातीय इतिहास—श्री नगेन्द्रनाथ वसु (विश्वकोष संकलयिता प्राच्य विद्या महार्णव-सिद्धान्त वारिधि प्रणीत—राजन्यकाण्ड, कायस्थकाण्ड, प्रथमांश।

कालसे जो अविसम्वादित श्रेष्ठता वे भोग करते आरहे थे, उसके मूलमें कुठाराघात हुआ—सब जातियां समान स्वाधीनता पाकर कौन अब उन ब्राह्मणोंको पहलेकी तरह सन्मान और श्रद्धा करेंगे। इस प्रकारकी धारणासे उनके मनमें दारुण विद्वेषका संचार हो गया। इसके बाद मौर्य-सम्राट्ने जब दण्ड-समता और व्यवहार समताकी रक्षाके लिए विधि-व्यवस्था प्रचारित करने लगे तब उस विद्वेषाग्निमें उपयुक्त अनिल संचार हो गया। ब्राह्मणधर्मके प्राधान्य कालमें अपराधके सम्बन्धमें ब्राह्मणोंको एक प्रकारसे स्वतन्त्रता थी—ब्राह्मण चाहे जितना गर्हित अपराध करे तो भी उनको कभी प्राणदण्ड नहीं मिलता था, न उनके लिये किसी प्रकारका शारीरिक दण्ड था। साक्षी (गवाही) देनेके लिए उनको धर्माधिकरणमें उपस्थित होनेके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था। साक्षी देने पर उनको जिरह नहीं कर सकते थे। किन्तु व्यवहार समताकी प्रतिष्ठा कर अशोकने उनको इन सब चिरन्तन अधिकारोंसे वंचित कर दिया। अब तो उनको भी घृणित, अस्पृश्य, अनार्य एवं शूद्र प्रभृतोंके साथ समान भावसे शूलारोहण और कारावासादि क्लेश सह्य करने पड़ेंगे। बस इन सब बातोंसे अशोकका वंश ब्राह्मणोंका चक्षुशूल हो गया। और उसके ध्वंसके लिए वे बद्धपरिकर हो गये। अशोककी मृत्युके बाद मौर्यराजाके प्रधान सेनापति पुष्यमित्रको राजत्वका लोभ दिखाकर राजाके विरुद्ध ब्राह्मणोंने उत्तेजित कर दिया। पुष्यमित्र परम ब्राह्मण भक्त था। एक बार ग्रीक लोगोंने जब पश्चिम प्रान्त पर आक्रमण किया था तब पुष्यमित्र उनको पराजित कर जब पाटलीपुत्रमें लौटा, तब मौर्याधिप बृहद्रथने उसके अभ्यर्थनार्थ नगरके बाहर एक विराट सैन्य-प्रदर्शनी की व्यवस्था की। उत्सवके बीचमें ही किस प्रकार किसीका एक तीर महाराजके ललाटमें लगा और उसी जगह उनका देहान्त हो गया।

ब्राह्मणधर्मके भक्त-सेवक पुष्यमित्रने इस प्रकार मौर्यवंशका ध्वंस साधन कर भारतके सिंहासन पर उपविष्ट हुए और तत्काल ही पूर्वब्राह्मण-धर्मकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जहाँसे अहिंसाधर्म घोषित हुआ था उसी पाटलीपुत्रके वक्षस्थल पर बैठकर पुष्यमित्रने एक विराट अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान कर अहिंसाधर्मके विरुद्ध घोषणा की और पुष्यमित्रके आधिपत्य विस्तारके साथ २ ब्राह्मणगण पुनः समाजके, धर्मके, एवं आचार-व्यवहारके नेता हो गये और राज्यको उपदेश देकर चलाने लगे।

जब शुंगवंश वैदिक क्रिया-काण्ड प्रचार द्वारा अहिंसाधर्मका मूलोच्छेद करनेमें अग्रेसर हुआ तब अहिंसाधर्मके पृष्ठपोषक बौद्ध और जैनाचार्यगण भी निश्चिन्त, और निश्चेष्ट नहीं थे। बौद्धधर्मानुरक्त यवन नरपति मिलिंदने शुंगाधिकार पर आक्रमण किया पर वे सफल न हो सके। जैनधर्मी कलिंगाधिपति खारवेलने (ई० पूर्व० १७१) मगध पर आक्रमण किया और पुष्यमित्रको पराजित कर पुनः जैनधर्मकी प्रतिष्ठा की।

प्रायः २३५ ई०पू० से ७८ ईस्वी पूर्वाब्द पर्यंत आर्यावर्तमें शुंग और काण्व वंशके अधिकार कालमें ब्राह्मणोंका प्राधान्य अप्रतिहत था। इससे पहले बौद्ध और जैनाधिकारके समय जो प्रबल थे,इस समय उनको पूर्व प्रति-पत्तिका बहुत कुछ ह्रास हो गया था। उसीके साथ मालूम होता है कि राजूकगण (कायस्थ) भी पूर्व सन्मानच्युत और ब्राह्मणोंके विद्वेष भाजन हो गये।

यह पहले लिखा जा चुका है कि जैनोंके प्राचीन ग्रन्थोंसे यह मालूम होता है कि खृष्ट जन्मके ८०० वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ स्वामीने पुण्ड्र, राढ़, और ताम्रलिप्त प्रदेशमें वैदिक-कर्मकाण्डके प्रतिकूल "चातुर्याम धर्मका" प्रचार किया था और उनके पहले श्री कृष्णके कुटुम्बी २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथने अंग बंगमें जिनधर्म प्रचार किया था। बुद्ध और अंतिम तीर्थंकर महावीरस्वामीने भी यथाक्रम अंग और राढ़ देशमें अपने २ धर्मका प्रचार किये थे। ये सभी वैदिक आर्यधर्म विरोधी थे और इनके प्रभावसे प्राच्यभारतका अनेक अंश वैदिकाचारविहीन था—इस कारणसे यहाँ अति-पूर्वकालमें ब्राह्मण प्रभाव नहीं था। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा वैदिक विप्रगण अंग बंगके प्रति अति घृणासे दृष्टिपात कर चुके हैं। इसी कारणसे ब्राह्मणोंके ग्रन्थोंमें अंग बंगकी सुप्राचीन वार्ताको स्थान नहीं मिला और जो जैन बौद्धादिकोंने लिखा था वह सब सम्भवतः ब्राह्मणाभ्युदयके समय प्रयत्नाभावके कारण विलुप्त हो गया है। उसी अतीतकालकी क्षीणस्मृति प्रचलित एक दो बौद्ध और जैन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। उनसे मालूम होता है कि—महावीर स्वामीने अंग देशके चम्पा नगरीमें एक कायस्थके गृहमें एक बार पारणा किया था। बिम्बसारके पुत्र

अजातशत्रुने जब चम्पाको राजधानी बनाया था उस समय वहाँ बौद्ध प्रभाव था किन्तु अल्पदिनों बाद गणधर सुधर्मस्वामीने जम्बूस्वामीके साथ चम्पामें आकर जैनधर्म प्रचार किया था। इसके बाद जम्बूस्वामीके शिष्य वत्सगोत्र सम्भूत स्वयंभव यहाँ आये और उनके निकट जैनधर्मका उपदेश श्रवण कर अनेक लोग जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। इसके बाद अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहुका अभ्युदय हुआ। समस्त भारतमें इनके शिष्य प्रशिष्य थे। इनके काश्यप गोत्रीय चार प्रधान शिष्य थे उनमें प्रधान शिष्य गोदास थे इन गोदाससे चार शाखाओंकी सृष्टि हुई, इनका नाम था ताम्रलिप्तिका कोटीवर्षीया पुण्ड-वर्द्धनीया और दासीकर्वटीया। अतिप्राचीन कालमें इन चार शाखाओंके नामसे यह प्रतिपन्न होता है कि दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम समस्त वंगमें जैनोंकी शाखा प्रशाखा विस्तृत हुई थीं। इससे स्पष्ट होता है कि अति प्राचीनकालसे राढ, वंगमें विशेषतासे जैन प्रभाव और उसके साथ बौद्ध संस्रव था।

उत्तर और पश्चिम वंगमें गुप्ताधिकार विस्तारके साथ वैदिक और पौराणिक मत प्रचलित होने पर भी पूर्व और दक्षिण वंगमें बहुत समय तक जैन निर्ग्रन्थ और बौद्ध श्रमणोंकी लीलास्थली कही जाती थी।

जैन और बौद्ध ग्रन्थोंमें ब्रह्मदत्त नृपतिका नाम मिलता है। अबुल फ़जलकी कथाका विश्वास करनेसे उनको कायस्थ नृपति मानना पड़ेगा। अंग और पश्चिम वंग उनके अधिकारसे निकलकर श्रेणिक राजाके आधीन हो जाने पर ब्रह्मदत्तने पूर्व वंग और दक्षिण राढको आश्रित किया। उस सुप्राचीनकालसे लगाकर गुप्तशासनके पूर्व पर्यन्त यहाँ के कायस्थगण या तो जैन या बौद्ध-धर्मके पक्षपाती थे। बहुशत वर्षोंसे जिस धर्मका प्रभाव जिस समाजपर आधिपत्य विस्तार कर चुका था, वह मूलधर्म विलुप्त होनेपर भी समाजके स्तर स्तरमें प्रस्तररेखावत्— उसका अपना चिन्ह अवश्य रह जायेगा। इसी कारणसे यहाँकी उस पूर्वतन कायस्थ-समाजके अनन्तर जाल वर्तमान समाजमें भी उसकी क्षीण स्मृतिका अत्यन्ता-भाव नहीं हुआ।

आदित्य, चन्द्र, देव, दत्त, मित्र, घोष, सेन, कुण्डु, पालित, भोग, मुंजि नन्दी, नाग प्रभृति उपाधि प्राचीन कालसे बंगालके कायस्थ समाजमें प्रचलित हैं। इनके पूर्व पुरुष पश्चिम भारतसे उपरोक्त जिस २ पदवीयुक्त होकर आये थे. उनके वंशधर भी उसी उसी पदवीको व्यवहार करते रहे हैं और आज भी वे उपाधि यहां प्रचलित हैं। अंतमें वसु महाशयने लिखा है कि अति-पूर्वागत कायस्थ-गण इस देशकी जलवायु और साम्प्रदायिक धर्मप्रभावके गुणसे अधिकांश जैन, बौद्ध वा शैवसमाज भुक्त हो गए थे। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कायस्थोंमें अनेक प्राचीन प्राचीन जैन धर्मावलम्बी हैं।

धर्मशर्माभ्युदयके कर्ता महाकवि हरिश्चन्द्र जैन कायस्थ थे। उन्होंने अपने वंशपरिचयमें अपनेको" बड़ी भारी महिमा वाले और सारे जगतके अवतंसरूप नोमकोंके वंशमें कायस्थकुल का लिखा है। "नोमकानां वंशः" पाठ अशुद्ध मालूम होता है इसकी जगह "राजकानां वंशः" पाठ होना चाहिए।

हरिश्चन्द्रने काव्यकी प्रशंसा करते हुए······लिखा है कि "महाहरिश्चन्द्रस्य गद्य बन्धो नृपायते" इनकी दूसरी कृति 'जीवंधर चम्पू" है। जो गद्य पद्यमें लिखा हुआ सुन्दर काव्य ग्रन्थ है।

यशोधरचरित अथवा 'दयासुन्दर विधान काव्य' नामक ग्रन्थके कर्ता कवि पद्मनाम कायस्थ भी जैनधर्मके प्रतिपालक थे। इन्होंने ग्वालियरके तंवरवंशी राजा वीरम-देवके राज्यकालमें (सन् १४०१ से १४२५ के मध्यवर्ती समयमें) भट्टारक - गुणकीर्तिके उपदेशसे वीरमदेवके मन्त्री कुशराज जैसवालके अनुरोधसे "यशोधरचरित्रकी" रचना की थी।

विजयनाथ माथुर टोडे (तत्तकपुर के निवासी थे। उन्होंने जयपुरके दीवान श्री जयचन्दजीके सुपुत्र कृपाराम और श्री ज्ञानजीकी इच्छानुसार सं० १८६१ में भ० सकलकीर्तिके "वर्द्धमानपुराण" का हिन्दीमें पद्यानुवाद किया था।

क्रमशः

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) ... १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द।

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण प्रस्तावनासे सुशोभित।

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ।॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा० टी० एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३१) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० केदारनाथ बद्रीप्रसादजी सरावगी „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर स्थित जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक सदर बाजार मेरठ
१०१) श्रीमती श्रीमालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी जैन 'संगल' एटा
१०१) ला० मक्खनलालजी मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदासजी आत्मारामजी सरावगी, मारुफगंज पटना सिटी
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी हांसी
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी हांसी

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली । मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

विषय-सूची

अनेकान्त

सितम्बर
सन १९५३

अनेकान्तके ग्राहक बनना और बनाना प्रत्येक साधर्मी भाईका कर्तव्य है

माता और पुत्रका दुःसह-वियोग !!

अनेकान्त-पाठकोंको यह जानकर दुःख तथा अफसोस हुए बिना नहीं रहेगा कि उनके चिरपरिचित एवं सेवक पं० परमानन्दजी शास्त्रीको हालमें दो दुःसह वियोगोंका सामना करना पड़ा है ! उनकी पूज्य माताजी का ता० २८ अगस्तको शाहगढ़ (सागर) में स्वर्गवास हो गया और उसके तीन दिन बाद (ता० ३१ अगस्तको) उनका मझला पुत्र राजकुमारभी चल बसा !! दोनोंकी मृत्युके समय पंडितजी पहुँच भी नहीं पाए। इस आकस्मिक वियोगसे पंडितजीको जो कष्ट पहुँचा है उसे कौन कह सकता है ? उनकी पत्नीके वियोगको अभी दो वर्ष ही हो पाए थे कि इतने में ये दो नये आघात उनको और पहुँच गये !! विधिकी गति बड़ी विचित्र है, उसे कोई भी जान नहीं पाता। एक सम्यग्ज्ञान अथवा सद्विवेकके बिना दूसरा कोई भी ऐसे कठिन अवसरों पर अपना सहायक और संरक्षक नहीं होता। पंडितजीके इस दुःखमें वीरसेवामन्दिर परिवारकी पूरी सहानुभूति है और हार्दिक भावना है कि दोनों प्राणियोंको परलोकमें सद्गतिकी प्राप्ति होवे। साथही पंडितजीका विवेक सविशेष रूपसे जागृत होकर उन्हें पूर्ण धैर्य एवं दिलासा दिलानेमें समर्थ होवे।

श्रीबाहुबलि-जिनपूजा छपकर तय्यार !!

श्री गोम्मटेश्वर बाहुबलिजी की जिस पूजाको उत्तमताके साथ छपानेका विचार गत मई मासकी किरणमें प्रकट किया गया था वह अब संशोधनादिके साथ उत्तम आर्टपेपर पर मोटे टाइपमें फोटो ब्राउन रङ्गीन स्याहीसे छपकर तयार हो गई है। साथमें श्रीबाहुबली जीका फोटो चित्र भी अपूर्व शोभा दे रहा है। प्रचार की दृष्टिसे मूल्य लागत से भी कम रखा गया है। जिन्हें अपने तथा प्रचारके लिये आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मंगालेवें; क्योंकि कापियाँ थोड़ी ही छपी हैं, १०० कापी एक साथ लेने पर १२) रु० में मिलेंगी। दो कापी तक एक आना पोष्टेज लगता है। १० से कम किसीको वी. पी. से नहीं भेजा जाएगी।

मैनेजर—'वीरसेवामन्दिर'
१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), १०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—

मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ४ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली | सितम्बर
भाद्रपद वीरनि० संवत् २४७६, वि० संवत् २०१० | १९५३

ज्ञानी का विचार

(कविवर द्यानतराय)

ज्ञानी ऐसो ज्ञान विचारै ।
राज सम्पदा भोग भोगके, बंदी खाना धारै ॥ १ ॥
धन यौवन परिवार आपतैं, ओछो और निहारै ।
दान शील तपभाव आपतैं, ऊँचे माहिं चितारै ॥ २ ॥
दुख आए पै धीर धरै मन, सुख वैराग सम्हारै ।
आतम-दोष देख नित झूरै, गुन लखि गरब विडारै ॥ ३ ॥
आप बड़ाई परकी निन्दा, मुखतैं नाहिं उचारै ।
आप दोष परगुन मुख भाषै, मनतैं शल्य निवारै ॥ ४ ॥
परमारथ विधि तीन योगसौं, हिरदे हरष विथारै ।
और काम न करै जु करै तो, योग एक दो हारै ॥ ५ ॥
गई वस्तु को सोचै नाहीं, आगम चिन्ता जारै ।
वर्तमान वर्तै विवेकसौं, ममता-बुद्धि विसारै ॥ ६ ॥
बालपने विद्या अभ्यासै, जोवन तप विस्तारै ।
वृद्धपने संन्यास लेयकै, आतम काज सँभारै ॥ ७ ॥
छहों दरब नव तत्त्व माहिं तैं, चेतन सार निहारै ।
'द्यानत' मगन सदा निज माहीं, आप तरै पर तारै ॥ ८ ॥

दशलाक्षणिक धर्मस्वरूप

(कविवर रइधू)

[तेरहवीं शताब्दीके विद्वान कविवर रइधूने जिनकी बनाई हुई दशलक्षण पूजाकी जयमाल दशलक्षण पर्वमें प्रायः सर्वत्र पढ़ी और व्याख्यान की जाती है, 'वृत्तसार' (चारित्रसार) नामका एक सुन्दर ग्रन्थ प्रायःप्राकृत भाषामें गाथाबद्ध रचा है. जिसके रचनेमें हालू साहू अग्रवालके पुत्र आहू साहू खास तौरसे प्रेरक हुए हैं और इसलिये जो उन्हींके नामाङ्कित किया गया है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया है। इसमें दशलक्षण धर्मके स्वरूप-वर्णन-विषयका एक सर्ग (अंक) ही अलग है, जो प्रकृत विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है और काफी सरल तथा सुबोध है। अतः इस शुभ अवसर पर इसे यहाँ उद्धृत किया जाता है। पूरे ग्रन्थको वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशनका भी विचार चल रहा है।

—सम्पादक]

उत्तम-क्षमा

असमत्थेण जि विहिदं उवसग्गं जइ सहेइ सु समत्थो।
ता होइ उत्तमा सा खमा जि सग्गालणिस्सेणि ॥१॥
चिरकियकम्में सुहु-दुहु लब्भइ चित्तम्मि एवमण्णंतो।
णो रज्जदि णो कुद्धदि उत्तमखम भावदे णिच्चं ॥ २
णीयजणहिं अवगणिदो उत्तमुसाहूवि झाण सामत्थं।
णो कुद्धदि तस्सोवरि सकम्म-विलयं वियाणंतो ॥३॥
तव-संजम-आरामं चिरकालेणावि पालिदं फलदं।
तं कोहग्गिउदिएणा पज्जालयदीह लीलेव ॥४॥
कोहंधु डहइ पढमं अप्पाणं एत्थु संजमाधारं।
अण्णस्स डहदि णो वा इदि माणिणावि तं ण कायव्वं ॥५
उक्तंच-दंसणणाणचरित्तहिं अणग्घरयणेहि पूरियं सददं
मणकोस लुंटिज्जइ कसायचोरेहिं कयणिच्छं ॥६॥
विहु लायस्स विरुद्धं दुग्गइ गमणस्स सहयरं णिच्च।
तं कोहं मुणिणाहे उत्तम खमयाए जेयव्वं ॥७॥
जो उवसग्गु वियंभिवि कम्म-गदं मज्झ फेडई विविहं।
सो णिक्कारणमित्तो तस्स रूसंतो ण लज्जेमि ॥८॥
महु कय-कम्मं णासइ अप्पाण विणासएदि परलोयं।
जोसई दुग्गइ णिवडइ तहु रूसंता ण साहेइ ॥९॥
सिवमग्गि गम्ममाणे मज्झु परिक्खा कारणे विग्घा।
संजादा अइविसमा इय मणिणवि णो खमा चत्ता ॥१०
जइजि परीसह-संगा-कसाय-सुहडेण ताडमाणेण।
जइ खमदुग्ग छंडसि ता खयजामीह कयणिच्छं ११॥
मिच्छाइट्ठी मूढा जइ सो पीडेइ ता जि णवि दोसो।
ज हउं विवेय-जुत्तो कोहं गच्छेमि तंपि णो णाओ॥१२॥
जइ दुव्वयणं जपवि मज्झु सुही होइ दुज्जणो दोसी।
ता महु जीवियव्व सहलं भवदोह लोयम्मि ॥१३॥
कम्मोदए पवण्णो भव्वु वियारेइ एम णियचित्ते।
एहु वि णो अण्णाओ कियकम्मं ज फलं देइ ॥१४॥
ज मई चिरभवि विहिदं सुहासुहं कम्म तंजि सुहदुक्खं।
देइजि णियमादो इह णिमित्तमत्तं पुणो अण्णो ॥१५॥
महु उतमखम णिसुणिवि वइरियणा छेय-भेयणाइहिं।
त पेक्खु णत्थि आया खणु विम छंडेहि सा धीरा ॥१६
हउं महव्वय-भर-कुसलो विवय-जुत्तो वि पावणा संता।
णिम्ममओ वि णियकाए कोहं गच्छंतु लज्जेमि ॥१७॥
जह जइ कुवि उवसग्गा करेइ सवणस्स तह तहं चेव।
उत्तमखमा सुवण्ण अहिययरं णिम्मलं होइ ॥१८॥
जं पुण्णकारणजादे खमागुणं होइ त ज कयप्पसंसं।
णिक्कारणेण कोई अत्थि खमा-वज्जिदो लोगो ॥१९॥
तव-सजम-सीलाणं जणणी कोहग्गि-नीर-घण-विट्ठी।
सिवगइ बहुहि सहिल्ला उत्तमखम पावणा किच्चा ॥२०
जा गुरुयणाणदासं लज्जा-भय-गारव-वसादो ऊ।
सहइ ण सा उत्तमखमा तंजि खमा णाममत्त य ॥२१॥
हउ कोसिदो ण णिहदो णिहदोवि ण मारिदो य दयचत्तें
मरणे पत्तु व तहवि हु ण कोहयामीदि मे बुद्धी ॥२२॥

उत्तम-मार्दव

माणकसाएं छंडिवि किज्जइ परिणामु कोमलं जत्थ।
सव्वहं हिउ चिंतिज्जइ मद्दवगुणभासिदो तत्थ ॥२३॥
संजम-व-तव-मूलं पसत्थ-धम्मस्स कारणं पढमं।
चित्तविसुद्धीहेदा मद्दवंभगो य कायव्वो ॥२४॥
काइय वाइय तह पुणु माणसियं होइ विणउ तिहुभेए।
मद्दवजुत्तणराणं तंचेव जि पायडं होदि ॥२५
उक्तंच-कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं गुरुयणे य बहुमाणं
तित्थयराणं आणा गुण-गहणं मद्दवं होइ ॥२६॥

उत्तम-आर्जव

अज्जवणामेण गुण मायासल्लस्स होइ णिण्णासे।
मण-परिणाम-विसुद्धी तेण विणा णेव संभवइ ॥२७
जं किंचिजि णियमाणसि चिंतदि भव्वो य तंनि वयणेण
लोयहं अग्गइ अक्खइ तमज्जवं णाम धम्मंगं ॥२८॥
रिजु परिणामं अज्जव सुहगइ गमणस्स कारणं तं जि।
मणकूरत्तं पावं दुग्गइ-पह संबलं त चि ॥२९॥
जिह सिसु णियघरवत्थू पुच्छताणं-णराण महियाणं।
घरमम्मु सच्चु अक्खइ तिह अज्जव धम्मसंजुत्तो ॥३०
इह पर लोयहि यत्तं माया-चत्तं हि अज्जवं धम्मं।
तं पालिज्जइ भव्वें सिव पय-गमणाउरेणेव ॥३१॥
अज्जव धम्महु मूलं सज्झाणसिद्धीयरं हि तवमारं।
तण विणा गुणवंतु वि समाइउ वुच्चदे लोए ॥३ ॥
चेयणरूवमखंडं विगयवियप्पं सहावसंसिद्धं।
णाणमउ अप्पाणं अज्जवभावेण विप्फुरदि ॥ ३॥

उत्तम-सत्य

अलियाला वयणेहि अदंतुरा मम्मछेयणे णिच्चं।
लोहेण कलुसिदा जा ण हवदि जीहाय सा छुरिआ ॥ ४
जसु वयणादो वयणं अलियं णिग्गमइ तं जि णउ वयण
विवरसमाण णेयं जीहा अहिणी णिवासत्थे ॥ ३५
ही हो अलियपभासो परसंतावीय णिंदयाणीय।
सुविहाणे तस्सेव जि णामग्गहणं ण कायव्वं ॥३६॥
जो पुणु भणदि असच्च णासदि तस्सेव संजमं सीलं।
परमअहिंसाधम्मं हवइ ण तं भव्व मोत्तव्वं ॥३ ॥
णउ भासिज्जइ अलिय भासा विज्जइ ण अण्णु णरुमडि
भासिज्जं तु सचित्ते अणुमणणं णेव कायव्वं ॥३८॥
जइ हुइ पुत्तविओवो भामिणि घर लच्छि जइजि विहडइ
णियपाणवि जइ गच्छहि तहावि णो भासदे सच्चं ॥३९॥
सच्चेण णरो लोयहि देवसमाणो वि मण्णादे एत्थु।
झाणज्झयणं तं तं मतं सुत्तं पविप्फुरदे ॥ ४० ॥
परदोसं जो पयडइ णियगुण अणहांत लोएक्तियरदे।
णिंदइ सज्जणियरं तंपि असच्चं महादोसं ४१॥
जं परसवणहं सूलं हिंसामूलं हि जं जि पावड्ढं।
परमम्मोच्चेडणयं सच्चमवीदं असच्चं तं ॥४२।
सच्च तं बोल्लिज्जइ उवएसिज्जेह तंजि फुडु सच्च।
आयरणिज्जं सच्च तेण जुदं सव्वु सक्कियत्थं ॥४३॥

उत्तम-शौच

परवत्थुलोहरहिदो चित्तो भव्वस्स होइ पुण जइया।
तइया सोचं णेयं ण तित्थजल-ण्हाणणे सोचं ॥४ ॥
मिच्छत्तमलविलित्तो विसयकसाएहिं मुज्झिदो जीवो।
तित्थजलेण विण्हाणें किह सोचो होदि भो आदू ॥ ५
परधणपरबहुसंगे जं जिच्छिहा ताहि चाए तं धम्मो।
पावस्स मूलुलोहो तम्हा लोहो ण कायव्वो ॥ ४६ ॥
जो पुणु वय-तव-सुद्धो देहाइय दव्व-णिम्ममा सतो।
सो रय-मलिणु वि देहे परमसुई णिम्मलो सिट्ठा ॥४७॥
देहो बहुमलकिण्णा जलभरे ण्हाविदा ण सुज्झेइ।
मज्जपओरिउ कुंभो बाहिरपक्खालिदोपि साअसुइ ॥४८
केस णह-दंत आई चेयणसंगेण ते व सुपविता।
कप्पूराइवि दव्वा भव्वावि मालिणाय देहस्स ॥४९॥

उत्तम-सयम

तस-थावर-जीवाणं मणवयकाएण रक्खणं जत्थ।
पाणासंजम णामं हवइ धुआ पावणा तत्थ ॥५०॥
पर्चिदियमणुछट्ठउ सग सग-विसएसु णिच्च धावंतो।
रुंधिवि जहि धारिज्जहि-इंदियसंजमं होइ ॥५१॥
समायिकच्छेदोपस्थापनापरिहार विशुद्धि
सूक्ष्मसांपराययथाऽख्यातभेदेन संयमः पंचविधो भवति
सावज्जकिरियविरमणलक्खणपरिणामशुद्धियरणं हि।
चारित्त भारधरण सामाइय णाम तं णेयं ॥ ५२ ॥
आप्पसरूवि संचंतो जंठाविज्जइ खणे खणे खलिदो।
छेदोवट्ठवणवं चरणं तं चेव णायव्वं ॥५३॥
पडि दिण गाओ मत्तं विहरदि मोहक्खएण सीलट्ठो।
कारणु किंचि लहेविणु तिट्ठइ छम्मास एककपाएण ॥५४
परिणामसुद्धिहदा णिवसंतो अयणु माणु सो सवणो।
पावदि केवलणाणं णहचारणरिद्धिवासा हू ॥ ५॥
इदि परिहारविशुद्धी च रयं सुहमति संपरायहिं।
उवसमियकसायखएण हु दहमं गुणठाणतुरियहि ॥५६
चरित्तमोहपयडी खीयंत मुणीसरस्स सज्झाणे।
जहिं रिद्धि लद्धि तत्थजि जहखायं संजमं होदि ॥५७॥
छट्ठम गुणसु पढमं छह सग वसु णवमि विदिय पुणतिदियं
दहम गुणठाणि तुरियं संसट्ठाणे जहाखायं ॥५८॥

उत्तम-तप

णरभउ पाविवि दुलहं कुलं विशुद्धं लहेवि वरबुद्धी।
घरमोहं मेल्लेप्पिणु तवं पावस्स हि कायव्व ॥५९॥

बज्झब्भतरभेएं तवं तवंतीह भव्व णिम्मोहा ।
अप्पाणं झावंति य लहति णिरु सासयं सुक्खं ॥६०॥
वरिसाले तरुमूले सिसिरे चहुट्टांट्ट गिम्हि गिरिसिहरे।
झाणे ठंता भव्वा तवं तवंतीह सत्तीए ॥६१॥
तवेण जि दंसणु सोहइ णाणं सोहेइ तेण सुयसयलं ।
जिह कणय कडय लग्गो रयणु अणग्घो य सोहेइ ॥६२॥

उत्तम-त्याग

धम्मतरुस्स जि बीयं गुणगणधामंजस्सस्स वित्थरणं ।
चायं कायव्वं इह भव्वेण जि जम्मभीदेण ॥ ७॥
दुल्लहयरे जि णरभवि सिविणसमाणेवि जीविदेवित्ते ।
जो ण वि करेइ चाए सो मूढो वंचिओ विहिणा ॥६३॥
जं भायणेण णट्टं पुत्तकलत्ताइ पोसणत्थेण ।
जं वित्तं तं णट्टं थक्कइ थिरु पत्तकयदाणं ॥६४॥
असम किलेसहिं जं धणु समज्जियं रक्खियं पि जयणेण
तस्स फलं मुणिचाएं होइ फुडं तेण विणु विहलं ६५॥
मोक्खस्स हेदुभूदं तवं पवित्तं सझाणणाणंच ।
सिज्झइ काए होंति तस्स ठिदी अण्णदो सिट्ठा ॥६६॥
गेहत्थ भव्व सावय पत्तत्ति भेएसु चारिवरदाणं ।
जच्छंति णिच्च सुहदं तं चाएं भासिदंसुत्ते ॥६७॥
धम्मकखाणं भव्वहं सिरसाणं पाठणं च उवएसं ।
मग्गपवट्टण करणं अणयाराणं हि तं चाएं ॥६८॥
अहवा दुट्ठ वियप्पं उप्पज्जं ताण जं जि परिचाओ ।
तं पुण परमं चाएं कायव्वं अप्पसिद्धीए ॥६९॥

उत्तम-आकिंचन्य

सयलाणं संगाणं जत्थ अहावो हवेइ दुविहाणं
णियदव्वे सुविरत्तो आकिंचणु धम्मु तं णेओ॥७०॥
सयल-वियप्प-विरहिदो अणंतणाणाइधम्मसंपुण्णो ।
सुद्धो चेयणरूवो जीवो आइंचणो णेडओ ॥७१॥
दव्वाण पयत्थाणं तच्चाणं भेयलक्खणं णाओ ।
चेयणरूपं गिण्हदि तमकिंचण धम्ममवि सिट्ठ ॥७२॥
जिह किट्टियम्मि मिलिदो कणउ असुद्धो ण होइ-
णिच्छयदो ।
तिह कम्मदेहमिलिदो अप्पा मलिणो ण कइया वि॥७३॥
चेयण अचेयणं गुणु मुणि वि उवादेय हेय जो भव्वो ।
भावदि णाणसरुवं तमकिंचण भासियं धम्मं ॥७४॥

उत्तम-ब्रह्मचर्य

परमो बंभो जीवो सरीरविसएहिं वज्जिदो णिच्चं ।
तस्मायरणं पुणु पुणु तं धम्मं बंभचेरक्खं ॥७५॥
जुवई संगं जत्थ जि मणवयकाएण णिच्च चयणिज्जं ।
तत्थेव बंभवज्जं भणंति सूरी जुदा तेण ॥७६॥
तव-णियम-संजमाणि य कालकिलेसाणि भूरिभेयाणि ।
बभंवएण विहूणा वीलियराणीह सव्वाणि ॥७७॥
सिद्धंतसत्थणिंदणा मईयमंदा हवेइ कामिस्स ।
विणयायाराद्दिय तह णासंति अबभचारिस्स ॥७८॥
जइ बंभवयस्स कहमवि सिविणे मत्ते वि एइ अइयारो ।
पायच्छित्ते भव्वा तावदु सोहंति अप्पाणं ॥७९॥
जे तव-वय-मज्जायं उल्लंघि वि सेवदीह तिय-सुक्खं ।
ताहं समाणा अहमा णो अण्णा अत्थि तिल्लोए ॥८०॥
मणसंभूदं मयणं मणविक्खेवेण तस्स वित्थारो ।
तं ठाविदं सरुवे जइवर विदेहिं केम वयभंगो ॥८१॥
जेहिवसीकउ चित्तो मित्तो वेरग्गु तच्च अब्भासो ।
ताहं चिह बंभव्वउ कयाइ वियलेइ णो लाए ॥८२॥
मणविक्खेवणयारी महिला तहि संग केम वयसुद्धी ।
वयभंगेण वराओ भमदि भवे चउगई दुग्गे ॥८३॥
उक्तं च—जूकाधामकचाः कपालमजिनाच्छादंमुखंयोषितां
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू तते कीकसे । ८४
तुंदं मूत्रमलादिसद्मजघनं प्रस्पंदिवर्चो गृहं ।
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥८५॥
रायंधो जणणियरो महिलामुहलालपान आसत्तो ।
चंदमुही इदि मण्णवि पयासए ताहि गुणरूवं ॥८६॥
ते ण कई णो सवणा णेव बुहा झाणझाणधराणो ।
जे पुणु सराय भावें महिलारुवं पवण्णंति ॥८७॥
साहीण-सुहं छंडिवि परआसिदसुक्खे करइ जो राओ।
अमियरसं मेल्लिवि सो पिवदि विसं पावक्खययारो॥८८॥

भक्तियोग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं— कोई भेद नहीं—सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादि-कालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियां आठ, उत्तर प्रकृतियां एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्य हैं। इस कर्म मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतन्त्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है— उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जब तक किसी जीवकी यह विभाव परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है; जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसारपरिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं, अथवा अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बांटा जा सकता है। और इसलिए जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविक-सित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव परिण-तिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिए आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। विना अनु-रागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, विना परिचयके अनुराग बढ़ा नहीं जा सकता और विना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महा पुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये-उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मान-कर उनके नक़शे क़दम पर चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओं पर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्या-णका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिए आत्माका अनुभवन और मनन है, हम 'सोऽहं' की भावनाद्वारा उसे अपने जीवनमें

उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी गरज नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिए की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र' लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्याग पूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायका कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है और इसी लिये स्तुति वन्दनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टि पुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढ़ि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न बिना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कही जाती है।

श्री पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार

'वीतराग-स्तवन' के रचयिता अमर कवि

(श्री अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्त वर्ष १२ किरण ३ के प्रथम पृष्ठ पर अमर-कवि-रचित 'वीतराग-स्तवनम्' प्रकाशित हुआ है। महावीर-जी अतिशय क्षेत्रके शास्त्र-भंडारकी सं० १८२७ की लिखित प्रतिसे नकल करके इसे प्रकाशित किया गया है। सम्पाद-कीय नोटमें इसके रचयिताके सम्बन्धमें लिखा है कि—'इसके कर्ता अमरकवि, जिनके लिये पुष्पिकामें 'वेणी कृपाण' विशेषण लगाया गया है, कब हुए हैं और उनकी दूसरी रचनायें कौन-कौन हैं यह अभी अज्ञात है। ग्रन्थ प्रति सं० १८२७ की लिखी हुई है अतः यह स्तवन इसके पूर्वकी रचना है इतना तो स्पष्ट ही है, परन्तु कितने पूर्वकी है यह अन्वेषणीय है।"

इस सम्पादकीय टिप्पणीको पढ़ते ही 'वेणीकृपाण' विशेषण वाले श्वेताम्बर वायडगच्छीय जिनदत्तसूरिके शिष्य कवि चक्रवर्ती अमरचन्द्रका स्मरण हो आया। यह स्तोत्र भी सम्भव है किसी श्वेताम्बर जैनस्तोत्रसंग्रहमें प्रकाशित हो चुका हो-इस विचारसे 'जैनस्तोत्रसंदोह' प्रथम भागके अंतमें प्रकाशित जैनस्तोत्रोंकी सूची छपी है उसे देखने पर विदित हुआ कि यह स्तोत्र भ्रातृचन्द्र ग्रन्थमाला अहमदाबादसे प्रकाशित जिनेन्द्रनमस्कारादि संग्रहमें प्रका-शित होने के साथ-साथ प्रस्तुत जैनस्तोत्रसंदोह प्रथम भाग-में भी छपा है। इन दोनों ग्रन्थोंमें यह 'सर्वजिनस्तव' के नामसे अज्ञात रचयिता (निर्माणकार) के उल्लेखसह छपा है। परन्तु इस जैनस्तोत्रसंदोह ग्रन्थमें प्रकाशित स्तोत्रोंकी अनुक्रमणिकाको देखने पर वहाँ रचयिताका नाम 'अमर-चन्द्रसूरि' लिखा हुआ मिला। इससे विदित होता है कि इस ग्रन्थके पृ० २६ में जब इस स्तोत्रका मुद्रण हुआ तब इसके रचयिताका नाम ज्ञात न हो सका था, परन्तु इसके सम्पादक चतुर्विजयजीको इस ग्रन्थकी अनुक्रमणिका तैयार होनेके समय इसके रचयिताके नामका आधार मिल गया। इसीलिये प्रस्तावनामें स्तोत्रकारोंका परिचय देते हुए अमरचन्द्रसूरिका परिचय भी दिया गया है। अनेकान्तके सम्पादक और पाठकोंकी जानकारीके लिये इस स्तोत्रके रचयिता अमरचन्द्र कविका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रकाशित कर रहा हूँ। विशेष जाननेके लिये आपके जो तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं उनकी प्रस्तावना देखना चाहिये।

कवि अमरचन्द्रका समकालीन ग्रन्थकारोंमें सबसे पहला उल्लेख सं० १३३४ में रचित प्रभाचन्द्रसूरिके प्रभावकचरित्रमें पाया जाता है। इस ग्रन्थके जीवदेवसूरि-प्रबन्धके अन्तमें कहा गया है 'जिनके वंशमें आज भी अमर जैसे तेजस्वी प्रभावक हैं" श्लोक इस प्रकार है—"अद्यापि तत्प्रभावेण तस्य वंशे कलानिधिः भवे प्रभावका सूरिरमराभ स्वतेजसा ॥२००॥'इस उल्लेखसे मुनि कल्या-णविजयजीने आत्मानन्द जैनसभा भावनगरसे प्रकाशित इस ग्रन्थकी गुजराती अनुवादके पर्यालोचनमें यह सूचित किया है कि सं० १३३४ तक जबकि यह प्रभावकचरित्र बना कवि अमरचन्द्र विद्यमान थे। इसीलिये 'अद्यापि' शब्द व्यवहृत हुआ है। इस उल्लेखसे इस कविकी प्रसिद्धि व महत्वका भली भांति पता लग जाता है। सम-कालीन विद्वान् उस वंशके महत्वको बतलानेके लिये उस वंशके तेजस्वी नक्षत्रके रूपमें कवि अमरचन्द्रका नामोल्लेख करता है यह उनके लिये कम गौरवकी बात नहीं।

सं० १४०५ में रचित प्रबन्धकोश' अपरनाम 'चतु-विंशतिप्रबन्ध' में तो इस कविका परिचायक स्वतंत्र प्रबंध (१३) ही पाया जाता है। उस प्रबन्धके अनुसार वायड-गच्छके परकायप्रवेश विद्यासम्पन्न जीवदेवसूरि (जिनका प्रबन्ध भी इसी ग्रंथमें है) के सतांनीय जिनदत्तसूरिके बुद्धिमानोंमें चूडामणि आप सुशिष्य थे। कविराज अरिसिंह-से इन्हें 'सिद्धसारस्वत' मंत्र मिला, जिसकी आराधना २१ दिन तक आचाम्ल तपके साथ निद्राजय, आसनजय, कषाय-जय करते हुए एकाग्र चित्तसे की थी। स्वगच्छके महा-भक्त विवेकके भंडार रूप कोष्ठागारिक पद्मश्रावकके भवन-के एकान्त भागमें साधना करते हुए आप पर सरस्वतीदेवी प्रसन्न हुई और २१ वें दिन प्रत्यक्ष प्रगट होकर अपने कमंडलुका जल पिलाते हुए इन्हें वरदान दिया कि 'तू सिद्ध कवि और राजमान्य होगा।' हुआ भी वैसा ही।

आपने काव्यकल्पलता (कविशिक्षा), छंदोरत्नावली, सूक्तावली, कलाकलाप एवं बालभारत नामक ग्रन्थोंकी रचना की। बालभारतके सर्ग ११ श्लोक ६ में प्रभात समयका वर्णन करते हुए आपने इस भावको दर्शाया है महादेवकी तपःसाधनासे कामदेव हतप्रभाव हो चुका

था, पर दही विलोती हुई स्त्रियोंकी वेणीको इधर उधर घूमती हुई देखकर मालूम होता है कि मदन पुनः अपना प्रभाव विस्तार करता हुआ मानो तलवार चला रहा है। वेणी कृपाणके दृष्टान्त रूप अनोखी सूझको देखकर कवियों ने इनका विरुद 'वेणीकृपाण' के नामसे प्रसिद्ध कर दिया।

महाराष्ट्रमें आप राजाओंसे पूजित हुए और महाकविरूपमें ख्याति प्राप्त की, जिसे सुनकर विद्याप्रेमी गुर्जरेश्वर वीसलदेवने अपने प्रधान वैजलको भेजकर अपनी राजधानी धवलक में बुलाया। जिस दिन आप सभामें उपस्थित हुए राजकवियोंने विविध विचित्र समस्यायें देकर आपकी कविप्रतिमाकी परीक्षा ली। प्रबंधकोषमें कहा गया है कि इस विद्याविनोदमें राजसभा के लोग इतना काव्य-रसानुभव करने लगे कि सभासदों और राजाने उसदिनका भोजन भी नहीं किया। कवि अमरके काव्यरसके आस्वादसे मानों उनका उदर लबालब भर गया। १०८ समस्याओंकी पूर्ति करके आपने मंडली और राजाको चमत्कृत कर दिया। फिर तो राजसभामें आपका बड़ा सम्मान होने लगा और इनके विशेष प्रभाव एवं समागम से वीसलदेव जैनधर्मका प्रेमी बन गया। प्रबन्धकोशके अनुसार नृपति जैन मंदिरोंमें नित्य पूजा करने लगा था

एक बार राजा ने आपसे इनके कलागुरुके सम्बन्ध में पूछा तो आपने अरिसिंह का नाम लिया। नृपतिने उसे बड़े सत्कारके साथ बुलाया और उसकी काव्यप्रतिभा से प्रसन्न होकर ग्राम आदि भेंट किये। वीसलदेवका समय सं० १३०० से १३२० तक का है। कई प्रबंधोंमें सं० १२१४ से १३१८ तक का भी लिखा है। इसलिये कवि अमरचन्द्रका समय भी यही सिद्ध होता है। जिस पद्मश्रावकके यहाँ रहकर आपने 'सिद्धसारस्वत' मंत्रकी आराधनाकी उसके कथनसे आपने 'पद्मानंद महाकाव्य' बनाया। उपदेशतरंगिणीके अनुसार महामंत्री वस्तुपाल को 'अस्मिन्नसारे संसारे सारं सारंगलोचना। यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाला भवादृशः।' इस श्लोकको सुनाकर चमत्कृत करने वाले कवि अमरचन्द ही थे। पाटणके टांगड़ियावाड़ाके जैन मंदिरमें आपकी मूर्ति अब भी विद्यमान है। जिसका लेख इस प्रकार है—"संवत् १३४९ चैत्र वदी ६ शनी वायटीय गच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पण्डित श्री अमरचन्द्रमूर्तिः पण्डितमहेन्द्रशिष्य-मदनचन्द्राख्येन कारिता शिवमस्तु।"

(प्राचीन जैन लेख संग्रह द्वितीय विभागे लेखांक ५२३) प्रस्तुत मूर्तिसे आपका स्वर्गवास सं० १३४७ के पूर्व ही हो चुका, सिद्ध होता है।

आपके रचित ग्रन्थोंमेंसे 'बालभारत' प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसे निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित काव्यमालामें प्रकाशित किया जा चुका है। पद्मानंद काव्य आपकी कविप्रतिमाका अनुपम परिचय देता है। यह काव्य गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीजसे प्रकाशित हो चुका है। 'काव्यकल्पलता' नामक काव्यशिक्षाका महत्वपूर्ण ग्रन्थ चौखम्बा सिरीज, बनारससे प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त 'स्यादिशब्दसमुच्चय' नामक चौथे ग्रंथको पण्डित लालचन्द भगवानदास गांधीने बहुत वर्षपूर्व प्रकाशित किया है। आपका 'छंदोरत्नावली ग्रन्थ कई श्वेताम्बर ज्ञानभंडारोंमें प्राप्त है, परन्तु अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। प्रबंधकोषमें उल्लेखित आपके कलाकलाप और सूक्तावली ग्रंथोंकी प्रतिका अभी किसी ज्ञानभंडारोंमें पता नहीं चला। अतः अन्वेषणीय है। सूक्तावली नामक ग्रंथोंकी कई प्रतियें ज्ञान भंडारोंसे प्राप्त होती है। संभव है, भली भांति जांच करने पर उनमेंसे कोई प्रति आपके रचित सूक्तावलीकी भी मिल जाय। प्रबन्धकोशमें आपकी की हुई १०८ समस्याओंकी पूर्तिका निर्देश करते हुए एक दो समस्यापूर्ति वाले श्लोक उद्धृत किये हैं। राजसभामें विद्याविनोद करते हुए समय-समयपर आपने ऐसे प्रासांगिक फुटकर श्लोक और भी रचे होंगे जो प्राप्त होने पर आपकी कवि प्रतिभा का अच्छा परिचय उपस्थित कर सकते हैं। सूक्तावलीमें सम्भव है कि आपके समस्यापूर्ति और फुटकर श्लोकोंका संग्रह हुआ हो इसलिये इस ग्रन्थका महत्व और भी बढ़ जाता है। विद्वानोंका ध्यान कवि अमरचन्द्रके इन दोनों अनुपलब्ध ग्रंथोंकी शोधके लिये आकृष्ट किया जाता है।

इस प्रकार 'वीतरागस्तवनम्' के रचयिता 'वेणीकृपाण' विशेषण विभूषित महाकवि अमरचन्द्रसूरिका संक्षिप्त परिचय यहाँ उपस्थित किया गया है। कविका 'पद्मानंद काव्य' इस समय मेरे सम्मुख नहीं है। संभव है उसकी प्रस्तावनासे और भी कुछ विशेष ज्ञातव्यका पता चले।

दशधर्म और उनका मानव जीवनसे सम्बन्ध

(पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य)

धर्मकी सामान्य परिभाषा

धर्मके बारेमें यह बतलाया गया है कि वह जीवोंको सुखी बनानेका अचूक साधन है और यह बात ठीक भी है अतः धर्म और सुखके बीचमें अविनाभावी सम्बन्ध स्थापित होता है अर्थात् जो जीव धर्मात्मा होगा, वह सुखी अवश्य होगा और यदि कोई जीव सुखी नहीं है या दुःखी है तो इसका सीधा मतलब यही है कि वह धर्मात्मा नहीं है।

बहुतसे लोगोंको यह कहते सुना जाता है कि 'अमुक व्यक्ति बड़ा धर्मात्मा है फिर भी वह दुःखी है' इस विषयमें दो ही विकल्प हो सकते हैं कि यदि वह व्यक्ति वास्तवमें धर्मात्मा है तो भले ही उसे हम दुःखी समझ रहे हों परन्तु वह वास्तवमें दुःखी नहीं होगा और यदि वह वास्तवमें दुःखी हो रहा है तो भले ही वह अपनेको धर्मात्मा मान रहा हो या दूसरे लोग उसे धर्मात्मा समझ रहे हों, परन्तु वास्तवमें वह धर्मात्मा नहीं है।

इस सचाईको ध्यानमें रखकर यदि धर्मका लक्षण स्थिर किया जाय, तो यही होगा कि जीवकी उन भावनाओं और उन प्रवृत्तियोंका नाम धर्म है जिनसे वह सुखी हो सकता है शेष जीवकी वे सब भावनायें और प्रवृत्तियां अधर्म मानी जायगीं, जिनसे वह दुखी हो रहा है।

दशधर्मोंके नाम और उनके लक्षण

जीवकी धार्मिक भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंको जैन संस्कृतिके अनुसार निम्नलिखित दश भेदोंमें संकलित कर दिया गया है—

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य।

(१) क्षमा – किसी भी अवस्थामें किसी भी जीवको कष्ट पहुँचानेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(२) मार्दव—किसी भी जीवको कभी भी अपमानित करनेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(३) आर्जव – कभी भी किसी जीवको धोखा देनेकी दुर्भावना मनमें नहीं लाना।

(४) सत्य—किसीके साथ कभी अप्रामाणिक और अहितकर वर्ताव नहीं करना।

(५) शौच भोगसंग्रह और भोगविलासकी लालसाओंका वशवर्ती नहीं होना।

(६) संयम - जीवन निर्वाहके अतिरिक्त भोगसामग्रीका संग्रह और उपभोग नहीं करना।

(७) तप—जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करनेके लिए आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको विकसित करनेका प्रयत्न करना।

(८) त्याग—आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके अनुरूप जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करके जीवन निर्वाहके लिए उपयोगमें आने वाली भोग सामग्रीके संग्रह और उपभोगमें कमी करना।

(९) आकिञ्चन्य—आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिका अधिक विकास हो जाने पर जीवन निर्वाहके लिये उपयोगमें आने वाली भोग सामग्रीके संग्रहको समाप्त करके तृण मात्रका भी परिग्रह अपने पास न रखते हुए नग्न दिगम्बर मुद्राको धारण करना और आत्म कल्याणके उद्देश्यसे केवल अयाचित भोजनके द्वारा ही शरीरकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना तथा विधिपूर्वक भोजन न मिलने पर शरीरका उत्सर्ग करनेके लिये भी उत्साहपूर्वक तैयार रहना।

(१० ब्रह्मचर्य—आत्माकी पूर्ण स्वावलम्बन शक्तिका विकास हो जाने पर अपनेको पूर्ण आत्मनिर्भर बना लेना, जहाँ पर भूख, प्यास आदिकी बाधाओंका सर्वथा नाश हो जानेके कारण शरीर रक्षाके लिये भोजनादिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

क्षमा आदि छह धर्म और मानव जीवन

इन दश धर्मोंमें से आदिके क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच और संयम इन छः धर्मोंकी मानव जीवनके लिये अनिवार्य आवश्यकता है इसका कारण यह है कि विश्वमें जीवोंकी संख्या इतनी प्रचुर मात्रामें है कि उनकी गणना नहीं की जा सकती है इसलिये जैन संस्कृतिके अनुसार जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त बतला दी गई है।

ये सब जीव एक दूसरे जीवके यथायोग्य उपकारी माने गये हैं। यही कारण है कि जैन-ग्रन्थोंमें सबसे पहले हमें "सत्वेषु मैत्रीम्" अर्थात् विश्वके समस्त जीवोंके प्रति मित्रता रखनेका उपदेश मिलता है। वास्तवमें जो जीव हमारा उपकारक है उसकी रक्षा करना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। यदि हम उसकी रक्षा नहीं करते हैं तो इससे हमारे ही अहित होनेकी संभावना बढ़ जाती है इसलिये यदि हम अपना ही अहित नहीं करना चाहते हैं तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने उपकारक दूसरे जीवोंकी रक्षाका पूरा पूरा ध्यान रक्खें, उन्हें अपना मित्र समझें।

थोड़ी देरके लिए हम एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय पशु आदिकी बात छोड़ भी दें केवल मनुष्योंको ही लें, तो भी यह मानी हुई बात है कि सामान्य तौर पर किसी भी मनुष्यका जीवन दूसरे मनुष्यकी सहायताके बिना निभ नहीं सकता है। प्रायः सभी विद्वान यह कहते आये हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अर्थात् संगठित समाज ही मनुष्यके सुखपूर्वक जिन्दा रहनेका उत्तम साधन है अतः सुखपूर्वक जिन्दा रहनेके लिये हमें यह भी सोचना ही होगा कि संगठित समाज कैसे कायम रह सकता है?

हमारे पूर्वज बहुत अनुभवी थे, उन्होंने कुटुम्बके रूपमें, ग्रामके रूपमें, देशके रूपमें और नाना देशोंमें सन्धि आदिके रूपमें, मानव जातिके संगठन क़ायम किये, जो अब तक चले आ रहे हैं परन्तु हमारे अन्तःकरणमें संगठनकी भावना नहीं रह जाने और एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके प्रति अप्रामाणिक और अहितकर व्यवहार चालू हो जाने के कारण ये सब संगठन मृतप्राय हो चुके हैं इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यदि असमयमें ही जीवन समाप्त हो जाने का भय बना रहे या जिन्दा रहते हुए भी उसका जीवन दुःखी बना रहे तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है।

क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य ये चार धर्म हमें इन संगठनोंको कायम रखनेमें मदद पहुँचाते हैं अर्थात् जिन्दा रहने और अपने जीवनको सुखी बनानेके लिये हमें दूसरे मनुष्योंके साथ प्रामाणिक और हितकारी वर्ताव करनेकी अनिवार्य आवश्यकता है। प्रामाणिक वर्तावका अर्थ यह है कि हम कभी भी किसीको धोखेमें न डालें और हितकारी वर्तावका अर्थ यह है कि हम कभी भी किसीको कष्ट न पहुँचावें और न किसी प्रकारसे कभी उसे अपमानित ही करें। इस प्रामाणिक और हितकारी वर्ताव करने का नाम ही सत्यधर्म बतलाया गया है। हम दूसरोंके साथ ऐसा वर्ताव तभी कर सकते हैं जबकि हमारा अन्तःकरण पवित्र हो अर्थात् हमारा अन्तःकरण सर्वथा दूसरोंको धोखा देने, कष्ट पहुँचाने और अपमानित करनेकी दुर्भावनाओं से अलिप्त रहे और हम पहले बतला आये हैं कि अपने अन्तःकरणमें दूसरोंको कष्ट पहुँचानेकी दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम क्षमा धर्म, किसी भी प्रकारसे अपमानित करने की दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम मार्दव धर्म तथा किसी भी प्रकारसे धोखेमें न डालनेकी दुर्भावना उत्पन्न न होने देनेका नाम आर्जव धर्म है।

इन चारों क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य धर्मोंके अभावमें हम पुरातन कालसे चले आ रहे कुटुम्ब, ग्राम आदि संगठनोंको सुरक्षित नहीं रख पा रहे हैं इसलिये न तो हमारे जीवनमें सुख ही नजर आ रहा है और न हम अपनेको सभ्य नागरिक कहलानेके ही अधिकारी हो सकते हैं। इतना ही नहीं, ऐसा कहना भी अनुचित नहीं होगा, कि जिसमें उक्त चारों बातें नहीं पायी जाती हैं, वह मनुष्य अपनेको मनुष्य कहलानेका भी अधिकारी नहीं माना जा सकता है। अतः कहना चाहिये कि दूसरोंके प्रति दूषित भावना और दूषित वर्ताव न करके हम अपनी मनुष्यताकी ही रक्षा करते हैं।

प्रत्येक मनुष्यको अपना जीवन दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेके लिये यह भी सोचना है कि वह अन्तःकरणमें उत्पन्न अगणित लालसाओंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके प्रकृति विरुद्ध असीमित भोगोपभोगोंका जो संग्रह और उपभोग किया करता है इसमें से पहले तो वह भोगोपभोगोंके लिए ही काफी परेशान होता है और बादमें उनका अनर्गल उपभोग करके अपने शरीरको ही रुग्ण बना लेता है जिसके कारण या तो उसका जीवन अल्पकालमें ही समाप्त हो जाता है अथवा औषधियोंके चक्करमें पड़कर कष्टपूर्ण जिन्दगी व्यतीत करनेके लिए उसे बाध्य हो जाना पड़ता है अतः जीवनसे इन बुराइयोंको दूर करने और उसे दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेके

१—परस्परोपग्रहो जीवानाम्। (तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ सू० २१)

लिए प्रत्येक मनुष्यका यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि अनर्गल उपभोगमें कारणभूत अन्तःकरणमें विद्यमान भोगोपभोग सम्बन्धी लालसाओंको समूल नष्ट कर दें और ऐसे भोगोपभोगोंका संग्रह और उपभोग जरूरतके माफिक करने लग जाय जो भोगोपभोग जितनी मात्रामें उसकी प्रकृतिके विरुद्ध न होकर उसके जीवनको दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनानेमें समर्थ हों।

हम यह भी पहले कह आये हैं कि उपर्युक्त लालसाओंको समूल नष्ट कर देनेका नाम शौचधर्म और जरूरतके माफिक प्रकृतिके अनुकूल भोग सामग्रीका संग्रह और उपभोग करनेका नाम संयम धर्म है। इस प्रकार जो मनुष्य पूर्वोक्त चार धर्मोंके साथ साथ शौच और संयम इन दोनों धर्मोंको अपने जीवनका अंग बना लेता है वह जैन संस्कृतिके अनुसार सम्यग्दृष्टि अर्थात् विवेकी कहा जाने लगता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यका सर्वदा यही खयाल रहता है कि कौन वस्तु कहाँ तक उसके जीवनके लिए उपयोगी है और केवल इस खयालके आधार पर ही वह अपने जीवन निर्वाहके साधनोंको जुटाता एवं उनका उपभोग किया करता है। वह जानता है कि भोजन, वस्त्र, मकान आदि पदार्थोंकी उसके जीवनके लिये क्या उपयोगिता है? कहने का मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्यके अन्तःकरणमें भोग विलासकी भावना समाप्त हो जाती है केवल जीवन निर्वाहकी ओर ही उसका लक्ष्य रह जाता है।

तप आदि धर्मचतुष्क और मुक्ति

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि मनुष्य क्षमा, मार्दव, सत्य, शौच और संयम द्वारा अपने जीवनको दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बनाता हुआ जब यह सोचता है कि उसके जीवनका उद्देश्य आत्माको पराधीनतासे छुड़ाकर निर्विकार और शुद्ध बनाना ही है तो वह इसके लिये साधनभूत तप, त्याग, अकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन चार धर्मोंकी ओर अपना ध्यान दौड़ाता है वह जानता है कि आत्मा पराधीनतासे छुटकारा तभी पा सकता है जबकि उसकी स्वावलम्बन शक्तिका पूर्ण विकास हो जावे, अतः वह इसके लिये अपने जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको क्रमशः कम करनेका प्रयत्न करने लगता है उसके इस प्रयत्नका नाम ही तपधर्म है तथा अपने उस प्रयत्नमें सफलता प्राप्त करने पर जैसे जैसे उसकी स्वावलम्बन शक्तिका धीरे-धीरे विकास होता जाता है वैसे वैसे ही वह अपने जीवन निर्वाहके साधनोंमें भी कमी करता जाता है जिसे त्याग धर्म बतलाया गया है। इस तरह वह सम्यग्दृष्टि मनुष्य अपने जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम करके आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिका अधिकाधिक विकास करता हुआ और उसीके अनुसार जीवन निर्वाहकी सामग्रीका त्याग करता हुआ अन्तमें ऐसी अवस्थाको प्राप्त कर लेता है जिस अवस्थामें उसके तृणमात्र भी परिग्रह नहीं रह जाता है तथा बरसातमें, शर्दीमें और गर्मीमें सर्वदा अपनी नग्न दिगम्बर मुद्रामें ही वह बिना किसी ठौरके सर्वत्र विचरण करता रहता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्यका इस स्थिति तक पहुँच जानेका नाम ही अकिञ्चन्य धर्म है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्यको पूर्वोक्त प्रकारसे तप और त्याग धर्मोंके अंगीकार कर लेने पर, जैन संस्कृतिके अनुसार लोग श्रावक, देशविरत या अणुव्रती कहने लगते हैं और प्रयत्न करते करते अन्तमें उक्त प्रकारका आकिञ्चन्य धर्म स्वीकार कर लेने पर उसे साधु, मुनि, ऋषि या महाव्रती कहने लगते हैं।

आकिञ्चन्य धर्मका दृढ़ताके साथ पालन करने वाला वही सम्यग्दृष्टि मनुष्य विविध प्रकारके घोर तपश्चरणों द्वारा अपनी स्वावलम्बन शक्तिका विकास करते हुए उस स्थिति तक पहुंच जाता है जहाँ उसे न कभी भूख लगती है ? और न प्यास लगनेकी ही जहाँ पर गुंजाइश है। वह पूर्ण रूपसे आत्म-निर्भर हो जाता है। मनुष्य द्वारा इस प्रकारकी स्थितिको प्राप्त कर लेनेका नाम ही ब्रह्मचर्यधर्म है। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ पूर्ण रूपसे आत्म-निर्भर हो जाना है और जो मनुष्य पूर्णतः आत्म निर्भर हो जाता है उसे जैन संस्कृतिके अनुसार, 'अर्हन्त' या 'जिन'कहा जाता है और इसे ही पुरुषोत्तम अर्थात् संपूर्ण मनुष्योंमें श्रेष्ठ माना गया है कारण कि मनुष्यका सर्वोत्कृष्ट जीवन यही है कि भोजनादि पर वस्तुओंके अवलम्बनके बिना ही वह जिन्दा रहने लग जाय। जैन आगम ग्रन्थोंमें यह भी बतलाया गया है कि जो मनुष्य पूर्णरूपसे आत्म-निर्भर होकर अर्हन्त और पुरुषोत्तम बन जाता है वह पूर्ण वीतरागी और सर्वज्ञ होता है और यही कारण है कि उसमें विश्व-कल्याणमार्गके सही उपदेश देनेकी सामर्थ्य उदित हो जाती है। इस प्रकार विश्वको कल्याण मार्गका उपदेश

देते हुए अन्तमें जब वह अपना शरीर छोड़ता है तो वह पुनः शरीर धारण नहीं करता है, केवल एकाकी आत्मरूप होकर सर्वदाके लिए अजर और अमर हो जाता है ऐसे आत्माको ही जैन मान्यताके अनुसार मुक्त, सिद्ध या परमब्रह्म कहा जाता है।

मनुष्यका कर्तव्य

ये दश धर्म किसी सम्प्रदाय विशेषकी बपौती नहीं है। धर्मका रूप ही ऐसा होता है कि वह सम्प्रदाय विशेषके बन्धनसे अलिप्त रहता है जीवनको सुखी बनानेकी अभिलाषा रखने वाले तथा आत्मकल्याणके इच्छुक प्रत्येक मनुष्यका यह अधिकार है कि वह अपनी शक्ति और साधनोंके अनुसार उक्त प्रकारसे धर्म पालनमें अग्रसर हो।

इस प्रकार क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्य ये चार धर्म यदि हमारे जीवनमें उतर जांय तो हम सभ्य नागरिक रूपमें चमक सकते हैं और इन चारों धर्मोंके साथ साथ शौच एवं संयम धर्म भी हमारे जीवनमें यदि आ जाते हैं तो हमारा जीवन अनायास ही दीर्घायु, स्वस्थ और सुखी बन सकता है। नवीन नवीन और जटिल रोगोंकी वृद्धि जो आजकल देखनेमें आ रही है उसका कारण हमारी अनर्गल और हानिकर आहार-विहार-सम्बन्धी प्रवृत्तियां ही तो हैं। सब दुष्प्रवृत्तियोंके शिकार होते हुए भी हम अपनेको सभ्य नागरिक तथा विवेकी और सम्यग्दृष्टि मानते हैं यह आत्मवंचना नहीं है तो फिर क्या है?

हमारे शास्त्र हमें बतलाते हैं कि आजकल मनुष्य इतना क्षीण शक्ति हो गया है कि उसका मुक्ति का या पूर्ण आत्मनिर्भर बननेका स्वप्न पूरा नहीं हो सकता है परन्तु श्रावक और साधु बननेके लिये भी तप, त्याग और आकिञ्चन्य धर्म सम्बन्धी जो मर्यादायें निश्चित की गई हैं उनके दायरेमें रह कर ही हम श्रावकों और साधुओंकी श्रेणीमें पहुँच सकते हैं। वस्त्रका त्याग करके नग्न दिगम्बर वेशका धारक साधु ठंड आदिकी बचतके लिये यदि पयाल आदिका उपयोग करता है तो उसमें साधुता कहाँ रह जाती है अतः साधुका वेश हमें तभी स्वीकार करना चाहिये जबकि वस्त्रादिके अभावमें शीतादिकी बाधा सहन करनेकी सामर्थ्य हमारे अन्दर उदित हो जावे इसी तरह श्रावक भी हमें तभी बनना चाहिए जबकि हमारे अन्दर अपने जीवन निर्वाहके साधनोंको कम करनेकी शक्ति प्रगट हो जावे। अपनी शक्तिको न तौल कर और अपनी कमजोरियोंको छुपा कर जो भी व्यक्ति श्रावक या साधु बननेका प्रयत्न करता है वह अपनेको पतनके गर्तमें ही गिराता है। इसलिये श्रावक और साधु बननेका प्रश्न हमारे लिये महत्वका नहीं है हमारे लिए सबसे अधिक महत्त्वका यदि कोई प्रश्न है तो यह सम्यग्दृष्टि (विवेकी) बननेका ही है जिससे कि हम अपनी जीवन आवश्यकताओंको ठीक ठीक तरहसे समझ सकें और उनकी पूर्ति सही तरीकेसे कर सकें। कारण कि हमारे जीवन निर्वाहकी जितनी समस्यायें हैं उनको ही यदि हमने अपनी दृष्टिसे ओझल कर दिया तो फिर हमारा जीवन ही खतरेमें पड़ सकता है इसलिये भले ही हम अपनी जीवन निर्वाहकी आवश्यकताओंको कम न कर सकें, तो चिन्ताकी बात नहीं है परन्तु असीमित लालसाओंके वशीभूत होकर हम अनर्गल रूपसे अनावश्यक प्रवृत्तियाँ करते रहें, तो यह अवश्य ही चिन्तनीय समस्या मानी जायगी।

आजकल प्रत्येक मनुष्य जब चारों ओर वैभवके चमत्कारोंको देखता है तो उनकी चकाचौंधमें उसका मन डावांडोल हो जाता है और तब वह उनके आकर्षणसे बच नहीं सकता है और उसकी लालसायें वैभवके उन चमत्कारोंका उपभोग करनेके लिए उमड़ पड़ती हैं और तब वह सोचता है कि जीवनका सब कुछ आनन्द इन्हींके उपभोगमें समाया हुआ है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसके पास ऐसा आलीशान मकान हो जिसमें वैभवकी सभी कलायें छिटक रही हों, उसका भोजन और उसके वस्त्र अश्रुत पूर्व और अभूतपूर्व, बढ़ियासे बढ़िया मोटरकार हो, रेडियो हो और न मालूम क्या क्या हो, विश्वमें छायी हुई विषमताने मनुष्यकी लालसाओंको उभाड़नेमें कितनी अधिक सहायता की है यह बात जानकार लोगोंसे छिपी हुई नहीं है। जिनके पास ये सब साधन मौजूद हैं वे तो उनके भोगमें ही अलमस्त हैं लेकिन जिनके पास इन सब साधनोंकी कमी है या बिल्कुल नहीं है वे भी केवल ईर्षा और डाहकी हो जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं वे भी नहीं सोच पाते कि भला इन वैभवके चमत्कारोंसे हमारे जीवन-निर्वाहका क्या सम्बन्ध है?

हम मानते हैं कि जिनके पास समयकी कमी है और काम अधिक है उन्हें मोटरकी जरूरत है परन्तु सैर सपाटे-

के लिये उस मोटरका क्या उपयोग हो सकता है? यह भी हम मानते हैं कि देश और विदेशोंकी परिस्थितियोंकी जानकारीके लिये रेडियोका उपयोग आवश्यक है परन्तु अनुपयोगी और अश्लील गानों द्वारा कानोंका तर्पण और मनोरंजनके लिए उसका क्या उपयोग हो सकता है? यही बात वैभवकी चकाचौंधसे परिपूर्ण महलों, चमकीले भड़कीले वस्त्रों और दुष्पाच्य गरिष्ठ भोजनोंके बारेमें भी समझना चाहिये।

अन्तिम निवेदन

ऐसे अन्धकारपूर्ण वातावरणमें उक्त दश धर्मोंका प्रकाश ही मानवको सद्बुद्धि प्रदान कर सकता है परन्तु इन धर्मोंके स्वरूप और मर्यादाओंके विषयमें भी लोग अनभिज्ञ हो रहे हैं। प्रायः लोगोंका यह खयाल है कि वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है परन्तु वीर्य रक्षाकी मर्यादा संयम और त्याग धर्ममें ही पूर्ण हो जाती है इसी तरह लोग रुपया पैसाके दानको तथा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकासकी अवहेलना करके अक्रम और अव्यवस्थित ढंगसे किये गये भोगादिके त्यागको त्याग धर्ममें गर्भित कर लेते हैं; परन्तु वे यह नहीं सोचते कि रुपया पैसाका दान आदिके चार धर्मोंमें ही यथा योग्य गर्भित होता है और जिसमें आत्मशक्तिके विकासकी अवहेलना की गयी है ऐसे अक्रम और अव्यवस्थित ढगसे किया गया त्याग तो धर्मकी मर्यादामें ही नहीं आ सकता है अतः प्रत्येक मनुष्य और कमसे कम विचारक विद्वानोंका तो यह कर्तव्य है कि वे दश धर्मोंके स्वरूप और उनके अर्थपूर्ण क्रमको समझनेका प्रयत्न करें तथा स्वयं उसी ढंगसे उनके पालन करनेका प्रयत्न करें और साधारण जनको भी समझानेका प्रयत्न करें ताकि मनुष्यमात्रमें मानवताका संचार हो और समस्तजन अपने जीवनको सुखी बनानेका मार्ग प्राप्त कर सकें। ता० १७-८-४३

उत्तम क्षमा

(परमानन्द जैन शास्त्री)

येन केनापि दुष्टेन पीड़ितेनापि कुत्रचित्।
क्षमा त्याज्या न भव्येन स्वर्गमोक्षाभिलाषिणा॥

जिस किसी दुष्ट व्यक्तिके द्वारा पीड़ित होने पर भी स्वर्ग और मोक्षकी अभिलाषा वाले व्यक्तिको क्षमा नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि क्षमा आत्माका धर्म है, स्वभाव तथा गुण है, वह आत्मामें ही रहता है। बाह्य विकृतिके कारण आत्माका वह गुण भले ही तिरोहित या आच्छादित हो जाय, अथवा आत्मा उस विकारके कारण अपने स्वभावसे च्युत होकर राग-द्वेषादि रूप विभावभावोंमें परिणत हो जाय, परन्तु उसके क्षमा गुणरूप निज स्वभावका अभाव नहीं हो सकता। अन्यथा वह आत्माका स्वभाव नहीं बन सकता। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' वाक्यके अनुसार क्षमाको वीर व्यक्तिका आभूषण माना गया है। वास्तवमें क्षमा उस वीर व्यक्तिमें ही होती है जो प्रतिकारकी सामर्थ्य रखता हुआ भी किसी असमर्थ व्यक्ति द्वारा होने वाले अपराधको क्षमा कर देता है—उसे दण्ड नहीं देता, और न उसके प्रति किसी भी प्रकारका असंतोष अथवा बदला लेनेकी भावनाको हृदयमें स्थान ही देता है। किन्तु मन स्थितिके विकृत होनेके कारण समुपस्थित होने पर भी चित्तको अशान्त नहीं होने देता, उन विभाव भावोंको अनात्मभाव अथवा आत्मगुणोंका घातक समझकर उन्हें पचा देता है—उनके उभरनेकी सामर्थ्यको अक्रोध गुणकी निर्मल अग्निमें जला देता है और अपनेको वह निर्मल गुणोंकी उस विमल सरितामें सराबोर रखता है जहां असाधुपनकी उस दुर्भावनाका पहुँचना भी संभव नहीं होता। मोह क्षोभसे होने वाले रागद्वेष रूप विकारात्मक परिणाम जहां ठहर ही नहीं सकते; किन्तु आत्माकी स्थिति शान्त और समता रससे ओत-प्रोत रहती है। कंचन, कांच निन्दा स्तुति पूजा, अनादर, मणि-लोष्ट सुख दुख, जीवन मरण, संपत् विपत् आदि कार्योंमें समता बनी रहती है, वही व्यक्ति वीर तथा धीर और आत्म स्वातन्त्र्यताका अधिकारी होता है। उसे ही स्वात्मोपलब्धि अपना स्वामी बनाती है।

किन्तु जो व्यक्ति सदृष्टि नहीं, कायर और अज्ञानी है वस्तुतत्त्वको ठीक रूपसे नहीं समझता, वह जरासे निमित्त मिलने पर क्रोधकी आगमें जलने लगता है, प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावमें भी आई हुई आपदाका प्रतिकार करना चाहता है किन्तु उसका प्रतीकार न

होनेसे खेद खिन्न रहता है। दूसरोंको बुरा भला कहता है। अपने स्वार्थकी लिप्सामें दूसरेके हित अहित होनेकी परवाह नहीं करता, और न खुद अपना ही हित साधन कर सकता है, ऐसे व्यक्ति-में क्षमा रूप आत्मगुणका विकास नहीं हो पाता, और न उसकी महत्ताका उसे आभास ही हो पाता है। क्रोधाग्नि जिस व्यक्तिमें उदित होती है वह सबसे पहले उस व्यक्तिके धैर्यादि गुणोंका विनाश करती है—उन्हें जलाती है—और उसे प्राण रहित निश्चेष्ट बना देती है। क्रोधी व्यक्ति पहले अपना अपकार करता है, बादमें दूसरेका अपकार हो या नहीं, यह उसके भवितव्यकी बात है। जैसे किसी व्यक्तिने क्रोध वश अपराधीको सजा देनेके लिये आगका अंगारा उठाकर फैंकने की कोशिश की। आगका अंगारा उठाते ही उस व्यक्तिका हाथ पहले स्वयं जल जाता है। बादमें जिस व्यक्तिको अपराधी समझकर उसे जलानेके लिये अग्नि फैंकी गई है वह उससे जले या न जले यह उसके भवितव्यके आधीन है। परन्तु आग फैंकने वाला व्यक्ति तो पहले स्वयं जल ही जाता है। इसी तरह क्रोधी पहले अपना अपकार करता है, बादमें दूसरेके अपकारमें निमित्त बने अथवा न बने इसका कोई नियम नहीं है।

क्रोध आत्माका स्वाभाविक परिणाम नहीं, वह परके निमित्तसे होने वाला विभाव है। उसके होने पर विवेक चला जाता है और अविवेक अपना प्रभाव जमाने लगता है। इसीसे उसका विनाश होता है। क्रोध उत्पन्न होते ही उस व्यक्तिकी शारीरिक आकृतिमें विकृति आ जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं, शरीर कांपने लगता है, मुखकी आकृति बिगड़ जाती है, मुँहसे यद्वा तद्वा शब्द निकलने लगते हैं, जिस कार्यको पहले बुरा समझता था क्रोध आने पर उसे ही वह अच्छा समझने लगता है। उस समय क्रोधी पुरुषकी दशा पिशाचसे अभिभूत व्यक्तिके समान होती है—जिस तरह पिशाच मनुष्यके शरीरमें प्रवेश करने पर वह व्यक्ति आपेसे बाहर होकर अकार्योंको करता है कभी उचित क्रिया भी कर देता है, पर वह उस अवस्थामें अपना थोड़ा सा भी हित साधन नहीं कर सकता। इसी तरह क्रोधी मनुष्य भी अपना अहित साधन करता हुआ लोकमें निन्दाका पात्र होता है। क्रोधो-त्पत्तिके अनेक निमित्त हैं, झूठ बोलना, चोरी करना, कटुक वचन बोलना, गाली देना, किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करना, किसीको मानसिक पीड़ा पहुँचाना अथवा ऐसा उपाय करना जिससे दूसरेको नुकसान उठाना पड़े, तथा लोकमें निन्दा या अपयशका पात्र बनना पड़े, आदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यको अपशब्द कहता है गाली देता है जिससे दूसरा मनुष्य उत्पीड़ित होता है अपने अहंकारकी भावना पर आघात हुआ अनुभव करता है, अपने अपमानको महसूस करता हुआ क्रोधाग्निसे उद्दीपित हो जाता है, और उससे अपने अपमानका बदला लेनेके लिये उतारू हो जाता है। उन दोनोंमें परस्पर इतना अधिक झगड़ा बढ़ जाता है कि दोनोंको एक दूसरेके जीवनसे भी हाथ धोना पड़ता है, क्रोधसे होने वाली यह सब क्रियाएँ कितना अनर्थ करती हैं यह अज्ञानी नहीं समझता और न कार्य अकार्यका कुछ विचार ही करता है।

परन्तु ज्ञानी (सदृष्टि) क्रोध और उससे होने वाले अव-श्यम्भावी विनाश परिणामसे परिचित है, वह 'क्रोधो मूल-मनर्थानां' की उक्तिसे भी अनभिज्ञ नहीं है। वह सोचता है कि जिस गाली या अपशब्दके उच्चारणसे क्रोधका यह ताण्डव नृत्य हो रहा है या हुआ है, वह सब अज्ञानका ही परिणाम है। ज्ञानी विचारता है कि 'गाली' शब्द पौद्गलिक है,—पुद्गल (Matter) से निष्पन्न हुआ है, वह मेरे आत्मगुणोंको हानी नहीं पहुँचा सकता। गाली देने वालेने यदि तुझे गाली दी है—अपशब्द कहा है, तो तुझे उसका उत्तर गालीमें नहीं देना चाहिये, किन्तु चुप हो जाना चाहिये। क्योंकि—

'गाली आवत एक है जावत होत अनेक।
जो गालीके फेरे नहीं तो रहे एकको एक॥

कदाचित् यदि गालीका जवाब गाली में दिया जाता है तो झगड़ा और भी बढ़ जाता है—उससे शान्ति नहीं मिलती और न ऐसा करना बुद्धिमत्ता ही है।

किसी कवि ने कहा है:—

ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तो,
वयमपि तदभावात् गालिदानेऽसमर्थाः।
जगद् विदित मेतद् दीयते विद्यमानं,
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

दूसरे यदि गाली देने वालेके पास अनेक गालियां है, तो वह गालियां देगा ही, क्योंकि यह लोकमें विदित

है कि जिसके पास जो चीज होती है वह वही चीज उसे देता है। मेरे पास गालियां नहीं हैं अत: मैं उन्हें नहीं दे सकता, लोकमें खरगोशके सींग नहीं होते तो उन्हें कोई किसीको देता भी नहीं है।

फिर भी ज्ञानी सोचता है कि गाली देने वालेने जो गालियां दी हैं उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। यदि मेरे किसी भी व्यवहारसे उसे कष्ट पहुँचा हो अथवा दुख हुआ हो तो उसने उसका बदला गाली देकर दिया है, सो ठीक है, मेरा असद् व्यवहार ही उस गालीका कारण है। फिर विचारता है, कि यदि मैंने इसके साथ कोई जानबूझ कर बुरा व्यवहार नहीं किया, उसने गलतीसे ही ऐसा किया है। तो उसने असद् व्यवहार करके मेरा उपकार ही किया है, मेरी परीक्षा हो गई, मेरा आत्मा विभावरूप नहीं परिणमा, यही मेरे लिये हितकर है। और उस बेचारे व्यक्तिने तो अपना अपकार ही किया है, वह बेचारा दीन है; मेरे द्वारा क्षमाका पात्र ही है। उसने मुझे गाली देकर जो मेरे अशुभ कर्मकी निर्जरा कराई है अतः वह मेरा बन्धु ही है, शत्रु नहीं। क्यों कि शत्रुताका व्यवहार अपकार करने वालेके प्रति होता है, सो वह तो मेरा उपकारी ही है, अत: वह मेरा शत्रु नहीं हो सकता। मेरा शत्रु तो मेरे में उदित होने वाला क्रोधादिरूप विभाव परिणाम है जो मेरी आत्म निधिके विकासमें बाधक है। अतः मुझे उस क्रोधरूपी वैरीका विनाश करना चाहिये जिससे मेरी आत्म निधिका संरक्षण हो सके।

मेरा क्रोध उस अपराधी पर ही है, जो मेरा शत्रु है, यदि ऐसा है तो आत्माका अपराधी तो क्रोध है; क्योंकि क्रोधने ही मेरा अपराध किया है—मेरे आत्म-गुणोंको नष्ट करनेका प्रयत्न किया है, इसलिये क्रोधही मेरा शत्रु है। अतएव मुझे उसी पर क्रोध करना चाहिये। अन्य व्यक्तियों पर क्रोध करनेसे क्या लाभ; दूसरे व्यक्ति तो अपने अपने उपार्जित कर्मोंके आधीन हैं। वे मेरा कोई बिगाड़-सुधार नहीं कर सकते, किन्तु बिगाड़ सुधार होने पर वे निमित्त अवश्य बन जाते हैं। अतः मैं अपनेको कर्म बन्धनमें डालकर दूसरोंके उपकार अपकारमें निमित्त क्यों बनूँ।

मैं मोहवश अज्ञानसे परका कर्ता माने हुए था। इसी कारण दूसरेमें शत्रु मित्रकी कल्पना कर अपनी ऐहिक स्वार्थसिद्धि किया करता था, परन्तु विवेकके जागृत होते ही वह मेरी मिथ्या दृष्टि विलीन हो गई और मुझे अपनी उस गलतीका भान हो गया है। अब मेरा दृढ़ निश्चय है कि पर पदार्थ मेरा कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं कर सकता। बिगाड़-सुधार स्वयं मेरे परिणामों पर ही निर्भर है। मेरी अन्तर्बाह्य परिणतिही मेरे कार्यकी साधक-बाधक है। अतः मुझे आत्म-शोधन द्वारा अपनी परिणतिको ही सुधारनेका यत्न करना चाहिये। ज्ञानी और अज्ञानीकी विचार-धारामें बड़ा भारी भेद है। जहां ज्ञानी वस्तुतत्त्वका मर्मज्ञ और विवेकी होता है वहां अज्ञानी अविवेकी और हिताहितके विचारसे शून्य होता है।

यदि वस्तुतत्त्वका गहरा विचार किया जाय, और उससे समुत्पन्न विवेक पर दृष्टि दी जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि क्रोधादिक परिणाम विभाव हैं परनिमित्तसे होने वाले औदयिक परिणाम हैं। यही मेरे जीवनके शत्रु हैं, इनको मुझे अक्रोधभावसे जीतना चाहिये और अहंकार ममकारके कारण होने वाले अनिष्ट परिणामसे सदा बचने का यत्न करना चाहिये। मनुष्यका आत्मा जितना निर्बल होगा, हित अहितके विचारकी शक्ति उतनी ही मन्द होगी और वह क्रोधादि विभावोंके प्रभावमें आकर अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, उसकी बुद्धि अच्छे कार्यों में न जाकर बुराईकी ओर ही जाती है, वह आत्मनिरीक्षण करनेमें भी असमर्थ होता है, इसीसे उसे अपनी निर्बलताका भान नहीं हो पाता, यही उसके पुरुषार्थकी कमी है जिससे वह आत्महितसे बंचित रहता है। महापुरुषोंने अज्ञानीकी इस पुरुषार्थ कमीको दूर करनेका उपदेश दिया है जिससे वह अपनी निर्बलताको दूर करके अपनी शक्तिका यथार्थ अनुभव कर सके और क्रोधादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेका उपक्रम कर सके, तथा क्षमा नामक गुणकी महत्ता-से भी परिचित हो सके। कायरता और मनोबलकी कम-जोरी दूर होते ही उसमें सहनशीलता आने लगती है और फिर उसमें वचन सहिष्णुता भी उदित होने लगती है; उसकी वृद्धि होने पर वह वचन सम्बन्धि असहिष्णुताके परिणामसे बच जाता है।

एक साधु कहीं जंगलमें से गुजर रहा था, अचानक डाकू आ गए उनमें से एक डाकूने साधुको एक चांटा मारा और उसका कमंडलु छीन लिया, साधु विवेकी और सहिष्णु था, उसने डाकूसे कहा कि आपके इस हाथमें चोट

लग गई है लाइये मैं इसे दबा दूँ जिससे उसकी पीड़ा कम हो जाय। यह कह कर साधु डाकूके हाथको दबाने लगा। डाकू साधुके शान्त स्वभाव और उसके सहनशील व्यवहारको देखकर उसके चरणों में गिर पड़ा और बोला महाराज! मैंने आपका बड़ा अपराध किया है, जो मैंने बिना कुछ कहे आपको चांटा मारा और कमंडलु छीना। आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये और अपना यह कमंडलु लीजिये। इतना कह कर डाकू वहांसे चले गए किन्तु उन पर साधुकी उस सहिष्णुताका अमिट प्रभाव पड़ा।

यदि क्षमाको आत्माका स्वभाव या धर्म न माना जाय तो जो क्रोधी व्यक्ति है उसका क्रोध सदा बना रहना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, क्रोध उदित होता और चला जाता है, इससे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि क्रोध आत्माका स्वभाव नहीं है पुद्गलकर्मके निमित्तसे होने वाला औदयिक परिणाम है। क्रोधीका संसारमें कोई मित्र नहीं बनता और क्षमाशील व्यक्तिका कोई शत्रु नहीं बनता; क्योंकि वह स्वप्नमें भी किसीका बुरा चिन्तवन नहीं करता और न किसीका बुरा करनेकी चेष्टा ही करता है। उसका तो संसारके समस्त जीवोंसे मैत्री भाव रहता है।

क्षमाधर्मके दो स्वामी हैं गृहस्थ और साधु। ये दोनों ही प्राणी अपने २ पदानुसार कषायोंके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके अनुसार क्षमा गुणके अधिकारी होते हैं।

गृहस्थ अपनी मर्यादाके अनुसार क्षमाका अपने जीवनमें आचरण कर लोकमें सुखी हो सकता है—जो सदृष्टी पुरुष, विवेकी और कर्तव्यनिष्ठ है वह संसारके किसी भी प्राणीका बुरा न चाहते हुए अपने दयालु स्वभावसे आत्मरक्षा करता हुआ दूसरेको प्रयत्न पूर्वक कष्ट न पहुँचा कर सांसारिक व्यवहार करते हुए भी क्षमाका पात्र बन सकता है।

साधु चूँकि आत्म-साधनामें निष्ठ है सांसारिक संघर्षसे दूर रहता है—क्योंकि वह संघर्षके कारण परिग्रहका मोह छोड़ चुका है। यहां तक कि वह अपने शरीरसे भी निस्पृह हो चुका है। अतएव वह दूसरोंको पीड़ा देने या पहुँचाने की भावनासे कोसों दूर है, अतः उसका किसीसे वैर-विरोध भी नहीं है, वह सदृष्टि और विवेकी तपस्वी है। अतएव वह उत्तम क्षमाका धारक है। उसके यदि पूर्व कर्मकृत अशुभका उदय आ जाता है और मनुष्य तिर्यंचादिके द्वारा कोई उपसर्ग परीषह भी सहना पड़े तो उन्हें खुशीसे सह लेता है—वह कभी दिलगीर नहीं होता और शरीरके विनष्ट हो जानेपर भी विकृतिको कोई स्थान नहीं देता। वह तपस्वी क्षमाका पूर्ण अधिकारी है। क्षमा शीलही अहिंसक है, जो क्रोधी है वह हिंसक है। अतः हमें क्रोधरूप विभाव-भावका परित्याग करने, उसे दबाने या क्षय कर क्षमा शील बननेका प्रयत्न करना चाहिये।

दस लक्षण धर्म-पर्व

(श्री दौलतराम 'मित्र')

संवर निर्जरा कारक आत्माकी वीतराग परणतिको धर्म कहते हैं, जो कि मुक्तिका मार्ग है।

उत्तम क्षमादि दस लक्षण धर्म, रत्नमय धर्म। सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) से भिन्न नहीं है, किन्तु एक है ?

उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य ये पांच लक्षण सम्यक् दर्शन ज्ञान स्वरूप है, तथा संयम, तप, त्याग आकिंचन ब्रह्मचर्य ये पाँच लक्षण सम्यक्-चारित्र स्वरूप है।

एक मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इनके अनुदयसे पूर्वार्धके पाँच लक्षण (अथवा स० दर्शन ज्ञान) पैदा होते हैं, तथा शेष कषायोंके अनुदयसे उत्तरार्धके पाँच लक्षण अथवा—सम्यक् चारित्र) पैदा होते हैं।

मिथ्यात्व (=विषयेषु सुख भ्रान्ति और कषाय ये आत्माकी अहित (आश्रव बन्ध) कारक सराग परणति है। अतएव सदा सावधान रहकर इससे बचते रहना है। स्व० पं० दौलतरामजीने यही बात क्या ही अच्छे शब्दोंमें कही है—

"आतमके अहित विषय कषाय।
इनमें मेरी परणति न जाय॥"

परन्तु आश्चर्य है कि आजकल हम लोगोंने विषय कषाय शोषक दस लक्षण धर्म पर्वको अधिकांशमें विषय कषाय पोषक त्यौहार सरीखा बना रखा है। इसमें संशोधन होना आवश्यक है, अन्यथा हम मुक्ति मार्गसे हट जायेंगे। किसीने सच कहा है—

"पर्व (पोर) खाने (भोगनेकी) वस्तु नहीं, किंतु बोने (त्यागनेकी) वस्तु है"

उत्तम मार्दव

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

आज मार्दव धर्म है, क्षमाधर्म विदा हो रहा है, विदा तो होता ही है उसका एक दृष्टांत आपको सुनाता हूँ। मैं नदियामें दुलारझाके पास न्याय पढ़ता था, वे न्याय शास्त्रके बड़े भारी विद्वान थे। उन्होंने अपने जीवनमें २५ वर्ष न्याय ही न्याय पढ़ा था। वे व्याकरण प्रायः नहीं जानते थे, एक दिन उन्होंने किसी प्रकरणमें अपने गुरूजी-से कहा कि जैसा "बाकी" होता है वैसा "प्रीति" क्यों नहीं होता ? उनके गुरू उनकी मूर्खता पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले तू बैल है। भाग जा यहाँ से। दुलारझाको बहुत बुरा लगा उसका एक साथी था, जो व्याकरण अच्छा जानता था और न्याय पढ़ता था। दुलारझाने कहा कि यहाँ क्या पढ़ते हो चलो घर पर हम तुम्हें न्याय बढ़िया से बढ़िया पढ़ा देंगे, साथी इनके साथ गाँवको चला गया—वहाँ उन्होंने उससे एक सालमें तमाम व्याकरण पढ़ डाला और एक साल बाद अपने गुरूके पास जाकर क्रोधमें कहा कि तुम्हारे बापको धूल दी, पूछ ले व्याकरण, कहाँ पूछता है। गुरूने हँसकर कहा आओ बेटा मैं यही तो चाहता था कि तुम इसी तरह निर्भीक बनो। मैं तुम्हारी निर्भी-कतासे बहुत सन्तुष्ट हुआ पर मेरी एक बात याद रक्खो—

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं नहि।
धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

दुलारझा अपने गुरूकी क्षमाको देखकर नतमस्तक रह गये। क्षमामें क्या नहीं होता। अच्छे अच्छे मनुष्योंका मान नष्ट हो जाता है।

मार्दवका नाम कोमलता है, कोमलतामें अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीनमें बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायेगा। पानीकी बारिशमें जो जमीन कोमल हो जाती है उसीमें बीज जमता है। बच्चोंको प्रारम्भमें पढ़ाया जाता है—

"विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥"

विद्या विनयको देती है, विनयसे पात्रता आती है। पात्रतासे धन मिलता है धनसे धर्म और धर्मसे सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदयमें विनय धारण नहीं किया वह धर्मका अधिकारी कैसे हो सकता है ? विनयी छात्र पर गुरूका इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलानेको तैयार रहता है। एक स्थान पर एक पण्डितजी रहते थे पहले गुरुओंके घर पर स्नेह अधिक था। पण्डितानी उनको बार २ कहतीं कि सभी लड़के तो आपकी विनय करते हैं आपको मानते हैं फिर आप इसी एक की क्यों प्रशंसा करते हैं ? पण्डितजीने कहा कि इस जैसा कोई मुझे नहीं चाहता। यदि तुम इसकी परीक्षा ही करनी चाहती हो तो मेरे पास बैठ जाओ। आमका सीज़न था, गुरूने अपने हाथ पर एक पट्टीके भीतर आम बाँध लिया और दुःखी जैसी मूरत बनाकर कराहने लगे। तमाम छात्र गुरूजीके पास दौड़े आये, गुरूने कहा दुर्भा-ग्यवश भारी फोड़ा हो गया है। छात्रोंने कहा मैं अभी वैद्य लाता हूँ। ठीक हो जायगा। गुरूने कहा बेटो ! यह वैद्यसे अच्छा नहीं होता—एक बार पहले भी मुझे हुआ था तब मेरे पिताने इसे चूसकर अच्छा किया था यह चूसनेसे ही अच्छा हो सकता है। मवादसे भरा फोड़ा कौन चूसे ? सब ठिठककर रह गये। इतनेमें वह छात्र आ गया जिसकी कि गुरू बहुत प्रशंसा किया करते थे। आकर बोला गुरूजी क्या कष्ट है ? बेटा फोड़ा है, चूसनेसे अच्छा होगा। गुरूके कहनेकी देर थी कि उस छात्रने उसे अपने मुँह में ले लिया। फोड़ा तो था ही नहीं आम था पण्डि-तानीको अपने पतिके वचनों पर विश्वास हुआ।

क्या कहें आजकी बात ! आज तो विनय रह ही नहीं गया। सभी अपने आपको बड़े से बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मान नहीं चला जाय इसकी फिकरमें सब पड़े हैं पर इस तरह किसका मान रहा है। आप किसीको हाथ जोड़ कर या सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदयसे मानरूपी शत्रुको हटाकर अपने आपका उप-कार करते हैं। किसीने किसीकी बात मानली, उसे हाथ जोड़ लिये सिर झुका दिया, इतनेसे ही वह खुश हो जाता है और कहता है इसने हमारा मान रख लिया—मान रख क्या लिया, मान खो दिया। अपने हृदयमें जो अहं-कार था उसने उसे आपके शरीरकी क्रियासे दूर कर दिया। कल आपने सम्यग्दर्शनका प्रकरण सुना था। जिस प्रकार अन्य लोगोंके यहाँ ईश्वर या खुदाका महात्म्य है वैसा ही

जैनधर्ममें सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है, सम्यग्दर्शनका अर्थ-आत्म लब्धि है, आत्माके स्वरूपका ठीक ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धिके सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शनसे आत्माका महानगुण जागृत होता है, विवेकशक्ति जागृत होती है आज कल लोग हर एक बातमें क्यों? क्यों? करने लगते हैं, इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धा नहीं है। श्रद्धाके न होनेसे हर एक बातमें कुतर्क उठा करते हैं।

एक आदमीको क्योंका रोग हो गया, उससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ, पूछने पर सलाह दी कि तू इसे किसी-को बेच डाल, भले ही सौ पचास लग जांय। बीमार आदमी इस विचारमें पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय, किसीने सलाह दी स्कूलके लड़के बड़े चालाक होते हैं। ५०) रुपये देकर किसी लड़केको बेच दे, उसने ऐसा ही किया—एक लड़केने ५०) लेकर उसका वह रोग ले लिया सब लड़कोंने मिलकर ५०) की मिठाई खाई, जब लड़का मास्टरके सामने गया और मास्टरने पूछा कि कलका सबक दिखलाओ, लड़का बोला क्यों? मास्टरने कान पकड़ कर लड़केको बाहर निकाल दिया। लड़का समझा कि क्योंका रोग तो बड़ा खराब है—वह उसको वापिस कर आया। अबकी बार उसने सोचा चलो अस्पतालके किसी मरीजको बेच दिया जाय तो अच्छा है, ये लोग तो पलंग पर पड़े पड़े आनन्द करते ही हैं। ऐसा ही किया, एक मरीजको बेच आया दूसरे दिन डाक्टर आये पूछा तुम्हारा क्या हाल है? मरीजने कहा क्यों? डाक्टरने उसे अस्पतालसे बाहर कर दिया। उसने भी समझा दरअसलमें यह रोग तो बड़ा खराब है, वह भी वापस कर आया, अबकी बार उसने सोचा अदालती आदमी बड़े टंच होते हैं उन्हींको बेचा जाय, निदान उसने एक आदमीको बेच दिया, वह मजिस्ट्रेटके सामने गया मजिस्ट्रेटने कहा तुम्हारी नालिशका ठीक ठीक मतलब क्या है, आदमीने कहा क्यों? मजिस्ट्रेटने मुकदमा खारिजकर कहा कि घरकी राह लो, विचारकर देखा जाय तो इन हर एक बातोंमें कुतर्कसे काम नहीं चलता। युक्तिके बलसे सभी बातोंका निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि आपको धर्ममें श्रद्धा न होती तो यहां हजारोंकी संख्यामें क्यों आते? यह कांतिलाल जी जो एक माहका उपवास किये हुये हैं क्यों करते? आपका यहाँ आना और इनका उपवास करना यह सब सम्यग्दर्शनके श्रद्धान गुणका फल है। आचार्योंने सबसे पहले यही कहा है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। आचार्यकी करुणा बुद्धिको तो देखो—मोक्ष तब हो जबकि पहले बन्ध हो यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्षका परन्तु उन्होंने मोक्षमार्गका पहले वर्णन इसलिये किया है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्धजनित दुःखका अनुभव करते करते घबड़ा गये हैं, अतः पहले इन्हें मोक्ष-का मार्ग बतलाना चाहिए। जैसे कोई कारागारमें पड़कर दुःखी होता है वह यह नहीं जानना चाहता कि मैं कारागारमें क्यों पड़ा? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागार से छूटूँ कैसे। यही सोचकर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है। सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक शक्ति सदा जागृत रहती है वह विपत्तिमें पड़ने पर भी कभी अन्यायको न्याय नहीं समझता। रामचन्द्रजी सीता-को छुड़ानेके लिए लंका गये थे, लंकाके चारों ओर उनका कटक पड़ा था, हनुमान आदिने रामचन्द्रजीको खबर दी कि रावण जिन मंदिरमें बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग इसकी विद्यासिद्धिमें विघ्न करें, रामचन्द्रजीने कहा कि हम क्षत्रिय हैं कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें यह हमारा कर्तव्य नहीं है। सीता फिर दुर्लभ हो जायगी…हनुमानने कहा। रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोंमें उत्तर दिया, हो जाय एक सीता नहीं दशों सीताएँ दुर्लभ हो जावें पर मैं अन्याय करनेको आज्ञा नहीं दे सकता।

रामचन्द्रजीमें इतना विवेक था उसका कारण क्या था? कारण था उनका विशुद्ध क्षायक सम्यग्दर्शन। सीताको तीर्थयात्राके बहाने कृतांतवक्र सेनापति जंगलमें छोड़ने गया—उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या? वह स्वामीकी परतन्त्रतासे गया था। उस वक्त कृतांतवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली थी। जब वह निर्दोष सीताको जंगलमें छोड़ अपने अपराधकी क्षमा मांगकर वापिस आने लगता है तब सीता उससे कहती है—सेनापति! मेरा एक संदेश उनसे कह देना, वह यह कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा इस

प्रकार लोकापवादके भयसे जिनधर्मको नहीं छोड़ देना। उस निराश्रित अपमानित स्त्रीको इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था? उसका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानताके अधिकार बतलाती। इतना ही नहीं सीता जब नारद जीके आयोजन-द्वारा लव-कुशके साथ अयोध्या वापिस आती हैं एक वीरतापूर्ण युद्धके बाद पिता पुत्रका मिलाप होता है, सीताजी लज्जासे भरी हुई राजदरबारमें पहुँचती हैं उसे देखकर रामचन्द्र कह उठते हैं-'दुष्टा! तू बिना शपथ दिये-बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ? तुझे लज्जा नहीं आई।' सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया कि मैं समझी थी आपका हृदय कोमल है, पर क्या कहूँ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ लें। रामचन्द्रजी ने उत्तेजनात्मक शब्दोंमें कह दिया कि अग्निमें कूदकर अपनी सचाईकी परीक्षा दो। बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्डमें सीता कूदनेको तैयार हुई। रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि सीता जल न जाय। लक्ष्मणने कुछ रोषपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया, वह आज्ञा देते समय नहीं सोचा। वह सती है, निर्दोष है, आज आप उसके अखण्डशीलकी महिमा देखिये उसी समय दो देव केवलीकी वन्दनासे लौट रहे थे, उनका ध्यान सीताके उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया, सीता अग्निकुण्डमें कूद पड़ी और कूदते ही साथ जो अतिशय हुआ सो सब जानते हो। सीताके चित्तमें रामचन्द्रजीके कठोर वचन सुनकर संसारसे वैराग्य हो चुका था। पर "निःशल्यो व्रती" व्रतीको निःशल्य होना चाहिए, यदि बिना परीक्षा दिए मैं व्रत लेती हूँ तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी, इसलिये उसने दीक्षा लेनेसे पहिले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामें वह पास हो गई, रामचन्द्रजी उससे कहते हैं देवी! घर चलो अब तक हमारा स्नेह हृदयमें था पर लोकलाजके कारण आंखोंमें आगया है।' सीताने नीरस स्वरमें कहा—

"कहि सीता सुन रामचन्द्र, संसार महादुःख वृक्ष कंद"
तुम जानत पर कछु करत नाहिं···········।

रामचन्द्रजी! यह संसार दुःखरूपी वृक्ष की जड़ है अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमें ही है। रामचन्द्रजीने बहुत कुछ कहा, यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि वह भी अपराधी हो तो अपने बच्चों लव-कुशकी ओर देखो और एक बार पुनः घरमें प्रवेश करो, पर सीता अपनी दृढ़तासे च्युत नहीं हुई, उसने उसी वक्त केश उखाड़कर रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिये और जङ्गलमें जाकर आर्या हो गई। यह सब काम सम्यग्दर्शका है। यदि उसे अपने कर्म पर भाग्य पर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थी।

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये, जो रामचन्द्र सीताके पीछे पागल हो रहे थे वृक्षोंसे पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही अब तपश्चर्यामें लीन थे सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किये पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। शुक्लध्यान धारणकर केवलिअवस्थाको प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामें प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रगट होते हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यदि आपमें यह गुण प्रकट हुए हैं तो समझ लो कि हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायेगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। अनन्तानुबन्धीकी कषाय छः माहसे ज्यादा नहीं चलती, यदि आपकी किसीसे लड़ाई होने पर छः माह तक बदला लेनेकी भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्यावादी हैं। कषायके असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं उनमें मनका स्वरूप यों ही शिथिल हो जाना प्रशमगुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थाके समय इस जीवकी विषय कषायमें जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती है। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे वह उसे छोड़ नहीं सकता हो, पर प्रवृत्तिमें शैथिल्य अवश्य आजाता है। प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है-सद्यः कृतापराधी जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावण पर जो रोष नहीं किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है। प्रशमगुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है, उसके छूटते ही प्रशमगुण प्रगट हो जाता है। क्रोध ही क्यों अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी मान माया-लोभ सभी कषाय प्रशम गुणके घातक हैं।

(सागर भाद्रपद १)

सत्य धर्म

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

आज सत्यधर्म है सत्यसे आत्माका कल्याण होता है। इसका स्वरूप अमृतचन्द्राचार्यने इस प्रकार कहा है कि—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्-भेदाः सन्ति चत्वारः॥ ९१

प्रमादके वश जो कुछ अन्यथा कहा जाता है उसे असत्य जानना चाहिये। उसके चार भेद हैं यहाँ आचार्यने प्रमादयोग विशेषण दिया है, प्रमादका अर्थ होता है कषायका तीव्र उदय, कषायसे जो झूठ बोला जाता है वह अत्यन्त बुरा है। असत्यका पहला भेद 'सदपलाप' है जो वस्तु अपने द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे विद्यमान है उसे कह देना कि नहीं है, जैसे आत्मा है पर कोई कह दे कि आत्मा नहीं है वह 'सदपलाप' कहलाता है। दूसरा भेद 'असदुद्भावन' है जिसका अर्थ होता है असद् अविद्यमान पदार्थका सद्भाव बतलाना। जैसे घट न होने पर भी कह देना कि यहाँ घट है। तीसरा भेद वह है जहाँ वस्तुको दूसरे रूप कह दिया जाता है जैसे गायको घोड़ा कह देना। गर्हित पापसंयुक्त और अप्रिय जो वचन हैं वह चौथे प्रकारका असत्य है। चुगलखोरी तथा हास्यसे मिश्रित जो कठोर वचन है वह गर्हित कहलाते हैं। बाज़े बाज़े आदमी अपनी पिशुन वृत्तिसे संसारमें कलह उत्पन्न करा देते हैं। कहो, मूलमें बात कुछ भी न हो परन्तु चुगलखोर इधर उधरकी लगाकर बातको इतना बढ़ा देते हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता। पं० बलदेवदासजीमें एक बड़ी अच्छी बात थी। वह आप सबको भी मान्य होगी। उनके समक्ष कोई जाकर यदि कहता कि अमुक आदमी आपकी इस तरह निन्दा करता था वे फौरन टोक देते थे भाई वह बुराई करता हो इसका तो विश्वास नहीं, पर आप हमारे ही मुँह पर बुराई कर रहे हो—गालियाँ दे रहे हो। मुझे सुननेके लिये अवकाश नहीं। मैं तो तब मानूँगा जब वह स्वयं आकर हमारे सामने ऐसी बात करेगा और तभी देखा सुना जायेगा। यदि ऐसा अभिप्राय सब लोग करलें तो तमाम दुनियाके टंटे टूट जांय। ये चुगल जिस प्रकार आपकी बुराई सुनाने आते हैं वैसी आपकी प्रशंसा नहीं सुनाते।

कितने ही आदमी हँसीमें ऐसे शब्द कह देते हैं जो दूसरेके मर्मको छेदने वाले हो जाते हैं। अरे, ऐसी हँसी क्या कामकी जिसमें तुम्हारा तो विनोद हो और दूसरा मर्मान्तक पीड़ा पावे। कोई कोई लोग इतने कठोर वचन बोलते हैं—इतना रूखापन दिखलाते हैं जिससे कि समभावीका धैर्य भी टूटने लग जाता है कितने ही असम्बद्ध और अनावश्यक बोलते हैं। उनका यह चतुर्थ प्रकारका असत्य है। ये चारों ही असत्य प्राणीमात्रके दुःखके कारण हैं। यदि सत्य बोला जाय तो उससे अपनी हानि ही कौनसी होती है सो समझमें नहीं आता। सत्य वचनसे दूसरोंके प्राणोंकी रक्षा होती है, अपने आपको सुखका अनुभव होता है। हमारे गाँवकी बात है। मडावरेमें मैं रहता था मेरा एक मित्र था हरिसिंह। हम दोनों साथ-पढ़ते थे बड़ी मित्रता थी। इसके पिताका नाम मौजीलाल था और काकाका नाम कुंजीलाल। दोनोंमें न्यारपन हुआ तो कुंजीलालको कुछ कम हिस्सा मिला जिससे वह निरन्तर लड़ता रहता था। एक दिन मौजीलालने कुंजीलालको खूब मारा और अन्तमें अपना अंगूठा अपने ही दाँतोंसे काट कर पुलिसमें रिपोर्ट कर दी, उल्टा कुंजीलाल पर मुकदमा चला दिया। हमारा मित्र हरिसिंह हमसे बोला कि तुम अदालतमें कह देना कि मैं लुहर्रा गाँवमें अपने चाचाके यहाँ जा रहा था बीचमें मैंने देखा कि कुंजीलाल और मौजीलालमें खूब झगड़ा हो रहा था तथा कुंजीलाल मौजीलालका अंगूठा दाँतोंसे दबाए हुए था। मैंने बहुत मना किया पर वह न माना। मित्रका आग्रह देखकर मुझे अदालतमें जाना पड़ा, जब मेरा नम्बर आया और अदालतने मुझसे पूछा कि क्या जानते हो मैंने कह दिया कि मैं अपने चाचाके यहाँ लुहर्रा जा रहा था रास्तेमें इनका घर पड़ता था मैंने देखा कि कुंजीलाल और मौजीलालमें खूब लड़ाई हो रही थी और कुंजीलाल मौजीलालका अंगूठा दाँतोंसे दबाये हुए था। अदालतने पूछा और क्या जानते हो? मैंने कहा और यह जानता हूँ कि हरिसिंहने कहा था कि ऐसा कह देना। अदालतको बात जम गई कि यह मौजीलालने झूठा मामला खड़ा किया है इसलिये उसी वक्त खारिज कर दिया और मौजीलालको जो हिस्सा उसने ज्यादा रख

लिया था वह भी देना पड़ा। यदि मैं वहाँ सत्य न बोलता तो व्यर्थ ही निरपराधी कुंजीलालको कष्ट होता। अब एक असत्य बोलनेका उदाहरण सुनो—मैं तो अपनी बीती बात ही अधिकतर सुनाता हूँ—

मैं मथुरामें पढ़ता था मेरा मन कुछ उचाट हुआ सो सोचा कि बाईजीके पास हो आऊं। विद्यालयके मन्त्री पं० गोपालदासजी बरैया थे। मैंने एक झूठा कार्ड लिखा कि भैया! मेरी तबीयत खराब है तुम १५ दिनकी छुट्टी लेकर चले आओ। नीचे दस्तखत बना दिये बाईजीके और मथुराके ही लेटर बक्समें छोड़ दिया। जब वह हमारे पास आया तब मैंने करोड़ीलाल मुनीमको छुट्टीकी अर्जी लिखी और साथमें वह कार्ड भी नत्थी कर दिया। मुनीमने वह दोनों पं० गोपालदासजीके पास आगरा भेजे दिये। पं० जीने लिख दिया कि छुट्टी दे दो और उससे कह दो जब वापिस आवें तब हमसे मिलता जाय। मैं बाई जीके पास गया और १५ दिन बाद लौट कर आया तो पण्डितजीके लिखे अनुसार उनसे मिलनेके लिये गया। उन्होंने पूछा कि कहो बाईजीकी तबीयत ठीक हो गई? मैंने कहा 'हाँ', उन्होंने भोजन कराया जब मथुराको जाने लगा तब बोले यह श्लोक याद कर लो—

उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्या च तथैव च।
माया तत्र न कर्त्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥

श्लोक तो बिलकुल सीधा साधा था याद हो गया। मेरा विचार हुआ कि मैंने जो पत्र बाईजीके नामसे लिखा था—वह मथुरामें ही तो छोड़ा था उस पर मुहर मथुरा की ही थी टीकमगढ़की नहीं थी, संभव है पण्डितजीको यही हमारी गलत चालाकी पकड़में आगई है। मैंने साफ कह दिया पण्डितजी! मैं बहुत असत्य बोला बाईजीकी तबीयत खराब नहीं थी मैंने वैसे हो झूठ मूठ चिट्ठी लिख दी थी। उन्होंने कहा बस हो गया, कुछ बात नहीं और मुनीमको चिट्ठी लिख दी कि यह कुछ कमजोर है अतः इसे ३) तीन रुपया माह दूधके लिये दे दिया करो। मुझे अपनी असत्यता पर बहुत शर्मिन्दा होना पड़ा। पर यह भी लगा कि मैंने अन्तमें उनसे सच सच बात कह दी इसीलिये ही वे प्रसन्न हुए हैं।

जीवन भर सत्य बोलो और एक बार असत्य तो तमाम जीवन की प्रतिष्ठा पर पानी फिर जाता है। एक बारका झूठ भी लोगोंको बड़े संकटमें डाल देता है। एक गाँवमें एक सेठ सेठानी रहते थे उनके पास एक आदमी कामकी तलाशमें पहुँचा सेठने पूछा, क्या क्या कर सकते हो। उसने कहा जो भी आप बतलाओ सब कर सकता हूँ। वेतन क्या लोगे। कुछ नहीं सिर्फ सालमें एक बार आपसे और एक बार सेठानीसे झूठ बोलूंगा। सेठने सोचा ऐसा बेवकूफ कब फँसेगा, मुफ्तका नौकर मिलता है लगा लेना अच्छा है, यह सोच कर उन्होंने उसे रख लिया। साल भर काम कर चुकनेके बाद जब वह जाने लगा तब बोला सेठजी अब मैं जाऊँगा कल झूठ बोलूंगा, सेठने कुछ ध्यान नहीं दिया। शामके वक्त जाकर सेठजी से बोला कि मुझे आपका घर अच्छा लगा पर क्या बताऊं आपकी सेठानी यदि बदचलन न होती तो दुनिया में आपका घर एक ही होता। आज वह अपने जारके कहनेसे रातको आपका काम तमाम करेगी इसलिए आप सतर्क रहें। नौकरने यह बात इस ढंगसे कही कि सेठको बिलकुल सच जम गई। अब वह सेठानीके पास पहुँचा और बोला कि तुम्हारीसी देवी तो दुनियामें नहीं है यदि सेठजी वेश्याओंके यहाँ न जाते तो तुम्हारे क्या सन्तान न होती। सेठानीको बात जम गई, उसने उपाय पूछा तब कहने लगा आज रातको जब सेठजी सो जांय तब उस्तरासे उनके एक तरफकी दाढ़ी मूंछ बना डालना जिससे उनकी सूरत शकल खराब दिखने लगेगी और तब वेश्यायें उन्हें अपने पास नहीं आने देंगी। सेठानीने ऐसा ही किया। सेठजी आज तो वैसे ही कृत्रिम खुर्राटे लेने लगे, सेठानीने देखा कि सेठजी गाढ़ी निद्रामें मस्त हैं, अब इनकी डाढ़ी मूंछ बनाना ठीक होगा। उस्तरा निकाला उसे सिल्ली पर घिस कर खूब पैना किया बालों पर पानी लगाया और बनानेको तैयार हुई कि सेठजी उठ खड़े हुए और बोले दुष्टे! यदि आज वह नौकर मुझे सचेत न कर देता तो तू जान ही ले लेती: वह भी बोली बिलकुल ठीक है तुम आज तक वेश्याओंके यहाँ जा जा कर हमको दुःखी करते रहे उसने ठीक कहा था मुझसे। दोनोंमें खूब झड़ी. इतनेमें नौकर आया और बोला सेठजी माफ़ करो अब मैं जाता हूँ, जो मैंने कहा था कि एक एक बार मैं झूठ बोलूंगा सो बोल लिया। खासी दिल्लगी रही। अरे! जरा सोचो तो एक बारकी झूठने कितना उपद्रव मचा दिया पर जो जिंदगी भर झूठ बोलते हैं उनका ठिकाना ही क्या। यह पांचवाँ सत्यधर्म है।

यदि इसकी रक्षा चाहते हो तो क्रोध, क्षोभ, भय और हास्यको छोड़ो। यही झूठ बोलनेके कारण हैं। इन पर विजय प्राप्त करो और साथमें इस बातका भी खयाल रखो कि कभी मेरे मुँहसे उत्सूत्र-आगमके विरुद्ध वचन न निकलें। अपने वचनोंकी कीमत अपने आप बनाई जा सकती है।

अब यह 'पंचाध्यायी' है इसमें सम्यग्दर्शनका प्रकरण चल रहा है। वास्तवमें पूछो तो सम्यग्दर्शन ही संसारकी जड़ काटनेवाला है, जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया उसका संसार नष्ट हुआ ही समझो आज सम्यग्दर्शनके अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणका वर्णन है। पर दुःख प्रहाणेच्छाको (दूसरोंके दुःख नाश करनेकी अभिलाषाको) अनुकम्पा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि अपने सामने किसीको दुःखी नहीं देख सकता। उसके हृदयमें सच्ची समता आ जाती है, कंचन और काँचमें उनकी समता हो जाती है, समताका अर्थ यह नहीं कि उसे इन दोनोंका ज्ञान नहीं रहता यदि ज्ञान न रहे तो हम लोगोंसे भी अधिक अज्ञानी हो जाय, पर ज्ञान रहते हुए भी वह हर्ष-विषादका कारण नहीं होता। सच्ची समता जिसे प्राप्त हो गई उसे कोई कष्ट नहीं दे सकता। प० देवीदासजीके जीवनकी एक घटना है। उनके सामायिकका नियम था वे रास्ता चल रहे हों जंगल हो चाहे पहाड़, यदि सामायिकका समय हो जाय तो वे वहीं बैठ जाते थे। एक बार वे कुछ साथियोंके साथ घोड़ापर सामान लादे हुए जा रहे थे भयंकर जंगल था, शामका समय हो गया, वे वहीं ठहर गये सब गठरी उतारकर रख दी और घोड़ेको पास ही छोड़ दिया। साथियोंने बहुत रोका कि यहाँ चोरोंका डर है आगे चल-कर रुकेंगे पर यह नहीं माने। इन्होंने साफ कह दिया चोर सब कुछ ले जायें. पर सामायिकका वक्त नहीं टाल सकते। ये सामायिकमें निश्चल होगये, चोर आये और इनकी गठरियाँ ले गये। वे अपनी सामायिकमें ही मस्त रहे। कुछ दूर जाने पर चोरोंके मनमें आया कि हमने उसकी चोरी व्यर्थ की, वह बड़ा शांत आदमी है उसने एक शब्द भी नहीं कहा। सब लौटे और उनकी गठरियाँ वापिस दे गये, अब तक इनका सामायिक पूरा हो चुका था, चोरोंने कहा कि आपकी शांतवृत्ति देखकर हम लोग की हिम्मत आपकी गठरियाँ ले जानेकी नहीं हुई। आप खुशीसे जाओ कहकर उन्होंने उनका घोड़ा लाद दिया। पण्डितजी धर्मके प्रभावका अनुभव करते हुए चले और उन चोरोंने इनके उन साथियोंको जो आगे चले गये थे बुरी तरह पीटा तथा सब सामान छुड़ा लिया। समता परिणाम कभी व्यर्थ नहीं जाते। तत्त्वार्थ जप, तप और उसके फलमें विश्वास होना आस्तिक्य कहलाता है यदि इन कार्योंमें विश्वास न हो तो फोकटमें कष्ट सहन कौन करे? दान करनेसे पुण्य होता है। आगामी पर्यायमें उसका अच्छा फल मिलता है। इसी विश्वास पर ही दान करते हो नहीं तो ५) दान कर देने पर १००) के ६५) तो अभी ही रह जाते हैं। दान आदिसे ही प्रभावना होती है। अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है कि—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥

इन दिनोंमें सम्यग्दर्शनादि आपके हृदयमें उत्पन्न हुए ही होंगे, तप कर ही रहे हो, पूजा खूब करते हो, यदि कुछ दान करने लगो तो उसमें जैनधर्मकी क्या प्रभावना नहीं होगी। आप चतुर्दशीके दिन उपवास करोगे यदि उस दिनका बचा हुआ अन्न गरीबोंको खिला दोगे तो तुम्हारी क्या हानि हो जायेगी। सब तुम्हारा यश गायेंगे और कहेंगे कि जैनियोंके व्रत लगे हुए हैं इनमें यह गरीबोंका भी ध्यान रखते हैं। आप लोग चुप रह गये इससे मालूम होता है कि आपको हमारी बात इष्ट है।

एक बार एक राजाने अपनी सभाके लोगोंसे कहा कि दो शब्दोंमें मोक्षका मार्ग बतलाओ, नहीं तो कठोर दण्ड पावोगे। सब चुप रह गये किसीके मुखसे एक भी शब्द नहीं निकल सका। एक वृद्ध बोला, महाराज आपके प्रश्नका उत्तर हो चुका। राजाने कहा कोई बोला है ही नहीं उत्तर कैसे हो गया? वृद्धने कहा आप प्रश्न करना जानते हैं पर उत्तर समझना नहीं जानते। देखो, सब शान्त हैं और शान्ति ही मोक्षका मार्ग है। यह सब लोग अपनी चेष्टासे बता रहे हैं।

इसी प्रकार आप लोग भी चुप बैठे हैं मालूम होता है आप अवश्य इस बात का खयाल रक्खेंगे। यहाँ पाँच सौ सात सौ घर जैनियों के हैं यदि प्रतिदिन आधा आधा सेर अन्न हर एकके घरसे निकले तो एक हजार आदमियों-का पालन अनायास होजाय। पर उस ओर ध्यान जाय तब न। एक-एक औरत अपने पास पचासों कपड़े अना-

श्यक रोके हुए हैं यदि वे अपनी आवश्यकताके कपड़े बचाकर दूसरोंको दे दें तो वस्त्रका अकाल आज ही दूर होजाय। अरे तुम दो सौ की साड़ी पहिनकर निकलो और दूसरेके पास साधारणसा वस्त्र भी न हो तब देखकर उन्हें डाह न हो तो क्या हो?

लोग कहते हैं जिओ और जीने दो, पर जैनधर्म कहता है कि न जिओ और न जीने दो। संसारमें न स्वयं जन्म धारण करो और न दूसरेको करने दो। दोनोंको मोक्ष हो जाय ऐसी इच्छा करो।

(सागर चातुर्मासमें दिये हुए प्रवचन से)

शौच-धर्म

(ले० पं० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य)

शौचका सामान्य और सीधा अर्थ पवित्रता है। यह पवित्रता आत्मामें लोभ-कषायके अभावमें प्रकट होती है। यों तो आत्माकी पवित्रताके रोधक सभी कषाय और कर्म हैं, किन्तु लोभ-कषाय आत्माकी उस पवित्रताको रोकती है जो आत्माको मुक्तितक पहुँचाती है और मुक्तिमें अनन्त काल तक विद्यमान रहती है। यही कारण है कि यथाख्यातचारित्र भी, जो प्रायः उक्त पवित्रतारूप ही है, लोभके अभाव में ही आविर्भूत होता है। इसलिये पवित्रताविशेषको शौचधर्म कहना उचित ही है। बात यह है कि लोभ आत्माके अन्य तमाम गुणों पर अपना दुष्प्रभाव डाल कर उन्हें मलिन बना देता है। सब पापों और दुर्गुणोंका भी वह जनक है। लोभसे मन, वाणी तथा काय तीनों दूषित हो जाते हैं और उन तीनों का सम्बन्ध आत्माके साथ होने से आत्मा भी दूषित बन जाता है। अतः मन वाणी और कायको दूषित न होने देनेके लिये यह आवश्यक है कि लोभ कषायसे बचा जाय। अर्थात् शौच-धर्म का पालन किया जाय। शौच धर्म आत्माका एक स्वाभाविक गुण है जो प्रकट होते ही आत्माके अन्य गुणों पर भी अपना चमत्कारपूर्ण असर डालता है। मन, वाणी और शरीर तीनों उसके सद्भावमें शुद्ध हो जाते हैं। कितना ही ज्ञान और कितना ही चारित्र क्यों न हो, इस गुणके अभाव में वे मलिन बने रहते हैं।

पाठकोंको उस ब्राह्मण विद्वानकी कहानी ज्ञात होगी, जिसने लोभमें आकर अपना पतन किया था। न उसने अपने जाति-कुलका ख्याल रखा था और न अपने विशाल पाण्डित्यकाभी विचार किया था। वेश्याके लोभमें फँसकर अपना सर्वनाश किया था। एक पात्र साधु साधु होकर भी लोभ-पिशाचके वशीभूत होकर जीवनकी तपोमय साधनाको भी खो बैठा था। अतः आत्माको शौच-धर्मके पालन द्वारा ही ऊँचे उठाया जा सकता है।

आज संसारके व्यक्तियोंमें सन्तोष आ जाय, लोभकी मात्रा कम हो जाय, न्यूनाधिकरूपमें यह शौच-गुण समा जाय तो संसार तृष्णाकी भट्टीमें जलनेसे बच सकता है और सुख शांतिको प्राप्त कर सकता है।

विचारनेकी बात है कि लोकमें पदार्थ तो सीमित हैं परन्तु लोगोंकी इच्छाएँ असीमित हैं। यदि पदार्थोंका बटवारा किया जाय तो सबको उनकी इच्छानुसार मिलना सम्भव नहीं है। इसलिये सन्तोष अथवा शौच गुणही एक ऐसा वस्तु है जो आत्माको सुख व शांति प्रदान कर सकती है। इसी आशयसे एक विद्वानने कहा है—

> आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
> कस्य किं कियदायाति वृथैव वो विषयैषिता॥

अर्थात् प्रत्येक प्राणीकी इच्छाओंका गड्ढा इतना है कि उसमें समग्र विश्व परमाणुके बराबर है। ऐसी स्थितिमें किसको क्या और कितना मिल सकता है? अतः विषयोंकी इच्छा करना व्यर्थ है।

जीवनको स्थिर और स्वस्थ रखनेके लिये जितनी आवश्यकता हो उतनी वस्तुओंको रखो। शेषको दूसरों

के उपभोगके लिये छोड़ दो। इस मनोवृत्तिसे न केवल मनुष्य सुखी ही होगा, अपितु यशस्वी भी बनेगा शौचगुणके अभिव्यक्त करनेमें भी वह अग्रसर होगा। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो सकती है, जब अन्तर और बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़नेमें समर्थ हो सकता है और 'परमेको मुनिः सुखी' इस अवस्थाको प्राप्तकर सकता है। अतएव इस शौच धर्मका पालन गृहस्थ और मुनि दोनों ही अपने २ परिणामों एवं परिस्थितियोंके अनुसार कर सकते हैं।

जनधर्ममें शौचधर्मको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। गंगा यमुना आदि नदियों या समुद्रादिमें स्नान करनेसे वह धर्म प्राप्त नहीं होता। वह तो निर्लोभ वृत्तिसे प्राप्त होता है। यदि हमारे भारतीय-जन सन्तोष बनाम शौच गुणको अपना लें तो भ्रष्टाचार, असन्तोष, वस्तुओंकी दुलभता आदि दोष, जो आज देखनेमें आ रहे हैं, देशमें नहीं रहेंगे और जनता मुसीबतों, कष्टों, परेशानियों और दुःखोंमें नहीं फंसेगी।

निर्लोभवृत्तिसे जो अच्छे आचार तथा विचारोंका अंकुर उगेगा वह समयपर इतने प्रचुर फलों एवं विपुल छायासे सम्पन्न वृक्ष होगा, जिसके नीचे बैठ कर प्रत्येक मानव-जन आनन्द और परम शान्तिका अनुभव कर सकता है।

श्री समन्तभद्रविद्यालय, देहली
२६ अगस्त, १९५३

आर्जव

[अजितकुमार जैन]

हृदयके विचारोंके अनुसार वाणी और शारीरिक व्यापारको यदि एक शब्द-द्वारा कहना हो तो वह शब्द "आर्जव" है, ऋजुता या सरलता भी उसी के अपर-नाम हैं।

चरित्रबलसे हीन व्यक्ति जिस तरह अपनी निर्बलता पर आवरण डालनेके लिये हिंसा, असत्य-भाषण, व्यभिचार आदि पापाचरणको अपनाता है उसी तरह वह आत्म-निर्बलताके कारण ही छल, फरेब, धोखा-धड़ीको काममें लेता है। कपटाचार मनुष्यको बनावटी रूपमें बदल देता है। वह जनताके लिये भयानक वन्य पशुसे भी अधिक भयानक बन जाता है। भेड़िया यदि बाहर से भेड़िया है तो अन्तरङ्गसे भी भेड़िया ही है। उसको देखकर प्रत्येक जन्तु उसके भयानक आक्रमणसे सुरक्षित रहनेका यत्न कर सकता है, परन्तु कपटी मनुष्य ऐसा भयानक भेड़िया है कि उसके आक्रमणसे कोई भी जन्तु अपने आपको नहीं बचा सकता।

वह दीखनेमें बहुत साधु नजर आता है, वाणी उसकी मिश्रीसे भी अधिक मीठी होती है परन्तु हृदय भयानक विषसे भरा हुआ घड़ा होता है। अपनी कोकिलकण्ठी वाणीसे अन्य व्यक्तिको अपने पंजेमें फंसाकर वह नर-भेड़िया अपने उस हृदयमें भरे विषकी बौछार करके उस व्यक्तिको अचेत-क्रियाशून्य कर देता है। अपने स्वार्थ-साधनके लिये वह अन्य व्यक्तिका सर्वनाश करते भी नहीं चूकता।

अपने कपटाचारसे वह अपने आपको मुलम्मेसे भी अधिक चमकीला बनाता है, जिससे जनसाधारण उसे खरा सोना समझकर सोनेका मूल्य उसे दे डालता है, किन्तु उसको उस मूल्यकी हार्दिक वस्तु उस कपटीसे नहीं मिल पाती, इस तरह वह जनताको बहुत क्षति पहुँचाता है। उस कपटीकी आदत यहाँ तक बिगड़ जाती है कि साँप यदि बाहर टेढ़ा चलता है तो कम से कम अपने बिलमें घुसते समय तो सीधा ही चलता है। अपने परिवारके व्यक्तियोंको भी धोखा देते हुए वह नहीं चूकता।

किन्तु मुलम्मा अपनी चमक आखिर कब तक स्थिर रख सकता है, साधारणसा वातावरण ही उसकी चमकको काला कर देता है, उस दशामें समस्त जगत उसका जघन्य मूल्य तुरन्त आंक लेता है और फिर उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।

ठीक ऐसा ही हाल कपटी मनुष्यका होता है, कपटी मनुष्यका कृत्रिम मायाजाल जब छिन्न भिन्न हो जाता है तब उसका भयानक नंगा रूप जनताके सामने आते हुए देर नहीं लगती । उस समय जनताकी दृष्टिसे वह एक दम गिर जाता है और उसकी प्रतिष्ठा तथा विश्वास सदाके लिये समाप्त हो जाते हैं । घरमें तो उस पर किसीका विश्वास रहता ही नहीं ।

जिस मनुष्यका विश्वास संसारसे उठ गया, एक तरहसे वह मनुष्य ही संसारसे उठ गया । क्योंकि विश्वासपात्रता ही जीवनका प्रधान चिन्ह है ।

कपटीका हृदय तो निर्भीक हो ही नहीं सकता, क्योंकि सदा उसको अपनी बनावट-कलई खुल जानेका भय बना रहता है ।

उसका धर्माचरण भी निःसार, निस्तेज एवं उपहासजनक होता है जनता उसके धार्मिक आचरणको 'बगलाभक्ति' का रूप देकर अन्य धार्मिक व्यक्तियों के लिये भी अपनी वैसी ही धारणा बना लेती है । इस प्रकार छली-कपटी मनुष्य धार्मिक जगतमें महान पापाचारी माना गया है ।

जो मनुष्य कपटाचार से दूर रहते हैं अपने मनोविचारोंके अनुसार ही बोलते हैं तथा करते हैं, वे व्यक्ति सदा बनावटसे दूर रहते हैं, चापलूसी, खुशामदसे उन्हें घृणा होती है, वे किसीको प्रसन्न करनेके लिये कुछ कार्य नहीं करते बल्कि आत्म-संतोषके लिए ही सब कुछ करते हैं ।

भय तो उनके हृदयमें कभी उत्पन्न ही नहीं होता । उन्हें अपने वचन पर पूर्ण विश्वास और अचल दृढ़ता रहती है, संसार उसके वचनको प्रामाणिक समझता है । धार्मिक आचरणसे उनका सौन्दर्य नहीं बढ़ता बल्कि उनके कारण उस धर्माचरणका स्वच्छरूप हो जाता है । जनतामें उसका सम्मान स्वयं बढ़ता चला जाता है ।

निश्छल व्यक्ति संसारको निर्भयता और मूलभूत धार्मिकताका पाठ पढ़ाता है । उसका प्रत्येक शब्द उसके हृदयसे निकलता है अतः दूसरे व्यक्तिके हृदयको तुरन्त प्रभावित करता है, इसी कारण उसका वचन तेजस्वी, प्रभावशाली होता है । उसकी करनी अन्य सज्जन व्यक्तियोंके लिये अनुकरणीय बन जाती है । तभी तो कहा गया है—

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

अर्थात्—कपटी मनुष्य पापी होते हैं और सरलचित्त व्यक्ति महात्मा होते हैं ।

उत्तम तप

(पी० एन० शास्त्री)

इच्छाओंका रोकना तप है * । तप जीवन-शुद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक है । बिना किसी तपश्चरणके आत्म-शुद्धिका होना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है । जिस तरह खानसे निकलने वाले सुवर्ण पाषाणसे प्राप्त सोनेको शुद्ध बनानेके लिये अग्निसंतापनादि प्रयोगों द्वारा सुवर्णकार उसे शुद्ध बनाता है । उक्त प्रक्रियाके बिना सोनेका वह शुद्ध रूप प्राप्त नहीं हो सकता, जिसे 'कंचन' या सौटंचका सोना कहा जाता है । ठीक उसी प्रकार अनादि कालसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप परिणतिसे होनेवाले कर्मबन्धनसे आत्मा मलिन हो रहा है—उसकी अशुद्धताको दूर करनेके लिए तपश्चरण करना अत्यन्त जरूरी है । बिना उस प्रयत्नके आत्म-शुद्धि करना सम्भव नहीं जँचता

* 'इच्छानिरोधस्तपः'—तत्त्वार्थसूत्रे गृद्धपिच्छाचार्यः ।

यह मानव अनादि कालसे मोही होनेके कारण अमित इच्छाओंका केन्द्र बन रहा है । एक अभिलाषा अथवा इच्छा पूरी नहीं हो पाती, तब तक दूसरी आ धमकती है । इस तरह जीवनके साथ इनका प्रतिसमय तांता लगा रहता है एक समयको भी इनसे छुट्टी नहीं हो पाती । इच्छाएँ अनन्त हैं और मानव जीवन सीमित अवस्थाको लिये हुए है अतः उन अनन्त इच्छाओंकी पूर्ति कैसे हो सकती है ? यदि कदाचित् किसी अभिलषित इच्छाकी पूर्ति भी हो जाय तो तत्काल अन्य अनेक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी स्थितिमें इच्छाओंकी अपूर्ति सदा बनी ही रहती है, इच्छाका नाम ही दुःख है । जिसकी जितनी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं वह उतना ही अधिक लोकमें सुखी माना जाता है । पर वास्तवमें इच्छा पूर्तिसे सुख नहीं मिलता, वह कोरा सुखाभास है—झूठा सुख है;

क्योंकि इच्छा ही दुःख है, इच्छा ही परिग्रह है, मोह और अज्ञानका परिणाम है। जिसके जितनी अधिक इच्छाएं हैं वह उतना ही अधिक परिग्रही अथवा मोही है, और अनन्त दुखोंका पात्र है। यह अज्ञ प्राणी बाह्य इच्छापूर्ति मात्रको सुख समझता है इसीसे रातदिन उन्हींकी पूर्तिमें लगा रहता है, और उसके लिए अनेक प्रयत्न करता है। चोरी, दगाबाजी, विश्वासघात, और छल-कपट आदि अनेक दूषित वृत्तियोंके द्वारा इच्छाकी पूर्तिके लिये दौड़ धूप करता रहता है। उसीके लिये समुद्रों और पर्वत तथा कन्दराओंकी सैर करता है, अनेक कष्ट भोगता है और कार्य सिद्धिके अभावमें विकल हुआ मानसिक सन्तापसे उत्पीड़ित रहता है हजारपतिसे लेकर लखपति या करोड़ पति अथवा अरबपति बन जाने पर भी सुखी नहीं देखा जाता वह दुःखी ही पाया जाता है। आचार्य गुणभद्रने कहा है कि—

आशागर्तःप्रतिप्राणि यस्मिन्विश्वमणूपमम् ।
किं कस्य कियदायाति वृथा या विषयैषिता ॥

'इस जीवका आशारूपी खाडा इतना गहरा है कि उसमें विश्वकी समस्त सम्पदा अणुके समान है। तब किसके हिस्सेमें कितनी आवेगी ? अतः इस विषयेषणाको धिक्कार है।'

जिस तरह सहस्रों नदियोंके जलसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती उसी तरह पंचेन्द्रियोंके विषयोंका अनादिकालसे सेवन करते हुए भी जीवकी तृप्ति नहीं होती। भोग उपभोगकी आकांक्षाएँ संसारवृद्धिकी कारण हैं उनसे तापकी शान्ति नहीं हो सकती। उनसे उल्टी तृष्णाकी अभिवृद्धि ही होती है। अतएव हमें चाहिये कि कर्मोदयसे प्राप्त भोग उपभोगकी सामग्रीमें सन्तोष रखते हुए अपनी इच्छाओंकी प्रवृत्तिको सीमित बनानेका यत्न करें। यम और नियमका सावधानीसे पालन करें, क्योंकि ये दोनों ही गुण इच्छाके निरोधमें कारण हैं। जीवनमें यम और नियम रूप प्रवृत्तिसे संयमका वह छिपा हुआ रूप सामने आ जाता है. और फिर लोकमें अशान्तिकी वह भीषण बाधा भी दूर होने लगती है।

ऊपर बतलाया गया है कि इच्छाओंका निरोध तपसे होता है। वह तप दो प्रकारका है। बाह्य और अन्तरंग। दोनों ही तप अपने छह छह भेदोंको लिये हुए हैं—इस तरह तपके कुल बारह भेद हैं, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनमेंसे आदिके छह तप बाह्य हैं, इनका आचरण बाह्य जीवनमें दिखता है इसीसे इन्हें बाह्य कोटि में रखा गया है। इनका साधन अन्तस्तपकी वृद्धिके लिये किया जाता है। परन्तु अन्तस्तप आत्मासाधनामें विशेष उपयोगी हैं। उन्हींसे कर्मशृंखलाका जाल कटता है। इन अन्तरंग तपोंमें स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों ही तप मुमुक्षु योगीके लिये विशेष महत्वके हैं। योगीको ध्यान एवं स्वाध्यायसे उस आत्मबलकी प्राप्ति होती है जो कर्मकी क्षपणा अथवा क्षय करनेकी सामर्थ्यको लिये हुए है। यही कारण है कि जब योगी आत्म-समाधिमें स्थित हो जाता है तब उसके बाह्य और आभ्यन्तर इच्छाओंका पूर्णतया निरोध हो जाता है। इच्छाओंके निरोध होनेसे तज्जन्य संकल्प विकल्पोंका भी अभाव हो जाता है। और आत्मा अपने सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रादि गुणोंमें एकनिष्ठ होते ही मोहकर्मकी उस सुदृढ़ सांकलको खंडित कर देता है जिसके टूटते ही कर्मोंके सभी बन्धन अशक्त बन जाते हैं—फलदानकी सामर्थ्यसे रिक्त हो जाते हैं। और आत्मा क्षणमात्रमें उनके भारसे मुक्त होकर अपनी अक्षय सम्पदा का स्वामी बन जाता है। तपकी अपूर्व सामर्थ्य है जो जीवको दुःखपरम्परासे छुड़ाकर त्रैलोक्यके जीवोंके द्वारा अभिवंद्य एवं उपास्य बना देती है।

अतः हम सबका कर्त्तव्य है कि हम भी अपने जीवनको संयत बनानेका यत्न करें। अपनी इच्छाओंको सीमित कर स्वस्थ, सुखी बनें और आत्मबलको उन्नत करें, तथा दुःखोंसे छूटनेका प्रयत्न करें। आज हम लोग असीमित इच्छाओंके कारण अर्थसंचय और विविध भोगोंके उपभोगकी लालसामें लगे हुए हैं। अपनी स्वार्थपरतासे एक दूसरेका बुरा सोचते हैं, दूसरोंकी सम्पत्ति और उनके भोगोंका प्रवृत्तिसे असन्तोष एवं डाह करते हैं। स्वयं परिग्रहका संचय करते हैं, असत्य बोलते हैं, दूसरेकी चुगली करते हैं, और अपने असहिष्णु व्यवहारसे अपनी आत्मवंचना करते हुए जगतको ठगने अथवा धोखा देनेका यत्न करते हैं, यह कितनी अज्ञानता है। अतः हमें चाहिए कि हम भी अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण कर तपकी महत्ताका मूल्यांकन करते हुए सन्तोषी, सुखी बनें, तथा एक देश तपस्वी बन कर अपना हित साधन करें।

संग्रहकी वृत्ति और त्याग धर्म

(ले० श्री पं० चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ)

धर्म आत्माकी उस वृत्ति अथवा प्रवृत्तिका नाम है जो मनुष्यके आध्यात्मिक एवं वैयक्तिक अभ्युदयका कारण हो। धर्मका यह लक्षण मनुष्य परक है। सारे संसारके प्राणियोंमें मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है। पशु-पक्षी और देव-नारकोंमें भी धर्मवृत्ति जागृत होती है और वे भी अपने आध्यात्मिक उत्थानकी ओर प्रवृत्त हो सकते हैं—इसलिए धर्मका लक्षण ऐसा भी है जो मनुष्यातिरिक्त-प्राणियोंमें भी मिल सके। जो आत्माको दुःखोंसे उन्मुक्त करे वही धर्म है, और वह धर्म सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चे चरित्रके रूपमें प्रस्फुटित होता है। इसके विपरीत जो कुछ है वह अधर्म है। यह धर्मका सामान्य लक्षण है।

चरित्रके रूपमें जो धर्म प्रस्फुटित होता है उसकी नाना शाखाएँ हैं। त्याग भी उसका एक रूप है। त्याग धर्म भी मनुष्य-परक है, क्योंकि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणियों में संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मनुष्य संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, इसलिए कोई भी विवेचन उसीकी मुख्यतासे किया जाता है। संग्रह और त्याग, पात्र और अपात्र, संसार और मुक्ति, पुण्य और पापके सारे विवेचन मनुष्यको लक्ष्य करके किये गये हैं। सम्भव है किसी किसी पशु अथवा पक्षीमें भी संग्रहकी भावना हो, पर ऐसे अपवाद नगण्य समझे जाते हैं मनुष्यमें तो संग्रहकी प्रवृत्ति जन्मजात है। बच्चा भी और नहीं तो अपने खेलोंका संग्रह तो करने ही लगता है। ज्यों ज्यों मनुष्य बड़ा होता जाता है उसके संग्रहकी भावनामें वृद्धि होती जाती है। वह जीवनके अन्त तक भी इस संग्रहके अभ्याससे विरक्त होना नहीं चाहता। दुखकी बात तो यह है कि इस संग्रह-की प्रवृत्तिमें जो जितना अधिक सफल होता है इस संसार में वह उतना ही आदरणीय सत्कृत और पुरस्कृत माना जाता है। राजाओं, सम्राटों और धनिकोंके सारे यशोगानका कारण उनका अपार संग्रह ही है।

जब मनुष्य देखता है कि संग्रहशील अर्थात् धनसंचयकारियोंका हर जगह सम्मान होता है तो वह भी उनका अनुकरण करता है और अपने इस मनोरथमें सफल होनेके लिये वह उचित अनुचित सब प्रकारके प्रयत्न करता है। न्याय और अन्यायका भेद वह उस समय भूल जाता है जब धन संग्रहका अवसर होता है। त्यागके प्रकरणमें संग्रहका अर्थ यद्यपि केवल धनसंग्रह ही नहीं है, किन्तु संसारके सारे संग्रह धनसे खरीदे जा सकते हैं इसलिये संग्रह शब्दसे मुख्यतः धनसंग्रह ही लिया जाता है। दुनियाके प्रतिशत निन्यानवें पापोंका कारण संग्रह ही है। जब से मनुष्यमें संग्रहकी भावना उत्पन्न हुई है तभीसे मानव समाजमें दुःखों और पापोंकी सृष्टि भी देखी जाती है। संग्रह पाप और दुःख इन सबकी एक परम्परा है। संग्रहसे पाप पैदा होते हैं और वे ही दुःखका कारण हैं। जैनशास्त्रोंकी भोगभूमिमें कोई मनुष्य दुःखी नहीं था, इसका कारण केवल यही था कि उस समय के मनुष्यमें संग्रहकी प्रवृत्ति नहीं थी। तब मनुष्यकी इच्छाएँ भी कम थीं। आज तो मनुष्यकी अपरिमित इच्छाएँ हैं और इनका सारा उत्तरदायित्व संग्रह पर है। कविने ठीक ही कहा है कि—'मनुष्यकी तृष्णाका गड्ढा इतना गहरा हो गया है कि उसे भरनेके लिए यह समूचा विश्व भी एक अणुके समान है।' तब एक एक मनुष्यके इतने गहरे गड्ढेको कैसे भरा जाय ! यह एक भयंकर समस्या है, और यह समस्या केवल वैयक्तिक नहीं अपितु राष्ट्रोंमें भी यह रोग फैल गया है। सारे छोटे और बड़े युद्ध, आक्रमण, अत्याचार और आततायिपन इसी समस्याके भयंकर परिणाम हैं।

इस संग्रहतृष्णाकी समस्याका एक मात्र हल त्याग धर्म ही है। जबसे दुनियामें संग्रहका पाप आया तभीसे त्याग धर्मकी भी उत्पत्ति हुई। अन्धकार और प्रकाश, बन्धन और मुक्ति, ज्ञान और अज्ञानकी तरह धर्म और पाप साथ साथ जन्मते हैं। संग्रहके पापके साथ अगर त्यागधर्म न आता तो दुनियाकी जो अवस्था होती उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। त्यागधर्म संग्रहके पापको धो डालता है। फिर भी हमें यह समझना है कि प्रत्येक त्याग धर्म नहीं होता। त्यागको धर्म बनानेके लिए हमें विवेककी जरूरत होती है। जिस त्यागमें अहंकार हो, लोकैषणाकी भावना हो या

अन्य कोई व्यक्तिगत स्वार्थ हो, देश-कालका विचार न हो वह त्याग धर्मकी कोटिमें नहीं आता। हमारा प्रत्येक त्याग धर्म की कोटिमें समाविष्ट हो इसके लिए हमें अपने पूरे विवेक का उपयोग करना चाहिए।

त्यागधर्म जैनाचार अथवा सदाचारकी एक बड़ी शाखा है। त्याग का अर्थ छोड़ना है। छोड़नेके भी दो रूप हैं। कोई चीज किसी को देकर भी छोड़ी जा सकती है और विना दिये भी, किसीको कोई चीज देनेके लिए जब हम छोड़ते हैं तो वह त्याग दान कहलाता है जैसे आहारदान, औषधदान आदि। किन्तु दान शब्दका प्रयोग ज्ञान और जीवनके साथ भी होता है ज्ञानदान, जीवनदान। कोई किसीको ज्ञान देता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह ज्ञान को इस तरह छोड़ देता है जैसे आहारदानके समय आहारको छोड़ दिया जाता है। ज्ञानको तो किसी भी तरह छोड़ना सम्भव नहीं है। जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक जला दिया जाता है इसी तरह एक आत्माके ज्ञानसे दूसरे आत्मामें ज्ञान उत्पन्न किया जाता है। अभयदानमें तो अपने पाससे सचमुच कुछ भी नहीं दिया जाता। उसमें तो केवल प्राणिरक्षाका प्रयत्न ही किया जाता है। उस प्रयत्नकी सफलता ही अभयदान है।

जो चीज किसीको किसी रूपमें विना दिये छोड़ी जाती है वह भी त्यागका एक रूप है। जब मनुष्य कषाय अथवा वासनाओंका परित्याग करता है तो वह उत्कृष्ट कोटिका त्यागी कहलाता है। इस त्यागका दानके प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्पूर्ण बाह्य परिग्रहको छोड़कर जब कोई संसार-विरक्त होता है तब उसका वह बाह्य परिग्रह-त्याग किसीको देनेके लिए नहीं होता. वह तो उसे हेय समझकर छोड़ता है। इस सारे विवेचनका यह अर्थ है कि त्याग शब्दका प्रयोग दानार्थमें भी होता है और इससे भिन्न अर्थमें भी।

संग्रहसे दोष पैदा होते हैं इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि संग्रह न किया जाय; पर मनुष्यकी यह प्रवृत्ति यों ही छूटनेवाली नहीं है इसलिए विवेक-पूर्वक संग्रहके वितरणकी व्यवस्था करना मनुष्यका अनिवार्य कर्त्तव्य है इस कर्त्तव्यका जो पालन नहीं करता वह मानव-समाजमें अशान्ति उत्पन्न करनेके दोषका हिस्सेदार है। अतिसंग्रहसे जो विषमता आती है उस विषमताको आंशिक समताके रूपमें परिवर्तित करनेके लिए दान-संस्थाका जन्म हुआ है और यह सच है कि इस संस्थाने दानार्थी और दानी सबका समान रूपसे उपकार किया है। अब तक दान धनिक समाजके लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ है। दानार्थियोंमें तब तक उत्पादनकी भावना पैदा नहीं होती जब तक धनियोंके द्वारा दिये गये दानसे किसी न किसी रूपमें उनकी आवश्यकताएँ पूरी होती जाती हैं। दानी को अपने मनमें कभी यह अहंकार लानेकी जरूरत नहीं है कि मैं दान देकर दुखी, दरिद्र और गरीबोंका भला करता हूँ बल्कि उसको यह सोचना चाहिए कि इनको दान देना ही मेरी रक्षाका कवच है।

विश्व-प्रकृति स्वयं संग्रह अथवा अतिसंग्रहके विरुद्ध है। समुद्र, मेघ, वृक्ष और स्वयं पृथ्वी संग्रहके विरुद्ध क्रान्ति पैदा कर देते हैं और दानकी महत्ता को प्रकट करते हैं। दानके विषयमें एक कविने कितना अच्छा कहा है—

ऋतु वसन्त जाचक भयो, हप दिये द्रुम पात।
तामें नव पल्लव भये, दियो दूर नहीं जात॥

वसन्त ऋतु आई, उसने आकर वृक्षों से कहा—मैं तुम्हारी याचक हूँ, मुझे दान दो, वृक्ष यह सुनकर बड़े खुश हुए और अपने सारे पत्ते ऋतुको दान स्वरूप दे दिये। वृक्षोंका यह दान निष्फल नहीं गया; क्योंकि तत्काल ही उन पत्तोंके स्थानमें नये पत्ते आ गए। यह सच है कि दिया हुआ कभी व्यर्थ नहीं होता।

किन्तु यह बात भी भूलनेकी नहीं है कि कोई भी मनुष्य कुछ न कुछ तो दान देनेका क्षमता रखता ही है। एक करोड़ रुपयेका दान और एक पैसेका दान दोनों ही दानकी कोटिमें आते हैं और समताकी दृष्टिसे दोनोंका बराबर महत्त्व है। यदि भावोंमें विषमता न हो तो दोनों का समानफल भी हो सकता है। जब यह बात है तब स्पष्ट है कि दानी केवल धनी ही नहीं बन सकता निर्धन भी बन सकता है। इसलिए धनियोंकी तरह निर्धन भी अपनी शक्तिका विना छिपाये और शक्तिका अतिक्रमण किये विना त्याग धर्मकी ओर अच्छी तरह प्रवृत्त हो सकते हैं। जब मनुष्यके मनमें ठीक अर्थमें—सहानुभूतिके भाव उत्पन्न होते हैं तब उसमें दयाकी वृत्ति जागृत होती है और तभी वह देने की प्रेरणा भी पाता है। महान् विचारक श्री विनोबा भावे के शब्दोंमें देनेकी प्रेरणाको ही दया

और करनेकी प्रेरणाको ही करुणा कहते हैं। अगर हृदयमें देने और करनेकी वास्तविक प्रेरणा न हो तब तो दया अथवा करुणाका पाखण्ड ही समझिये।

त्याग धर्म अथवा कोई भी धर्म केवल व्याख्याकी वस्तु नहीं है। हमें स्वतः सिद्ध तत्वको उतना समझाने की जरूरत नहीं है जितनी जीवन में उतारनेकी है। सचमुच त्याग धर्म हमारे आत्माको पवित्र बनाता है। वह हमारी जीवन शुद्धिका कारण है। जो जितना त्यागी है वह उतना ही महान और वन्दनीय है। महासंग्रहशील चक्रवर्ती सम्राट महात्यागी तीर्थंकरकी चरणरजको पाकर अपने आपको धन्य समझता है। सचमुच जीवनकी सफलता त्यागसे ही है।

तत्वार्थ-सूत्रका महत्व

(पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य)

महत्व और उसका कारण

इसमें संदेह नहीं, कि तत्वार्थसूत्रके महत्वको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंने समानरूपसे स्वीकार किया है, यही सबब है कि दोनों सम्प्रदायोंके विद्वान आचार्योंने इस पर टीकायें लिखकर अपनेको सौभाग्यशाली माना है। सर्वसाधारणके मन पर भी तत्वार्थसूत्रके महत्वकी अमिट छाप जमी हुई है।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

इस पद्यने सर्वसाधारणकी दृष्टिमें इसका महत्व बढ़ानेमें मदद दी है। यही कारण है कि कमसे कम दिगम्बर समाजकी अपढ महिलायें भी दूसरोंके द्वारा सूत्र पाठ सुन कर अपनेको धन्य समझने लगती हैं। दिगम्बर समाजमें यह प्रथा प्रचलित है कि पर्यूषणपर्वके दिनोंमें तत्वार्थसूत्रकी खासतौरसे सामूहिक पूजा की जाती है और स्त्री एवं पुरुष दोनों वर्ग बड़ी भक्तिपूर्वक इसका पाठ किया या सुना करते हैं। नित्यपूजामें भी तत्वार्थसूत्रके नामसे पूजा करने वाले लोग प्रति दिन अर्घ चढ़ाया करते हैं और वर्तमानमें जबसे दिगम्बर समाजमें विद्वान दृष्टिगोचर होने लगे, तबसे पर्यूषणपर्वमें इसके अर्थका प्रवचन भी होने लगा है। अर्थप्रवचनके लिए तो विविध स्थानोंकी दि० जैन जनता पर्यूषण पर्वमें बाहरसे भी विद्वानोंको बुलानेका प्रबन्ध किया करती है। तत्वार्थसूत्रकी महत्ताके कारण ही श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके बीच कर्ता-विषयक मतभेद पैदा हुआ जान पड़ता है।

यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि तत्वार्थसूत्रका इतना महत्व क्यों है? मेरे विचारसे इसका सीधा एवं सही उत्तर यही है कि इस सूत्र ग्रन्थके अन्दर समूची जैनसंस्कृतिका अत्यन्त कुशलताके साथ समावेश कर दिया गया है।

संस्कृति-निर्माणका उद्देश्य

संस्कृति निर्माणका उद्देश्य लोक-जीवनको सुखी बनाना तो सभी संस्कृति निर्माताओंने माना है। कारण कि उद्देश्यके विना किसी भी संस्कृतिके निर्माणका कुछ भी महत्व नहीं रह जाता है परन्तु बहुत सी संस्कृतियाँ इससे भी आगे अपना कुछ उद्देश्य रखती हैं और उनका वह उद्देश्य आत्मकल्याणका लाभ माना गया है। जैनसंस्कृति ऐसी संस्कृतियोंमें से एक है। तात्पर्य यह है कि जैन संस्कृतिका निर्माण लोकजीवनको सुखी बनानेके साथ-साथ आत्मकल्याणकी प्राप्ति (मुक्ति) का ध्यानमें रखकरके ही किया जाता है।

संस्कृतियोंके आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओंके प्रकार

विश्वकी सभी संस्कृतियोंको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ माननेमें किसीको भी विवाद नहीं होना चाहिए; क्योंकि आखिर प्रत्येक संस्कृतिका उद्देश्य लोकजीवनमें सुखव्यवस्थापन तो है ही, भले ही कोई संस्कृति आत्मतत्वको स्वीकार करती हो या नहीं करती हो। जैसे चार्वाककी संस्कृतिमें आत्मतत्वको नहीं स्वीकार किया गया है फिर भी लोकजीवनको सुखी बनानेके लिए "महाजनो येन गतः स पन्था" इस वाक्यके द्वारा उसने लोकके लिये सुखकी साधनाभूत एक जीवन व्यवस्थाका निर्देश तो किया ही है। सुखका व्यवस्थापन और दुःखका विमोचन ही

संस्कृतिको आध्यात्मिक माननेके लिये आधार है। यहाँ तक कि जितना भी भौतिक विकास है उसके अन्दर भी विकासकर्ताका उद्देश्य लोकजीवनको लाभ पहुँचाना ही रहता है अथवा रहना चाहिये अतः समस्त भौतिक विकास भी आध्यात्मिकताके दायरेसे पृथक् नहीं है। लेकिन ऐसी स्थितिमें आध्यात्मिकता और भौतिकताके भेदको समझनेका एक ही आधार हो सकता है कि जिस कार्यके अन्दर आत्माके लोकके लाभकी दृष्टि अपनायी जाती है वह कार्य आध्यात्मिक और जिस कार्यमें इस तरहके लाभ-की दृष्टि नहीं अपनायी जाती है, या जो कार्य निरुद्दिष्ट किया जाता है वह भौतिक माना जायगा।

यद्यपि यह संभव है कि आत्मा या लोकके लाभकी दृष्टि रहते हुए भी कर्तामें ज्ञानकी कमीके कारण उसके द्वारा किया गया कार्य उन्हें अलाभकर भी हो सकता है परन्तु इस तरहसे उसकी लाभ सम्बन्धी दृष्टिमें कोई अंतर नहीं होनेके कारण उसके उस कार्यकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण बनी रहती है अतः आत्मतत्त्वको नहीं स्वीकार करने वाली चार्वाक जैसी संस्कृतियोंको आध्यात्मिक संस्कृतियाँ मानना अयुक्त नहीं है।

यह कथन तो मैंने एक दृष्टिसे किया है, इस विषयमें दूसरी दृष्टि यह है कि कुछ लोग आध्यात्मिकता और भौतिकता इन दोनोंके अन्तरका इस तरह प्रतिपादन करते हैं कि जो संस्कृति आत्मतत्त्वको स्वीकार करके उसके कल्याणका मार्ग बतलाती है वह आध्यात्मिक संस्कृति है और जिस संस्कृतिमें आत्मतत्त्वको ही नहीं स्वीकार किया गया है वह भौतिक संस्कृति है; इस तरह आत्मतत्त्वको मानकर उसके कल्याणका मार्ग बतलाने वाली जितनी संस्कृतियां हैं वे सब आध्यात्मिक और आत्मतत्त्वको नहीं मानने वाली जितनी संस्कृतियाँ हैं वे सब भौतिक संस्कृतियाँ ठहरती हैं। इस विचारधारासे भी मेरा कोई मतभेद नहीं है, कारण कि यह कथन केवल दृष्टिभेदका ही सूचक है आध्यात्मिकता और भौतिकताके मूल आधारमें इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है।

आध्यात्मिकता और भौतिकताके अन्तरको बतलाने वाला एक तीसरा विकल्प इस प्रकार है-एक ही संस्कृति-के आध्यात्मिक और भौतिक दोनों पहलू हो सकते हैं। संस्कृतिका आध्यात्मिक पहलू वह है जो आत्मा या लोकके लाभालाभसे सम्बन्ध रखता है और भौतिक पहलू वह है जिसमें आत्मा या लोकके लाभालाभका कुछ भी ध्यान नहीं रखकर केवल वस्तुस्थिति पर ही ध्यान रखा जाता है। इस विकल्पमें जहाँ तक वस्तुस्थितिका तारलुक है उसमें विज्ञानका सहारा तो अपेक्षणीय है ही, परन्तु विज्ञान केवल वस्तुस्थिति पर तो प्रकाश डालता है उसका आत्मा या लोकके लाभालाभसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता है-तात्पर्य यह है कि विज्ञान केवल वस्तुके स्वरूप और विकाश पर ही नजर रखता है, भले ही उससे आत्माको या लोकको लाभ पहुँचे या हानि पहुँचे। लेकिन आत्म-कल्याण या लोककल्याणकी दृष्टिसे किया गया प्रतिपादन या कार्य वास्तविक ही होगा, यह नियम नहीं है वह कदाचित् अवास्तविक भी हो सकता है, कारण कि अवा-स्तविक प्रतिपादन भी कदाचित् किसी किसीके लिये लाभ-कर भी हो सकता है। जैसे सिनेमाओंके चित्रण, उपन्यास या गल्प वगैरह अवास्तविक होते हुए भी लोगोंकी चित्त-वृत्ति पर असर तो डालते ही हैं। तात्पर्य यह है कि चित्रण आदि वास्तविक न होते हुए यदि उनसे अच्छा शिक्षण प्राप्त किया जा सकता है तो फिर उनकी अवास्तविकताका कोई महत्व नहीं रह जाता है। जैन संस्कृतिक स्तुतिग्रन्थोंमें जो कहीं कहीं ईश्वरकर्तृत्वकी झलक दिखाई देती है वह इसी दृष्टिका परिणाम है जबकि विज्ञानकी कसौटी पर खरा न उतर सकनेके कारण ईश्वरकर्तृत्ववादका जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें जोरदार खण्डन मिलता है और इसी दृष्टिसे ही जैन संस्कृतिमें अज्ञानी और अल्पज्ञानी रहते हुए भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी माना गया है; जबकि वास्त-विकताके नाते जीव बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानी या अल्पज्ञानी बना रहता है।

इस विकल्पके आधार पर जैन संस्कृतिको दो भागों-में विभक्त किया जा सकता है। एक आध्यात्मिक और दूसरा भौतिक।

जैन संस्कृतिके उक्त प्रकारसे आध्यात्मिक और भौतिक ये दो भाग तो हैं ही परन्तु सभी संस्कृतियोंके समान इसका एक तीसरा भाग आचार या कर्त्तव्य सम्बन्धी भी है इस तरह समूची जैन संस्कृतिको यदि विभक्त करना चाहें तो वह उक्त तीन भागोंमें विभक्त की जा सकती है। इनमेंसे आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादक करणानुयोग, भौतिक विषयका प्रतिपादक द्रव्यानुयोग और आचार या कर्त्तव्य विषयका प्रतिपादक चरणानुयोग इस तरह तीनों

भागोंका अलग अलग प्रतिपादन करनेवाले तीन अनुयोगोंमें जैन आगमको भी विभक्त कर दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र मुख्यतः आध्यात्मिक विषयका प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ है, कारण कि इसमें जो कुछ लिखा गया है वह सब आत्मकल्याणकी दृष्टिसे ही लिखा गया है अथवा वही लिखा गया है जो आत्मकल्याणकी दृष्टिसे प्रयोजन भूत है, फिर भी यदि विभाजित करना चाहें तो कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थके पहिले, दूसरे, तीसरे, चौथे, छठे, आठवें और दशवें अध्यायोंमें मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टि ही अपनायी गयी है इसी तरह पांचवें अध्याय में भौतिक दृष्टिका उपयोग किया गया है और सातवें तथा नवम अध्यायोंमें विशेषकर आचार या कर्तव्य सम्बन्धी उपदेश दिया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखा गया है या उसमें आध्यात्मिक विषयका ही प्रतिपादन किया गया है यह निष्कर्ष इस ग्रन्थकी लेखनपद्धतिसे जाना जा सकता है। इस ग्रन्थका 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह पहला सूत्र है, इसमें सम्यग्दर्शन सम्याज्ञान और सम्यक्चरित्रको मोक्षका मार्ग बतलाया गया है। तदनन्तर 'तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शनका स्वरूप बतलाते हुए 'जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्'[2] इस सूत्रद्वारा जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूपमें उन तत्त्वार्थोंकी सात संख्या निर्धारित करदी गयी है और फिर द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-अध्यायोंमें जीवतत्त्वका, पञ्चम अध्यायमें अजीवतत्त्वका छठे और सातवें अध्यायोंमें आश्रव तत्त्व का, आठवें अध्यायमें बन्धतत्त्वका नवम अध्यायमें संवर और निर्जरा इन दोनों तत्त्वोंका और दशवें अध्यायमें मोक्षतत्त्वका इस तरह क्रमशः विवेचन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

जैन आगममें वस्तुविवेचनके प्रकार

जैन आगममें वस्तुतत्त्वका विवेचन हमें दो प्रकारसे देखनेको मिलता है—कहीं तो द्रव्योंके रूपमें और कहीं तत्त्वोंके रूपमें। वस्तु-तत्त्व विवेचनके इन दो प्रकारोंका आशय यह है कि जब हम भौतिक दृष्टिसे अर्थात् सिर्फ वस्तु-स्थितिके रूपमें वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तुतत्त्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः द्रव्यों[1] के रूपमें हमारी जानकारीमें आयगा और जब हम आध्यात्मिक दृष्टिसे अर्थात् आत्म-कल्याणकी भावनासे वस्तुतत्त्वकी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे तो उस समय वस्तु तत्त्व जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वोंके रूपमें हमारी जानकारीमें आयगा। अर्थात् जब हम 'विश्व क्या है?' इस प्रश्नका समाधान करना चाहेंगे तो उस समय हम इस निष्कर्षपर पहुंचेंगे कि जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इन छः द्रव्योंका समुदाय ही विश्व है और जब हम अपने कल्याण अर्थात् मुक्तिकी ओर अग्रसर होना चाहेंगे तो उस समय हमारे सामने ये सात प्रश्न खड़े हो जावेंगे—(१) मैं कौन हूं?, (२) क्या मैं बद्ध हूं?, (३) यदि बद्ध हूं तो किससे बद्ध हूं?, (४) किन कारणोंसे मैं उससे बद्ध हो रहा हूं?, (५) बन्धके वे कारण कैसे दूर किये जा सकते हैं? (६) वर्तमान बन्धनको कैसे दूर किया जा सकता है? और (७) मुक्ति क्या है? और तब इन प्रश्नोंके समाधानके रूपमें जीव, जिससे जीव बंधा हुआ है ऐसा कर्म नोकर्मरूप पुद्गल, जीवका उक्त दोनों प्रकारके पुद्गलके साथ संयोगरूपबन्ध, इस बन्धके कारणीभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप आश्रव इन मिथ्यात्व आदिकी समाप्तिरूप संवर तपश्चरणादिके द्वारा वर्तमान बन्धनको ढीला करनेरूप निर्जरा और उक्त कर्म नोकर्मरूप पुद्गलके साथ सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद करलेने रूप मुक्ति ये सात तत्त्व हमारे निष्कर्षमें आवेंगे।

भौतिक दृष्टिसे वस्तुतत्त्व द्रव्यरूपमें ग्रहीत होता है और आध्यात्मिक दृष्टिसे वह तत्त्वरूपमें ग्रहीत होता है। इसका कारण यह है कि भौतिक दृष्टि वस्तुके अस्तित्व, स्वरूप और भेदाभेदके कथनसे सम्बन्ध रखती है और आध्यात्मिक दृष्टि आत्माके पतन और उसके कारणोंका प्रतिपादन करते हुए उसके उत्थान और उत्थानके कारणोंका ही प्रतिपादन करती है। तात्पर्य यह है कि जब हम

---

१. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः, द्रव्याणि, जीवाश्च, कालश्च। (तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र नंबर क्रमशः १, २ ३ ३९।

२. जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।
(तत्वार्थसूत्रअध्याय १, सूत्र ४)

वस्तुके अस्तित्वकी ओर दृष्टि डालते हैं तो उसका वह अस्तित्व किसी न किसी आकृतिके रूपमें ही हमें देखनेको मिलता है। जैन संस्कृतिमें वस्तुकी यह आकृति ही द्रव्य-पद-वाच्य है इस तरहसे विश्वमें जितनी अलग अलग आकृतियां हैं उतने ही द्रव्य समझना चाहिये, जैन संस्कृतिके अनुसार विश्वमें अनन्तानन्त आकृतियां विद्यमान हैं अत द्रव्य भी अनन्तानन्त ही सिद्ध हो जाते हैं परन्तु इन सभी द्रव्योंको अपनी अपनी प्रकृतियों अर्थात् गुणों और परिणमनों अर्थात् पर्यायोंकी समानता और विषमताके आधार पर छह वर्गोंमें संकलित कर दिया गया है अर्थात् चेतनागुणविशिष्ट अनन्तानन्त आकृतियांको जीवनामक वर्गमें, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण विशिष्ट अणु और स्कन्धके भेदरूप अनन्तानन्त आकृतियोंको पुद्गल-नामक वर्गमें, वर्तना लक्षण विशिष्ट असंख्यात आकृतियोंको काल-नामक वर्गमें, जीवों और पुद्गलोंकी क्रियामें सहायक होने वाली एक आकृतिको धर्म नामक वर्गमें, उन्हीं जीवों और पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक होने वाली एक आकृति को अधर्म-नामक वर्गमें तथा समस्त द्रव्योंके अवगाहनमें सहायक होने वाली एक आकृति को आकाश-नामक वर्गमें संकलित किया गया है। यही सबब है कि द्रव्योंकी संख्या जैन संस्कृतिमें छह ही निर्धारित करदी गई है।

इसी प्रकार आत्मकल्याणके लिये हमें उन्हीं बातों की ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता है जो कि इसमें प्रयोजनभूत हो सकती हैं। जैन संस्कृतिमें इसी प्रयोजनभूत बातको ही तत्त्व नामसे पुकारा गया है, ये तत्त्व भी पूर्वोक्त प्रकारसे सात ही होते हैं।

इस कथनसे एक निष्कर्ष यह भी निकल आता है कि जो लोग आत्मतत्त्वके विवेचन को अध्यात्मवाद और आत्मासे भिन्न दूसरे अन्य तत्त्वोंके विवेचन को भौतिकवाद मान लेते हैं उनकी यह मान्यता गलत है क्योंकि उक्त प्रकारसे, जहां पर आत्माके केवल अस्तित्व, स्वरूप या भेद प्रभेदोंका ही विवेचन किया जाता है वहां पर उसे भी भौतिकवादमें ही गर्भित करना चाहिये और जहां पर अनात्मतत्त्वोंका भी विवेचन आत्मकल्याणकी दृष्टिसे किया जाता है वहां पर उसे भी अध्यात्मवादकी कोटिमें ही समझना चाहिये। यह बात तो हम पहिले ही लिख आये हैं कि जैन संस्कृतिमें अध्यात्मवाद को करणानुयोग और भौतिकवादको द्रव्यानुयोग नामोंसे पुकारा गया है।

इस प्रकार समूचा तत्त्वार्थसूत्र आध्यात्मिक दृष्टिसे लिखा जानेके कारण आध्यात्मिक या करणानुयोगका ग्रन्थ होते हुए भी उसके भिन्न भिन्न अध्याय या प्रकरण भौतिक अर्थात् द्रव्यानुयोग और चारित्रिक अर्थात् चरणानुयोगकी छाप अपने ऊपर लगाये हुए हैं, जैसे पांचवे अध्याय पर द्रव्यानुयोगकी और सातवें तथा नवम अध्यायों पर चरणानुयोग की छाप लगी हुई है।

तत्त्वार्थसूत्रके प्रतिपाद्य विषय

"तत्त्वार्थ सूत्रमें जिन महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है वे निम्नलिखित हो सकते हैं—

'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा इनकी मोक्ष मार्गता, तत्त्वोंका स्वरूप, वे जीवादि सात ही क्यों? प्रमाण और नय तथा इनके भेद, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, जीवकी स्वाधीन और पराधीन अवस्थायें, विश्वके समस्त पदार्थोंका छह द्रव्योंमें समावेश, द्रव्योंकी संख्या छह ही क्यों. प्रत्येक द्रव्यका वैज्ञानिक स्वरूप, धर्म और अधर्म द्रव्योंकी मान्यता, धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य एक एक क्यों? तथा लोकाशके बराबर इनका विस्तार क्यों? आकाश द्रव्यका एकत्व और व्यापकत्व, काल द्रव्य की अणुरूपता और नानारूपता, जीवकी पराधीन और स्वाधीन अवस्थाओंके कारण, कर्म और नोकर्म, मोक्ष आदि।'

इन सब विषयों पर यदि इस लेखमें प्रकाश डाला जाय तो यह लेख एक महान ग्रन्थका आकार धारण कर लेगा और तब वह ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रके महत्त्वका प्रतिपादक न होकर जैन संस्कृतिके ही महत्त्वका प्रतिपादक हो जायगा, इसलिए तत्त्वार्थसूत्रमें निर्दिष्ट उक्त विषयों तथा साधारण दूसरे विषयों पर इस लेखमें प्रकाश नहीं डालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस सूत्र ग्रन्थमें सम्पूर्ण जैन संस्कृतिको सूत्रोंके रूपमे बहुत ही व्यवस्थित ढंगसे गूंथ दिया गया है। सूत्र ग्रन्थ लिखनेका काम बड़ा ही कठिन है, क्योंकि उसमें एक तो संक्षेपसे सभी विषयोंका व्यवस्थित ढंगसे समावेश हो जाना चाहिए, दूसरे उसमें पुनरुक्तिका छोटेसे छोटा दोष नहीं होना चाहिये। ग्रन्थकार तत्त्वार्थसूत्र

को इसी ढंगसे लिखनेमें सफल हुए हैं, यह बात निर्विवाद कही जा सकती है।

उपसंहार

बड़े बड़े विद्वानोंके सामने विश्व स्वयं एक पहेली बन कर खड़ा हुआ है। संसारकी दुःखपूर्ण अजीब अजीब घटनाओंसे उद्विग्न आत्मोन्निच्छु लोगोंके सामने आत्मकल्याणकी भी एक समस्या है। इसके अतिरिक्त मानवमात्रकी जीवन-समस्या तो, जिसका हल होना पहले और अत्यन्त आवश्यक है, बड़ा विकराल रूप धारण किये हुए है। इन सब समस्याओंको सुलझानेमें जैन संस्कृति पूर्णरूपसे सक्षम है। तत्वार्थसूत्र-जैसे महान ग्रन्थोंका बोध सौभाग्यसे हमें मिला हुआ है और इन ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी हम लोग सतत किया करते हैं; परन्तु हमारी ज्ञानवृद्धि और हमारा जीवनविकास नहीं हो रहा है यह बात हमारे लिये गम्भीरता-पूर्वक सोचनेकी है। यदि हमारे विद्वानोंका ध्यान इस ओर जावे तो इन सब समस्याओंका हल हो जाना असम्भव बात नहीं है

संयम धर्म

(श्री राजकृष्ण जैन)

दश धर्मोंमें संयमका छठा स्थान है। इसलिए जब मनुष्य उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच और सत्य गुणों से विभूषित होता है, तब वह ठीक अर्थमें संयम ग्रहण करनेका पात्र होता है। सं-सम्यक् प्रकारसे यम (जीवन पर्यंत चारित्र) ग्रहण करनेको संयम कहते हैं। इससे कोरे द्रव्य-चारित्रका निराकरण हो जाता है।

पूज्यपादाचार्यने 'समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणेन्द्रिय परिहारः' यह संयमका लक्षण बतलाया है। यही बात पद्मनन्दि आचार्यके निम्न श्लोकसे विदित है:—

जन्तु-कृपार्दित-मनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य।
प्राणेन्द्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः॥

इसमें पूर्ण हिंसाका त्याग है, क्योंकि पूर्ण दयालुता वीतराग दशामें ७ वें अप्रमत्त गुणस्थानमें ही होती है। किन्तु जब सम्पूर्ण वीतरागता न हो तब रागकी वृत्तिके लिए पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि कषायोंका निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच इन्द्रियोंके विषयोंको जीतना संयम है। यह दो प्रकारका है प्राणसंयम और इन्द्रिय संयम। साधु (मुनि) दोनों प्रकारके संयमको पूर्ण पालता है, वह अपने आचरणमें प्रयत्न करता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय जैसे स्थावर जीवोंकी भी रक्षा हो। गृहस्थ, प्राण संयममें, त्रस जीवोंके विघातको त्यागता है और स्थावर जीवोंकी भी यथासाध्य रक्षा करता है। गृहस्थके लिये देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय संयम, तप और दान ये छः आवश्यक बतलाये है, इनमें संयमको इसलिए गर्भित किया गया है कि संयम अर्थात् इन्द्रियनिग्रहके बिना उसका जीवन व्यवस्थित या Controlled life नहीं होती। यहींसे वह अपने सम्यक् श्रद्धा और ज्ञानको आचरणके रूपमें उपयोग करता है और यहींसे वह दशा प्रारम्भ होती है जो संसारकी निवृत्ति अर्थात् मोक्षके लिए आवश्यक है।

तत्वार्थसूत्रमें 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं' यह हिंसाका लक्षण बतलाया है। जब मनुष्य पांच इन्द्रिय, चार कषाय चार विकथा, राग-द्वेष और निद्रा, १५ प्रकारके प्रमाद इन पर नियंत्रण करके प्रवृत्ति करता है, तब वह हिंसाका त्यागी होता है। प्रमादकी उपस्थितिमें सर्वप्रथम भावहिंसाके द्वारा अपने आत्मपरिणामोंकी घात करता है और अपने समत्व (Equilibrium) को खो बैठता है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि अन्य प्राणी मरे या जीवें, वह हिंसक कहलावेगा। पुरुषार्थसिद्ध्युपायके निम्न दो श्लोक इस विषयमें बड़े महत्वके हैं:—

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।
म्रियतां जीवो मारवा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥
यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानं।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणांतु॥

हिंसक और अहिंसककी व्याख्या निम्न उदाहरणसे स्पष्ट हो जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि आरम्भ-

की भावनासे दिया गया विष भी किसी मनुष्यको अमृतका काम करता है और डाक्टर किसी मनुष्यकी जान बचानेके लिये आपरेशन करता है और मनुष्य मर जाता है। चाहे मृत्यु हो या न हो मारनेकी भावनासे विष देने वाला हिंसक है और आपरेशन करनेवाला डाक्टर अहिंसक। मन, त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कान इन पर कंट्रोल करना यही इन्द्रिय-संयम है। कौन नहीं जानता कि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए सुख सुखाभास है, विनाशक है और कर्मोंके आधीन है। स्पर्शन इन्द्रियका विषय कामांध हाथीको फंसा देता है, जिह्वा इन्द्रियके कारण मछली कांटे में फंसकर अपने प्राण गँवा देती है। नासिका इन्द्रियके कारण कमलके परागमें उसकी सुगन्ध सूँघते सूँघता भंवरा अपनी जान देता है। नेत्र इन्द्रियके वशीभूत होकर पतंग दीपक या बिजलीकी लौमें स्वाहा हो जाता है। कर्णेन्द्रिय के वशीभूत चपल मृग भी राग सुननेके कारण शिकारीके द्वारा दारुण कष्टको भोगता है। जब एक एक इन्द्रियके विषयके कारण जीव नानाप्रकारके दुःखोंको भोगता है तो मनुष्य पांचों इन्द्रियके विषयमें फंसकर क्या क्या कष्ट सहन नहीं करता? इन्द्रियोंकी इस अनर्गल प्रवृत्तिको रोकना ही संयम है। गृहस्थके लिए भी यथासाध्य समितियोंका पालन नित्यके व्यवहारके लिए आवश्यक है। गमनकी शुद्धता ईर्या समिति है, वचनकी शुद्धता भाषासमिति है, भोजनकी शुद्धता एषणासमिति है, देखकर उठावे और धरनेकी शुद्धता आदान-निक्षेपणासमिति है, स्वच्छ निर्जन्तु स्थान पर मलमूत्र विसर्जन करना प्रतिष्ठापनासमिति है।

संयमकी महत्ता पर श्रीपद्मनन्दिआचार्यका निम्न श्लोक महत्वपूर्ण है—

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयः,
तेष्वेवाप्तवचः श्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनाज्झिते,
स्वर्मोक्षैकफलप्रदः स च कथं न श्लाघ्यते संयमः॥

इसमें बतलाया है कि संसाररूपी गहन वनमें भ्रमण करते हुए जीवको मनुष्यजन्म महादुर्लभ है। मनुष्य पर्यायमें भी उत्तम जातिका मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति भी मिले तो भगवानके वचन सुननेका सुयोग दुर्लभ है। यदि भगवद्-वचन भी सुना तो उन वचनोंमें श्रद्धा लाना और ज्ञानसे उसका निर्णय करना कठिन है। यदि ये सब बातें हों तो भी संयमके बिना न स्वर्ग मिल सकता है और न मोक्ष। यह जानकर मनुष्यको यथाशक्ति संयम अवश्य धारण करना चाहिए।

आकिंचन्य धर्म

(परमानन्द शास्त्री)

ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित्।
अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिंचन्यमुच्यते॥

संसारमें ऐहिक पदार्थोंमें और अपने शरीरादिकमें भी ममताका अभाव होना आकिंचन्य है। अकिंचन्यका अर्थ होता है नग्नता। केवल बाह्य नग्नता आकिंचन्य नहीं है, किन्तु अंतर्बाह्य परिग्रहसे ममत्वका अभाव होना आकिंचन्य है। लोकमें जिसके पास कुछ भी नहीं है, जिसका तन नंगा है और मन भी नंगा है, जिसे अपने शरीरका भी लेशमात्र मोह नहीं है, वही वास्तवमें अकिंचन है। केवल निर्धन होना अकिंचन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि धनाभाव, धनागमकी आकांक्षारूप भावनासे ओत प्रोत है, यदि उसमें से धनकी ममताका सर्वथा अभाव हो जाता है तब उसे भी आकिंचन्य धर्मका धारी माना जा सकता है अन्यथा नहीं। आकिंचन्य धर्मका धारी धनी, निर्धनी, दुखी, सुखी आदि सभी व्यक्तियों पर समानभाव रहता है। वह लोकमें किसीको भी दुःखी नहीं देखना चाहता

आज लोकमें परिग्रहकी आसक्ति, अर्थसंचयकी लोलुपता और विविध भोगोंके भोगनेकी लालसाने मानव-जीवनके नैतिक स्तरको भी नीचे गिरा दिया है। परिग्रहकी अनन्ततृष्णा मानवताके रहस्यको खोखला कर रही है। लोग परिग्रहको ही आज सब कुछ अपना माने बैठे

है। उसीकी भीड़में अपनेको सुखी अनुभव करते हैं। उसके संचयसे ही अपनी मान प्रतिष्ठाको ऊंचा उठा हुआ समझ रहे हैं। जो जितना अधिक परिग्रही है वह लोकमें उतना ही अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है और पैसेके कारण लोग उसकी इज्जत करते हैं। मानो धनागम उसकी मानप्रतिष्ठाका आज केन्द्रसा बना हुआ है।

जो निर्धन है, गरीब है, बेचारा खानेके लिये मुंहताज रहता है, तन ढकनेको भी जिसके पास वस्त्र नहीं है, भरपेट अन्नका भी प्रबन्ध नहीं है, मांगकर उदरपूर्ति करना जिसे संतापका कारण है, जो मांगकर खानेसे भूखों मर जाना कहीं अच्छा समझ रहा है, ऐसे व्यक्तिका लोकमें कोई आदर नहीं है। जिसे संसारका वैभव दुःखद प्रतीत होता है, जो घास फूसकी एक छोटीसी झोपड़ीमें सुखपूर्वक रह रहा है, पर दरिद्रता उसके लिये अभिशाप बन रही है जो अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल भोगता हुआ भी कभी दिलगीर नहीं होता, मानवताका उभार जिसके रोम रोममें भिद रहा है, जो अपनेसे भी असहाय एवं दुःखी प्राणियोंके दुःखमें सहानुभूति रखता है, उन्हें सान्त्वना और बल प्रदान करता हैं-भले ही वह निर्धन हो, बड़े बड़े महलोंमें न रहकर फूसकी झोपड़ीमें रहता हो, तो भी लोकमें बड़ा होनेके योग्य है। क्योंकि उसकी आत्मा निर्मल है, विचारोंमें उच्चता है वह कर्तव्य पथ पर आरूढ है, इसीसे वास्तवमें वह मानव है।

इस आकिंचन्य धर्मके दो अधिकारी होते हैं, एक परिग्रहकी भीड़में रहने वाला विवेकी गृहस्थ, और दूसरा आत्मसाधना करने वाला तपस्वी साधु।

जो गृहस्थ सांसारिक कार्योंमें लग रहा है, न्याय और नीतिसे धनार्जन करता हुआ मानवताके नैतिक स्तरसे नहीं गिरा है, जो सदा इस बातका ध्यान रखता है कि मैं मानव हूँ और दूसरे भी लोकमें मानव हैं वे भी मेरे ही समान हैं, मुझे उनके प्रति घृणा अथवा तिरस्कारकी दृष्टि रखना अयुक्त है। हाँ, यदि उनमें कुछ कमी है अथवा पुरुषार्थकी कमजोरी है, तो वे उसे दूर करनेका यत्न करें। परन्तु धनादिकके मदमें अपनेको न भुलावें, विवेकसे काम लें। विवेक ही मानव जीवनको ऊँचा उठाने वाला है, साहस और धैर्य उसके सहायक हैं। वह सद्दृष्टि है—वस्तुतत्त्वमें अडोल श्रद्धा रखता है, हृदयमें कोमलता और सरलता है, वही सच्चा मानव है जो परिग्रह संचयमें लालसा नहीं रखता, और न बढ़ा चढ़ा प्रवृत्तिसे उसे बढ़ाना ही चाहता है। जिसे भोगोंकी अनुरक्तिमें चिन्ता नहीं होती, और न दूसरेकी वृद्धिमें डाह ही होती है। जिसकी परमें आत्मकल्पनाका अभाव है वह सदा संतोषी और अपने दयालु स्वभावसे अहंकारकी उस चट्टानसे कभी नहीं टकराता जो मानव जीवनके पतनमें कारण है। जिसकी धनादि वैभवमें ममता नहीं उसे अपना नहीं मानता, किन्तु कर्मोदयका फल समझकर उसमें हर्ष और विषाद नहीं करता, साता परिणतिमें सुखी और असातामें दुःखी अथवा दिलगीर नहीं होता किन्तु विवेकी और माध्यस्थ भावनामें तत्पर रहता है। वह आकिंचन्य धर्मका एक देश अधिकारी है।

जो साधु है आत्म-साधनाके दुर्गम मार्गमें विचरण कर रहा है, जिसने साधुवृत्ति अंगीकार करनेसे पहले ही संसारके वैभवसे होने वाली विषमताका मनन किया है और अपने विवेक बलसे उसमें होने वाली आंतरिक ममता अथवा मोहका सर्वथा त्याग किया है। जिसने भोगोंको निस्सार समझ कर छोड़ा है और अपने स्वरूपमें निष्ठ होनेका प्रयत्न किया है। जो बाहर भीतर एक सा नग्न है, जिसके पास संयम और ज्ञानार्जनके उपकरणके सिवाय कोई अन्य परमाणुमात्र भी पदार्थ नहीं है, जो परमाणुमात्रको भी अपना नहीं मानता वह वास्तवमें साधु है और आकिंचन्य धर्मका सर्वथा अधिकारी है।

क्योंकि पर पदार्थकी आकांक्षा ही राग है, परिग्रह है। जहाँ पदार्थका संग्रह नहीं है और न लाखों करोड़ोंकी सम्पदा ही हैं किन्तु एक ममता है, उनमें अपनेपनकी भावना है, वहाँ आकिंचन्यधर्मका अभाव है। इससे स्पष्ट हो जाता ह कि पर पदार्थ चाहे रहे या न रहे उसमें ममता अथवा रागका अभाव हुए बिना आकिंचन्यका सद्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें निस्पृहता जो नहीं है। अतएव जो साधु रत्नत्रयका साधन करता है, देह भोगोंसे सर्वथा निस्पृह है, संयम और ज्ञानके उपकरण पीछी, कमण्डलु, शास्त्रादिमें भी ममता नहीं है-जो आत्म स्वातन्त्र्यका अभिलाषी है—कर्मबन्धनके छुड़ानेमें उत्सुक है, वास्तवमें वही आकिंचन्य धर्मका स्वामी है।

उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रहचिंता दुखही मानो
फाँस तनिकसी तनमें सालै, चाह लंगोटीकी दुख भालै।

आकिंचन्य आत्माका धर्म है, गुण है, उसकी सबसे बड़ी महत्ता दुःखका अभाव है। दुःखसे छूटनेके लिये हमें उस आकिंचन्य धर्मकी शरणमें जाना पड़ता है। बिना उसकी शरण लिये वास्तविक सुख मिलना नितान्त कठिन है क्योंकि जिस तरह शरीरमें जरासी फांस लग जाती है तो वह बड़ा दुःख देती है, मनुष्य उससे बेचैन हो जाता है। उसी तरह धन, सम्पदा, महल, और विविध भोगोंके संग्रहकी बात जाने दीजिये यदि एक लंगोटीकी चाह है, जब तक वह नहीं मिल जाती है तब तक तद्विषयक आकुलता बनी ही रहती है। उसकी चाहमें वह मानव अनन्त दुःखोंका पात्र होता है। तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो लंगोटी कोई महत्वपूर्ण पदार्थ नहीं है और न वह किसीको दुख ही करती है। वह सुखःदुखकी जनक भी नहीं है। किन्तु उस लंगोटीमें जो ममता है, राग है, वह राग ही जीवको बेचैन कर रहा है दुखी और संसारी बनाये हुए है। अतः उससे छूटनेके लिये उस लंगोटीसे भी मोह छोड़ना पड़ता है, बिना लंगोटीसे मोह छोड़े वास्तविक समता नहीं आ सकती। लंगोटी छोड़ कर साधु बन जाने पर भी यदि उससे ममता नहीं छूटती है तो वह नग्नता भी अर्थसाधक नहीं हो सकती। अतः लंगोटीसे भी ममता छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है और समतारससे सराबोर उस मुनिमुद्राको धारण करना आवश्यक है जिसमें आशा, तृष्णाको कोई स्थान ही नहीं है। किसी कविने ठीक कहा है—

भाले न समता-सुख कभी नर, विना मुनिमुद्रा धरे।
धन नगन पर तन नगन ठाड़े, सुर असुर पायनि परे॥

अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम वस्तुतत्त्वका यथार्थ स्वरूप समझनेका प्रयत्न करें और अपने आत्मकर्त्तव्यको न भूलें, सजग और विवेकी बने रहें, घरमें रहते हुए घर-के कामसे उन्मुक्त रहनेका यत्न करें, सांसारिक भोगोंकी अभिलाषाको कम करें। और इस लालसाका भी परित्याग करें कि बहुत धन संचय करके हम उसे परोपकारमें लगा देंगे। ऐसा करनेसे आत्मा अपने कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है और उससे वह अपने तथा परके उपकारसे भी वंचित रह जाता है। क्योंकि लोभसे लोभकी वृद्धि होती है। अन्ततोगत्वा आत्मा अपार तृष्णाकी कीचड़में फँस जाता है। दूसरे, धनसंचयसे अपना और दूसरेका उपकार हो ही नहीं सकता। उपकार अपकार तो अपनी भावना और कर्त्तव्यसे हो सकता है। अतः पहले सद्दृष्टि बन कर एक देश आकिंचन्य धर्मका अधिकारी बनना चाहिये। और घरमें रहते हुए तृष्णाको घटाने तथा देह-भोगोंसे अरुचि बढ़ानेका यत्न करना ही श्रेयस्कर है।

ब्रह्मचर्य पर श्रीकानजी स्वामीके कुछ विचार

"ब्रह्मका अर्थ है आत्माका स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और परके संगसे रहित आत्मस्वभाव कैसा है—वह जाने बिना उत्तम ब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिक ब्रह्मचर्य शुभ राग है, धर्म नहीं है और उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है राग नहीं है। शुद्धआत्मस्वभावकी रुचिके बिना विषयोंकी रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा मेरे ही स्वभावमेंसे प्रगट होती हैं, उसके प्रगट होनेमें मुझे किसीकी अपेक्षा नहीं है—ऐसी परसे भिन्न स्वभावकी दृष्टि हुए बिना विषयोंकी रुचि नहीं छूटती। बाह्यमें विषयोंका त्याग करदे, किन्तु अंतरंगसे विषयोंकी रुचि दूर न करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। स्त्री, घरबार छोड़ कर त्यागी हो जावे, अशुभ भाव छोड़ कर शुभ करे, किन्तु उस शुभ भावमें जिसे रुचि एवं धर्म-बुद्धि है उसके वास्तवमें विषयोंकी रुचि दूर नहीं हुई। शुभ अथवा अशुभ विकार परिणामों में एकता बुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है, और विकार-रहित शुद्धआत्मामें परि-णामकी एकता ही ब्रह्म परिणति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्य धर्म है।"

"आत्म स्वभावकी प्रतीतिके बिना स्त्रीको छोड़ कर यदि ब्रह्मचर्य पाले तो वह पुण्यका कारण है, किन्तु, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, और उससे कल्याण नहीं होता। विषयोंमें सुखबुद्धि अथवा निमित्तकी अपेक्षाका उत्साह संसारका कारण है। यहाँ पर जिस प्रकार पुरुषके लिए स्त्रीको संसारका कारण रूप कहा है, उसी प्रकार स्त्रियोंको भी पुरुषकी रुचि सो संसारका कारण है।"

आत्मा, चेतना या जीवन

(ले० अनन्तप्रसादजी B. Sc. Eng. 'लोकपाल')

(गत करणसे आगे)

कुछ पश्चिमीय विद्वान यह मानते हैं कि मानव या जीवधारियोंकी चेतना और जीवनीका आधार 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नहीं है, ये तो यों ही स्वाभाविक रूपसे जन्म लेते और मर जाते हैं। मरने पर कुछ नहीं रहता सब कुछ खतम हो जाता है। जैसा प्राचीनकालमें चार्वाक ने भी कहा था। कुछ लोग कुछ खास तौरका Spirit मानते हैं। कुछ ईश्वरकी सृष्टिमें विश्वास करते हैं कि ईश्वर ऐसा बनाता बिगाड़ता है इत्यादि। इस विषय पर बड़े प्राचीनकालसे वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन होते चले आ रहे हैं जो हर धर्मोंके शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं, मुझे उनको यहाँ दुहराना नहीं है।

चेतनामय वस्तुओं (जीवधारियों) का जन्म एक खास प्रकारसे ही होता है। प्रायः नर-मादाके संयोगसे बीज होकर जन्म होता है और जिसका बीज होता है उसी रूपाकारमें उस बीजसे जन्म लेने वालेका रूपाकार होता है। कुछ समय तक जीवन रहनेके बाद जीवन जब लुप्त हो जाता है तब केवल बाह्य शरीर मात्र ज्यों का त्यों रह जाता है। यह बात सभी जीवधारियोंके साथ है चाहे वे मानव हों, पशु पक्षी हों, मगरमच्छ हों, कीट पतंगे हों या पेड़ पौधे हों। ऐसी बात निर्जीव वस्तुओंमें नहीं पाई जाती। इससे भी सिद्ध होता है कि निर्जीव वस्तुओंकी तुलनामें और सजीवोंमें कोई खास 'विशेषता' है।

कुछ पश्चिमीय विद्वानोंने कहा है कि सजीवता या सचेतनता केवल मस्तिष्कके कारण है। पर ऐसे भी जीव हैं जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। जैसे—मिट्टीके बर्साती कीड़े (केंचुआ Earth wo ms) फिर भी उनमें जीवन होता है और थोड़ी चेतना भी होती है। चेतनाका प्रधान लक्षण पीड़ाका अनुभव कहा जा सकता है। जब इन बर्साती रेंगने वाले लम्बे पतले कीड़ों केंचुओंको किसी चीजसे खोदा या बेधा जाता है तो उन्हें पीड़ा होती है जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

सांसारिक दृष्टिसे जैन दर्शनकी सबसे बड़ी कमजोरी वहाँ होती है जहाँ वह आत्माकी कोई रूपरेखा निर्धारित न करके अरूपी और पुद्गल-रहित (Matterless) बतलाता है। बौद्धोंने इसीलिये 'शून्य' कह दिया है। ऐसी बातों या विचारोंकी धारणा बनाना मनुष्यके लिए कठिन हो जाता है—और यहीं से शङ्का, विरोध, असान्यता वगैरह उत्पन्न होती और बढ़ती हैं। पर सचमुच तर्क-द्वारा आत्माका गुणके अनुरूप कोई पुद्गल रूपी शरीर सम्भव ही नहीं होता। कुछ लोगोंने आत्माके रूप और आकारको निर्धारित करनेकी चेष्टा की है पर तर्कसे उनका पूर्णरूपेण खण्डन हो जाता है। माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न 'बीज' तो बड़ा छोटा या सूक्ष्म होता है, वही बढ़ते बढ़ते मानवाकृति हो जाता है। आत्मा आरम्भसे ही बीजमें रहता है। वीर्य और रजका संयोग होकर जो 'बीजाणु' (Spermetazoon) बनता है उसीमें आत्मा या जीवका संचार होता है। जीवका संचार होनेके बाद ही उस 'बीजाणु' की वृद्धि होना आरम्भ होती है अन्यथा जो 'बीजाणु' सजीव नहीं हो पाते वे नष्ट हो जाते हैं। सजीव 'बीजाणु' भी मृत्युको प्राप्त होते हैं पर दोनोंमें भेद है। जैन दर्शनने आत्माको आकाशके समान अरूपी मानते हुए उसे उसी आकारका होना स्वीकार किया है जिस आकारके शरीरमें वह हो। शरीरकी वृद्धिके साथ उस आकार या फैलावकी भी वृद्धि स्वयं होती जाती है। केंचुवेके मस्तिष्क नहीं होता पर यदि उसके शरीरके किसी भागमें भी छेदन भेदन हो तो उसका सारा का सारा शरीर पीड़ासे ऐंठने लगता है स्पर्श-चेतना उसके सारे शरीरमें है। आत्मा यदि एक जगह रहता तो यह चेतना सारे शरीरमें नहीं होती। आत्मा सारे शरीरमें व्यापक है और चेतना भी सारे शरीरमें है, किसी एक जगह सीमित नहीं। इस विषयकी जैन शास्त्रोंमें विशद् विवेचनात्मक समीक्षाएँ मिलेंगी।

आत्मा सांसारिक अवस्था में पुद्गल matter) या जड़वस्तु के साथ ही संयुक्त रूपसे पाया जाता है और तब तक उसका साथ रहता है जब तक आत्मा

पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके पुद्गल या जड़ शरीरसे एकदम छुटकारा या मुक्ति (मोक्ष) न पा जाय। एक बार परमविशुद्ध रूप प्राप्त कर लेने पर आत्मा का सम्बन्ध या साथ पुनः जड़के साथ नहीं हो सकता। अज्ञान जड़ताके कारण है और जड़का संयोग अज्ञानके कारण है। ज्ञानकी वृद्धि पुद्गलके बन्धन या चापको ढीला बनाती है। ज्ञानकी कमी या अज्ञानकी वृद्धि जड़ताको दृढ़ करती है या पुद्गलके संयोगको अधिक सुदृढ बनाती है। ज्ञान आत्माका अपना गुण है। जब आत्मा पूर्णपने अपने गुण को विकसित कर लेता है तो उसका सम्बन्ध पुद्गलसे अपने आप छूट जाता है। पर जब तक यह पूर्णता नहीं होती आत्मा तो किसी न किसी शरीरके साथ ही रह सकता है—तब तक बगैर शरीरके अकेला हो ही नहीं सकता। मन और बुद्धि-युक्त मानव शरीरके द्वारा ही आत्माका पूर्ण ज्ञान विकसित हो सकता है, अन्यथा तो यह सम्भव ही नहीं है। इसीलिए मानव जन्मकी इतनी बड़ी महत्ता मानी गई है। इस शरीरके भी कई भाग हैं जिनमें कार्माण शरीर और तैजस शरीर तो सर्वदा आत्मा के साथ रहते हैं और हाड़मांसमय दृश्य औदारिक शरीर मृत्युके बाद यहीं रह जाता है, जबकि कार्माण और तैजस शरीर मृत्युके बाद आत्माके साथ साथ दूसरे शरीरोंमें आत्माको ले जाते हैं। यह कर्माण शरीर ही किसी भी जीवधारीके जन्म, जीवन और मरणका आधार या कारण है। दश प्राणों के द्वारा यह शरीरमें स्थिर रहता है। जब इन प्राणोंका घात या क्षय होता है तो कर्माण शरीर आत्मा के साथ निकल जाता है, जिसे मृत्यु कहा जाता है।

बाहरी शरीरमें भी और कार्माण शरीरमें भी सर्वदा परिवर्तन हुआ करता है। यह परिवर्तन ही जीवनको चालू रखता है या यों भी कह सकते हैं कि जीवन जब तक रहता है परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन होते रहना ही जीवन है। जबतक बाहरी शरीर और कार्माण शरीरों का परिवर्तन सह-समान एक दूसरेके अनुकूल और साथ साथ होता है जीवन रहता है। जब दोनोंमें भेद होता है तो बीमारी और मृत्यु हो जाती है। हमारे कर्मों और भावनाओंके अनुसार ही हमारे कार्माण शरीरमें तबदीलियाँ होती रहती हैं। कर्माण शरीर ही हमारे कर्मोंको कराने और भाग्यको निश्चित करने वाला है। हम पाते हैं कि हर पशु पक्षी, कीड़ा मकोड़ा जन्म होनेके बाद ही अपनी जातिकी विशेषताके अनुसार बिना सिखलाए अपने आप अपने कर्म करने लगता है। यह बात केवल कार्माण शरीरकी अवस्थिति-द्वारा ही सम्भव है। इस विषयकी विशद व्याख्या जैन शास्त्रोंमें मिलेगी। जीवधारियोंके अपने आप अपना कर्म करनेकी विचित्रताको समझानेके लिए औरोंने भी अपने सुझाव दिए हैं—पर वे जरा भी सन्तोषजनक नहीं। आत्मासे युक्त कार्माण शरीर—जैसा जैन शास्त्रोंमें प्रतिपादित है वैसा ही स्वीकार करनेसे इस समस्याका समाधान ठीक ठीक होता है।

इस विषयमें मैं एक लेख अनेकान्तके गत अंकमें "कर्मोंका रसायनिक सम्मिश्रण" शीर्षकसे, लिख चुका हूँ। मेरे "जीवन और विश्वके परिवर्तनोंका रहस्य" तथा "शरीरका रूप और कर्म" नामक दो लेखोंमें भी इन विषयों पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है—उन्हें पढ़नेसे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और काफी जानकारी प्राप्त हो सकती है।

आत्माकी चेतना रहनेके ही कारण जीवनी शक्ति भी रहती है और जीवनी शक्ति द्वारा शरीरके आधारसे ही कर्म होते हैं और फलस्वरूप दुख सुख इत्यादि भी चेतना द्वारा ही अनुभूत किये जाते हैं इसीलिए आत्माको कर्ता और भोक्ता भी कहा गया है। शरीर को तो कर्मोंका आधार माना है। अनुभूति या अनुभव करने वाला तो आत्मा है। मन मस्तिष्क और हृदय इत्यादि भी शरीरके ही भाग हैं और पुद्गलकृत (Made of Matter) हैं तथा अनुभूतियोंको अधिक साफ और उनका विधिवत् ब्योरेवार विशेष ज्ञान करानेमें सहायक कारण है। ये मस्तिष्क वगैरह भी आत्मा या आत्माकी चेतनाकी मौजूदगीमें ही कार्यशील रहते हैं—अन्यथा नहीं। बीजाणु (Spermetazoon) में पहले जीव (आत्मा) का आगमन होता है फिर धीरे २ शरीर, मस्तिष्क, मन इत्यादिका निर्माण होता है। इससे यह निश्चित है कि जीवधारीकी चेतना या ज्ञानके मूल कारण या स्रोत मस्तिष्क, मन इत्यादि नहीं हैं—ये केवल आधार या सहायक मात्र हैं। बहुतसे जीवोंको मन और मस्तिष्क इत्यादि होते ही नहीं, फिर भी उनमें जीवन और चेतना रहती है। जीवन और चेतना आत्माके ही लक्षण हैं और हो सकते हैं।

आत्माका होना केवल तर्क-द्वारा ही सिद्ध होता है, क्योंकि इसे हम देख नहीं सकते न इन्द्रियों द्वारा अनुभव

ही कर सकते हैं। आत्माको केवल आत्मा-द्वारा ही अनुभूत किया जा सकता है। प्रारम्भमें मनकी एकाग्रता इसमें सहायक होती है। मनको आत्माके शुद्ध निर्मल स्वरूपके ध्यानमें लगानेसे साधना और ध्यानकी शुद्धताके अनुसार धीरे धीरे ध्यान स्वयं अधिकाधिक गंभीर और शुद्ध होता जाता है। शास्त्रोंके मननसे ज्ञानकी वृद्धि और शुद्धि होती है। इन दोनोंकी मददसे स्वयं तर्क और बुद्धिका उपयोग करके आत्माके शरीरस्थित स्वरूपकी धारणा और उसके गुणोंका विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। यही ज्ञान और धारणा सुदृढ हो जाने पर ध्यानकी गहराई स्वयं आत्माको आत्मामें लीन करने लगती है और तब कभी न कभी स्वयं आत्मप्रकाश उदय हो जाता है। यही वह अवस्था है जहाँ पूर्णज्ञानकी उपलब्धि होकर आत्मा निराबाध, निर्विकल्प निर्द्वन्द, निर्बन्ध हो जाता है और तब पुद्गलसे छूटकर अपनी परमशुद्ध पूर्णज्ञानमय अवस्थामें स्थिर हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष ज्ञानकी वृद्धि द्वारा ही संभव है। ज्ञान भी शुद्ध, ठीक, सही ज्ञान होना चाहिए। गलत ज्ञानकी वृद्धिसे मोक्ष नहीं हो सकता है उलटा जड़-पुद्गल (Matter) का सम्बन्ध या बन्धन और अधिक कड़ा होगा। आत्माको पुद्गलसे सर्वथा भिन्न समझना और ज्ञान चेतनामय शुद्ध देखना ही सच्चा ज्ञान है। आत्माके गुण अलग हैं और पुद्गलके गुण अलग। दोनोंका जब तक संयोग रहता है दोनोंके गुणोंके सम्मिलनके फलस्वरूप हम जीवधारियोंमें विभिन्न गुणोंको पाते हैं। शरीरका हलन चलन पुद्गलका गुण है और चेतना आत्माके कारण है। चेतना ही चेतनाके विकाशका कारण, आधार और जरिया है। जड़ तो चेतनाको कम ही करने वाला है। जितना जितना चेतना (ज्ञान) का विकाश होता जाता है उसे ही सांसारिक भाषामें आत्मविकाश कहते हैं। आत्मविकाशके लिये अच्छा स्वस्थ शरीर उपयुक्त वातावरणमें जन्म, समुचित परिस्थितियोंका होना और आवश्यक शिक्षा संस्कृति जरूरी है। ध्यानके लिए भी इनकी जरूरत है। ज्ञान शुद्ध होने से ही ध्येय भी शुद्ध हो सकता है। ध्येय जब तक शुद्ध न हो तो ध्यान भी बेकार ही है।

साधारण गृहस्थ मानव भी शुद्ध आत्माका ध्यान करके अपने गुणों और क्षमताओंको बढ़ा सकता है। ध्यान की एकाग्रता जिस विषयकी भी हो उस विषयमें क्षमताको बढ़ाती है। यदि ध्यानका विषय शुद्ध आत्मा ही स्वयं हो तब तो पूछना ही क्या। ध्यानके तरीकोंका और अभ्यास बढ़ानेके ढंगोंका विशद-वर्णन जैन शास्त्रोंसे प्राप्त होगा। जैसा हम ध्यान करेंगे वैसा ही हम हो जायंगे—यह बिलकुल सही बात है। तीर्थंकर भगवानकी शुद्ध ध्यानस्थ-मूर्तिका दर्शन और ध्यान करनेसे हमारे अन्दर भी वैसी ही भावनाएं उत्पन्न और सुदृढ होती हैं। भयंकर मूर्तियोंके या रूपोंके दर्शन और ध्यानसे हमारी भावनाएं भी तदनुरूप ही हो जाती हैं *। शुद्ध, प्रकाशमय आत्माका ध्यान हमें उत्तरोत्तर उन्नत और शुद्ध बनाता है। आत्माकी ऊर्ध्व गति इसी प्रकार संभव है।

संसारमें भी हम पाते हैं कि जो आत्मामें विश्वास करते हैं वे अधिक गंभीर और आचरणके पक्के होते हैं। जो आत्मामें विश्वास नहीं करते वे जल्दी ही विभिन्न व्यसनोंके शिकार होकर अन्तमें अपना सब कुछ गंवा कर निराश और दुःखी ही होते हैं। जब कि आत्मामें विश्वास करने वाला दुखमें भी धीर गंभीर रहता है और उसका दुख भी सुखमें परिणत होजाता है। आत्मामें विश्वास करनेसे मनुष्यको अपने जीवनके स्थायित्वमें विश्वास होता है। वह इस जन्ममें जो कुछ करता है उसका अच्छा फल उसे अगले जन्ममें अच्छे वातावरण और परिस्थितियोंमें ले जाता और रखता है या पैदा करता है।

आत्मामें तो अनंतगुण, शक्ति और आनन्द हैं। इनका विकाश करनेके लिए शुद्ध-ज्ञान-पूर्वक, ध्यान, अभ्यास, अध्यवसाय और चेष्टाका सतत होना आवश्यक है। ऐसे दृढ लगन युक्त प्रयत्न द्वारा भी यदि सफलता न मिले तो उसमें कहीं दोष या कमीका होना ही कारण हो सकता है। दोष या कमीको ढूंढ कर उसे दूर करना चाहिए। बार बार लगातार कोशिश और अभ्यास करनेसे ही कुछ उचित फलकी उपलब्धि हो सकती है। शारीरिक अवस्थामें या गार्हस्थ्यमें मन ही ध्यानका आधार है। मन बड़ा ही चंचल है। इसका स्थिर होना

* देखो, मेरा लेख "शरीर का रूप और कर्म, जो अखिल विश्व जैन मिशनसे ट्रैक्टरूपमें अमूल्य प्राप्त हो सकता है।

का करना आसान काम नहीं। यदि आरम्भमें सफलता न मिले तो उससे निराश होनेकी जरूरत नहीं। चेष्टा सतत जारी रखना ही वांछनीय है। यही सारी सफलताओं-की कुंजी है। ब्रह्मचर्य आदि गुण भी साधना की पूर्णता और पूर्ण सफलताके लिए आवश्यक हैं। वर्तमान कालमें ब्रह्मचर्य और संयम आदि की बड़ी कमी है इस कारण जब लोग सफल नहीं होते तो अपना दोष न देखते हुए और उस कमीको दूर न करते हुए आत्मा और आत्म-शक्तियोंमें ही अविश्वास करने लगते हैं। यह गलती है। इसका सुधार आवश्यक है। आत्मा की शक्तियोंमें विश्वास होनेसे ही व्यक्ति अपनेमें विश्वास रखता है और दृढ़तासे कार्य करते हुए सफल और उन्नत भी हो सकता है।

एक व्यक्ति जो अपनेको किसी पर्वतकी ऊँची चोटी पर चढ़ सकने योग्य नहीं समझता वह चढ़नेकी चेष्टा ही नहीं करेगा, चढ़ना तो दूर ही रहा। दूसरा जो अपनेको इस योग्य समझता है प्रयत्न करेगा और चढ़ जायगा।× इसी तरह आत्मा की अनंत शक्तियोंमें विश्वास करने-वाला अपनी शक्तियोंको उत्तरोत्तर बढ़ानेमें प्रयत्नशील भी होगा और बढ़ा भी सकेगा। आत्मा को परमशुद्ध समझकर ही पूर्ण विश्वासके साथ उपयुक्त चेष्टा और कोशिशसे परमशुद्धता भी प्राप्त हो सकती है। जिस व्यक्तिका ध्येय दसमील तक ही जानेका होगा वह आगे नहीं जायगा पर जिसका ध्येय सौ मील जानेका होगा वह दसमील तो जायगा ही और आगे भी जायगा। उच्च ध्येय रखना ही उच्चताको पहुँचा सकता है। हां, आत्मा-की अनन्त शक्तियां शरीरकी सीमित शक्तियोंके कारण ही सीमित हैं इससे पूर्णता एकाएक नहीं प्राप्त हो सकती। केवल यही समझकर कि आत्मा अनन्त शक्ति-मान है, इसीलिए यह समझना और मान लेना कि मनुष्य भी अनन्त शक्ति वाला है और वैसा व्यवहार करने लगना मूर्खता, भ्रम और पागलपन कहा जायगा। मनुष्य की शक्तियाँ (या किसी भी जीवधारी शरीर-धारीकी शक्तियां) उसके शरीरका बनावट, गठन और योग्यताके अनुसार ही हो सकती हैं। शारीरिक शक्तियोंका विकास अभ्यास और उपयुक्त आचार-व्यवहारादिसे बढ़ता है। रोग शक्तियोंका ह्रास भी करता है। जप, तप, ध्यान, धर्म ज्ञानकी वृद्धि इत्यादि सभी कुछ शरीर द्वारा ही होते हैं। बगैर उपयुक्त और सुयोग्य शरीरके कुछ भी सम्भव नहीं है। आत्म-साधन भी शरीरके माध्यमसे ही सम्भव है, इसलिए शरीरको स्वस्थ और साधनके योग्य बनाए रखना हमारा कर्तव्य है। शरीरको नष्ट करने या कमजोर करने या अंग-भंग करनेसे सिवा हानिके लाभ नहीं है।

जैसे तरह तरहके बिजलीके यन्त्र और मशीन तरह तरहके कार्य केवल बनावटों की विभिन्नताके कारण ही करते हैं—यद्यपि विद्युतशक्ति उनमें एक ही या एक समान ही होती है। उसी तरह आत्मा सभी शरीरोंमें समान गुण वाला होता हुआ भी विभिन्न शरीरों या शरीर धारियोंके कर्म या कार्य उन शरीरोंकी बनावटोंके अनुसार ही होते हैं। पर ये कार्य भी जब तक आत्मा उन शरीरों-में (बिजलीके यन्त्रोंमें बिजलीकी शक्तिके समान) वर्तमान रहता है तभी तक होते हैं—आत्माके निकलते ही सारे कार्य बन्द हो जाते हैं। किसी जीवधारीके शरीरमें और किसी विद्युत यन्त्रमें यह भेद है कि यन्त्र जड़ है और जीवधारी चेतनामय है, विद्युत शक्ति भी स्वयं पुद्गल (Matter या जड़) निर्मित है जब कि आत्मशक्ति ज्ञान चेतना-मय है। यन्त्रोंमें बिजली यन्त्रोंका निर्माण होने पर बाहरसे प्रवाह की जाती है जब कि शरीरधारियों का शरीर आत्माके साथ ही उत्पन्न होता और बढ़ता है—इसीसे बिजलीको हम देखते और मानते हैं पर आत्मा-को नहीं देख पाते—केवल ज्ञान-चेतना होनेसे ही ऐसा मानते है कि आत्मा है। बिजलीका प्रवाह यन्त्रोंमें विद्य-मान रहने पर जैसे यन्त्र अपने आप कार्य करते हैं पर कहा जाता है कि विद्युत-शक्ति सारे काम कर रही है उसी तरह आत्माके शरीरमें विद्यमान रहने पर आत्माको कर्ता कहते हैं। पर बिजलीको मशीन ही कार्य करती है, बगैर यन्त्रोंके बिजलीसे स्वयं कोई कार्य होना संभव नहीं था—उसी तरह जीवधारियोंके शरीर ही कार्य करते हैं बगैर शरीरके आत्मासे भी कुछ होना संभव नहीं था। मानवका शरीर मानवोचित कर्म करता है, घोड़ेका शरीर घोड़ेके कर्म, किसी पक्षीका शरीर उस पक्षीके

× हालमें ही संसारकी सबसे ऊँची पर्वत चोटी एव-रेस्ट पर चढ़ने वालोंके विवरण अखबारोंमें निकल रहे हैं—अपने को उस कार्यके योग्य समझकर चेष्टा करनेसे ही ये लोग अन्तमें सफल हुए हैं।

कर्म या किसी कीड़ेका शरीर उस कीड़ेके कर्म करता है। इत्यादि।

कर्मोंके अनुसार कार्माण शरीरमें परिवर्तन होता रहता है। अनादिकालसे अबतक परिवर्तन होते होते ही किसी जीवधारीका कार्माण शरीर उस विशेष आत्माको लिए हुए उस जीवधारीके उस शरीरके विशेष रूपमें संगठित और निर्मित हुए रहनेका मूल कारण है। विभिन्न व्यक्तियोंकी विभिन्न प्रवृत्तियों और योग्यताओंकी विभिन्नताओंका भी यही मूल कारण है। अनादिकालसे अब तक संगठित न जाने किस कर्मपुंजके प्रभावमें कोई व्यक्ति कोई कर्म करता है। विभिन्न कर्म पुंजोंका सम्मिलित संगठित शरीर ही कार्माण शरीर है। कार्माण शरीर भी पुद्गल-निर्मित ही है। (कार्माण शरीरको बनावट और उसमें परिवर्तनादिकी जानकारीके लिये जैन शास्त्रोंका मनन करें और मेरा लेख 'कर्मोंका रासायनिक सम्मिश्रण' देखें जो ''अनेकान्त'' की गत किरणमें प्रकाशित हो चुका है।)

कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्म जो भी होते हैं वे पुद्गल-द्वारा ही होते हैं। आत्मा स्वयं कर्म नहीं करता। आत्माका गुण कर्म करना नहीं है। आत्माका गुण तो 'ज्ञान' है। ज्ञानका अर्थ है जानना। आत्माका यह गुण सर्वदा आत्मामें ही रहता है और इसी कारण ही जीवधारियोंमें ज्ञान या चेतना रहती या होती है। जड़वस्तु 'जड़' है और यह जड़त्व ज्ञान शून्यता, या चेतना हितता गुण सर्वदा जड़ या पुद्गल (Matter) में ही रहता है। हलन चलन या कर्मोंका आधार भी जड़ ही है। संज्ञान कर्म या सज्ञान हलन चलन या सचेतन क्रियाकलाप आत्मा और जड़के संयुक्त होनेके कारण ही होते हैं। अन्यथा केवल मात्र जड़ वस्तुओंके कर्म या हलन-चलन इत्यादि चेतनता-रहित ही हो सकते हैं या होते हैं। टेलीफोन या रेडियो यन्त्रमें शब्द निकलते हैं पर वे स्वयं कुछ समझ नहीं सकते—उनमें यह शक्ति या गुण ही नहीं है। इसी तरह फोटो इलेक्ट्रिक सेल या टेली विजन तरह तरहकी रूपाकृतियोंका साक्षात दृश्य उपस्थित करते हैं पर स्वयं कुछ भी नहीं जान, समझ देख, या अनुभव कर सकते। अनुभव तो वही कर सकता है जिसमें चेतना हो। अनुभव या ज्ञानकी कमी वेशी चेतना कराने वाले आधारों या माध्यम स्वरूप शरीरों या इन्द्रियों की बनावटों और योग्यताओं पर निर्भर करती है।

सब कुछ होते हुए और पुद्गल शरीरके साथ रहकर अनादि कालसे कर्म करते हुए भी आत्मा आत्मा ही रहता है और जड़ जड़ ही रहता है, एवं आत्माके गुण ज्ञान-चेतना आत्मामें ही रहते हैं और ज्योंके त्यों रहते हैं तथा पुद्गलके गुण-जड़त्व अथवा हलन-चलन इत्यादिकी योग्यता पुद्गलमें ही रहते हैं और ज्योंके त्यों रहते हैं। न आत्माके गुण पुद्गलमें जाते हैं न पुद्गलके गुण आत्मामें। आत्मा सर्वदा शुद्ध ज्ञान चेतना-मय ही रहता है।

यदि आत्मा पुद्गलके साथ अनादिकालसे नहीं रहता तो उसे अलग करने या होनेकी जरूरत नहीं होती। दोनोंके गुण और स्वभाव भिन्न भिन्न हैं इससे दोनों अलग अलग हो सकते हैं और होते हैं। आत्माका पुद्गलसे छुटकारा या मुक्ति या मोक्ष हो जाना ही या पा जाना ही आत्माका 'स्व भाव' और किसी जीवधारीका परम लक्ष्य या एक मात्र अन्तिम ध्येय है। मोक्ष पा जाने पर आत्माकी क्या दशा होती है या वह क्या अनुभव करता है इस पर शास्त्रोंमें बहुत कुछ कहा गया है यहाँ उसे दुहराना इस छोटे लेखमें सम्भव नहीं है। आत्मा पुद्गलसे छुटकारा पाकर ही अपने शुद्ध स्व-भावमें स्थिर होता है; यही वह अवस्था है जिसे पूर्णज्ञानमय-निर्विकार-परमानन्द अवस्था कहते हैं। यहाँ कुछ भी दुख क्लेशादि रूप सांसारिक अनुभव नहीं रह जाते। आत्मा स्वयं अपनेमें लीन स्वाधीन स्व सुखका शाश्वत अनुभव करता है। यह वह पूर्णता है जहाँ कोई कर्म, कोई बाधा, कोई इच्छा, कोई चिन्ता, कोई संशय, कोई शंका, कोई भय, कोई बन्धनादि एकदम नहीं रह जाते। आत्मा पूर्ण निर्विकल्प सत-चित् आनन्द परमात्मा हो जाता है।

आत्माको पुद्गलसे छुटकारा दिला कर इसी परमात्मा पदकी प्राप्तिके लिए ही विश्व या संसारकी सारी सृष्टि है और इस सृष्टिका सब कुछ होता या चलता रहता है। सृष्टिका एक मात्र ध्येय ही यही है, अन्यथा सृष्टिका कोई अर्थ ही नहीं होता। सृष्टि या विश्व या विश्वमें विद्यमान सब कुछका होना सत्य, शाश्वत और साधार है और इसी लिए सार्थक है। इसे असत्य, क्षणभंगुर या कोरा नाटक समझना गलती, मिथ्या, और भ्रम है।

आत्मा और पुद्गल स्वयंभू, स्वयं अवस्थित हैं। न इन्हें किसीने उत्पन्न किया न कोई उन्हें नष्ट कर सकता है। ये सर्वदासे हैं और सर्वदा रहेंगे। न कभी इनकी संख्यामें कमी होगी न बढ़ती। आत्मा-पुद्गलके अनादि-सम्बन्धसे जब छुटकारा पाता है तो अपने स्व-स्वभावमें स्थिर होता है, अन्यथा आत्मा सर्वदा पुद्गलके साथ ही रहता है। आत्माका-पुद्गलसे छुटकारा केवल 'पूर्णता' होने पर ही हो सकता है। ज्ञानकी पूर्णता ही वह पूर्णता है जहां कुछ जाननेको बाकी नहीं रह जाता।

हम संसारमें रह कर सारी सृष्टिकी मददसे ही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं और वह पूर्णता ही मोक्ष है। यही मानव-जन्म लेने या पानेका भी एकमात्र आदर्श ध्येय और चरम लक्ष्य है। जो व्यक्ति इस ध्येयको या लक्ष्यको सम्मुख रख कर संसारमें 'संचरण' करता है वही सतत प्रयत्न-द्वारा उत्तरोत्तर ऊपर उठता ,उठता एक दिन इस 'पूर्णता' को प्राप्त कर मोक्ष पा जाता है। ❀

संसारकी सारी विडम्बनाएं, दुःख शोक, रगड़े झगड़े ठगहाई, युद्ध, रक्तपात, हिंसादि केवल इसी कारण होते हैं कि मनुष्य अब तक 'आत्मा' की महत्ता या महानताको ठीक ठीक नहीं जान या समझ सका। आधुनिक विज्ञानने इतनी बड़ी उन्नति की पर वैज्ञानिक स्वयं नहीं जानते कि:—वे क्या हैं? कौन हैं? उनके जीवनका अन्तिम लक्ष्य क्या है? इत्यादि। विभिन्न धर्मों और दर्शन-पद्धतियोंने एक दूसरेके विरोधी विचार संसारमें प्रचारित करके बड़ा ही गोलमाल और गड़बड़ फैला रखा है। इन विभेदोंके कारण लोग एक सीधा सच्चा मार्ग निर्दिष्ट नहीं कर पाते और भ्रममें भटकते ही रह जाते हैं। अब आवश्यकता है कि विचारक लोग आधुनिक विज्ञानके आविष्कारों और प्राप्त फलोंकी सहायता से बुद्धिपूर्ण सुतर्क द्वारा 'आत्मा' के अस्तित्व और उसकी महानताका प्रतिपादन करें और लोगोंमें इस धारणाका पूरा विश्वास बैठादें कि हर एक व्यक्तिमें अनन्त शक्तियोंका धारी पूर्ण ज्ञान वाला शुद्ध आत्मा अन्तर्हित है। व्यक्तियोंके भेद या भिन्नताएं केवल शरीरोंकी विभिन्नताओंके ही कारण हैं। सबमें समान चेतना है। सबके दुख-सुख समान हैं इत्यादि। एवं सभी इस अखिल विश्वके प्राणी और एक ही पृथ्वी पर पैदा होने तथा रहनेके कारण एक दूसरेसे घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित एक ही बड़े कुटुम्बके सदस्य हैं। सबका हित सबके हितमें सन्निहित है। आत्माएं तो अलग अलग हैं पर पुद्गल शरीरों या पुद्गलका सम्बन्ध परमाणु रूपमें भी और संघ रूपमें भी सारे संसार और सारे विश्वसे अक्षुण्ण, अटूट और अविचल है। संसारमें स्थायी शान्ति, सर्व साधारणकी समृद्धि और सच्चे सुखकी स्थापना सार्वभौमरूपमें ही हो सकती है। व्यक्तिगत या अलग अलग देश भौतिक (Material) उन्नति भले ही करलें पर वह न सच्ची उन्नति है न उनका सुख ही सच्चा सुख है। सच्चा सुख, सच्ची उन्नति और सच्ची एवं स्थायी शान्ति तो तभी होगी जब सभी मानवोंने समान आत्माकी अवस्थिति समझ कर सबको उचित एवं समान सुविधाएं दी जायँ और सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक समानताएं अधिकसे अधिक सभी जगह सभी देशोंमें सभी भेदभावके विचार दूर करके संस्थापित, प्रवर्तित और प्रवर्धित की जायँ। यही मानव धर्म है, यही जैन धर्म है, यही वैष्णव धर्म है, यही हिंदू धर्म है, यही ईसाई धर्म है—यही सच्चा है, चाहे इसे जिस नामसे सम्बोधित किया जाय या पुकारा जाय।

धर्मगुरुओं और संसारके विद्वानोंका यह कर्तव्य है कि अब इस विज्ञान सत्य-बुद्धि और तर्कके युगमें रूढ़िगत गलत मान्यताओंको छोड़कर आपसी विरोधोंको हटावें और मानव मात्रको सच्चे हितकारी अविरोधी आत्मधर्मकी शिक्षा देकर संसारको आगे बढ़ावें और अखिल मानवताका सचमुच सच्चा कल्याण करें।

❀ संक्षेपमें यही 'जैन शासन' है। यही जैन शासन का ध्येय, या सारांश है; और यही 'जैन शासन' के प्रतिपादन या प्रवर्तनका अर्थ है।

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) 15)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति,आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... 8)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... 5)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... 2)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... 1॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... 1॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... 1।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान आचार्यों के १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्त्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत 1)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी. ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी पत्नी डा० श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अनेकान्त
वर्ष १२
किरण ५

अक्टूबर
सन् १९५३

भारतके आध्यात्मिक सन्त महात्मा पूज्य **गणेशप्रसादजी वर्णी** की ८०वीं जन्म जयन्ती गयामें आनन्द सम्पन्न होगई। पूज्य वर्णीजीने ८०वे वर्षमें प्रवेश किया है। हमारी हार्दिक कामना है कि आप शत वर्ष जीवी हों। पूज्य वर्णीजीके महनीय जीवनसे समाजको यथेष्ट लाभ उठाना चाहिये। आपका आध्यात्मिक महत्वपूर्ण प्रवचन पेज १७३ पर पढ़िए।

अनेकान्तके ग्राहक बनना और बनाना प्रत्येक साधर्मी भाईका कर्तव्य है

विषय-सूची

श्रीबाहुबलि-जिनपूजा छपकर तय्यार !!

श्री गोम्मटेश्वर बाहुबलिजी की जिस पूजाको उत्तमताके साथ छपानेका विचार गत मई मासकी किरणमें प्रकट किया गया था वह अब संशोधनादिके साथ उत्तम आर्टपेपर पर मोटे टाइपमें फोटो ब्राउन रङ्गीन स्याहीसे छपकर तयार हो गई है। साथमें श्रीबाहुबलीजीका फोटो चित्र भी अपूर्व शोभा दे रहा है। प्रचारकी दृष्टिसे मूल्य लागतसे भी कम रखा गया है। जिन्हें पूजा तथा प्रचारके लिये आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मंगालेवें; क्योंकि कापियाँ थोड़ी ही छपी हैं, १०० कापी एक साथ लेने पर १२) रु० में मिलेगी। दो कापी तक एक आना पोस्टेज लगता है १० से कम किसीको वी० पी० से नहीं भेजी जाएंगी।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर'
१ दरियागंज, दिल्ली।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या संस्थाओं, लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्ध मूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—

मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ५ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली | अक्तूबर
आश्विन वीरनि० संवत २४७९, वि० संवत २०१० | १९५३

श्रीनेमिचन्द्राचार्य-विरचित

लघु द्रव्यसंग्रह

['द्रव्यसंग्रह' नामका एक प्राकृत ग्रन्थ जैन समाजमें प्रसिद्ध और प्रचलित है, जिसके अनेक अनुवादोंके साथ कितने ही संस्करण एवं प्रकाशन हो चुके हैं। वह 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' कहलाता है; क्योंकि इसकी संस्कृत टीकामें टीकाकार ब्रह्मदेवने यह सूचित किया है कि 'इस द्रव्यसंग्रहके पूर्व ग्रन्थकार श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने एक दूसरा लघु द्रव्यसंग्रह सोमश्रेष्ठिके निमित्त रचा था, जिसकी गाथा संख्या २६ थी; पश्चात् विशेषतत्त्वके परिज्ञानार्थ इस बृहद् द्रव्य संग्रहकी रचना की गई है, जिसकी गाथा संख्या ५८ है।' वह लघु द्रव्यसंग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं हो रहा था और इसलिये आम तौर पर यह समझा जाता था कि उस लघु द्रव्यसंग्रहमें कुछ गाथाओंकी वृद्धि करके आचार्य महोदयने उसे ही बड़ा रूप दे दिया है—वह अलगसे प्रचारमें नहीं आया है। परन्तु गत वीर-शासन-जयन्तीके अवसरपर श्रीमहावीरजीमें, वहाँके शास्त्रभण्डारका निरीक्षण करते हुए, वह लघु द्रव्यसंग्रह एक संग्रह ग्रन्थमें मिल गया है, जिसे अनेकान्त पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ प्रकाशित किया जाता है। इसकी गाथा-संख्या उक्त संग्रह प्रतिमें २५ दी हैं और उन गाथाओंको साफ तौर पर 'सोमच्छलेण रइया' पदोंके द्वारा 'सोम' नामके किसी व्यक्तिके निमित्त रची गई सूचित किया है। साथ ही रचयिताका नाम भी अन्तिम गाथामें 'नेमिचन्द्रगणी' दिया है। हो सकता है एक गाथा इस ग्रन्थप्रतिमें छूट गई हो और वह संभवतः १० वीं ११ वीं गाथाओंके मध्यकी वह गाथा जान पड़ती है जो बृहद् द्रव्यसंग्रहमें 'धम्माऽधम्मा कालो' इत्यादिरूपसे नं० २० पर दी हुई है और जिसमें लोकाकाश तथा अलोकाकाशका स्वरूप वर्णित है। क्योंकि धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी लक्षणपरक तीन गाथाएँ नं० ८, ९, १० और काल-लक्षण-प्रतिपादिका गाथा नं० ११ का पूर्वार्ध, जो व्यवहारकालसे सम्बन्ध रखता है, इस लघु द्रव्यसंग्रहमें वे ही हैं जो कि बृहद् द्रव्यसंग्रहमें नं० १७, १८, १९ तथा २१ (पूर्वार्ध) पर पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त १२ वीं और

१४ वीं गाथाएँ भी वे ही हैं जो बृ० द्रव्यसंग्रहमें नं० २२, २७ पर पाई जाती हैं। शेष सब गाथाएँ बृहद् द्रव्यसंग्रहमें भिन्न हैं और इससे यह फलित होता है कि लघु द्रव्यसंग्रहमें कुछ गाथाओंकी वृद्धि करके उसे ही बृहद् रूप नहीं दिया गया है बल्कि दोनों को स्वतन्त्र रूपसे ही रचा गया है और इसीसे दोनोंके मंगल पद्य तथा उपसंहारात्मक पद्य भी भिन्न भिन्न हैं यहां एक बात नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि लघु द्रव्यसंग्रहके मूलमें ग्रंथका नाम 'द्रव्यसंग्रह' नहीं दिया, बल्कि 'पयत्थलक्खणकराओ गाहाओ' पदोंके द्वारा उसे पदार्थोंका लक्षण करने वाली गाथाओंका एक समूह सूचित किया है; जबकि बृहद् द्रव्यसंग्रहमें 'दव्वसंगहमिणं' वाक्यके द्वारा ग्रन्थका नाम स्पष्ट रूपसे 'द्रव्यसंग्रह' दिया है। और इससे ऐसा मालूम होता है कि 'द्रव्यसंग्रह' नामकी कल्पना ग्रन्थकारको अपनी पूर्वरचना के बाद उत्पन्न हुई है और उस द्रव्य संग्रहके बाद ही इस पूर्वरचनाको ग्रन्थकार अथवा दूसरोंके द्वारा 'लघुद्रव्यसंग्रह' कहा गया है चुनांचे इस ग्रन्थकी अन्तिम पुष्पिकामें भी 'लघुद्रव्यसंग्रह' इस नामका उल्लेख पाया जाता है। सारा ग्रंथ अच्छा सरल और सहजबोध-गम्य है। यदि कोई सज्जन चाहेंगे तो इसका सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत कराकर वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित कर दिया जायगा।

—सम्पादक]

(मूल ग्रन्थ)

छद्दव्व पंच अत्थी सत्त वि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय-धुवत्ता णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥
जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य।
दव्वाणि कालरहिया पदेश-बाहुल्लदो अत्थिकाया य ॥२॥
जीवाजीवासवबंध संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे सपुण्ण-पावा पयत्था य ॥३॥
जीवो होइ अमुत्तो सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता।
भोत्ता सो पुण दुविहो सिद्धो संसारओ णाणा ॥४॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेयणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ-संठाणं ॥५॥
वण्ण-रस गंध-फासा विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा।
मुत्तो पुग्गलकाओ पुढवी पहुदी हु सो सोढा ॥६॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥७॥
गइ परि[ण]याण धम्मो पुग्गल जीवाण गमण-सहयारी
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥८॥
ठाणजुय ण अहम्मो पुग्गलजीवाण ठाण-सहयारी।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥ ॥
अवगासदाणजोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं अल्लो (ल्लो) गागासमिदि दुविहं १०॥
दव्वपरियट्टजादो जो सो कालो हवेइ ववहारो।
लोगागासपएसो एक्केक्काऽणू य परमट्ठो ॥११॥
लोयायासपदेसे एक्कक्के जेट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥१ ॥
संखातीदा जीवे धम्माऽधम्मे अणंत आयासे।
सखादासंखादा मुत्ति पदेसाउ संति णो काले ॥१३॥
जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥१४॥
जीवो णाणी पुग्गल-धम्माऽधम्मायासा तहेव कालो य।
अज्जीवा जिणभणिओ ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो ॥
मिच्छत्तं हिंसाई कसाय-जोगा य आसवो बंधो।
सकसाई जं जीवो परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं ॥१६॥
मिच्छत्ताईचाओ संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे।
कम्माण खओ सो पुण अहिलसिओ अणहिलसिओ य॥
कम्म बंधण-बद्धस्स सब्भूदस्संतरप्पणो।
सव्वकम्म-विणिम्मुक्को मोक्खो होइ जिणेडिदो ॥१८॥
सादाऽऽउ-णामगोदाणं पयडीओ सुहा हवे।
पुण्ण तित्थयरादी अण्णं पाव तु आगमे ॥१९॥
णासइ णर-पज्जाओ उप्पज्जइ देवपज्जओ तत्थ।
जीवो स एव सव्वस्सभंगुप्पाय धुवा एवं ॥२०॥
उप्पादप्पद्धंसा वत्थूणं होंति पज्जय-णाएण।
दव्वट्ठिएण णिच्चा बोधव्वा सव्वजिणवुत्ता ॥२१॥
एव अहिगयसुत्तो सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभित्ता।
छंडउ रायं रोसं जइ इच्छइ कम्मणो णास ॥२२॥
विसएसु पवट्टंतं चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा।
झायइ अप्पाणेण जो सो पावेइ खलु सेयं ॥२३॥
सम्मं जीवादीया णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं।
मोहगयकेसरीणं णमो णमो ठाण साहूणं ॥२४॥
सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥

इति नेमिचंद्रसूरिकृत लघुद्रव्यसंग्रहमिदं पूर्णम्।

समन्तभद्र-वचनामृत

[११]

[स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन धर्मशास्त्रमें सम्यग्दर्शनके विषयभूत परमार्थ, आप्त, आगम और तपस्वीके लक्षणादिका निर्देश करते हुए जिस अमृतकी वर्षा की है उसका कुछ रसास्वादन आज अनेकान्त-पाठकोंको उक्त धर्मशास्त्रके अप्रकाशित हिन्दी भाष्यसे कराया जाता है। —सम्पादक]

(परमार्थ आप्त-लक्षण)

आप्तेनोत्सन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत्॥५॥

'जो उत्सन्न दोष है—राग-द्वेष मोह और काम-क्रोधादि दोषोंको नष्ट कर चुका है—, सर्वज्ञ है—समस्त द्रव्य क्षेत्र-काल-भावका ज्ञाता है—, और आगमेशी है—हेयोपादेयरूप अनेकान्त तत्त्वके विवेकपूर्वक आत्महितमें प्रवृत्ति करानेवाले अबाधित सिद्धान्त-शास्त्रका स्वामी अथवा मोक्षमार्गका प्रणेता है—वह नियमसे परमार्थ आप्त होता है अन्यथा पारमार्थिक आप्तता बनती ही नहीं—इन तीन गुणोंमेंसे एकके भी न होने पर कोई परमार्थ आप्त नहीं हो सकता ऐसा नियम है।'

व्याख्या—पूर्वकारिकामें जिस परमार्थ आप्तके श्रद्धानको मुख्यतासे सम्यग्दर्शनमें परिगणित किया है उसके लक्षण का निर्देश करते हुए यहां तीन खास गुणोंका उल्लेख किया गया है, जिनके एकत्र अस्तित्वसे आप्तको पहचाना जा सकता है और वे हैं १ निर्दोषता, २ सर्वज्ञता, ३ आगमेशिता। इन तीनों विशिष्ट गुणोंका यहाँ ठीक क्रमसे निर्देश हुआ है—निर्दोषताके बिना सर्वज्ञता नहीं बनती और सर्वज्ञताके बिना आगमेशिता असम्भव है। निर्दोषता तभी बनती है जब दोषोंके कारणीभूत ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चारों घातिया कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। ये कर्म बड़े बड़े भूभृतों (पर्वतों)-की उपमाको लिये हुए हैं, उन्हें भेदन करके ही कोई इस निर्दोषताको प्राप्त होता है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणमें इस गुणविशिष्ट आप्तको 'भेत्तारं कर्मभूभृतां' जैसे पदके द्वारा उल्लेखित किया है। साथ ही, सर्वज्ञको 'विश्वतत्त्वानां ज्ञाता' और आगमेशीको 'मोक्षमार्गस्य नेता' पदोंके द्वारा उल्लेखित किया है। आप्तके इन तीनों गुणोंका बड़ा ही युक्तिपुरस्सर एवं रोचक वर्णन श्रीविद्यानंद आचार्यने अपनी आप्तपरीक्षा और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें किया है, जिसमें ईश्वर-विषयकी भी पूरी जानकारी सामने आ जाती है और जिसका हिन्दी अनुवाद वीरसेवा-मन्दिरसे प्रकाशित हो चुका है। अतः आप्तके इन लक्षणात्मक गुणोंका पूरा परिचय उक्त ग्रन्थसे प्राप्त करना चाहिए। साथ ही, स्वामी समन्तभद्रकी 'आप्तमीमांसा' को भी देखना चाहिये, जिस पर अकलंकदेवने 'अष्टशती' और विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' नामकी महत्वपूर्ण संस्कृत टीका लिखी है।

यहाँ पर इतनी बात और भी जान लेने की है कि इन तीन गुणोंसे भिन्न और जो गुण आप्तके हैं वे सब स्वरूप-विषयक हैं—लक्षणात्मक नहीं। लक्षणका समावेश इन्हीं तीन गुणोंमें होता है। इनमेंसे जो एक भी गुणसे हीन है वह आप्तके रूपमें लक्षित नहीं होता।

(उत्सन्नदोष आप्तस्वरूप)

क्षुत्पिपासा-जरातङ्क-जन्माऽन्तक-भय-स्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते (प्रदोषमुक्)

'जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह तथा ('च' शब्दसे) चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेद ये दोष नहीं होते हैं वह (दोषमुक्त) आप्तके रूपमें प्रकीर्तित होता है।'

व्याख्या—यहां दोषरहित आप्तका अथवा उसकी निर्दोषताका स्वरूप बतलाते हुए जिन दोषोंका नामोल्लेख किया गया है वे उस वर्गके हैं जो अष्टादश दोषोंका वर्ग कहलाता है और दिगम्बर मान्यताके अनुरूप है। उन दोषोंमेंसे यहां ग्यारहके तो स्पष्ट नाम दिये हैं, शेष सात दोषों चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, स्वेद और खेदका 'च' शब्दमें समुच्चय अथवा संग्रह किया गया है। इन दोषोंकी मौजूदगी (उपस्थिति) में कोई भी मनुष्य

परमार्थ आप्तके रूपमें ख्यातिको प्राप्त नहीं होता—विशेष ख्याति अथवा प्रकीर्तनके योग्य नहीं होता है जो इन दोषोंसे रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिको लेकर यहां 'प्रकीर्त्यते' पदका प्रयोग हुआ जान पड़ता है। अन्यथा इसके स्थान पर 'प्रदोषमुक्' पद ज्यादह अच्छा मालूम देता है।

श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार अष्टादश दोषोंके नाम इस प्रकार हैं—

१ वीर्यान्तराय, २ भोगान्तराय, ३ उपभोगान्तराय, ४ दानान्तराय, ५ लाभान्तराय ६ निद्रा, ७ भय, ८ अज्ञान, ९ जुगुप्सा १० हास्य ११ रति, १२ अरति, १३ राग, १४ द्वेष, १५ अविरति, १६ काम, १७ शोक, १८ मिथ्यात्व *।

इनमेंसे कोई भी दोष ऐसा नहीं है जिसका दिगम्बर समाज आप्तमें सद्भाव मानता हो। समान दोषोंको छोड़कर शेषका अभाव उसके दूसरे वर्गोंमें शामिल हैं जैसे अंतराय कर्मके अभावमें पाँचों अन्तराय दोषोंका, ज्ञानावरण कर्मके अभावमें अज्ञान दोषका और दर्शनमोह तथा चारित्र मोहके अभावमें शेष मिथ्यात्व, शोक, काम अविरति रति, हास्य, और जुगुप्सा दोषोंका अभाव शामिल है। श्वेतांबर मान्य दोषोंमें क्षुधा तृषा, तथा रोगादिक कितने ही दिगंबर मान्य दोषोंका समावेश नहीं होता—श्वेतांबर भाई आप्तमें उन दोषोंका सद्भाव मानते हैं और यह सब अन्तर उनके प्रायः सिद्धान्त-भेदोंपर अवलम्बित है। सम्भव है इस भेद-दृष्टि तथा उत्सन्नदोष आप्तके विषयमें अपनी मान्यताको स्पष्ट करनेके लिए ही इस कारिकाका अवतार हुआ हो। इस कारिकाके सम्बन्धमें विशेषविचारके लिये ग्रन्थकी प्रस्तावनाको देखना चाहिए।

(आप्त-नामावली)

परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ॥७॥

'उक्त स्वरूपको लिये हुए जो आप्त है वह परमेष्ठी (परम पदमें स्थित), परंज्योति (परमातिशय-प्राप्त ज्ञानधारी), विराग (रागादि भावकर्मरहित), विमल (ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मवर्जित), कृती (हेयोपादेय-तत्त्व-विवेक-सम्पन्न अथवा कृतकृत्य), सर्वज्ञ (यथावत् निखिलार्थ-साक्षात्कारी), अनादिमध्यान्त (आदि मध्य और अन्तसे शून्य), सार्व (सबके हितरूप), और शास्ता (यथार्थ तत्त्वोपदेशक) इन नामोंसे उपलक्षित होता है। अर्थात् ये नाम उक्त स्वरूप आप्तके बोधक हैं।'

व्याख्या—आप्तदेवके गुणोंकी अपेक्षा बहुत नाम हैं—अनेक सहस्रनामों-द्वारा उनके हजारों नामोंका कीर्तन किया जाता है। यहाँ ग्रंथकारमहोदयने अतिसंक्षेपसे अपनी रुचि तथा आवश्यकताके अनुसार आठ नामोंका उल्लेख किया है, जिनमें आप्तके उक्त तीनों लक्षणात्मक गुणोंका समावेश है—किसी नाममें गुणकी कोई दृष्टि प्रधान है, किसीमें दूसरी और कोई संयुक्त दृष्टिको लिये हुए हैं। जैसे 'परमेष्ठी' और 'कृती' ये संयुक्त दृष्टिको लिए हुए नाम हैं, 'परंज्योति' और 'सर्वज्ञ' ये नाम सर्वज्ञत्वकी दृष्टिको प्रधान किए हुए हैं। इसी तरह 'विराग' और 'विमल' ये नाम उत्सन्नदोषत्वकी दृष्टिको और 'सार्व' तथा 'शास्ता' ये नाम आगमेशित्वकी दृष्टिको मुख्य किए हुए हैं। इस प्रकारकी नाममाला देनेकी प्राचीन कालमें कुछ पद्धति रही जान पड़ती है, जिसका एक उदाहरण ग्रन्थकार-महोदयसे पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दके 'मोक्खपाहुड' में और दूसरा उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के 'समाधितंत्र' में पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थोंमें परमात्माका स्वरूप देनेके अनन्तर उसकी नाममालाका उल्लेख किया गया है ×। टीकाकार प्रभाचन्द्रने 'आप्तस्य-वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह' इस वाक्यके द्वारा इसे आप्तकी नाममाला तो लिखा है परन्तु साथ ही आप्तका एक विशेषण 'उक्तदोषैर्विवर्जितस्य' भी दिया है, जिसका कारण पूर्वमें उत्सन्नदोषकी दृष्टिसे आप्तके लक्षणात्मक पद्यका होना कहा जासकता है; अन्यथा यह नाममाला एक मात्र उत्सन्नदोष आप्तकी दृष्टिको लिए हुए नहीं कही जा सकती, जैसा कि ऊपर दृष्टिके कुछ स्पष्टीकरणसे जाना जाता है।

* देखो, विवेकविलास और जैनतत्त्वादर्श आदि।

× उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हैः—

"मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥"

(मोक्खपाहुड)

'निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥ (समाधितंत्र)

यहां 'अनादिमध्यान्तः' पदमें उसकी दृष्टिके स्पष्ट होनेकी जरूरत है। सिद्धसेनाचार्यने अपनी स्वयंभूस्तुति नामकी द्वात्रिंशिकामें भी आप्तके लिये इस विशेषणका प्रयोग किया है और अन्यत्र भी शुद्धात्माके लिये इसका प्रयोग पाया जाता है। उक्त टीकाकारने 'प्रवाहापेक्षया' आप्तको अनादिमध्यान्त बतलाया है परन्तु प्रवाहकी अपेक्षासे तो और भी कितनी ही वस्तुएं आदि मध्य तथा अन्तसे रहित हैं तब इस विशेषणसे आप्त कैसे उपलक्षित होता है यह भले प्रकार स्पष्ट किये जानेके योग्य है।

वीतराग होते हुए आप्त आगमेशी (हितोपदेशी) कैसे हो सकता है? अथवा उसके हितोपदेशका क्या कोई आत्म-प्रयोजन होता है? इसका स्पष्टीकरण -

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतोहितम्।
ध्वनन् शिल्पि-कर-स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥८॥

'शास्ता-आप्त विना रागोंके—मोहके परिणामस्वरूप स्नेहादिके वशवर्ती हुए विना अथवा ख्याति-लाभ-पूजादिकी इच्छाओंके विना ही—और विना आत्मप्रयोजन के भव्य-जीवोंको हितकी शिक्षा देता है। (इसमें आपत्ति या विप्रतिपत्तिकी कोई बात नहीं है) शिल्पीके कर-स्पर्शको पाकर शब्द करता हुआ मृदंग क्या राग-भावोंकी तथा आत्मप्रयोजनकी कुछ अपेक्षा रखता है? नहीं रखता।'

व्याख्या—जिस प्रकार मृदंग शिल्पीके हाथके स्पर्श रूप बाह्य निमित्तको पाकर शब्द करता है और उस शब्दके करनेमें उसका कोई रागभाव नहीं होता और न अपना कोई निजी प्रयोजन ही होता है—उसकी वह सब प्रवृत्ति स्वभावतः परोपकारार्थ होती है—उसी प्रकार वीतराग आप्तके हितोपदेश एवं आगम प्रणयनका रहस्य है—उसमें वैसे किसी रागभाव या आत्मप्रयोजनकी आवश्यकता नहीं, वह 'तीर्थंकरप्रकृति' नामकर्मके उदयरूप निमित्तको पाकर तथा भव्यजीवोंके पुण्योदय एवं प्रश्नानुरोधके वश स्वतः प्रवृत्त होता है।

आगे सम्यग्दर्शनके विषयभूत परमार्थ 'आगम' का लक्षण प्रतिपादन करते हैं—

(आगम-शास्त्र-लक्षण)

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९॥

'जो आप्तोपज्ञ हो—आप्तके द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट हुआ हो, अनुल्लंघ्य हो—उल्लंघनीय अथवा खण्डनीय न होकर ग्राह्य हो, दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (अनुमानादि-विषयक स्वसम्मत सिद्धान्त) का विरोधक न हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जिसमें कोई बाधा न आती हो और न पूर्वापरका विरोध ही पाया जाता हो, तत्त्वोपदेशका कर्ता हो—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक हो, सबके लिये हितरूप हो और कुमार्गका निराकरण करनेवाला हो, उसे शास्त्र—परमार्थ आगम—कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ आगम-शास्त्रके छह विशेषण दिये गये हैं, जिनमें 'आप्तोपज्ञ' विशेषण सर्वोपरि मुख्य है और इस बातको सूचित करता है कि आगम आप्तपुरुषके द्वारा प्रथमतः ज्ञात होकर उपदिष्ट होता है। आप्तपुरुष सर्वज्ञ होनेसे आगम विषयका पूर्ण प्रामाणिक ज्ञान रखता है और राग-द्वेषादि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण उसके द्वारा सत्यता एवं यथार्थताके विरुद्ध कोई प्रणयन नहीं बन सकता। साथ ही प्रणयनकी शक्तिसे वह सम्पन्न होता है। इन्हीं सब बातोंको लेकर पूर्वकारिका (५) में उसे 'आगमेशी' कहा गया है—वही अर्थतः आगमके प्रणयनका अधिकारी होता है। ऐसी स्थितिमें यह प्रथम विशेषण ही पर्याप्त हो सकता था और इसी दृष्टिको लेकर अन्यत्र 'आगमो ह्याप्तवचनम्' जैसे वाक्योंके द्वारा आगमके स्वरूपका निर्देश किया भी गया है; तब यहां पाँच विशेषण और साथमें क्यों जोड़े गए हैं? यह एक प्रश्न पैदा होता है। इसके उत्तरमें मैं इस समय सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि लोकमें अनेकोंने अपनेको स्वयं अथवा उनके भक्तोंने उन्हें 'आप्त' घोषित किया है और उनके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है, जबकि सत्यार्थ आप्तों अथवा निर्दोष सर्वज्ञोंके आगमोंमें विरोधके लिये कोई स्थान नहीं है, वे अन्यथावादी नहीं होते। इसके सिवा कितने ही शास्त्र बादको सत्यार्थ आप्तोंके नाम पर रचे गये हैं और कितने ही सत्य शास्त्रोंमें बादको ज्ञाता-ऽज्ञातभावसे मिलावटें भी हुई हैं। ऐसी हालतमें किस शास्त्र अथवा कथनको आप्तोपज्ञ समझा जाय और किसको नहीं, यह समस्या खड़ी होती है। उसी समस्याको हल करनेके लिए यहां उत्तरवर्ती पांच विशेषणोंकी योजना हुई जान पड़ती है। वे आप्तोपज्ञकी जाँचके साधन हैं अथवा यों कहिए कि आप्तोपज्ञ-विषयको स्पष्ट करनेवाले हैं—

यह बतलाते हैं कि आप्तोपज्ञ वही होता है जो इन विशेषणोंसे विशिष्ट होता है जो शास्त्र इन विशेषणोंसे विशिष्ट नहीं हैं वे आप्तोपज्ञ अथवा आगम कहे जानेके योग्य नहीं हैं। उदाहरणके लिये शास्त्रका कोई कथन यदि प्रत्यक्षादिके विरुद्ध जाता है तो समझना चाहिये कि वह आप्तोपज्ञ (निर्दोष एवं सर्वज्ञदेवके द्वारा उपदिष्ट) नहीं है और इसलिये आगमके रूपमें मान्य किये जानेके योग्य नहीं।

(तपस्वि-लक्षण)

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरत्न (क्त) स्तपस्वी स प्रशस्यते।१०

'जो विषयाशाकी अधीनतासे रहित है—इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं और न आशा-तृष्णाके चक्करमें ही पड़ा हुआ है अथवा विषयोंकी वांछा तकके वशवर्ती नहीं है—, निरारम्भ है—कृषि वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मके व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता—, अपरिग्रही है—धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह नहीं रखता और न मिथ्यादर्शन, राग-द्वेष, मोह तथा काम-क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रहसे अभिभूत ही होता है—और ज्ञानरत्न-ध्यानरत्न तथा तपरत्नका धारक है अथवा ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहता है—सम्यक् ज्ञानका आराधन, प्रशस्त ध्यानका साधन और अनशनादि समीचीन तपोंका अनुष्ठान बड़े अनुरागके साथ करता है—वह (परमार्थ) तपस्वी प्रशंसनीय होता है।

व्याख्या—यहां तपस्वीके 'विषयाशावशातीत' आदि जो चार विशेषण दिये गये हैं वे बड़े ही महत्वको लिये हुए हैं और उनसे सम्यग्दर्शनके विषयभूत परमार्थ तपस्वी की वह सारी दृष्टि सामने आ जाती है जो उसे श्रद्धाका विषय बनाती है। इन विशेषणोंका क्रम भी महत्वपूर्ण है। सबसे पहले तपस्वीके लिये विषय-तृष्णाकी वशवर्तितासे रहित होना परमावश्यक है। जो इन्द्रिय-विषयोंकी तृष्णाके जालमें फँसे रहते हैं वे निरारम्भी नहीं हो पाते, जो आरम्भोंसे मुख न मोड़ कर उनमें सदा संलग्न रहते हैं वे अपरिग्रही नहीं बन पाते, और जो अपरिग्रही न बनकर सदा परिग्रहोंकी चिन्ता एवं ममतासे घिरे रहते हैं वे रत्न कहलाने योग्य उत्तम ज्ञान ध्यान एवं तपके स्वामी नहीं बन सकते अथवा उनकी साधनामें लीन नहीं हो सकते, और इसतरह वे सत्श्रद्धाके पात्र ही नहीं रहते—उन पर विश्वास करके धर्मका कोई भी अनुष्ठान समीचीनरीतिसे अथवा भले प्रकार नहीं किया जा सकता। इन गुणोंसे विहीन जो तपस्वी कहलाते हैं वे पत्थरकी उस नौकाके समान हैं जो आप डूबती हैं और साथमें आश्रितोंको भी ले डूबती है।

ध्यान यद्यपि अन्तरंग तपका ही एक भेद है फिर भी उसे अलगसे जो यहां ग्रहण किया गया है वह उसकी प्रधानताको बतलानेके लिये है। इसी तरह स्वाध्याय नामके अन्तरंग तपमें ज्ञानका समावेश हो जाता है, उसकी भी प्रधानताको बतलानेके लिये उसका अलगसे निर्देश किया गया है। इन दोनोंकी अच्छी साधनाके विना कोई सत्साधु श्रमण या परमार्थ तपस्वी बनता ही नहीं—सारी तपस्याका चरम लक्ष्य प्रशस्त ध्यान और ज्ञानकी साधना ही होता है।

—युगवीर

राजस्थानके जैन शास्त्र भण्डारोंमें उपलब्ध महत्वपूर्ण ग्रन्थ

(ले० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए० जयपुर)

भारतके अन्य प्रान्तोंकी तरह राजस्थानकी महत्ता लोकमें प्रसिद्ध है। यहाँ भारतीय पुरातत्त्वके साथ जैन-पुरातत्त्वकी कमी नहीं है। बड़लीसे जैनियोंका सबसे प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुआ है जो वी० नि० संवत् ८४ का है टोंक स्टेटमें अभी हाल ही मे ६ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जो संवत् १४७० की हैं अजमेर और जयपुरादिमें प्रचुर सामग्री आज भी उपलब्ध है राजपूतानेके कलापूर्ण मन्दिर भी प्रसिद्ध हैं। उनमें सांगानेरके संगहोके मंदिरकी कला खास तौर से दर्शनीय है। इन सब उल्लेखोंसे राजस्थानका गौरव जैन साहित्यमें उद्दीपित है। राजस्थानके दि० श्वेताम्बर शास्त्र भण्डार अक्षुण्ण ज्ञानकी निधि हैं।

राजस्थानके उन जैन मन्दिरो एवं उपाश्रयोंमें स्थित शास्त्र भण्डारोंमे हजारोंकी तादादमें हस्तलिखित ग्रन्थ विद्यमान हैं। जैनोंके इन ज्ञान भण्डारोंमें जैन एवं जैनेतर साहित्यके सभी अंगों पर ग्रन्थोंका संग्रह मिलता है, क्योंकि जैनाचार्यों-में साम्प्रदायिकतासे दूर रह कर उत्तम साहित्यके संग्रह करनेकी अभिरुचि थी और इसीके फलस्वरूप हमें आज प्रायः सभी नगरों एवं ग्रामोंमें शास्त्रभण्डार एवं इनमें सभी विषयों पर शास्त्र मिलते हैं। दि० जैन साहित्यकी प्रचुर रचना राजस्थानमें हुई है। जिसके सम्बन्धमें स्वतंत्र लेख द्वारा परिचय करानेकी आवश्यकता है। राजस्थानके इन भण्डारोंमें उपलब्ध ग्रन्थोंकी कोई ऐसी सूची या तालिका, जो अपने विषयमें पूर्ण हो अभी तक प्रकाशित हुई हो ऐसा देखनेमें नहीं आया, जिससे यह पता चल सके कि अमुक अमुक स्थान पर किस किस विषयका कितना और कैसा साहित्य उपलब्ध है? जिससे आवश्यकता होने पर उसका यथेष्ट उपयोग किया जा सके मेरे अनुमानसे राजस्थानके केवल दिगम्बर जैन शास्त्रभंडारोंमें ही ५० ६० हजारसे अधिक हस्तलिखित ग्रन्थ होंगे। जिसके विषयमें अभी तक कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। श्वेताम्बरीय ज्ञान भण्डारोंकी सूचियां बन गई हैं राजस्थानीय पत्रिका। उनमेंसे अधिकांशका परिचय भी निकल चुका है राजस्थानके इन भण्डारोंमें स्थित ग्रन्थोंकी सूची बड़ी आवश्यक है जिसकी कमीका बहुत वर्षोंसे अनुभव किया जा रहा है। दिगम्बर विद्वानों द्वारा सूची तैयार करने एवं उसे शीघ्र प्रकाशित करनेका प्रयत्न भी किया जा रहा है। साहित्य प्रकाशनकी महती आवश्यकताको समझते हुये श्री दिगम्बर जैन अ० क्षेत्रके प्रबन्धकोंने साहित्योद्धार-का कुछ कार्य अपने हाथमें लिया और इसके अन्तर्गत प्राचीन साहित्यके प्रकाशनका कार्य भी आरम्भ किया, जो ४-५ वर्षोंसे चल रहा है। श्री आमेर शास्त्रभण्डार एवं श्री महावीरजीके शास्त्र भण्डारकी ग्रन्थ-सूची प्रकाशित हो चुकी है तथा अब राजस्थानके प्रायः सभी ग्रन्थ भण्डारोंकी सूची प्रकाशित करवानेका कार्य चालू है। प्रारम्भमें जयपुरके शास्त्रभण्डारोंकी सूची प्रकाशनका कार्य हाथमें लिया गया है। अभी तक जयपुरके तीन मन्दिरोंमें स्थित शास्त्रभण्डारोंकी सूची तैयार हुई है तथा उसे प्रकाशनार्थ प्रेसमें भी दे दिया गया है। आशा है कि वह सूची २-३ महिनोंके बाद प्रकाशित हो जावेगी।

ग्रन्थ सूची बनानेके अवसर पर मुझे कितने ही ऐसे ग्रन्थ मिले हैं जिनके विषयमें अन्यत्र कहीं भी उल्लेख तक नहीं मिला, तथा कितने ही ग्रन्थ लेखक प्रशस्तियों आदिके कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण जान पड़े हैं इसलिये उन सभी उपलब्ध ग्रन्थोंका परिचय देनेके लिये एक छोटी सी लेखमाला प्रारम्भ की जारही है जिसमें उन सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया जावेगा। आशा है पाठक इससे लाभ उठायेंगे। सबसे पहिले अपभ्रंश साहित्यको ही लिया जाता है :—

पउमचरिय (रामायण) टिप्पण

महाकवि स्वयम्भू त्रिभुवनस्वयम्भू कृत पउमचरिय (पद्मचरित्र) अपभ्रंश भाषाकी उपलब्ध रचनाओंमें सबसे प्राचीन एवं उत्तम रचना है। यह एक महाकाव्य है जिसे जैन रामायण कहा जाता है। अपभ्रंश भाषासे संस्कृतमें टिप्पण अथवा टीका इसी महाकाव्य पर बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध हुई है। पउमचरिय पर मिलने वाले इस टिप्पण ग्रन्थका अभी किसी भी विद्वान्‌ने शायद ही कहीं उल्लेख किया हो, इसलिए यह टीका सर्वथा एक नवीन खोज है।

पउमचरिय पर यह टिप्पण किस विद्वान अथवा आचार्यने लिखा है इसके सम्बन्धमें इस टिप्पणमें कहीं

कोई उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु यह प्रति बहुत प्राचीन है इसलिये इसका टीकाकार भी कोई प्राचीन आचार्य एवं विद्वान् होना चाहिए ऐसा अनुमान किया जा सकता है टीकाकारने पउमचरियमेंसे अपभ्रंशके कठिन शब्दोंको लेकर उनकी संस्कृत भाषामें टीका अथवा पर्यायवाची शब्द लिख दिये हैं। टीका विशेष विस्तृत नहीं है। पउम चरियकी ९० सन्धियोंकी टीका केवल ५१ पत्रोंमें ही समाप्त कर दी गई है।

प्रति बहुत प्राचीन है तथा वह अत्यधिक जीर्ण हो चुकी है इसलिए इसकी प्रतिलिपि होना आवश्यक है। इसके बीचके कितने हो पत्र फट गये हैं तथा शेष पत्र भी उसी अवस्थामें होते जा रहे हैं। यह प्रति शास्त्रभण्डार-की बोरियोंमें बंधे हुये तथा बेकार समझे जाने वाले स्फुट त्रुटित एवं जीर्ण-शीर्ण पत्रोंमें बिखरी हुई थी। तथा इन पत्रोंको देखनेके समय यह प्रति मिली थी। यह टीका पउमचरियके सम्पादनके समय बहुत उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा मेरा अनुमान है।

टिप्पणकारने टीका प्रारम्भ करनेके पूर्व निम्न प्रकार मंगलाचरण किया है—

स्वयंभुवं महावीरं प्रणिपत्य जगद्गुरूं।

रामायणस्य वक्ष्यामि टिप्पणं मतिशक्तितः॥

इस संस्कृत टिप्पणका एक उदाहरण देखिये—

तृतीय संधिका प्रथम कडवक—

गयसंतो–गतश्रमो अथवा गते ज्ञाने खांतमनो यस्य स गत खांतः। महु मधूकः। माहवी अति मुक्तकलता। कुडं-गेहिं केदारैः। असत्थो पिप्पलः। खजूरि–पिंडखजूरी। मालूर। कपित्थ। सिरि विल्व। भूय बिभीतकः। अवरहिमि जाईहि-अपर पुष्पजाति। वणवणियहिं वर्नास्त्रियः। मोरड पिच्छ छत्रं॥ १॥

अन्तिम सन्धि—

जए जगति। मेहलियए भार्यया। णिरणासिय सिय लक्ष्मी निर्नाशितः। दुहमुणि श्रुतिनामा मुनि णिवहालउ समूहस्थानः। घण मेघसिंहः। हरि मांडूक। महच्छुह महत् सुधा। दंडसट्ठिसयतणु क्रोशत्रय–शरीर प्रमाणं। हरि-खित्ते भोगभूमि सुरपुरिहि हो संति इन्द्र भविष्यंति। खामें इन्द्ररथाभोजरथ नामनौ। सुमणु देवः णायमहोदय पावा पर्वते। वरलक्खउ उत्तमलक्षं। मेहरउ मेघरथनाम।

इति रामायणे नवति संधिः समाप्तः।

णेमिणाह चरिउ (कवि दामोदर)

(२)

यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है इसके कर्ता महाकवि दामोदर हैं। यह ग्रंथ प्राप्ति भी जयपुरके बड़े मन्दिरजीके शास्त्रभंडारमें उपलब्ध हुई है। इसकी रचना महामुनि कमल भद्रके सम्मुख एवं पंडित रामचंद्रके आशीर्वादसे समाप्त हुई थी ऐसा ग्रन्थ प्रतिक पुष्पिका वाक्यसे स्पष्ट है। प्रति अपूर्ण है तथा जीर्ण अवस्थामें है। रचनाकालके विषयमें इससे कोई सहायता नहीं मिलती।

यद्यपि यह ग्रंथ कमसे कम ४-५ संधियोंमें विभक्त होगा लेकिन उपलब्ध प्रतिके कडवकोंकी संख्या संधिके अनुसार न चलकर एक साथ चलती है। ४४वें पत्र पर ११७ कडवक हैं। इस प्रतिमें तीन संधियां प्राप्त हैं चूंकि ग्रंथ प्रति अपूर्ण है इसलिए ग्रंथमें अन्य संधियाँ भी होनी चाहिए। प्रथम संधिमें मुख्यतः नेमिनाथ स्वामीकी जन्मोत्पत्ति, द्वितीय संधिमें जरासंध और कृष्णका संग्राम तथा तृतीय संधिमें भगवान् नेमिनाथ-के विवाहका वर्णन दिया हुआ है। इस प्रकार ग्रंथमें दो संधियाँ और होंगी जिनमें नेमिनाथ स्वामीके वैराग्य एवं मोक्ष गमन आदिका वर्णन होगा। प्रथम संधिकी समाप्ति पुष्पिका इस प्रकार है—इह णेमिणाहचरिए महामुणि-कमलभद्द पच्चक्खे महाकइ कणिट्ठ दामोयर विरइए पंडिय रामचंद्रआएसिए मल्हसु अवगाएड आयंणियए जम्मुपत्ति णामा पढमो संधि परिच्छेओ सम्मत्तो।

ग्रंथप्रतिका शेष भाग अन्वेषणीय है। यह संभवतः पत्र टूट जाने या दीमक आदिके द्वारा खण्डित हुआ है। अतः इसकी दूसरी प्रतिके लिये अन्वेषण करनेकी बड़ी जरूरत है।

बारहखड़ी दोहा

(३)

अपभ्रंश भाषामें बारहखड़ीके रूपमें आध्यात्मिक एवं सुभाषित दोहोंकी रचना है। दोहे अच्छे एवं पठनीय जान पड़ते हैं। इस ग्रंथके कर्त्ता महाचंद कवि हैं। आप कब और कहाँ हुये, इसका रचनामें कोई उल्लेख नहीं मिलता लेकिन इतना अवश्य है कि कवि संवत् १५११ के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि बड़े मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध प्रति इसी समयकी है। प्रति पूर्ण है एवं दोहोंकी संख्या ३३५ है।

यह प्रति संवत १२६१ पौष सुदी १२ बृहस्पतवारकी लिखी हुई है। श्री चाहड सौगाणीने कर्मक्षय निमित्त इसकी प्रतिलिपि की थी। भट्टारक परम्परामें लिपिकारने भट्टारक जिनचन्द्र एवं उनके शिष्य रत्नकीर्तिका उल्लेख किया है।

कविने निम्न दोहेसे बारहखड़ी प्रारम्भ की है—

बारह विउणा जिण णवमि किय बारहखरकक्कु।
महियंदेण भवियणहो णिसुणहु थिरु मणु लक्कु॥
भव दुक्खह निविवण्णएण 'वीरचन्द' सिस्सेण।
भवियह पडिबोहण कया दोहा कक्कमिसेण॥
एकजु आखरूसार दुइज जगु निविण्णि वि मिल्लि।
चउवीसग्गल तिण्णिसय विरइए दोहा विल्लि॥
सो दोहउ अप्पाणयहु दोहा जाणा सुधोइ।
मुणि महयंदिण भासियउ सुणि णिय चित्त धरेइ॥

अब बारहखड़ीके कुछ दोहे पाठकोंके अवलोकनार्थ उपस्थित किये जाते हैं जिससे वे रचनाकी भाषा, शैली एवं उसमें वर्णित विषयके सम्बन्धमें कुछ अधिक जानकारी प्राप्त कर सकें—

कायहो सारउ एत्थ जिय पंचमहाणु वयाइं।
अलिउ कलेवरू भार तहु जेहिं ण धरियहं ताइं॥
× × ×
खणि खणि खिज्जइ आउतसु णियडउ होइ कयंतु।
तहि वण थक्कइ माहियउ मे मे जीउ भणंतु॥
× × ×
गीलइ गुडि जिम मक्खिपहि पावसि पडि वि मरंति।
तिम भुवि महयंदिण कहिय जे तिय संगु करंत॥
× × ×
ते कि देवें कि गुरुणा धम्मेण य कि तेण।
अप्पण चिरू ह णिम्मलउ पंचउ होइ ण जेण॥
× × ×
मे परियणु मे धणु धणु मे सुव मे दाराइं।
इउ चिंतंतह जीव तुहु गय भव-कोडिमयाइं॥

संतिणाहचरिउ (शुभकीर्ति)

(४)

उक्त रचना नागौर (राजस्थान) के प्रसिद्ध भट्टारकीय शास्त्र भंडारमें उपलब्ध हुई है। नागौर शास्त्र भंडारकी जो ग्रन्थ-सूची आजकल तैयार की जा रही है उसीके सम्बन्धमें मुझे नागौर जाकर ग्रन्थ भण्डार एवं सूचीके कार्यको देखनेका सुअवसर मिला था। उसी समय यह रचना भी देखनेमें आयी।

शांतिनाथचरित्रके रचयिता श्री शुभकीर्ति देव हैं। कविने अपने नामके पूर्व उभय भाषा चक्रवर्ति अर्थात् उभयभाषा चक्रवर्ति यह विशेषण लगाया है इसलिये सम्भव है कि शुभकीर्ति संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाके विद्वान हों। इन्होंने अपनी रचनाको महाकाव्य लिखा है। और बहुत कुछ अंशोंमें यह सत्य भी जानपड़ता है। शांतिनाथ-चरित्रकी रचना रूपचन्द्रके अनुरोध पर की गयी है जैसा कि कविके निम्न उल्लेख स्पष्ट है।

इस महाकाव्यमें १६ संधियां हैं जिनमें शांतिनाथके जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। प्रथम और अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

प्रथम संधि—

इय उभयभासा चक्कवट्टि सिरि सुहकित्तिदेव विरइए महाभव्व सिरिरुवचंद मणिणए महाकव्वे सिरि विजय बंभणो णाम पढमो संधि सम्मत्तो

अन्तिम संधि—

इय उभयभासा चक्कवट्टि सिरि सुहकित्तिदेव विरइए महाभव्व सिरिरुवचंद मणिणए महाकव्वे सिरि संतिणाह-चक्काउह कुमार णिव्वाण गमणं णाम इगुणीसमो संधि समत्तो।

नागौर शास्त्र भण्डारकी यह प्रति सम्वत् १५५१ ज्येष्ठ सुदी १० बुधवारकी लिखी हुई है। इसकी प्रतिलिपि भट्टारक जिनचन्द्रदेवके शिष्य ब्र० वीरू तथा ब्रह्म लालाने अपने पढ़ने के लिये करवायी थी प्रतिपूर्ण और सामान्य अवस्था में है।

योगसार (श्रुतकीर्ति)

(५)

भ० श्रुतकीर्तिकी तीन रचनाओंका—धर्मपरीक्षा, हरिवंशपुराण और परमेष्ठिप्रकाशसार का—डा० हीरालालजी जैन प्रो० नागपुर विश्वविद्यालयने अनेकान्त वर्ष ११ किरण ३ में उल्लेख किया था। 'योगसार' के सम्बन्धमें डाक्टर साहबने कोई उल्लेख नहीं किया, इसलिए यह श्रुतकीर्ति की चौथी रचना है जिसका हमें अभी अभी परिचय मिला है यह रचना नई है।

रचनाका नाम योगशास्त्र है। इसमें दो सन्धियाँ है। प्रथम सन्धिमें ६४ कडवक और द्वितीय सन्धिमें ७२ कडवक है इस प्रकार यह काव्य १३६ कडवकमें समाप्त होता है। रचनाकी केवल एक ही प्रति बड़े मन्दिरमें मिली है। इसके ६७ पत्र हैं। प्रतिका अन्तिम पत्र जिस पर ग्रंथ प्रशस्ति वाला भाग है जीर्ण होकर फट गया है इससे सबसे बड़ी हानि तो यह हुई कि रचनाकाल वाला अंश भी कहीं फटकर गिर गया है।

ग्रन्थमें योगधर्मका वर्णन किया गया है मंगलाचरणके पश्चात् ही कविने योगकी प्रशंसामें लिखा है। कि योग ही भव्य जीवोंको भवोदधिसे पार करनेके लिए एक मात्र सहारा है।

सव्वह धम्म-जोउ जगिसारउ, जो भव्वयण भवोवहितारउ

प्राणायाम आदि क्रियाओंका वर्णन करनेके पश्चात् कविने योगावस्थामें लोकका चिन्तन करनेके लिये कहा है और अपनी इस रचनाके २० से अधिक कडवकोंमें तीन लोकोंके स्वरूपका वर्णन किया है।

दूसरी सन्धिमें धर्मका वर्णन किया गया है। इसमें षोडशकारणभावना, दस धर्म, चौदह मार्गणा तथा १४ गुणस्थानोंका वर्णन है। ६० वें कडवकसे आगे कविने भगवान महावीरके पश्चात् होने वाले केवली श्रुतकेवली आदिके नामोंका उल्लेख किया है इसके पश्चात् भद्रबाहु स्वामीका दक्षिण विहार श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति आदि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। कुन्दकुन्द—भूतबलि पुष्पदंत, नेमिचन्द्र उमास्वामि,—वसुनन्दि, जिनसेन, पद्मनन्दि, शुभचन्द्र आदि आचार्योंका नाम उनकी रचनाओंके नामों सहित उल्लेखित किया है। यही नहीं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायके उत्पन्न होनेके पश्चात् दिगम्बर आचार्योंने किस प्रकार दिन रात परिश्रम करके सिद्धान्त ग्रन्थोंकी रचना की तथा किस प्रकार दिगम्बर समाज चार संघोंमें विभाजित हुआ आदिका भी कविने उल्लेख किया है। इस प्रकार ६० से आगेके कडवक ऐतहासिक दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। १

योगशास्त्रकी ग्रन्थ प्रशस्ति भी महत्वपूर्ण है। इसमें कविने अपनी तीन अन्य रचनाओंका उल्लेख किया है। ग्रन्थ प्रशस्तिसे हमें निम्न बातोंका ज्ञान होता है—

(१) श्रुतकीर्ति भ० देवेन्द्रकीर्तिके प्रशिष्य एवं त्रिभुवन कीर्त्तिके शिष्य थे।

(२) श्रुतकीर्तिके योगशास्त्रकी रचना जेरहट नगरमें नेमिनाथ स्वामीके मन्दिरमें सं० १५······मंगसिर सुदी ५ के दिन समाप्त हुई थी।

शास्त्र भण्डारमें प्राप्त योगशास्त्रकी प्रतिलिपि सं० १५५२ माघ सुदी ५ सोमवारकी लिखी हुई है। लेखक प्रशस्तिके आधार पर यह शंका उत्पन्न होती है कि जब हरिवंशपुराणकी रचना संवत् १५५२ माघ कृष्णा ५ एवं परमेष्ठिप्रकाशसारकी संवत् १५५३ श्रावण सुदी ५ के दिन समाप्त की थी तो योगशास्त्रकी रचना इससे पूर्व कैसे समाप्त हो सकती है, क्योंकि प्रशस्तिमें दोनों रचनाओंका नामोल्लेख मिलता है जिससे यह भ कता है कि दोनों रचनायें इस रचनासे पूर्व ही हो गयी थीं। यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है। मेरी दृष्टिसे तो यह सम्भव है कि श्रुतकीर्तिने योगशास्त्रको प्रारम्भ करनेसे पूर्व हरिवंश पुराण तथा परमेष्ठिप्रकाशसारकी रचना प्रारम्भ कर दी हो और वह योगशास्त्रके समाप्त होनेके पश्चात् समाप्त हुई हो। योगशास्त्रमे तो केवल इसी आधार पर दोनों रचनाओंका उल्लेख कर दिया गया हो; क्योंकि ये रचनायें योगशास्त्रके प्रारम्भ होने के पूर्व प्रारम्भ कर दी गई थीं। इस प्रकार अब तक प्राप्त ग्रंथ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रुतिकीर्तिने अपने जीवनकाल में धर्मपरीक्षा, हरिवंशपुराण, परमेष्ठिप्रकाशसार तथा योगशास्त्र इन चारों ग्रन्थोंकी रचना की थी *।

क्रमशः

१ योगसारके साठसे आगेके वे सब कडवक, जो ऐतिहासिक बातोंसे सम्बन्धित हैं उन्हें शीघ्र प्रकट होना चाहिए।

सम्पादक—

*श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजीके अनुसन्धान विभागकी ओर से।

हिन्दी-जैन-साहित्यकी विशेषता

[श्रीकुमारी किरणबाला जैन]

साहित्य मानव जातिके स्थूल और सूक्ष्म विचारों और अनुभवोंका सुरम्य शाब्दिक रूप है। वह जीवित और चिर उपयोगी है। वह मानव-जातिके आत्म-विकासमें सहायक है।

यद्यपि साहित्यमें कोई साम्प्रदायिक सीमायें नहीं हैं तथापि विभिन्न जातियों और सम्प्रदायोंने साहित्यका जो रूप अपनाया है उसीके आधार पर साहित्योंको जैन, बौद्ध अथवा वैष्णव साहित्यके नामसे पुकारा गया है। प्रत्येक साहित्यकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं और जैन-साहित्यकी भी अपनी विशेषता है।

जैन-साहित्य व्यक्तिको स्वयं उसके भाग्यका निर्णय करनेमें सहायक है। उसका सन्देश स्वतन्त्र रहनेका है परमुखापेक्षी और परावलम्बी बननेका नहीं है। जैन-साहित्यके अनुसार प्राणी कार्य करने और उसका फल भोगनेमें भी स्वतन्त्र है। जैनधर्मका मुख्य सिद्धान्त है—स्वयं जिओ और दूसरोंको जीने दो।

प्रारम्भमें जैन-साहित्यमें धार्मिक प्रवृत्तिकी प्रधानता थी। परन्तु समयके परिवर्तनसे उसने न केवल धार्मिक विभागमें ही उन्नति की वरन अन्य विभागोंमें भी आश्चर्य-जनक उन्नति की। न्याय और अध्यात्मविद्याके विभागमें इस साहित्यने बड़े ही ऊँचे विकास-क्रमको धारण किया। विक्रमकी प्रथम शताब्दीके प्रकाण्ड विद्वान आचार्य कुन्द-कुन्द जो अध्यात्मशास्त्रके महाविद्वान् थे और द्वितीय शताब्दीके दर्शनाचार्य भारतीय गगन मण्डलके यशस्वी चन्द्र आचार्य समन्तभद्रने अनेक दार्शनिक स्तुति-ग्रन्थोंकी रचना की, जो रचनाएँ संस्कृत साहित्यमें बेजोड़ और दार्श-निक साहित्यमें अमूल्य रत्नके रूपमें ख्यातिको प्राप्त हुईं। इसके बाद अनुक्रमसे अनेक आचार्य महान ग्रन्थकारके रूपमें प्रसिद्धिको प्राप्त होते गए अनेक सूत्रकार, वादी और अध्यात्म विद्याके मर्मज्ञ विद्वानोंने भारतमें जन्म लिया, ईसाकी छठी और विक्रमकी ७ वीं शताब्दीके अकलंकदेव जैसे नैयायिक इस भारत भूमि पर अधिक नहीं हुये। अकलंकदेव बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिके समान ही प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार और टीकाकार थे। इन्होंने केवल जैन साहित्यमें ही नहीं, परन्तु भारतीय साहित्यमें न्याय ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी और प्रमाण संग्रह-सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चयविवरण और लघीयस्त्रय जैसे कर्कश तर्क ग्रन्थोंको उनके स्वोपज्ञ भाष्योंके साथ बनाया। जो आज भी उनकी प्रकाण्ड प्रतिभाके संद्योतक हैं। मध्ययुगमें न्याय शास्त्र पर विशेष रूपसे कार्य किया गया है, जो 'मध्यकालीन न्यायदर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। यह केवल जैन और बौद्ध नैयायिकों' का ही कर्तव्य था।

द्रवेड़ियन और कर्नाटक भाषामें ही जैन साहित्य पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता है। कर्नाटक भाषाके 'चामुण्डराय' पुराण नामक गद्य ग्रन्थके लेखक वीर चामुण्डराय जैन ही थे जो राचमल्ल तृतीयके मन्त्री और प्रधान सेनापति थे। आदिपंप, कवि चक्रवर्ती रन्न, अभिनव पंप आदि उच्च कोटिके जैनाचार्य होगये हैं। कनाड़ी भाषा-का जैन साहित्य प्रायः सभी विषयों पर लिखा गया है। इसी तरह तामिल और तेलगू भाषामें जैनाचार्योंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। तामिल भाषाके जन्मदाता जैन ही कहे जाते हैं।

जैन-साहित्यमें ऐतिहासिक पुरुषोंके चरित्र वर्णनकी भी विशेष पद्धति रही है। 'रिट्ठणेमिचरिउ' 'पउमचरिय' आदि ग्रन्थोंके नाम उल्लेखनीय हैं। 'रिट्ठणेमिचरिउ' में कौरव पाण्डवोंका वर्णन है और पउमचरियमें श्री-रामचन्द्र-जीका वर्णन है। इस प्रकार यह दोनों ग्रन्थ क्रमशः 'जैन महाभारत' और 'जैन रामायण' कहे जा सकते हैं। चरित्र-ग्रन्थोंमें जटासिंहनन्दि वरचित 'वरांग चरित्र' एक सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। 'वसुदेवहिण्डी' भी प्राकृत भाषाका एक सुन्दर पुराण है। वादीभसिंह प्रणीत 'क्षत्रचूड़ामणि' नामका ग्रन्थ भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। लेखकने इसमें जिस पात्रका वर्णन किया है वह महावीर कालीन है। अनुष्टुप् छन्दोंमें अर्ध भागमें चरित्र और शेष अर्ध भागमें विशद नीतिका वर्णन है।

व्याकरण-साहित्यमें देवनन्दि कृत 'जैनेन्द्र व्याकरण' 'सिद्ध हेमशब्दानुशासन' अत्यन्त उच्च कोटिके ग्रन्थ हैं। पाणिनीयकी 'अष्टाध्यायी' में जिस प्रकार सात अध्याय संस्कृत भाषाके और एक अध्याय वैदिक प्रक्रियाका है उसी प्रकार हेमचन्द्राचार्यजी ने सात अध्याय संस्कृत

भाषामें और एक प्राकृत भाषामें रचा था। जैनेन्द्र महावृत्ति 'जैनेन्द्र प्रक्रिया', 'कातन्त्र रूपमाला' और 'शाकटायन व्याकरण' आदि सुन्दर व्याकरण ग्रन्थ हैं। शाकटायन व्याकरण पाणिनीसे पूर्वका है। पाणिनीने अपने व्याकरणमें शकटायनके सूत्रका स्वयं उल्लेख किया है।

अलंकारमें 'अलंकार चिन्तामणि' और वागभट्ट कृत 'वागभट्टालंकार' है। कोषोंमें 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', नाममाला', 'निघंटुशेष', 'अभिधान राजेन्द्र', 'पाइयसद्दमहण्णव' तथा 'विश्वलोचन-कोष' आदि अनुपम ग्रन्थ हैं। पाद-पूर्ति काव्योंकी रचना भी जैन-साहित्यकी प्रमुख विशेषता है।

जैन-साहित्यमें स्तोत्रोंकी भी रचना की गई। महाकवि धनंजय विरचित 'विषापहारस्तोत्र और कुमुदचद्रंप्रणीत' कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि ग्रन्थ साहित्यकी दृष्टिसे उच्च कोटिके हैं।

जैन-साहित्यमें चम्पू काव्योंकी भी प्रधानता रही। यह जैन साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता है। जैनाचार्योंने इस क्षेत्रमें प्रशंसनीय कार्य किया है। सोमदेवकृत 'यशस्तिलकचम्पू', 'हरिचन्द विरचित', 'जीवंधरचम्पू' 'अर्हद्दास प्रणीत' 'पुरुदेवचम्पू' आदि ग्रन्थ संस्कृत भाषाके सुन्दर ग्रन्थ हैं।

सैद्धान्तिक तथा नीतिविषयक ग्रन्थोंमें निम्नांकित ग्रन्थोंकी प्रधानता रही—

षट्खण्डागम, कषायपाहुड, 'तत्त्वार्थसूत्र', 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक', 'गोम्मटसार' 'प्रवचनसार' 'पंचास्तिकाय', आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थ हैं, तथा अमितगति कृत 'सुभाषित रत्नसंदोह', पद्मनन्दिआचार्य कृत 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' और महाराज अमोघवर्षकृत 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' आदि नीतिविषयक ग्रन्थ हैं।

पद्य ग्रन्थोंके साथ साथ जैन साहित्यमें गद्य ग्रन्थोंकी भी प्रधानता रही। वादीभसिंहकृत 'गद्यचितामणि' और धनपालकृत 'तिलकमंजरी' जैसे उच्च कोटिके गद्य ग्रन्थ संस्कृत भाषामें रचे गये।

नाटकों में 'मदनपराजय', 'ज्ञानसूर्योदय' विक्रान्तकौरव, मैथली कल्याण, अंजनापवनंजय, नलाविलास, राघवाभ्युदय, निर्भयव्यायोग, और हरिमर्दन आदि उल्लेख योग्य हैं।

लाक्षणिक-ग्रंथोंमें हेमचन्द्राचार्यकृत 'काव्यानुशासन' उल्लेखनीय है। कथा साहित्यमें आचार्य हरिषेणविरचित 'कथाकोष' अत्यन्त प्राचीन है। 'आराधनाकथाकोष' 'पुण्याश्रव कथाकोष' उद्योतन सूरि विरचित 'कुवलयमाला' हरिभद्र कृत, समराइच्च कहा, और पादलिप्तसूरिकृत 'तरंगवती कहा' आदि सुन्दर कथा ग्रन्थ हैं। कुवलयमाला, प्राकृत भाषाका उच्च कोटिका ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थका जैन-साहित्य में वही स्थान है, जो स्थान भारतीय साहित्यमें उपमितिभवप्रपंच कथा' का है।

प्रबन्धोंमें चन्द्रप्रभसूरिकृत प्रभावकचरित, मेरुतुंगकृत, प्रबन्ध चिन्तामणी, राजशेखरकृत, प्रबन्धकोष, तथा जिनप्रभ सूरिकृत त्रिविधतीर्थकल्प, दृष्टव्य हैं।

विशेषत. जैन-साहित्य दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—लौकिक और धार्मिक साहित्य। लौकिकसे तात्पर्य उस साहित्यसे है जिसमें साम्प्रदायिकता बन्धनोंसे स्वतंत्र होकर ग्रन्थ रचना की जाती है। धार्मिक साहित्य वह है जिसमें इस लोकके अतिरिक्त परलोककी ओर भी संकेत रहता है।

जैन साहित्यमें ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिन्हें देखकर सरलतापूर्वक कोई जैनाचार्योंकी कृति नहीं कह सकता है। सोमदेव-कृत 'नीतिवाक्यामृत' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह एक 'नीतिविषयक ग्रन्थ' है। इसमें एक अध्याय अर्थशास्त्रका भी है। दूसरा ग्रन्थ है 'दोहापाहुड'। यह रहस्यवादका एक सुन्दर अपभ्रंशभाषाका ग्रन्थ है।

गणित ज्योतिषमें भी जैन साहित्य पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता है। उसमें जैनाचार्योंने अनेक अनोखे नियमों द्वारा ज्योतिष विभागको सम्पन्न किया है। इसके लिये 'तिलोयपण्णत्ती', 'त्रिलोकसार', 'जंबूदीव पण्णत्ती', 'सूर्यपण्णत्ती', आदि उच्च कोटिके ग्रंथ हैं। महावीराचार्य द्वारा रचित 'गणितसारसंग्रह' भी अपने समयकी एक अपूर्व कृति है। यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। गणित विषय की १-२ उपयोगिता पर दृष्टि डालते हुए

१ जैन गणित साहित्य पर प्रोफेसर दत्तमहाशयके विचार निम्नलिखित हैं।

"What is more important for the general history of mathematics certain methods of finding solutions of raitional triangles, the credit for the discovery

श्री महावीराचार्यने अपने 'गणितसार' संग्रहमें बतलाया है कि—

'लौकिके वैदिके श्रापि तथा सामायिकेऽपि यः।
व्यापारस्तत्र सर्वत्र संख्यानमुपजायते ॥
कामतन्त्रेऽर्थशास्त्रे च गांधर्वे नाटकेऽपि वा।
सूपशास्त्रे तथा वैद्ये वास्तुविद्यादिवस्तुषु ॥
सूर्यादिग्रहचारेषु ग्रहणे ग्रहसंयुते।
त्रिप्रश्ने चन्द्रवृत्तौ च सर्वत्रांगी कृतं हि तत् (?) ॥
बहुभिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किञ्चिद्वस्तु तत्सर्वं गणितेन विना नहि ॥

इससे स्पष्ट है कि गणितका व्यवहारिक रूप प्रायः समस्त भारतीय वाङ्मयमें व्याप्त है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं जिसकी उपयोगिता गणित, राशि-गणित, कलासवर्णगणित, जाव-ताव गणित, वर्ग घन, वर्ग-वर्ग और कल्प इन दस भेदों द्वारा समस्त व्यवहारिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये जैनाचार्योंने प्रयत्न किया है। जैन गणितमें नदीका विस्तार, पहाड़की ऊंचाई त्रिकोण, चौकोन क्षेत्रोंके परिमाण इत्यादि अनेक व्यवहारिक बातोंका गणित और त्रिकोण मितिके सिद्धान्तों द्वारा पता चलता है। इस प्रकार समस्त जैन ज्योतिष व्यवहारिकतासे परिपूर्ण है१।

जैनाचार्योंने फलित ज्योतिष ग्रन्थकी भी रचना की। 'रिष्टसमुच्चय', 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' ज्योतिषशास्त्रके अपूर्व ग्रन्थ है। जैन ज्योतिषकी व्यवहारिकता वर्णित करते हुये श्रीनेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्यजी कहते हैं कि 'इतिहास एवं विकासक्रमकी दृष्टिसे जैनज्योतिषका जितना महत्व है उससे कहीं अधिक महत्व व्यवहारिक दृष्टिसे भी है। जैन ज्योतिषके रचियता आचार्योंने भारतीय ज्योतिषकी अनेक समस्याओंको बड़ी ही सरलतासे सुलझाया है२।

प्राकृत भाषा अपने सम्पूर्ण मधुमय सौंदर्यको लिये हुये जैन-साहित्यमें प्रयुक्त हुई। यदि कहा जाय कि प्राकृतका मागधीरूप और उसके पश्चात् अपभ्रंश प्रारम्भसे ही जैनाचार्योंकी भाषा रही तो अत्युक्ति न होगी।

जैन कवियोंने केवल एक ही भाषाका आश्रय न लेकर विभिन्न भाषाओंमें भी साहित्य रचनायें की। तामिल भाषाका 'कुरल-काव्य' और 'नालदियर' जैन साहित्यके दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनमें साम्प्रदायिकताका तनिकभी अंश नहीं है। इन ग्रंथको देखकर कोई इन्हे जैन कविकी कृति नहीं कह सकता। तामिल भाषाके उच्च कोटिके तीन महाकाव्य जैनाचार्यों द्वारा ही रचे गये—'चिन्तामणि' 'सिलप्पडिकारम्' और 'वलैतापति'।

कन्नड साहित्य भी जैनाचार्यों द्वारा रचित उपलब्ध होता है। १३ वीं शताब्दी तक कन्नड भाषामें जितना साहित्य उपलब्ध होता है वह अधिकांश मात्रामें जैनाचार्यों द्वारा रचित ही है 'पंप भारत' और 'शब्दमणिदर्पण' आदि उच्च कोटिके ग्रंथ है३।

---

of which should very rightly go to Mahavir are attributed by modern historians, by mistake to writers posteriors to him".

Bullition Cal. Math. Sec. XXI P. 116.

२ इसी प्रकार डाक्टर हीरालाल कापड़ियाने भारतीय गणितशास्त्र पर विचार करते हुए 'गणिततिलक' की भूमिका में लिखा है—

"In this connection it may be added that the Indians in general and the Jains in particular have not been behind any nation in paying due attention to This subject. This is berne out by Ganita Sara Sangrah V.I.15) of Mahavi racharya (850 A.D.) of the Southern School of Mathematics. There in the points out the use-fulness of Mathematics or 'the Science of Cal-culation' regarding the study of various subjects like music, logic, drama, medicine, archi-tecture, cookery, prosody, Grammar, poetics, economics, erotics etc.".

प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० १७३.

१ श्रीमहावीरस्मृति ग्रन्थ पृ० २०२
२ श्रीमहावीरस्मृति ग्रन्थ पृ० १८६
३ तामिल और कन्नड साहित्यकी विशेषता प्रकट करते हुये श्री रमास्वामी आयंगर कहते हैं।

'कर्नाटक कविचरित' के मूल लेखक आर० नरसिंहाचार्य जैन कवियोंके सम्बन्धमें अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—'जैनी ही कन्नड भाषाके आदि कवि हैं। आज तक उपलब्ध सभी प्राचीन और उत्तम कृतियां जैन कवियोंकी ही हैं। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड-भाषाके सौन्दर्य एवं कान्तिके विशेषतया कारण हैं। पंप, रन्न, और पोन्नकी महा कवियोंमें गणना करना उचित ही है। अन्य कवियोंने भी १४वीं शताब्दीके अन्त तक सर्वश्लाघ्य चंपू काव्योंकी रचना की है। कन्नड भाषाके सहायक छंद, अलंकार, व्याकरण, कोष आदि ग्रन्थ अधिकतया जैनियोंके द्वारा ही रचित हैं१।

निबन्धके पूर्व संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य जैन-साहित्यका इतना परिचय देनेकी आवश्यकता केवल इसीलिये पड़ी कि जैनाचार्यों और लेखकोंकी यह दृढ़तर भावना रही है कि प्राचीन आचार्योंके सिद्धांतोंसे बिल्कुल विचलित न हुआ जाय। जैनाचार्य और जैन लेखक परम्परागत सिद्धांतोंको पूर्ण प्रामाणिक और समादरकी दृष्टिसे देखते आये हैं। यही कारण है कि जैन-साहित्यकी धारा छोटी

"The Jain contribution to Tamil literature form the most precious possessions of the Tamilians. The largest portion of Sanskrit deraiviations found in the Tamil Language was introduced by the Jains they aftered the Sanskirt, which they berrowed in order to bring it in accordance with Tamil euphonic rules. The Kanarese literature also owes a great deap to the Jains. Infact they were the originators of it."

अर्थात् तामिल साहित्य, जो कि जैन विद्वानोंकी देन है। तामिल भाषाके लिये अत्यन्त मूल्यवान है तामिल-भाषाके जो बहुतसे शब्द पाये जाते हैं। यह कार्य जैनियों द्वारा सम्पन्न किया गया था उनके द्वारा ग्रहण किए गए संस्कृत भाषाके शब्दोंमें ऐसा परिवर्तन किया गया है कि वे तामिल भाषाकी ध्वनिके अनुरूप हो जावें।

—जैन शासन—२५६-२६०

१ पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत जैनधर्म पृ० २६१-२६३

भले ही पड़ गई हो लेकिन अभी तक अपेक्षाकृत निर्दोष पाई जाती है। निर्दिष्ट समयके हमारे हिन्दी जैन लेखकों तथा कवियोंने भी उक्त धाराका पूर्णरूपसे अपनाया है और कुछ भी लिखते समय उन्होंने इस बातका पूरा ध्यान रखा है कि परम्परागत सिद्धांतोंका कहीं विरोध न हो जाय। लिखा सबने उन सिद्धांतोंको अपनी भाषा शैलीमें ही है। उनकी भाषामें उक्ति वैचित्र्य भले ही हो, बात करनेका ढंग निराला भले ही हो लेकिन सिद्धांत वही रहेगा।

हिन्दी जैन-साहित्यमें आत्मचरित्रकी रचनाकी गई जो इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है। आजसे लगभग ३०० वर्ष पूर्व जब कि आत्मचरित्र लिखनेकी परिपाटी प्रचलित नहीं थी ऐसे समयमें ६७५ दोहे और चौपाइयोंमें कविवर बनारसीदासजीने अपने ५५ वर्षका आत्म-चरित्र लिखा। इसमें वह संजीवनी शक्ति विद्यमान है जो इसको सदैव जीवित रख सकती है। यह अपने समयकी अनेक ऐतिहासिक घटनाओंसे ओत-प्रोत है। मुसलमानी राज्यके कठोर व्यवहारोंका इसमें यथातथ्य चित्रण है। सत्यप्रियता और स्पष्टवादिताके इसमें सुन्दर दृष्टान्त मिलते हैं।

हिन्दी जैन साहित्यमे पंचतंत्राख्यानटीका और सिंघासन बत्तीसी आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। नाटक ग्रन्थोंमें कविवर बनारसीदासजीका रचा हुआ नाटक समयसार अपने समयकी एक अपूर्व रचना है। यह आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत एक सुन्दर कृति है। निम्नांकित दोहेमें उनकी आध्यात्मिकताका स्पष्ट परिचय मिलता है।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आतमा, धोवे निजगुण चीर॥

प्रस्तुत ग्रन्थ परम भट्टारक श्रीमदमृतचन्द्रायजीके संस्कृतकलशोंका पद्यानुवाद है। अनुवाद अत्यन्त सरल और सुन्दर है।

हिन्दी जैन-साहित्यमें टोडरमल, जयचन्द, दीपचन्द, टेकचन्द, दौलतराम, तथा सदासुखदास आदि उच्चकोटिके गद्य लेखक और टीकाकार हो गये हैं।

चरित्र ग्रंथोंमें 'वरांग चरित्र' 'जीवन्धरचरित्र' 'पार्श्वपुराण' और 'वर्द्धमान पुराण' आदि हैं।

छंद-शास्त्रकी उन्नतिमें भी हिन्दी जैन-साहित्यके कवियोंने विशेष सहयोग प्रदान किया। कविवर वृन्दावनदास कृत 'छंद शास्त्र' पिंगलकी एक सुन्दर रचना है।

हिन्दी जैन-साहित्यमें शुभाषित ग्रन्थोंका भी परिचय मिलता है कविवर भूधरदास विरचित जैनशतक, बुधजन कृत, बुधजन सतसई और छत्रपति विरचित, मदनमोहन-पंचशती आदि महत्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ है।

जैन साहित्यकी महत्ता वर्णित करते हुए श्री पूरनचंद नाहर और श्रीकृष्णचन्द्र घोष अपनी कृति 'On Epitome of Jainism' में इस प्रकार लिखते हैं।

"It is beyond doubt that the Jain writers hold a prominent position in the literary activity of the country. Besides the Jain Sidhanta and its commentaries there are a great number of other works both in prakrit and Sanskrit, on philosophy, Logic, Astronomy, Grammar, Rhetone, Lives of Saints etc. Both in prose and poetry ....Inshort the Jain literature comprising as it does all the branches of ancient Indin literature holds no unsignificant a niche in the gallary of that literature, and as it truly said by Prof. Herto. 'With respect to its narrative part, it holds a prominent position not only in the Indian literature but in the literature of mankind."

—Pp. 694-95.

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(गत किरण तीनसे आगे)

केशरियाजीसे सबेरे दश बजे चलकर हम लोग ४ बजेके करीब डूंगरपुर आये। इस नगरका पुरातन नाम 'गिरिपुर' ग्रन्थोंमें उल्लिखित मिलता है। उस समय गिरिपुर दिगम्बर समाजके विद्वानोंकी ग्रंथ रचना स्थान रहा है जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त तलाश करने पर अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। माथुरसंघीय भट्टारक उदयचन्द्रके प्रशिष्य और भ० बालचन्द्रके शिष्य विनयचन्द्रने, जिनका समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी है, अपना अपभ्रंशभाषाका 'चूनडी' नामका ग्रन्थ जो ३३ पद्योंकी संख्याके लिये हुए हैं, गिरिपुरके अजय नरेशके राजविहारमें बैठकर बनाया है। ×

विक्रमकी १६ वीं और १७ वीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान भट्टारक शुभचन्द्रने अपना 'चन्दनाचरित्र' वाग्वर देशके 'गिरिपुर' नामके नगरमें बनाकर समाप्त किया है जैसा कि 'चन्दना चरित्र' के निम्न पद्यसे स्पष्ट है:—

वाग्वरे वाग्वरे देशे वाग्वरैर्विहिते क्षितौ।
चन्दनाचरितं चक्रे शुभचन्द्रो गिरौपुरे ॥२००

इन समुल्लेखोंसे गिरिपुरकी महत्ताका स्पष्ट आभास मिलता है। परन्तु इस गिरिपुर नगरका 'डूंगरपुर' नाम कब पड़ा, यह कुछ ज्ञात नहीं होता, सभव है किसी 'डूंगर' नामके व्यक्तिके कारण इस नगरका नाम डूंगरपुर लोकमें विश्रुतिको प्राप्त हुआ हो अथवा डूंगर या डूंगर' शब्द पर्वतके अर्थमें प्रयुक्त होता है। अत. सम्भव है कि पहाड़ी प्रदेश होनेके कारण उसका नाम डूंगरपुर पड़ा हो। डूंगरपुर राज्यका प्राचीन नाम वागड़' है, जो गुजराती भाषाके 'वगड़ा' शब्दसे बहुत कुछ सादृश्य रखता है आज कल लोगभी इसे 'वागड़िया' कह देते हैं। 'वागड़' शब्दका संस्कृत रूपान्तर भी वाग्वर, वागट और वैयागड़ अनेक शिलालेखों, प्रशस्तियों और मूर्तिलेखोंमें अंकित मिलता है*। इससे स्पष्ट है कि डूंगरपुरका सम्बन्ध वागड़से रहा है वागड़ देशमें डूंगरपुर, बांसवाड़ा और उदयपुरके कुछ दक्षिणी भागका समावेश किया जाता था अर्थात् वागड़

× तिहुयणि गिरिपुरु जगि विक्खायउ
सग्ग खण्डु णं धरियलि आयउ
तहिं णिवसंतें मुणिवरेण
अजय णरिंदहो राय-विहारहिं।

* देखो, डूंगरपुरका इतिहास पृ० २

देशमें छप्पन देशोंका समावेश निहित था। किन्तु जबसे इसे पूर्वी और पश्चिमी दो विभागोंमें विभाजित कर डूंगरपुर राज्य और बांसवाड़ा राज्यकी अलग अलग स्थापनाकी गई। उसी समयसे डूंगरपुर राज्य भी बागड़ कहा जाने लगा है।

डूंगरपुर राज्यमें जैनियोंकी अच्छी संख्या पाई जाती है जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भागोंमें विभाजित है, उनमें डूंगरपुर स्टेटमें दिगम्बर सम्प्रदायके जैनियोंकी संख्या अधिक है जो दशा हूमड़, बीसाहूमड़, नरसिंहपुरा बीसा, तथा नागदाबीसा आदि उपजातियोंमें विभाजित हैं। इन जातियोंके लोग राजपूताना, बागड़ प्रान्त और गुजरात प्रान्तमें ही पाये जाते हैं। यह हूमड़ जाति किसी समय बड़ी समृद्ध और वैभवशाली रही है, यह जैन धर्मके श्रद्धालु रहे हैं, इनका राज्यकार्यके संचालनमें भी हाथ रहा है। खास डूंगरपुरमें दिगम्बर जैनियोंकी संख्या सौ घरसे ऊपर है। एक भट्टारकीय गद्दी भी है और उस गद्दी पर वर्तमान भट्टारक भी मौजूद हैं, पर वे विद्वान नहीं हैं किन्तु साधारण पढ़े लिखे हैं। परन्तु मुझे इस समय उनका नाम विस्मरण हो गया है। डूंगरपुरमें ४ शिखरबन्द मन्दिर हैं मन्दिरोंमें मूर्तियोंका संग्रह अधिक है। भट्टारकीय मन्दिरमें अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ मौजूद हैं। जिनमें कई ताड़पत्रों पर भी अंकित हैं। डूंगरपुरके आस पासके गांवोंमें भी अनेक जैन मन्दिर हैं, जहां पहले उनमें दिगम्बर जैनियोंकी आबादी थी किन्तु खेद है कि अब वहां एक भी घर जैनियोंका नहीं है, केवल मन्दिर ही अवस्थित हैं।

सागवाड़ा भी डूंगरपुरराज्यमें स्थित है। विक्रमकी १५वीं, १६वीं और १७वीं शताब्दीमें जैनधर्मका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सागवाड़ेकी भट्टारकीय गद्दी भी प्रसिद्ध रही है। इस गद्दी पर अनेक भट्टारक हो चुके हैं जिनमें कई भट्टारक बड़े भारी विद्वान और ग्रन्थकार हुए हैं।

डूंगरपुरसे थोड़ी दूर ५-६ मील चलकर एक छोटी नदी पारकर हम लोग 'शालाथाना' पहुँचे। यह एक छोटा सा गांव है और डूंगरपुरमें ही शामिल है। यहां सेठ छदामीलालजीकी कारकी टंकीमें छिद्र हो जानेके कारण रात भर ठहरना पड़ा। शालाथानामें एक दिगम्बर जैन मन्दिर है, मन्दिरमें एक शिलालेख भी अंकित है। इस गाँवमें ५-६ घर जैनियोंके हैं जिनकी आर्थिक स्थिति साधारण है, रहन सहन भी उच्च नहीं है। शाह कचरूलाल एक साधर्मी सज्जन हैं, जो प्रकृतिसे भद्र जान पड़ते हैं। उन्होंने ही रात्रिमें हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था कराई।

यहां एक जैन मन्दिर अधबना पड़ा है—कहा जाता है कि कई दि० जैन सेठ इस मन्दिरका निर्माण करा रहा था। परन्तु कारणवश किसी नवाबने उसे गोलीसे मरवा दिया जिससे यह मदिर उस समयसे अधूरा ही पड़ा है।

शालाथानासे ४ बजे सवेरे चलकर हम लोग रतनपुर होते हुए 'सांवला' जी पहुँचे। रास्ता बीहड़ और भयानक है बड़ी सावधानी से जाना होता है, जरा चूके कि जीवनकी आशा निराशामें बदल जानेकी शंका रहती है। शालाथानामें डूंगरपुरके एक सैय्यद ड्राइवर ने हमारे ड्राइवरको रास्तेकी उस विषमताको बतला दिया था, साथ ही गाड़ीकी रफ्तार आदिके सम्बन्धमें भी स्पष्ट सूचना कर दी थी, इस कारण हमें रास्तेमें कोई विशेष परेशानी नहीं उठानी पड़ी। श्यामलाजीमें मन्दिर नहीं था धर्मशाला थी, अतः त्यागियोंको सामायिक कराकर संघ 'मुड़ासा' पहुँचा।

मुड़ासामें हम लोग 'पटेल' बोर्डिंग हाऊसमें ठहरे, स्नानादिसे निवृत्त होकर भोजन किया। यह नगर भी नदीके किनारे बसा हुआ है। यह किसी समय अच्छा शहर रहा है आज भी यह सम्पन्न है, और व्यापारका स्थल बनने जा रहा है। यह वही स्थान है जहां पर भट्टारक जिनचन्द्रने संवत् १५४८ में सहस्त्रों मूर्तियां शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित कराई थी, उस समय मुड़ासामें किसी रावलका राज्य शासन चल रहा था, जिसका नाम अब मूर्ति लेखोंमें अस्पष्ट हो जानेसे पढ़ा नहीं जाता है। खेद है कि आज वहां कोई भी दिगम्बर जैन मन्दिर नहीं है। हां श्वेताम्बर मन्दिर मौजूद है। यहां से हम लोग अहमदाबादकी ओर चले। १०-१५ मील तक तो सड़क अच्छी मिली, बादमें सड़क अत्यन्त खराब ऊबड़ खाबड़ थी, मरम्मतकी जा रही थी रात्रिका समय होनेसे हम लोगोंको बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। फिर भी हम लोग धैर्य धारणकर कष्टोंकी परवाह न करते हुए रात्रिको १२॥ बजे अहमदाबादमें सलापस रोड पर सेठ प्रेमचन्द्र मोतीचन्द्र

दिगम्बर जैन बोर्डिंग हाउसमें आ पहुँचे। वहाँ वेदी प्रतिष्ठा महोत्सवका कार्य सम्पन्न होनेसे स्थान खाली न था पं० सिद्धसागरजीका ५०० आदमियोंका एक संघ पहलेसे ठहरा हुआ था। फिर भी थोड़ा सा स्थान मिल गया उसीमें रात बिताई। और प्रातःकाल उठकर सामयिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर दर्शन किये। यहाँकी जनताने 'प्रीति भोज' भी दिया और मुख्तार साहबके दीर्घायु होनेकी कामना भी की। भट्टारक यशःकीर्ति और पं० रामचन्द्रजी शर्मासे भी परिचय हुआ।

सवेरे अहमदाबादसे हम लोग राजकोटके लिये रवाना हुए और वीरमगाँव पहुँच गए। वीरमगांवसे वढमानकी ओर चले, परन्तु बीचमें ही रास्ता भूल गए जिससे ला० राजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजीसे हमारा सम्बन्ध विच्छेद हो गया, वे पीछे रह गए और हम आगे निकल आये। रास्ता पगडंडियोंके रूपमें था, पूंछने पर लोग वढमानको दो गऊ या चार मील बतलाते थे, परन्तु कई मील चलनेके बाद भी वढमानका कहीं पता नहीं चलता था। इस कारण बड़ी परेशानी उठाई। जब ५-६ मील चलकर लोगोंसे रास्ता पूंछते तो वे ऊपर वाला ही उत्तर देते। आखिर कई मीलका चक्कर काटते हुए हम लोग १॥ बजेके करीब वढमान पहुँचे। परन्तु वहाँका पानी अत्यन्त खारी था। आखिर एक श्वेताम्बर मन्दिरमें पहुँचे, उनसे पूछा, ठहरनेकी अनुमति मिल गई, हम लोगोंने नहा धोकर दर्शन सामायिकादिसे निवृत्त होकर साथमें रखे हुए भोजनसे अपनी क्षुधा शान्त की। वहांके संघने मीठे पानीकी सब व्यवस्था की। वे साधर्मी सज्जन बड़े भद्र प्रकृतिके जान पड़ते थे। वहाँसे हम लोग चलकर रात्रिमें ६ बजेके करीब 'राजकोट' पहुँचे और कानजी स्वामीके उपदेशसे निर्मित नूतन मंदिरके अहातेमें स्थित कमरोंमें ठहरे।

राजकोट निवासी ब्र० मूलशंकरजीके साथमें होनेसे हम लोगोंको ठहरनेमें किसी प्रकारकी असुविधा नहीं हुई। प्रातःकाल दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर मंदिरजीमें श्री-मंधरस्वामीको भव्य मूर्तिके दर्शन किये। मूर्ति बड़ी ही मनोज्ञ और चित्ताकर्षक है, मूर्तिका अवलोकन कर हम लोग मार्गजन्य खेदको भूल गये, हृदयकमल खिल गये, उक्त मूर्तियोंके दर्शनसे अभूत पूर्व आनन्द हुआ। वास्तवमें मूर्तिमें कलाकारके मनोभावोंका मूर्तिमान चित्रण है। साथमें यह भी विचार आया कि प्रत्येक मन्दिरमें इसी प्रकारकी चित्ताकर्षक मूर्तियाँ होनी चाहिये और मन्दिर इसी तरह सादा तथा धर्मसाधनकी अन्य सुविधाओंको लिये होने चाहिये। राजकोटका यह मन्दिर दो ढाई लाख रुपया खर्च करके गुजरातके संत श्रीकानजीस्वामीके उप-देशसे अभी बनकर तैयार हुआ है। मन्दिर सादा, स्वच्छ, हवादार और धर्मसाधनके लिये उपयुक्त है, श्रीमन्धर स्वामीकी उक्त मूर्तिका चित्र भी लिया गया है। ब्रह्मचारी मूलशंकरजीके यहां हम लोगोंने भोजन किया। उस समय ब्रह्मचारीजीके कुटुम्बका परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई मूलशंकरजीने अपने हरे-भरे एवं सुख समृद्ध परिवारोंको छोड़कर आत्मकल्याणकी दृष्टिसे अपनेको व्रतोंसे अलंकृत किया। उनके दोनों लड़के पोते और पोती तथा धर्मपत्नी सभी शान्त और धर्मश्रद्धालु जान पड़े। उनके समस्त परिवारका संयुक्त चित्रभी लिया गया है।

राजकोट गुजरातका एक अच्छा शहर है, यहाँ सभी प्रकार-की चीजें मिलती हैं नगर समृद्ध है, अहमदाबादकी अपेक्षा अधिक साफ-सुथरा है। यहांके जैनियों पर कानजीस्वामी-के उपदेशोंका अच्छा असर है। दुपहरके बाद हम लोग राजकोटसे रवाना होकर गोधरा होते हुए जूनागढ पहुँचे और वहांसे गिरनारजीकी तलहटीमें स्थित धर्मशालामें गए। वहां देखा तो दिगम्बर धर्मशाला यात्रियोंसे ठसाठस भरी हुई थी। उसमें स्थान न मिलने पर हम लोग श्वेता-म्बर धर्मशालामें ठहरे। प्रातःकाल ३ बजेके करीब दैनिक कृत्योंसे निपटकर हम लोग यात्राको गए और हम लोगोंने पहाड़ पर चढ़कर सानन्द यात्राएँ की। यात्रामें बड़ा ही आनन्द आया। मार्गजन्य कष्टका किंचित् भी अनुभव नहीं हुआ। गिरिनगर या गिरिनारका प्राचीन नाम 'उज्जयंत' 'ऊर्जयन्त' गिरि है। रैवतकगिरि और गिरि-नगर नामोंका कब प्रचलन हुआ इसका ठीक निर्देश अभी तक नहीं मिला, किन्तु इतना स्पष्ट है कि विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें 'सोरट्ठ-विषय--गिरिणयर--पट्टण--चंदगुहा--ठिएण' वाक्यके द्वारा सौराष्ट्र देशमें स्थित गिरिनगर का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय तथा उससे पूर्व 'गिरिनगर' शब्दका प्रचार हो चुका था।

गिरिनगर सौराष्ट्रदेशकी वह पवित्र भूमि है जिस पर जैनियोंके २२ वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथने तपश्चर्या

द्वारा कर्मशत्रुओंको विनष्ट कर केवलज्ञान द्वारा जगतके जीवोंको संसारके दुःखोंसे छूटनेका सरल उपाय बतलाया था, साथ ही लोकमें दयाकी वह मन्दाकिनी बहाई जिससे अनन्त जीवोंका उद्धार हुआ था, मांसभक्षणकी लोलुपताके लिये बंदी किये गये उन पशुओंको रिहाई मिली थी जो भगवान नेमिनाथके विवाहमें सम्मिलित यदुवंशी राजाओंकी क्षुधापूर्तिके लिये एक बाड़ेमें इकट्ठे किये गये थे। इस पर्वत पर सहस्त्रों व्यक्तियोंने तृष्णाके अपरिमित तारोंको तोड़कर और देहसे भी नेह छोड़कर आत्मसाधना कर परमात्मपद प्राप्त किया था। अतएव यह निर्वाण भूमि अत्यन्त पवित्र है। यहांके भूमण्डलके कण कणमें साधना की वह पवित्र भावना तपश्चर्याकी महत्ता, तथा स्वपर-दयाका उत्कर्ष सर्वत्र व्याप्त है। भगवान नेमिनाथकी जयके नारे असमर्थ वृद्धाओं एवं अन्य दुर्बल व्यक्तियोंके जीवनमें भी उत्साह और धैर्यकी लहर उत्पन्न कर देते हैं।

नेमिनाथ भगवानके गणधर वरदत्तकी और अगणित मुनियोंकी यह निर्वाणभूमि रहा है। अतः इसकी महत्ताका कथन हम जैसे अल्पज्ञोंसे नहीं हो सकता।

इसी सौराष्ट्र देशके उक्त गिरिनगरकी 'चन्द्रगुफा'* में आजसे दो हजार वर्ष पहले अष्टांग महानिमित्त ज्ञानी प्रवचन वत्सल, महातपस्वी क्षीणकाययोगी अंगपूर्वके एकदेशपाठी धरसेनाचार्यने दक्षिण देशवासी महिमा नगरीके उत्सवसे आगत पुष्पदन्त भूतबलिनामक साधुओंको सिद्धांत ग्रन्थ पढ़ाया था।

इसके सिवाय, विक्रमकी द्वितीय शताब्दीके आचार्य समन्तभद्र स्वामीके स्वयम्भू स्तोत्रके अनुसार उस समय यह पहाड़ भक्तिसे उल्लासितचित्त ऋषियों द्वारा निरन्तर अभिसेवित था और पहाड़की शिखरें विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे समलंकृत थीं। इससे स्पष्ट है कि आजसे १८०० वर्ष पूर्व यह पावन तीर्थभूमि जैन साधुओंके द्वारा अभिवंदनीय तथा तपश्चरण भूमि बनी हुई थी। उसके बाद अब तकतक यह भूमि बराबर तीर्थभूमिके रूपमें जगतमें मानी एवं पूजी जाती रही है। अनेक साधु, श्रावक, श्राविकाओं और विद्वानोंके द्वारा समर्च्यनीय है। इसी कारण जैन समाजमें इस क्षेत्रकी निर्वाणक्षेत्रोंमें गणनाकी गई है।

इस क्षेत्रकी यात्रासे सातिशय पुण्यका संचय होता है। प्राचीनकालमें अनेक तीर्थ यात्रा संघ इस पर्वत पर अपूर्व उत्साहके साथ आते और पूजा वंदनाकर लौट जाते थे। आज यह केवल जैनियोंका ही तीर्थ नहीं रहा है किन्तु हिन्दुओं और मुसलमानोंका भी तीर्थ बना हुआ है। हिन्दु लोग पांचवी टोंक पर नेमिनाथके चरणोंको दत्तात्रयके चरण बतलाकर पूजते हैं और दूसरी तीसरी टोंक पर उन्होंने अपने तीर्थस्थानकी भी कल्पना की हुई है। अतः हिन्दू समाज भी इस क्षेत्रका समादर करता है। मुसलमान भी मदारसा नामक पीरकी कब्र बतलाकर इबादत करने आते हैं।

जैनियोंके मन्दिर प्रथम टोंक पर ही पाये जाते हैं। आगेकी टोंकों पर केवल चरण-चिन्ह ही अंकित हैं। यह मन्दिर दो भागोंमें विभाजित हैं दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर मन्दिरोंकी संख्या सिर्फ तीन है और श्वेताम्बरोंके मंदिरोंकी संख्या २२ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि प्राचीन कालमें इस क्षेत्रपर दिगम्बर श्वेताम्बरका कोई भेद नहीं था, सभी यात्री समान भावसे आते और यात्रा करके चले जाते थे। परन्तु १०वीं ११वीं सदीके बादसे साम्प्रदायिक व्यामोहकी मात्रा अधिक बढ़ी तभीसे उक्त कल्पना रूढ़ हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि उभय समाज के श्रीमानों और विद्वानों तथा साधु समय समय पर यात्रा संघ आते रहे हैं। आज हम वहां गिरिनगरमें विक्रमकी १२वीं १३वीं शताब्दीके बने हुए श्वेताम्बर मन्दिर देखते हैं किन्तु पुरातन दिगम्बर मन्दिरोंका कोई अवशेष देखनेमें नहीं आता। वर्तमानमें जो दिगम्बर मन्दिर विद्यमान हैं वे १७ वीं शताब्दीके जान पड़ते हैं, यद्यपि ये उसी जगह बने हुए कहे जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गिरनगरमें दिगम्बर पुरातन मंदिर न बने हों, क्योंकि पुरातन मन्दिर और चरणवन्दनाके उल्लेख भी उपलब्ध हैं जिनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि गिरिनगर पर जिन मन्दिर विद्यमान थे। कमसे कम १२ वीं १३ वीं शताब्दीके मन्दिर तो अवश्यही बने हुए थे। पर उनका क्या हुआ यह कुछ समझमें नहीं आता, हो सकता है कि कुछ पुरातन मन्दिर व मूर्तियां जीर्ण हो गई हों, या उपद्रवआदिके कारण विनष्ट कर दी गई हों कुछ भी हुआ हो पर उनके अस्तित्वसे इंकार नहीं किया जा सकता। परन्तु खेद है कि सम्प्रदायके व्यामोहसे दिगम्बरोंको अपनी प्राचीन सम्पत्तिसे भी हाथ धोना

*गिरिनगरकी यह गुफा आजकल 'बाबा प्यारा के मठ' के पास वाली जान पड़ती है।

पड़ा है। यह पहाड़ पहले दिगम्बर सम्प्रदायके कब्जेमें ही था और वही इसका प्रबन्ध करते थे। इनकी अस्त व्यस्तता और असावधानीही उसमें निमित्त कारण है। इनकी प्राचीन सामग्री विद्वेशवश नष्ट-भ्रष्ट करदी गई हैं।

गिरनारजीके तीर्थयात्रा स्थल

तलहटीसे दो मीलकी दूरी पर एक बड़ा दरवाजा आता है उससे कहीं ४० कदम पर दाहिनी ओर एक सरकारी बंगला है, इसमें एक दुकानदार रहता है इसके बाजूमें दिगम्बर जैन धर्मशाला है। जिसमें एक पुजारी और एक सफाई करने वाला रहता है पासमें श्वेताम्बर धर्मशाला है। यहां से सीधी सड़क चलने पर दाहिनी ओर एक छोटा सा दरवाजा मिलता है उससे करीब १२७ सीढ़ी चढ़ने पर दाहिनी ओर एक कम्पाउन्डके अन्दर तीन दिगम्बर मन्दिर हैं बाईं ओर नीचे श्वेताम्बर मंदिर हैं और इन्हीं दिगम्बर मन्दिरोंके नीचे राजुलकी गुफा है। अस्तु, मन्दिरोंसे १०५ सीढ़ी चढ़ने पर 'गोमुखीकुण्ड' मिलता है। यहां कम्पाउन्डके अन्दर नर कुण्डके ऊपर ताकमें चौबीस तीर्थंकर भगवानके चरण हैं। यह कुण्ड हिन्दू भाइयोंका है। इस कम्पाउन्डमें महादेवके मन्दिर हैं। यह सब स्थान पहली टोंक कहा जाता है। इस गोमुखीकुण्डके पाससे उत्तरको ओर सहसाम्रवनके जानेका मार्ग भी आता है।

प्रथम टोंकसे आगे चलने पर गिरनार पर्वतकी चोटी पर बाईं ओरको अम्बादेवीका एक बड़ा मन्दिर बना हुआ है। इसके पीछे चबूतरा पर अनिरुद्ध कुमारके चरण हैं। हिन्दू भाई इसे अम्बामाताकी टोंक कहते हैं।

यहांसे आगे चलने पर एक तीसरी टोंक आती है। इस पर शम्भूकुमारके चरण हैं। हिन्दू लोग इसे गोरखनाथकी टोंक बतलाते हैं।

तीसरी टोंकसे आगे चलनेपर एक खूब उतार आता है नीचे पहुँचने पर जहाँ कुछ समभाग आजाता है, वहांसे बाईं ओर चौथी टोंक पर जानेका पगडंडी मार्ग आता है। इस टोंकपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ नहीं हैं, इस कारण चढ़नेमें बड़ी कठिनाई होती है, बड़ी सतर्कता एवं सावधानी से चढ़ना होता है जरा चूके कि जीवनका अन्त समझिए। इसीसे कितनेही लोग चौथी टोंकको नीचेसे वंदना करते हैं। टोंकके ऊपर काले पाषाण पर नेमिनाथकी प्रतिमा तथा दूसरी शिलापर चरण अंकित हैं, जिस पर संवत् १२४४ का एक लेखभी उत्कीर्ण किया हुआ है। पर्वतकी यह शिखर अत्यन्त ऊँची है, इस परसे चारों ओरका दृश्य बड़ाही सुन्दर प्रतीत होता है। परन्तु जब नीचेकी ओर अवलोकन करते हैं तब भयसे शरीर कांप जाता है।

उस सम भूभागसे आगे चलने पर कुछ चढ़ाई आती है उसे तय कर यात्री पांचवीं टोंक पर पहुँचता है। इस टोंक पर भगवान नेमिनाथके चरण हैं, एक पाषाणकी मूर्ति भी है जो कुछ घिस गई है। यहीं पर नेमिनाथके गणधर वरदत्तका निर्वाण हुआ है। हिन्दू भाई नेमिनाथके चरणोंको दत्तात्रयके चरण कह कर पूजते हैं और मुसलमान मदारशा पीरकी तकिया कहते हैं। इस पांचवीं टोंकमें ५-७ सीढ़ी नीचे उतरने पर संवत् ११०८ का एक लेख मिलता है जैनी यात्री इसी टोंकसे नीचे उतर कर वापिस दूसरी टोंक पर जाते हैं और वहां से वे सहसाम्रवन होते हुए तलहटीकी धर्मशालामें आ जाते हैं। हम लोग यहां पर ६ दिन ठहरे, तीन यात्राएँ कीं। एक दिन मध्यमें जूनागढ़ शहर भी देखा और मन्दिरोंके दर्शन किए, अजायब घर भी देखा।

यहांसे हम लोग पुनः राजकोट होते हुए सोनगढ़ पहुँचे।

कुरलका महत्व और जैनकर्तृत्व

[श्रीविद्याभूषण पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री]

[इस लेखके लेखक जैन समाजके एक प्रसिद्ध प्रज्ञाचक्षु विद्वान् हैं जिन्होंने कुरल काव्यका गहरा अध्ययन ही नहीं किया बल्कि उसे संस्कृत, हिन्दी गद्य तथा हिन्दी पद्योंमें अनुवादित भी किया है, जिन सबके स्वतंत्र प्रकाशनका आयोजन हो रहा है। आप कितने परिश्रमशील लेखक और विचारक हैं यह बात पाठकोंको इस लेख परसे सहज ही जान पड़ेगा। आपने अब अनेकान्तमें लिखनेका संकल्प किया है यह बड़ी ही प्रसन्नताका विषय है और इसलिये अब आपके कितने ही महत्वके लेख पाठकोंको पढ़नेको मिलेंगे, ऐसी दृढ़ आशा है।

—सम्पादक]

परिचय और महत्व—

'कुरल' तामिल भाषाका एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त काव्य ग्रन्थ है। यह इतना मोहक और कलापूर्ण है कि संसार दो हजार वर्षसे इसपर मुग्ध है यूरोपकी प्रायः सब भाषाओंमें इसके अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजीमें इसके रेवरेण्ड जी० यू० पोपकवि, वी० वी० एस० अय्यर और माननीय राजगोपालाचार्य-द्वारा लिखित तीन अनुवाद विद्यमान हैं।

तामिल भाषा-भाषी इसे 'तामिल वेद' 'पंचम वेद' 'ईश्वरीय ग्रन्थ' 'महान सत्य' 'सर्वदेशीय वेद' जैसे नामोंसे पुकारते हैं। इससे हम यह बात सहजमें ही जान सकते हैं कि उनकी दृष्टिमें कुरलका कितना आदर और महत्व है। 'नालदियार'* और 'कुरल' ये दोनों जैन काव्य तामिल भाषाके 'कौस्तुभ' और 'सीमन्तक' मणि हैं। तामिल भाषाका एक स्वतंत्र साहित्य है, जो मौलिकता तथा विशालतामें विश्वविख्यात संस्कृत साहित्यसे किसी भी भांति अपनेको कम नहीं समझता।

कुरलका नामकरण ग्रन्थमें प्रयुक्त कुरलवेणवा' नामक छन्दविशेषके कारण हुआ है जिसका अर्थ दोहा-विशेष है। इस नीति काव्यमें १३३ अध्याय हैं, जो कि धर्म(अरम) अर्थ (पोरुल) और काम (इनबम) इन तीन विभागोंमें विभक्त हैं और ये तीनों विषय विस्तारके साथ इस प्रकार समझाये गये हैं जिससे ये मूलभूत अहिंसा-सिद्धान्तके साथ सम्बद्ध रहें। पारखी तथा धार्मिक विद्वान इसे अधिक महत्व इस कारण देते हैं कि इसकी विषय-विवेचन-शैली बड़ी ही सुन्दर, सूक्ष्म और प्रभावोत्पादक है। विषय-निर्वाचन भी इसका बड़ा पांडित्यपूर्ण है। मानवजीवनको शुद्ध और सुन्दर बनानेके लिए जितनी विशालमात्रामें इसमें उपदेश दिया गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसके अध्ययनसे सन्तप्त-हृदयको बहुत शांति और बल मिलता है, यह हमारा निजका भी अनुभव है। एक ही रात्रिमें दोनों नेत्र चले जानेके पश्चात् हमारे हृदयको प्रफुल्लित रखनेका श्रेय कुरलको ही प्राप्त है। हमारी रायमें यह काव्य संसारके लिए वरदान स्वरूप जो भी इसका अध्ययन करेगा वही इसपर निछावर हो जावेगा। हम अपनी इस धारणाके समर्थनमें तीन अनुवादकोंके अभिमत यहां उद्धृत करते हैं:—

१. डा० पोपका अभिमत—'मुझे प्रतीत होता है कि इन पद्योंमें नैतिक कृतज्ञताका प्रबलभाव, सत्यकी तीव्रशोध, स्वार्थरहित तथा हार्दिक दानशीलता एवं साधारणतया उज्ज्वल उद्देश्य अधिक प्रभावक हैं। मुझे कभी कभी ऐसा अनुभव हुआ है कि मानों इसमें ऐसे मनुष्योंके लिए भण्डाररूपमें आशीर्वाद भरा हुआ है जो इस प्रकारकी रचनाओंसे अधिक आनन्दित होते हैं और इस तरह सत्यके प्रति क्षुधा और पिपासाकी विशेषताको घोषित करते हैं. वे लोग भारत-वर्षके लोगोंमें श्रेष्ठ हैं तथा कुरल एवं नालदीने उन्हें इस प्रकार बनानेमें सहायता दी है।

२. श्री वी. वी. एस. अय्यरका अभिमत—'कुरल-कर्ताने आचार-धर्मकी महत्ता और शक्तिका जो वर्णन किया है उससे संसारके किसी भी धर्म संस्थापकका उपदेश अधिक प्रभावयुक्त या शक्तिप्रद नहीं है। जो तत्त्व इसने

---

*यह वह काव्य है जिसे श्रुतकेवली भद्रबाहुके संघमें दक्षिण देशमें गये हुये आठ हजार मुनियोंने मिलकर बनाया था।

बतलाये हैं उनसे अधिक सूक्ष्मबात भीष्म या कौटिल्य कामन्दक या रामदास विष्णुशर्मा या माई० के० वेली ने भी नहीं कही है। व्यवहारका जो चातुर्य इसने बतलाया है और प्रेमीका हृदय और उसकी नानाविधवृत्तियों पर जो प्रकाश इसने डाला है उसमे अधिक पता कालिदास या शेक्सपियरको भी नहीं था।'

श्रीराजगोपालाचार्यका अभिमत—'तामिल जाति की अन्तरात्मा और उसके संस्कारोंको ठीक तरहसे समझनेके लिये 'त्रिक्कुरल' का पढ़ना आवश्यक है। इतना ही नहीं यदि कोई चाहे कि भारतके समस्त साहित्यका मुझे पूर्णरूपसे ज्ञान हो जाय तो त्रिक्कुरलको बिना पढ़े हुए उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता।

त्रिक्कुरल, विवेक शुभसंस्कार और मानव प्रकृतिके व्यवहारिक ज्ञानकी खान है। इस अद्भुत ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता और चमत्कार यह है कि इसमें मानवचरित्र और उसकी दुर्बलताओंकी तह तक विचार करके उच्च आध्यात्मिकताका प्रतिपादन किया गया है। विचारके सचेत और संयत औदार्यके लिए त्रिक्कुरलका भाव एक ऐसा उदाहरण है कि जो बहुत काल तक अनुपम बना रहेगा। कलाकी दृष्टिसे भी संसारके साहित्यमें इसका स्थान ऊँचा है, क्योंकि यह ध्वनि काव्य है, उपमाएँ और दृष्टान्त बहुत ही समुचित रक्खे गए हैं और इसकी शैली व्यङ्गपूर्ण है।'

कुरलका कर्तृत्व—

भारतीय प्राचीनतम पद्धतिके अनुसार यहांके ग्रन्थकर्ता ग्रन्थमें कहीं भी अपना नाम नहीं लिखते थे। कारण, उनके हृदयमें कीर्तिलालसा नहीं थी किन्तु लोकहितकी भावना ही काम करती थी। इस पद्धतिके अनुसार लिखे गये ग्रंथोंके कर्तृत्व-विषयमें कभी कभी कितना ही मतभेद खड़ा हो जाता है और उसका प्रत्यक्ष एक उदाहरण कुरलकाव्य है। कुछ लोग कहते हैं कि इसके कर्ता 'तिरुवल्लवर' थे और कुछ लोग यह कहते हैं कि इसके कर्ता 'एलाचार्य' थे।

इसी प्रकार कुरलकर्त्ताके धर्म सम्बन्धमें भी मतभेद है शैव लोग कहते हैं कि यह शैवधर्मका ग्रन्थ है और वैष्णव लोग इसे वैष्णवधर्मका ग्रन्थ बतलाते हैं। इसके अंग्रेजी अनुवादक डा० पोपने तो यहाँ तक लिख दिया है कि 'इसमें संदेह नहीं कि ईसाई धर्मका कुरलकर्ता पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। कुरलकी रचना इतनी उत्कृष्ट नहीं हो सकती थी यदि उन्होंने सैन्टटामससे मलयपुरमें ईसाके उपदेशोंको न सुना होता।' इस प्रकार भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वाले कुरलको अपना अपना बनानेके लिए परस्पर होड़ लगा रहे हैं।

इन सबके बीच जैन कहते हैं कि 'यह तो जैन ग्रन्थ है, सारा ग्रन्थ "अहिंसा परमोधर्मः" की व्याख्या है और इसके कर्त्ता श्री एलाचार्य हैं, जिनका कि अपरनाम कुन्दकुन्दाचार्य है।'

शैव और वैष्णवधर्मकी साधारण जनतामें यह भी लोकमत प्रचलित है कि कुरलके कर्त्ता अछूत जातिके एक जुलाहे थे। जैन लोग इस पर आपत्ति करते हैं कि नहीं, वे क्षत्री और राजवंशज हैं। जैनोंके इस कथनसे वर्तमान युगके निष्पक्ष तथा अधिकारी तामिल-भाषा विशेषज्ञ सहमत हैं। श्रीयुत् राजाजी राजगोपालाचार्य तामिलवेदकी प्रस्तावनामें लिखते हैं कि—'कुछ लोगोंका कथन है कि कुरलके कर्त्ता अछूत थे, पर ग्रन्थके किसी भी अंशसे या उसके उदाहरण देने वाले अन्य ग्रन्थ लेखकोंके लेखोंसे इसका कुछ भी आभास नहीं मिलता। और हमारी रायमें बुद्धि कहती है कि अछूत जैसी एक तामिल भाषाका ज्ञाता अछूत कुरलको नहीं बना सकता, कारण कुरलमें तामिल प्रांतीय विचारोंका ही समावेश नहीं है किन्तु सारे भारतीय विचारोंका दोहन है। इसका अर्थशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान-कौटिलीय अर्थशास्त्रकी कोटिका है। इस ग्रन्थका रचयिता निःसन्देह बहुश्रुत और बहुभाषा-विज्ञ होना चाहिए, जैसे एलाचार्य थे।

तामिल भाषाके कुछ समर्थ अजैन लेखकोंकी यह भी राय है कि 'कुरलके कर्त्ताका वास्तविक परिचय अब तक हम लोगोंको अज्ञात है, उसके कर्त्ता तिरुवल्लुवरका यह कल्पित नाम भी संदिग्ध है। उनकी जीवन घटना ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक तथ्योंसे अपरिपूर्ण है।'

अन्तः साक्षी—

अतः हम इन कल्पित दन्तकथाओंका आधार छोड़कर ग्रन्थकी अन्तः साक्षी और प्राप्त ऐतिहासिक उदाहरणोंको लेकर विचार करेंगे, जिससे यथार्थसत्यकी खोज हो सके। जो भी निष्पक्ष विद्वान इस ग्रंथका सूक्ष्मताके साथ परीक्षण करेगा उसे यह बात पूर्णतः स्पष्ट हुए बिना नहीं

रहेगी कि यह ग्रन्थ शुद्ध अहिंसाधर्मसे परिपूर्ण है और इसलिये यह जैन मस्तिष्ककी उपज होना चाहिए। श्रीयुत् सुब्रह्मण्य अय्यर अपने अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें लिखते हैं कि 'कुरलकाव्यका मंगलाचरण वाला प्रथम अध्याय जैनधर्मसे अधिक मिलता है।'

फूल भले ही यह न कहे कि मैं अमुक वृक्षका हूँ, फिर भी उसकी सुगन्धि उसके उत्पादक वृक्षको कहे बिना नहीं रहती; ठीक इसी प्रकार किसी भी ग्रंथके कर्ताका धर्म हमें भले ही ज्ञात न हो पर उसके भीतरी विचार उसे धर्म विशेषका घोषित किये बिना न रहेंगे। लेकिन इन विचारों-का पारखी होना चाहिए। यदि अजैन विद्वान् जैनवाङ्मयके ज्ञाता होते तो उन्हें कुरलको जैनाचार्यकृत माननेमें कभी देरी न लगती। ग्रन्थकर्त्ताने जैन भाव इस काव्यमें कलापूर्ण ढंगसे लिखे हैं उनको वे लोग जैनधर्मसे ठीक परिचित न होने के कारण नहीं समझ सके हैं कुरलकी सारी रचना जैन-मान्यताओंसे परिपूर्ण है। इतना ही नहीं किन्तु उसका निर्माण भी जैनपद्धतिको लिये हुए है। इसका कुछ दिग्दर्शन हम यहां कराते हैं—

इसमें किसी वैदिक देवताकी स्तुति न देकर जैनधर्मके अनुसार मंगलकामना की गई है। जैनियोंमें मंगल कामना करनेकी एक प्राचीन पद्धति है, जिसका मूल यह सूत्र है कि 'चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।" अर्थात् चार हमारे लिये मंगलमय हैं—अरहन्त सिद्ध, साधु और सर्वज्ञप्रणीत धर्म। देखिए 'ईश्वरस्तुति' नामक प्रथम अध्यायमें प्रथम पद्यसे लेकर सातवें तक अरहन्त स्तुति है और आठवेंमें सिद्धस्तुति है। नवमें और दशवें में साधुके विशेष भेद आचार्य और उपाध्यायकी स्तुति है।

सम्राट् मौर्य चन्द्रगुप्तके समय उत्तर भारतमें १२ वर्षका एक बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण साधुचर्या कठिन हो गई थी। अतः श्रुतकेवली भद्रबाहुके नेतृत्वमें आठ हजार मुनियोंका संघ उत्तर भारतसे दक्षिण भारत चला गया था। मेघवर्षाके बिना साधुचर्या नहीं रह सकती यह भाव उस समय सारी जनतामें छाया था, इसलिए कुरलके कर्त्ताने उसी भावसे प्रभावित होकर 'मुनि स्तुति' नामक तृतीय अध्यायके पहले 'मेघ महिमा' नामक द्वितीय अध्यायको लिखा है। साधुस्तुतिके पश्चात् चौथे अध्यायमें मंगलमय धर्मकी स्तुति की गई।

ईश्वरस्तुति नामक प्रथम अध्यायके प्रथम पद्यमें 'आदिपकवन' शब्द आया है जिसका अर्थ होता है 'आदि भगवान', जो कि इस युगके प्रथम अरहन्त भगवान आदीश्वर ऋषभदेवका नाम है। दूसरे पद्यमें उनकी सर्वज्ञता का वर्णन कर पूजाके लिए उपदेश दिया गया है। तीसरे पद्यमें 'मलरमिशै' अर्थात् कमलगामी कहकर उनको अरहन्त अवस्थाके एक अतिशयका वर्णन है। चौथे पद्यमें उनकी वीतरागताका व्याख्यान कर, पांचवें पद्यमें गुणगान करनेसे पापकर्मोंका क्षय कहा गया है, छठे पद्यमें उनसे उपदिष्ट धर्म तथा उसके पालनका उपदेश दिया गया है और सातवेंमें उपर्युक्त देवकी शरणमें आनेसे ही मनुष्यको सुख शांति मिल सकती है ऐसा कहा है। जैनधर्ममें सिद्ध परमेष्ठीके आठगुण माने गये हैं इसलिए सिद्धस्तुति करते हुए आठवें पद्यमें उनके आठ गुणोंका निर्देश किया गया है।

जैनधर्ममें पृथ्वी वातवलयसे वेष्टित बतलाई गई है कुरलमें भी पच्चीसवें अध्यायके पांचवें पद्यमें दयाके प्रकरणमें कहा गया है—'क्लेश दयालु पुरुषके लिए नहीं है, भरी पूरी वायु वेष्टित पृथ्वी इस बातकी साक्षी है।

सत्यका लक्षण कुरलमें वही कहा गया है जो जैनधर्म को मान्य है—ज्योंकी त्यों बात कहना सत्य नहीं है किंतु समीचीन अर्थात् लोकहितकारी बातका कहनाही सत्य है, भले ही वह ज्यों की त्यों न हो—

नहीं किसी भी जीवको जिससे पीड़ा कार्य।
सत्य वचन उसको कहें, पूज्य ऋषीश्वर आर्य ॥१॥

वैदिक पद्धतिमें जब वर्णव्यवस्था जन्ममूलक है तब जैन पद्धतिमें वह गुणमूलक है। कुरलमें भी गुणमूलक वर्णव्यवस्थाका वर्णन है—'साधु प्रकृति-पुरुषोंको ही ब्राह्मण कहना चाहिए, कारण वे ही लोग सब प्राणियों पर दया रखते हैं।

वैदिक वर्णव्यवस्थामें कृषि शूद्रका ही कर्म है तब कुरल अपने कृषि अध्यायमें उसे सबसे उत्तम आजीविका बताता है; क्योंकि अन्यलोग पराश्रित तथा परपिण्डोपजीवी हैं। जैन शास्त्रानुसार प्रत्येक वर्ण वाला व्यक्ति कृषि कर सकता है।

उनका जीवन सत्य जो, करते कृषि उद्योग।
और कमाई अन्यकी, खाते बाकी लोग ॥

जैन शास्त्रोंमें नरकोंको 'विवर' अर्थात् बिलरूपमें तथा मोक्ष स्थानको स्वर्गलोकके ऊपर माना है। कुरलमें ऐसा ही वर्णन है; जैसाकि उसके पद्योंके निम्न अनुवादसे प्रकट है—

जीवनमें ही पूर्वसे कहे स्वयं अज्ञान।
अहो नरकका क्षुद्रबिल, मेरा अगला स्थान॥
'मेरा' मैं? के भाव तो, स्वार्थ गर्वके थोक।
जाता त्यागी है वहाँ, स्वर्गोपरि जो लोक॥

सागारधर्मामृतके एक पद्यमें पं० आशाधरजीने प्राचीन जैन परम्परासे प्राप्त ऐसे चौदह गुणोंका उल्लेख किया है जो गृहस्थ धर्ममें प्रवेश करने वाले नर-नारियोंमें परिलक्षित होने चाहिये, वह पद्य इस प्रकार है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योऽन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालु रघभीः सागारधर्मं चरेत्॥

हम देखते हैं कि इन चौदह गुणोंकी व्याख्याही सारा कुरल काव्य है।

ऐतिहासिक बाहरी साक्षी—

१. शिलप्पदिकरम्—यह एक तामिल भाषाका अति सुन्दर प्राचीन जैनकाव्य है। इसकी रचना ईसाकी द्वितीय शताब्दीमें हुई थी। यह काव्य, काव्यकला-की दृष्टिसे तो महत्वपूर्ण है ही, साथ ही तामिल जाति की समृद्धि, सामाजिक व्यवस्थाओं आदिके परिज्ञानके लिए भी बड़ा उपयोगी है; और प्रचलित भी पर्याप्त है इसके रचयिता चेरवंशके लघु युवराज राजर्षि कहलाने लगे थे। इन्होंने अपने शिलप्पदिकरम्ने कुरलके अनेक पद्य उद्धरणमें देकर उसे आदरणीय जैनग्रन्थ माना है।

२. नीलकेशी—यह तामिलभाषामें जैनदर्शनका प्रसिद्ध प्राचीन शास्त्र है। इसके जैन टीकाकार अपने पक्षके समर्थनमें अनेक उद्धरण बड़े आदरके साथ देते हैं, जैसे कि 'इम्मोट्टू' अर्थात् हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ कुरलमें कहा है।

३. प्रबोधचन्द्रोदय—यह तामिलभाषामें एक नाटक है, जो कि संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदयके आधार पर शंकराचार्य-के एक शिष्य द्वारा लिखा गया है। इसमें प्रत्येक धर्मके प्रतिनिधि अपने अपने धर्मग्रन्थका पाठ करते हुए रंगमंच पर लाये गये हैं। जब एक निर्ग्रन्थ जैन मुनि स्टेज पर आते हैं तब वह कुरलके इस विशिष्ट पद्यको पढ़ते हुए प्रविष्ट होते हैं जिसमें अहिंसा सिद्धान्तका गुणगान इस रूपमें किया गया है:—

सुनते हं बलिदानसे, मिलतीं कई विभूति।
वे भव्योंकी दृष्टिमें, तुच्छघृणा की मूर्ति॥

यहाँ यह सूचित करना अनुचित नहीं है कि नाटक-कारकी दृष्टिमें कुरल विशेषतया जैनग्रन्थ था, अन्यथा वह इस पद्यको जैन संन्यासीके मुखसे नहीं कहलाता।

इस अन्तरंग और बहिरङ्ग साक्षीसे इस विषयमें सन्देहके लिए प्रायः कोई स्थान नहीं रहता कि यह ग्रन्थ एक जैन कृति है। निःसन्देह इस नीतिके ग्रन्थकी रचना महान् जैन विद्वान्के द्वारा विक्रमकी प्रथम शताब्दके लगभग इस ध्येयको लेकर हुई है कि अहिंसा सिद्धान्तका उसके सम्पूर्ण विधरूपोंमें प्रतिपादन किया जावे।

(अपूर्ण)

साहित्य परिचय और समालोचन

पुरुषार्थसिद्ध्युपायटीका—मूलकर्ता आचार्य अमृतचन्द्र टीकाकार, पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल जौहरी बाजार, बम्बई नं० २। पृष्ठ संख्या १२०। मूल्य दो रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थ सिद्धिके उपाय स्वरूप श्रावक धर्मका कथन करते हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयके स्वरूपादिका विवेचन किया है इस ग्रन्थपर एक अज्ञात कर्तृक संस्कृत टीका जयपुरके शास्त्र भण्डारमें पाई जाती है और दो तीन हिन्दी टीकाएं भी हो चुकी हैं परन्तु प्रेमीजीने इस टीका को बालकोपयोगी बनानेका प्रयत्न किया है। टीकामें अन्वयार्थ और भावार्थ दिया गया है और यथास्थान

फुटनोटोंमें उसके विषय के स्पष्टी करणकी सूचना भी दी गई है। इस कारण टीका सरल और विद्यार्थियोंके लिये सुगम होगई है—उसकी सहायतासे वे ग्रन्थके विषयको सहज ही समझ सकते हैं। यह संस्करण अपने पिछले संस्करणों की अपेक्षा संशोधन दिके कारण खास अपनी विशेषता रखता है।

प्रस्तावनामें आचार्य अमृतचन्द्रका परिचय देते हुए उन्हें विक्रमकी १२वीं शताब्दीका विद्वान सूचित किया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे विचारणीय है। जबकि पट्टावलीमें आचार्य अमृतचन्द्रको विक्रमकी १०वीं शताब्दीका विद्वान बतलाया गया है। साथ ही, प्रेमीजीने ग्रन्थ कर्ताके सम्बन्धमें नया प्रकाश डालते हुए, पज्जुण्ण चरिउके कर्ता सिंहकविके गुरु मलधारी माधवचन्द्रके शिष्य अमि या अमृतचन्द्रको पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कर्ता होनेकी संभावना भी व्यक्त की है।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे प्रेमीजीकी उक्त धारणा अथवा कल्पना संगत प्रतीत नहीं होती; क्योंकि प्रथम तो अमृतचन्द्रका समय विक्रम संवत् १०५५ से बादका नहीं हो सकता। कारण कि 'धर्मरत्नाकर' के कर्ता जयसेनने जो लाल बागडसंघके विद्वान भावसेनके शिष्य थे। जयसेनने अपना उक्त ग्रंथ वि०संवत् १०५५ में बनाकर समाप्त किया है*। उस ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ५६ पद्य पाये जाते हैं। साथ ही, सोमदेवाचार्यके यशस्तिलकचम्पूके भी १०० से ऊपर पद्य उद्धृत हैं। अतः अमृतचन्द्रका समय वि० सं० १०५५ से बादका नहीं हो सकता ×।

अब रही, 'पज्जुण्णचरिउके कर्त्ता सिंहकविके गुरु अमृतचन्द्रके साथ एकत्वकी बात। सो दोनों अमृतचन्द्र भिन्न २ व्यक्ति हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कर्ताको पं० आशाधरजीने 'ठक्कुरोप्याह' वाक्यके साथ उल्लेखित किया है जिससे वे ठाकुर-क्षत्रिय राजपूत ज्ञात होते हैं। जब कि 'पज्जुण्णचरिउकी प्रशस्तिमे ऐसी कोई बात नहीं है।

* देखो, अनेकान्त वर्ष ८ किरण ४-५ में 'धर्मरत्नाकर और जयसेन नामके आचार्य नामका लेख।

× देखो अनेकान्त वर्ष ८ कि० १०-११ में प्रकाशित 'महाकविसिंह और प्रद्युम्नचरित' नामका लेख—

दूसरे सिंह कविने अपनी रचना, बंभणवाड (सिरोही) में वहांके गुहिल वंशीय राजा भुल्लणके राज्यकालमें, जो मालव नरेश बल्लालका मांडलिक सामन्त था और जिसका राज्यकाल विक्रम संवत १२०० के आस पास पाया जाता है।

बल्लालकी मृत्युका उल्लेख अनेक प्रशस्तियोंमें मिलता है। बडनगरसे प्राप्त कुमारपाल प्रशस्तिके १५ श्लोकोंमें बल्लाल और कुमारपालकी विजयका उल्लेख किया गया है और लिखा है कि कुमारपालने बल्लालका मस्तक महलके द्वार पर लटका दिया था। चूंकि कुमारपालका राज्यकाल वि० सं० ११९९ से वि० सं० १२२९ तक पाया जाता है और इस बडनगर प्रशस्तिका काल सन् ११५१ (वि० सं० १२०८) है। अंतः बल्लाल की मृत्यु ११५१ A. D. (वि० सं० १२०८) से पूर्व हुई है।

कुमारपाल, यशोधवल, बल्लाल और चौहान राजा अर्णोराज ये सब राजा समकालीन हैं। अतः ग्रन्थ-प्रशस्तिगत कथनको दृष्टिमें रखते हुए यह प्रतीत होता है कि उक्त प्रद्युम्नचरित की रचना वि० सं० १२०८ से पूर्व हो चुकी थी।

ग्रन्थ प्रशस्तिमें उल्लिखित अमृतचन्द्र, माधवचन्द्रके शिष्य थे जो 'मलधारी'* उपाधिसे अलंकृत थे। भट्टारक अमृतचन्द्र तप तेज रूपी दिवाकर, व्रत नियम तथा शीलके रत्नाकर (समुद्र) थे। तर्क रूपी लहरोंसे जिन्होंने परमतको झकोलित कर दिया था—डगमगा दिया था जो उत्तम व्याकरणरूप पदोंके प्रसारक थे। और जिनके ब्रह्मचर्यके तेजके आगे कामदेव दूरसे ही वंकित (खंडित) होनेकी आशंकासे मानों छिप गया था—कामदेव उक्त मुनिके प्रचण्ड तेजके अमृतचन्द्र आगे आ नहीं सकता था। अर्थात् मुनि पूर्ण ब्रह्मचारी थे।

आचार्य अमृतचंद्रके गुरुका अभी तक कोई नाम ज्ञात नहीं हुआ। वे अध्यात्मवादके अच्छे ज्ञाता और आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतत्रयके अच्छे मर्मज्ञ थे। न्यायशास्त्रके भी विद्वान थे। परन्तु वे प्रद्युम्न चरितके कर्तासे बहुत पहले हो गए हैं। उनका समय विक्रमकी १० वीं शताब्दीसे बाद नहीं हो सकता।

परमानन्द जैन शास्त्री

* देखो, सन् ११५१ की बड नगर प्रशस्ति।

महत्वपूर्ण प्रवचन

(श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

साधु कौन है ?

जिन्होंने बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया वह साधु है। सचमुचमें देखा जाय तो शांतिका स्रोत केवल एक निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही है। यदि त्यागी वर्ग न हों तो आप लोगोंको ठीक राह पर कौन लगावे। कहा भी है :—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षु रुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवेनमः॥

समस्त संसारी प्राणी अज्ञानरूपी तिमिर (अंधकार) से व्याप्त हैं। ज्ञानरूपी अंजनकी शलाकासे जिन्होंने हमारे नेत्रोंको खोल दिया है ऐसे श्री गुरुवरको नमस्कार है।

जो आत्माका साधन करता है, स्वरूपमें मग्न हो कर्म-मलको जलानेकी चेष्टा करता है वह साधु है। समन्तभद्र स्वामीने बतलाया कि वही तपस्वी प्रशंसाके योग्य है जो विषयाशासे रहित है, निरारम्भी है अपरिग्रही है, और ज्ञान-ध्यान-तपमें आसक्त हैं। वह स्व समय और पर समयकी महत्तासे परिचित है। आचार्य कुन्द-कुन्दने स्वसमय और पर समयका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है :—

जीवो चरित्त दंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमय जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियंच जाण परसमयम्॥

जो आत्मा दर्शन, ज्ञान, तथा चारित्रमें स्थित है वही 'स्व समय' है और जो पुद्गलादि पर पदार्थोंमें स्थित है उनको 'पर समय' कहते हैं। तथा 'शुद्धात्माश्रितः स्वसमयो मिथ्यात्व रागादिविभावपरिणामाश्रितः परसमय इति।, अर्थात् जो शुद्धात्माके आश्रित है वह स्वसमय है और जो मिथ्यात्व रागादिविभावपरिणामोंके आश्रित है उसे ही परसमय कहते हैं। परसमयसे हटकर स्वसमयमें स्थिर होना चाहिये। परन्तु हम क्या कहें आप लोगोंकी बात।

एक साधुके पास एक चूहा था। एक दिन एक बिल्ली आई और वह चूहा डरकर साधु महाराजसे बोला—भगवन्! 'मार्जाराद् बिभेमि' अर्थात् मैं बिल्लीसे डरता हूँ। तब साधुने आशीर्वाद दिया 'मार्जारो भव' इससे वह चूहा बिलाव हो गया। एक दिन बड़ा कुत्ता आया, वह बिलाव डर गया और साधुसे बोला प्रभो! 'शुनो बिभेमि' अर्थात् मैं कुत्तेसे डरता हूँ। साधु महाराजने आशीर्वाद दिया 'श्वा भव', अब वह मार्जार कुत्ता हो गया। एक दिन वनमें महाराजके साथ कुत्ता जा रहा था अचानक मार्गमें व्याघ्र मिल गया। कुत्ता महाराजसे बोला—'व्याघ्राद् बिभेमि' अर्थात् मैं व्याघ्रसे डरता हूँ। तब महाराजने आशीर्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' अब वह व्याघ्र हो गया। जब व्याघ्र उस तपोवनके सब हरिण आदि पशुओंको खा चुका तब एक दिन साधु महाराजके ही ऊपर झपटने लगा। साधु महाराजने पुनः आशीर्वाद दे दिया कि 'पुनरपि मूषको भव' अर्थात् फिरसे चूहा हो जा। तात्पर्य यह कि हमारे पुण्योदयसे यह मानव पर्याय प्राप्त हो गई, उत्तम कुल और उत्तम धर्म भी मिल गया अब चाहिये यह था कि कि किसी निर्जन स्थानमें जाकर अपना आत्मकल्याण करते, परन्तु यहां कुछ विचार नहीं है। तनिक संसारकी हवा लगी कि फिरसे विषय-वासनाओंकी कीचड़में जा फंसे। अब तो इन वासनाओंसे मनको मुक्त करके आत्महितकी ओर लगाओ। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' आत्माकी गुण पर्यायको जानो स्याद्वाद द्वारा पदार्थोंके स्वरूपको जान लेना प्रत्येक प्राणि-मात्रका कर्तव्य है।

संसारका सापेक्षव्यवहार

अब देखो, वक्तृत्व व्यवहार भी श्रोतृत्वकी अपेक्षासे होता है। हम वक्ता हैं आप सब श्रोताओंकी अपेक्षासे इसी तरह श्रोतापन भी वक्तापनेकी अपेक्षा व्यवहारमें आता है। द्रव्य अनंत धर्मात्मक है। एक पदार्थ स्वसत्तासे अस्ति और परसत्ताकी अपेक्षा नास्ति है। देखा जाय तो उस पदार्थमें अस्ति नास्ति दोनों धर्म उसी समय विद्यमान हैं। "स्वपरोपादानापोहनव्यवस्था माद्यं हि खलु वस्तुनो वस्तुत्वं" वस्तुका वस्तुत्व भी यही है कि स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो। यह पतित पावन शब्द है। पावन व्यवहार तभी होगा जब कोई पतित हो, पतित ही न हो तब पावन कौन कहलायेगा ?

इस भाँति वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। सामान्यापेक्षासे वस्तुमें अभेद और विशेषापेक्षासे उसमें भेद सिद्ध होता है। 'सर्वेषां जीवनां समाः" अर्थात् सब जीव समान हैं यह कहनेका तात्पर्य जीवत्वगुणकी अपेक्षासे है। यही जीवत्व सिद्धावस्थामें भी है और संसारीजीवोंके संसारावस्थामें भी है परन्तु जहाँ सब सिद्ध अनंतसुखके धारी हैं वहाँ हम संसारी जीव तो नहीं हैं। हम दुःखी हैं। यह सब नय विभागका कथन है।

एक माताको आप जिस दृष्टिसे देखते हैं तो क्या अपनी स्त्रीको भी उसी दृष्टिसे देखेंगे? और कदाचित् आप मुनि हो जायें तो क्या फिर भी आप उसी तरहसे कटाक्ष करेंगे? ये महाराज हैं (आचार्य सूर्यसागर जी की ओर संकेत कर) किसी गृहस्थी के यहाँ जब ये चर्याके निमित्त जाते हैं तो श्रावक किस बुद्धिसे इन्हें आहार दान देता है। और वहा श्रावक किसी क्षुल्लक (एकादश प्रतिमा-धारी श्रावक) को किस बुद्धिसे देता है और कदाचित्-वह श्रावक किसी कङ्गालको आहार देवे तो वह किस बुद्धिसे देगा। मुनिको वह श्रावक पूज्य बुद्धिसे आहारदान देवेगा और उस कङ्गलेको वह करुणाबुद्धिसे, कङ्गला यदि उससे यह कहे कि मैं इस तरहसे आहार नहीं लेता। मै तो उसी तरह नवधा भक्ति पूर्वक लूंगा, जिस तरह तुमने मुनिको दिया है तो अब हम आपसे पूंछते हैं क्या हम उसी तरह आहार दे देवेंगे? नहीं। उससे यही कहेंगे कि भाई! अगर तू भी—मुनि बन जाय और ईर्यापथ शोधकर चलने लगे तो तुझे भी दे सकते हैं।

तिलकने 'गीता-रहस्य" मे लिखा है कि 'गौ-ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये। गौ और ब्राह्मण दोनों जीव हैं तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि गौका चारा ब्राह्मणको दे देवें और ब्राह्मणका हलुआ गायको डाल देवें? द्रव्यका सदैव अपेक्षासे कथन किया जाता है। कोई वस्तु किस अपेक्षासे कही गई है यह हम समझलेवें तो संसारमें कभी विसंवाद ही पैदा न हो।

यह लड़का किसका है? क्या यह अकेली स्त्री का ही है? नहीं तो क्या केवल पुरुष का है? नहीं! दोनों (स्त्री पुरुष) के सयोगावस्थासे लड़का उत्पन्न हुआ है। जिस तरह यह सब कथन सापेक्ष है उसी तरह साधुता और असाधुताका कथन भी सापेक्ष है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव अनन्त धर्मात्मक है उनका सापेक्षदृष्टिसे व्यवहार करने पर विरुद्धताका आभास नहीं होता किन्तु विरोध एकान्तदृष्टिके अपनानेसे ही होता है। एकान्तता ही असाधुता है उससे आत्मा संसारका ही पात्र बना रहता है।

जीव और पुद्गलके संसर्गसे यह संसारावस्था हुई है। जीव अपने विभावरूप परिणमन कर रागी-द्वेषी हुआ है और पुद्गल, अपने विभावरूप और इस तरह इन दोनोंका बन्ध एक क्षेत्रावगाही हो गया है। इस अवस्थामें जब हम विचार करते हैं तब मालूम पड़ता है कि यह आत्मा बद्धस्पृष्ट भी है और अबद्धस्पृष्ट भी। कर्मसम्बन्धकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो यह बद्धस्पृष्ट भूतार्थ है, इसमें सन्देह नहीं, और जब केवल स्वभावकी दृष्टिसे देखते हैं तो यह अभूतार्थ भी है। सरोवरमें कमलिनीका जिसको जलस्पर्श हो गया है इस दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह पत्र जलमें लिप्त है यह भूतार्थ है परन्तु जलस्पर्श छू नहीं सकता है जिसको ऐसे कमलिनीके पत्रको स्वभावकी दृष्टिसे अवलोकन करते हैं तो यह अभूतार्थ है क्योंकि वह जलसे अलिप्त है। अतः अनेकांतको अपनाए बिना वस्तु-स्वरूपको समझना दुश्वार है। नानापेक्षासे आत्म-ज्ञान करना क्या बड़ी बात है 'समाधितन्त्र' में श्रीपूज्यपादस्वामी लिखते हैं—

> यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
> जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥

अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जो यह शरीरादिक पदार्थ दिखाई देते हैं वह अचेतन होनेसे जानते नहीं है। और जो पदार्थोंको जानने वाला चैतन्यरूप आत्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता, इसलिए मैं किसके साथ बात करूँ। यह पण्डितजी हैं; इनसे हम बात करते हैं तो जिससे हम बात कर रहे हैं वह तो दिखता नहीं है और जिससे हम बात कर रहे हैं वह अचेतन होनेसे समझता नहीं है। इसलिए सब झंझटोंसे छुटकार विभावभावोंका परित्यागन कर स्वभावमें स्थिर रहनेका यह क्या ही उत्तम उपाय है। वही स्वामीजी आगे लिखते हैं—

> यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
> उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥

जो प्रतिपादन करता है वह तो प्रतिपादक कहलाता है और जिसको प्रतिपादन करना चाहते हैं वह प्रतिपाद्य कहलाता है। तो कहते हैं कि यह सब मोही मनुष्योंकी पागलों जैसी चेष्टा है। यदि ऐसा ही है तो हम इन्हींसे

पूछते—महाराज ! फिर आप ही यह उपदेश, रचना चातुरी आदि कार्य क्यों करते हैं ? तो इससे मालुम पड़ता है कि मोहके सद्भावमें सब व्यवहार चलते हैं यह असत्य नहीं, सत्य है।

यह लोक षड्द्रव्यात्मक है जिसमें सब द्रव्य परस्पर मिले हुए एक दूसरेका चुम्बन करते रहते हैं। इतना होने पर भी सब अपने अपने स्वरूपमें तन्मय हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे मिलता जुलता नहीं है पर फिर भी एक पर्यायसे दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है और संसारका व्यवहार चलता रहता है।

जैनधर्ममें त्यागका क्रम

जैनधर्ममें सदैव क्रम-क्रमसे ही कथन किया गया है। पहले उपदेश दिया जाता है कि अशुभोपयोगको छोड़ो और शुभोपयोगमें वर्तन करो और जो प्राणी शुभोपयोगमें स्थिर हैं उनसे कहते हैं, भाई यह भाव भी संसार बंधनमें डालने वाला है। अतएव इसको भी त्यागकर शुद्धोपयोगमें वर्तन कर। कुन्दकुन्दाचार्य एक जगह कहते हैं कि प्रतिक्रमण भी विष है। अतः जहाँ प्रतिक्रमणको ही विषरूप कह दिया वहाँ अप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण नहीं करनेको—अमृतरूप कैसे कहा जा सकता है। शुद्धोपयोग प्राप्त करना प्राणी मात्रका ध्येय होना चाहिये। यह अवस्था जब तक प्राप्त नहीं हुई तब तक शुभोपयोगमें प्रवर्तन करना उत्तम है। अतएव क्रम क्रमसे चढ़नेका उपदेश है। तात्पर्य यही है कि यदि मनुष्य अपने भावों पर दृष्टिपात करे तो संसार बन्धनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है। एक बार भी यह प्राणी अपनी अज्ञानताको मेट देवे तो वह परम सुखी हो सकता है।—अज्ञान क्या है ? ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशममें जहाँ मिथ्यात्व लगा हुआ है वही अज्ञान है। उस अज्ञानका शरीर मोहसे पुष्ट होता है। और उसके प्रसादसे ही यह विचित्र लीला देखनेमें आ रही है। अतः आत्म-ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। जिसने प्राप्त कर लिया वही मनुष्य धन्य है और उसीका जीवन सार्थक एवं सफल है।

जीव और अजीवका भेद-विज्ञान

यह जीवाजीवाधिकार है। इस अधिकारमें जीव और अजीव दोनोंके अलग अलग लक्षणोंको कहकर जीवके शुद्ध-स्वरूपको दिखाना कर्ताको अभीष्ट है। कोई जीवको केवल रागद्वेषादिमय बतलाते हैं किन्तु वे तो पुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न विभावभाव हैं। अतः जो जो भाव परके सम्बन्धसे होंगे वे कदापि जीवके नहीं कहलाये जा सकते, क्योंकि यहाँ तो जीवके शुद्ध स्वरूपको बतलाना है न। माथे पर तेल पोतनेसे तो वह चिकनाई तैलकी ही कहलाई जायेगी। इसी तरह समस्त राग-द्वेष व मोहादिककी कल्लोलमालाएँ पुद्गल प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए विभाव भाव हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह (जीव) चित्स्वरूप चिच्छक्तिमात्र धारण करता हुआ शुद्ध टंकोत्कीर्ण एक विज्ञानघनस्वभाव वाला है सब प्राणियोंमें एक समान पाई जाने वाली चीज है। यहाँ किसी का भेद-भाव नहीं है। वस्तुस्थितिका ज्ञान सबके लिये परमावश्यक है।

एक पंगत हो रही थी। वहाँ दो अच्छे धनी-मानी आदमी आस-पास अगल-बगलमें बैठे हुए थे और बीचमें एक साधारण स्थितिका मनुष्य आ बैठा था अब वह परोसने वाला व्यक्ति इधर-उधर पूड़ियोंको दिखाकर उन सेठोंसे बोला—'देखो ! क्या बढ़िया पूड़ी है। बड़ी कोमल और मुलायम है। एक तो आपको अवश्य लेनी चाहिये।' परंतु उस बीचवाले मनुष्यसे कुछ न कहा। अनिच्छासे वह कहता भी तो तुरन्त ही वहाँसे हटकर उनको फिर दिखाने लगता। वह मनुष्य देखता ही रह जाता इस तरह दो बार हुआ, तीन बार हुआ। जब चौथी बार आया तो उसने उठकर एक चाँटा रसीद किया और बोला—बेवकूफ, क्या ये तेरे बाप हैं जो बार बार इनको दिखाकर परोसता है और मुझे योंही छोड़ जाता है ? क्या मैं यहाँ खाने नहीं आया ? मुझे क्यों नहीं परोसता ? इतना जब उससे कहा तब कहीं उसकी अक्ल ठिकाने पर आई। तो कहनेका तात्पर्य यही है कि वह वस्तु-स्वरूप सबका है। अपने विमल स्वरूपका बोध सबको हो सकता है उसमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है।

अब यहाँ जीव और अजीवका भेद दिखलाते हैं। परको ही आत्मा मानने वाले कोई मूढ़ कहते हैं 'अध्यवसान ही जीव है।' अन्य कोई तो कर्मको जीव मानते हैं। कोई कहते हैं कि साता और असाताके उदयसे जो सुख दुःख होता है वह जीव है। कोईका मत है कि जो संसारमें भ्रमण करता है उसके अतिरिक्त और कोई जीव नहीं है। कोई कहते हैं कि आठ काठीकी जैसे खाट होती है, इसके अलावा और खाट कोई चीज नहीं है' इसी तरह आ

कर्मोंका संयोग ही जीव है और जीव कोई जीव नहीं है। इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके बहुतसे मत जीवको मान्यताके विषयमें हैं परन्तु इनमेंसे कोई भी मत सत्य नहीं है। सब भ्रममें हैं क्योंकि वे सब जीव नहीं है। जो अध्यवसानादि भावोंको ही जीव बतलाते हैं उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि वे सभी भाव पौद्गलिक हैं। वे कदापि स्वभावमय जीव द्रव्य नहीं हो सकते, इन रागादि भावोंको जो जीव आगममें बतलाया है वह व्यवहारनयसे है किन्तु वे वस्तुतः जीव नहीं है। इसी प्रकार जो यह प्रलाप करते हैं कि साता और असातासे उत्पन्न सुख दुःखादि हैं वह जीव हैं उनको कहते हैं, भाई! सुख दुखादिका जिसको अनुभव होता है वह जीव है। 'जो संसारमें भ्रमण करता है वह जीव है' ऐसी जिसकी मान्यता है उनके लिए कहते हैं कि इस भ्रमणके अतिरिक्त जो सदा शाश्वता रहने वाला है वह जीव है। जैसे आठ काठीके संयोगसे जो खाट कहलाती है वैसे कि आठ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न जीव नहीं है किन्तु जिस प्रकार आठ-काठीसे बनी हुई खाट उस पर शयन करनेवाला व्यक्ति भिन्न है उसी तरह आठ कर्मोंके अतिरिक्त जो कोई वस्तु है वह जीव है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि वर्णादिक या रागादिक भाव जीव नहीं हैं तब सहज ही यह प्रश्न होता है कि जीव कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं--

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥

यह जीव अनाद्यनंत है और स्वसंवेद्य है केवल अपने से ही अपने द्वारा जानने योग्य है। जिसमें चैतन्यका विलास हो रहा है ऐसा स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप जीव है जो स्वयं प्रकाशमय बोधरूप है।

अतः जीवमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। शरीर 'संस्थान' संहनन आदि भी नहीं है। राग, द्वेष, मोह, एवं कर्म नोकर्म आश्रव भी नहीं है।

न योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान ही हैं और न मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान ही; क्योंकि ये सभी पुद्गलजनित क्रियाएँ हैं अतः वे कदापि जीवके नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह जीव और अजीवका भेद सर्वथा भिन्न है इसको ज्ञानीजन स्वयं स्पष्टतया अनुभव करते हैं किन्तु तिस पर भी यह अत्यंत बढ़ा हुआ महामोह अज्ञानियोंको व्यर्थ ही अनेक प्रकारसे नाच नचाता हुआ उन्हें शुद्धात्मानुभूतिसे वंचित रखता है। आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू व्यर्थ कोलाहलसे विरक्त होकर चैतन्यमात्र वस्तुको देख, हृदय-सरोवरमें निरंतर विहार करनेवाला ऐसा वह भगवान् आत्मा उसका यदि षण्मास पर्यंत भी अनुभव करे तो तुझे आत्म-तत्वकी अवश्य उपलब्धि हुए बिना न रहे। सुखके लिए तू अनन्तकालसे निरन्तर भटक रहा है पर सच्चा वास्तविक) सुख तुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? यह खोजनेका प्रयास भी नहीं किया। काम कैसे बने? किसीने कहा अरे, तेरा कान कौआ लेगया किंतु मूरखने अपना हाथ उठाकर कान पर नहीं देखा। कान कहाँ चला गया? इसी तरह कोई यह कहे कि हमारे तो पीठ ही नहीं है परन्तु तनिक हाथ पीछे मोड़कर देखा होता। कहीं नहीं गई है। अपने ही पास है। केवल उस तरफ लक्ष्य करनेकी आवश्यकता है।

आत्माका प्रशान्त स्वभाव

एक 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक है--उसमें लिखा है, भैया एक सभाभवनमें नट और नटी आये। नटने नटीसे कहा कि आज इन श्रोताओंको कोई एक अपूर्व नाटक सुनाओ। अपूर्व ऐसा जो कभी इन्होंने सुना न हो नटी बोली आर्य! ये संसारी प्राणी रात्रि-दिवस विषयोंमें लीन परिग्रहोंकी चिंताओंमें आरूढ़ तथा चाहकी दाहसे दग्ध इनको ऐसी अवस्थामें सुख कहाँ? तब नट कहने लगा प्रिये? ऐसी बात नहीं है। 'आत्मास्वभावोऽस्तु शांतः केनापि कर्ममल कलङ्ककारणेन अशांतो जातः' अर्थात् आत्मा स्वभावसे शान्त है किन्तु किन्हीं कर्ममल कलङ्ककारणोंसे वह अशांत हो जाता है। अतः इन उपद्रवोंको हटाकर शांत बनजाओ क्योंकि शांतता (सुख) उसका सहज स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावमें रहकर ही शोभा पाता है। किंतु हम लोगोंकी प्रवृत्ति तो बाह्य विषयोंमें लीन हो रही है। उन्हीं सुखकी प्राप्तिमें सारी शक्ति लगा रहे हैं। क्या इनमें सच्चा सुख है? यही मोहकी महिमा है। पर वस्तुओंमें सुखकी कल्पनाका मृगतृष्णासे अपनी पिपासा शांत करना चाहते हैं। सचमुचमें देखा जाय तो सुख आत्माकी एक निर्मल पर्याय है। वह कहीं परमेंसे नहीं आती, क्योंकि ऐसा सिद्धांत है कि जिसकी जो चीज होती है वह उसीके पास रहती है। (फिरोजाबाद मेलेमें किया गया एक प्रवचन)

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) 15)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... 8)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... 5)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... 2)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... 1॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... 1॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... 1)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्त्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत 1)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी पत्नी डा० श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

यंगेश्वर शिव

विषय-सूची

दुःसह भ्रातृ-वियोग !!

श्रीमान् बाबू छोटेलालजी और बाबू नन्दलालजी कलकत्ताके पत्रोंसे यह मालूम करके कि उनके सबसे छोटे भाई लालचन्दजीका गत २२ अक्टूबर को देहान्त होगया है, बड़ा ही दुःख तथा अफ़सोस हुआ !! भादों की अनन्तचतुर्दशी तक लालचन्दजी अच्छे राजी खुशी थे और उस दिन उन्होंने सब मन्दिरोंके दर्शन भी किये थे ! पूर्णिमासे उन्हें कुछ ज्वर हुआ जो बढ़ता गया और आठ दिन उसीकी चिकित्सा होती रही; बादको पेटमें जोरसे दर्द प्रारम्भ हुआ जो किसी उपायसे शान्त न होनेके कारण पेटको चीरनेकी नौबत आई और कलकत्तेके छह सबसे बड़े नामी डाक्टरों तथा सिविल सर्जनोंकी देख रेखमें पेटका आपरेशन कार्य सम्पन्न हुआ और उससे यह जान पड़ा कि अग्निकी थैलीमें छिद्र होगये है जिनका होना एक बहुत ही खतरनाक वस्तु है । सब डाक्टरोंने मिलकर बड़ी सावधानीके साथ जो कुछ चिकित्सा की जा सकती थी वह की और जैसे तैसे १६ दिन तक उसे मृत्यु मुखमें जानेसे रोके रक्खा परन्तु अन्तको कालकी भयङ्कर झपेटसे वह न बच सका और सब डाक्टरादि देखतेके देखते रह गये !!! इस दुःसह भ्रातृ वियोगमे दोनों भाइयोंको जो सदमा पहुँचा है उसे कौन कह सकता है ! अभी आपके बड़े भाई बाबू दीनानाथजीके वियोगको एक ही वर्ष होने पाया था और उससे पहले उनकी माताजी तथा दूसरे बड़े भाई गुलजारीलालजीका भी वियोग होगया था। इस तरह दो तीन वर्षके भीतर आपको तीन भाइयों और एक माताजीका वियोग सहन करनेके लिये बाध्य होना पड़ा है, यह बड़ा ही कष्टकर है ! लालचन्दजीके पहली स्त्रीसे एक लड़का और एक लड़की (दोनों विवाहित) और दूसरी स्त्रीसे आठ बच्चे हैं, जिनकी बड़ी समस्या एवं चिन्ता दोनों भाइयोंके सामने खड़ी होगई है। इधर बाबू छोटेलालजी कई वर्षोंसे बीमार चले जाते हैं, ये सदमे और चिन्ताएँ उनके स्वास्थ्यको और भी उभरने नहीं देतीं—दस दिनको खड़े होते है तो फिर गिर जाते है और महीनोंके लिये रोगशय्या पर सवार हो जाते हैं। इसीसे जैन साहित्य और इतिहासकी सेवाके जो उनके बड़े मन्सूबे हैं वे यों ही टलते जाते हैं और कुछ भी कार्य हो नहीं पाता, यह उनके ही नहीं किन्तु समाजके भी दुर्भाग्यका विषय है जो ऐसे सेवाभावी सज्जनों पर संकट पर संकट उपस्थित होते चले जाते हैं । आपके इस ताजा संकटमें वीरसेवामन्दिर-परिवार अपनी संवेदना व्यक्त करता हुआ मृतात्माके लिये परलोकमें सुख-शान्तिकी भावना करता है और हृदयसे कामना करता है कि दोनों भाइयों और उनके तथा मृतात्माके सारे कुटुम्ब-परिवारको धैर्यकी प्राप्ति होवे ।

जुगलकिशोर, मुख्तार

ॐ अर्हम्

एक किरण का मूल्य ।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ६ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
कार्तिक वीरनि० संवत् २४८०, वि० संवत २०१० | नवम्बर १९५३

समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी

[सम्पादकीय]

प्रास्ताविक—

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी कृतियोंमें 'समयसार' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो आज कल अधिकतर पठन-पाठनका विषय बना हुआ है। इसकी १५ वीं गाथा अपने प्रचलित रूपमें इस प्रकार है—

> जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
> अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

इसमें बतलाया गया है कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट अनन्य और अविशेष जैसे रूपमें देखता है वह सारे जिन-शासनको देखता है'। इस सामान्य कथन पर मुझे कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुईं और मैंने उन्हें कुछ आध्यात्मिक विद्वानों एवं समयसार-रसिकोंके पास भेजकर उनका समाधान चाहा अथवा इस गाथाका टीकादिके रूपमें ऐसा स्पष्टीकरण मांगा जिससे उन शंकाओंका पूरा समाधान होकर गाथाका विषय स्पष्ट और विशद हो जाए। परन्तु कहींसे कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। दो एक विद्वानोंसे प्रत्यक्षमें भी चर्चा चलाई गई पर सफल मनोरथ नहीं हो सका। और इसलिये मैंने इस गाथाकी व्याख्याके लिये १००) रुपएके पुरस्कारकी एक योजना की और उसे अपने ५००) रु० के पुरस्कारोंकी उस विज्ञप्तिमें अग्रस्थान दिया जो गतवर्षके अनेकान्तकी संयुक्त किरण नं० ४-५ में प्रकाशित हुई है। गाथाकी व्याख्यामें जिन बातोंका स्पष्टी-करण चाहा गया वे इस प्रकार हैं:—

(१) आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेषरूपसे देखने पर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है?

(२) उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है?

(३) वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलंक जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है?

(४) यदि भिन्न नहीं है तो इन सबके द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है?

(५) इस गाथामें 'अपदेससंतमज्झं' नामक जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झं' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं, उसे 'जिणसासणं' पदका विशेषण बतलाया जाता है और उससे द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सब कहाँ तक संगत है अथवा पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध क्या होना चाहिए ?

(६) श्रीअमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थ विषयमें मौन हैं और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमें प्रयुक्त हुए शब्दोंको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, यह क्या ठीक है अथवा उस अर्थमें खटकने जैसी कोई बात नहीं है ?

(७) एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपदेससंत-मज्झं' (अप्रदेशसान्तमध्यं) है, जिसका अर्थ अनादि-मध्यान्त होता है और यह 'अप्पाणं' (आत्मानं) पदका विशेषण है, न कि 'जिणसासणं' पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथमद्वात्रिंशिका १) में 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमें अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्तविभागमुक्त' जैसे शब्दों द्वारा इसी बातका उल्लेख किया है। इन सब बातोंको भी ध्यानमें लेना चाहिये और तब यह निर्णय करना चाहिये कि क्या उक्त सुझाव ठीक है ? यदि ठीक नहीं हैं तो क्यों ?

(८) १४ वीं गाथामें शुद्धनयके विषयभूत आत्माके लिए पाँच विशेषणोंका प्रयोग किया गया है, जिनमेंसे कुल तीन विशेषणोंका ही प्रयोग १५ वीं गाथामें हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषणों-'नियत' और 'असंयुक्त'को भी उपलक्षणके रूपमें ग्रहण किया जाता है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५ वीं गाथामें उन विशेषणोंको क्रमभंग करके रखनेकी क्या जरूरत थी ? १४ वीं गाथा * के पूर्वार्धको ज्योंका त्यों रख देने पर भी शेष दो विशेषणोंको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया; तब क्या इसमें कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होनेकी जरूरत है ? अथवा इस गाथाके अर्थमें उन दो विशेषणोंको ग्रहण करना युक्त नहीं है ?

* उक्त १४ वीं गाथा इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

विज्ञप्तिके अनुसार किसी भी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्याके रूपमें अपना निबन्ध भेजनेकी कृपा नहीं की, यह खेदका विषय है ! हालांकि विज्ञप्तिमें यह भी निवेदन किया गया था कि 'जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमें न हों अथवा उसे लेना न चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा। उन्हें अपने अपने इष्ट एवं अधिकृत विषय पर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।' इस निवेदनका प्रधान संकेत उन त्यागी महानुभावों—क्षुल्लकों, ऐलकों, मुनियों, आत्मार्थिजनों तथा निःस्वार्थ-सेवापरायणोंकी ओर था जो अध्यात्मविषयके रसिक हैं और सदा समयसारके अनु-चिन्तन एवं पठन पाठनमें लगे रहते हैं। परन्तु किसी भी महानुभावको उक्त निवेदनसे कोई प्रेरणा नहीं मिली अथवा मिली हो तो उनकी लोकहितकी दृष्टि इस विषयमें चरितार्थ नहीं हो सकी और इस तरह प्रायः छह महीनेका समय यों ही बीत गया। इसे मेरा तथा समाजका एक प्रकारसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

गत माघ मास (जनवरी सन् १९५३) में मेरा विचार वीरसेवामन्दिरके विद्वानों सहित श्री गोम्मटेश्वर बाहु-बलीजीके मस्तकाभिषेकके अवसर पर दक्षिणकी यात्राका हुआ और उसके प्रोग्राममें खासतौरसे जाते वक्त सोनगढ़-का नाम रक्खा गया और वहाँ कई दिन ठहरनेका विचार स्थिर किया गया; क्योंकि सोनगढ़ श्रीकानजीस्वामीमहा-राजकी कृपासे आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंका गढ़ बना हुआ है और समयसारके अध्ययन-अध्यापनका विद्यापीठ समझा जाता है। वहाँ स्वामीजीसे मिलने तथा अनेक विषयोंके शंका-समाधानकी इच्छा बहुत दिनोंसे चली जाती थी, जिनमें समयसारका उक्त विषय भी था, और इसीलिये कई दिन ठहरनेका विचार किया गया था।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जबकि १२ फर्वरीको सुबह स्वामीजीका अपने लोगोंके सम्मुख प्रथम प्रवचन प्रारम्भ

होनेसे पहले ही सभाभवनमें यह सूचना मिली कि 'आजका प्रवचन समयसारकी १५ वीं गाथा पर मुख्तार साहबकी शंकाओंको लेकर उनके समाधान रूपमें होगा।' और इसलिये मैंने उस प्रवचनको बड़ी उत्सुकताके साथ गौरसे सुना जो घंटा भरसे कुछ ऊपर समय तक होता रहा है। सुनने पर मुझे तथा मेरे साथियोंको ऐसा लगा कि इसमें मेरी शंकाओंका तो स्पर्श भी नहीं किया गया है—यों ही इधर-उधरकी बहुतसी बातें गाथा तथा गाथेतर-सम्बन्धी कही गई हैं। चुनाँचे सभाकी समाप्तिके बाद मैंने उसकी स्पष्ट विज्ञप्ति भी कर दी और कह दिया कि आजके प्रवचनसे मेरी शंकाओंका तो कोई समाधान हुआ नहीं। इसके बाद एक दिन मैंने अलहदगीमें श्री कानजीस्वामीसे कहा कि आप मेरी शंकाओंका समाधान लिखा दीजिए—और नहीं तो अपने किसी शिष्यको ही बोलकर लिखा दीजिए। इसके उत्तरमें स्वामीजीने कहा कि 'न तो मैं स्वयं लिखता हूँ और न किसीको बोलकर लिखाता हूँ, जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमें ही कह देता हूँ।' इस उत्तरसे मुझे बहुत बड़ी निराशा हुई, और इसीलिये यात्रासे वापिस आनेके बाद, अनेकान्तकी १२ वीं किरणके सम्पादकीयमें, 'समयसारका अध्ययन और प्रवचन' नामसे मुझे एक नोट लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ा, जो इस विषयके अपने पूर्व तथा वर्तमान अनुभवोंको लेकर लिखा गया है और जिसके अन्तमें यह भी प्रकट किया गया है कि—

'निःसन्देह समयसार-जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावुकतामें बहने वालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकांत कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।'

साथ ही उक्त किरणके उसी सम्पादकीयमें एक नोट-द्वारा, 'पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा' व्यक्त करते हुए, यह इच्छा भी व्यक्त कर दी गई थी कि यदि क्रमसे दो विद्वान अब भी समयसारकी १५ वीं गाथाके सम्बन्धमें अभीष्ट व्याख्यात्मक निबन्ध लिखनेके लिए अपनी आमादगी १५ जून तक जाहिर करेंगे तो उस विषयके पुरस्कारकी पुनरावृत्ति करदी जाएगी अर्थात् निबन्धके लिये यथोचित समय निर्धारित करके पत्रोंमें उसके पुरस्कारकी पुनः घोषणा निकाल दी जाएगी। इतने पर भी किसी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्या लिखनेके लिए अपनी आमादगी जाहिर नहीं की और न सोनगढ़से ही कोई आवाज आई। और इसलिये मुझे अवशिष्ट विषयोंके पुरस्कारोंकी योजनाको रद्द करके दूसरे नये पुरस्कारोंकी ही योजना करनी पड़ी, जो इसी वर्षके अनेकान्त किरण नं० २ में प्रकाशित हो चुकी है। और इस तरह उक्त गाथाकी चर्चाको समाप्त कर देना पड़ा था।

हालमें कानजीस्वामीके 'आत्मधर्म' पत्रका नया आश्विनका अंक नं० ७ दैवयोगसे * मेरे हस्तगत हुआ, जिसमें 'जिनशासन' शीर्षकके साथ कानजीस्वामीका एक प्रवचन दिया हुआ है और उसके अन्तमें लिखा है—"श्री समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे।" इस प्रवचनकी कोई तिथि–तारीख साथमें सूचित नहीं की गई, जिससे यह मालूम होता कि क्या यह प्रवचन वही है जो अपने लोगोंके सामने ता० १९ फरवरीको दिया गया था

* 'दैवयोगसे' लिखनेका अभिप्राय इतना ही है कि 'आत्मधर्म' अपने पास या वीरसेवामन्दिरमें आता नहीं है, पहले वह 'अनेकान्त' के परिवर्तनमें आता था, जबसे न्यायचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी जैसोंके कुछ लेख स्वामीजीके मन्तव्योंके विरुद्ध अनेकान्तमें प्रकाशित हुए तबसे आत्मधर्म अनेकान्तसे रुष्ट हो गया और उसने दर्शन देना ही बन्द कर दिया। पीछे किसी सज्जनने एक वर्षके लिये उसे अपनी ओरसे वीरसेवामन्दिरमें भिजवाया था, उसकी अवधि समाप्त होते ही अब फिर उसका दर्शन देना बन्द है; जबकि अपना 'अनेकान्त' पत्र कई वर्षसे बराबर कानजीस्वामीकी सेवामें भेंटस्वरूप जा रहा है। और इसलिए यह अंक अपने पास सोनगढ़के आत्मधर्म-आफिससे भेजा नहीं गया है—जबकि १५ वीं गाथाका विषय होनेसे भेजा जाना चाहिए था—बल्कि दिल्लीमें एक सज्जनके यहाँसे इत्तफ़ाकिया देखनेको मिल गया है यदि यह अंक न मिलता तो इस लेखके लिखे जानेका अवसर ही प्राप्त न होता। इस अंकका मिलना ही प्रस्तुत लेखके लिखनेमें प्रधान निमित्त कारण है।

अथवा उसके बाद दिया गया कोई दूसरा ही प्रवचन है। यदि यह प्रवचन वही है जो १२ फरवरीको दिया गया था, जिसकी सर्वाधिक संभावना है, तो कहना होगा कि वह उस प्रवचनका बहुत कुछ संस्कारित रूप है। संस्कारका कार्य स्वयं स्वामीजीके द्वारा हुआ है या उनके किसी शिष्य अथवा प्रधान शिष्य श्रीरामजी मानिकचन्दजी दोशी वकीलके द्वारा, जोकि आत्मधर्मके सम्पादक भी हैं; परन्तु वह कार्य चाहे किसीके भी द्वारा सम्पन्न क्यों न हुआ हो, इतना तो सुनिश्चित है कि यह लेखबद्ध हुआ प्रवचन स्वामीजीको दिखला-सुनाकर और उनकी अनुमति प्राप्त करके ही छापा गया है और इसलिए इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हींके ऊपर है। अस्तु।

इस लेखबद्ध संस्कारित प्रवचनसे भी मेरी शंकाओंका कोई समाधान नहीं होता। आठमेंसे सात शंकाओंको तो इसमें प्रायः छुआ तक भी नहीं गया है सिर्फ दूसरी शंकाका ऊपरा-ऊपरी स्पर्श करते हुए जिनशासनके रूप विषयमें जो कुछ कहा गया है वह बड़ा ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पड़ता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्त मिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विषयमें लोगोंको गुमराह करने वाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तंभोंको भी इसमें "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" जैसे शब्दोंसे याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होंने जिनशासनको ठीक समझा नहीं; यह सब असत्य जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें समयाभावके होते हुए भी मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचनलेख पर अपने विचार व्यक्त करूँ, जिससे सर्वसाधारण पर यह स्पष्ट हो जाय कि प्रस्तुत प्रवचन समयसारकी १५ वीं गाथा पर की जाने वाली उक्त शंकाओंका समाधान करनेमें कहाँ तक समर्थ है और जिनशासनका जो रूप इसमें निर्धारित किया गया है वह कितना संगत अथवा सारवान् है। उसीके लिये प्रस्तुत लेखका यह सब प्रयत्न है और इसीसे कानजीस्वामीका उक्त प्रवचनलेख भी अनेकान्तकी इस किरणमें अन्यत्र ज्योंका त्यों उद्धृत किया जाता है जिससे सब सामग्री विचारके लिये पाठकोंके सामने रहे और इतना तो प्रवचनलेख पर दृष्टि डालते ही सहज अनुभवमें आ जाए कि इसमें उक्त आठ शंकाओंमेंसे किनके समाधानका क्या प्रयत्न किया गया है। आशा है सहृदय विद्वज्जन दोनों लेखों पर गंभीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेंगे और जहाँ कहीं मेरी भूल होगी उसे प्रेमके साथ मुझे सुझानेका भी कष्ट उठाएँगे, जिससे मैं उसको सुधारनेके लिये समर्थ हो सकूँ।

गाथाके एक पदका ठीक रूप, अर्थ और संबंध—

उक्त गाथाका एक पद 'अपदेससंतमज्झं' इस रूपमें प्रचलित है। प्रवचनलेखमें गाथाको संस्कृतानुवादके रूपमें प्रस्तुत करते हुए इस पदका संस्कृत रूप 'अपदेशसान्तमध्यं' दिया है, जिससे यह जाना जाता है कि श्रीकानजी स्वामीको पदका यह प्रचलित रूप ही इष्ट तथा मान्य है, जयसेनाचार्यने संत (सान्त) के स्थान पर जो 'सुत्त' (सूत्र) शब्द रक्खा है वह आपको स्वीकार नहीं है। अस्तु, इस पदके रूप अर्थ और सम्बन्धके विषयमें जो विवाद है उसे शंका नं० ५ में निबद्ध किया गया है। छठी शंका इस पदके उस अर्थसे सम्बन्ध रखती है जिसे जयसेनाचार्यने 'अपदेससुत्तमज्झं' पद मानकर अपनी टीकामें प्रस्तुत किया है और जो इस प्रकार है—

"अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति।'

इसमें 'अपदेस' का अर्थ जो द्रव्यश्रुत' और 'सुत्तं' का अर्थ 'भावश्रुत' किया गया है वह शब्द-अर्थकी दृष्टिसे एक खटकने वाली वस्तु है, जिसकी वह खटकन और भी बढ़ जाती है जब यह देखनेमें आता है कि 'मध्य' शब्दका कोई अर्थ नहीं किया गया—उसे वैसे ही अर्थसमुच्चयके साथमें लपेट दिया गया है।

कानजी स्वामीने यद्यपि 'सुत्त' शब्दकी जगह 'संत (सान्त)' शब्द स्वीकार किया है फिर भी इस पदका अर्थ वही द्रव्यश्रुत-भावश्रुतके रूपमें अपनाया है जिसे जयसेनाचार्यने प्रस्तुत किया है, चुनांचे आपके यहाँसे समयसारका जो गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है उसमें 'सान्त' का अर्थ 'ज्ञानरूपीभावश्रुत' दिया है, जो और भी खटकने वाली वस्तु बन गया है।

सातवीं शंका इस प्रचलित पदके स्थान पर जो दूसरा पद सुझाया गया है उससे सम्बन्ध रखती है। वह पद है

'अपवेसर्सतमज्झं'। इस संसूचित तथा दूसरे प्रचलित पद-में परस्पर बहुत ही थोड़ा सिर्फ एक अक्षरका अन्तर है—इसमें 'वे' अक्षर है तो उसमें 'दे', शेष सब ज्योंका त्यों है। लेखकोंकी कृपासे 'वे' का 'दे' लिखा जाना अथवा पन्नोंके चिपक जाने आदिके कारण 'वे' का कुछ अंश उड़कर उसका 'दे' बन जाना तथा पढ़ा जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इस संसूचित पदका अर्थ 'अनादिमध्यान्त' होता है और यह विशेषण शुद्धात्माके लिये अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है, जिसके कुछ उदाहरण शंकामें नोट किये गये हैं और फिर पूछा गया है कि यदि पदका यह सुझाव ठीक नहीं है तो क्यों? ऐसी स्थितिमें प्रचलित पद और तद्विषयक यह सुझाव विचारणीय जरूर हो जाता है। इस तरह तीन शंकाएँ प्रचलित पदके रूपादि-विषयसे सम्बन्ध रखती हैं, जिन्हें प्रवचनलेखमें विचारके लिये छुआ तक भी नहीं गया—समाधानकी तो बात ही दूर है यह उस लेखको पढ़कर पाठक स्वयं जान सकते हैं। हो सकता है कि स्वामीजीके पास इन शंकाओंके समाधान-विषयमें कुछ कहनेको न हो और इसीसे उन्होंने अपने उस वाक्य ('जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमें ही कह देता हूँ') के अनुसार कुछ न कहा हो। कुछ भी हो, पर इससे समयसारके अध्ययनकी गहराईको ठेस जरूर पहुँचती है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि गत वर्ष सागरमें वर्णीजयन्तीके अवसर पर और इस वर्ष खास इन्दौरमें यात्राके अवसर पर मेरी इस पद-के रूपादि-विषयमें पं० वंशीधरजी न्यायलंकारसे भी' जो कि जैनसिद्धान्तके एक बहुत बड़े ज्ञाता हैं, चर्चा आई थी, उन्होंने उक्त सुझावको ठीक बतलाते हुए कहा कि हम पहलेसे इस पदको 'अप्पाणं' पदका विशेषण मानते आए हैं, और तब इसके 'अपदेससुत्तमज्झं' (अप्रदेशसूत्रमध्यं) रूपको लेकर एक दूसरे ही ढंगसे इसके 'अनादिमध्यान्त' अर्थकी कल्पना करते थे (जो कि एक क्लिष्ट कल्पना थी। अब इसके प्रस्तावित रूपसे अर्थ बहुत ही स्पष्ट तथा सरल (सहज बोधगम्य) हो गया है। साथ ही यह भी बतलाया कि श्री जयसेनजीने इस पदका जो अर्थ किया है और उसके द्वारा इसे 'जिणसासणं' पदका विशेषण बनाया है वह ठीक तथा संगत नहीं है।

गाथाके अर्थमें अतिरिक्त विशेषण—

प्रस्तुत गाथाका अर्थ करते हुए उसमें आत्माके लिये पूर्व गाथा-प्रयुक्त 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषणोंको उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है, जो कि इस गाथामें प्रयुक्त नहीं हुए हैं। इन्हीं अप्रयुक्त एवं अतिरिक्त विशेषणोंके ग्रहणसे शंका नं० ८ का सम्बन्ध है और उसमें यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि इन विशेषणोंका ग्रहण क्या मूलकारके आशयानुसार है? यदि है तो फिर १४वीं गाथामें प्रयुक्त हुए पाँच विशेषणोंको इस गाथामें क्रमभंग करके क्यों रखा गया है जब कि १४ वीं गाथाके पूर्वार्धको ज्योंका त्यों रख देने पर भी काम चल सकता था अर्थात् शेष दो विशेषणों 'अविशेष' और 'असंयुक्त' को उपलक्षण द्वारा ग्रहण किया जा सकता था? और यदि नहीं है तो फिर अर्थमें इनका ग्रहण करना ही अयुक्त है। इस शंका-को भी स्वामीजीने अपने प्रवचनमें छुआ तक नहीं है, और इसलिए इसके विषयमें भी वही बात कही जा सकती है, जो पिछली तीन शंकाओंके विषयमें कही गई है अर्थात् इस शंकाके विषयमें भी उन्हें कुछ कहनेके लिए नहीं होगा और इसीसे कुछ नहीं कहा गया।

यहाँ पर एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कुछ अर्सा हुआ मुझे एक पत्र रोहतक (पू० पंजाब) से डाक-द्वारा प्राप्त हुआ था जिस पर स्थान के साथ पत्र लिखनेकी तारीख तो है परन्तु बाहर भीतर कहींसे भी पत्र भेजने वाले सज्जनका कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। संभवतः वे सज्जन बाबू नानकचन्दजी एडवोकेट जान पड़ते हैं, जो कि समयसारकी स्वाध्यायके प्रेमी हैं और उस प्रेमी होनेके नाते ही पत्रमें कुछ लिखनेके प्रयासका उल्लेख भी किया जाता है। इस पत्रमें आठवीं शंकाके विषयमें जो कुछ लिखा है उसे उपयोगी समझ कर यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"गाथा नं० १५ के पहले चरणमें जो क्रम भंग है वह बहुत ही रहस्यमय है। यदि गाथा नं० १५ में गाथा नं० १४ का पूर्वार्ध दे दिया जाता तो दो विशेषण 'अविशेष' और 'असंयुक्त' छूट जाते। ये विशेषण किसी दूसरे विशेषणके उपलक्षण नहीं हो सकते। क्रमभंग करने पर दो विशेषण 'नियत' और 'असंयुक्त' छूटे हैं तो इनमेंसे 'नियत' विशेषण तो 'अनन्य' का उपलक्षण है। जो वस्तु

अनन्य होती है वह 'नियत' अवश्य होती है इस कारण अनन्य कह देनेसे नियतपना आ ही गया। इस ही तरह अविशेष कहनेसे असंयुक्तपना आ ही गया! संयोग विशेषोंमें ही हो सकता है सामान्यमें नहीं—सामान्य तो दो द्रव्योंका सदा ही जुदा जुदा रहता है। संयुक्तपना किसी द्रव्यके एक विशेषका दूसरे द्रव्यके विशेषसे एकत्व हो जाना है। श्रीकुन्दकुन्दने क्रम भंग करके अपनी (निर्माण) कलाका प्रदर्शन किया है और गाथा नं० १४ में भी शुद्धनयके पूर्णस्वरूपको सुरक्षित रक्खा है। अविशेष और असंयुक्तका इस प्रकारका सम्बन्ध अन्य तीन विशेषणोंसे नहीं है जिस प्रकारका नियतका अनन्यसे असंयुक्तका अविशेषसे है।'

शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन—

प्रस्तुत गाथामें आत्माको अबद्धस्पृष्टादि रूपसे देखने वाले शुद्धात्मदर्शीको सम्पूर्ण जिनशासनका देखनेवाला बतलाया है। इसीसे प्रथमादि चार शंकाओंका सम्बन्ध है। पहली शंका सारे जिनशासनको देखनेके प्रकार तरीके अथवा ढंग (पद्धति) आदिसे सम्बन्ध रखती है, दूसरीमें उस द्रष्टा द्वारा देखे जानेवाले जिनशासनका रूप पूछा गया है, तीसरीमें उस रूपविशिष्ट शासनका कुछ महान् आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनके साथ भेद-अभेदका प्रश्न है, और चौथीमें भेद न होनेकी हालतमें यह सवाल किया गया है कि तब इन आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है? इनमेंसे पहली, तीसरी और चौथी इन तीन शंकाओंके विषयमें प्रवचन प्रायः मौन है। उसमें बार-बार इस बातको तो अनेक प्रकारसे दोहराया गया है कि जो शुद्धआत्माको देखता—जानता है वह समस्त जिनशासनको देखता-जानता है अथवा उसने उसे देख-जान लिया; परन्तु उन विषेषणोंके रूपमें शुद्धात्माको देखने जानने मात्रसे सारे जिनशासनको कैसे देखता जानता है या देखने-जाननेमें समर्थ होता है अथवा किस प्रकारसे उसने उसे देख-जान लिया है, इसका कहीं भी कोई स्पष्टीकरण नहीं है और न भेदाऽभेदकी बातको उठाकर उसके विषयमें ही कुछ कहा गया है सिर्फ दूसरी शंकाके विषयभूत जिनशासनके रूप-विषयको लेकर उसीके सम्बन्धमें जो कुछ कहना था वह कहा गया है। अब आगे उसीपर विचार किया जाता है।

श्रीकानजी स्वामी महाराजका कहना है कि 'जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है' यह आपके प्रवचनका मूल सूत्र है जिसे प्रवचनलेखमें अग्रस्थान दिया गया है और इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि शुद्धात्मा और जिन शासनमें अभेद है—अर्थात् शुद्ध आत्मा कहो या जिनशासन दोनों एक ही हैं, नामका अन्तर है, जिनशासन शुद्धात्माका दूसरा नाम है। परन्तु शुद्धात्मा तो जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है वह स्वयं जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन कैसे हो सकता है? जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं, अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके विषय हैं, कालचक्रके अवसर्पिणी उत्सर्पिणी आदि भेद-प्रभेदोंका तथा तीन लोककी रचना का विस्तृत वर्णन भी उसके अन्तर्गत है। वह सप्ततत्त्वों नवपदार्थों, चौदह गुणस्थानों, चतुर्दशादि जीवसमासों, षट्पर्याप्तियों, दस प्राणों, चार संज्ञाओं, चौदह मार्गणाओं द्विविध चतुर्विध्यादि उपयोगों और नयों तथा प्रमाणोंकी भारी चर्चाओं एवं प्ररूपणाओंको आत्मसात् किये अथवा अपने अंक (गोद) में लिए हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुआ रत्नत्रयादि धर्म-विधानों, कुमार्गमथनों और कर्मप्रकृतियोंके कथनोपकथनसे भरपूर है। संक्षेपमें जिनशासन जिनवाणीका रूप है. जिसके द्वादश अंग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिए हुए प्रसिद्ध हैं। ऐसी हालतमें जब कि शुद्धात्मा जिनशासनका एकमात्र विषय भी नहीं है तब उसका जिनशासनके साथ एकत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है? उसमें तो गुणस्थानों तथा मार्गणाओं आदिके स्थान तक भी नहीं हैं जैसा कि स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें प्रतिपादन किया है *। यहाँ विषयको ठीक हृदयङ्गम करने के लिए इतना और भी जान लेना चाहिए कि जिनशासनको जिनवाणी की तरह जिनप्रवचन जिनागम शास्त्र, जिनमत. जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिनधर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग भी स्वामीजीने अपने प्रवचन

* देखो, समयसार गाथा ५२ से ५५।

में जिनशासनके स्थान पर उसी तरह किया है जिस तरह कि 'जिनवाणी' और 'भगवानकी वाणी' जैसे शब्दोंका किया है। इससे जिन भगवानने अपनी दिव्य वाणीमें जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुये सूत्रों शास्त्रोंमें निबद्ध है वह सब जिनशासनका अंग है इसे खूब ध्यानमें रखना चाहिये।

अब मैं श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसारके शब्दों में ही यह बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिनभगवानने अपनी वाणीमें उन सब विषयोंकी देशना (शास्ति) की है जिनकी ऊपर कुछ सूचना दी गई है। वे शब्द गाथाके नम्बर सहित इस प्रकार हैं:—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते ………………॥ ४८ ॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसन्ति ॥ ६० ॥
पज्जत्ताऽपज्जत्ता जे सुहमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥ ६७ ॥
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलुसव्वदरसीहिं ॥ ७० ॥
उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥ १०७ ॥
जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ जीवो ॥१०१॥
सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठि त्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदएण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६३॥
तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१७०॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ॥२४८॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ॥२५१
अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२
वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५१
ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४

इन सब उद्धरणोंसे तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचनसारमें जिनशासनके साररूपमें जिन जिन बातोंका उल्लेख अथवा संसूचन किया है उन सबको देखने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि एकमात्र शुद्धात्मा जिन शासन नहीं है, जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनों नयों तथा उपनयोंके कथनको साथ साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चरितरूप सारे अर्थ समूहको उसकी सब अवस्थाओं सहित अपना विषय किये हुए हैं।

यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण—अबद्ध स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होंगे। परन्तु जिनशासनको अबद्धस्पृष्टादिक रूपमें कैसे कहा जा सकता है? जिनशासन जिनका शासन अथवा जिनसे समुद्भूत शासन होनेके कारण जिनके साथ सम्बन्ध है जिस अर्थ समूहकी प्ररूपणाको वह लिये हुए है उसके साथ भी वह सम्बन्ध है, जिन शब्दोंके द्वारा अर्थ समूहकी प्ररूपणा की जाती है उनके साथ भी उसका सम्बन्ध है। इस तरह शब्द समय, अर्थसमय और ज्ञान समय तीनोंके साथ जब जिनशासनका सम्बन्ध है तब उसे अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा जा सकता है। नहीं कहा जा सकता। और कर्मोंके बन्धनादि की तो उसके साथ कोई कल्पना ही नहीं बनती जिससे उस दृष्टिके द्वारा उसे अबद्धस्पृष्ट कहा जाय। 'अनन्य' विशेषण भी उसके साथ घटित नहीं होता; क्योंकि वह शुद्धात्माको छोड़कर अशुद्धात्माओं तथा अनात्माओंको भी अपना विषय किये हुए है अथवा यों कहिए कि वह अन्यशासनों मिथ्यादर्शनोंको भी अपनेमें स्थान दिये हुए हैं। श्री सिद्धसेनाचार्यके शब्दोंमें तो वह जिन प्रवचन 'मिथ्यादर्शनोंका समूहमय' है, इतने पर भी भगवत्पदको प्राप्त है, अमृतका सार है और संविग्नसुखाधि-

गम्य है. जैसाकि सन्मतिसूत्रके अन्तमें उसकी मंगलकामना के लिये प्रयुक्त किये गये निम्न वाक्यसे प्रकट है—

भद्दं मिच्छादंसण समूहमइयस्स अमियसारस्स।
जिणवयणस्स भवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥३.७०॥

इस तरह जिनशासनका 'अनन्य' विशेषण नहीं बनता। 'नियत' विशेषण भी उसके साथ घटित नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो सब जिनों—तीर्थंकरोंका शासन फोनोग्राफके रिकार्डकी तरह एक ही अथवा एक ही प्रकारका नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं कि जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरी वही जँची-तुली दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकली हो—बल्कि अपने अपने समयकी परिस्थिति आवश्यकता और प्रतिपाद्योंके अनुरोधवश कथनशैलीकी विभिन्नताके साथ रहा कुछ कुछ दूसरे भेदको भी वह लिये हुए रहा है, जिसका एक उदाहरण मूलाचारकी निम्न गाथासे जाना जाता है—

बावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३२॥

इसमें बतलाया है कि 'अजितसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थंकरोंने 'सामायिक' संयमका और ऋषभदेव तथा वीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' संयमका उपदेश दिया है।' अगली गाथाओंमें उपदेशकी इस विभिन्नताके कारणको, तात्कालिक परिस्थितियोंका कुछ उल्लेख करते हुए, स्पष्ट किया गया है तथा और भी कुछ विभिन्नताओंका सकारण सूचन किया गया है। इस विषयका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये 'जैनतीर्थंकरोंका शासनभेद' नामक वह लेख देखना चाहिए जो प्रथमतः अगस्त सन् १९१६ के 'जैन हितैषी' पत्रमें और बादको 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामक ग्रन्थके परिशिष्टमें 'क ख' में परिवर्धनादिके साथ प्रकाशित हुआ है और जिसमें दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके अनेक प्रमाणोंका संकलन है साथ ही, यह भी प्रदर्शित किया गया है कि उन भेदोंके कारण मुनियोंके मूलगुणोंमें भी अन्तर रहा है।

दूसरे जिनवाणीके जो द्वादश अंग हैं उनमें अन्तःकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्न व्याकरण और दृष्टिवाद जैसे कुछ अंग ऐसे हैं जो सब तीर्थंकरोंकी वाणीमें एक ही रूपको लिये हुए नहीं हो सकते।

तीसरे, विविध नयभंगोंको आश्रय देने और स्याद्वाद-न्यायके अपनानेके कारण जिनशासन सर्वथा एक रूपमें स्थिर नहीं रहता—वह एक ही बातको कहीं कभी निश्चय नयकी दृष्टिसे कथन करता है तो उसीको अन्यत्र व्यवहार-नयकी दृष्टिसे कथन करनेमें प्रवृत्त होता है और एक ही विषयको कहीं गौण रखता है तो दूसरी जगह उसीको मुख्य बनाकर आगे ले आता है। एक ही वस्तु जो एक नयदृष्टिसे विधिरूप है वही उसमें दूसरी नयदृष्टिसे निषेधरूप भी है, इसी तरह जो नित्यरूप है वही अनित्यरूप भी है और जो एक रूप है वही अनेकरूप भी है इसी सापेक्ष नयवादमें उसकी समीचीनता संनिहित और सुरक्षित रहती है; क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है। इसीसे उसका व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ या असत्यार्थ नहीं होता यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो श्री जिनेन्द्रदेव उसे अपनाकर उसके द्वारा मिथ्या उपदेश क्यों देते? जिस व्यवहारनयके उपदेश अथवा वक्तव्यसे सारे जैनशास्त्र अथवा जिनागमके अंग भरे पड़े हैं। वह तो निश्चयनयकी दृष्टिमें अभूतार्थ है, ज कि व्यवहारनयकी दृष्टिमें वह शुद्धनय या निश्चय भी अभूतार्थ—असत्यार्थ है जोकि वर्तमानमें अनेक प्रकारके सुदृढ कर्म बन्धनोंसे बँधे हुए, नाना प्रकारकी परतन्त्रताओंको धारण किये हुये, भवभ्रमण करते और दुःख उठाते हुए संसारी जीवात्माओंको सर्वथा कर्मबन्धनसे रहित अबद्धस्पृष्टादिके रूपमें उल्लेखित करता है और उन्हें पूर्णज्ञान तथा आनन्दमय बतलाता है, जो कि प्रत्यक्षके विरुद्ध ही नहीं किन्तु आगमकेभी विरुद्ध है—आगममें आत्माके साथ कर्मबन्धनका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। जिसका कुछ सूचन कुन्दकुन्दके समयसारके ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। यहाँ प्रसंगवश इतना और प्रकट किया जाता है कि शुद्ध या निश्चयनयको द्रव्यार्थिक और व्यवहारनयको पर्यायिकनय कहते हैं। ये दोनों मूलनय पृथक रह कर एक दूसरेके वक्तव्यको किस दृष्टिसे देखते हैं और उसदृष्टिसे देखते हुए सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि, इसका अच्छा विवेचन श्री सिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रकी निम्न गाथाओंमें किया है—

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जवत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥
उपज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स।

ऋषभदेव और शिवजी

(ले० श्रीयुत बा० कामताप्रसाद जैन एम०आर०ए०डी० एल)

इत्थं प्रभात्र ऋषभोऽवतार रा करस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तवनः ॥ ४७ ॥

—शिवपुराण

'शिवपुराण'के रचियता कहते हैं कि इस प्रकार ऋषभावतार होगा, जो मेरे लिए शंकर शिव हैं। वह सत्पुरुषोंके लिये सत्यपथ रूप नवमें अवतार और दीनबन्धु होंगे ' इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि शिवजीका अलंकृतरूप मूलतः ऋषभदेवजीके तेज और तपस्याका काव्यमयी वर्णन है; वैदिक ऋषियोंने ऋषभदेवकी उग्र तपस्याको मूर्तिमयी बनानेके लिए एवं उस ही अमृतत्व पा का कारण जतानेके लिये उसे 'शिव' के नामसे पुकारा है। वेदोंमें 'शिव' नामके देवताका पता नहीं। यह अभाव इसीलिये कि ऋषभ अवैदिक श्रमण परम्पराके अग्रणी थे। जब वैदिक आर्योंने श्रमणोपासक जातियोंसे मेलजोल पैदा किया तब वैदिक परम्परामें नये नये देवता भी लिये गये। शिव, ब्रह्मा और विष्णु प्रतीकवादके द्योतक हैं। उपरान्त क्षत्रियोंके प्रभावमें अवतारवादको वैदिकपुरोहितोंने अपनाया जिससे राम और कृष्णकी पूजा प्रचलित हुई। प्रतीकवादमें ऋषभको शिवका रूप दिया गया। यहाँ हमें यही देखना अभीष्ट है।

भ० ऋषभने कैलाशपर्वत पर उग्र तप तपा था। एक बार देव बालाओंने उनकी तपस्या भंग करनेके लिए कामदेवके बाणोंका प्रयोग किया था; किन्तु ऋषभदेव अचल रहे और अन्तमें उन्होंने कामको ही नष्ट कर दिया। उसके साथ ही मन-वचन काय दण्ड द्वारा उन्होंने त्रिग्रन्थियोंका पूर्णनाश कर दिया कि वह 'निर्ग्रन्थ' हो गये। पूर्व संचित कर्म जो शेष रहे थे, उनको भी उन्होंने भस्म कर दिया था। परिणाम स्वरूप वह कैवल्यपति सच्चिदानन्द, जीवन्मुक्त परमात्मा शिव होकर चमके। उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की—इसलिए 'वृष' (बैल) उनका चिन्ह माना गया! संक्षेपमें ऋषभदेवजीकी तपस्याकी यह तालिका है।

अब पाठक, आइये शिवजीके चरित्र चित्रण पर दृष्टिपात कीजिये। वह देव हैं—आप्त हैं और हैं पूज्य। अतः उनके चरित्रमें ऐसी बात तो नहीं आ सकती जिसे साधारणतः मानव समाजमें दुराचार माना जाता है। शिव देव हैं—आराध्य हैं, तो वह एक सामान्य लम्पटी पुरुषकी तरह कामी नहीं हो सकते; इतने उग्र कामरत कि उनके शिश्नको उत्तेजनाको शान्त रखनेके लिये पूर्ण कुम्भसे शीतल जल विन्दु हर समय टपकती रहे। इसके साथ कोई भी समझदार पुरुष यह नहीं मान सकता कि शिव मद्यपायी और भंगड़ी थे। वह इतने क्रोधी थे कि उन्होंने भस्मासुरको नगरों सहित भस्म कर दिया और पार्वतीजीको संग लिये फिरे! न वह इतने भयंकर थे कि विष खा जाते! उनके देवत्वके समक्ष ये बातें अशोभन दिखती हैं। फिर एक अचम्भेकी बात है कि रेणुका मरकर जीवित हुई भी उनके प्रसंगमें कही गई है! इस बुद्धिवादीयुगमें अन्धश्रद्धाके लिये कोई स्थान नहीं है। अतएव शिवजीके विषयमें उक्त बातें जो कही गई हैं उनको शब्दार्थमें ग्रहण नहीं किया जा सकता। उनसे शिवजीकी महत्तामें बट्टा आता है। वे अलङ्कार हैं और अलङ्कारका घूँघट उठाकर हमें उनके मूल स्वरूपका दर्शन करना उचित है।

लगभग दो हजार वर्ष पहलेका लिखा हुआ एक पत्रक Letter of Aristeas) विद्वानोंको मिला है। उसमें लिखा है प्राचीनकालमें एक चित्र शैली (Symbolic) की भाषा और लिपि (Pictographic language and script) का प्रचलन था। विद्वान ऋषि लोग उस शैलीका आश्रय लेकर अध्यात्मवादका निरूपण किया करते थे, जिसे वह अपने शिष्योंको बता देते थे। गुरु शिष्य परम्परासे यह रहस्यवाद मौखिक-प्रणाली द्वारा धारावाही चलता रहा। किन्तु एक समय आया जब इस रहस्यको लोग भूल गये! 'अनर्थका हि मन्त्रः' की बात वैदिक टीकाकारोंको बरबस कहनी पड़ी! बाइबिलमें विद्वानोंको इसलिये धिक्कारा गया कि उन्होंने ज्ञानकी कुंजीको खो दिया। (Woe into ye lawyers ye have lost the 'key of knowleodge) इस साक्षीसे शिवजीका अलंकृत रूप स्पष्ट भासता है और 'शिवपुराण' के रचयिता उन्हें ऋषभा-

बतार कहते हैं। वह इसलिये कि ऋषभ आदिकालसे एक महान तपस्वी रहे और वैदिक ऋषियोंको उनकी तपस्याका बखान अलंकृतभाषामें करना अभीष्ट रहा। किन्तु उनके इस रहस्यपूर्ण स्वरूपको जानने वाले लोगोंका अभाव एक बहुत पहले जमानेसे हो गया। महा-कवि कालीदासजी इस सत्यसे परिचित थे। इसलिये ही उन्होंने कहा कि 'शिवको यथार्थ रूपसे जानने वाले और अनुभव करने वाले मनुष्य कम हैं! (न संति याथार्थविदः पिनाकिनः) कुमारसम्भव ५/७७) प्रतीकवादको समझ लेना हर एकका काम नहीं। प्रतीक अथवा अलंकारका सहारा इसलिये लिया गया प्रतीत होता है कि अध्यात्मिक सत्य की ओर हर किसीकी रुचि नहीं होती। वैदिक क्रियाकांड-में व्यस्त लोगोंमे जिनको पात्र पाया उन्हींको यह रहस्य बताया गया।

जैन शास्त्रकारोंने स्पष्ट लिखा है कि ऋषभदेवने कैलाश पर्वत पर घोर तपस्या की थी। जिस समय वह तपस्यारत हो आत्मध्यानमें मग्न थे उस समय सुरांगनाओंने उनके शीलकी परीक्षा ली थी; परन्तु ऋषभ तो वासनाको जीत चुके थे और समाधिमें लीन थे। कामदेवके बेधक बाण उन्हें समाधिसे च्युत न कर सके—उल्टे उन्हें शरीर मन्दिरमें स्थित परमात्मतत्वके दर्शन करानेमें वह साधक बने१। वैदिक परम्परामें स्पष्ट कहा गया है कि शिवने कामदेवको भस्म कर दिया था। पार्वतीने जब रति वल्लभको यों नष्ट होते देखा तो उन्होंने माना कि शिवको पानेके लिये सुन्दरता पर्याप्त नहीं है। अतएव उन्होंने तप द्वारा आत्मसमाधि लगाना निश्चित किया, क्योंकि समाधिकी पूर्णता ही शिवतत्वको प्राप्त कराती है२।

डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने पार्वती' का प्रतीक मानकर उसके रहस्यको स्पष्ट किया है३। उन्होंने लिखा कि मानवशरीरमें मेरुदण्डकी रचना तैंतीस पर्वोंके संयोगसे हुई है। 'पर्व' जिसमें हो उसीको 'पर्वत' कहते हैं। 'पर्वाणि संति अस्मिन्निति पर्वतः'। इसीलिये मेरुदण्ड पर्वत हुआ और इसके भीतर रहने वाली शक्तिको उपचारसे 'पर्वत राजपुत्री' या 'पार्वती' कहा जाता है। इस पार्वती-की स्वाभाविक गति शिवकी ओर है। पार्वती शिवको छोड़कर और किसीका वरण कर ही नहीं सकती। परन्तु पार्वतीको शिवकी सम्प्राप्ति तपके द्वारा ही हो सकती है, भोगके मार्गसे नहीं। अर्थात् छद्मस्थावस्थामें जब 'शिवत्व' पानेके लिए उन्मुख थे उस समय काययोगकी साधनाके लिए उन्होंने तपका आश्रय लिया था। काय-गुप्तिका पालन करके कायाजनित कमजोरीको जीतकर उन्होंने पर्वतीय (मेरुदण्ड में सुप्त) शक्तिको जागृत किया था। इसीलिये अलंकृत भाषामें कहा जाता है कि शिव-पार्वतीका विवाह हुआ था! वस्तुतः वह उक्त प्रकारका एक रहस्यपूर्ण प्रतीक ही है।

शिवका मुख्य कर्म संहार माना है। निस्सन्देह सांसारिक प्रवृत्तिका संहार किये बिना निवृत्तिमार्गका पर्यटक नहीं बनाया जा सकता। ऋषभदेवने प्रवृत्तिका मार्ग त्यागा था और योगचर्याको अपनाया था। कर्म-प्रकृतियों-का सम्पूर्ण संहार करके ही वह शिवत्वको प्राप्त हुए थे। इसलिये उन्हें शिव कहना ठीक है।

शिवलिङ्गपूजाका अर्थ अध्यात्मकरूपमें अमृतत्वको पा लेना है, किन्तु आज कोई भी इस गूढ़ार्थको नहीं समझता विषयी लोग उसमें वासनाकी छाया देखते हैं। वस्तुतः वह अमृत आनन्दका बोधक है। प्राचीन भारतीय मान्यता-में मस्तिष्कको कलश या कुम्भ कहा गया है। मस्तिष्कसे निरन्तर अमृतका क्षरण होता रहता है, जिसे योगीजन पीकर अध्यात्मिकतामें निमग्न हो जाते हैं और विष भी

---

१ चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पांतकाल मरुता चलिताचलेन,
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥१५॥
—भक्तामरस्तोत्र

२ तथा समक्षं दहता मनोभवं,
पिनाकिना भग्नमनोरथा सति।
निनिंद रूपं हृदयेन पार्वती,
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां,
तपोभिरास्थाय समाधिमात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं
तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

३ डा० सा० ने कल्याणमें 'शिवका स्वरूप' शीर्षक लेख प्रकट करके शिव-प्रतीकका रहस्योद्घाटन किया है। उनके इस लेख आधारसे ही यह विवेचन किया जा रहा है, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

पुरुष वासनामें फंसकर उसका दुरुपयोग कर डालते हैं। इस उल्लेखसे ब्रह्मचर्यमय योगनिष्ठाकी पुष्टि होती है। ऋषभ पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर अमृत्वको पान करके ही शिवरूप बने थे। रेणु-वीर्यके दुरवस्थित होने पर उसको ब्रह्मचर्य द्वारा ही उर्ध्वरेत करके जीवित बना दिया जाता है। ऋषभ अनन्तवीर्यके भोक्ता इसी प्रकार हुये थे। रेणुकाके पुनर्जीवन पानेका रहस्य यही है।

शिवके विषपानका रहस्य भी ऋषभकी योगचर्यामें छिपा हुआ है। निघण्टुमें जलके १०१ नाम दिए गए हैं। उनमें विष और अमृत भी जलके पर्यायवाची शब्द हैं एवं वीर्य या रेत भी जलका ही रूप है। अतः वीर्यसे दैवी और आसुरी अर्थात् अमृत रूप और विषरूप शक्ति प्रकट होती है। आत्मविनाशकी प्रवृत्ति आसुरीशक्ति विषरूपकी द्योतक है शिवने उसे जीत लिया था। पुण्य और पाप रति और अरति सब पर ऋषभने विजय पायी थी। अतः शिवका विषपानप्रसंग उनकी समवृत्तिका द्योतक है, जिसमें आसुरी वृत्ति पछाड़ दी गई थी।

भस्मासुरके त्रिपुर शरीरके बाहर नहीं थे। वह मानवकी मनवचन कायिक योगक्रियाएँ थी, जिन पर अधिकार पाये बिना कोई भी योगी जीवन्मुक्त परमात्मदशाको नहीं पा सकता। ऋषभदेवने मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड द्वारा इन त्रिपुरियोंको जीत लिया था उनकी अधोवृत्तिको नष्ट कर दिया था। इसीलिये उन्हें शिव कहकर याद किया गया है।

ऋषभकी तरह ही शिव दिगम्बर कहे गये हैं। शिव त्रिशूलधारी थे। भारतीय पुरातत्वमें त्रिशूल चिह्नका प्रयोग पहले पहले जैनोंने किया था[1]। ईस्वी पूर्व दूसरे शताब्दिके हाथीगुफा लेखमें वह मिलता है और कुशाणकालीन जिनमूर्तियोंके आसनमें त्रिशूल पर ही धर्मचक्रका चित्राङ्कण किया गया है[2]। अतः त्रिशूल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय धर्मका प्रतीक है, जिसके द्वारा संसार-व्यालको छेद दिया जाता है। शिवके रूपमें सर्पोंका प्रयोग मिलता है। जैन परम्परामें सर्पका विशिष्ट स्थान है। प्राचीनकालमें कुछ लोग उसे ज्ञानका प्रतीक मानते थे, जो अज्ञानके लिये कालरूप था। ऋषभदेव अनन्तज्ञानके भोक्ता थे जिसके फलस्वरूप ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई थी। शिवजीकी जटामें गंगाका वास माना ही जाता है। ऋषभमूर्तियोंकी यह एक विलक्षणता है कि उनके कन्धों पर जटायें उत्कीर्ण की जाती हैं। शिववाहन वृष (बैल) ही ऋषभका भी चिह्न है। इस प्रकार 'शिवपुराण' के उक्त श्लोकमें जो ऋषभको शिव कहकर उल्लेखित किया है वह सार्थक है। भारतीय परम्परामें यह विश्वास एक समय प्रचलित रहा प्रतीत होता है कि ऋषभ ही शिव हैं, क्योंकि साहित्यके साथ साथ शिवकी ऐसी मूर्तियाँ भी बनाई गई, जो बिल्कुल ऋषभ मूर्तिसे मिलती-जुलती हैं। इन्दौर संग्रहालयमें इस प्रकारकी एक मूर्ति है। उसका चित्र यहाँ मध्यभारत पुरातत्व विभागके सौजन्यसे उपस्थित किया जाता है। पाठक उसे देखकर यह भ्रम न करें कि वह जैन मूर्ति है। वह शिवकी मूर्ति है, परन्तु उसका परिवेष जिनमूर्तिके अनुरूप है। यह होना कुछ विचित्र नहीं? क्योंकि ऋषभको ही ब्राह्मणोंशिव और जैनोंने पहला तीर्थंकर माना था।

---

१ श्री रविषेणाचार्यने जिनेन्द्रके लिए लिखा था कि शुक्ललेश्यारूपी त्रिशूलसे मोहरिपुको नष्ट कर दिया है 'शुक्ललेश्यात्रिशूलेन मोहनीयरिपुर्हतः।'

२ 'बंगाल, बिहार, उड़ीसाके जैन स्मारक' और श्रीमहावीरस्मृतिग्रन्थ पृष्ट २२७–२२१ में देखें।

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(गत किरण पाँच से आगे)

सोनगढ़ गुजरातमें एक छोटासा कस्बा है पहले सोनगढ़को कोई नहीं जानता था। परन्तु अब सोनगढ़के नामसे भारतका प्रायः प्रत्येक जैन परिचित है। प्रस्तुत सोनगढ़ गुजरातके संत कानजी स्वामीके कारण जैनधर्मका एक केन्द्रसा बन गया है। कानजी स्वामीके उपदेशोंसे प्रभावित होकर काठियावाड़ गुजरातके ५ हजार व्यक्तियोंने दिगम्बर धर्मको अपनाया है। इस प्रान्तमें जो कार्य कानजी स्वामीने किया है वैसा कार्य अन्यने नहीं किया। सोनगढ़में दिगम्बर जैनियोंके ११० घर विद्यमान हैं जिनकी संख्या लगभग ४०० के करीब है। ये सभी कुटुम्ब यहाँ पर अपना संयमी जीवन बिता कर कानजी स्वामीके उपदेशोंसे लाभ उठा रहे हैं। उनका रहन-सहन सादा और आहारादि सात्विक है। सामायिक, स्वाध्याय प्रवचन, भक्ति और शंकासमाधान जैसे सत्कार्योंमें समय व्यतीत होता है। उक्त स्वामीजीके उपदेशोंसे वहाँकी जनता प्रेरित है। इस कारण उनके हृदयमें जैनधर्मके प्रचारकी बलवती भावना जाग्रत है। वहाँसे अनेक आध्यात्मिक ग्रन्थोंका गुजराती और हिन्दीमें प्रकाशन हुआ है। उन्हींकी प्रेरणाके फलस्वरूप सोनगढ़ जैसे स्थानमें निम्न ८ संस्थाएँ चल रही हैं। १ सीमंधरस्वामीका मन्दिर। २ श्रीसीमंधरस्वामीका समोसरण, समोसरणमें कुन्दकुन्दाचार्य हाथ जोड़े खड़े हुए हैं। ३ स्वाध्यायमन्दिर, ४ कुंदकुन्दमण्डप,— जिसमें ३१ अलमारियोंमें जैनसाहित्य भरा पड़ा है। ५ श्राविकाशाला। ६ अतिथिगृह, जिसमें बाहरके आगन्तुक व्यक्तियोंके लिए भोजनादिकी व्यवस्था है। ७ गोगीदेवी दि० जैन श्राविका ब्रह्मचर्याश्रम, जिसे सेठ तुलाराम वच्छराजजी कलकत्ताने डेढ़लाख रु० लगा कर बनवाया है। इसीमें ब्रह्मचारिणी शान्ताबहिन अध्यापनादि कार्य कराती हैं। संगमर्मरका एक सुन्दर मानस्तम्भ,—जिसकी प्रतिष्ठा अभी हालमें सम्पन्न हुई है। स्वाध्याय मन्दिरमें कानजी स्वामीका दो बार प्रवचन एक एक घंटे होता है; प्रवचनके समय प्रवचनमें निर्दिष्ट ग्रन्थ श्रोताओंके सामने होते हैं जिससे विषयको समझनेमें सुविधा होती है। प्रवचनकी आमभाषा गुजराती होती है किन्तु हिन्दी भाषियोंके आने पर प्रवचन हिन्दीभाषामें भी होने लगता है। प्रवचन सरल और वस्तुतत्त्वके विवेचनको लिये हुए होता है हम लोगोंने प्रवचन सुने, और यह अनुभव भी किया कि सोनगढ़में मुमुक्षुका समय व्यर्थ नहीं जाता समयकी उपयोगिताके साथ अध्यात्मग्रन्थोंके अध्ययन और तत्त्वचर्चाके सुननेका भी यथेष्ट अवसर मिलता है। मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके साथ उपादान और निमित्त-सम्बन्धी चर्चा भी चली, तत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर भी हुए। परन्तु अन्तिम निश्चयात्मक कोई निष्कर्ष नहीं निकला। केवल इतना कहने मात्रसे कि 'मूलमें भूल है' काम नहीं चल सकता; क्योंकि वस्तुतत्त्वकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। इनके बिना किसी वस्तुकी निष्पत्ति नहीं होती। आचार्य समन्तभद्रने 'निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः' वाक्यमें वस्तुकी उत्पत्तिमें दोनोंको मूलहेतु माना है। इतना ही नहीं किन्तु उपादान और निमित्तको द्रव्यगत स्वभाव भी बतलाया * है। यह सब होते हुए भी सोनगढ़में अध्यात्मचर्चाका प्रवाह बराबर चल रहा है। उपादान निमित्तके सम्बन्धमें जिज्ञासुभावसे वस्तुका निर्णय कर तद्विषयक गुत्थीको सुलझा लेना चाहिए। कानजी स्वामी भी दोनोंकी सत्ताको स्वीकार तो करते ही हैं। अतः इस सम्बन्धमें विशेष ऊहापोहके द्वारा विषयका निर्णय करलेनेमें ही बुद्धिमत्ता है। क्योंकि एकान्त ही वस्तुतत्त्वकी सिद्धिमें बाधक है, अतः एकान्त हठको छोड़ कर अनेकान्तको अपनाना ही श्रेयस्कर है। यहां हम लोग दो-तीन दिन ठहरे, समय बड़ा ही आनन्दसे व्यतीत हुआ। सोनगढ़से हम लोग पालीताना (शत्रुंजय) की यात्राको गये।

शत्रुंजयका दूसरा नाम पुण्डरीक कहा जाता है। यह क्षेत्र दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें मान्य

---

* बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥ स्वयंभूस्तोत्र

है। युधिष्ठिर भीम और अर्जुन इन तीन पाण्डवोंने तथा अनेक ऋषियोंने शत्रुंजयसे मुक्तिलाभ किया है। गुजरातके राजा कुमारपालके समयमें इस क्षेत्र पर लाखों रुपए लगाकर मन्दिरोंका जीर्णोद्धार किया गया था, तथा नूतन-मन्दिरोंका निर्माण भी हुआ है। कुछ मन्दिर विक्रमकी ११-१२ वीं शताब्दीके बने हुए हैं और शेष मन्दिर १५-वीं शताब्दीके बादमें बनाए गए हैं। यहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायके सहस्र मन्दिर हैं। इन मन्दिरोंमें कई मन्दिर कलापूर्ण हैं। इनमें जो मूर्तियाँ विराजमान हैं उनकी उस प्रशान्त मूर्ति कलामें सरागता एवं गृही जीवन जैसा रूप नजर आने लगा है—वे चांदी-सोने आदिके अलंकारों और वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हैं—नेत्रोंमें कांच जड़ा हुआ है। जिससे दर्शकके हृदयमें वह विकृत एवं अलंकृतरूप भयंकर और आत्म दर्शनमें बाधक तो है ही, साथही, मूर्तिकलाके उस प्राचीन उद्देश्यके प्रतिकूल भी है जिसमें वीतरागताके पूजनका उपदेश ग्रन्थोंमें निहित है। जैन मूर्तिकलाका यह विकृत रूप किसी तरह भी उपादेय नहीं हो सकता, यह सब सम्प्रदायके व्यामोहका परिणाम जान पड़ता है।

उक्त श्वेताम्बर मन्दिरोंके मध्यमें एक छोटासा दिगम्बर मन्दिर विद्यमान है, जो पुरातन होते हुए भी उसमें नूतन संस्कार किया गया प्रतीत होता है। परन्तु मूर्तियाँ १७ वीं शताब्दीके मध्यवर्ती समयकी प्रतिष्ठित हुई विराजमान हैं। मूलनायककी मूर्ति सं० १६४१ की है। एक मूर्ति सं० १६६१ की भी है और अवशिष्ट मूर्तियाँ सं० १८-६३ की विद्यमान हैं। मूल नायककी मूर्ति विशाल और चित्ताकर्षक है। ये सब मूर्तियाँ हूमडवंशी दिगम्बर जैनोंके द्वारा प्रतिष्ठित हुई हैं। मन्दिरका स्थान अच्छा है। पूजनादिकी भी व्यवस्था है। पहाड़ पर चढ़नेके लिए नूतन सीढ़ियोंका निर्माण हो गया है जिससे यात्री बिना किसी कष्टके यात्रा कर सकता है।

पहाड़के नीचे भी दर्शनीय श्वेताम्बर मन्दिर हैं उन सबमें सागरानन्द सूरि द्वारा निर्मित आगम मन्दिर है, जिसमें श्वेताम्बरीय आगम-सूत्र संगमर्मरके पाषाण पर उत्कीर्ण किए गये हैं। उनमें अंग उपांग भी खोदे गए हैं। पालीतानामें ठहरनेके लिए धर्मशाला बनी हुई है। जिसमें यात्रियोंको ठहरनेकी सुविधा है। शहरमें भी दिगम्बर मन्दिर है। पालीतानासे हम लोग सोनगढ़ आए। और वहांसे पुनः अहमदाबाद आकर पूर्वोक्त प्रेमचन्द्र मोतीचन्द्र दि०जैन बोर्डिंग हाउसमें ठहरे। अगले दिन संघ रेलवेसे तारंगाके लिये रवाना हुआ। क्योंकि तारंगाका रास्ता रेतीला अधिक होनेसे लारीके फंस जानेका खतरा था। जयपुर वालोंकी लारियाँ धँस गईं थीं, इस कारण उन्हें परेशानी उठानी पड़ी थी। अत परेशानीसे बचनेके लिये रेलसे जाना ही श्रेयस्कर समझा गया।

इस क्षेत्रका तारंगा नाम कब और कैसे पड़ा? यह कुछ ज्ञात नहीं होता। इसकी प्राचीनताके द्योतक ऐतिहासिक प्रमाण भी मेरे देखनेमें नहीं आए। मूर्तियाँ भी विशेष पुरानी नहीं हैं। निर्वाणकाण्डकी निम्न प्राकृत गाथामें 'तारवरणयरे' पाठ पाया जाता है जिसका अर्थ 'तारापुर' नामका नगर होना चाहिये। परन्तु उसका तारंगारूप कैसे बन गया? यह अवश्य विचारणीय है।

वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे [णियडे]।
आहुट्ठ य कोडिओ णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

इस गाथामें तारापुरके निकटवर्ती स्थानसे वरांग, सागरदत्त, वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ मुनियोंका निर्वाण होना बतलाया गया है। इसमें जो यहाँ वरांग वरदत्त और सागरदत्तका निर्वाण बतलाया, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वरांग मोक्ष नहीं गया और वरदत्तका निर्वाण अवश्य हुआ है पर वह आनर्तपुर ❀ देशके मणिमान पर्वत पर हुआ है तारापुर या तारपुरमें नहीं। तथा सागरदत्तके निर्वाणका कोई उल्लेख अन्यत्र मेरे देखनेमें नहीं आया। वरांगके स्वर्गमें जानेका जो उल्लेख है—वह उसी मणिमान पर्वतसे शरीर छोड़कर सर्वार्थ सिद्धि गए। जैसाकि जटासिंहनन्दीके ३१वें सर्गके वरांगचरितके निम्न पद्यसे प्रकट है।

कृत्वा कषायापशमं क्षणेन
ध्यानं, तथाद्यं समवाप्य शुक्लम्।
यथापशान्तिप्रभवं महात्मा
स्थानं समं प्राप वियोगकाले ॥१०५

❀ महाभारत और भागवतमें आनर्त देशका उल्लेख किया गया है और वहाँ द्वारकाको आनर्त देशमें बतलाया है।

❀ द्वारकाके पासवर्ती देशको भी आनर्तदेश कहा गया है। देखो पद्मचन्द्र कोष पृ० ८७

कर्मावशेषप्रतिबद्धहेतोः,
स निर्वृतिं नापदनो महात्मा।
विमुच्य देहं मुनि (सुव्र) शुद्धलेश्यः
आराधयन्त (नान्त) भगवाञ्जगाम।
यथैव वीर प्रविहाय राज्यं,
तां श्च मत्संयम माचचार।
तथैव निर्वाण फलावसानां, (नं)
लोक (कं) प्रतिष्ठां (प्रतस्थौ) सुरलोकमूर्ध्नि॥

विक्रमकी १२वीं शताब्दीके विद्वान भट्टारक उदय कीर्तिने अपनी 'निर्वाणभक्तिमें निर्वाण स्थानोंका वर्णन करते हुए उक्त निर्वाणभूमिको तारापुर ही बतलाया तारंगा नहीं, जैसा कि उसके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

'तारापुर वंदउ जिणवरेंदु, आहूठ कोडिकिउ सिद्ध मंगु।'

इन सब समुल्लेखों परसे भी मेरे उस अभिमतकी पुष्टि होती है। ऐसी स्थितिमें उक्त 'तार उर' या तारापुर तारंगा नहीं कहा जा सकता। निर्वाणकाण्डकी उस गाथाका क्या आधार है? और उसकी पुष्टिमें क्या कुछ ऐतिहासिक तथ्य है यह कुछ समझमें नहीं आया। यहां दो दिगम्बर मन्दिर हैं, जिनमेंसे एक सम्वत् १६११ का बनाया हुआ है और दूसरा सं० १९२३ का। इससे पूर्व वहां कितने मन्दिर थे, यह वृत्त अभी अज्ञात है।

तारंगासे अहमदाबाद वापिस आकर हम लोग 'पावागढ़' के लिए रवाना हुए। यहाँ आकर धर्मशालामें ठहरनेको थोड़ी सी जगह मिल गई। पावागढ़की अन्य धर्मशालाओंमें ललितपुर आदि स्थानोंके यात्री ठहरे हुए थे।

पावागढ़ एक पहाड़ी स्थान है। यहाँ एक विशाल किला है। और यह ऐतिहासिक स्थान भी रहा है। धर्मशालाके पास ही नीचे मन्दिर है। शिलालेखोंमें इसका 'पावकगढ़' नामसे उल्लेख मिलता है। चन्दकविने पृथ्वीराजरासे में पावकगढ़के राजा रामगौड़ तुआर या तोमरका उल्लेख किया है। सन् १३०० में उस पर चौहानराजपूतोंका अधिकार हो गया था, जो मेवाड़के रणथंभोरसे सन् १२९६ या १३०० में भाग कर आये थे। सन् १४८४ में सुलतान महमूद बेगड़ने चढ़ाई की, तब जयसिंहने वीरता दिखाई, अन्तमें सन्धि हो गई। उसके बाद सन् १५३५ में मुगलबादशाह हुमायूंने पावकगढ़ पर कब्जा कर लिया* फिर सन् १७२७ में कृष्णाजीने उसे अपने अधिकारमें ले लिया। तथा सन् १७६१ अथवा १७७० में सिंधियाने कब्जा कर लिया। उसके बाद सन् १८५३ [वि० सं० १९१०] में अंग्रेज सरकारने उसे अपने आधीनकर लिया। इस पहाड़के नीचे उत्तर पूर्वकी ओर राजशू चापानेरके खण्डहर देखने योग्य हैं और दक्षिणकी ओर अनेक गुफाएँ हैं जिनमें कुछ समय पूर्व हिन्दु साधु रहा करते थे। पहाड़ पर तीन मीलकी चढ़ाई और उतनी ही उतराई है।

पावागढ़के नीचे चांपानेर नामका नगर बसा हुआ था जिसे अनहिल बाड़ाके वनराज के राज्यमें (७४६—८०६ में एक चंपा बनियेने बसाया था। सन् ५३६ तक यह गुजरातकी राजधानी रहा है।

पहाड़के ऊपर कुछ मन्दिरोंके भग्नावशेष पड़े हुए हैं। छटवें फाटकके बाहरकी भीतमें डेढ फीटके करीब ऊंचाईको लिये हुए एक पद्मासन दिगम्बर जैन प्रतिमा उत्कीर्ण है जिसके नीचे सं० ११३४ अंकित हैं। ऊपर चढ़ने पर रास्तेसे बगलमें नीचेको उतरके दो कमरे बने हुए हैं। उसके बाद ८३ सीढ़ी नीचे जाकर मांचीका दरवाजा आता है वहाँ एक छोटा सा मकान पहरे वालोंके ठहरनेके लिए बना हुआ प्रतीत होता है। ऊपर जीर्ण मन्दिरोंके जो भग्नावशेष पड़े हैं उन्हींमेंसे ३-४ मन्दिरोंका जीर्णोद्धार किया गया है। मन्दिरोंमें विशेष प्राचीन मूर्तियां मेरे अवलोकनमें नहीं आई। विक्रमकी १६ वी १७ वीं शताब्दीसे पूर्वकी कोई मूर्ति उनमें नहीं है। एक मूर्ति भगवान पार्श्वनाथकी सं० १५४८ की भट्टारक जिनचन्द्र और जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित विराजमान हैं उपलब्ध मूर्तियोंमें प्रायः सभी मूर्तियाँ मूलसंघ बलात्कारगणके भट्टारक गुणकीर्तिके पट्टधर शिष्य भ० वादिभूषण द्वारा प्रतिष्ठित सं० १६४२, १६४५ और १६६५ की हैं। भगवान महावीरकी एक मूर्ति सं० १६६६ की भ० सुमतिकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मौजूद है।

ऊपरके इस सब विवेचन परसे यह स्थान विक्रमकी ११ वीं १२ वीं शताब्दीसे पुराना प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कि वह इससे भी पुरातन रहा हो। यहाँ संभवतः डेढ सौ वर्षके करीबका बना हुआ कालीका एक मन्दिर भी है। सीढ़ियोंके दोनों ओर कुछ जैन मूर्तियां लगी हुई

* देखो अकबर नामा।

है, जो जैनियोंके प्रमाद और धार्मिक शिथिलताकी द्योतक हैं। क्या जैन समाज अपनी गाढ़ निन्द्राको भंग कर पुरातत्त्वके संरक्षणकी ओर ध्यान देगा?

निर्वाणकाण्डमें * इस पावागढ़क्षेत्रसे रामचन्द्रजीके दोनों पुत्र लव कुश तथा लाडदेशके राजा और पाँच करोड़ मुनियोंके निर्वाणका पवित्र स्थान बतलाया गया है इस सम्बन्धमें भी अन्वेषणकी आवश्यकता है।

पावागढ़से चल कर हम लोग अंतरोड़ होते हुए दाहोद पहुँचे, और दि० जैन बोर्डिंग हाउसमें ठहरे। वहाँ पण्डित हरिश्चन्द्रजीने हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था की। नशियांजीका स्थान सुन्दर है वहां भगवान महावीर स्वामीकी एक मनोग्य एवं विशाल मूर्तिके दर्शन कर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई और सफरके उन सभी कष्टोंको भूल गए जो सफर करते हुए उठाने पड़े।

दाहोद सन् १४१९ (वि० स० १४७६) तक बाहरिया राजपूतोंके आधीन रहा। किन्तु सुलतान अहमदने राजा डूंगरको परास्त कर दाहोद पर अधिकार कर लिया। सन् १५७३ में अकबर बादशाहके आधीन रहा। सन् १६१९ में शाहजहाँने औरङ्गजेबके जन्मके सम्मानमें कारवा सराय बनवाई थी। बादमें सन् १७५० वि० स० १८०७ में सिंधियाके कब्जेमें आया और सन् १८५३ में अंग्रेज सरकारने उसपर कब्जा कर लिया यह पहले अच्छा बड़ा नगर रहा है। दाहोदसे सुबह चार बजेसे हमलोग बड़वानी [बावनगजा] की यात्राके लिए चले। और ११ बजेके करीब हमलोग नरवदा नदीके घाट पर पहुँच गए। वहाँसे लारीको पार करनेमें ४-५ घन्टेका विलम्ब हुआ, बाबूलालजी जमादारको शहरमें इजाजत लेनेके लिए भेजा गया। उनके सरकारी आज्ञालेनेसे पूर्व हम सब लोगोंने नहा धोकर भोजन बनाना प्रारम्भ किया। लाला राजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजीकी कारें नदीके उस पार पहुँच गई और वे बड़वानीमें दि० जैन बोर्डिंग हाउसमें ठहरे। बाबूलाल जीके आने पर लारीका सामान उतार कर पहले नावद्वारा सामान उस पार भेजा गया, बादमें लारीका नाव पर चढ़ा कर उसपार भेजा। और एक नावमें हम सब लोग पार उतरे। इसके लिए हमें १०) रु० के करीब किराया देना पड़ा। वहांसे सामान मोटर पर चढ़वा कर हम लोग ३ बजेके करीब बड़वानी बोर्डिंगहाउसमें ठहरे। वहाँ पं० क्षेमंकरजी न्यायतीर्थ योग्य विद्वान तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। उन्होंने हम लोगोंके ठहरनेकी व्यवस्था की तथा गेहूँ और अच्छे घीको भी व्यवस्था करा दी। बोर्डिंगहाउसमें छात्र अंग्रेजी और संस्कृतकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। हम लोगोंने वहाँ २-३ घण्टेमें कुछ खाने पीनेका सामान खरीदा और विद्यार्थी ज्ञानचन्द्रादिको साथ में लेकर चूलगिरिकी यात्रार्थ चल दिए। वहां धर्मशालाके पास लारीको खड़ाकर हम लोग पहाड़की यात्रा करनेके लिए चले। और हमने ता० २० फरवरी सन् १९५३ को शामको सात बजे यात्रा प्रारम्भ की। और दो तीन घण्टेमें सानन्द यात्रा सम्पन्न की। यात्रामें जितना आनन्द आया, वहाँ ठहरनेके लिये समय कम मिलनेसे कष्टभी पहुँचा; क्योंकि वहां अनेक पुरानी मूर्तियाँ मौजूद हैं। जो १० वीं ११ वीं शताब्दीकी जान पड़ती हैं। कितनी ही ऐतिहासिक सामग्री छिन्न भिन्न पड़ी है परन्तु क्षेत्रके प्रबन्धकोंने उसे संगृहीत करनेका प्रयत्न ही नहीं किया, केवल पैसा संचित करने और धर्मशाला वा मानस्तम्भादिके निर्माणमें उसे खर्च कर देनेका ही प्रयत्न किया गया है। परन्तु क्षेत्रके इतिहासको खोज निकालने और पुरानी मूर्तियाँ तथा अवशेषोंका संग्रह कर उनके संरक्षण करनेकी ओर ध्यान ही नहीं दिया गया, जिसकी ओर क्षेत्रके मुनीमका ध्यान आकर्षित किया गया।

चूलगिरिमें सबसे प्रधानमूर्ति आदिनाथजी की है जिसे बावनगजाजीके नामसे भी पुकारा जाता है। अब इस मूर्तिके ऊपर छतरी होनेके कारण मधुमक्खियोंका छत्ता लगा हुआ है। यह मूर्ति ८४ फीटकी ऊँची बतलाई जाती है मूर्ति सुन्दर है, कलापूर्ण भी है परन्तु वह उतनी आकर्षक नहीं है जितनी श्रवणबेलगोलकी मूर्ति है।

चूलगिरि बड़वानीसे दक्षिण दिशामें है। बड़वानी छोटीसी रियासतकी राजधानी रही है। चूलगिरिमें ऊपर और नीचे पहाड़ पर कुल २२ मन्दिर हैं। निर्वाणकाण्डमें बड़वानीसे दक्षिण दिशामें चूलगिरि-शिखरसे इन्द्रजीत और कुम्भकर्णादि मुनियोंके मुक्त होनेका उल्लेख है। जिससे इस क्षेत्रको भी निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। दिगम्बर जैन डायरेक्टरीमें लिखा है—कि 'बड़वानी' पुराना नाम नहीं है लगभग ४०० वर्ष पूर्व इसका नाम 'सिद्ध-

---

* रामसुआ बिण्णि जणा लाडनरिंदाण पंचकोडीओ।
पावाए गिरि सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥२॥

नगर' था, पीछे किसी समय बडवानी हुआ होगा। वहां रंगाराकी बावडीके लेखसे ऐसाही मालूम होता है; परन्तु यह कल्पना ठीक नहीं है। बडवानी यह नाम कमसे कम छह-सातसौ वर्षसे कम पुराना प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके भट्टारक उदयकीर्तिने अपनी निर्वाणभक्तिमें इसका उल्लेख किया है, और निर्वाण-काण्डकी वह गाथा भी उक्त भक्तिसे पुरानी जान पड़ती है। भक्तिका वह उल्लेख वाक्य इस प्रकार है :—

'वडवाणीरावणतणउपुत्तु हउं वंदमि इन्द्रजि मुणि पवित्तु

चूलगिरिके शिखरस्थित मन्दिरोंका जीर्णोद्धार विक्रमकी १३ वीं १४ वीं और १६ वीं शताब्दीमें किया गया है। जिनमें दो॰ शिलालेख वि॰ सं॰ १२२३ के हैं और एक मूर्ति लेख संवत् १३८० का है। शेष लेख समयकी कमीसे नोट करनेसे रह गए। दूसरे लेखसे मुनि रामचन्द्र-की गुरुपरम्पराका उल्लेख मिल जाता है जो लोकनन्दी-मुनिके प्रशिष्य और देवनन्दीमुनिके शिष्य थे। मुनि रामचन्द्रके शिष्य शुभकीर्तिका भी उल्लेख अन्यत्र पाया जाता है। वे लेख पूर्व और दक्षिण दिशाके निम्न प्रकार हैं :—

१ 'यस्य स्वकुब्जतुषारकुन्दविशदाकीर्तिगुणानां निधिः श्रीमान भूपतिवृन्दवन्दितपदः श्रीरामचन्द्रो मुनिः।
विश्वक्ष्माभृद् खर्वशेखर शिखा सञ्चारिणी हारिणी,
उर्व्यां शत्रु जितो जिनस्य भवनव्याजेन विस्फूर्जति ॥१॥

रामचन्द्रमुनेः कीर्ति सङ्कीर्णं भुवनं किल।
अनेकलोक सङ्घर्षाद् गता सवितुरान्तकं ॥

सम्वत् १२२३ वर्षे भाद्रपदवदि १४ शुक्रवार।
२ ओंनमो वीतरागाय ॥

आसीद्यःकलिकालकल्मषकरिध्वंसैककंठीरवो,
वनेक्ष्मापतिमौलिचुम्बितपदः यो लोकनन्दो मुनिः।
शिष्यस्तस्य स सर्वसङ्घतिलक श्रीदेवनन्दो मुनिः।
धर्मज्ञानतपोनिधिर्यतिगुणग्रामः सुवाचां निधिः ॥१॥
वंशे तस्मिन् विपुलतपसां सम्मतः सत्वनिष्ठो।
वृत्तिपापां विमलमनसा त्यज्यविद्याविवेकः।
रम्यां हर्म्ये सुरपतिजितः कारितं येन विद्या।
शेषां कीर्तिर्भाति भुवने रामचन्द्रः स एषः ॥२॥

संवत् १२१३ वर्षे।

३—संवत् १३८० वर्षे माघसुदि ७ सनौ श्रीनंद्यसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे मूलसंघे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीशुभकीर्तिदेवतच्छिष्य सत्कीर्ति ... ...

एक मूर्ति पर वि॰ सं॰ १२१२ का भी लेख अंकित है उसमें शिल्पकारका नाम कुमारसिंह दिया हुआ है।

सम्वत् १५१६ में काष्ठासंघ माथुरगच्छ पुष्करगणके भट्टारक श्रीकमलकीर्तिके शिष्य मंडलाचार्य रत्नकीर्तिने मन्दिरका जीर्णोद्धार किया, और बड़े चैत्यालयके पार्श्वमें दश जिनवसतिकाओंकी आरोपणा की। तथा इन्द्रजीतकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा भी श्रीसंघके लिये की गई। इस तरह यह चूलगिरिक्षेत्रका पुरातन इतिवृत्त १० वीं शताब्दीके आस पास तक जा सकता है। पर यदि वहाँकी पुरातन सामग्रीका संचय कर समस्त शिलालेख और मूर्तिलेखोंका संकलन कर प्रकाशन कार्य किया जाय। तब उसके इतिहासका ठीक पता चल सकता है।

बडवानीसे उसी दिन रात्रिको १० बजे चलकर हम लोग १२ बजेके करीब ऊन (पावागिरि) पहुँचे।

यह क्षेत्र कुछ समय पहले प्रकाशमें आया है। इसे ऊन अथवा 'पावागिरि' कहा जाता है। इस क्षेत्रके 'पावागिरि' होनेका कोई पुरातन उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। यहाँ एक पुराना जैन मन्दिर ११वीं १२वीं शताब्दीका बना हुआ है, जो इस समय खण्डित है, परन्तु उसमें एक दो पुरानी मूर्तियाँ भी पड़ी हुई हैं। जिनकी तरफ इस क्षेत्र कमेटीका कोई ध्यान नहीं है। यहाँ दो तीन नूतन मन्दिरोंका निर्माण अवश्य हुआ है, जिनमें ३ मूर्तियां पुरानी हैं। वे तीनों मूर्तियां एक ही तरहके पाषाणकी बनी हुई हैं। उनमेंसे दोनों ओरकी मूर्तियोंके लेख मैंने उतार लिये थे, परन्तु तीसरी मूर्तिका अभिलेख कुछ अंधेरा होनेसे स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता था इस कारण उतारनेसे रह गया था। वे दोनों मूर्तियाँ संभवनाथ और कुंथनाथकी हैं उनके मूर्ति लेख निम्नप्रकार हैं:—

१ "सम्बत् १२५८ श्रीबलात्कारगणपण्डित श्रीदेशनन्दी गुरुवर्यवरान्वये साधु धणपण्डित तच्छिष्य साधुलोलेण तस्य भार्या हर्षिणी तयोः सुत साधुगासूल सांतेण प्रणमति नित्यम्"

२ श्री सम्वत् १२६३ वर्षे ज्येष्ठमासे १३ गुरौ साधु पंडित रूपु तैनेनितं सुतसीखहारेण प्रणमति नित्यम्"

तीसरी मूर्ति अजितनाथकी है।

विद्वानोंको चाहिये कि इस क्षेत्रके सम्बन्धमें अन्वेषण किया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि यह स्थान कितना पुराना है और नाम क्या था, इसे पावागिरि नाम कब और क्यों दिया गया? यह एक विचारणीय विषय है जिस पर अन्वेषक विद्वानोंको विचार करना आवश्यक है।

ऊनसे चल कर हम लोग धूलिया आए। यहाँ से ला० राजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजी 'माँगीतुंगी' की यात्राके लिये चले गए। हम लोग धूलियासे सीधे गजपंथा आये। और रात्रिमें एक बजेके करीब धर्मशालामें पहुँचे। वहाँ जाकर देखा तो धर्मशाला दिल्ली और ललितपुर आदिके यात्रियोंसे ठसाठस भरी हुई थी। किसी तरहसे दहलानमें बाहर सामान रख कर दो घंटे आराम किया। और प्रातःकाल नैमित्तिक क्रियाओंसे फारिग होकर यात्राको चले।

यह गजपन्थ तीर्थ नूतन संस्कारित है। सम्भव है पुराना गजपन्थ नासिकके बिलकुल पास ही रहा हो, जहाँ वह वर्तमानमें है वहाँ न हो। पर इसमें सन्देह नहीं कि गजपन्थ क्षेत्र पुराना है।

गजपन्थ नामका एक पुराना तीर्थ क्षेत्र नासिक ※ के समीप था। जिसका उल्लेख ईसाकी ५ वीं और विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) ने अपनी निर्वाणभक्तिके निम्न पद्यमें किया है:—

'सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे,
दण्डात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ।
ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः
स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥'

पूज्यपादके कई सौ वर्ष बाद होने वाले असग कविने जो नागनन्दी आचार्यके शिष्य थे। उन्होंने अपना 'महावीर चरित' शक संवत् ९१० (वि० सं० १०४५) में बना कर समाप्त किया था। असगने अपने शान्तिनाथ पुराणके सातवें सर्गके निम्न पद्यमें गजपन्थ या 'गजध्वज' पर्वतका उल्लेख किया है ×।

अपश्यन्नाकरं किंचिद्रक्षोपायमथात्मनः।
शैलं गजध्वजं प्रापन्नासिक्यनगराद्बहिः ॥ ६८ ॥

विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान ब्रह्मश्रुतसागरने, जो भ० विद्यानन्दके शिष्य थे। अपने बोधपाहुडकी टीकामें २७वें नम्बरकी गाथाकी टीका करते हुए—ऊर्जयन्त-शत्रुंजय-लाटदेश पावागिरि, आभीरदेश तुंगीगिरि, नासिक्यनगरसमीपवर्तिगजध्वज-गजपन्थ सिद्धकूट······'गजध्वज या गजपन्थका उल्लेख किया है। इतनाही नहीं किन्तु ब्रह्मश्रुतसागरने 'पल्लविधानकथा' की अन्तिम प्रशस्तिमें जिसे ईडरके राजा भानुभूपति, जो 'रावभाणजी' के नामसे प्रसिद्ध थे, वह राठौर राजा रावपूंजाजीके प्रथम पुत्र और रावनारायणदासजीके भाई थे। सं० १५०२ में गुजरातके बादशाह मुहम्मदशाह द्वितीयने ईडर पर चढ़ाई की थी, तब उन्होंने पहाड़ोंमें भागकर अपनी रक्षा की, और बादमें सुलह कर ली थी। इन्होंने सं० १५०२ से १५५२ तक राज्य किया है। इनके मंत्री भोजराज हूमडवंशी थे, उनकी पत्नी विनयदेवी थीं। उनके चार पुत्र थे और एक पुत्री। ब्रह्मश्रुतसागरने संघ सहित इनके साथ गजपंथकी यात्रा की थी और सकलसंघको दान भी दिया था यथा—

यात्रां चकार गजपन्थगिरौ स संघा—
ह्य तत्तपो विदधती सुदृढव्रता सा
सच्छान्तिकं गणसमर्चनमर्हदीश
नित्यार्चनं सकलसंघ सदत्तदानं ॥४१॥

इससे स्पष्ट पता चलता है कि विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें 'गजपन्थ' क्षेत्र विद्यमान था और उसकी यात्रार्थ

※ नासिक पुराना शहर है। यहाँ रामचन्द्रजीने बहुत-सा काल व्यतीत किया था, कहा जाता है कि इसी स्थान पर रावणकी बहिन सूर्पणखाकी नासिका काटी गई थी इसीसे इसे नासिक कहा गया है। नासिकमें ईस्वी सन्के दो सौ वर्ष बाद आंध्रभृत्य, बौद्ध, चालुक्य, राष्ट्रकूट चंद्रोर यादववंश और उसके बाद मुसलमानों, महाराष्ट्रों और अंग्रेजोंका राज्य शासन रहा है। यह हिन्दुओंका पुरातन तीर्थ है। यह गोदावरी नदीके बायें किनारे पर बसा हुआ है पंचवटीका मन्दिर भारतमें प्रसिद्ध ही है। दिगम्बर जैनग्रंथोंमें भी नासिकका उल्लेख निहित है। आचार्य शिवार्यकी भगवती आराधनाकी १३२६वींकी गाथामें नासिक्य या नासिक नगरका उल्लेख मिलता है। भगवती आराधना ग्रन्थ बहुत प्राचीन है।

× देखो, अनेकान्त वर्ष ७—किरण ७-८ में पं० नाथूरामजी प्रेमीका लेख।

संघ आते थे। अन्वेषण करने पर गजपन्थ यात्राके अन्य-भी समुल्लेख प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु विचारना तो यह है कि वर्तमान गजपन्थ ही क्या पुरातन गजपन्थ है या श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लिखे अनुसार वि० सं० १६३६ में नागौरके भट्टारक क्षेमेन्द्रकीर्ति द्वारा मसरूल गाँवके पाटीलसे जमीन लेकर नूतन संस्कारित गजपन्थ है। हो सकता है कि गजपन्थ विशाल पहाड़ न रहा हो, पर वह इसी स्थान पर था, यह अन्वेषणकी वस्तु है। इन सब उल्लेखोंसे गजपन्थकी प्राचीनता और नासिकनगरके बाहिर उसकी अवस्थिति निश्चित थी। पर वह यही वर्तमान स्थान है। इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्धमें अन्य प्रमाणोंके अन्वेषण करनेकी आवश्यकता है। गजपन्थकी वर्तमान पहाड़ी पर जो गुफाएँ और मूर्तियाँ थीं उनका नूतन संस्कार कर देनेके कारण वहाँकी प्राचीनताका स्पष्ट भान नहीं होता। वहाँकी प्राचीनताको कायम रखते हुए जीर्णोद्धार होना चाहिये था। पहाड़ पर मूर्तिका दर्शन भीड़में करना बड़ा कठिन होता है। और पहाड़ पर भी सावधानीसे चढ़ना होता है; क्योंकि कितनी ही सीढ़ियाँ अधिक ऊँचाईको लिये हुये बनाई गई हैं। हम लोगोंने सानन्द यात्रा की।

गजपन्थसे नासिक होते हुए पहाड़ी प्रदेशकी वह मनोरम छटा देखते हुए हम लोग रात्रिको ६ बजे ता० २२ फर्वरीको बम्बई पहुँचे और सेठ सुखानन्दजीकी धर्मशालामें चौथी मंजिल पर ठहरे।

बम्बई एक अच्छा बन्दरगाह है और शहर देखने योग्य है। बम्बईकी आबादी घनी है। सम्भवतः बम्बईकी आबादी इस समय पच्चीस तीस लाखके करीब होगी। बम्बई व्यापारका प्रसिद्ध केन्द्र है। यहाँसे ही प्रायः सब वस्तुएँ भारतके प्रदेशों तथा अन्य देशोंमें भेजी जाती हैं। हम लोगोंने बम्बई शहरके मन्दिरोंके दर्शन किये चौपाटीमें बने हुए सेठ माणिकचन्द्रजी और संघपति सेठ पूनमचन्द घासीलालजीके चैत्यालयके दर्शन किये। ये दोनों ही चैत्यालय सुन्दर हैं। भूलेश्वरके चन्द्रप्रभु चैत्यालयके दर्शन किये। रात्रिमें वहाँ मेरा और बाबूलालजी जमादारका भाषण हुआ। एक टैक्सी किरायेकी लेकर बन्दरगाह भी देखा। समयाभावके कारण अन्य जो स्थान देखना चाहते थे, वे नहीं देख पाये।

श्रद्धेय पं० नाथूरामजी 'प्रेमी' मालिक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर हीराबाग बम्बईसे भी मिले। उनसे चर्चा करके बड़ी प्रसन्नता हुई। मुख्तार साहब कुछ अस्वस्थसे चल रहे थे, वे प्रेमीजीके यहाँ ही ठहरे। वहाँ उन्हें सर्व प्रकारकी सुविधा प्राप्त हुई। पूर्ण आराम मिलनेसे तबियत ठीक हो गई। हम सब लोगोंने हैजेके टीके यहाँ ही लगवा लिये। क्योंकि श्रवण बेल्गोलमें हैजेके टीकेके बिना प्रवेश निषिद्ध था।

बम्बईसे हम लोग ता० २६ की शामको ४ बजे पूनाके लिये रवाना हुए। बम्बईसे पूना जानेका मार्ग बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है। पहाड़की चढ़ाई और पहाड़को काटकर बनाई हुई गुफाएँ देख कर चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई। यह प्रदेश इतना सुन्दर और मन-मोहक है कि उसके देखनेके लिये चित्तमें बड़ी उत्कंठा बनी रहती है। हम लोग रातको ६ बजे पूना पहुँचे और स्टेशनके पासकी धर्मशालामें ठहरे। यद्यपि पूनामें अनेक स्थल देखनेकी अभिलाषा थी। खासकर "भण्डारकर रिसर्चइन्स्टिट्यूट" तो देखना ही था, परन्तु समय की कमीके कारण उसका भी अवलोकन नहीं कर सके।

पूनासे हम लोग रात्रिके ४ बजे कोल्हापुरके लिये रवाना हुए। और सतारा होते हुए हम लोग रात्रिमें कुंभोज (बाहुबली) पहुँचे।

कुम्भोज बड़ा ही रमणीक स्थान है। यहाँ अच्छी धर्मशाला बनी हुई है। साथ ही पासमें एक गुरुकुल है। गुरुकुलमें स्वयं एक सुन्दर मन्दिर और भव्य रथ मौजूद है। बाहुबलीकी सुन्दर मूर्ति विराजमान है दर्शन पूजन कर दर्शकका चित्त आल्हादित हुए बिना नहीं रहता। ऊपर पहाड़ पर भी अनेक मन्दिर हैं जिनमें पार्श्वनाथ और महावीरकी मूर्तियाँ विराजमान हैं और सामने एक बड़ा भारी मानस्तम्भ है। बाहुबली स्वामीकी मूर्ति बड़ी ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। दर्शन करके हृदयमें जो आनन्द प्राप्त हुआ वह वचनातीत है। दर्शन पूजनादिसे निपट कर मुनि श्रीसमन्तभद्रजीके दर्शन किये, उन्होंने अभी कुछ समय हुए मुनि अवस्था धारण की थी। उन्होंने कहा कि मेरा यह नियम था कि ६० वर्षकी अवस्था हो जाने पर मुनिमुद्रा धारण करूँगा। मुनि

समन्तभद्र प्रकृतितः भद्र और शान्त हैं। वे कर्तव्य कर्ममें बड़े ही सावधान हैं।

इन्होंने अपनी क्षुल्लक अवस्थामें जैनसमाजमें गुरुकुल पद्धति पर शिक्षाका प्रचार किया और कितने ही बी०ए० एम. ए. शास्त्री, न्यायतीर्थ योग्य कार्यकर्ता तैयार किये हैं। कारंजाका प्रसिद्ध ब्रह्मचर्याश्रम आपकी बदौलत ही इतनी तरक्की करनेमें समर्थ हो सका है। अब भी यहाँ मुनिजी दो घण्टा स्वयं पढ़ाते हैं। गुरुकुलका स्थान सुन्दर है। व्यवस्था भी अच्छी है। आशा है गुरुकुल अपने को और भी समुन्नत बनानेमें समर्थ होगा। उनसे आत्म-कल्याण सम्बन्धि चर्चा हुई। मुनिजीने श्रीमुख्तार साहबसे कहा आपने समाजकी खूब सेवा की है। और उच्च कोटिका साहित्य भी निर्माण किया है। उसके साथ संस्थाको अपना धन भी दे डाला है। अब आप अपनी ओर भी देखिये और कुछ आत्म साधनकी ओर अग्रसर होनेका प्रयत्न कीजिये। मुख्तार साहबने मुनिजीसे कहा कि मेरा आत्मसाधनकी ओर लगनेका स्वयं विचार चल रहा है और उसमें यथाशक्ति प्रयत्न भी करूंगा। गुरुकुलके एक सज्जनने मुख्तार साहबका चित्र भी लिया और दूधका आहार भी दिया हम लोग यहांसे २१ मील चल कर कोल्हापुरमें दि० जैन बोर्डिङ्ग हाउस में ठहरे। क्रमशः

परमानन्द जैन शास्त्री

हिन्दी जैन-साहित्यमें तत्वज्ञान

(श्रीकुमारी किरणबाला जैन)

किसी पदार्थके यथार्थ स्वरूपको अथवा सारको तत्त्व कहते हैं। उनकी संख्या सात है। उनमें जीव और अजीव जड़ और चेतन ये दो तत्त्व प्रधान हैं। इन्हीं दो तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे अन्य तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। संसारका सारा परिणाम अथवा परिणमन इन्हीं दो तत्त्वोंका विस्तृत रूप है। इन तत्त्वोंको जैनसिद्धान्तमें आत्माका हितकारी बताया गया है और उन्हींको जैनसिद्धान्तमें 'तत्त्व संज्ञा' प्रदान की गई है। आत्माका वास्तविक स्वभाव शुद्ध है; परन्तु वर्तमान संसार अवस्था पाप पुण्य रूपी कर्मोंसे मलिन हो रही है। जैनतीर्थंकरोंके कथनानुसार आत्माका पूर्ण हित, स्वाधीनता-का लाभ है जिसमें आत्माके स्वाभाविक सर्वगुण विकसित हो जायें, तथा वह सर्व कर्मकी मलिनतासे मुक्त हो जाय-छूट जाय। उस अन्तिम अवस्थाको प्राप्त होना ही मुक्ति है। आत्माके पूर्ण मुक्त हो जाने पर उसे परमात्मा कहा जाता है। उसीको सिद्ध भी कहते हैं। मुक्त अवस्था-में परमात्मा सदा अपने स्वभावमें मग्न होकर चिदानन्दका भोग करता है। जैनाचार्योंके अनुसार इसी मुख्य उद्देश्य-का निष्पक्षभावसे विचार ही तत्त्वज्ञान है। इन तत्त्वों द्वारा बताया गया है कि यह आत्मा वास्तवमें तो शुद्ध है, परन्तु वह समस्त कर्मकालिमाके सर्वथा वियोगसे होता है इसका जैनग्रन्थोंमें विस्तृत विवेचन किया गया है जैसे रोगी रोगसे पीड़ित होने पर जब वह वैद्यके समीप जाता है तब वैद्य रोगीकी परीक्षा करनेके पश्चात् बताता है कि तू वास्तवमें तो रोगी नहीं है, परन्तु निम्नकारणोंसे तेरे यह रोग उत्पन्न हुआ है। तेरा रोग ठीक हो सकता है परन्तु तुझे मेरे कहे अनुसार प्रयत्न करना पड़ेगा, तो इस रोगसे तेरा छुटकारा हो सकेगा अन्यथा नहीं। वैद्य रोगीको रोगका निदान बतलाने-के बाद उससे छुटकारा पानेका उपाय बतलाता है, उसके बाद रोगकी वृद्धि न होनेके लिये उपचार करता है। जिससे रोगी रोगसे मुक्त हो सके।

इसी प्रकार मलिन वस्त्रको स्वच्छ करनेके पूर्व वस्त्र और उसकी मलिनताके कारणों-को जानना आवश्यक है। वस्त्र मलिन कैसे हुआ? और किस प्रकार वस्त्रकी मलि-नताको दूर किया जा सकता है जो व्यक्ति अनेक प्रयोगोंके द्वारा उसकी मलिनताको दूर करनेका प्रयत्न करता है वही मलिन वस्त्रको धोकर स्वच्छ कर लेता है। वस्तुकी मलि-नताको दूर करनेका यही क्रम है अनेक प्रयोगोंके द्वारा उसे शुद्ध एवं स्वच्छ बनाया जासकता है। इसी प्रकार जैना-चार्योंने आत्माको शुद्ध करनेकी प्रक्रिया, खानसे निकाले गए सुवर्णपाषाणको घर्षण छेदन ताडन-तापनादि प्रयोगोंके द्वारा अन्तर्बाह्यमलसे शुद्ध करनेके समान बतलाई है। उसी तरह आत्माको भी अन्तर्बाह्यमलसे मुक्त करनेके

लिये विविध तपों और ध्यानादिके अभ्यास द्वारा शुद्ध बनानेका उपाय बतलाया गया है। अस्तु आत्माको शुद्ध करनेके लिए इन तत्वोंका ज्ञान प्राप्त करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इनके जान लेनेसे आत्मशुद्धि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

जैनसिद्धान्तमें सात तत्वोंके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं:—१ जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७ मोक्ष। इनमें पाप और पुण्यको जोड़ देनेसे ६ पदार्थ हो जाते हैं।

जीव—जो अपने चैतन्य लक्षण रखते हुये शाश्वत रहे उसे जीवकी संज्ञा दी जाती है। अथवा ज्ञान, दर्शन और चेतनामय पदार्थको आत्मा या जीव कहते हैं, जो प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान है वह सुख दुखका अनुभव करता है।

अजीव—जिसमें जीवका वह चैतन्य लक्षण न हो उसे अजीव या जड़ कहते हैं। अजीव पांच प्रकार के होते हैं—१.पुद्गल, २. आकाश, ३. काल, ४. धर्मास्तिकाय और ५. अधर्मास्तिकाय।

आस्रव—शुभ या अशुभ कर्मके बंधने योग्य कर्म वर्गणाओंके आनेके द्वार या कारणको तथा उन कर्म-पिण्डोंके आत्माके निकट आनेको आश्रव कहते हैं। जो कर्मपिंडके आनेके द्वार या कारण हैं उनको भावा स्रव कहते हैं और कर्मपिंडके आनेको द्रव्य आस्रव कहते हैं। जैसे नौकामें छिद्र, जलके प्रविष्ट होनेका द्वार है।

प्रत्येक शुभ अशुभ कार्यको करनेके तीन कारण होते हैं—मन, वचन और काय। मनसे विचार तथा प्रतिज्ञा करते हैं, वचनसे वार्तालाप करते हैं और कायासे क्रियादि करते हैं। जीवके प्रति दया, सत्यवचन, संतोषभाव आदि शुभ कर्म हैं। मिथ्याज्ञान, असत्यवचन, चौर्य, विषयोंकी लम्पटता आदि अशुभकर्म है। सारांश यह है कि स्वयं अपने ही भावोंसे कर्मपिंडको आकर्षित करना आस्रव तत्व कहलाता है।

बंध—कर्मपिंडोंको आत्माके साथ दूध और पानीकी तरह मिल कर एक हो जानेको बन्ध कहते हैं। यह बंध वास्तवमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि कषायोंका कारण है। बंधको चारभागोंमें विभक्त किया गया है—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग-बंध। बन्धके कारणोंको भावबन्ध कहते हैं। कर्मोंके बंधन-को द्रव्यबन्ध कहते हैं। जब कर्म बंधता है तब जैसी मन वचन कायकी प्रवृत्ति होती है उसीके अनुसार कर्मपिण्डों-के बंधनका स्वभाव पड़ जाता है। इसीको प्रकृतिबंध कहते हैं। कर्मपिण्डोंकी नियत संख्याको प्रदेशबंध कहते हैं। यह दोनों प्रकृति और प्रदेशबंध योगोंसे होते हैं, कर्मपिंड जब बंधता है तब उसमें कालकी मर्यादा पड़ती है इसी कालकी मर्यादाको स्थितिबंध कहते हैं। कषायोंकी तीव्रता या मन्दताके कारण कर्मोंको स्थिति तीव्र या मन्द होती है। इसी समय उन कर्मपिंडोंमें तीव्र या मन्द फल दान-की शक्ति पड़ती है उसे अनुभागबंध कहते हैं। यह बंध भी कषायके अनुसार तीव्र या मन्द होता है। स्थितिबंध और अनुभागबंध कषायोंके कारण होते हैं।

संवर—आश्रवका विरोधी संवर है। कर्मपिंडोंके आनेका रुक जाना संवर है। जिन मार्गोंसे कर्म रुकते हैं उन्हें भावसंवर और कर्मोंके रुक जानेको द्रव्यसंवर कहते हैं।

जीवोंके भाव तीन प्रकारके होते हैं—अशुभउपयोग, शुभउपयोग, और शुद्धउपयोग। अशुभउपयोगसे पापकर्म बंधता है,और शुभ उपयोगसे पुण्यकर्म बन्धता है, शुद्धउप-योगके लाभ होने पर कर्मोंका आवागमन रुक जाता है। आत्माको सर्व कर्मबँधनसे बचानेका उपाय शुद्ध उपयोग है।

निर्जरा—कर्म अपने समय पर फल देकर झड़ते हैं। इसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। आत्मध्यानको लिए हुये तप करने व इच्छाओंके निरोधसे जब भावोंमें वीतरा-गता आती है तब कर्म अपने पकनेके समयसे पूर्व ही फल देकर झड़ जाते हैं। इसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

मोक्ष—आत्माके सर्व कर्मोंसे छूट जानेको व आगे नवीन कर्म बंध होनेके कारणोंके मिट जानेको मोक्ष तत्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त कर लेने पर आत्मा शुद्ध हो जाती है। इसी शुद्ध आत्माको सिद्धकी संज्ञा प्रदान की गई है।

पुण्य कर्मको पुण्य और पाप कर्मको पाप कहते हैं। इन्हीं सात तत्वोंके अन्दर इनका स्वरूप गर्भित है।

जीवात्मा अनादि और अनन्त पदार्थ है। इसकी अवस्थायें तो परिवर्तित होती ही हैं और गुण भी तिरोहित और विकसित होते रहते हैं। जब तक इसकी यह अवस्था रहती है तब तक यह संसारी कहलाता है। गुणोंके इस क्रमिक वृद्धि-ह्रास- का अन्त होकर जब यह जीव अपने गुणोंका पूर्ण विकास कर लेता है तब यह मुक्त कहलाता है।

गुणोंकी वृद्धि और ह्रास कुछ कारणोंसे होती है। वे कारण क्रोध, मान माया लोभ आदि कषायें हैं। इन कारणोंसे जीव अपने स्वरूपको भूलजाता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि मोहके कारण अपने स्वरूपको भूल जाना ही बन्धका कारण है और जब यह अपने स्वरूपकी ओर झुकता है--उसको पानेके प्रयत्नमें लगता है तब इसके बाह्य पदार्थोंसे मोह मन्द हो जाता है और मंद होते होते जब वह बिलकुल नष्ट हो जाता है तब वह मुक्त या सिद्ध हो जाता है।

श्रद्धा, विज्ञान और सुप्रवृत्ति आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। यह गुण किसी दूसरे द्रव्यमें नहीं होते। मुक्त अवस्थामें यह गुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं। संसारी अवस्थामें यह गुण या तो विकृत रहते हैं या इनकी ज्योति मन्द रहती है। इन गुणोंके अतिरिक्त किसी भी पदार्थसे अनुराग रखना यही बंधका कारण है। किसीसे अनुराग होगा तो किसी दूसरेसे द्वेष उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन राग और द्वेषोंका किस प्रकार अभाव हो और आत्माके स्वाभाविक गुणोंमें किस प्रकार वृद्धि हो, इन प्रश्नोंका हल करना ही जैन शासन या इन सात तत्वोंका प्रयोजन है।

'स्याद्वाद' जैन-तत्त्व ज्ञानका एक मुख्य साधन है। अनेकान्तवाद, सप्तभंगी नय आदि स्याद्वादके पर्यायवाची शब्द हैं यह स्याद्वाद ही हमें पूर्ण सत्य तक ले जाता है।

'अनेकान्तवाद' का अर्थ है—नाना धर्मात्मक वस्तुका कथन। अनेकका अर्थ है नाना, अन्तका अर्थ है धर्म। और वादका अर्थ है कहना, यह अनेकान्तवाद' ही सत्यको स्पष्ट कर सकता है, क्योंकि सत्य एक सापेक्ष वस्तु है, सापेक्ष सत्य द्वारा ही असत्यका अंश निकाला जा सकता है और इस प्रकार पूर्ण सत्य तक पहुँचा जा सकता है। इसी रीतिसे ज्ञान-कोषकी अभिवृद्धि हो सकती है, जो कि सभी विद्वानोंकी अभिवृद्धि करता है। आचार्य अमृतचन्द्रने उसे, 'परमागमस्य बीजम्'-परमागमका प्राण प्रतिपादन करके उसके महत्वको चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। 'अनेकान्तवाद' एक मनोहर, सरल एवं कल्याणकारी शैली है। जिससे एकान्त रूपसे कहे गये सिद्धान्तोंका विरोध दूर कर उसमें अभूतपूर्व मैत्रीका प्रादुर्भाव होता है।

'एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्तो वस्तुतत्त्वमितरेण।
'अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २२५

अर्थात् जिस प्रकार दधि मंथनके समय ग्वालिन जब मथानीके एक छोरको खींचती है तब दूसरे छोरको छोड़ नहीं देती वरन् ढीला कर देती है और इस प्रकार दूध दहीके सार मक्खनको निकालती है। उसी प्रकार जैनी नीति भी वस्तुके स्वरूपका प्रतिपादन करती है, अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म रहते हैं उनके सब गुणोंका एक साथ प्रतिपादन करना अवर्णनीय है। इसी लिए किसी गुणका एक समय मुख्य प्रतिपादन किया जाता है कि किसी दूसरे समय उसके दूसरे दूसरे गुणोंका प्रतिपादन किया जाता है। ऐसी हालतमें किसी एक गुणका प्रतिपादन करते समय उस वस्तुमें दूसरे गुण रहते ही नहीं या हैं नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। 'इसीका नाम 'अनेकान्तवाद' है, जैसे एक ही पदार्थमें बहुतसे आपेक्षिक स्वभाव पाये जाते हैं जिनमें एक दूसरेका विरोध दीखता है स्याद्वाद उनको भिन्न अपेक्षासे ठीक ठीक बता देता है। सर्वविरोध मिट जाता है। स्याद्वादका अर्थ है स्यात्-किसी अपेक्षासे वाद कहना। किसी अपेक्षासे किसी बातको जो बतावे वह 'स्याद्वाद' है। एक आत्म पदार्थको ही ले लिया जाय वह द्रव्यकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहता है—उसका न नाश होता है न उत्पाद। किन्तु पर्यायोंकी अपेक्षा वह परिवर्तनशील है। जिसे हम डाक्टर या वकील कहते हैं उसका पुत्र उसे 'पिता', उसका पिता, 'पुत्र' भतीजा 'चाचा', चाचा 'भतीजा', भानजा 'मामा', 'मामा', 'भानजा' कहते हैं। यह सब धर्म एक ही व्यक्तिमें एक ही समय विद्यमान रहते हैं। जब हम एक सम्बन्धको कहते हुए स्यात् शब्द पहिले लगा देंगे तो समझने वाला यह ज्ञानप्राप्त कर लेगा कि इसमें और भी सम्बन्ध हैं।

जैन-दर्शनकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य होती हैं। द्रव्यदृष्टिकोणके ध्रुव बिन्दुको दृष्टिमें रखकर उसे नित्य बनाती हैं। द्रव्य अनाशात्मक हैं। पर्यायदृष्टि पर्यायोंको अनित्य बनाती हैं। पर्याय उत्पाद और व्यय स्वभाव वाली होती हैं। साथ ही उत्पाद व्ययसे वस्तुमें उसकी स्थितिरूप ध्रुवताका भी प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं। यही स्थिरता वस्तुमें नित्य धर्मका अस्तित्व सिद्ध करती हैं। अतः प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हुआ करती हैं। जैसा कि आचार्य उमास्वामि ने कहा हैं–'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'

श्रीरतनलालजी संघवी अपने, 'स्याद्वाद' नामक लेखमें 'अनेकान्तवाद' का स्वरूप बताते हुए कहते हैं:—

'दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीरने इस सिद्धान्तको' सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अवत्तव्य' के रूपमें बताया हैं। जिसका यह तात्पर्य हैं कि प्रत्येक वस्तु, तत्त्व किसी अपेक्षा वर्तमानरूप होता हैं और किसी दूसरी अपेक्षासे वही नाश रूप भी हो जाता है इसी प्रकार किसी तीसरी अपेक्षा विशेषसे वही तत्त्व त्रिकाल सत्ता रूप होता हुआ भी शब्दों द्वारा अवाच्य अथवा अकथनीय रूपवाला भी हो सकता है।

जैन तीर्थंकरोंने और पूज्य भगवान अरिहन्तोंने इसी सिद्धान्तको उप्पन्ने वा, विनष्टे वा, धुवे वा, इन तीनों शब्द द्वारा, त्रिपदीके रूपमें संग्रथित कर दिया है। इस त्रिपदीका जैन आगमोंमें इतना अधिक महत्व और सर्वोच्च शीलता बतलाई है कि इनके श्रवणमात्रसे ही गणधरोंको चौदहपूर्वोंका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाया करता है। द्वादशांगी रूप वीतराग-वाणीका यह हृदय स्थान कहा जाता है।

भारतीय साहित्यके सूत्रयोगमें निर्मित महान ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रमें इसी सिद्धान्तका 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इस सूत्रके रूपमें उल्लेख किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो सत् यानी द्रव्य रूप अथवा भावरूप है, उसमें प्रत्येक क्षण नवीन पर्यायोंकी उत्पत्ति होती रहती है, एवं पूर्व पर्यायोंका नाश होता रहता है परन्तु फिर भी मूल द्रव्यकी द्रव्यता, मूल सत्‌की सत्ता पर्यायोंके परिवर्तन होते रहने पर भी ध्रौव्य रूपसे बराबर कायम रहती है। विश्वका कोई भी पदार्थ इस स्थितिसे वंचित नहीं है।

भारतीय साहित्यके मध्ययुगमें तर्क-जाल-सगुम्फित घनघोर शास्त्रार्थ रूप संघर्षके समयमें जैन साहित्यकारोंने इसी सिद्धान्तके स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति और स्याद-वक्तव्य इन तीन शब्दसमूहोंके आधारपर सप्तभंगीके रूपमें स्थापित किया है। वह इस प्रकार है—

१. उपन्ने वा विगये वा धुवे वा नामक अरिहंत प्रवचन।

२. सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अविक्तव्य नामक आगम् वाक्य।

३. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' नामक सूत्र।

४. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं नामक संस्कृत काव्य, यह सब स्याद्वाद सिद्धांतके मूर्तवाचक रूप हैं। शब्द रूप कथानक है और भाषा रूप शरीर है। स्याद्वादका यही बाह्य रूप है। ज्ञानोदय पृ० ४५६-४६०

सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें नित्य और अनित्य रूप स्वभावोंका होना आवश्यक है। यदि यह दोनों स्वाभाव एक ही समयमें द्रव्यमें न पाये जावें तो द्रव्य निरर्थक हो जाता है। इसके लिए सुवर्णका दृष्टान्त लेना उपयुक्त होगा। यदि सुवर्ण नित्य हो तो उसमें अवस्था-परिवर्तन नहीं हो सकता। वह सदैव एकसी स्थितिमें रहेगा। उसे कोई भी व्यक्ति मोल न लेगा। क्योंकि उससे आभूषणोंकी अवस्था तो बनेगी नहीं। यदि सुवर्णको अनित्य मान लिया जाय तब भी उसका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि वह क्षणभरमें नष्ट हो जायगा। परन्तु सुवर्णका स्वभाव ऐसा नहीं। सुवर्ण रूप रहता हुआ अपनी अवस्थाओंमें परिवर्तित होता रहता है। सुवर्णके एक डेले मात्रसे बाली बन सकती है। बालीको तोड़कर अंगूठी और अंगूठीसे अन्य किसी भी प्रकार आभूषण बन सकता है। इसी प्रकार जीवमें भी नित्य और अनित्य दोनों स्वभाव हैं, तथा वह संसारीसे सिद्ध हो सकेगा। अवस्थाओंमें परिवर्तन होता है जो संसारी था वही सिद्ध हो जाता है।

वस्तुमें अनित्य धर्मका प्रतिपादन निम्न सात प्रकारोंसे होता है।

१. स्यादस्ति–कथंचित् है।

२. स्यान्नास्ति–कथंचित् नहीं है।

३. स्यादस्तिनास्ति-कथंचित् है और नहीं है।

४. स्यादवक्तव्यं—किसी अपेक्षासे पदार्थ वचनसे एक साथ नहीं कहने योग्य है।

५. स्यादस्ति अवक्तव्यं च—किसी अपेक्षासे द्रव्य नहीं है और अवाच्य है।

६. स्यादस्ति नस्ति अवक्तव्यं च—कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

७. स्याद्स्ति नास्ति अवक्तव्यं च-कथंचित् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

इन सात प्रकारके समूहोंको 'सप्तभंगी नय' कहते हैं। कविवर बनारसीदासजीने नाटक समयसारमें स्याद्वादकी महत्ता वर्णित की है।

जथा जोग करम करे पै ममता न धरै,
रहे सावधान ज्ञान-ध्यानकी टहलमें।
तेई भवसागरके ऊपर ह्वै तरे जीव,
जिन्हको निवास स्यादवादके महलमें॥

नाटक समयसार पृ० ॥१२॥

'तत्वार्थराजवार्तिक' में आचार्य अकलंकदेवने बताया है कि वस्तुका वस्तुत्व इसीमें है कि वह अपने स्वरूपका ग्रहण करे और परकी अपेक्षा अभाव रूप हो। इसे विधि और विविध रूप अस्ति और नास्ति नामक भिन्न धर्मों द्वारा बताया है।

देश और विदेशके विभिन्न दार्शनिकोंने स्याद्वादको मौलिकता और उपादेयताकी मुक्त कंठसे प्रशंसा की है। डा० बी० एल० आत्रेय काशी विश्वविद्यालयके कथनानुसार—

'जैनियोंका अनेकान्तवाद और नयवाद एक ऐसा सिद्धान्त है कि सत्यकी खोजमें पक्षपात रहित होने की प्रेरणा करता है, जिसकी आवश्यकता सब धर्मोंको है।'

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा भूतपूर्व वाइसचांसलर प्रयाग विश्वविद्यालयने इस सिद्धान्तकी महत्ता निम्न रूपसे वर्णित की है—

'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन-सिद्धान्तका खंडन पढ़ा है तबसे मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ है, जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा और जो कुछ मैं अब तक जैनधर्मको जान सका हूँ उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शंकराचार्य) जैनधर्मके असली ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट उठाते तो जैनधर्मके विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।'

पूनाके प्रसिद्ध डा० भंडारकर सप्तभंगी प्रक्रियाके विषयमें लिखते हैं—

इन भंगोंके कहनेका मतलब यह नहीं है कि प्रश्नमें निश्चयपना नहीं है या एक मात्र सम्भव रूप कल्पनायें करते हैं जैसा कुछ विद्वानोंने समझा है इन सबसे यह भाव है कि जो कुछ कहा जाता है वह सब किसी द्रव्य, क्षेत्र, कालादिकी अपेक्षासे सत्य है।

विश्ववंद्य महात्मा गांधीजीने इस सम्बन्धमें निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

यह सत्य है कि मैं अपनेको अद्वैतवादी मानता हूँ, परन्तु मैं अपनेको द्वैतवादीका भी समर्थन करता हूँ। सृष्टिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते हैं, इसलिये सृष्टि अस्तित्व रहित कही जाती है, लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है जिसे स्वरूप कह सकते हैं। उस रूपसे 'वह है' यह भी हम देख सकते हैं, इसलिये वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहो तो मुझे कोई उज्र नहीं। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो इसमें मेरी कोई हानि नहीं होगी। जिस प्रकार स्याद्वादको जानता हूँ उसी प्रकार मैं उसे मानता हूँ...'मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।'

सारांश यह है कि स्याद्वाद न्याय पदार्थको जाननेके लिये एक निमित्त साधन है। इसका महत्व केवल जैन सम्प्रदायके हेतु ही नहीं वरन् जैनेतर सम्प्रदायके लिये भी प्रयोगमें लानेका सिद्धान्त है। स्वामी समन्तभद्रने इस सत्यका अधिक प्रयोग किया। स्याद्वाद एक वह अस्त्र है जिसके प्रयोग द्वारा साम्राज्यमें किसी प्रकारका उपद्रव और विरोध नहीं उपस्थित हो सकता।

कुरलका महत्व और जैनधर्म

(श्री विद्याभूषण पं० गोविन्दराय जैन शास्त्री)

(गत किरणसे आगे)

(१) तामिल जनतामें प्राचीन परम्परासे प्राप्त अनश्रुति चली आती है कि कुरलका सबसे प्रथम पारायण पांड्यराज 'उग्रवेरुवळुदि' के दरबारमें मदुराके ४६ कवियोंके समक्ष हुआ था। इस राजाका राज्यकाल श्रीयुत एम श्रीनिवास अय्यङ्गरने १२५ ईस्वीके लगभग सिद्ध किया है।

(२) जैन ग्रन्थोंसे पता लगता है कि ईस्वीसनसे पूर्व प्रथम शताब्दीमें दक्षिण पाटलिपुत्रमें द्रविडसंघके प्रमुख श्रीकुन्दकुन्दाचार्य अपर नाम एलाचार्य थे। इसके अतिरिक्त जिन प्राचीन पुस्तकोंमें कुरलका उल्लेख आया है उनमें सबसे प्रथम अधिक प्राचीन 'शिलप्पदिकरम्' नामका जैनकाव्य और 'मणिमेखले' नामक बौद्धकाव्य हैं। दोनोंका कथा विषय एक ही है तथा दोनोंके कर्ता आपसमें मित्र थे। अतः दोनों ही काव्य सम-सामयिक हैं और दोनोंमें कुरल काव्यके छठे अध्यायका पांचवाँ पद्य उद्धृत किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनोंमें कुरलके नामके साथ २४ श्लोक और उद्धृत हैं। "शिलप्पदिकरम्" तामिल भाषाके विद्वानोंका इतिहासकाल जाननेके लिए सीमानिर्णायकका काम करता है और इसका रचनाकाल ऐतिहासिक विद्वानोंने ईसाकी द्वितीय शताब्दी माना है।

(३) यह भी अनश्रुति है कि तिरुवल्लुवरका एक मित्र एलेलाशिङ्गन नामका एक व्यापारी कप्तान था। कहा जाता है कि यह इसी नामक चोलवंशके राजाका छठा वंशज था, जो लगभग २०६० वर्ष पूर्व राज्य करता था और सिंहलद्वीपके महावंशसे मालूम होता है कि ईसासे १४० वर्ष पूर्व उसने सिंहलद्वीप पर चढ़ाई कर उसे विजय किया और वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इस शिङ्गन और उक्त पूर्वजके बीचमें पाँच पीढ़ियाँ आतीं हैं और प्रत्येक पीढ़ी २० वर्षकी मानें तो हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एलेलाशिङ्गन ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दी में थे।

बात असलमें यह है कि एलाचार्यका अपभ्रंश एलेलाशङ्गिन हो गया है। यह एलेलाशिङ्गन और कोई नहीं एलाचार्य ही हैं। कुंदकुंदाचार्य ऐलक्षत्रियोंके वंशधर थे, इसलिए इनका नाम एलाचार्य था।

इन पर्याप्त प्रमाणोंके आधार पर हमने कुरलकाव्यका रचनाकाल ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दी निश्चित किया है और यही समय अन्य ऐतिहासिक शोधोंसे श्रीऐलाचार्य का ठीक बैठता है। मूलसंघकी उपलब्ध दो पट्टावलियों में तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता उमास्वातिके पहिले श्रीएलाचार्यका नाम आता है और यह भी प्रसिद्ध है कि उमास्वातिके गुरु श्री एलाचार्य थे। अतः कुरलकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके पहलेकी है। यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कुरलकर्ता कुन्दकुन्द (एलाचार्य)

विक्रम सं०६६० में विद्यमान श्री देवसेनाचर्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थमें कुन्दकुन्दाचार्य नामके साथ उनके अन्य चार नामोंका उल्लेख करते हैं:—

पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचाय, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य।

श्री कुन्दकुन्दके गुरू द्वितीय भद्रबाहु थे ऐसा बोधप्राभृतकी निम्न लिखित गाथासे ज्ञात होता है:

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स॥

ये भद्रबाहु द्वितीय नान्दसंघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणसे ४६२ बाद हुए हैं।

कुरलकर्ताके अन्य ग्रन्थ तथा उनका प्रभाव

कुरलका प्रत्येक अध्याय अध्यात्म भावनासे ओतप्रोत है, इसलिए विज्ञपाठकके मनमें यह कल्पना सहज ही उठती है कि इसके कर्ता बड़े अध्यात्मरसिक महात्मा होंगे। और जब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि इसके रचयिता वे एलाचार्य हैं जो कि अध्यात्मचक्रवर्ती थे तो यह कल्पना यथार्थताका रूप धारण कर लेती है; कारण एलाचार्य जिनका कि अपर नाम कुन्दकुन्द है ऐसे ही अद्वितीय ग्रन्थोंके प्रणेता हैं।

उनके समयसारादि ग्रन्थोंको पढ़े बिना कोई यह नहीं कह सकता कि मैंने पूरा जैन तत्त्वज्ञान अथवा अध्यात्म विद्या जान ली। जिस सूक्ष्म तत्त्वकी विवेचनाशैलीका आभास उनके मुनि जीवनसे पहले रचे हुए कुरलकाव्यसे होता है वह शैली इन ग्रन्थोंमें बहुत ही अधिक परिस्फुट हो गई है। ये ग्रन्थ ज्ञानरत्नाकर हैं, जिनसे प्रभावित होकर विविध विद्वानोंने यह उक्ति निश्चत की है—'हुए हैं न होयेंगे मुनीन्द्र कुन्दकुन्दसे।'

पीछेके ग्रन्थकारोंने या शिलालेख लिखनेवालोंने कुन्दकुन्दको मूलसंघव्योमेन्दु' 'मुनींद्र' 'मुनिचक्रवर्ती' पदोंसे भूषित किया है। इससे हम सहजमें ही यह जान सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना गौरवपूर्ण है। दिगम्बर जैनसंघके साधुजन अपनेको कुन्दकुन्द आम्नायका घोषित करनेमें सन्मान समझते हैं। वे शास्त्र-विवेचन करते समय प्रारम्भमें अवश्य पढ़ते हैं कि:—

'मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमोऽग्रणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥'

इनके रचे हुए चौरासी प्राभृत (शास्त्र) सुने जाते हैं पर अब वे पूरे नहीं मिलते, प्रायः नीचे लिखे ग्रन्थ ही मिलते हैं:—(१) समयसार, (२) प्रवचनसार, (३) पंचास्तिकाय, (४) अष्टपाहुड, (५) नियमसार (६) (७) द्वादशानुप्रेक्षा (८) रयणसार, ये सब ग्रन्थ प्राकृत भाषामें हैं और प्रायः सबही जैन शास्त्र भण्डारोंमें मिलते हैं।

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उन्होंने कोण्डकुन्दपुरमें रहकर षट्खण्डागम पर बारह हजार श्लोक परिमित एक टीका लिखी थी जो अब दुष्प्राप्य है। समयसार ग्रन्थपर विविध भाषाओंमें अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। हिन्दीके प्राचीन महाकवि पं० बनारसीदासजीने इसके विषयमें लिखा है कि "नाटक पढ़त हिय फाटक खुलत है" समयसार 'प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ये तीनों ग्रन्थ विज्ञसमाजमें नाटकत्रयी नामसे प्रसिद्ध हैं और तीनों ही ग्रन्थ निःसन्देह आत्मज्ञानके आकर हैं।

इन सब ग्रन्थोंके पठन पाठनका यह प्रभाव हुआ कि दक्षिणापथसे उत्तरापथ तक आचार्यकी उज्वल कीर्ति छागई और भारतवर्षमें वे एक महान् आत्मविद्याके प्रसारक माने जाने लगे, जैसा कि श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरिस्थ निम्नलिखित शिलालेखसे प्रकट होता है:—

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतःप्रतिष्ठाम् ॥४॥

तपस्याके प्रभावसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यको 'चारणऋद्धि' प्राप्त हो गई थी जिसका कि उल्लेख श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें पाया जाता है। तीनका उद्धरण हम यहाँ देते हैं:—

तस्यान्वये भूविदिते बभूव यःपद्मनन्दि प्रथमाभिधानः
श्रीकुण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः
श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
'रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

इन सब विवरणोंको पढ़कर हृदयको पूर्ण विश्वास होता है कि ऐसे ही महान् ग्रन्थकारकी कलमसे कुरलकी रचना होनी चाहिए।

कुरलकर्ताका स्थान :—

इस वक्तव्यको पढ़कर पाठकोंके मनमें यह विचार उत्पन्न अवश्य होगा कि कुरल आदि ग्रन्थोंके रचयिता श्रीएलाचार्यका दक्षिणमें वह कौनसा स्थान है जहां पर बैठकर उन्होंने इन ग्रन्थोंका अधिकतर प्रणयन किया था। इस जिज्ञासाकी शान्तिके लिए हमें नीचे लिखा हुआ पद्य देखना चाहिए।

दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्मासीत्।
एलाचार्यो नाम्ना द्रविडगणाधीश्वरो धीमान् ॥

यह श्लोक एक हस्तलिखित 'मन्त्रलक्षण' नामके ग्रन्थमें मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देशके मलयप्रान्तमें हेमग्रामके निवासी थे, और द्रविड़संघके अधिपति थे। यह हेमग्राम कहाँ है इसकी खोज करते हुए श्रीयुत मल्लिनाथ चक्रवर्ती एम० ए० एल० टी० ने अपनी प्रवचनसारकी प्रस्तावनामें लिखा है कि—'मद्रास प्रेसीडेन्सीके मलाया प्रदेशमें 'पोन्नूरगाँव' को ही प्राचीन समयमें हेमग्राम कहते थे और सम्भवतः यही कुण्डकुन्दपुर है, इसीके पास नीलगिरि पहाड़ पर श्रीएलाचार्यकी चरणपादुका बनी

हैं, जहाँ पर बैठकर वे तपस्या करते थे। आस पासकी जनता आज भी ऐसा ही मानती है और बरसातके दिनोंमें उनकी पूजाके लिए वहाँ एक मेला भी प्रतिवर्ष भरता है, श्रीयुत स्व० जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजीने भी इसके दर्शनकर जैनमित्रमें ऐसा ही लिखा था।

देशकी तात्कालिक स्थिति

जब हम कुरलकी रचनाके समय देशकी तात्कालिक स्थिति पर दृष्टि डालते हैं तो ज्ञात होता है कि सारा देश उस समय ऋद्धि सिद्धिसे भरपूर था। विदेशियोंका प्रवेश न होनेसे वैभव अपनी पराकाष्ठाको पहुँचा हुआ था। लौकिक सुख सहज ही प्राप्त होनेसे लोग उनकी लालसामें नहीं फसे थे। किन्तु इस लोकमें अप्राप्त निजानन्द रसकी प्राप्तिमें संलग्न थे। इतिहाससे ज्ञात होता है कि उस समय जैनधर्म कलिङ्गकी तरह तामिल देशमें भी राष्ट्रधर्म था उसके प्रभावसे राजघरानोंमें भी शिक्षा और सदाचार पूर्णरूपेण विद्यमान था। अध्यात्मविद्याके पारगामी क्षत्री राजा बननेमें उतनी प्रतिष्ठा व सुख नहीं मानते थे जितना कि राजर्षि बननेमें, जिसके उदाहरण आचार्य समन्तभद्र (पाण्ड्यराजाकी राजधानी उरगपुरके राजपुत्र) शिलप्पदिकरमके कर्ता युवराज राजर्षि (चेर राजपुत्र) और एलाचार्य हैं। उस समय क्षत्रीयगण शासक और शास्ता दोनों थे। स्वतन्त्र व धार्मिक भारत उस समय कैसे दिव्य विचार रखता था इसकी बानगीके लिए कुरल अच्छा काम देता है।

'वसुनन्दि-श्रावकाचार' का संशोधन

(पं० दीपचन्द पाण्ड्या और रतनलाल कटारिया, केकड़ी)

हमारा विशाल जैन वाङ्मय प्राकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि विविध भाषाओंमें लिखा गया है। दुर्भाग्यवश उसमेंसे बहुत-सा साहित्य तो हमारे अज्ञान व प्रमादसे मन्दिरोंमें, शास्त्र भण्डारोंमें पड़ा पड़ा नष्ट हो गया तथा बहुत सा नष्ट होने को है और थोड़ा बहुत जो मुद्रित होकर प्रकाशमें आ पाया है, सखेद लिखना पड़ता है कि वह भी अनेकानेक अशुद्धियों से भरा पड़ा है। उदाहरणके तौर पर 'यशस्तिलक चम्पू' ग्रन्थको ही लीजिये; जिसके बिना टीका वाले भागमें पूरी एक हजारके करीब अशुद्धियाँ हैं।[1] यही दशा नित्यपूजा, दशभक्ति और श्रावक प्रतिक्रमण पाठ आदिकी भी है। पूजा पाठ, जिनवाणी संग्रह और बृहज्जिनवाणी संग्रह तथा गुटकाओं आदिमें छपे हुए अशुद्ध पाठोंकी ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तब हमें बहुत ही दुःख होता है। पढ़नेवाले अशुद्धियोंकी तरफ कोई लक्ष्य नहीं देते, किन्तु उन्हें उसी रूपमें पढ़ते जाते हैं। प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता इस बातका ध्यान रखना उचित ही नहीं समझते, इसी कारण हमारे पूजा पाठ भी अशुद्धियोंके पुंज बन रहे हैं। दानी महानुभाव यह नहीं सोचते कि हम इन अशुद्ध पाठोंको छपाकर और प्रचारमें लाकर कितना अनर्थ करते हैं? क्या पुस्तक विक्रेता और दानी महानुभाव इस बुराईको दूर करनेका यत्न करेंगे? और तो और, बहुश्रुत विद्वानों द्वारा सम्पादित हुए ग्रन्थोंकी[2] भी दशा अच्छी नहीं है। वे भी अनेक अशुद्धियोंसे परिपूर्ण हैं।

यद्यपि मूल ग्रंथकर्ता तो अपनी कृतियोंको शुद्धरूपमें ही प्रस्तुत करते हैं परन्तु अर्द्ध विदग्ध प्रतिलिपिकर्ताओंकी कृपासे उनमें कई अशुद्धियां बन जाती हैं। लिखित प्रतियोंमें तो वे अशुद्धियां एक प्रति तक ही सीमित रहती हैं पर मुद्रित प्रतियोंमें यह बात नहीं है वहाँ तो जो एक प्रतिमें अशुद्धि हो गई वही सब प्रतियोंमें हो गई समझिए। इस तरह मुद्रित प्रतियोंके सहारे इन अशुद्धियोंकी परम्परा प्रचारमें आकर बद्धमूल हो जाती हैं जो आगे चलकर अनेक भ्रान्त धारणाओंको जन्म देती रहती हैं। जिसके तीन बड़े मजेदार उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

---

[1] देखो 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १२ पृष्ट ७७ पर हमारा लेख यशस्तिलक का संशोधन'।

[2] ऐसे ग्रन्थोंमें माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'वरांगचरित' और कारंजासे प्रकाशित सावय धम्म दोहा आदि हैं।

(१)

जातयोनादयः सर्वास्तत्क्रियाऽपि तथाविधाः
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः॥।

यह श्लोक मुद्रित प्रतिमें ठीक इसी रूपमें पाया जाता है। बादको पं० नाथूरामजी प्रेमीने और पं० श्रीलालजी पाटनीने इस श्लोकमें थोड़ासा पाठभेद और कर डाला है जो इस प्रकार है—

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियाऽपि तथा विधा
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र न क्षतिः × ।

और इस पद्यका अर्थ पं० श्रीलालजीने इन शब्दोंमें किया है—"सब जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि है। अंग शास्त्र या अंग बाह्य शास्त्र यदि उसके शास्त्रमें मिलें तो हमारी क्या क्षति है।"

यहाँ विचारणीय बात यह है कि 'सब जातियाँ अनादि हैं, तो वे कौन २ सी हैं? और उनकी क्रिया भी अनादि है तो वे कौन २ सी हैं? इसका उत्तर दिगम्बर साहित्यसे तो क्या समग्र भारतीय साहित्य–श्वेताम्बर, बौद्ध, एवं वैदिक साहित्यसे भी नहीं मिल सकता। तथा 'अंग शास्त्र और अंग बाह्यशास्त्र यदि उसके प्रमाणमें मिलें तो हमारी (जैनियोंकी) क्या क्षति है'—ऐसा उल्लेख करना भी समुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि द्वादशाङ्गका ज्ञान तो कभीका लुप्त हो चुका, अंगबाह्यशास्त्र जैनोंको प्रमाण हैं ही ऐसी दशामें सोमदेवसूरि जैसे विद्वान जैनियोंके लिये उन्हें प्रमाण माननेको कैसे लिखें कि इसमें जैनोंकी क्या क्षति है। कुछ बुद्धिको लगता नहीं अतएव पं० श्रीलालजीवाला उक्त अर्थ चम्पू यशस्तिलकके पूर्वापर प्रसंगको देखते हुए संगत नहीं हो सकता। अतः इस पद्यके पाठ और अर्थके विषयमें तो 'अमन्ति पण्डिता सर्वे' वाली उक्ति हो रही है।

हमने इस श्लोकका पाठ और अर्थ ग्रन्थके सन्दर्भानुकूल यह स्थिर किया है।

जात यौनादयः सर्वास्तत्क्रिया हि तथाविधाः
श्रुति· शास्त्रान्तरं वाऽस्तु प्रमाणं काऽत्र नः क्षतिः।

—अर्थात् जातकर्म और यौन (विवाह) आदि सारी तत्क्रिया–लौकिक क्रियाएं तथाविधा–लोकाश्रय हैं इस विषयमें श्रुति या शास्त्रान्तर प्रमाण हों तो हमारी क्या हानि है।

(२)

धवला टीकामें॥ 'अक्खवराडयादयो असब्भावट्ठवणा मंगलं' यह वाक्य है जिसका अर्थ पासे और कौड़ी-शतरंजकी गोटें आदिद्रव्योंको असद्भावस्थापना मंगल कहते हैं—किया गया है सो संगत नहीं है। क्योंकि वहाँ असद्भावस्थापना मंगलका कथन है। केवल यदि असद्भावस्थापनाका ही कथन होता तो फिर भी कौड़ी 'पासे परक अर्थ किसी तरह ठीक हो सकता था सो तो है नहीं असद्भावस्थापना मंगल' में कोड़ी पासोंको मांगलिक द्रव्यरूपमें ग्रहण करना जैन परम्पराके ही नहीं वैदिक-परम्पराके भी विरुद्ध है। प्रतिलिपिकारोंके द्वारा 'य' अक्षर छोड़ देनेसे यह सब घोटाला हुआ है। अतएव 'अक्खयवराडयादयो' ऐसा पाठ होना चाहिए जिसका अर्थ अक्षत कमलगट्टे आदि पदसे सुपारी प्रभृति माँगलिक द्रव्य ऐसा होना प्रकरण संगत होता है हमारे इस कथनको पुष्टि वसुनंदि श्रावकाचारकी ३८४ वीं गाथासे भी होती है। गाथा इस प्रकार है:—

'अक्खयवराडओ वा अमुगो एसोत्ति णिययबुद्धीए
संकप्पऊण वयणं एसा विइया असब्भावा।'

(३)

वसुनन्दि × श्रावकाचारमें सम्पादकने जो एक पाठ 'सिरण्हाणुव्वट्टण····'आदि (गाथा २९३ को देखो) बना दिया है और अर्थमें शिरःस्नानके अतिरिक्त अन्य स्नानोंका प्रोषधोपवास वालेके लिये विधान कर दिया है सो यह समग्र जैन परम्पराके विरुद्ध है इसलिये 'सिरण्हाणु' की जगह सिण्हाण (स्नानार्थक पाठ होना चाहिये।

॥ देखो निर्णयसार प्रेसमें मुद्रित यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्द्ध पृष्ठ ३७३

× देखो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित नीति वाक्यामृत (ग्रंथांक २२) की प्रस्तावना १३० और विजातीय विवाह आगम और युक्ति दोनोंके विरुद्ध है नामका ट्रेक्ट पृष्ठ ७७

॥ बुद्धीए समारोविद मंगलपज्जयपरिणद जीवगुण सरूव-क्खवराडयादयो असब्भाव ट्ठवणा मंगलं।" यह पूरा वाक्य है। (देखो षट्खंडागम धवला टीका पुस्तकाकार संतपरूपणा पृष्ठ २० पंक्ति ५)

× यह ग्रंथ काशी भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है।

इस तरह अशुद्ध पाठोंके प्रचारमें आनेसे ग्रन्थोंका महत्व तथा मूल लेखककी कीर्ति तो नष्ट होती ही है कई महापापकी कारणीभूत अन्यान्य विरुद्ध परम्पराएँ भी प्रचलित हो जाती हैं।

जैनाचार्योंने शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि व शब्दार्थ शुद्धि पूर्वक ग्रन्थाध्ययनको 'ज्ञानाचारके आठ अंगों में समाविष्ट किया है और ऐसा अध्ययन भारतीय संस्कृतिमें सदासे इष्ट रहा है। यह तभी बन सकता है जबकि पाठ्य ग्रन्थ पूर्ण रूपेण शुद्ध हों। अभी अभी भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा श्रावकाचारका एक नया संस्करण प्रकाशित हुआ है। जिसका संपादन आधुनिक शैलीसे कलात्मक हुआ है साथमें प्रस्तावना परिशिष्ट आदिके लगा देनेसे ग्रन्थकी उपादेयता काफी बढ़ गई है पर ग्रन्थमें शुद्धिपत्र का न होना काफी खटकता है।

इस ग्रन्थके मूलकर्ता आचार्य वसुनन्दि हैं जो कुशल कवि थे और मूलाचार, भगवती आराधना आदि सिद्धान्तग्रन्थोंके मर्मज्ञ थे, अतएव वे सैद्धान्तिक कहलाते थे। मूलाचारकी वृत्ति+ इन्हींकी बनाई हुई प्रतीत होती है। 'श्रावकप्रतिक्रमण' 'ग्रन्थ' की॥ आलोचना भक्तिके अन्तर्गत पाई जानेवाली गाथाओंसे और प्रतिक्रमणभक्तिके अन्तर्गत पाई जानेवाली ग्यारह प्रतिमाओंके 'मिच्छा मे दुक्कडं' पाठ१ परसे स्पष्ट है कि श्रावकप्रतिक्रमण पाठका नूतन प्रतिसंस्कार शायद इन्हींका किया हुआ हो। इनका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्द है। आचार्य श्रीने अपने इस ग्रंथका नाम × 'सावय धम्मं' (गाथा २ में) और उवासयज्झयण—उपासकाध्ययन (गाथा ५४४ में) प्रकट किया है।

इस संस्करणके सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री दि० जैन समाजके एक मान हुए विद्वान् हैं। जिन्होंने धवला टीकाके सम्पादन कार्यमें भी अपना योग दिया है।

हमने उक्त संस्करणका अध्ययन किया तो इस बातसे बड़ा दुःख हुआ कि सम्पादकने मूलपाठके चय में काफी लापरवाहीसे काम लिया है जिससे मूलगाथाओंमें पर्याप्त अशुद्धियां रह गई हैं। प्रस्तुत लेखमें हम उनकी संशोधित तालिका नीचे दे रहे हैं :—

वसुनन्दि श्रावकाचारका पाठ संशोधन

गाथा संख्या	प्रतिका पाठ	शुद्ध पाठ
२ क	णायारो	अणयारो (१)
३ क	णं	×
७ क	अत्ता	अत्तो
१६ ख	गाहण	ग्गाहण
२२ ख	मइ	मई
२३ ख	सव्व गद	सव्व ग
२६ ख	पाहस	पाहाण
,, ,,	णाउं	णेआं
३३ क	मुत्ता	मोत्तुं ॐ
,, ख	तं परिणायं	तप्परिणइं
३४ ख	सत्ताभूओ सो ताणं	संततभूओ सो ताण (२)
३५ क	फलभोयओ	फलपभोयओ (३)
,, ख	°भोया भोया	°भोया भावा (४)
३७ क	ताण पवेसो	काणुपवेसो (५)
४६ ख वच्छल्लं······सम्मत्ते		पूया अ वयणं आदि (पाठान्तर) (६) देखो

+ तुलना कीजिए वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा २३ से ३८ तक मूलाचार षडावश्यकाधिकारकी ४८ वीं गाथाकी वृत्तिसे।

गांधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला पुष्प १३ में पृ० ५६ से ३४ तक की तव वायाणेयमावासव··· गाथाके अलावा शेष २४ गाथाएं और वासुनंदि श्रावकाचारकी गाथा ५७, २०७ से २११, २७१, २७२, २७५, २८० और २६५ से ३०१ को देखिये।

१ इसी श्रावक प्रतिक्रमण पृ० ६६ से ६६ पर शिक्षा व्रतोंके 'मिच्छा मे दुक्कडं' से वसुनंदि श्रावकाचार की गाथा २१७ से २१६ और २७१-२७२ से तुलना कीजिये।

× अपभ्रंशभाषाका 'सावयधम्मदोहा' ग्रंथका नामकरण भी इसी नाम परसे किया गया प्रतीत होता है।

१ अनगारः, २ स्वतंत्रभूतः, देखो, मूलाचारवृत्ति पृ० ४२३ आवश्यकाधिकार ७ की ४८वीं गाथा ३ फलप्रभोगतः। ४ तत्फलभोगाभावात् ५ न अनुप्रवेशः। ६ ग्रन्थकारने भगवती आराधनामें कथित गुणोंका भी

५० ख	एसु सम्मा	एएसु सम्म
५१ क	खिस्संकाइ	णिस्संकाई
५२ ख	वणिगसुदा	वणिधूया
५३ क	कइवर	रउरए
५५ क	तामलित्त	तामलित्ति
५७ क	विसयाइं	वसणाइं
५८ ख	संसिद्धाइं	संसिट्ठाइं (७)
६१ (	हिंडइ	हिंडए
६२ क	मायरं	मायरं ण
६३ ख	वुज्जाइं	खुज्जाइं (८)
६६ क	अक्खेहिं	अच्छीहि (९)
६७ ख	हणेइ	णिहणेइ
६८ क	दिवयां ति	दियहं पि
६८ ख	मग्गइ	अच्छइ
७१ क	रत्थाय यंगणे	रत्थाए पंगणे* (१०)
७२ ख	मिट्ठो	मिट्ठा (११)
७३ क	खिप्पइ	घिप्पइ
७७ क	अवराइं	अवराइं वि
८६ ख	तंपि वणिणाए	तम्हि विणिणा ए (१२)
८७ क	जहा⋯विप्पा	गयणगामिणो वि भुवि विप्पा
,, ख	भुवि	×
८८ क	पारसियाण	पारस्सियाण
८८ ख	भक्खेइ	भक्खइ
९० क	सामी मोत्तूण णत्थि	साम मोत्तूण तं ण* (१३)
९६ क	पलायमाणो णिरवराहो	पलायमाणे⋯णिरावराहे*
,, ख	हणिज्जइ	हणिज्जा*
१०२ ख	संतत्तो	संतट्ठो* (१४)
१०३ ख	भय विट्ठो	भय-घत्थो*
१०४ ख	पवलेण	पच्चेलिउ* (१५)
१०४ ख	किंचियवं	किंचयं * (१६)
१०८ क	अं हरइ	हरेइ*
१०९ ख	णेत्तुद्धारं	णेत्तुद्धरं (१७)
१०९ ख	सूला वा रोहणं	सूलारोहणं (१८)
११६ क	कुल मज्जायं	कुलकम्मं*
११६ ख	परिक्खयाओ	परिक्खाओ
१२० क	तत्थ	×
१२० क	मज्झम्मि	मज्झयारम्मि*
१२२ ख	चोरस्स	चोरु व्व
१२३ ख	दुक्खिओ	ओ खित्तं
१२५ ख	पुइ	पुई
१३३ क	ते बंधं	तं वट्टं (१९)
१३७ क	मही वीढे	मही पिट्ठे*
१४३ ख	जं	तुमं
१४७ ख	पज्जलयम्मि	पज्जलियम्मि
१४८ क	उम्मसरेहिं	उम्मसेहिं (२०)
१४९ क	मं मा	मं म
१५१ क	कह वि य माएण	कहँ व पमायण*
१३८ क	डसिय	डयह
१५२ ख	णीइ	णियइ*
१५७ ख	,,	,, *
१६० ख	छुहिंति	छुहंति
१६६ क	किकवाय	किकवाड
१६७ ख	सुयणो सुयणो	सुयणा सुयणी
१६८ क	छुयणा	छेयं
१६८ ख	केई	केइ
१७० ख	सुमरा विकय	सुमरा वेकय
१७३ क	खिल्ल विल्ल	खल्ल-विल्ल (२१)
१८४ क	कोई	कोइ
१८८ क	तिस ओवि	तिसओ व
,, ख	कूवंतस्स	कूवंतस्स
,, ख	से देइ	सहइ
१८९ क	सव्वहियाउ	वाहियाओ (२२)

संग्रह दिया है जो आगेकी गाथाके 'इच्चाइगुणा' शब्दसे संबद्ध हैं। ७ संसृष्टानि ८ आंखोंसे १० रौरुक नगरे ९ खुज्जाइं = आश्चर्यकराणि । देखो, पाइअसद्दमहण्णवो कोश।

१० गलियोंमें या चौकमें ११ मीठी मद्य १२ मांस भक्षण में ये दोनों दोष १३ त्वा मुक्त्वा मम अन्यःस्वामी न १४ संत्रस्तः १५ प्रस्तुत ।

१६ द्रव्यं १७ नेत्रोद्धारं=आंखें फोड़ी जाना, १८ सूली पर चढ़ाना १९ उसी वृक्षको—लोहेके गोलेको । २० अस्त्र विशेषैः। २१ लपट विलप न्यायसे। २२ वाधिका= बधाओंको।

१६३ ख	जं त्रि कयं देवदुग्गयं	जं कयं देव दुग्गइं
१६६ क	कह णिल्लोए	कहं णिल्लोए
१६७ क	कस्स साहामि	कस्स व साहेमि
१६६ ख	जाइज्जा	जाएज्ज
२०२ ख	पाविज्जइ	पाविज्जा
,, ,,	जीवो	× ॐ
२०५ क	परिहरेइ इय जो	इय जो परिहरइ
२१० क	पत्तंत्तर	पत्तंतह (१)
२२५ क	पणमं	णमणं
२२५ क	पडिगह मुचट्ठाणं	पडिगहणं मुच्चठाणं
२२७ क	णिरवज्जाणु तह उच्च	णिरवज्जाणु वह दुच्च (२)
२२८ ख	णेवज्ज	णिवेज्ज
२३४ क	साइमं	साइय
२३५ क	रोडाणं	रोईणं (३)
२३६ क	परिपीडयं	परिपीडियं
२४२ क	कि पि	किंचि वि
२४७ ख	जायइ•••जहण्णासु	जाइ•••जहण्णासु
२४६ क	सुदिट्ठी	सुदिट्ठी मणुया
२६० क	सहस्सुत्तुंगा	सहस्स तुंगा
२६१ क	सक्कर समसाय	सक्करासाय
२६१ ख	केई	केइ
२६२ क	जोव्वणं तेहिं	जोव्वणंतेहिं (४)
२६६ क	तत्थाणु	तत्थणु
२६७ ख	विगइभया	विगइब्भयाइ ॐ (५)
२६६ क	लहिऊण	लहिउं
२८० ख	चउस्सु	चउसु
२६० ख	णवर	णवरि
२६२ क	णिव्वयडी	णिव्वियडी ॐ
२६३ क	सिरणहाणुं	सिणहाणुं
२६५ क	तुय	तय ॐ
२६६ ख	जाणइ	जाण
३०० क	च	×

३०२ क	वयणं	वपणं ॐ (६)
,, ख	उवयरणेण	मिउ उवयरणेण (७)
३०४ क	चरियाय	चरियाए
३०६ क	पत्थेइ	एत्थेव (८)
३०७ ख	जाएज्ज	जाएज्जा (९)
३०९ क	काउंरिस गिहम्मि	काउंरिसि गोहण- म्मि ॐ (१०)
,, ख	णियमणं	णियमेण ॐ
३१५ क	डंदुर	दद्दुर ॐ (११)
३१७ ख	परभवम्मि	परभवम्मि य
३२१ ख	दंसणो	दंसणे
३२४ क	वज्जिऊण तवसीणं	वज्जिउं तव- स्सीणं ॐ
३२७ क	अफरुस	अफरुस
३३१ ख	वट्टिज्जए	वट्टिज्जइ
३३३ ख	जणाणं	जणाओ ॐ (१२)
३३७ क	किलेस	संकिलेस
३३८ क	सिरसाणं मद्दण-अब्भंगसेव,	सिरसाण मद्दणब्भंगसेय
३३९ ख	उच्चरा	उच्चारा
३४१ क	संवेगाइय	संवेगाइ
३५१ का	पूर्वार्ध	आयंबिल णिव्वियडेय ठाण- छट्ठ माइ खवणेहिं
३५३ ख	पूजा	पुज्जा
३५२ ख	दिव्यभाए	दिव्यभोए
३६६ क	अट्ठम्मि ओ	अट्ठमीओ
,, ख	तहा एयारस	तहेयारस
३७२ ख	सुहस्स वि	सुहं च वि
३७७ ख	णायव्वा	णायव्वो
३८४ क	वराड ओ वा	वराडयाइसु (१३)
,, ख	रूणा	ऊणा
३८६ क	विहि	विही

१ देखो, वरांगचरित जटिलकृत सर्ग ७ श्लोक २७। २ देखो, सागारधर्मामृत टीका अध्याय ५ का ४२ वां पद्य ३ रोगी पुरुषोंका। यौवनं अंते येषां ते, तैः। ४ विगत-अभ्रकादि, बादलोंका नष्ट होना आदि। ५ स्मान ६ 'मुण्डनं वपनं त्रिषु' इत्यमरः। ७ मृदु उपकरण पिंछी आदिसे ८ यहां ही-मेरे घर पर ही। ९ मांगे (याचयेत्) १० ऋषि समुदाये कर्तुं न शक्येत्। ११ मेंढक (दर्दुर) १२ गुरुजनोंसे १३ अखत कमलगट्टे ऽआदिमें,देखो धवला-

३६१ क	अंगंगीजा	अंगंगिज्भा (१)
४०७ ख	वडिलिय	वडलिय (२)
४०२ क	दियहे	दियहे
४०५ ख	कंदुत्थं	कंदुट्ट
४७४ ख	,,	,,
४०८ ख	कराविए	कराबए
४१० क	णिविसिऊण	णिवेम्पिऊण
४१२ क	तविलेहिं	तिविलेहिं (३)
४१४ ख	विविहेहिं	च विविहेहि
४१५ क	उच्चाह	उच्चार
४१७ क	गेहस्स	गिहस्स
४२१ क	य	+
४२२ क	तिसट्ठि	तेसट्ठि ❀
४२६ ख	खिविज्जि	खिवेज्ज
४२६ ख	पइट्ठय	पइट्ठ
४३० क	सुछुंडिय	सुच्छुडिय (४)

४३१—सारीकी सारी गाथा—

कणवीर-मल्लियाकंचणारमचकुन्दकिंकिराएहि ।
सुरवण्णजूहिया पारिजाय-जासवण-वारेहिं ॥

४३५ क	थालि	थाल
४३६ क	पहोहामिय	पहोहुत्तमिय (५)
४३८ क	कप्पूर	तुरुक्क (६)
४३८ ख	परिमलायत्ति	परिमलापत्त (७)
४४१ क	पूई	पूइ
४४२ ख	भूवद्दणाइ	भूयाणाईवि (८)
४५४ ख	जागरयं	जागरं
४५७ क	अहवा	अहव
,, क	सत्तीए	भत्तीए

४५६ ख	जं णियंयं	जिणरूवं (९)
४६० ख	तिरियम्मं तिरियए वीए	तिरियम्मि य तिरियं वोयं
४६१ ख	संघ	खंध
,, ख	गोवज्जमया गीवं	गोविज्जं गीवाए
४६६ ख	णिविसिऊण	णिसिऊण
४६६ ख	,, ,,	,, ,,
४७२ क	णिच्चुडंतं	णिबुड्डंतो
४७२ ख	किरण	कर
४७३ क	परिउट्ठो	परिउडो
४८१ ख	तित्थयर	तिव्वयर (१०)
४८३ क	णियमं	णियमा
४८५ क	वयणुतरूणी	वयण-तरुणि
४९४ ख	कालं	काले
५०० ख	अच्छुर सयाउ	अच्छरसाओ
५०१ ख	वुड्डुण	वुड्डुण (११)
५०८ क	पंचसु	पंचसु य
५११ ख	अट्ठगुणों	अट्ठगुणी
५११ ख	सिज्झइ	सज्झं
५२७ क	वीरिए	वीरिए य
५२६ क	णामा	णाम
५३१ ख	कवाड दंडं णियतणुपमाणंच,	कवाडदंड-तणुमाणं च
५३४ क	झाइए	झायए
५३७ क	तिसु	तीसु
५४१ ख	करेई	करेइ
५४१ ग	लीला व तिणणो	लीलाए तिवणो
,, ,,	तरणा	तरणि
५४६ क	पणासु	पयणासु

परिशिष्ट-संशोधन !

ब्यावर भवनकी प्राचीनतम ग्रन्थ प्रतियों परसे स्पष्ट है कि ग्रंथकारको द्वितीय तृतीय आदि संस्कृत शब्दोंके विहय तइय आदि प्राकृतरूप—जो प्राकृत व्याकरणके नियमानुसार वर्गके प्रथम तृतीय व्यंजनको लोप करके अश्रुति और यश्रुतिपरक होते हैं—इष्ट थे और सम्पादक जीने ऐसे शब्दोंको जो मूल पाठमें स्थान न देकर उन्हें

टीका पुस्तकाकार संतपरुपणा पृष्ठ १४ । १ अंगैः ग्राह्या देखो धवला संत० पृष्ठ ६ । २ पटलितः आच्छादित । ३ त्रिविल-तबला वादित्र । ४ सुप्रमार्जित भूमा साफ किया हुआ । ५ प्रभापुंजके द्वारा सूर्य तेजकी उपमाको प्राप्त । ६ गाथामें त्तंद पद हैं जिसका अर्थ कपूर होता है अतः तुरुक्क-लोबाण पद संगत है । ७ सुगन्धिके कारण चारों ओर प्राप्त हुए हैं भ्रमर जिनके ऐसी । ८ पूजाके खर्चके लिए खेत जमीनका दान आदि ।

९ देखो गुणभूषण श्रा० का वाक्य टिप्पणीमें । १० तीव्रतर । (नकि तीर्थंकर) ११ मज्जन ।

टिप्पणीमें दिया है वह ठीक नहीं है। हमने ऐसे शब्दोंके अर्थ भेद न होनेसे इस 'विस्तृत तालिकामें नहीं लिया है।

अशुद्धियां 'च' और 'व' को तथा 'प' और 'य' का ठीकसे नहीं पढ़नेके कारण ही गई हैं जिनमें बुज्झाइ चयणं, रत्थायरंगयो, छिवणं आदि है और उनका शुद्धरूप बुज्झाइं वपणं, रत्थारापंगयो किंचणं आदि होता है जो तालिकामें दे दिया गया है।

ग्रन्थकारको व्यसन और निवृत्ति शब्दोंके प्राकृतरूप वसण और णियत्ती इष्ट थे न कि विसण, णिवुत्ती। इतने पर भी कुछ स्थल हमें अब भी अस्पष्ट जंचते हैं और वे स्थल निर्देश पूर्वक नीचे दिये जाते हैं—

१३७ क पज्जत्तयओ इंदत्ति,''' १६२ क ठिइज्ज''', ३०६ की सारी गाथा। ३४२ ख अयतो वि'''४६२ ख टगरेहि तथा सुरभयाज'''। ४३३ क मेहिय'''४३६ ख -हुंचल'''

इनके स्पष्ट पाठ पहले हमारे संग्रहमें थे जो पं० परमानन्द जीके पास उनके उपयोगके लिए बहुत पहले भेजे जानेके कारण सम्प्रति हमारे पास नहीं हैं सो उक्त पण्डितजी प्रकट करें।

इस लेखके संकेतः— (संशोधन तालिकामें)

* ऐसे चिन्ह वाले सन्शोधन गाथाओंके पद टिप्पणमें भी दखिए क, ख से मतलब गाथेके पूर्वार्ध और उत्तरार्धसे हैं।

उपसंहार

समाजमें ग्रन्थोंका शुद्ध प्रचार हो इस हेतु यह संशोधात्मक लेख लिखा गया है, किसी दुरभिसंधिवश नहीं। यदि स्वाध्यायी जन इस लेखका समुचित उपयोग करके लाभ उठायेंगे और हमारा उत्साह बढ़ावेंगे तो भविष्यमें ऐसे ही लेख फिर प्रस्तुत किये जायेंगे।

भारतीय ज्ञानपीठ काशीको चाहिये कि वह वसुनन्दि श्रावकाचार' की अशुद्धियोंकी ओर ध्यान दे और उनका सशोधन ग्रन्थमें लगा कर पाठकोंके लिए सुविधा प्रदान करे, तथा भविष्यमें इस ओर और भी अधिक सावधानी रखनेका यत्न करेगी।

दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठं ॥११॥
दव्वं-पज्जव विउयं दव्व-विउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा होंदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥
एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि ।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥१३॥

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक नयका वक्तव्य विशेष अवस्तु है। पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिमें सब पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता है। द्रव्य पर्यायके (उत्पाद-व्ययके) बिना और पर्याय द्रव्यके (ध्रौव्यके) बिना नहीं होते; क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों द्रव्य-सत्का अद्वितीय लक्षण हैं। ये (उत्पादादि) तीनों एक दूसरेके साथ मिल कर ही रहते हैं, अलग अलग रूपमें—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं। अर्थात् दोनों नयोंमें से जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत् रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशमें पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षीनयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थ रूपसे अपने विषय (वक्तव्य) का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अंशको अंशरूपमें ही (पूर्णरूपमें नहीं) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता है—सम्यग्दृष्टि कहलाता है।'

ऐसी हालतमें जिनशासनका सर्वथा 'नियत' विशेषण नहीं बनता। चौथा 'अविशेष' विशेषण भी उसके साथ संगत नहीं बैठता; क्योंकि जिनशासन अनेक विषयोंके प्ररूपणादि सम्बन्धी भारी विशेषताओंको लिये हुए है, इतना ही नहीं बल्कि अनेकान्तात्मक स्याद्वाद उसकी सर्वोपरि विशेषता है जो अन्य शासनोंमें नहीं पाई जाती। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्रमें लिखा है कि 'स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम्(१०२) अर्थात् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आपके ही न्यायमें है, दूसरों के न्यायमें नहीं, जो कि अपने वाद (कथन) के पूर्व उसे न अपनानेके कारण अपने शत्रु आप बने हुए हैं। साथ ही यह भी प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रका 'स्यात्' शब्द पुरस्सर कथनको लिये हुये जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन (शासन) है—वह दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) का अविरोधक होनेसे अनवद्य (निर्दोष) है, जबकि दूसरा 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन (शासन) नहीं है, क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके बाधको लिये हुये है (१३८) अकलंकदेवने तो स्याद्वादको जिनशासनका अमोघलक्षण बतलाया है जैसाकि उनके निम्न सुप्रसिद्ध वाक्यसे प्रकट है—

श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादाऽमोघलांछनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' में श्रीवीर-जिनके शासनको एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न बतलाते हुए, जिन विशेषोंकी विशिष्टता से अद्वितीय प्रतिपादित किया है वे निम्न कारिकासे भले प्रकार जाने जाते हैं—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽञ्जसार्थं ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

इसमें बताया है कि वीरजिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधिकी निष्ठा-तत्परताको लिये हुए हैं, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और अनेकान्तवादसे भिन्न दूसरे सभी प्रवादों (प्रकल्पित एकान्तवादों) से अबाध्य है, (यही सब उसकी विशेषता है) और इसीलिये वह अद्वितीय है सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।

और श्रीसिद्धसेनाचार्यने जिन-प्रवचन (शासन) के लिए 'मिथ्यादर्शन समूहमय' 'अमृतसार' जैसे जिन विशेषणोंका प्रयोग सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथामें किया है उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, यहाँ उक्त सूत्रकी पहली गाथाको और उद्धृत किया जाता है जिसमें जिनशासनके दूसरे कई महत्त्वके विशेषणोंका उल्लेख है—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमय-विसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥

इसमें भवको जीतने वाले जिनों—अर्हन्तोंके—शासनको चार विशेषणोंसे विशिष्ट बतलाया है—१ सिद्ध अकल्पित एवं प्रतिष्ठित २ सिद्धार्थोंका स्थान (प्रमाणसिद्ध पदार्थोंका प्रतिपादक, ३ शरणागतोंके लिये अनुपम सुखस्वरूप मोक्ष-

सुख तककी प्राप्ति कराने वाली ७ कुसमयोंके शासनका निवारक (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनरूढ बने हुए सब मिथ्यादर्शनोंके गर्वको चूर चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न)।

स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव जैसे महान् जैनाचार्योंके उपर्युक्त वाक्योंसे जिनशासनकी विशेषताओं या उसके सविशेषरूपका ही पता नहीं चलता बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप कथनमें कहीं भी शुद्धात्माको जिनशासन नहीं बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, 'लौकिकजन' या 'अन्यमती' कहने लगे और यह भी कहने लगे कि 'उन्होंने जिनशासनको जाना या समझा तक नहीं' तो विज्ञपाठक उसे क्या कहेंगे, किन शब्दोंसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे यह मैं नहीं जानता, विज्ञपाठक इस विषयके स्वतन्त्र अधिकारी हैं और इसलिये इसका निर्णय मैं उन्हीं पर छोड़ता हूँ। यहाँ तो मुझे जिनशासन सम्बन्धी इन उल्लेखों द्वारा सिर्फ इतना ही बतलाना या दिखलाना इष्ट है कि सर्वथा 'अविशेष' विशेषण उसके साथ संगत नहीं हो सकता। और उसीके साथ क्या किसीके भी साथ वह पूर्णरूपेण संगत नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई भी द्रव्य, पदार्थ या वस्तु विशेष नहीं है जो किसी भी अवस्थामें पर्याय भेद विकल्प या गुणको लिये हुए न हो। इन अवस्था तथा पर्यायादिका नाम ही 'विशेष' है और इसलिये जो इन विशेषोंसे सर्वथा शून्य है वह अवस्तु है। पर्यायके बिना द्रव्य और द्रव्यके बिना पर्याय होते ही नहीं, दोनोंमें परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इस सिद्धान्तको स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने भी अपने पंचास्तिकाय ग्रन्थकी निम्न गाथामें स्वीकार किया है और उसे श्रमणोंका सिद्धान्त बतलाया है।

पज्जव विजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥ १२ ॥

ऐसी हालतमें शुद्धात्मा भी इस अमल-सिद्धान्तसे बहिर्भूत नहीं हो सकता, उसे जो अविशेष कहा गया है वह किस दृष्टिको लिये हुए है इसे कुछ गहराईमें उतर कर जानने की जरूरत है। मात्र यह कह देनेसे काम नहीं चलेगा कि शुद्धनयकी दृष्टिसे वैसा कहा गया है, क्योंकि कोई भी सम्यक्नय ऐसा नहीं है जो नियमसे शुद्ध जातीय हो—अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो। जैसा कि सिद्धसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णत्थि णओ णियम सुद्ध जातीओ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणा उ विसेसो ॥६०॥

जो नय अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो वह सम्यक्नय न होकर मिथ्यानय है. आचार्य सिद्धसेनने उसे दुर्निक्षिप्त शुद्धनय (अपरिशुद्धनय) बतलाया है और लिखा है कि वह स्व-पर दोनों पक्षोंका विघातक होता है।

रहा पाँचवाँ 'असंयुक्त' विशेषण, वह भी जिनशासन के साथ लागू नहीं होता; क्योंकि जो शासन अनेक प्रकारके विशेषोंसे युक्त है, अभेद भेदात्मक अर्थतत्त्वोंकी विविध कथनीसे संगठित है, और अंगों आदिके अनेक सम्बन्धोंको अपने साथ जोड़े हुए है उसे सर्वथा असंयुक्त कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।

इस तरह शुद्धात्मा और जिनशासनको एक बतलानेसे शुद्धात्माके पाँच विशेषण जिनशासनको प्राप्त होते हैं वे उसके साथ संगत नहीं बैठते। इसके सिवा शुद्धात्मा केवलज्ञानस्वरूप है, जब कि जिनशासनके द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ऐसे दो मुख्य भेद किये जाते हैं, जिनमें भावश्रुत श्रुतज्ञानके रूपमें है, जिसका केवलज्ञानके साथ और नहीं तो प्रत्यक्ष परोक्षका भेद तो है ही। रहा द्रव्यश्रुत, वह शब्दात्मक हो या अक्षरात्मक दोनों ही अवस्थाओंमें जड़ रूप है—ज्ञानरूप नहीं। चुनाँचे श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भी 'सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणए किंचि। तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥' इत्यादि गाथाओंमें ऐसा ही प्रतिपादन किया है और शास्त्र तथा शब्दको ज्ञानसे भिन्न बतलाया है। ऐसी हालतमें शुद्धात्माके साथ द्रव्यश्रुतका एकत्व स्थापित नहीं किया जा सकता और यह भी शुद्धात्मा तथा जिनशासनको एक बतलानेमें बाधक है।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि स्वामी जीके प्रवचन लेखके प्रथम पैराग्राफमें जो यह लिखा है कि—

"शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने शुद्धात्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।—यह बात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवीं गाथामें कहते हैं।—"

वह सर्वांशमें ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त गाथामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने ऐसा कहीं भी नहीं कहा कि जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है' और न 'इसलिये' अर्थका वाचक कोई शब्द ही गाथामें प्रयुक्त हुआ है। यह सब स्वामीजीकी निजी कल्पना है। गाथामें जो कुछ कहा गया है उसका फलतार्थ इतना ही है कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्टादि विशेषणोंके रूपमें देखता है वह समस्त जिनशासनको भी देखता है।' परन्तु कैसे देखता है ? शुद्धात्मा होकर देखता है या अशुद्धात्मा रह कर देखता है। किस दृष्टिसे या किन साधनोंसे देखता है, और आत्माके इन विशेषणोंका जिनशासनको पूर्ण रूपमें देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है और वह किस रीति-नीतसे कार्यमें परिणत किया जाता है यह सब उसमें कुछ बतलाया नहीं। इन्हीं सब बातोंको स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत थी और इन्हींसे पहली शंकाका सम्बन्ध था, जिन्हें न तो स्पष्ट किया गया है और न शंकाका कोई दूसरा समाधान ही प्रस्तुत किया गया है—दूसरी बहुत सी फालतू बातोंको आश्रय देकर प्रवचनको लम्बा किया गया। क्रमशः

जि....न....शा....स...न

जिनशासनको कब यथार्थ जाना कहा जाता है ?

[श्री कानजीस्वामी सोनगढ़का वह प्रवचन लेख जो आत्मधर्मके गत आश्विन मास अङ्क ७ के शुरूमें प्रकाशित हुआ है, जिस पर 'अनेकान्त' की इसी किरणके शुरूमें विचार किया गया है।]

शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने शुद्ध आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।—यह बात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवीं गाथामें कहते हैं :—

य: पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

इस गाथामें आचार्यदेवने जैनदर्शनका मर्म खोलकर रक्खा है। जो इन अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावोंरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है; जिसने ऐसे शुद्ध आत्माको जाना उसने समस्त जिनशासन को जान लिया। समस्त जिनशासनका सार क्या ?—अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करना। शुद्ध आत्माके अनुभवसे वीतरागता होती है और वही जैन धर्म है; जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नहीं है। 'मैं बंधनवाला अशुद्ध हूँ'—इस प्रकार जो पर्यायदृष्टिसे अपने आत्माको अशुद्ध ही देखता है उसके रागकी उत्पत्ति होती है और राग है वह जैनशासन नहीं है; इसलिये जो अपने आत्माको अशुद्धरूपही देखता है परन्तु शुद्ध आत्माको नहीं देखता उसे जिनशासनकी खबर नहीं है। आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त ही देखने वाला जीव जिनशासनसे बाहर है। जो जीव आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त ही देखता है उसके वीतरागभावरूप जैनधर्म नहीं होता। अन्तरस्वभावकी दृष्टि करके जो अपने आत्माको शुद्धरूप जानता है उसीके वीतरागभाव प्रकट होता है और वही जैनधर्म है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव अपने आत्माको कर्मके सम्बन्धरहित एकाकार विज्ञानघन स्वभावरूप देखता है वह समस्त जैनशासनको देखता है।

देखो यह जैन शासन ! लोग बाह्यमें जैनशासन मान बैठे हैं परन्तु जैनशासन तो आत्माके शुद्धस्वभावमें है। कई लोगों को ऐसी भ्रमणा है कि जैनधर्म तो कर्म-प्रधान धर्म है; लेकिन यहाँ तो आचार्यदेव स्पष्ट कहते हैं कि आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त देखना वह वास्तवमें जैनशासन नहीं है परन्तु कर्म के सम्बन्धसे रहित शुद्ध देखना वह जैनशासन है। जैनशासन कर्मप्रधान तो नहीं है, परन्तु कर्मके निमित्तसे जीवकी पर्यायमें जो पुण्यपापरूप विकार होता है उस विकारको प्रधानता भी जैनशासनमें नहीं है। जैनधर्ममें तो ध्रुव-ज्ञायक पवित्र आत्मस्वभावकी ही प्रधानता है; उसकी प्रधानतामें ही वीतरागता होती है। विकारकी या परकी प्रधानतामें नहीं होती इसलिये उसकी प्रधानता वह जैनधर्म नहीं है।

जो जीव स्वोन्मुख होकर अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्वको न समझे उस जीवने जैनधर्म प्राप्त नहीं किया है और जिसने अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्वको जाना है वह समस्त जैनशासनके रहस्यको प्राप्त कर चुका है। अपने शुद्ध ज्ञायक परमात्मतत्त्वकी अनुभूति वह निश्चयसे समग्र जिनशासनकी अनुभूति है। कोई जीव भले ही जैनधर्ममें कथित नवतत्त्वोंको व्यवहारसे मानता हो, भले ही ग्यारह अंगोंका ज्ञाता हो और भले ही जैनधर्ममें कथित व्रतादिकी क्रिया करता हो; परन्तु यदि वह अंतरंगमें परद्रव्य और परभावोंसे रहित शुद्ध आत्माको न जानता हो तो वह जैनशासनसे बाहर है, उसने वास्तवमें जैन-शासनको नहीं जाना है।

'भावप्राभृत'में शिष्य पूछता है कि–जिनधर्मको उत्तम कहा, तो उस धर्मका स्वरूप क्या है? उसके उत्तरमें आचार्यदेव धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि:—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

जिनशासनके सम्बन्धमें जिनेन्द्रदेवने ऐसा कहा है कि—पूजादिकमें तथा जो व्रतसहित हो उसमें तो पुण्य है और मोह-क्षोभ रहित आत्माके परिणाम वह धर्म है।

कोई-कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत-क्रियासहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव-व्रत-पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिकजन' और 'अन्यमती' कहा है। जैनमतमें जिनेश्वर भगवानने व्रत-पूजादिके शुभभावको धर्म नहीं कहा है, परन्तु आत्माके वीतरागभावको ही धर्म कहा है। वह वीतरागभाव कैसे होता है?—शुद्ध आत्मस्वभावके अवलम्बनसे ही वीतरागभाव होता है; इसलिये जो जीव शुद्ध आत्माको देखता है वही जिनशासनको देखता है। सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र भी शुद्ध आत्माके अवलम्बनसे ही प्रगट होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गका समावेश भी शुद्ध आत्माके सेवनमें हो जाता है; और शुद्ध आत्माके अनुभवमें जो वीतरागभाव प्रगट हुआ उसमें अहिंसाधर्म भी आ गया तथा उत्तम क्षमादि दस प्रकारके धर्म भी उसमें आ गये। इसप्रकार जिन-जिन प्रकारोंसे जैनधर्मका कथन है उन सर्व प्रकारोंका समावेश शुद्ध आत्माके अनुभवमें हो जाता है, इसलिये शुद्ध आत्माकी अनुभूति वह समस्त जिनशासनकी अनुभूति है।

अहो! इस एक गाथामें श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवने जैनदर्शनका अलौकिक रहस्य भर दिया है; जैनशासनका मर्म क्या है—वह इस गाथामें बतलाया है।

आत्मा ज्ञानघनस्वभावी है; वह कर्मके सम्बन्धसे रहित है। ऐसे आत्मस्वभावको दृष्टिमें न लेकर कर्मके सम्बन्धवाली दृष्टिसे आत्माको लक्षमें लेना सो रागबुद्धि है, उसमें रागकी—अशुद्धताकी उत्पत्ति होती है इसलिये वह जैनशासन नहीं है। भले ही शुभ विकल्प हो और पुण्य बँधे, परन्तु वह जैनशासन नहीं है। आत्माको असंयोगी शुद्ध ज्ञानघनस्वभावरूपसे दृष्टिमें लेना सो वीतरागदृष्टि है और उस दृष्टिमें वीतरागताकी ही उत्पत्ति होती है इसलिये वही जैनशासन है। जिससे रागकी उत्पत्ति हो और संसार परिभ्रमण हो वह जैनशासन नहीं है, परन्तु जिसके अवलम्बनसे वीतरागताकी उत्पत्ति हो और भवभ्रमण मिटे वह जैनशासन है।

आत्माकी वर्तमान पर्यायमें अशुद्धता तथा कर्मका सम्बन्ध है; परन्तु उसके त्रिकाली सहजस्वभावमें अशुद्धता या कर्मका सम्बन्ध नहीं है, त्रिकाली सहज-स्वभाव तो एकरूप विज्ञानघन है। इस प्रकार आत्माके दोनों पक्षोंको जानकर, त्रिकाली स्वभावकी महिमाकी ओर उन्मुख होकर आत्माका शुद्धरूपसे अनुभव करना वह सच्चा अनेकान्त है और वही जैनशासन है। ऐसे शुद्ध आत्माकी अनुभूति ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

मैं विकारी और कर्मके सम्बन्धवाला हूँ—इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे लक्षमें लेना वह तो रागकी उत्पत्तिका कारण है; और यदि उसके आश्रयसे लाभ माने तो मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है। इसलिये आत्माको कर्मके सम्बन्धवाला और विकारी देखना वह जैनशासन नहीं है। दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो आत्माको पर्यायबुद्धिसे ही देखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। पर्यायमें विकार होने पर भी उसे महत्व न देकर द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध आत्माका अनुभव करना वह सम्यग्दर्शन और जैनशासन है। अन्तरमें ज्ञानरूप भावश्रुत और बाह्यमें भगवानकी वाणीरूप द्रव्यश्रुत—उन सबका सार यह है कि ज्ञानको अन्तरस्वभावोन्मुख करके आत्माको शुद्ध अबद्धस्पृष्ट देखना चाहिए। जो ऐसे आत्माको देखे उसीने जैनशासनको जाना है और

उसीने सर्व भावश्रुतज्ञान स्र्ग्रौर द्रव्यश्रुतज्ञानको जाना है। भिन्न भिन्न अनेक शास्त्रोंमें अनेकप्रकारकी शैलीसे कथन किया हो; परन्तु उन सर्व शास्त्रोंका मूल तात्पर्य तो पर्याय बुद्धि छुड़ाकर ऐसा शुद्ध आत्माही बतलानेका है। भगवान-की वाणीके जितने कथन हैं उन सबका सार यही है कि शुद्ध आत्माको जानकर उसका आश्रय करो। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्माको न जाने वह अन्य चाहे जितने शास्त्र जानता हो और व्रतादिका पालन करता हो, तथापि उसने जैनशासनको नहीं जाना है।

जैनशासनमें कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्मके सम्बन्ध रहित है, तब फिर इस स्थूल शरीरके आकारवाला तो वह कहाँसे हो सकता है? जो ऐसे आत्माको नही जानता और जड़-शरीरके आकारसे आत्मा को पहिचानता है उसने जैनशासनके आत्माको नहीं जाना है। वास्तवमें भगवानकी वाणी कैसा आत्मा बतलानेमें निमित्त है?—अबद्धस्पृष्ट एकरूप शुद्ध आत्माको भगवान की वाणी बतलाती है; और जो ऐसे आत्माको समझता है वही जिनवाणीको यथार्थतया समझा है। जो ऐसे अबद्धस्पृष्ट भूतार्थ आत्मस्वभावको न समझे वह जिनवाणी को नहीं समझा है। कोई ऐसा कहे कि मैंने भगवानकी वाणीको समझ लिया है परन्तु उसमें कथितभावको (—अबद्ध-स्पृष्ट शुद्ध आत्मस्वभावको) नहीं समझ पाया, —तो आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तवमें वह जीव भगवानकी वाणीको भी नहीं समझा है और भगवानकी वाणीके साथ धर्मका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध उसके प्रगट नहीं हुआ है। स्वयं अपने आत्मामें शुद्ध आत्माके अनुभवरूप नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं किया उसको भगवान की वाणी धर्मका निमित्त भी नहीं हुई; इसलिये वह वास्तवमें भगवानकी वाणीको समझा ही नहीं है। भगवानकी वाणीको समझ लिया—ऐसा कब कहा जाता है?—कि जैसा भगवानकी वाणीमें कहा है वैसा भाव अपने में प्रगट करे तभी वह भागवानकी वाणीको समझा है और वही जिनशासनमें आ गया है। जो जीव ऐसे आत्माको न जाने वह जैनशासनसे बाहर है।

बाह्यमें जड़ शरीरकी क्रियाको आत्मा करता है और उसकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है) उसे तो जैनशासनकी गंध भी नहीं है। तथा कर्मके कारण आत्माको विकार होता है या विकार-भावसे आत्माको धर्म होता है—यह बात भी जैनशासनमें नहीं है। आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्यमें शरीरादिकी क्रिया नहीं करता; शरीरकी क्रियासे उसे धर्म नहीं होता; कर्म उसे विकार नहीं करता और न शुभ-अशुभ विकारी भावोंसे उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभावके आश्रयसे ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्माको अन्तरमें नहीं देखता और कर्मके निमित्त आत्माकी अवस्था में होनेवाले क्षणिक विकार जितना ही आत्माको देखता है वह भी जैनशासनको नहीं देखता; कर्मके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध रहित जो सहज एकरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा है उसे जीव शुद्धनयसे देखता है उसीने सर्व शास्त्रोंके सारको समझा है।

(१) जैनशासनमें कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका ज्ञान कराते हैं; परन्तु जीवको वहीं रोक रखने-का उसका प्रयोजन नहीं है वह तो उस निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धकी दृष्टि छुड़ाकर असंयोगी आत्मस्वभावकी दृष्टि कराता है। इसलिये कहा है कि जो जीव कर्मके सम्बन्ध रहित आत्माको देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है।

(२) मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि पर्यायोंसे देखने पर अन्य अन्यपना होने पर भी आत्माको उसके ज्ञायक स्वभा-वसे एकाकार स्वरूप देखना ही जैनशासनका सार है। पर्यायदृष्टिसे आत्मामें भिन्न भिन्नपना होता अवश्य है और शास्त्रोंमें उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु उस पर्याय जितना ही आत्मा बतलानेका जैनशासनका आशय नहीं है; किन्तु एकरूप ज्ञायक बिम्ब आत्माको बतलाना ही शास्त्रोंका सार है; तथा ऐसे आत्माके अनुभवसे ही सम्यग्ज्ञान होता है। जिसने ऐसे आत्माका अनुभव किया उसने द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप जैनशासनको जाना है।

(३) आत्माकी अवस्थामें ज्ञान-दर्शन-वीर्य इत्यादि की न्यूनाधिकता होती है, परन्तु ध्रुवस्वभावसे देखने पर आत्मा हीनाधिकतारहित सदा एकरूप निश्चल है। पर्या-यकी हीनाधिकताके प्रकारोंका शास्त्रने ज्ञान कराया है; परन्तु उसीमें रोक रखनेका शास्त्रका आशय नहीं है; क्योंकि पर्यायकी अनेकताके आश्रयमें रुकनेसे एकरूप शुद्ध आत्माका स्वरूप अनुभवमें नहीं आता। शास्त्रोंका आशय तो पर्यायका – व्यवहारका आश्रय छुड़वाकर नियत—एक-रूप ध्रुव आत्मस्वभावका अवलम्बन करानेका है; उसीके अवलम्बनसे मोक्ष मार्गकी साधना होती है। ऐसे आत्म-भावका अवलम्बन लेकर अनुभव करना सो जैनशासनका अनुभव है। पर्यायके अनेक भेदोंकी दृष्टि छोड़कर अभेद

दृष्टिसे शुद्ध आत्माका अनुभव करना—यह शास्त्रोंका अभिप्राय है।

(४) भगवानके शास्त्रोंमें ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि गुण भेदसे आत्माका कथन किया है; परन्तु वहाँ उन भेदोंके विकल्पमें जीवको रोक रखनेका शास्त्रोंका आशय नहीं है; भेदका अवलम्बन छुड़ा कर अभेद आत्मस्वभावको बतलाना ही शास्त्रोंका आशय है। भेदके आश्रयसे तो रागकी उत्पत्ति होती है और राग वह जैनशासन नहीं है; इसलिए जो जीव भेदके लक्षसे होने वाले विकल्पोंसे लाभ मानकर उनके आश्रयमें रुके और आत्माके अभेद-स्वभावका आश्रय न करे वह जैनशासनको नहीं जानता है। अनन्त गुणोंसे अभेद आत्मामें भेदका विकल्प छोड़कर, उसे अभेदस्वरूपसे लक्षमें लेकर उसमें एकाग्र होनेसे निर्विकल्पता होती है; यही समस्त तीर्थंकरोंकी वाणीका सार है और यही जैनशासन है।

५. आत्मा क्षणिक विकारसे असंयुक्त है; उसकी अवस्थामें क्षणिक रागादिभाव होते हैं; उन रागादिभावोंका अनुभव करना वह जैनशासन नहीं है। स्वभाव दृष्टिसे देखने पर आत्मामें विकार है ही नहीं। क्षणिक विकारसे असंयुक्त ऐसे शुद्ध चैतन्यघन स्वरूपसे आत्माका अनुभव करना ही अनन्त सर्वज्ञ-अरिहन्त परमात्माओंका हार्द और संतोंका हृदय है; बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचनामें जो कुछ कहा है उसका सार यही है। निमित्त, राग या भेदके कथन भले हों, उनका ज्ञान भी भले हो, परन्तु उन्हें जानकर क्या किया जावे?—तो कहते हैं कि अपने आत्माका परद्रव्यों और परभावोंसे भिन्न अभेद ज्ञानस्वभावरूपसे अनुभव करो; ऐसे आत्माके अनुभवसे ही पर्यायमें शुद्धता होती है। जो जीव इस प्रकार शुद्ध आत्माको दृष्टिमें लेकर उसका अनुभव करे वही सर्व सन्तों और शास्त्रोंके रहस्यको समझा है।

देखो यह शुद्ध आत्माके अनुभवकी वीतरागी कथा है! वीतरागी देव-गुरु-शास्त्रके अतिरिक्त ऐसी कथा कौन सुना सकता है? जो जीव वीतरागी अनुभवकी ऐसी कथा सुनानेके लिये प्रेमसे खड़ा है उसे जैन शासनके देव-गुरु शास्त्र पर श्रद्धा है और उनकी विनय तथा बहुमानका शुभराग भी है; परन्तु वह कहीं जैनदर्शनका सार नहीं है—वह तो बहिर्मुख रागभाव है। अन्तरमें स्वसन्मुख होकर, देव-गुरु शास्त्रने जैसा कहा है वैसे आत्माका राग-रहित अनुभव करना ही जैन-शासनका सार है।

देखो, यह अपूर्व कल्याणकी बात है! यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो ऐसी बात है कि जिसे समझनेसे अनादिकालीन भवभ्रमणका अन्त आ जाता है आत्माकी दरकार करके यह बात समझने योग्य है बाह्य क्रियासे और पुण्यभावसे आत्माको लाभ होता है—ऐसा माननेकी बात तो दूर रही; यहाँ तो कहते हैं कि हे जीव! तू उस बाह्यक्रियाको मत देख, पुण्यको मत देख, किन्तु अपने अन्तरमें ज्ञानमूर्ति आत्माको देख। 'पुण्य है सो मैं हूँ।'—ऐसी दृष्टि छोड़कर 'मैं ज्ञायकभाव हूँ'—ऐसी दृष्टि कर। देहादिकी बाह्यक्रियासे और पुण्यसे भी पार ऐसे अपने ज्ञायक-स्वभावी आत्माका अन्तरमें अवलोकन करना ही जैनदर्शन है। इसके अतिरिक्त लोग व्रत-पूजादिकको जैनदर्शन कहते हैं, परन्तु वास्तवमें वह जैनदर्शन नहीं है व्रत-पूजादिकमें तो मात्र शुभराग है और जैनधर्म तो वीतरागभाव-स्वरूप है।

प्रश्न—कितनोंने ऐसा जैनधर्म किया है?

उत्तर—अरे भाई! तुझे अपना करना है दूसरोंका? पहले तू स्वयं तो अपने आत्माको समझकर जैन हो; फिर तुझे दूसरोंकी खबर पड़ेगी! स्वयं अपने आत्माको समझकर अपने आत्माका हित कर लेनेकी यह बात है। ऐसे वीतरागी जैनधर्मका सेवन कर-करके ही पूर्वकालमें अनंत जीवोंने मुक्ति प्राप्त की है, वर्तमानमें भी दुनियामें असंख्य जीव इस धर्मका सेवन कर रहे हैं। महाविदेह क्षेत्रमें तो ऐसे धर्मकी पेढ़ी जोर-शोरसे चल रही है; वहाँ साक्षात् तीर्थंकर विचर रहे हैं; उनकी दिव्यध्वनिमें ऐसे धर्मका स्रोत बहता है, गणधर उसे झेलते हैं, इन्द्र उसका आदर करते हैं, चक्रवर्ती उसका सेवन करते हैं और भविष्यमें भी अनंत जीव ऐसा धर्म प्रगट करके मुक्ति प्राप्त करेंगे। लेकिन उससे अपनेको क्या? अपनेको तो अपने आत्मामें देखना चाहिए। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें उससे कहीं इस आत्माका हित नहीं हो जाता और दूसरे जीव संसारमें भटकते फिरें उससे इस आत्माके कल्याणमें बाधा नहीं आती। जब स्वयं अपने आत्माको समझे तब अपना हित होता है। इस प्रकार अपने आत्माके लिये यह बात है, यह तत्व तो तीनों काल दुर्लभ है और इसे समझने वाले जीव भी विरले ही होते हैं। इसलिये स्वयं समझकर अपना कल्याण कर लेना चाहिए

(—श्री समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचन से)

श्रीबाहुबलि-जिनपूजाका अभिनन्दन

मुख्तार जुगलकिशोर द्वारा नवनिर्मित यह पूजा, जो कि पूजा साहित्यमें एक नई चीज है, जबसे पहली बार गत मई मासकी अनेकान्त किरण नम्बर १२ में सामान्य रूपसे प्रकाशित हुई है तभीसे इसको अच्छा अभिनन्दन प्राप्त हो रहा है। यही कारण है कि पुस्तकके रूपमें छपनेसे पहले ही इसकी प्रायः दो हजार प्रतियोंके ग्राहक दर्ज रजिस्टर हो गये थे, जिनमेंसे १५०० के लगभग प्रतियोंका श्रेय श्री जयवन्ती देवी और उसकी बुआ गुणमालादेवीको प्राप्त है, जिन्होंने कुछ स्त्रियोंके परिचयमें इस पूजाको लाकर उनसे इतनी प्रतियोंकी बिना मूल्य वितरणके लिये खरीदारीकी स्वीकृति प्राप्त की। अब तो कुछ संशोधनके साथ अच्छे सुन्दर आर्ट पेपर पर मोटे अक्षरोंमें पुस्तकाकार छप जाने और साथमें श्री गोम्मटेश्वर बाहुबली फोटोचित्र रहनेसे इसका आकर्षण और भी बढ़ गया है और इसलिये जो भी इसे देख सुन पाता है वही इसकी ओर आकर्षित हो जाता है। पं० श्रीकैलाशचन्दजी शास्त्री बनारसने तो प्रथम बार सुनकर ही कहा था कि यदि जैन पूजाओंको इस प्रकारके संस्कारोंसे संस्कारित कर दिया जाय तो कितना अच्छा हो।' अस्तु, अभिनन्दनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

१. आचार्य नमिसागरजीको 'यह पूजा अत्यन्त प्रिय लगी है।' और उन्होंने हिसारसे पं० सूर्यपालजीके पत्र द्वारा अपना आशीर्वाद भी भेजा है।

२. मुनि श्री समन्तभद्रजीने इसे साद्यन्त पढ़कर अपना भारी आनन्द व्यक्त करते हुए मुख्तारजीके लिये कुछ मंगल भावना भी भेजी है, जैसा कि बाहुबलि ब्रह्मचर्याश्रमके मन्त्रीकी ओरसे लिखे गये पत्रके निम्न अंशसे प्रकट है—

'वह पूज्य श्रीने आद्योपांत पढ़ी। आपका रचा हुआ सुन्दर सरस काव्य, भक्तिरससे भरा हुआ पढ़कर उनको बहुत आनंद हुआ। इस कवित्व शक्तिकी देन आपको प्रकृतिने प्रदान की है। ऐसे ही जिन भक्ति बढ़ानेके कार्यमें ही उसका अधिकाधिक विकास व उपयोग होता रहे यह मंगल भावना साथ भेजी है।'

३. 'पं० अमृतलालजी दर्शन—साहित्याचार्य बनारससे लिखते हैं—'यह पुस्तक लिखकर पूजा-साहित्यमें आपने एक नई चीज उपस्थित की, इसमें कोई सन्देह नहीं। पुस्तक बहुत ही सरस और सरल है। पुस्तक आरम्भ करने पर बन्द करनेकी इच्छा नहीं होती। यह पुस्तक प्रत्येक जैनको अपने संग्रहमें रखनी चाहिये। पुस्तककी छपाई सफाई बहुत ही सुन्दर है और =) (दो आने) मूल्य भी बहुत कम है। इसके लिये हम आपका अभिनन्दन करते हैं।'

४. सम्पादक 'जैन सन्देश' पुस्तककी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'निश्चय ही इस नये रूपमें पूजनको समाजके सामने रखनेमें माननीय मुख्तार साहबको बहुत सफलता मिली है। पाठकोंसे यह पुस्तक मंगाकर पढ़नेका और यह पूजन करनेका अनुरोध करेंगे।'

५. डा० श्रीचन्दजी जैन संगल एटा, जिन्होंने पहिले ही इस पूजाको पसन्द करके फ्री वितरणके लिये ५०० कापीका आर्डर दिया था, लिखते हैं कि—'पुस्तक बहुत अच्छी छपी है और सुन्दर है। अब आप महावीर स्वामीकी भी ऐसी एक पूजा बनाकर छपवाइये'

६. बा० प्रद्युम्नकुमारजी संगलने जब इस पूजाको पढ़ा तो उन्हें वह बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुई और इसलिये उन्होंने अपने इष्ट मित्रादिको वितरण करनेके लिये उसकी १०० कापी खरीदी परंतु इतनेसे ही उनकी तृप्ति नहीं हुई और इसलिये श्री महावीरजीकी यात्राको जाते हुए वे १०० कापी वितरणको ले गये और यात्रासे पार्टी सहित वापिसी पर लिखा कि—'श्री बाहुबलि जिन पूजाको नित्य हम लोग करते थे, उसमें मुझे सबसे अधिक आनन्द मिलता था। सौ प्रतियां इस पूजाकी हम लोगोंने मथुरा और महावीरजीमें बांट दी थीं। श्रीमहावीरजीकी पूजा आपकी कब पूरी होगी इसकी मुझे बहुत प्रतीक्षा है। प्रथम अंश उसका बहुत उत्तम लगा।'

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी 'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

श्री १०८ आचार्य श्री नमिसागरजी का दीक्षा महोत्सव ता० २० दिसम्बर रविवारके दिन डा० कालीदासजी नाग एम० ए० डी० लिट् मेम्बर कौंसिल आफ स्टेट की अध्यक्षतामें सानन्द संपन्न हुआ।

विषय-सूची

दीक्षा-समारोह

ता २० दिसम्बर शनिवारके दिन वीरसेवा मन्दिर के तत्त्वावधानमें आचार्य श्री १०८ नमिसागरजीका दीक्षा समारोह कलकत्ता विश्वविद्यालयके इतिहासज्ञ श्री डा० कालीदास जी नाग एम. ए. डी. लिट् मेम्बर कौन्सिल आफ स्टेटकी अध्यक्षता में अहिंसा मंदिर नं० १ दरियागंज देहली में सम्पन्न हुआ। देहलीकी स्थानीय जनता के अतिरिक्त हांसी, मेरठ, मवाना, रोहतक, पानीपत, आदि स्थानोंसे भी बहुत बड़ी संख्या में साधर्मीजन पधारे थे।

श्री मोहन लाल जी कठोतिया पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० दरबारीलाल जी न्या० सुकमालचन्द जी मेरठ, पं० शीलचन्द जी मवाना आदिने स्वयं उपस्थित होकर अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं। ला० राजकृष्ण-जी ने महाराज श्री के जीवनका व अध्यक्ष डा कालीदास-नागका परिचय कराया। पं० धर्मदेवजी जैतलीका भाषण अत्यन्त प्रभावक हुआ और उन्होंने बौद्धधर्म और वैदिकधर्मके साथ जैनधर्मकी तुलना करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला। अध्यक्ष महोदयने भी अपने भाषणमें जैनधर्मकी अहिंसाको विश्व-शान्तिका उपाय बतलाते हुए विश्वका प्रिय धर्म बतलाया। डाक्टर साहबने जनताका ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि इसी प्रसिद्ध स्थान पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने स्वतंत्रता दिलाई। और मैं आशा करता हूँ कि जैनधर्मके सिद्धांत व आचार्य श्री का उपदेश आत्म-स्वतंत्रताका प्रतीक होगा। आचार्य महाराजने भी अपने भाषणमें जैन संस्कृतिकी रक्षा और जैनइतिहासकी आवश्यकता पर प्रकाश डाला। और उन्होंने कहा कि सच्चा दीक्षा समारोह साहित्योद्धार से ही सार्थक हो सकता है।

जय कुमार जैन

पुरस्करणीय लेखोंकी समय वृद्धि

अनेकान्त वर्ष १२ किरण २ के पृष्ठ ४७ में प्रकाशित ४२५) रुपयेके दो नये पुरस्कार नामक विज्ञप्तिकी १५ वीं पंक्तिमें 'और' के आगे—'दूसरा लेख ६० पृष्ठों या दो हजार पंक्तियोंसे कमका नहीं होना चाहिये', ये वाक्य छपने से छूट गया था, जिसका अभी हालमें पता चला है। अतः विद्वान लेखक उक्त वाक्य छूटा हुआ समझ कर उसकी पूर्ति करते हुए तदनुकूल अपने निबन्धको लिखनेकी कृपा करें। इन निबन्धोंको भेजनेकी अन्तिम अवधि ३१ दिसम्बर तक रक्खी गई थी। किन्तु अब उसमें दो महीने की वृद्धि करदी गई है। अतः फरवरी सन् १९५४ के अन्त तक निबन्ध आ जाना चाहिये।

—प्रकाशक 'अनेकान्त'

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ७

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
मार्गशिर वीरनि० संवत २४८०, वि० संवत २०१०

दिसम्बर १९५३

* श्री साधु-स्तुति *

ज्ञानको उजागर सहज-सुख सागर,
सुगुन-रत्नाकर विराग-रस भरयो है।
सरनकी रीति हरै मरनको भै न करै,
करनसों पीठि दे चरन अनुसरयो है॥
धरमको मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वै के करमसों लरयो है।
ऐसो मुनिराज भुविलोकमें विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार करयो है॥

—बनारसीदास

तामिल-प्रदेशोंमें जैनधर्मावलम्बी

(श्री प्रो० एम० एस० रामस्वामी आयंगर, एम० ए०)

श्रीमत्परमगम्भीर। स्याद्वादामोघलाञ्छनम्।
जीयात्-त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

भारतीय सभ्यता अनेक प्रकारके तन्तुओंसे मिलकर बनी है। वैदिकोंकी गम्भीर और निर्भीक बुद्धि, जैनकी सर्व व्यापी मनुष्यता, बुद्धका ज्ञानप्रकाश, अरबके पैगम्बर (मुहम्मद साहब) का विकट धार्मिक जोश और संगठन-शक्तिका द्रविडोंकी व्यापारिक प्रतिभा और समयानुसार परिवर्तन शीलता, इनका सबका भारतीय जीवन पर अनुपम प्रभाव पड़ा है और आजतक भी भारतवर्षके विचारों, कार्यों और आकांक्षाओंपर उनका अदृश्य प्रभाव मौजूद है। नये नये राष्ट्रोंका उत्थान और पतन होता है, राजे महाराजे विजय प्राप्त करते हैं और पददलित होते हैं; राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलनों तथा संस्थाओंकी उन्नतिके दिन आते हैं और बीत जाते हैं। धार्मिक सम्प्रदायों और विधानोंकी कुछ कालतक अनुयायियोंके हृदयोंमें विस्फूर्ति रहती है। परन्तु इस सतत परिवर्तनकी क्रियाके अन्तर्गत कतिपय चिरस्थायी लक्षण विद्यमान हैं, जो हमारे और हमारी सन्तानोंकी सर्वदाके लिए पैतृक-सम्पत्ति हैं। प्रस्तुत लेखमें एक ऐसी जातिके इतिहासको एकत्र करनेका प्रयत्न किया जायेगा, जो अपने समयमें उच्चपद पर विराजमान थी, और इस बात पर भी विचार किया जायेगा कि उस जातिने महती दक्षिण भारतीय सभ्यताकी उन्नतिमें कितना भाग लिया है।

जैन धर्मकी दक्षिण यात्रा—

यह ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जासकता कि तामिल प्रदेशोंमें कब जैनधर्मका प्रचार प्रारम्भ हुआ। सुदूरसे दक्षिण-भारतमें जैन धर्मका इतिहास लिखनेके लिये यथेष्ट सामग्रीका अभाव है। परंतु दिगम्बरोंके दक्षिण जानेसे इस इतिहासका प्रारम्भ होता है। श्रवण बेलगोलाके शिलालेख अब प्रमाणकोटीमें परिगणित हो चुके हैं और १४वीं शतीमें देवचन्द्र विरचित 'राजावलिकथे' में वर्णित जैन-इतिहास-को अब इतिहासज्ञ विद्वान असत्य नहीं ठहराते। उपर्युक्त दोनों सूत्रोंसे यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध भद्रबाहु (श्रुत-केवली) ने यह देखकरकि उज्जैनमें बारहवर्षका एकभयंकर दुर्भिक्ष होने वाला है, अपने १२००० शिष्योंके साथ दक्षिणकी ओर प्रयाण किया। मार्गमें श्रुतकेवलीको ऐसा जान पड़ा कि उनका अन्तसमय निकट है और इसलिए उन्होंने कटवप्रु नामक देशके पहाड़ पर विश्राम करनेकी आज्ञा दी। यह देश जन, धन, सुवर्ण, अन्न, गाय, भैंस, बकरी, आदिसे सम्पन्न था। तब उन्होंने विशाख मुनिको उपदेश देकर अपने शिष्योंको उसे सौंप दिया और उन्हें चोल और पाण्ड्यदेशोंमें उसके आधीन भेजा 'राजावलि-कथे' में लिखा है कि विशाखमुनि तामिल प्रदेशोंमें गये, वहाँ पर जैन चैत्यालयोंमें उपासना की और वहांके निवासी जैनियोंको उपदेश दिया। इसका तात्पर्य यह है कि भद्रबाहुके मरण (अर्थात् २९७ ई० पू०) के पूर्वभी जैनी सुदूर दक्षिणमें विद्यमान थे। यद्यपि इस बातका उल्लेख 'राजावलिकथे' के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता और न कोई अन्य प्रमाणही इसके निर्णय करनेके लिये उपलब्ध होता है, परन्तु जब हम इस बातपर विचार करते हैं कि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदायमें विशेषतः उनके जन्म कालमें प्रचारका भाव बहुत प्रबल होता है, तो शायद यह अनुमान अनुचित न होगाकि जैनधर्मके पूर्वतर प्रचारक पार्श्वनाथके संघ दक्षिणकी ओर अवश्य गये होंगे। इसके अतिरिक्त जैनियोंके हृदयोंमें ऐसे एकांत वास करनेका भाव सर्वदासे चला आया है। जहाँ वे संसारके झंझटोंसे दूर प्रकृतिकी गोदमें परमानन्दकी प्राप्ति कर सकें। अतएव ऐसे स्थानों की खोजमें जैनीलोग अवश्य दक्षिणकी ओर निकल गये होंगे। मद्रास प्रांतमें जो अभी जैनमन्दिरों, गुफाओं और बस्तियोंके भग्नावशेष और ध्वस्स पाये जाते हैं वहीं उनके स्थान रहे होंगे। यह कहाजाता है कि किसी देशका साहित्य उसके निवासियोंके जीवन और व्यवहारोंका चित्र है। इसी सिद्धान्तके अनुसार तामिल-साहित्यकी ग्रन्थावलीसे हमें इस बातका पता लगता है कि जैनियोंने दक्षिण भारतकी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओंपर कितना प्रभाव डाला है।

साहित्य प्रमाण—

समस्त तामिल साहित्यको हम तीन युगोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) संघ काल ।

(२) शैवनयनार और वैष्णव अलवार काल ।

(३) अर्वाचीन काल ।

इन तीन युगोंमें रचित ग्रंथोंसे तामिल-देशमें जैनियोंके जीवन और कार्यका अच्छा पता लगता है ।

संघ-काल—

तामिल लेखकोंके अनुसार तीन संघ हुये हैं। प्रथम संघ, मध्यमसंघ, और अन्तिम संघ । वर्तमान ऐतिहासिक अनुसन्धानसे यह ज्ञात हो गया है किन किन समयोंके अन्तर्गत ये तीनों संघ हुए। अन्तिम संघके ४६ कवियोंमेंसे 'नक्किरार' ने संघोंका वर्णन किया है । उसके अनुसार प्रसिद्ध वैयाकरण तोलकपियर प्रथम और द्वितीय संघोंका सदस्य था । आन्तरिक और भाषा सम्बन्धी प्रमाणोंके आधार पर अनुमान किया जाता है कि उक्त ब्राह्मण वैयाकरण ईसासे ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान होगा। विद्वानोंने द्वितीय संघका काल ईसाकी दूसरी शती निश्चय किया है । अन्तिम संघके समयको आजकल इतिहासज्ञ लोग ५वीं, ६ठी शतीमें निश्चय करते हैं । इस प्रकार सब मतभेदोंपर ध्यान रखते हुए ईसाकी ५वीं शतीके पूर्वसे लेकर ईसाके अनन्तर ५वीं शती तकके कालको हम संघ-काल कह सकते हैं । अब हमें इस बात पर विचार करना है कि इस कालके रचित कौन ग्रन्थ जैनियोंके जीवन और कार्यों पर प्रकाश डालते हैं ।

सबसे प्रथम 'तोलकपियर' संघ-कालका आदि लेखक और वैयाकरण है । यदि उसके समयमें जैनीलोग कुछ भी प्रसिद्ध होते तो वह अवश्य उनका उल्लेख करता, परन्तु उसके ग्रंथोंमें जैनियोंका कोई वर्णन नहीं है । शायद उस समय तक जैनी उस देशमें स्थाई रूपसे न बसे होंगे अथवा उनका पूरा ज्ञान उसे न होगा । उसी कालमें रचे गये 'पत्तु पाट्टु' और 'पट्टुथोगाई' नामक काव्योंमें भी उनका वर्णन नहीं है, यद्यपि उपर्युक्त ग्रन्थोंमें ग्रामीण जीवनका वर्णन है ।

कुरल—

दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ महात्मा 'तिरुवल्लुवर' रचित कुरल है, जिसका रचना-काल ईसाकी प्रथम शती निश्चय हो चुका है । 'कुरल' के रचयिताके धार्मिक विचारों पर एक प्रसिद्ध सिद्धान्तका जन्म हुआ है । कतिपय विद्वानोंका मत है कि रचयिता जैन धर्मावलम्बी था । ग्रन्थकर्ताने ग्रंथारम्भमें किसीभी वैदिक देवकी वंदना नहीं की है बल्कि उसमें 'कमलगामी' और 'अष्ट गुण युक्त' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है । इन दोनों उल्लेखोंसे यह पता लगता है ग्रन्थ कर्ता जैन धर्मका अनुयायी था । जैनियोंके मतसे उक्त ग्रन्थ 'एल चरियार' नामक एक जैनाचार्यकी रचना है । और तामिल काव्य 'नीलकेशी' की जैनी भाष्यकार समयदिवाकर मुनि' 'कुरल' को अपना पूज्य ग्रन्थ कहता है । यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो इसका यही परिणाम निकलता है कि यदि पहले नहीं तो कमसे कम ईसाकी पहली शतीमें जैनी लोग सुदूर दक्षिणमें पहुँचे थे और वहाँकी देश भाषामें उन्होंने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ कर दिया था । इस प्रकार ईसाके अनन्तर प्रथम दो शतियोंमें तामिल प्रदेशोंमें एक नये मतका प्रचार हुआ, जो बाह्याडम्बरोंसे रहित और नैतिक सिद्धान्त होनेके कारण द्राविड़ियोंके लिये मनो मुग्धकारी हुआ । आगे चलकर इस धर्मने दक्षिण भारत पर बहुत प्रभाव डाला । देशी भाषाओंकी उन्नति करते हुए जैनियोंने दाक्षिणात्योंमें आर्य विचारों और आर्य-विद्याका अपूर्व प्रचार किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ी साहित्यने उत्तर भारतसे प्राप्त नवीन संदेशकी घोषणा की । मिस्टर फ्रेजरने अपने "भारतके साहित्यिक इतिहास" ("A literary History of India") नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'यह जैनियों ही के प्रयत्नोंका फल था कि दक्षिणमें नये आदर्शों नए साहित्य और नए भावोंका संचार हुआ ।' उस समयके द्राविड़ोंकी उपासनाके विधानों पर विचार करनेसे यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा कि जैनधर्मने उस देशमें जड़ कैसे जमाई । द्राविड़ोंने अनोखी सभ्यताकी उत्पत्तिकी थी।। स्वर्गीय श्री कनक सबाई पिल्लेके अनुसार, उनके धर्ममें बलिदान, भविष्यवाणी और आनन्दोत्पादक नृत्य प्रधान कार्य थे । जब ब्राह्मणोंके प्रथमदलने दक्षिणमें प्रवेश किया और मदुरा या अन्य नगरोंमें वास किया तो उन्होंने इन आचारोंका विरोध किया और अपनी वर्णव्यवस्था और संस्कारोंका उनमें प्रचार करना चाहा, परन्तु वहांके निवासियोंने इसका घोर विरोध किया । उस समय वर्णव्यव-

स्था पूर्णरूपसे परिपुष्ट और संगठित नहीं हो पाई थी। परन्तु जैनियोंकी उपासना, आदिके विधान ब्राह्मणोंकी अपेक्षा सीदे साधे ढंगके थे और उनके कतिपय सिद्धान्त सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट थे। इस लिये द्राविड़ोंने उन्हें पसंद किया और उनको अपने मध्यमें स्थान दिया यहाँ तक कि अपने धार्मिक जीवनमें उन्हें अत्यन्त आदर और विश्वासका स्थान प्रदान किया।

कुरलोत्तरकाल—

कुरलके अनन्तर युगमें प्रधानतः जैनियोंकी संरक्षतामें तामिल-साहित्य अपने विकासकी चरमसीमा तक पहुँचा। तामिल साहित्यकी उन्नतिका समय वह सर्वश्रेष्ठ काल था। वह जैनियोंकी भी विद्या तथा प्रतिभाका समय था, यद्यपि राजनैतिक-सामर्थ्यका समय अभी नहीं आया था। इसी समय (द्वितीय शती) चिर-स्मरणीय 'शिलप्पदिकारम्' नामक काव्यकी रचना हुई। इसका कर्त्ता चेर राजा सैंगुत्तवनका भाई 'इलंगोवदिगाल' था। इस ग्रन्थमें जैन सिद्धान्तों, उपदेशों और जैनसमाजके विद्यालयों और आचारों आदिका विस्तृत वर्णन है। इससे यह निःसन्देह सिद्ध है कि उस समय तक अनेक द्राविड़ोंने जैनधर्मको स्वीकार कर लिया था।

ईसाकी तीसरी और चौथी शतियोंमें तामिलदेशमें जैनधर्मकी दशा जाननेके लिये हमारे पास काफी सामग्री नहीं है। परन्तु इस बातके यथेष्ठ प्रमाण प्रस्तुत हैं कि ५वीं शतीके प्रारम्भमें जैनियोंने अपने धर्मप्रचारके लिये बड़ाही उत्साहपूर्ण कार्य किया।

'दिगम्बर दर्शन' (दर्शन सार) नामक एक जैन ग्रंथमें इस विषयका एक उपयोगी प्रमाण मिलता है। उक्त ग्रन्थ में लिखा है कि सम्वत् ५२६ विक्रमी (४७० ईसवी) में पूज्यपादके एक शिष्य वज्रनन्दी द्वारा दक्षिण मथुरामें एक द्रविड़-संघकी रचना हुई और यह भी लिखा है कि उक्त-संघ दिगम्बर जैनियोंका था जो दक्षिणमें अपना धर्मप्रचार करने आये थे।

यह निश्चय है कि पाण्ड्य राजाओंने उन्हें सब प्रकार से अपनाया। लगभग इसी समय प्रसिद्ध 'नलदियार' नामक ग्रन्थकी रचना हुई और ठीक इसी समयमें ब्राह्मणों और जैनियोंमें प्रतिस्पर्धाकी मात्रा उत्पन्न हुई।

इस प्रकार इस संघकालमें रचित ग्रन्थोंके आधार पर निम्नलिखित विवरण तामिल देश स्थित जैनियोंका मिलता है।

(१) थोलकापियरके समयमें जो ईसाके ३५० वर्ष पूर्व विद्यमान था, कदाचित् जैनी सुदूर दक्षिण देशोंमें न पहुँच पाये हों।

(२) जैनियोंने सुदूर दक्षिणमें ईसाके अनन्तर प्रथम शतीमें प्रवेश किया हो।

(३) ईसाकी दूसरी और तीसरी शतियोंमें, जिसे तामिल-साहित्यका सर्वोत्तमकाल कहते हैं, जैनियोंने भी अनुपम उन्नति की थी।

(४) ईसाकी पाँचवीं और छटीं शतियोंमें जैन धर्म इतना उन्नत और प्रभावयुक्त हो चुका था कि वह पाण्ड्य-राज्यका राजधर्म हो गया था।

शैव-नयनार और वैष्णव-अलवार काल—

इस कालमें वैदिकधर्मकी विशिष्ट उन्नति होनेके कारण बौद्ध और जैनधर्मोंका आसन डगमगा गया था। सम्भव है कि जैनधर्मके सिद्धान्तोंका द्राविड़ी विचारोंके साथ मिश्रण होनेसे एक ऐसा विचित्र दुरंगा मत बन गया हो जिसपर चतुर ब्राह्मण आचार्योंने अपनी बाण-वर्षा की होगी। कट्टर अजैन राजाओंके आदेशानुसार, सम्भव है राजकर्मचारियोंने धार्मिक अत्याचार भी किये हों।

किसी मतका प्रचार और उसकी उन्नति विशेषतः शासकोंकी सहायता पर निर्भर है। जब उनकी सहायताका द्वार बन्द हो जाता है तो अनेक पुरुष उस मतसे अपना सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। पल्लव और पाण्ड्य-सम्राज्योंमें जैनधर्मकी भी ठीक यही दशा हुई थी।

इस काल (५वीं शतीके उपरान्त) के जैनियोंका वृत्तांत सेक्किलार नामक लेखकके ग्रन्थ 'पेरिय पुराणम्' में मिलता है। उक्त पुस्तकमें शैवनयनार और सुन्दारनम्बीके जीवनका वर्णन है, जिन्होंने शैव गान और स्तोत्रोंकी रचना की है।

तिरुज्ञान—संभाण्डकी जीवनी पढ़ते हुए एक उपयोगी ऐतिहासिक बात ज्ञात होती है कि उसने जैनधर्मावलम्बी कुन् पाण्डको शैवमतानुयायी किया। यह बात ध्यान देने योग्य है। क्योंकि इस घटनाके अनन्तर पाण्ड्य नृपति जैनधर्मके अनुयायी नहीं रहे। इसके अतिरिक्त जैनीलोगोंके प्रति ऐसी निष्ठुरता और निर्दयताका व्यवहार

किया गया, जैसा कि दक्षिण भारतके इतिहासमें और कभी नहीं हुआ। सम्भाण्डके घृणाजनक भजनोंसे, जिनके प्रत्येक दशवें पद्यमें जैनधर्मकी भर्त्सना थी, यह स्पष्ट हो जाता है कि वैमनस्यकी मात्रा कितनी बढ़ी हुई थी।

अतएव कुन-पाण्ड्यका समय ऐतिहासिक दृष्टिसे ध्यान रखने योग्य है, क्योंकि उसी समयसे दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी अवनति प्रारम्भ होती है। मि० टेलरके अनुसार कुन-पाण्ड्यका समय १३२० ईस्वीके लगभग है, परन्तु डा० काल्डवेल १२९२ ईसवी बताते हैं। परन्तु शिलालेखोंसे इस प्रश्नका निश्चय हो गया है। स्वर्गीय श्री वेंकटैयाने यह अनुसन्धान किया था कि सन् ६२४ ई० में पल्लवराज नरसिंह वर्मा प्रथमने 'वातापी' का विनाश किया इसके आधार पर तिरुज्ञान संभाण्डका समय ७ वीं शतीके मध्यमें निश्चित किया जा सकता है। क्योंकि संभाण्ड एक दूसरे जैनाचार्य तिरुनवुक्करसार' अथवा लोक प्रसिद्ध अय्यारका समकालीन था परन्तु संभाण्ड 'अय्यर' से कुछ छोटा था। और अय्यरने नरसिंहवर्माके पुत्रका जैनीसे शैव बनाया था। स्वयं अय्यर पहले जैनधर्मकी शरणमें आया था और उसने अपने जीवनका पूर्वभाग प्रसिद्ध जैनविद्याके तिरुप्पादिरिप्पुलियारके विहारोंमें व्यतीत किया था इस प्रकार प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य संभाण्ड और अय्यारके प्रयत्नोंसे, जिन्होंने कुछ समय पश्चात्— अपने स्वामी तिलकवर्धकी प्रसन्न करनेके हेतु शैवमतकी दीक्षा ले ली थी पाण्ड्य और पल्लव राज्योंमें जैनधर्मकी उन्नतिको बड़ा धक्का पहुँचा। इस धार्मिक संग्राममें शैवोंको वैष्णव अलवारोंसे विशेषकर 'तिरुमलिसैप्पिरन'—और 'तिरुमंगई' अलवारसे बहुत सहायता मिली जिनके भजनों और गीतोंमें जैनमत पर घोर कटाक्ष हैं। इस प्रकार तामिल देशोंमें नम्मलवारके समय (१० वीं शती-ई०) जैनधर्मका अस्तित्व सङ्कटमय रहा।

अर्वाचीन काल—

नम्मलवारके अनन्तर हिन्दू-धर्मके उन्नायक प्रसिद्ध आचार्योंका समय है। सबसे प्रथम शंकराचार्य हुए जिनका उत्तरकी ओर ध्यान गया। इससे यह प्रगट है कि दक्षिण-भारतमें उनके समय तक जैनधर्मकी पूर्ण अवनति हो चुकी थी। तथा जब उन्हें कष्ट मिला तो वे प्रसिद्ध जैनस्थानों श्रवणबेलगोल (मैसूर) टिण्डिवनम्— (दक्षिण अरकाट) आदिमें जा बसे। कुछने गंग राजाओंकी शरण ली, जिन्होंने उनका रक्षण तथा पालन किया यद्यपि अब जैनियोंका राजनैतिक प्रभाव नहीं रहा, और उन्हें सब ओरसे पल्लव पाण्ड्य और चोल राज्यवाले तंग करते थे, तथापि विद्यामें उनकी प्रभुता न्यून नहीं हुई। 'चिन्तामणि' नामक प्रसिद्ध महाकाव्यकी रचना तिरुत्तक्केदेवर द्वारा नवीं शतीमें हुई थी। प्रसिद्ध तामिल-वैयाकरण पविनन्दिजैनने अपने नन्नूल' की रचना १२२५ ई० में की। इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे पता लगता है कि जैनी लोग विशेषतः मैलापुर, निडुम्बई (?) थिपंगुदी (तिरुवलूरके निकट एक ग्राम) और टिण्डीवनम्में निवास करते थे

अन्तिम आचार्य श्री माधवाचार्यके जीवनकालमें मुसलमानोंने दक्षिण पर विजय प्राप्त की, जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिणमें साहित्यिक, मानसिक और धार्मिक उन्नतिको बड़ा धक्का पहुँचा और मूर्तिविध्वंसकोंके अत्याचारोंमें अन्य मतावलम्बियोंके साथ जैनियोंको भी कष्ट मिला। उस समय जैनियोंकी दशाका वर्णन करते हुये श्रीयुत बार्थ सा० लिखते हैं कि 'मुसलमान साम्राज्य तक जैनमतका कुछ कुछ प्रचार रहा। किन्तु मुसलिम साम्राज्यका प्रभाव यह पड़ा कि हिन्दू-धर्मका प्रचार रुक गया, और यद्यपि उसके कारण समस्त राष्ट्रकी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक अवस्था अस्तव्यस्त हो गयी। तथापि साधारण अल्प संस्थाओं, समाजों और मतोंकी रक्षा हुई।

दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी उन्नति और अवनतिके इस साधारण वर्णनका यह उद्देश सुदूर दक्षिण भारतमें प्रसिद्ध जैनधर्मके इतिहासका वर्णन नहीं है। ऐसे इतिहास लिखनेके लिए यथेष्ट सामग्रीका अभाव है। उत्तरकी भांति दक्षिण भारतके भी साहित्यमें राजनैतिक इतिहासका बहुत कम उल्लेख है।

हमें जो कुछ ज्ञान उस समयके जैन इतिहासका है वह अधिकतर पुरातत्ववेत्ताओं और यात्रियोंके लेखोंसे प्राप्त हुआ है, जो प्रायः यूरोपियन हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थोंसे भी जैन इतिहासका कुछ पता लगता है, परन्तु वे जैनियोंका वर्णन सम्भवतः पक्षपातके साथ करते हैं।

इस लेखका यह उद्देश नहीं है कि जैन समाजके आचार विचारों और प्रथाओंका वर्णन किया जाय और न एक लेखमें जैन गृह-शिल्प-कला, आदिका ही वर्णन हो

सकता है परन्तु इस लेखमें इस प्रश्न पर विचार करनेका प्रयत्न किया गया है कि जैन धर्मके चिर सम्पर्कसे हिन्दू समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है।

जैनी लोग बड़े विद्वान और ग्रंथोंके रचयिता थे। वे साहित्य और कलाके प्रेमी थे। जैनियोंकी तामिल-सेवा तामिल देश वासियोंके लिये अमूल्य है। तामिल-भाषामें संस्कृतके शब्दोंका उपयोग पहले पहल सबसे अधिक जैनियोंने ही किया। उन्होंने संस्कृत शब्दोंको तामिल भाषामें उच्चारणकी सुगमताकी दृष्टिसे यथेष्ट रूपमें बदल डाला। कन्नड साहित्यकी उन्नतिमें जैनियोंका उत्तम योग है। वास्तवमें वे ही इसके जन्मदाता थे। 'बारहवीं शतीके मध्य तक उसमें जैनियों हीकी संपत्ति थी और उसके अनंतर बहुत समय तक जैनियों ही की प्रधानता रही। सबं प्राचीन और बहुतसे प्रसिद्ध कन्नड ग्रन्थ जैनियोंही के रचे हैं। (लुइस राइस) श्रीमान् पादरी एफ-किटेल कहते हैं कि जैनियोंने केवल धार्मिक भावनाओंसे नहीं किन्तु साहित्य-प्रेमके विचारसे भी कन्नड भाषाकी बहुत सेवा की है और उक्त भाषामें अनेक संस्कृत शब्दोंका अनुवाद किया है।

अहिंसाके उच्च आदर्शोंका वैदिक संस्कारों पर प्रभाव पड़ा है जैन उपदेशोंके कारण ब्राह्मणोंने जीव-बलि-प्रदानको बिल्कुल बन्द कर दिया और यज्ञोंमें जीवित पशुओंके स्थानमें आटेकी बनी मूर्तियाँ काममें लायी जाने लगीं।

दक्षिण भारतमें मूर्तिपूजा और देवमन्दिर-निर्माणकी प्रचुरताका भी कारण जैन धर्मका प्रभाव है। शैव-मंदिरोंमें महात्माओंकी पूजाका विधान जैनियों ही का अनुकरण है। द्राविड़ोंकी नैतिक एवं मानसिक उन्नतिका मुख्य कार्य पाठशालाओंका स्थापन था, जिनका उद्देश्य जैन विद्यालयोंके प्रचारक मण्डलोंको रोकना था।

उपसंहार—

मद्रास प्रान्तमें जैन समाजकी वर्तमान दशा पर भी एक दो शब्द कहना उचित होगा। गत मनुष्य-गणनाके अनुसार सब मिलाकर २७००० जैनी इस प्रान्तमें थे, जिनमेंसे दक्षिण कनारा, उत्तर और दक्षिण कर्नाटकके जिलोंमें २३००० हैं। इनमेंसे अधिकतर इधर-उधर फैले हुए हैं और गरीब किसान और अशिक्षित हैं। उन्हें अपने पूर्वजोंके अनुपम इतिहासका तनिकभी बोध नहीं है। उनके उत्तर भारत वाले भाई जो आदिम जैनधर्मके अवशिष्ट चिन्ह हैं उनसे अपेक्षा कृत अच्छा जीवन व्यतीत करते हैं उनमेंसे अधिकांश धनवान् व्यापारी और महाजन हैं। दक्षिण भारतमें जैनियोंकी विनष्ट प्रतिमाएं, परित्यक्त गुफाएं और भग्न मन्दिर इस बातके स्मारक हैं कि प्राचीन कालमें जैनसमाजका वहां कितना विशाल विस्तार था और किस प्रकार ब्राह्मणोंकी स्पर्धाने उनको मृत प्राय कर दिया। जैन समाज विस्मृतिके अंचलमें लुप्त हो गया, उसके सिद्धान्तों पर गहरी चोट लगी, परंतु दक्षिणमें जैन-धर्म और वैदिकधर्मके मध्य जो कराल संग्राम और रक्त-पात हुआ वह मथुरामें मीनाक्षी मंदिरके स्वर्ण कुमुद सरोवरके मण्डपकी दीवारों पर अङ्कित है तथा चित्रोंके देखनेसे अबभी स्मरण हो आता है।

इन चित्रोंमें जैनियोंके विकराल-शत्रु तिरुज्ञान संभाण्ड के द्वारा जैनियोंके प्रति अत्याचारों और रोमांचकारी यातनाओंका चित्रण है। इस रौद्र काण्डका यहीं अंत नहीं है। मदुयूरा मंदिरके बारह वार्षिक त्यौहारोंमेंसे पांचमें यह हृदय विदारक दृश्य प्रतिवर्ष दिखलाया जाता है। यह सोचकर शोक होता है कि एकांत और जनशून्य स्थानोंमें कतिपय जैन महात्माओं और जैनधर्मकी वेदियों पर बलिदान हुए महापुरुषोंकी मूर्तियां और जन श्रुतियोंके अतिरिक्त दक्षिण भारतमें अब जैनमतावलम्बियोंके उच्च उद्देश्यों, सर्वाङ्ग-व्यापी उत्साही और राजनैतिक प्रभावके प्रमाण स्वरूप कोई अन्य चिन्ह विद्यमान नहीं है।

(वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ से)

संशोधन

मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की अनुपस्थितिमें उनका "समयसारकी' १५वीं गाथा श्रीकानजी स्वामी" नामक लेख गत किरणमें प्रेसादिकी असावधानीके कारण कुछ अशुद्ध छप गया है 'जिसका भारी खेद है'। अतः विराम चिन्हों, हाइफनों तथा बिन्दु विसर्गादिकी ऐसी साधारण अशुद्धियोंको छोड़कर जिन्हें पाठक सहजमें अवगत कर सकते हैं। दूसरी कुछ अशुद्धियोंका संशोधन नीचे दिया जाता है। पाठकजन अपनी-अपनी 'अनेकान्त' प्रतियोंमे उन्हें ठीक कर लेनेकी कृपा करें। साथ ही, पृष्ठ १८४के अन्तमें 'शेष पृष्ठ २०१ पर' और पृष्ठ २०१के प्रारम्भमें 'पृष्ठ १८४ से आगे' ऐसा ब्रकिटके भीतर बना लेवें :—

पृष्ठ,	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७८,	३१	क्रभंग	क्रमभंग
१७९	३५	क्रमसे	क्रमसे कम
१८०	२५	असत्य	असह्य
१८१	३३	कल्पना भी	कल्पना थी)
१८३	२८	१०१	१४१
१८३	३६	१७०	१६१
१८३	३७	जिणवरेहिं	जिणवरेहिं ११८
,, का. २,	१	जीवद्	जीवंद्र
,, ,,	२३	जिसके	जिनके
,, ,,	२४,२५	सम्बन्ध	सम्बद्ध
१८४	४	भवओ	भगवओ
,,	६	है	रहा है
,,	१३	साथ रहा	साथ
,,	१६	समयका	संयमका
,,	२८	परिशिष्टमें	परिशिष्टों
,,	३३	अन्तः	अन्त
,, का.२,	२	न्यायके	न्यायको
,, ,,	१८	जकि	जबकि
,, ,,	१६	निश्चय	निश्चयनय
२०१	१	अनुवयण्णा	अनुप्पयण्णा
,,	४	पाडक्क	पाडिक्क
,,	६	विशेष	(विशेष)
,,	१४	ध्रौव्यमें	ध्रौव्य ये
,,	१६	रहते हैं	रहते हैं, अलग अलग रूपमें ये द्रव्य (सत्-' के कोई लक्षण नहीं होते और इसलिये दोनों मूलनय
,, का० २,	७	बोधको	विरोधको
,, ,,	२१	अद्वितीय है	अद्वितीय है—
,, ,,	२६,२७	अकम्पित पूर्व प्रतिष्ठित	(अकम्पित पूर्व प्रतिष्ठित)
,,	३८	मोक्ष	(मोक्ष-
२१०	१	वाली	वाला
,,	२	शासन रूढ	शासनारूढ
,,	२४	अवस्थामें	अवस्था
२१०.का०२,	१८	पांच	जो पांच

इसी तरह श्रीकानजी स्वामीके 'जिनशासन नामक' प्रवचन लेखके छपनेमें भी कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं जिनमें से बिन्दु विसर्गादिकी वैसी साधारण अशुद्धियोंको भी छोड़ कर शेष अशुद्धियोंका संशोधन नीचे दिया जाता है। उन अशुद्धियोंको भी पाठक अपनी अपनी प्रतियोंमें ठीक कर लेनेकी कृपा करें :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२११	२१,३३	जिनशासन	जैनशासन
" का० २,	१४	जिनशासन हो	जैनशासन हो
" "	१८	जैनधर्म !	जैनधर्म है
" "	२०	विज्ञावधर्म	विज्ञानघन
" "	३०	विकारको	विकारकी
" "	"	प्रभावतामें	प्रधानतामें वीतरागता
२१२ का०२,	३	करता	कराता
" "	७	निमित्त	निमित्तसे
" "	११	उसीमे	उसीमें जैन शासनको देखा है और वही

—प्रकाशक

अतिशय क्षेत्र हलेविड के
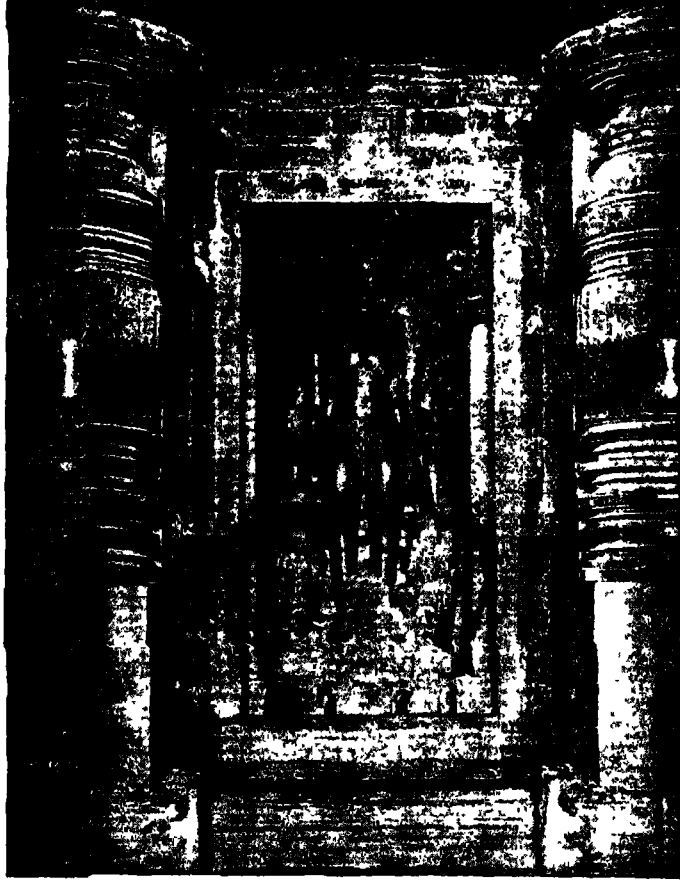
श्रीपार्श्वनाथजिन

इस मन्दिरमें कसौटीके बहुमूल्य खम्भे लगे हुए हैं। यह मन्दिर बड़ा ही सुन्दर बना हुआ है। इसका विशेष परिचय हमारी तीर्थ यात्राके संस्मरण नामक लेखमें दिया जावेगा।

हिन्दी जैन-साहित्यमें तत्वज्ञान

(लेखिका—कुमारी किरणबाला जैन)

प्रत्येक प्राणीके शरीरके साथ आत्मा नामकी नित्य वस्तुका सम्बन्ध है। परन्तु फिर भी आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। आत्मा अनन्त गुणोंका पुंज है, प्रकाशमान है, तथा चैतन्य ज्योतिर्मय है, अविनाशी है और अजर, अमर है शरीर अचेतन एवं जड़ पदार्थ है। नाशवान है और वह पौद्गलिक कर्म-परमाणुओंसे निर्मित हुआ है। गलना और पूर्ण होजाना इसका स्वभाव है।

विश्वमें जो सुख-दुख, सम्पत्ति-विपत्ति आदि अवस्थायें आती हैं उनका कारण कर्म है। शुभकर्मोंका फल शुभ और अशुभकर्मोंका परिणाम अशुभ होता है। जीवात्मा जैसे-जैसे कर्म करता है उसका वैसा-वैसा ही फल भुगतना पड़ता है। जीवात्माके साथ कर्म-पुद्गलोंका सम्बन्ध अनादिकालसे है। जीव-प्रदेशोंके साथ कर्म-प्रदेशोंका एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है। यह कर्मबन्ध ही सुख-दुख रूप परम्पराका जनक है। बन्धन ही परतन्त्रता है। और परतन्त्र या पराधीन होना ही दुःख है। आज विश्वमें हम जो कुछ भी परिवर्तन या सुख दुखादि रूप अवस्थाओंको देखते हैं, या उन विविध अवस्थाओंमें समुत्पन्न जीवोंको उन दुःखपूर्ण अवस्थाओंका अवलोकन करते हैं। तब हमें यह स्पष्ट अनुभवमें आता है कि यह संसारके सभी प्राणी स्वकीयोपार्जित कर्मबन्धनसे ही परतन्त्र होकर दुखके पात्र बने हैं।

विश्वमें अनन्त कर्म-परमाणु भरे हुए हैं। जब आत्माकी सकषाय मय मन-वचन-काय रूप योग प्रवृत्तियोंसे आत्मप्रदेश सकम्प एवं चंचल होते हैं तब आत्मा अपनी सराग परिणतिसे कर्मबन्ध करता है यह कर्मबन्ध नवीन नहीं हुआ किन्तु अनादिकालसे है। जिस तरह खानसे निकले हुए सुवर्ण पाषाणमें सोना किसीने आजतक नहीं रक्खा, किन्तु जबसे खानमें पाषाण है तभीसे उसमें सोना भी विद्यमान है। इससे सुवर्ण पाषाणकी अनादिता स्वयं सिद्ध है। इसी तरह आत्मा और कर्म जुदे-जुदे थे, बादमें किसीने प्रयत्न करके इन्हें मिलाया नहीं, किन्तु अनादिसे जीवात्माके साथ कर्मका सम्बन्ध बन रहा है। बन्धन युक्त कर्म-परमाणुओंमेंसे प्रति समय कर्मवर्गणाओंकी निर्जरा होती रहती है अर्थात् पुराने कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं और नवीन कर्म रागादि भावोंके कारण बन्धनरूप होते हैं।

जैन दर्शनमें जो कर्म सूक्ष्म शरीरमें बँधते हैं उनके मूल आठ भेद बताये गये हैं—१. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अन्तराय।

ज्ञानावरणीय कर्म—ज्ञान आत्माका निजगुण है। आत्मा और ज्ञानका अभेद सम्बन्ध है। ज्ञानावरणीयकर्म आत्माके ज्ञानगुणको मन्द करता है उसे आच्छादित या विकृत बनाता है। इस कर्मके क्षयोपशमसे मानवमें ज्ञानका क्रमिक विकास हीनाधिक रूपमें होता रहता है। जीवात्मामें ज्ञानशक्तिका जो तरतम रूप देखनेमें आता है वह सब उसके क्षयोपशमका ही फल है। इस कर्मके क्षयोपशममें ज्यों-ज्यों निर्मलता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों ज्ञानका विकास भी निर्मल रूपमें होता रहता है और जब उस आवरण कर्मका सर्वथा अभाव या क्षय हो जाता है तब आत्मा पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। और उस ज्ञानको अनन्तज्ञान या केवलज्ञान कहा जाता है। इस कर्मसे मुक्त होने पर आत्मा अनन्त ज्ञानसे युक्त होता है।

दर्शनावरणीयकर्म—दर्शन भी आत्माका गुण है। दर्शनगुणका आच्छादन करनेवाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। इस कर्मका उदय आत्मदर्शनमें रुकावट डालता है, अथवा दर्शन नहीं होने देता, जैसे ड्योढ़ी पर बैठा हुआ दरवान राजाके दर्शन नहीं करने देता। इसी कर्मके सर्वथा अभावसे आत्मा अनन्त दर्शनका पात्र बनता है।

वेदनीयकर्म—जो सुख-दुखकी सामग्री मिलाकर सुख-दुख रूप फलके भोगनेमें अथवा वेदन (अनुभव) में निमित्त होता है। अनुकूल सामग्रीकी प्राप्तिसे सुख और प्रतिकूल सामग्रीकी प्राप्तिसे दुख होता है।

मोहनीयकर्म—यह कर्म श्रद्धा और चारित्र गुणका घातक है। यह जीवको मदिराके समान उन्मत्त करता अथवा भ्रममें

डालता है। राग, द्वेष क्रोध और मानादि विभाव उत्पन्न करता है। शान्त भाव व सच्चे विश्वाससे भ्रष्ट करता है। मोह आत्माका प्रबल शत्रु है। परपदार्थोंमें ममताका होना मोह है। इसका जीतना सहज नहीं है। जो इसे जीत लेता है वही संसारमें महान एवं पूज्य बनता है।

आयुकर्म—य कर्म जीवोंको शरीरके अन्दर रोक कर रखता है। जैसे अवधि समाप्त होने तक बन्दीको कारागृहमें रक्खा जाता है और अवधि समाप्त होनेके पश्चात् उसे मुक्त कर दिया जाता है।

नामकर्म—यह कर्म जीवोंके शरीरकी चित्रकारकी तरह अनेक तरहकी अच्छी बुरी रचना करता है। और आत्माके अमूर्तत्व गुणका घात करता है।

गोत्रकर्म—यह कर्म आत्माका माननीय व निन्दनीय कुलमें जन्म कराता है, तथा उसके प्रभावसे हम जगतमें ऊँच व नीच कहे जाते हैं। वास्तवमें हमारा अच्छा बुरा आचरण ही ऊँचता नीचताका कारण है। हम अपने भावोंसे जैसा आचरण करेंगे, उसीके परिपाक स्वरूप ऊँचा नीचा कुल प्राप्त करते हैं।

अन्तरायकर्म—चाहे हुए किसी भी कार्यमें विघ्न उपस्थित हो जाता है, इस कर्मके उदयसे हमारे कामोंमें—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य आदि कार्योंमें—बाधा पहुँचाता है। इसके उदयसे जीवात्मा अपने अभिलषित कार्योंको समय पर करनेमें समर्थ नहीं होता है। इन कर्मोंके द्वारा आत्मा सदा परतन्त्र और बंधनमें युक्त रहता है। और इन कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है-परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। और अनन्तकाल तक वह अपने आत्मीक सुखमें मग्न रहता है और वहांसे कभी भी फिर वापिस नहीं आता। कविवर द्यानतरायजीने अष्ट कर्मोंके स्वरूपका कथन करते हुए उनके रहस्यको आठ दृष्टान्तों द्वारा व्यक्त किया है—

देवपै परयो है पट रूपको न ज्ञान होय
जैसैं दरबान भूप देखनो निवारै है।
शहद लपेटी असि धारा सुख दुक्खकार,
मदिरा ज्यों जीवनको मोहनी विथारै है॥
काठमें दियो है पांव करे थिति को सुभाव;
चित्रकार नाना भांति चीतके सम्हारै है॥
चक्री ऊँच नीच घरें, भूप दियो मने करै,
एई आठ कर्म हरै सोई हमें तारे है॥

यह कर्मबन्ध चार भेदोंमे विभक्त है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभागबन्ध। क्योंकि इन चारों भेदोंका मूल कारण कषाय और योग है। प्रकृति और प्रदेश रूप भागोंका निर्माण योग प्रवृत्तिसे होता है और स्थिति तथा अनुभाग रूप अंशोंका निर्माण कषायसे होता है। प्रकृतिबन्ध—कर्म पुद्गलोंमें ज्ञानको आवृत करने अथवा ढकने, दर्शनको रोकने, सुख दुखका वेदन कराने,आत्मस्वभावको विपरीत एवं अज्ञानी बनाने आदिका जो स्वभाव बनता है वह सब प्रकृतिसे निष्पन्न होनेके कारण प्रकृतिबन्ध कहलाता है। स्थितिबन्ध—बनने वाले उस स्वाभावमें अमुक समय तक विनष्ट न होनेकी जो मर्यादा पुद्गल परमाणुओंमें उत्पन्न होती है उसे कालकी मर्यादा अथवा स्थितिबन्ध कहा जाता है। अनुभावबन्ध—जिस समय उन पुद्गल परमाणुओंमें उक्त स्वभाव निर्माण होता है उसके साथ ही उनमें हीनाधिक रूपमें फल दान देनेकी विशेषताओंका भी बन्ध होता है उनका होना ही अनुभागबन्ध कहलाता है। प्रदेशबंध—कर्मरूप ग्रहण किये गये पुद्गल परमाणुओंमें भिन्न भिन्न नाना स्वभाव रूप परिणत होने वाली उस कर्मराशिका अपने अपने स्वभावानुसार अमुक अमुक परिमाणमें अथवा प्रदेश रूपमें बँट जाना प्रदेशबन्ध कहलाता है।

कर्मोंकी इन आठमूल प्रकृतियोंको दो भागों अथवा भेदोंमें बांटा जाता है—१. घातिया २. अघातिया। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय, और अन्तराय कर्मोंको घातियाकर्म कहते हैं, क्योंकि ये चारों ही कर्म आत्माके निज स्वभावको बिगाड़ते हैं—उसे प्रगट नहीं होने देते। वेदनीय, नाम, गोत्र, और आयु इन चार कर्मोंको अघातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीवके निज स्वभावको घातियाकी तरह बिगाड़ते तो नहीं हैं किन्तु उनमें विकृति होनेके बाह्य साधनोंको मिलानेमें निमित्त होते हैं। इन अष्टकर्मोंमें मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रबल है और आत्माका शत्रु है। इसके द्वारा अन्य घातिया कर्मोंमें शक्तिका संचार होता है। इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर विशेष रूपसे प्रवृत्त होती हैं। यह जीव इन विषयोंसे निरत रह कर भ्रमवश दुखको भी सुख मानता है। कविवर बनारसी-

दासजीने अपने नाटक समयसारमें ऐसे व्यक्तिकी अवस्था-का वर्णन करते हुए कहा है—

'जैसें कांउ कूकर छुधित सूके हाड चावै,
हाडनिकी कोर चहुँ ओर चुभै मुखमें।
गाल तालु रसना मसूढनिको मांस फाटै,
चाटै निज रूधिर मगन स्वाद-सुखमें।
तैसें मूढ विषयी पुरुष रति रीति ठानै,
तामैं चित्त सानें हित मानै खेद दुःखमें।
देखे परतच्छ बल-हानि मल-मूत खानि,
गहे न गिलानि रहे राग रंग रुखमें ॥३०॥

पंडित दीपचन्दजी शाहने भी अपने 'अनुभवप्रकाश' में ऐसे व्यक्तिके लिये इसीसे समता रखते हुए भाव प्रकट किये हैं:—

"जैसे स्वान हाडको चावै, अपने गाल, तालु मसूडेका रक्त उतरें, ताकौं जानै भला स्वाद है। ऐसें मूढ आप दुःखमें सुख कल्पै है। परफंदमें सुखकन्द सुखमानै। अग्निकी झाल शरीरमें लागै, तब कहै हमारी ज्योतिका प्रवेश होय है। जो कोई अग्नि झालकूं बुझावे तासों लरै। ऐसें परमैं दुःख संयोग, परका बुझावै, तासौं शत्रुकी सी दृष्टि देखै। कोप करै। इस पर-जोगमें भोगु मानि भूल्या, भावना स्वरसकी याद न करै। चौरासीमें परवस्तु-कौं आपा मानै, तातैं चोर चिरकालका भया। जन्मादि दुख-दण्ड पाये तोहू, चोरी परवस्तुकी न छूटै है। देखो! देखा भूलि तिहूँ लोकका नाथ नीच परकै आधीन भया। अपनी भूलितैं अपनी निधि न पिछानैं। भिखारी भया डाले है निधि चेतना है सो आप है। दूरि नाहीं, देखना दुर्लभ है। देखैं सुलभ है* ॥४०, ४१॥

'मोक्षमार्गप्रकाशमें' पण्डित टोडरमल्लजीने मोहसे उत्पन्न दुःखका निम्नलिखित रूपसे वर्णन किया है—

'बहुरि मोहका उदय है सो दुःख रूप ही है। कैसैं सो कहिये है:—

'प्रथम तो दर्शनमोहके उदयतैं मिथ्यादर्शन हो है ताकरि जैसें याके श्रद्धान है तैसैं तो पदार्थ है नाहीं जैसें पदार्थ है तैसैं यह मानै नाहीं, तातैं याके आकुलता ही रहे। जैसें बाउलाको काहूने वस्त्र पहिराया, वह बाउला तिस वस्त्रको अपना अंग जानि आपकूं अर शरीरकों एक मानै। वह वस्त्र पहिरावने वालेके आधीन है, सो वह कबहूँ फारै, कबहूँ जोडे, कबहूँ खोसे, कबहूँ नया पहिरावे इत्यादि चरित्र करे। वह बाउला तिसकों अपने आधीन मानै वाकी पराधीन क्रिया होइ तातैं महा खेद खिन्न होय तैसैं इस जीवकों कर्मोदयतैं शरीर सम्बन्ध कराया। यह जीव तिस शरीरकों एक मानै, सो शरीर कर्मके आधीन, कबहूँ कृश होय कबहूँ स्थूल होय, कबहूँ नष्ट होय, कबहूँ नवीन निपजै इत्यादि चरित्र होय। यह जीव तिसकों अपने आधीन जानै वाकी पराधीन क्रिया होय तातैं महा खेद खिन्न होय है ×।'

इस मोहके फन्देमें फँसा हुआ अभागा जीव अपने भविष्यका कुछ भी ध्यान न रख इन्द्रियोंके आदेशानुसार प्रवर्तन करता है:—

'कायासे विचारि प्रीति मायाहीमें हार जीत
लियें हठ, रीति जैसें हारिलकी लकरी।
चंगुलके जोरि जैसें गोह गहि रहे भूमि,
त्यों ही पाँय गाडे पै न छांडे टेक पकरी॥
मोहकी मरोरसों भरमको न ठौर पावै,
धावै चहुँ ओर ज्यों बढावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि झूठके झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जंजीरनसों जकरी ॥२७॥ १

विशेषतः बंधके पांच कारण हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय, तथा ५. योग।

मिथ्यात्व—अपनी आत्माका और उससे सम्बन्धित अन्य पदार्थोंका भी यथार्थ रूपसे श्रद्धान न करने, या विपरीत श्रद्धान करनेको मिथ्यात्व कहते हैं। इसमें फंसे हुये प्राणीको वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती।

अविरति—दोष रूप प्रवृत्तिको अविरति कहते हैं। अथवा षट् कायके जीवोंकी रक्षा न करनेका नाम अविरति है। अविरतिके १२ भेद हैं।

प्रमाद अपनी अनवधानता या असावधानीको कहते हैं। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, और ब्रह्मचर्यके पालनमें चारित्र, गुप्तियां, समितियां इत्यादि आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंके समाचरण करनेमें जो वस्तुयें बाधायें उपस्थित करती हैं वे प्रमाद कहलाती हैं। प्रमादके साढ़े सैंतीस हजार भेद हैं, पर मूल १५ भेद हैं, और चार कषाय, चार विकथा, पांच इंद्रियां, निद्रा और स्नेह—

कषाय—जो आत्मा को कषे अथवा दुख दे उसे

* अनुभव प्रकाश पृ० ४०-४१

१ ना० समयसार पृ० ८३। × मोक्ष० प्रकाशक पृ० ६९-७०

कषाय कहते हैं यह कषाय ही बन्ध परिणतिका मूल कारण है।

योग—योगके अनेक दार्शनिकोंने भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार किये हैं। जैन-दर्शन उनमेंसे एकसे भी सहमत नहीं है। वह मानता है कि मन, वचन, कायके, निमित्तसे होने वाली आत्म-प्रदेशोंकी चंचलताको योग कहते हैं। इस दृष्टिसे जैन दर्शनमें योग शब्द अपनी एक पृथक परिभाषा रखता है, योगके १५ भेद हैं—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग।

इन कर्मोंके बन्धनसे सर्वथा मुक्त होना ही मोक्ष है। इन कर्मोंसे मुक्त होनेके तीन अमोघ उपाय हैं—१. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। आचार्य श्री उमा स्वामीने इन कर्मोंकी परतन्त्रतासे छूटनेका सरल उपाय बतलाते हुए लिखा है कि—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकताही मोक्षका मार्ग है। अथवा इन तीनोंकी एकताही मोक्षमार्गकी नियामक है। इन तीनोंमेंसे एकका अभाव हो जाने पर मोक्षके मार्गमें बाधा पड़ती है। श्रीयोगीचन्द्रदेव लिखते हैं—

'दंसण भूमि बाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति' अर्थात् सम्यग्दर्शन रूपी भूमिके बिना हे जीव! व्रत रूपी वृक्ष नहीं होता।

सम्यग्दर्शन—तत्वोंके श्रद्धानको अथवा जीवादि पदार्थोंके विश्वासको कहते हैं। अज्ञान अँधकारमें लीन रहनेके कारण वह आत्मा पर पदार्थोंको उपादेय समझता है—उन्हें अपने मानता है। और उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ता है परन्तु विवेक उत्पन्न होने पर वह उनको हेय अर्थात् अपनेसे पृथक् समझने लगता है। इसी भेद-विज्ञान रूप प्रवृत्तिको सम्यग्दर्शन कहते हैं। समीचीनदृष्टि या सम्यग्दर्शन हो जानेके बाद जीवकी विचारधारामें खासा परिवर्तन हो जाता है। उसकी संकुचित एकान्तिक दृष्टिका अभाव हो जाता है विचारोंमें सरलता समुदारताका दर्शन होने लगता है .विपरीत अभिनिवेश अथवा झूठे अभिप्रायके न होनेसे उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है, वह सहिष्णु और दयालु होता है। उसकी प्रवृत्तिमें प्रशम, संवेग, आस्तिक्य और अनुकम्पा रूप चार भावनाओंका समावेश रहता है। पंडित टोडरमलजी अपने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' नामक ग्रन्थमें सम्यग्दर्शनका लक्षण तथा उसके भेद बताते हुये लिखते हैं-—

अब सम्यग्दर्शनका सांचा लक्षण कहिये है—विपरीताभिनवेश रहित जीवादि तत्वार्थका श्रद्धान सो सम्यग्दर्शनका लक्षण है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष यह सात तत्वार्थ हैं इनका जो श्रद्धान 'ऐसे ही हैं अन्यथा नाहीं' ऐसा प्रतीत भाव सो तत्वार्थश्रद्धान है बहुरि विपरीताभिनवेशका निराकरणके अर्थि 'सम्यक्' पद कह्या है। जातैं सम्यक्' ऐसा शब्द प्रशंसा वाचक हैं। सो श्रद्धान विषय विपरीताभिनवेशका अभाव भये ही प्रशंसा संभवै है। ऐसा जानना…१?

सम्यग्ज्ञान—पदार्थके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यग्दर्शनके पश्चात् जीवको सम्यग्ज्ञान- की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जीवात्मा उपादेय है और और उससे भिन्न समस्त पदार्थ हेय हैं। इस भेद-विज्ञानकी भावना उत्पन्न हो जाने पर ही आत्माको जो सामान्य या विशेष ज्ञान होता है वह यथार्थ होता है उसीको सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

सम्यग्चारित्र पापकी कारणभूत क्रियाओंसे विरक्त होना सम्यग्चारित्र है। सम्यग्ज्ञानके साथ विवेक पूर्वक विभाव परिणतिसे विरक्त होनेके लिए सम्यग्चारित्रकी आवश्यकता होती है। इस तरह रत्नत्रयकी प्राप्ति ही मोक्षका मार्ग है—मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है उसीकी प्राप्तिका हमें निरन्तर उपाय करना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ जीवात्मा बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यथार्थप्रवृत्तियाँ करनेमें समर्थ और प्रयत्नशील होता है। उसकी वही प्रवृत्तियाँ सम्यग्चारित्र कहलाती हैं। आत्माकी निर्विकार, निर्लेप, अजर, अमर, चिदानन्दघन, कैवल्यमय, सर्वथानिर्दोष और पवित्र बनानेके लिए उपर्युक्त तीन तत्व रत्नके समान हैं। इसलिये जैनशासनमें ये 'रत्नत्रय' के नामसे स्थान-स्थान पर निर्दिष्ट किये गये हैं।

इसीका पल्लवित रूप यह है—तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाइस परीषहोंका जय, पांच चारित्र, छह बाह्य तप और छह आभ्यान्तर तप, धर्मध्यान और शुक्लध्यान, इनसे बंधे हुए कर्म शनैः २ निर्जीर्ण होकर जब आत्मासे सर्वथा सम्बन्ध छोड़ देते हैं उसी अवस्थाको मोक्ष कहते हैं। मुक्त जीव फिर बंधनमें कभी नहीं पड़ता। क्योंकि बन्धनके कारणोंका उसके सर्वथा क्षय हो गया है। अतः उसके कर्म बन्धनका कोई कारण ही नहीं रहता।

---

१ मोक्ष० प्रकाशक पृ० ४६२.

समयसारके टीकाकार विद्वद्वर रूपचन्दजी

(ले० श्री अगरचन्द नाहटा)

कविवर बनारसीदासजीके समयसार नाटकके भाषा टीकाकार विद्वद्वर रूपचन्दजीके सम्बन्धमें कई वर्षोंसे नाम साम्यके कारण भ्रम चलता आ रहा है, इसका प्रधान कारण यह है कि इस भाषाटीकाको संवत् १९३३ मे भीमसी माणिकने प्रकरण रत्नाकरके द्वितीय भागमें प्रकाशित किया। पर मूल रूपमें नहीं, अतएव टीकाकारने अन्तमें अपनी गुरु परम्परा, टीकाका रचनाकाल व स्थान आदिका उल्लेख किया है, वह अप्रकाशित ही रहा। भीमसी माणिकके सामने तो जनता सुगमतासे समझ सके ऐसे ढंगसे ग्रन्थोंको प्रकाशित किया जाय, यही एकमात्र लक्ष्य था। मूल ग्रन्थकी भाषाकी सुरक्षा एवं ग्रन्थकारके भावोंको उन्हींके शब्दोंमें प्रकट करनेकी ओर उनका ध्यान नहीं था। इसीलिए उन्होंने प्राचीन भाषा ग्रन्थोंमें विशेषतः गत भाषा टीकाओंमें मनमाना परिवर्तन करके विस्तृत टीकाका सार (अपने समयकी प्रचलित सुगम भाषामें) ही प्रकाशित किया। उदाहरणार्थ श्रीमद् आनन्दघनजीको चौवीसी पर मस्तयोगी ज्ञानसारजीका बहुत ही सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन है, उसे भी आपने संक्षिप्त एवं अपनी भाषामें परिवर्तन करके प्रकाशित किया है। इससे ग्रन्थकी मौलिक विशेषतायें प्रकाशित न हो सकीं। टीकाकारकी परिचायक प्रशस्तियाँ भी उन्होंने देना आवश्यक नहीं समझा, केवल टीकाकारका नाम अवश्य दे दिया है। यही बात समयसार नाटककी रूपचन्दजी रचित भाषा टीकाके लिये चरितार्थ है।

बनारसीदासजी मूलतः श्वेताम्बर खरतर गच्छीय श्रीमालवंशीय श्रावक थे। आगरेमें आने पर दिगम्बर सम्प्रदायकी ओर उनका झुकाव हो गया। अध्यात्म उनका प्रिय विषय बना। यावत् उसमें सराबोर हो गये। कवित्व प्रतिभा उनमें नैसर्गिक थी। जिसका चमत्कार हम उनके नाटक समयसारमें भली भाँति पा जाते हैं। मूलतः यह रचना आचार्य कुन्दकुन्दके प्राकृत ग्रन्थके अमृतचन्द्र कृत कलशोंके हिन्दी पद्यानुवादके रूपमें है पर कविकी प्रतिभाने उसे मौलिक कृतिकी तरह प्रसिद्ध कर दी। इस ग्रन्थ पर भाषा टीका करने वाले भी कोई दिगम्बर विद्वान भी होंगे ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक ही था। दिगम्बर समाजके रूपचन्द नामके दो कवि एवं विद्वान हो भी गये हैं। अतः नाम साम्यसे उन्हींकी ओर ध्यान जाना सहज था। मान्यवर नाथूरामजी प्रेमीने अर्धकथानकके पृष्ठ ७९ में लिखा था कि समयसारकी यह रूपचन्दकी टीका अभी तक हमने नहीं देखी। परन्तु हमारा अनुमान है कि बनारसीदासके साथी रूपचन्दकी होगी। गुरु रूपचन्दकी नहीं। पता नहीं, यहाँ स्मृतिदोषसे प्रेमीजीने यह लिख दिया है या कामताप्रसादजीका उल्लेख परवर्ती है, क्योंकि कामताप्रसादजीके हिन्दी जैन साहित्यके संक्षिप्त इतिहास-पृष्ठ (१८०) के उल्लेखानुसार प्रेमीजी इससे पूर्व अपने हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास पृष्ठ ६८-७१ में इस ग्रन्थके लिखनेके समय इस टीकाको देखी हुई बताते हैं। कामताप्रसादजीने लिखा है कि रूपचन्द पांडे (प्रस्तुत) रूपचन्दजीसे भिन्न हैं। इनकी रची हुई बनारसीदास कृत समयसार टीका प्रेमीजीने एक सज्जनके पास देखी थी। वह बहुत सुन्दर व विशद टीका संवत् १७९८ में बनी हुई है। कामताप्रसादजीके उल्लेखमें टीकाका रचनाकाल संवत् १७९८ लिखा गया है पर वह सही नहीं है। टीकाके अन्तके प्रशस्ति पत्रमें 'सतरह सैं बीते परि बाणवां वर्ष में' ऐसा पाठ है। अतः रचनाकाल संवत् १७९२ निश्चित होता है। सम्भव है इस टीकाकी प्रतिलिपी करने वालेने या उस पाठको पढ़ने वालेने भ्रमसे बाणुवांके स्थानमें ठाणुवां लिख पढ़ लिया हो। मैंने इस टीकाकी प्रति करीब २३ वर्ष पूर्व बीकानेरके जैन ज्ञानभंडारोंमें देखी थी। पर उस पर विशेष प्रकाश डालनेका संयोग अभी तक नहीं मिला। मुनि कांतिसागरजीने 'विशालभारतके' मार्च १९४७ के अंकमें 'कविवर बनारसीदास व उनके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्रतियाँ' शीर्षक लेखमें इस टीकाकी एक प्रति मुनिजीके पास थी उसका परिचय इस लेखमें दिया है। इससे पूर्व मैंने सन् १९४३ में जब प्रेमीजीने मुझे अपने सम्पादित अर्धकथानककी प्रति भेजी, भाषा टीकाकार रूपचन्दजीके खरतर गच्छीय होने आदिकी सूचना दे दी थी ऐसा स्मरण है।

अभी कुछ समय पूर्व प्रेमीजीका पत्र मिला कि अर्धकथानकका नया संस्करण निकल रहा है अतः समयसारके

टीकाकार रूपचन्दजीका विशेष परिचय कराना आवश्यक समझा गया। गत कार्तिकमें राजस्थान विश्व विद्यापीठ उदयपुरके महाकवि सूर्यमल आसनके 'राजस्थानी जैन साहित्य' पर भाषण देनेके लिये उदयपुर जानेका प्रसंग मिला, तब चित्तौड़ भी जाना हुआ। और संयोगवश प्रस्तुत रूपचन्दजीके शिष्य परम्पराके यतिवर श्री बालचंद जीके हस्तलिखित ग्रन्थोंको देखनेका सुअवसर मिला। आपके संग्रहमें रूपचन्दजी व उनके गुरु एवं शिष्यादिके हस्तलिखित व रचित अनेक ग्रन्थोंकी प्रतियाँ अवलोकनमें आईं, इससे आपका विशेष परिचय प्रकाशित करनेमें और भी प्रेरणा मिली। प्रस्तुत लेख उसी प्रेरणाका परिणाम है।

महोपाध्याय रूपचन्दजी अपने समयके एक विशिष्ट विद्वान एवं सुकवि थे। आपकी रचनाओंका परिचय मुझे गत २५ वर्षसे बीकानेरके जैन ज्ञानभंडारोंका अवलोकन करने पर मिल ही चुका था। पर आपके जन्म स्थान, वंश आदि जीवनी सम्बन्धी बातें जाननेके लिये कोई साधन प्राप्त नहीं था। १६ वीं सदीके प्रसिद्ध विद्वान, उपाध्याय क्षमाकल्याणजीने महोपाध्याय रूपचन्दजीका गुण वर्णनात्मक-अष्टक बनाया। वह अवलोकनमें आया पर उसका कुछ इतिवृत्त नहीं मिला। गत वर्ष मेरे पुत्र धर्मचंद्के विवाहके उपलक्ष्यमें लश्कर जाना हुआ, तो वैवाहिक कार्योंमें जितना समय निकल सका, वहांके श्वेताम्बर मन्दिरके प्रतिमा लेखोंकी नकल करने एवं हस्तलिखित भंडारके अवलोकनमें लगाया। क्योंकि हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज मेरा प्रिय विषय बन गया है। जहाँ कहीं भी उनके होनेकी सूचना मिलती है उन्हें देख कर अज्ञात सामग्रीको प्रकाशमें लानेकी प्रबल उत्कंठा हो उठती है इसीके फलस्वरूप अब भी मेरा कहीं जाना होता है सर्व प्रथम जैन मन्दिरोंके दर्शनके साथ वहांकी मूर्तियोंके लेख लेने एवं हस्तलिखित ज्ञानभंडारोंके अवलोकन इन दो कार्योंके लिये अपना समय निकाल ही लेता हूँ। अपने पुत्रके विवाहके उपलक्षमें जाने पर भी इन दोनों कामोंके लिए लश्करमें कुछ समय निकाला गया। वहांके श्वेताम्बर जैन मन्दिरकी धातु मूर्तियोंके लेख लिये गये और उस मन्दिरमें ही हस्तलिखित ग्रन्थोंका खरतर गच्छीय यतिजीका संग्रह था, उसे भी देख लिया गया।

रूपचंदका जन्म समय वंश व स्थान—

लश्कर मंदिरके इस संग्रहमें महोपाध्याय रूपचन्दजीके अष्टकको एक पत्रकी प्रतियें प्राप्त हुईं। इस अष्टकसे रूपचन्दजी सम्बन्धित कुछ ज्ञातव्य ऐतिहासिक बातें विदित हो सकीं। तथा इसके पांचवें पद्यमें रूपचन्दजीके वंशका परिचय इस प्रकार दिया है—

> 'वाग्देवता मनुजरूप धरामरौ च,
> श्रीओसवंशवर अंचलगोत्र शुद्धाः।
> श्री पाठकोत्तमगुणैर्जयति प्रसिद्धाः
> सत्पत्तिलकापुष्करे भरमण्डले च ॥
>
> अष्टादशेव शतके 'चतुरुत्तरे च,
> त्रिंशतमेव समये गुरुरूपचन्द्राः।
> आराधनां धवलभावयुतां विधाय,
> आयु सुखं नवति वर्षमितं च भुक्त्वा ॥

अर्थात् आपका वंश ओसवाल व गोत्र आंचलिया था। संवत् १८३४ में आराधना सहित आपका स्वर्गवास ६० वर्षकी उम्रमें पालीमें हुआ।

चित्तौड़के यति बालचन्दजीके संग्रहके एक गुटकेमें इनका जन्म सं० १७३४ लिखा है और स्वर्गवास सं० १८३५। यद्यपि ये दोनों उल्लेख रूपचन्दजीके शिष्य परंपराके ही है। पर हमें अष्टक वाला उल्लेख अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है। अष्टककी रचना शिवचन्दके शिष्य रामचन्द्रने की थी। सम्वत् १८१० के मार्गशिर सुदी पूनमको यह अष्टक बनाया गया है। इसमें रूपचन्दजीके स्वर्गवास पर झालरके पासमें जिनकुशलसूरिजीके रूपके दक्षिण दिशामें रूपचन्दजीकी पादुकायें संवत् १८४७ में स्थापित करनेका उल्लेख है। चित्तौड़के गुटकेके अनुसार रूपचन्दजोकी आयु १०१ वर्षकी हो जाती है और अष्टकमें स्पष्टरूपसे ६० वर्षकी आयुमें स्वर्गवास होनेको लिखा है। मेरी रायमें वही उल्लेख ठीक है: इनके अनुसार रूपचन्दजीका जन्म संवत् १७४४ सिद्ध होता है। चित्तौड़ वाले गुटकेमें १७३४ स्मृति दोषसे लिखा गया प्रतीत होता है इनके गोत्रका नाम आंचलिया है। जिसकी बस्ती बीकानेरके देशनोक आदि कई गांवोंमें अब भी पाई जाती है। अतः रूपचन्दजीका जन्म स्थान बीकानेरके ही किसी ग्राममें होना चाहिये।

संवतानुक्रम इतिवृत्त लेखनकी प्रणाली—

खरतर गच्छमें १३वीं शतीसे ऐतिहासिक वृतांत लिखा जाता रहा है। फलतः जिनदत्तसूरिजीके शिष्य मणिधारी जिनचन्द्रसूरिसे लगाकर जो मूर्ति व मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा, दीक्षा आदि महत्वपूर्ण कार्य दफ्तर बहीमें लिखे जाने लगे। जिनके आधारसे युगप्रधान गुरु वावनीका प्रथम संकलन जिनपाल उपाध्यायने संवत् १३०५ के आसपास किया था। जिसके पश्चात् उनकी पूर्ति समय समय पर इस गच्छके अन्य विद्वान यतिगण करते रहे। संवत् १३९३ तककी संवतानुक्रमसे लिखित घटनाओंके संग्रह वाली युगप्रधान गुर्वावलिकी प्रति बीकानेरके क्षमाकल्याणजीके ज्ञान भंडारमें है। हमें वह करीब १५ वर्ष पूर्व प्राप्त हुई थी। यह अपने ढङ्गका एक अद्वितीय ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके महत्वके सम्बन्धमें भारतीय विद्यामें हमने एक लेख भी प्रकाशित किया था। सिंघी जैन ग्रन्थमालासे करीब १० वर्ष हुए यह छपी हुई पड़ी है। पर मुनि जिनविजयजीके प्रस्तावना आदिके लियेभी उसका प्रकाशन रुका हुआ है। इसके बादकी गुर्वावली जैसलमेर के बड़े ज्ञान भंडारमें होनेका उल्लेख मिला था। पर अब वह प्रति वहाँ नहीं है। परवर्ती कई दफ्तर-वहियें भी अब प्राप्त नहीं हैं। संवत् १७००से फिर यह सिलसिला मिलता है। जिससे विगत ३०० वर्ष में खरतरगच्छकी भट्टारक शाखामें जितने भी मुनि दीक्षित हुए उनका मूल नाम क्या था दीक्षा नाम क्या रक्खा गया, किसका शिष्य बनाया गया। किस सम्वत् व मितीमें कहाँ पर किस आचार्यके पास दीक्षा ली गई, इसकी सूची मिल जाती है।

रूपचंदजीकी दीक्षा—

मैंने एक ऐसीही दफ्तर बहीसे दीक्षा सूचीकी नकल प्राप्त की है। उसके अनुसार रूपचन्दजी की दीक्षा सम्वत् १७९५ के वैशाख वदी २ को बिल्हावास गांवमें आचार्य जिनचन्द्रसूरिजीके हाथसे हुई थी। वे दयासिंहजीके शिष्य थे। और इनकी दीक्षाका नाम रामविजय रखा गया।

गुरु परम्परा—

आपकी रचना एवं अन्य साधनोंके अनुसार इनकी गुरु परम्पराकी नामावली इस प्रकार विदित हुई है।

(१) जिनकुशलसूरि आचार्यपद सम्वत् १३७७ से सम्वत् १३८९ में स्वर्गवास।

(२) महोपाध्याय विनयप्रभ (गौतमरासके रचयिता)

(३) विजय तिलक (सुप्रसिद्ध शत्रुञ्जय स्तवनके रचियता)

(४) क्षमाकीर्ति (५) उपाध्याय तपोरत्न (६) वाचक भुवनसोम (७) साधु रङ्ग (८) वा० धर्मसुन्दर (९) वा० दान विनय (१०) वा० गुणवर्द्धन (११) श्रीसोम (१२) शान्ति हर्ष (१३) जिनहर्ष।

इनमें कई तो उच्च विद्वान ग्रंथकार हो गये हैं. कविवर जिन-हर्ष तो बहुत बड़े लोक भाषाके कवि थे। इनकी रचनाएँ लक्षाधिक श्लोक परिमाणकी प्राप्त हैं। मूलतः वे राजस्थानके थे। जसराज इनका मूल नाम था। सम्वत् १७०४ से सम्वत् १७६३ तककी आपकी सैकड़ों रचनायें उपलब्ध हैं आपका प्राथमिक जीवन राजस्थानमें बीता तब तककी इनकी रचनाओंकी भाषा राजस्थानी ही है। पीछेसे ये गुजरात व पाटणमें किसी कारणवश जाके जम गये। अतः उत्तरकालीन रचनाओंकी भाषामें गुजरातीकी प्रधानता है। आपके सम्बन्धमें 'राजस्थान क्षितिज' नामक मासिक पत्रमें सुकवि जसराज और उनकी रचनायें' शीर्षक मेरा लेख प्रकाशित हो चुका है।

महोपाध्याय रूपचन्दजीने अपनी रचनाओंके अन्तमें स्वगुरु परम्पराका परिचय देते हुए अपनेको क्षेमशाखाके शान्तिहर्षके शिष्य वाचक सुखवर्धनके शिष्य वाणारस दयासिंहका शिष्य बतलाया है। आपकी लिखित अनेक प्रतियां यति बालचन्दजीके संग्रहमें देखनेको मिलीं। उनसे आपके भारतव्यापी विहार एवं चतुर्मास करनेका पता चलता है।

ग्रन्थ रचना—

आपकी उपलब्ध रचनाओंमें प्रथम समुद्रबद्ध कवित्त १७-९७ में बिल्हावासमें रचित प्राप्त है। और अन्तिम रचना संवत् १८२६ की है। इससे ५६ वर्ष तक आप साहित्य सेवा करते रहे; जिससे आपकी रचनाओंसे आपकी विद्वत्ताका भलिभांति पता चल जाता है। संस्कृत एवं राजस्थानीमें गद्य एवं पद्य दोनों प्रकारकी रचनायें प्राप्त हैं। आप सुकवि होनेके साथ २ सफल टीकाकार भी थे। संस्कतभाषाके

तो आप प्रकांड पण्डित थे। गौतमीयकाव्य एवं कई स्तोत्र आदि आपके काव्य प्रतिभाके परिचायक हैं। सिद्धान्त-चन्द्रिकावृत्ति आपके व्याकरण ज्ञान एवं गुणमाला प्रकरण आदि जैन सिद्धान्तोंके गंभीर ज्ञानकी सूचना देते हैं। हेमी नाममाला, अमरू शतक, भर्तृहरि. शतकत्रय, लघुस्तवन भक्तामर, कल्याणमन्दिर, शतश्लोकी, सन्निपात कलिका आदि संकृत ग्रन्थोंकी भाषा टीका आपने राजस्थानी व हिन्दीभाषामें की। प्रथम बार भाषाटीका हिन्दी गद्यमें लिखी गई है इससे प्राकृत संस्कृत हिन्दी व राजस्थानी इस चारों भाषाओंके आप ज्ञाता व लेखक सिद्ध हैं।

व्याकरण, कोश, काव्य, वैद्यक और जैन सिद्धान्तके विद्वान होनेके साथ साथ आपका ज्योतिष सम्बन्धि ज्ञान भी उल्लेखनीय हैं। मुहूर्त मणिमाला व विवाह पटल आपके ज्योतिषके ग्रन्थ हैं। आपके प्रशिष्य रामचन्द्रके रचयिता आपके स्तुति अष्टकमें आपको षट्शास्त्रवादजयिका, अष्टावधान करनेमें कुशल, इच्छालिपिके आविष्कारक, सकल समस्त वाङ्मय पारंगत, जीवनपर्यन्त, शीलधारक सौम्यमूर्ति आदि विशेषणोंसे युक्त बतलाया है।

उपाध्याय पद—

आपकी विद्वत्ताके कारण ही आचार्य जिनलाभसूरिने संवत् १८१७ से पूर्व आपको उपाध्याय पदसे अलंकृत किया था। खरतरगच्छकी परम्पराके अनुसार जिस समयमें जो उपाध्याय सबसे अधिक दीक्षा पर्यायमें वृद्ध होता है। उसे महोपाध्याय लिखा जाता है। आपने लंबी आयु पाई और छोटी उम्रमें ही दीक्षा लेनेके कारण चारित्र पर्याय भी खूब पाला। अतः आप अपने समयके महोपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित हुये।

विहार—

आपका विहार प्रधानतया बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर राज्यमें हुआ। बीकानेर जोधपुर, पाली, सोजत, विल्हावास, कालाकुन्ता बोदासर आदि स्थानोंमें आपके रचे हुये ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

जिन सुखसूरि मजलस संवत् १७७२ में आपने बनवाई जिसमें उर्दू शब्दोंकी प्रधानता है। 'भक्ति सूरिसिंह बड़े' छन्द आपकी पंजाबी भाषाकी रचना है। इन दोनों रचनाओंसे आपका विहार, पंजाब और सिंधमें होना भी सिद्ध होता है। गौतमीय काव्यकी प्रशस्तिमें रूपचन्दजीने अपनेको जोधपुरके महाराजा अभयसिंहसे सम्मान प्राप्त करने वाला लिखा है। इन महाराजाका समय १७८१ से १८०६ तक का है। प्रशस्तिका वह श्लोक इस प्रकार है।

तच्छिष्योऽभयसिंह नाम नृपते, लब्धप्रतिष्ठा महा।
गाम्भीरार्थ, अर्हच्छास्त्रतत्त्वरसिकोऽहम् रूपचन्द्रा ह्वयान्
प्रख्यातापर नाम रामविजयो, गच्छेशदत्ताज्ञयाः।
काव्ये कार्यमिमं कवित्व कलया श्रीगौतमीये शुभम्।

काव्य प्रतिभा—प्रस्तुत काव्य ११ सर्गोंका है इमकी टीका आपकी विद्यमानतामें ही क्षमाकल्याणने बनानी प्रारम्भ की थी। और उसकी पूर्णाहुति आपके स्वर्गवास होनेके बाद हुई। यह ग्रन्थ टीका सहित छप चुका है। इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामें पण्डित नारायणराम आचार्य काव्यतीर्थने इस काव्यकी प्रशंसा करते हुए लिखा है।

प्रकृतमिदं काव्यमनेनैवोद्देश्येन जैनसारस्वतभांडागारे रत्नमिव चमत्कुरुते। जैन संप्रदायं प्रतिप्रमेयाणुन्मखी कर्तुम् अहिंसाद्याव्रतानुगामिनं श्रद्धानं दृढीकर्तुमेव च कवि गगनचन्द्रेण श्रीमतापाठकेन रूपचंद्रेण तदिदं काव्यमुपानिबद्धम्। नामतस्तदिदं काव्यम्, किन्तु जैनसंप्रदाय रहस्यबोधने प्रमाण ग्रंथा, वादग्रंथ महाकाव्यम् सिद्धान्तबोधने सम्यक् प्रभवति।

काव्य गगन रवेः श्री रूपचन्द्र कवे कवितानि गुम्फन पाटवं तथा विद्यते येन हि क्लिष्टोऽपि विषयो नीरसोपि च वर्ण्यो लोकानां हृदयावर्जनक्षमो भवति। ऋतु उपवनादि वर्णने तु कवेर्मधुरा रचनास्त्येव, परं सिद्धान्त तत्त्वबोधनेऽपि सैव कवे शैली एकान्तभावेन प्रबंधनीतिमहदेव गौरवं कथयितुः। *

राजस्थानी भाषाके काव्योंमें आपकी चित्रसेन पद्मावति रास (रचना सम्वत् १८१४ बीकानेर) नेमिनाथरासो, गौडीछन्द, ओशवालरास, फलोदी स्तवन, आबूस्तवन, समुद्रबंध कवित्त आदि उल्लेखनीय हैं। जिन सुख सूरि मजलस हिन्दीभाषामें तुकान्त गद्यकी विशिष्ट रचना है। आपकी ज्ञात समस्त रचनाओंकी नामावली आगे दी जायेगी।

---

* लेखमें संस्कृत पद्य और गद्य बहुत अशुद्ध रूपमें है उसे यहां उसी रूपमें दिया जा रहा है। —प्रकाशक

शिष्य परम्परा—

महोपाध्याय रूपचन्द्रजीकी शिष्यपरंपरामें शिवचंद्रजी आदि अच्छे विद्वान हो गये हैं। आज भी खरतरगच्छके भट्टारक बीकानेर गद्दीके श्रीपूज्य विजयेन्द्रसूरिजी इनकी ही विद्वद् शिष्य परंपराके प्रतीक हैं। चित्तौड़के यति बालचंद्रजी भी बड़े सज्जन व्यक्ति हैं। ग्वालियरमें रामचन्द्रजीकी शिष्य परंपरा चल रही है। जिनका संग्रह लश्करके श्वेताम्बर जैन मन्दिरमें रक्खा हुआ है। शिष्य परंपराका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—रूपचन्दजीने अपने ग्रंथोंमेंसे कई ग्रन्थ स्वशिष्य पद्मा और वस्ताके लिये बनाये ऐसा उल्लेख किया है। उनके दीक्षा नाम पुण्यशील विद्याशील था। इनमेंसे पुण्यशील रचित श्रेय चतुर्विंशतिस्तवन मुनि विनयसागरजी ने प्रकाशित किये हैं, जिनकी प्रस्तावना मैंने लिखी है। ज्ञानानंद प्रकाशन नामक आपके ग्रन्थकी अपूर्ण प्रति चित्तौड़के यति बालचंद्रजीके संग्रहमें अभी अवलोकनमें आई जिसकी पूर्ण प्रति प्राप्त करना आवश्यक है।

पुण्यशीलके शिष्य समयसुन्दर उनके शिष्य उपाध्याय शिवचंद्रभी बड़े अच्छे विद्वान हो गये हैं। जिनके रचित प्रद्युम्नलीलाप्रकाशकी प्रति भी अपूर्ण व त्रुटित अवस्थामें प्राप्त हुई है। इसकी भी पूरी प्रति प्राप्त होनी आवश्यक है। आपके रचित ऋषिमण्डलपूजा आदि प्रकाशित हो चुकी हैं शिवचंद्रजीके शिष्य रूपचंद्रजी अच्छे विद्वान थे, जिनके रचित कई ग्रंथ प्राप्त हैं। रामचंद्रजीके शिष्य उदयराजके शिष्य नेमचंद्रजी थे। जिनके शिष्य यति श्यामलालजीका उपाश्रय जयपुरमें है। इनके ही शिष्य विजयेन्द्र सूरिजी वर्तमान बीकानेर शाखाके श्री पूज्य हैं। शिवचंद्रजीके दूसरे शिष्य ज्ञानविशालजीके शिष्य अमोलकचंद और उनके शिष्य विनयचन्द्र हुए। जो सम्वत् १९४१ तक विद्वान थे चित्तौड़के यति बालचंद्रजी उन्हींके प्रशिष्य होंगे। अब महोपाध्याय रूपचन्द्रजीकी रचनाओंकी सूची सम्वतानुक्रमसे नीचे दी जा रही है—

(१) समुद्रबद्ध कवित्त सम्वत् १७६७ बिलाड़ावास में रचित (२) जिनसुखसूरि मजलस सम्वत् १७७२ (३) शतकत्रय बालावबोध, संवत् १७८८ कार्तिक वदि १३ सोजत् (४) अमरूशतक बालावबोध, सम्वत् १७९१ असोजसुदि १५ सोजत (५, समयसार बालावबोध सम्वत् १७-९२ व असोजवदि (स्वयं लिखित प्रति यति बालचन्द्रजीके संग्रहमें, समयसार बूलकी भी संवत् १७९६ में रूपचन्द्र जीकी लिखित प्रति उनके संग्रहमें हैं) (६) लघुस्तकटब्बा सम्वत् १७९८ (७) मुहूर्तमणिमाला (पत्र १६ ग्रन्थ १८६१) सम्वत् १८०१ मिगसरसुदी १ जोशी रामकिशनके पुत्र बच्छराजके लिए रचित।) (८) गौतमीय काव्य, सम्वत् १८०७ जोधपुर रामसिंह राज्ये रचित। (९) भक्तामर टब्बा, सम्वत् १८११ (कालाऊनामें, शिष्य पुण्यशील, विद्याशीलके आग्रहसे रचित (१०) कल्याणमन्दिर टब्बा सम्वत् १८११ कालाऊनामें।

(११) 'दुरियर' वीरस्तोत्र बालावबोध, लेखन संवत् १८१३ बीलाड़ा 'पत्र' ७ (१२) चित्रसेन पद्मावती—चौपाई सम्वत् १८१४ पौष सुदी १४ बीकानेर (१३ चतुर्विंशति जिन स्तुति पंचाशिका, संवत् १८१४ माघवदी ३ बीकानेर (१४) गुणमाला प्रकरण, संवत् १८१७ जेसलमेर। (१५) साधुसमाचारी सम्वत् १८१६ (यह कल्पसूत्र बालावबोधके अन्तरगत ही संभव है। (१६) आबू तीर्थयात्रा स्तवन संवत् १८२१ आचार्य जिनलाभसूरिके साथ ८५ मुनियोंके साथ यात्रा (१७) हेमीनाममाला भाषाटीका (६ कांड) सम्वत् १८२२ पौष सुदी ३ कालाऊना (मुणोतसूरतरामके लिये) (१८) फलौदी पार्श्वस्तवन, सम्वत् १८२३ मिगसर सुदी ८ (१९) अल्पाबहुत्व स्तवन सम्वत् १८२३ कालाऊनामें लिखित प्रति (२१) शत श्लोकी टब्बा १८३१ मिगसरसुदी १० पाली। (२२) सन्निपात कलिका टब्बा सम्वत् १८३१ माघसुदि १, पाली। (२३) सिद्धान्तचन्द्रिका सुबोधिकावृत्ति (पत्र १२४) सम्वत् १८३४ से पूर्व (सम्वद् है पर स्पष्ट नहीं हो पाया। (२४) कल्पसूत्रबालावबोध (२५) वीर आयु ७२ वर्ष स्पष्टीकरण, सम्वत् १८३४ से पूर्व (२६) नेमि नवरसा (२७) गौड़ी छंद (गाथा १३६) (२८) ओसवालरास गा० १२४ (२९) नयनिक्षेपस्तवन गा० १२ (३०) सहस्रकूटस्तवन। १७ (३१) विवाहपडल (३२) वीर पंचकल्याणक स्तवन (३३) स्तवनावली (३४) वैराग्य सज्झाय (३५) साध्वाचार षट्त्रिंशिका (३६) पार्श्वस्तवन सटीक (३७ श्रुतदेवी स्तोत्र (श्लोक १६) (३८) विज्ञप्ति द्वात्रिंशिका गा० ३३ (३९) ऋषभदेव स्तोत्र (४०) कुशलसूरि अष्टक आदि—

अभी जयपुरके यति श्यामलालजीका संग्रह देखना और बाकी है। तथा चित्तौड़ वाले यति बालचन्द्रजीके

गुरु भाइयोंका भी संग्रह देखनेमें आया तो सम्भव है कि महोपाध्याय रूपचन्दजीके और भी ग्रंथ उपलब्ध हो जांय।

संक्षेपमें जितनी जानकारी प्राप्त हुई है प्रकाशमें लाई जा रही है। विस्तारसे फिर कभी अवकाश मिला तो उपस्थित करूंगा।

(अनुपूर्ति)

दो महीने हुए अभी-अभी नाथूरामजी प्रेमीसे रूपचंद जी रचित समयसार टीकाका नया संस्करण ब्र. नन्दलाल दिगम्बर जैनग्रन्थमाला भिंडसे प्रकाशित होनेकी सूचना मिली। ता० ६ अगस्तको रेडियो प्रोग्रामके प्रसङ्गसे दिल्ली आना हुआ, तो दिल्ली हिन्दू कॉलेजके प्रो० दशरथ शर्माके संग्रहीत पुस्तकोंमें इसकी प्रति देखनेमें आई इस संस्करण में भी वही भ्रम दुहराया गया है। इसके मुख पृष्ठ पर रूपचन्दजीको 'पांडे' लिखा है। प्रस्तावनामें पं० फूलचन्द्र-लालजी तर्कतीर्थने इन्हें बनारसीदासजीके गुरु पंचमंगल-के रचयिता बतलाया है। पर इस भाषा टीकाके शब्दों एवं अन्तकी प्रशस्ति पद्योंपर जराभी ध्यान देते तो इसके रचयिता पांडे रूपचन्दजीसे भिन्न खरतरगच्छीय रूपचन्दजी हैं, यह स्पष्ट जान लेते। देखिये पृ० २६८, २८० में टीका कारने श्वेताम्बर होनेके कारण ही ये शब्द लिखे हैं 'साधुके १८ मूल गुण कहे सो दिगम्बर सम्प्रदाय हैं।

२. अप्रमत्त गुणस्थानके कथनको 'ये कथन दिगम्बर सम्प्रदायको हैं' लिखा है। पृ० ६१०-६११ में जिस पद्यमें बनारसीदासजीने पण्डित रूपचन्दका उल्लेख कियाहै उसकी टीका करते हुए रूपचन्द नामके आगे 'जी' विशेषण दिया है और केवल मूल गत उल्लेख को ही दुहरा दिया है। यदि इसके रचयिता पांडे रूपचन्दजी होते तो टीकामें अपने नामके आगे 'जी' विशेषण कभी नहीं लिखते और टीकाका स्पष्टीकरण भी कुछ भिन्न तरहसे करते।

प्रस्तुत संस्करणमें मूल ग्रन्थके समाप्तिके बाद टीका-के रचना कालका सूचक पद्य भी छपा है उस पद्यके 'सत्रह-सौ बीते परि वानुआ' वर्षमें जिस पाठ पर ध्यान न देकर अर्थ करनेमें रचनाकाल सम्वत् १७०० सत्रहसौसे और छंदमय पद्य सुबोध ग्रन्थ लिखकेपूर्ण किया'लिख दिया गया है। जब कि पद्यमें वार्तिक वात रूप शब्द आते हैं जिसका अर्थ 'भाषामें गद्य टीका' होता है। परिवानुवा पाठका सन्धि विच्छेद परिवानु और 'आ' अलग छपनेसे उनके शब्दोंकी ओर ध्यान नहीं गया प्रतीत होता है। टीकाकारके परिचायक प्रशस्ति पद्य भी लेखन पुस्तिकाके बाद छापने के कारण रचयितासे सम्बन्धित सारी बातें स्पष्ट होने परभी सम्पादकका उस ओर ध्यान नहीं गया उन दो सवैयोंमें टीकाकारने अपनेको खेम शाखाके सुख वर्धनके शिष्य दया-सिंहका शिष्य बतलाया है। खरतर गच्छके आचार्य जिन भक्ति सूरिके राज्यमें सोनगिरिपुरमें गंगाधर गोत्रीय नथ-मलके पुत्र फतेचन्द पृथ्वीराजमेंसे फतेचन्दके पुत्र जसरूप, जगन्नाथमेंसे जगन्नाथके समझानेके लिये यह सुगम विवरण बनाया गया लिखा है।

वास्तवमें पांडे रूपचंदजीका स्वर्गवास तो अर्ध कथा-नकके पद्यांक ६३५के अनुसार सम्वत् १६६२से ६४के बीच, हो गया, सिद्ध होता है। यह टीका उनके सौ वर्षके पश्चात् खरतरगच्छके यति महोपाध्याय रूपचन्दने बनाई है। भविष्यमें इस भ्रमको कोई न दुहराये इसीलिये मैंने यह विशेष शोधपूर्ण लेख प्रकाशित करना आवश्यक समझा।

'समयसारकी १५ वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी नामका सम्पादकीय लेख सम्पादकजीके बाहर रहने आदिके कारण, इस किरणमें नहीं जा रहा है। वह अगली किरणमें दिया जावेगा।

अहिंसा और जैन संस्कृतिका प्रसार

तथा एक चेतावनी—

भाइयो और बहनो,

युग अब बदल गया है और बड़ी तेजीसे संसारका सब कुछ बदल रहा है। लोगोंकी विचारधारामें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है और होता जारहा है। समयकी जरूरत और मांगके अनुकूल अपना रवैया और रीति-नीति बनाना और वैसा ही आचरण एवं व्यवहार वर्तना ही बुद्धिमानी कही जा सकती है। देशों, जातियों, समाजों और सम्प्रदायोंके पतन इसी कारण हुए कि वे समयकी समानतामें अपनेको नहीं ला सके। संक्षेपमें जैनियोंकी वर्तमान हालत वैसी ही हो रही है। हमारे पूर्वज समयकी गतिके साथ चलना जानते थे इसीलिए हम आज भी शेष हैं; परन्तु बौद्धोंका नाम भारतमें न रहा। अपने पूर्वजोंकी इस दीर्घ दर्शिताको हम भूल रहे हैं यह एक महा भयंकर बात है जिसका परिणाम हम अभी नहीं सोच, समझ और जान रहे हैं। यदि यही हालत बनी रही; हमारी निष्क्रियता नहीं छूटी एवं हम संसारकी समस्याओं और परिस्थितियोंसे अपनेको अलग, दूर और उदासीन ही रखते रहे तो इससे आगे चल कर बड़ा भारी अनिष्ट होगा। भले ही इस बात और चेतावनी (Warning) की महत्ताको हम समझें या न समझें, जानें या न जानें, अथवा जान बूझ कर भी अनजाने बने रहें यह दूसरी बात है। अनजान बने रहनेसे तो फलमें कमी नहीं आ सकती। हम अपने पैरों अपने आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। ये लक्षण अच्छे नहीं—हानिकारक हैं व्यक्तिके लिए भी और समाज एवं देश और मानवताके लिए भी।

यह प्रचारका युग है। देश और विश्वके जनमतको अपने पक्षमें लाना और अपना प्रशंसक बनाना अपने अस्तित्वकी सुरक्षा और विरोध या कटुतारहित उन्नतिके लिए आवश्यक है। तथा संसारके धनी और शक्तिशाली देश भी, जिन्हें कोई कमी नहीं और जिन्हें बाहरी सहायताकी अपेक्षा नहीं, संसारकी जनताका सौहार्द, प्रशंसा, सहानुभूति एवं सहयोग पानेके लिए अपनेको एवं अपनी नीतिको सर्व जनप्रिय बनानेके लिए ही प्रचारमें अरबों खरबों रुपए खर्च कर रहे हैं। उन्हें क्या कमी थी? पर नहीं। सद्भावना, सदिच्छा और व्यापक समर्थन ही जीने (Life and living) का तत्व, अमृत और कुंजी है। इसीलिए वे प्रचारमें अपनी सारी शक्ति लगा कर लगे हुए हैं। जैनियोंको भी अपने सिद्धान्तकी वैज्ञानिकता, सत्यता, समीचीनता, व्यावहारिकता इत्यादिका प्रचार व्यापक रूपमें करना होगा। यदि वे निकट भविष्यमें आने वाले समयमें, अपनी संस्कृतिकी, अपनी स्वयंकी और अपनी धार्मिक संस्थाओं तीर्थों एवं पूज्य प्रतिमाओंकी सुरक्षा सच्चे दिलसे चाहते हैं और यह नहीं पसन्द करते हैं कि आगे चल कर उनकी निष्क्रियता और अन्यमनस्कताके कारण—उन्हींके अपने दोषोंके कारण—उनके अपने नाम और निशान भी लोप हो जांय, बाकी न रह जांय। जैनियोंके सारे सार्वजनिक कालेज, स्कूल, धर्मार्थ-चिकित्सालय, धर्मशालाएँ, मन्दिर इत्यादि और अब तक की अपार दानशीलता एकदम व्यर्थ जायगी यदि अबसे भी समयकी मांगके अनुसार व्यापक प्रचारको हाथमें नहीं लिया गया। चेतना जीवन है और निष्क्रियता विनाश या मृत्यु। जागरण और जागृति तो कुछ हमारेमें है पर हमारी शक्तियाँ उचित दिशामें नहीं लगाई जा रही हैं। यही खराबी है।

विश्वव्यापी प्रचारकी एक ऐसी संस्था बनाई जानी चाहिए जिसमें श्वेताम्बर, दिगम्बरादि सभी बिना किसी मत भेदके सम्मिलित शक्ति लगा कर जोर शोरसे कार्य आरम्भ करदें—तभी कुछ अच्छा फल निकल सकता है। काफी देर हो चुकी है, यदि हम अब भी नहीं चेते तो उद्धार या रक्षाका उपाय बादमें होना सम्भव नहीं रह जायगा।

विश्वकी जनतामें मानव-समानताकी भावना और स्वाधिकार-प्राप्तिकी चेष्टा दिन दिन बढ़ती जाती है। दबा हुआ वर्ग सचेत, सजग, सज्ञान हो गया है और अधिकाधिक होता जा रहा है। सभी मानवोंका सुख दुख और जीवनकी आवश्यकताएँ समान हैं एवं पृथ्वी और प्रकृति

पर हर मानवका, मानव रूपमें जन्म लेनेके कारण रहने और उन्नति करनेका समान हक है, ऐसी भावना दिन दिन प्रबल होती जा रही है। जैनदर्शन, धर्म और सिद्धान्त भी यही शिक्षा देते हैं और जैनियोंका सारा धार्मिक एवं सामाजिक निर्माण और व्यवस्थाएँ इसी आदर्शको लेकर संस्थापित हुई हैं। केवल जैनधर्म ही ऐसा धर्म है जो 'मनुष्यकी पूर्णता' को ही सर्वोच्च ध्येय या आदर्श मानता और प्रतिपादित करता है। बाकी दूसरे लोग 'देवत्व' को ही आदर्श मानते हैं—जो संसारकी सबसे बड़ी ग़लती रही है। तीर्थंकरको मानवकी पूर्णताका सर्वोच्च एवं सर्वांगपूर्ण उत्तम आदर्श माना गया है। इसी आदर्शके व्यापक विस्तार, प्रचार और प्रसारणसे ही मानव मात्रका सच्चा कल्याण हो सकता है। अहिंसा और सत्य तो इसीकी दो शाखाएँ हैं, जिनका भी शुद्ध विकास जैन सिद्धान्तोंमें ही परस्पर अविरोधी रूपसे पूर्णताको प्राप्त होता है। मानव-कल्याणकी कामनासे भी और स्वकल्याण की अमरहित भावनासे भी हमारा यह पहला कर्त्तव्य है कि हम इन सच्चे विश्व-कल्याणकारी सिद्धान्तोंका विश्व-व्यापक प्रचार अपनी पूरी शक्ति लगा कर करें। अन्यथा हम मिट जायेंगे और हमारी सारी दूसरी सुकृतियाँ मिट्टी-में मिल जायेंगी, बेकार हो जायेंगी—किसी काममें नहीं आवेंगी। सावधान! उठो, जागो और काममें लग जाओ! अब अधिक देर करना अथवा अनिश्चितताकी दीर्घसूत्रीदशा विनाशकारक होगी। अब तक जो ग़लती या ढिलाई इस काममें हो गई सो हो गई। अबसे भी यदि सच्ची लगनसे काममें लग जांय तो अभी भी बहुत कुछ हो सकता है और भविष्य उज्ज्वल एवं आशापूर्ण बनाया जा सकता है।

श्री कामताप्रसादजी समाजके प्राचीन इतिहासज्ञ और एक सच्चे लगनशील कार्यकर्ता हैं। उन्होंने 'विश्व-जैन मिशन' नामकी संस्था स्थापित और चालू करके एक बड़ी कमीको पूर्तिकी है। इस संस्थाने थोड़े ही समय-में थोड़े रुपयेमें ही बड़ा भारी काम किया है। पर समाज-की उदासीनताके कारण इसे जितनी आर्थिक मदद मिलनी चाहिए थी उसका शतांश भी नहीं मिल सका। यह संस्था दिगम्बर, श्वेताम्बरके भेद भावोंसे तथा दूसरे झगड़ोंसे मुक्त है। इसके कार्यको आगे बढ़ाना हम सभी जैनियोंका कर्त्तव्य तो है ही—हमें अपनी रक्षा और अपने तीर्थों, संस्थाओं और संस्कृतिकी रक्षाके लिए इस वर्तमान प्रचार युगमें तो अत्यन्त जरूरी और अनिवार्य हो गया है।

संसारमें युद्धकी विभीषिकाको समाप्त करना, हिंसा, खूनखराबीको दूर करना और सर्वत्र सुख शान्ति स्थापित करना हमारा ध्येय और कर्त्तव्य है—इसलिए भी हमें इस कल्याणकारी संस्थाकी हर प्रकारसे तन मन धनसे पूर्ण शक्ति एवं खुले दिलसे सहायता करना और कार्यको आगे बढ़ाना हमारा अपना पहला काम है और जरूरी है। आशा है कि हमारे जैन भाई इस समयानुकूल चेता-वनी (Timely warning) और इस प्रथम आव श्यकताकी ओर गम्भीर ध्यान देंगे।

अनन्तप्रसाद जैन संयोजक—
अ० विश्व जैन मिशन पटना

विवाह और दान

डा० श्रीचन्दजी जैन संगल सरसावा निवासी हाल एटाके सुपुत्र चि० महेशचन्द बी. ए. का विवाह संस्कार इटावा निवासी लाल टेकचन्द फतहचन्द जी जैन सुपुत्री चि० राधा रानीके साथ गत ता० ७ दिसम्बरको जैन विवाह विधिसे सानन्द सम्पन्न हुआ। इस विवाहकी खुशीमें डा० साहबने ३६१) रु० दानमें निकाले, जिनमेंसे ११०) रु० इटावाके जैन मन्दिरोंको (अलावा छत्र-चँवरादि सामानको) दिये गये, शेष २५१) रु० निम्न जैन संस्थाओं तथा मन्त्रों-को भेंट किये गये :—

२०१) वीरसेवामन्दिर सरसावा-दिल्ली, जिसमें ५०) रु० 'अनेकान्त' की सहायतार्थ शामिल हैं।

३५) दूसरी संस्थाएँ—श्री महावीरजी अतिशयक्षेत्र, स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, ऋषभब्रह्मचर्याश्रम मथुरा, उ० प्रा० दि० गुरुकुल हस्तिनागपुर, बाहुबलि ब्रह्मचर्याश्रम बाहुबली (कोल्हापुर), जैन कन्या पाठशाला सरसावा समन्तभद्र विद्यालय जैन अनाश्रम देहली, प्रत्येक को ५) रुपये।

१५) अनेकान्त भिन्न दूसरे पत्र—जैन मित्र, जैन सन्देश, अहिंसावाणी, प्रत्येक को ५) रुपये।

वीरसेवामन्दिरको जो २०१) रुपयाकी सहायता प्राप्त हुई है उसके लिये डाक्टर साहब धन्यवादके पात्र हैं।

हमारी तीर्थ यात्राके संस्मरण

(गत किरण छः से आगे)

कोल्हापुर दक्षिण महाराष्ट्रका एक शक्तिशाली नगर रहा है इस नगरका दूसरा नाम क्षुल्लकपुर शिलालेखोंमें उल्लिखित मिलता है। कोल्हापुरका अतीत गौरव कितना समृद्ध एवं शक्ति सम्पन्न रहा है इसकी कल्पना भी आज एक पहेली बना हुआ है। कोल्हापुर एक अच्छी रियासत थी जो अब बम्बई प्रान्तमें शामिल कर दी गई है। यह नगर 'पंचगंगा' नदीके किनारे पर बसा हुआ है। और आज भी समृद्ध-सा लगता है। परन्तु कोल्हापुर स्टेटके मूर्ति और मन्दिरोंके वे पुरातन खण्डहरात तथा साम्प्रदायिक उथल पुथल रूप परिवर्तन हृदयमें एक टीस उत्पन्न किये बिना नहीं रहते, जो समय-समय पर विद्यार्थियों द्वारा उत्पातादिके विरोध स्वरूप किए गए हैं। कोल्हापुर स्टेटमें कितने ही कलापूर्ण दिगम्बरीय मन्दिर शिव या विष्णु मंदिर बना दिये गए हैं। और कितने ही मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट करदी गई हैं। कोल्हापुर कितना प्राचीन स्थान है इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख अथवा इतिवृत्त मेरे अवलोकन में नहीं आया। परन्तु सन् १८८० में एक प्राचीन बड़े स्तूपके अन्दर एक पिटारा प्राप्त हुआ था, जिसमें ईस्वीपूर्व तृतीय शताब्दीके मौर्यसम्राट् अशोकके समयके अक्षर ज्ञात होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कोल्हापुर एक प्राचीन स्थल है।

इस राज्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोल्हापुर राज्यमें छत्तीस हजार जैन खेतिहर (कृषक) हैं, जो अपनी स्त्रियोंके साथ खेतीका कार्य करते हैं। वे खेतिहर अपने धर्मके सुदृढ़ उपासक और नियमोंके संपालक हैं, तथा बड़े ही ईमानदार हैं। वह अपने झगड़ोंको अदालतोंमें बहुत ही कम ले जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु अपराध बनजावे पर भी वे अपना निपटारा आप ही कर लेते हैं। वे प्रकृतितः उग्र और साहसी एवं परिश्रमी हैं, उन्हें अपने धर्मसे विशेष प्रेम है। कोल्हापुर राज्यके आस-पास स्थानोंमें जैनियोंने अनेक मन्दिर बनवाए हैं जिनमेंसे कितने ही मन्दिर आज भी मौजूद हैं। वहाँ पर शक संवत् १०२८ (विक्रम सम्वत् ११६३) से लेकर शक सम्वत् ११-४८ (विक्रम सम्वत् १२११) तकके उत्कीर्ण किये हुए कई शिलालेख पाये जाते हैं, जो जैनियोंके गत गौरवके परिचायक हैं। उनसे उनकी धार्मिक भावनाका भी संकेत मिलता है। ये शिलालेख, मूर्तिलेख मन्दिर और प्रशस्तियाँ आदि सब पुरातन सामग्री जैनियोंके अतीत गौरवकी स्मृति स्वरूप हैं। पर यह बड़े खेदके साथ लिखना पड़ता है कि कोल्हापुर राज्यके कितने ही मन्दिरों और धार्मिक स्थानों पर वैष्णव-सम्प्रदायका कब्जा है अनेक मन्दिरोंमें शिवकी पिण्डी रख दी गई है। ऐसा उपद्रव कब हुआ इसका कोई इतिवृत्त मुझे अभीतक ज्ञात नहीं हो सका। कोल्हापुरसे २ मील अलटाके पास पूर्वकी ओर एक प्राचीन जैन कालिज (Jain College) था जिस पर ब्राह्मणोंने अधिकार कर लिया है।

इसी तरह अंबाबाईका मन्दिर, नवग्रह मन्दिर और शेषशायी मन्दिर ये तीनों ही मन्दिर प्रायः किसी समय जैनियोंकी पूजाकी वस्तु बने हुए थे। इनमेंसे अंबाबाईका मन्दिर पद्मावती देवीके लिए बनवाया गया था। कोल्हापुरके उपलब्ध मन्दिरोंमें यह मन्दिर सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण है। यह मंदिर पुराने शहरके मध्यमें है। और कृष्णपाषाणका दो खनका बना हुआ है। यहांके निवासी जैनीलोग इस मन्दिरको अपना मन्दिर बतलाते हैं। इतना ही नहीं; किन्तु मन्दिरकी भीतों और गुंबजों पर बहुतसी नग्न मूर्तियां और लेख अब भी अंकित हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यह मन्दिर जैन संघका है। उक्त मंदिरोंके पाषाण स्थानीय नहीं हैं किन्तु वे दूसरे स्थानोंसे लाकर लगाये गये हैं। उनमें कलात्मक खुदाईका काम किया हुआ है, जो दर्शकको अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रहता।

कोल्हापुरके आस-पास बहुतसी खण्डित जैनमूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। मुसलमान बादशाहोंने १३वीं १४वीं शताब्दीमें अनेक जैनमन्दिर तोड़े और मूर्तियोंको खंडित किया। जिससे उनका यश सदाके लिए कलंकित हो गया। जब जैन लोग आह्लापुरी पर्वत पर अंबाबाईका मंदिर बनवा रहे थे। उसी समय राजा जयसिंहने अपना एक किला भी बनवाया था। कहा जाता है कि यह सभा कोल्हापुरसे

पश्चिम ६ मील दूर बीडनामक स्थानपर किया करता था।

ईसाकी १२वीं शताब्दीमें कोल्हापुरमें कलचूरियोंके साथ जिन्होंने कल्य णके चालुक्योंको पराजित कर दक्षिण देशपर अधिकार करलिया था। चालुक्यराजाओंके साथ शिलाहार राजाओंका एक युद्ध हुआ था। उस समय सन् ११७६ (विक्रम सं० १२१४) से १२०६ (वि० सं० १३-१४ में शिलाहारराजा भोज द्वितीयने कोल्हापुरको अपनी राजधानी बनाया था। और बहमनी राजाओंके वहाँ आने तक कोल्हापुरमें उन्हींका राज्य रहा।

इस प्रदेशपर अनेक राजवंशोंने—अश्वभृत्य, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, और शिलाहार राजाओंने—राज्य किया है। चालुक्यराजाओंसे कोल्हापुर राज्य शिलाहार राजाओंने छीन लिया था। १२वीं शताब्दीमें शिलाहार नरेशोंका बल अधिक बढ़ गया था, इसीसे उन्होंने अपने राज्यका यथेष्ट विस्तार भी किया। ये सब राजा जैनधर्मके उपासक थे। इन राजाओंमें सिंह, भोज, बल्लाल, गंडरादित्य, विजयादित्य और द्वितीय भोज नामके राजा बड़े पराक्रमी और वीर हुए हैं जिन्होंने अनेक मंदिर बनवाए और उनकी पूजादिके लिए गांव और जमीनोंका दान भी दिया है।

कोल्हापुरके 'आजरिका' नामक स्थानके महामण्डलेश्वर गण्डरादित्यदेवद्वारा निर्मापित त्रिभुनतिलक नामक चैत्यालयमें शक सं० ११२७ (वि० स० १२६२) में मूलसंघके विद्वान मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके द्वारा दीक्षित सोम देव मुनिने शब्दार्णवचन्द्रिका नामक वृत्ति रची थी, जो प्रकाशित हो चुकी है।

शिलाहार राजा विजयादित्यके समयका एक शिला लेख बमनी ग्राममें शक सम्वत् १०७३ वि० सं० १२०८ का प्राप्त हुआ है, जो एपिग्राफिका इंडिकाके तृतीयभागमें मुद्रित हुआ है, यह लेख ४४ लाइनका पुरानी कनड़ी संस्कृत मिश्रित भाषामें उत्कीर्ण किया हुआ है, जिसमें बतलाया गया है कि राजाविजयादित्यने चोडहोर—कामगावुन्द नामक ग्रामके पार्श्वनाथके दिगम्बर जैन मन्दिरकी अष्टद्रव्यसे पूजा व मरम्मतके लिये नाबुक गेगोल्ला जिलेके मूदलूर ग्राममें एक खेत और एक मकान श्रीकुन्दकुन्दान्वयी श्रीकुलचन्द्रमुनिके शिष्य श्रीमाघनन्दिसिद्धांत देवके शिष्य श्रीअर्हनन्दि सिद्धान्तदेवके चरण धोकर दान दिया।

कोल्हापुरसे उत्तरमें दस मील दूर वर्ती एक नगर है जिसका नाम वदगांव है। यहां एक जैन मन्दिर है। जिसे आदप्पा भग सेठीने सन् १६६६ में चालीस हजार रुपया खर्च करके बनवाया था।

इसी तरह कोल्हापुर स्टेटमें और भी अनेक ग्रामोंमें प्राचीन जैन मन्दिरोंके बनाये जानेके समुल्लेख प्राप्त हो सकते हैं। कोल्हापुर और उसके आस पासमें कितनेही शिलालेख और मूर्तिलेख हैं जिनका फिर कभी परिचय कराया जावेगा।

इस नगरमें चार शिखर बंद मंदिर हैं और तीन चैत्यालय हैं। दिगम्बर जैनियोंकी गृह संख्या दिगम्बर जैन डायरेक्टरीके अनुसार २०१ और जन संख्या १०४६ है। वर्तमानमें उक्त संख्यामें कुछ हीनाधिकता या परिवर्तन होना सम्भव है। शहरमें यात्रियोंके ठहरनेके लिये दो धर्मशालाएँ हैं जो जैन मन्दिरोंके पास ही है। एक दिगम्बर जैन बोर्डिंग हाउस भी है, उसमें भी यात्रियोंको ठहरनेकी सुविधा हो जाती है।

जैन समाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् डाक्टर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् उक्त जैन बोर्डिंग हाउसमें ही रहते हैं। आप स्थानीय राजाराम कालिजमें प्राकृत और अर्धमागधीके अध्यापक हैं। बड़े ही मिलनसार और सहृदय विद्वान हैं, जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ सुयोग्य विचारक, लेखक तथा अनेक ग्रन्थोंके सम्पादक हैं। आप अध्यापन कार्यके साथ-साथ साहित्य सेवामें अपने जीवनको लगा रहे हैं। श्रीमुख्तार साहब और मैंने आपके यहां ही भोजन किया था। आप उस समय अन्य कार्योंमें अत्यन्त व्यस्त थे, फिरभी आपने चर्चाके लिये समय निकाला यह प्रसन्नता की बात है। आपसे ऐतिहासिक चर्चा करके बड़ी प्रसन्नता हुई। समाजको आपसे बड़ी आशा है। आप चिरायु हों यही हमारी मंगल कामना है।

कोल्हापुरमें भट्टारकीय एक मठ भी है, और भट्टारकजी भी रहते हैं। उनके शास्त्रभंडारमें अनेक ग्रन्थ हैं। अभी उनकी सूची नहीं बनी है। केशववर्णीकी गोम्मटसारकी कर्नाटकटीका इसी शास्त्रभंडारमें सुरक्षित है, और भी कई ग्रन्थोंकी प्राचीन प्रतियां अन्वेषण करने पर इस भंडार में मिलेंगी। यहांका यह मठ प्राचीन समयसे प्रसिद्ध है। यहां पर पं० आशाधरजीके शिष्य वादीन्द्र

विशालकीर्तिभी रहे हैं। कोल्हापुरसे चलकर हम लोग स्तवनिधि पहुँचे।

स्तवनिधि दक्षिण प्रांतका एक सुप्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र है। यहां चार मन्दिर व एक मानस्तम्भ है। मन्दिरके पीछेके अहातेकी दीवाल गिर गई है जिसके बनाये जानेकी आवश्यकता है। यहां लोग अन्य तीर्थक्षेत्रोंकी भांति मान-मनौती करनेके लिये आते हैं। उस समय एक बरात आई हुई थी, मन्दिरोंमें कोई खास प्राचीन मूर्तियां ज्ञात नहीं हुई। यह क्षेत्र कब और कैसे प्रसिद्धिमें आया। इसका कोई इतिवृत्त ज्ञात नहीं हुआ। हम लोग सानंद यात्रा कर बेलगांव और धारवाड होते हुए हुबली पहुँचे। और हुबलीसे हरिहर होते हुए हमलोग श्रावणगिरि पहुँचे। सेठ जीकी नूतन धर्मशालामें ठहरे। धर्मशालामें सफाई और पानीकी अच्छी व्यवस्था है। नैमित्तिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर मंदिरजीमें दर्शन करने गये। यह मंदिर अभी कुछ वर्ष हुए बनकर तय्यार हुआ है। दर्शन-पूजनादि करके भोजनादि किया और रातको यहां ही आराम किया, और सबेरे चारबजे यहांसे चलकर एक बजेके करीब आर-सीकेरी पहुँचे, वहाँ स्नानादिसे निवृत्त हो मन्दिरजीमें दर्शन किये। पार्श्वनाथकी मूर्ति बड़ी ही मनोज्ञ है। एक शिला-लेख भी कनाड़ी भाषामें उत्कीर्ण किया हुआ है। यहां समय अधिक हो जानेसे मीठे पानीके नल बंद हो चुके थे, अतः खारा पानीका ही उपयोग करना पड़ा। और भोज-नादिसे निवृत्त हो कर ३ बजेके करीब हमलोग चन्नराय पट्टनके लिए चलदिये। और ७॥ बजेके करीब चन्नराय पट्टन पहुँच गए। और चन्नराय पट्टनसे ८॥ बजे चलकर ६ बजेके करीब श्रवणबेल्गोल (श्वेतसरोवर) पहुँच गए, रास्ते-मेंचलते समय श्रवणबेल्गोल जैसे २ समीप आता जाता था। उस लोकप्रसिद्धमूर्तिका दूरसे ही भव्य दर्शन होता जाता था। और गोम्मटेश्वर की जयके नारोंसे आकाश गूंज उठता था रास्तेका दृश्य बड़ाही सुहावना प्रतीत होता था। और मूर्तिके दूरसे ही दर्शन कर हृदय गद्गद् हो रहा था। सभीके भावोंमें निर्मलता, भावुकता और मूर्तिके समीपमें जाकर दर्शन कर अपने मानवजीवनको सफल बनानेकी भावना अंतरमें स्फूर्ति पैदा कर रही थी, कि इतनेमें श्रवण बेल्गोल आ गया। और मोटर अपने निश्चित स्थान पर रुकगई। और सभी सवारियाँ गोम्मट-देवकी जयध्वनिके साथ मोटरसे नीचे उतरीं। और यही निश्चय हुआ कि पहले ठहरनेकी व्यवस्था करलें बादमें सब कार्योंसे निश्चिंत होकर यात्रा करें। अतः प्रयत्न करने पर गाँवमें ही एक मुसलमानका बड़ा मकान सौ रुपयेके किरायेमें मिल गया और हमलोगोंने ११ बजे तक सामानआदिकी व्यवस्थासे निश्चिंत होकर स्थानीय मन्दिरोंके दर्शनकर आराम किया। क्रमशः परमानन्द जैन

विवाह और दान

श्रीलाला राजकृष्णजी जैनके लघु भ्राता लाला हरिश्चन्द्रजी जैनके सुपुत्र बाबू सुरेशचन्द्रका विवाह मथुरा निवासी रमणलाल मोतीलालजी सांरावाओंकी सुपुत्री सौ० सुशीला कुमारीके साथ जैन विधिसे सानन्द सम्पन्न हुआ। वर पक्षकी ओरसे १०००) का दान निकाला गया, जिसकी सूची निम्न प्रकार है:—

१०१) वीर सेवा मन्दिर, जैन सन्देश, ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा, अग्रवाल कालेज मथुरा अग्रवाल कालेज मथुरा, अग्रवाल कन्या पाठशाला मथुरा प्रत्येक को एक सौ एक।

५१) वाली संस्थाएं स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस, उदासीनाश्रम ईसरी, अम्बाला कन्या पाठशाला, समन्तभद्र विद्यालय

२५) जैन महिलाश्रम, देहली। अग्रवाल धर्मार्थ औषधालय, मथुरा, गौशाला मथुरा प्रत्येक को २५)

२१) मन्दिरान मथुरा, जयसिंहपुरा, वृन्दावन चौरासी, घिया मंडी, और घाटी। जैन अनाथाश्रम देहली। आचार्य नमि सागर औषधालय देहली हर एक को इक्कीस।

११) वाली संस्थाएं और पद जैन बाला विश्राम आरा, मुमुक्षु महिलाश्रम महावीर जी, जैनमित्र सूरत।

७) परिन्दोंका हस्पताल, लालमन्दिर, देहली।

५) अनेकान्त, जैन महिलादर्श, अहिंसा, वीर, जैन गजट देहली, प्रत्येक को पांच। ४) मनिआडर फीस।

वीरसेवामन्दिरको जो १०१) रुपया बिल्डिंग फंडमें और अनेकान्त को ५) रुपया जो सहायतार्थ प्रदान किये हैं। उसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

साहित्य परिचय और समालोचन

१ तीर्थंकर वर्द्धमान—लेखक श्री रामचन्द्रजी रामपुरिया बी. कॉम बी. एल. । प्रकाशक, हम्मीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, सुजानगढ (बीकानेर) । पृष्ठ संख्या ४७० । मूल्य सजिल्द प्रतिका ५) रुपया ।

प्रस्तुत पुस्तकका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है। इस पुस्तकमें तीर्थंकर वर्द्धमानका श्वेताम्बरी मान्यतानुसार परिचय दिया गया है। इस पुस्तकके दो भाग अथवा खण्ड हैं। जिनमेंसे प्रथममें महावीरका जीवन परिचय है और दूसरेमें उत्तराध्ययनादि सूत्र-ग्रंथोंपरसे उपयोगी विषयोंका संकलन सानुवाद दिया गया है और उन्हें शिक्षापद, निर्ग्रन्थपद, दर्शनपद और क्रान्तिपदरूप चारविभागोंमे यथाक्रमविभाजित करके रक्खा है। इन दोनोंमें जो सामग्री दी गई है वह उपयोगी है।

परन्तु यह खास तौरसे नोट करने लायक है कि तीर्थंकर वर्द्धमानका जीवन-परिचय अपनी साम्प्रदायिक मान्यतानुसार ही दिया गया है। उसमें कोई नवीनता मालूम नहीं होती। यदि प्रस्तुत ग्रन्थमें भगवान महावीरके जीवनको असाम्प्रदायिक रूपसे रक्खा जाता तो वह अधिक सम्भव था कि उससे पुस्तक उपयोगी ही नहीं होती, किंतु असाम्प्रदायी जनोंके लिए भी पठनीय और संग्रहणीय भी हो जाती। पुस्तककी प्रस्तावना बाबू यशपालजीने लिखी है।

फिर भी श्रीचन्द्रजी रामपुरियाने उक्त पुस्तकको सरल और उपयोगी बनानेका भरसक प्रयत्न किया है। इसके लिए वे बधाईके पात्र हैं। पुस्तककी छपाई और गेटअप, सुन्दर है।

२ महावीर वाणी—सम्पादक, पं बेचरदासजी दोशी, अहमदाबाद। प्रकाशक, भारत जैन महामण्डल वर्धा। पृष्ठ संख्या सब मिला कर २७०, साइज छोटा, मूल्य सवा दो रुपया।

उक्त ग्रन्थका विषय उसके नामसे स्पष्ट है प्रस्तुत पुस्तक श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थोंपरसे उपयोगी विषयोंका चयनकर उन्हें सानुवाद दिया गया है। और पीछेसे उनका प्रथम परिशिष्टमें संस्कृत अनुवाद भी दे दिया गया है। अबकी बार समुद्धृत वाक्योंके नीचे उस ग्रन्थका नाम मय उद्धरणादिके दे दिया गया है। प्रस्तावना डाक्टर भगवान दासजीने लिखी है। छपाई-सफाई अच्छी है।

कुण्डलपुर लेखक 'नीरज' जैन। प्रकाशक पं० मोहनलाल जैन शास्त्री, पुरानी चरहाई जबलपुर (मध्यप्रदेश) पृष्ठ संख्या २८ मूल्य पांच आना।

प्रस्तुत पुस्तकमें 'नीरज' जीने ४२ ललित पद्योंमें कुण्डलपुर क्षेत्रका परिचय देते हुए वहां की भगवान् महावीर की उस सातिशय मूर्तिका परिचय दिया है। कविता सुन्दर एवं सरल है। और पढनेमें स्फूर्ति दायक है। कविता के निम्न पद्योंको देखिये जिनमें कविने मूर्ति भंजक औरंगजेब की मनोभावना का, जो टाकीलेकर मूर्तिके भंग करने का प्रयत्न करने वाला था—

२६

सबसे आगे औरंगजेब, करमें टाँकी लेकर आया।
पर जाने क्योंकर अकस्मात् उसका तन औ' मन थर्राया

२७

वह वीतराग छवि निनिर्मेष, अब भी वैसी मुस्काती थी
थी अटल शाँति पर लगती थी-उसको उपदेश सुनाती थी।

२८

सुन पड़ा शाहके कानोंमें, मिट्टीके पुतले सोच जरा,
यह अहङ्कार, धनधान्य सभी-कुछ, रह जावेगा यहीं धरा

२९

'जीवनकी धारामें अब भी, तू परिवर्तन ला सकता है
अब भी अवसर है अरे मूढ, तू'मानव'कहला सकता है

३०

सुनकर कुछ चौंका बादशाह, मस्तक भन्ना या सारा
अब तकके कृत्यों पर उसके, मनने उसको ही धिक्कारा

३१

यह भ्रम था अथवा सपना था ? या मेरीही मतिभूलीथी
प्रतिमा कुछ बोली नहीं, किन्तु-यह सदा-गैर मामूलीथा।
पुस्तक प्रकाशकसे मंगाकर पढ़ना चाहिये।

—परमानन्द शास्त्री

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) 15)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... 8)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... 5)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... 2)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... 1॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... 1॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... 1)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... 1)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित 1)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... 1)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्त्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत 1)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वर्धीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी 'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक-जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

विन्ध्यगिरी पर गोमट्टेश्वर की विशाल मूर्ति
(इसका वर्णन हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण नामक लेखमें देखिये)

विषय-सूची

समाज से निवेदन

'अनेकान्त' जैन समाजका एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोज पूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनकर, तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें केवल दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणीमें नाम लिखाने वाले दो सौ सज्जनों की आवश्यकता है। आशा है समाजके दानी महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदानकर सहायकश्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बंटायेंगे।

मैनेजर—'अनेकान्त'
१ दरियागंज, देहली।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरोंको बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूप अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानोंको।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), १०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पताः—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ८	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली पौष वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०१०	जनवरी १९५४

श्रुतसागरसूरिकृत

श्रीपार्श्वनाथस्तोत्रम्

अनेकान्त वर्ष ९ किरण ७में अनेकान्तके सम्पादक श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने आचार्य प्रभाचन्द्रके पट्टशिष्य मुनि पद्मनन्दीका 'जीरा पल्ली पार्श्वनाथ' नामका एक स्तवन प्रकाशित किया था,जिनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और १५वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। वह स्तोत्र उन्हें सन् १९४७ में कानपुरके एक गुटके परसे उपलब्ध हुआ था। 'जीरापल्ली' नामका एक अतिशय क्षेत्र है जिसमें भगवान पार्श्वनाथकी सातिशय दिगम्बर मूर्ति विराजमान थी। यह क्षेत्र दिगम्बर समाजका था। भट्टारक पद्मनन्दि और श्रुतसागरसूरिआदिने उसकी वंदना की तथा स्तवन बनाये। परन्तु आज हमें उसका पता भी नहीं है। इसी तरह हमने अनेक तीर्थक्षेत्रोंको उपेक्षासे छोड़ दिया है। विद्वानोंको इसका पता लगाना चाहिये। श्वेताम्बर समाजमें भी 'जीरापल्ली' नामका अतिशय क्षेत्र माना जाता है। संभव है उसी स्थानपर दोनोंका एकही सम्मिलित क्षेत्र रहा हो, अथवा उसी स्थानपर उभय सम्प्रदायके अलग-अलग मन्दिर रहे हों, कुछ भी इस विषयमें बादको प्रकाश डालनेका यत्न किया जायगा।

अभी हालमें दिल्लीके धर्मपुराके नये मन्दिरका शास्त्रभण्डार देखते हुए नं० ७ के गुटकेमें श्रीश्रुतसागरसूरिके दो नवीन अप्रकाशित स्तोत्र प्राप्त हुए हैं जिनमें प्रथम स्तोत्र शान्तिनाथका है और दूसरा 'जीरापल्ली' के पार्श्वनाथका स्तवन है। इन दोनोंमें पार्श्वनाथका यह स्तवन बड़ाही महत्वपूर्ण है। इस स्तवनकी यह खास विशेषता है कि उसमें भगवान पार्श्वनाथका पूरा जीवन-परिचय १५ पद्योंमें अंकित किया गया है और उनके तीर्थमें होनेवाले मुनि-श्रावकादिकी संघ-संख्याका भी निर्देश निहित है। रचना ललित और पढ़नेमें रुचिकर प्रतीत होती है। यह स्तोत्र याद करने योग्य और संग्रहणीय है।

—परमानन्द जैन

श्रीपार्श्वनाथस्तोत्रम्

श्रीमत्पोतनपत्तनाधिपसदाचारारविंदप्रभो-र्मान्योऽभूत्किल विश्वभूत्यभिधया विप्रः पुरोधा बुधैः।
कांता कांतिमदास्य निर्जितसुधा सूतिर्वरानुंधरी, तस्य श्रीमरुभूतिरूतिचतुरः पुत्रस्तयोर्मामव ॥ १ ॥

तदनु मलयभूध्रे सल्लकीसद्वनेभूः, शठ-कमठ-हतासुर्वज्रघोषः करीन्द्रः।
निजनृपमुनिदत्तश्रावकाचारचंचुश्चतुरसुरनिषेव्यः सत्सहस्रारदेवः ॥ २ ॥

ताराद्रौ वरपौष्कलावतमितं दुर्गे त्रिलोकोत्तमे, विद्युद्गत्यभिधानखेचरतडिन्मालांगजन्माऽजनि।
निष्क्रान्तोऽत्र समाधिगुप्तनिकटे प्रालेयशैले शयुप्राप्तप्राणविमर्जनो दिशतु वो देवोऽग्निवेगः श्रियं ॥ ३ ॥

सुरयुवति मनोऽभो जन्मनालीकिनीष्टः, प्रभु रजनि विमाने पुष्करेत्य द्युलोके।
तव रिपुरपि रेफप्रेरितोऽगादुरात्मा विमद्दशद्दशायुर्वाहमःश्वभ्रमध्ये ॥ ४ ॥

इहापरविदेहपद्मगतवाहपूर्नायकप्रमोदर्यादवज्ञवीर्यविजयात्तनूजोत्तमः।
षडंगबलयुक्तपोनिर्धिरभूरभूतद्वहं, कुरंगविशिखक्षतौ विमदवज्ञनाभीश्वरः ॥ ५ ॥

देवत्वं भवसिस्मविस्मयकराग्रैवेयके पंचमे, पुण्यप्राप्त सुभद्रनामनिविमानेद्दं सुराधीश्वरः।
श्रीमत्काश्यपगोत्रपूर्वनगरश्रीक्ष्वाकुवंशप्रभं, कार्यानंददवज्ञ बाहुनृपतेरानंदनामा सुतः ॥ ६ ॥

स्वामीहितसचिवविरचितजिनापविनिविपुलमतिकृतप्रश्नः।
सागरदत्तात्ततपः क्षीरवनेसिंहधृनगलः शमितः ॥ ७ ॥

त्वं सार्द्धत्रिकरो जिन प्रकृतिभाग्दिव्यानते प्राणतं, विंशत्यब्धिमितायुरास्पदमितो भूमप्रभा-बोधनः।
तावद्वर्षसहस्रभुक्तिरमराधीशैः कृतः प्रार्चनो, निःश्वासं भजसे दशस्वपिसमाशास्वास्वतीताम च ॥ ८ ॥

वमीष्टो विश्वसेनः शतमखरुचितः काशिवाराणसीशः, प्राप्तेज्यो मेरुशृंगे मरकतमणिरुक्पार्श्वनाथो जिनेन्द्रः।
तस्याभूस्त्वं तनूजःशतशरद्रचितस्वायुरानंदहेतुर्भव्यानां भाव्यमानो भवचकितधियां धर्मधुर्यो धरित्र्यां ॥ ९ ॥

स्वामिन्न षोडशवार्षिकेण भवता माता महस्तापस-श्छिदन् काष्ठमहीप्रबोध्य स महीपालो विमानीकृतः।
वेश्मागाश्चसुभौमराजतनुजे नामाकुमारोवनं, त्रिंशद्वर्षमितो गतोसि तपसेऽयोध्यापतेर्वर्णनात् ॥ १० ॥

आश्रित्याष्ट्र ममौपवस्त्रमवनीनाथ त्रिशत्यावृतो, भुक्त्वा ब्रह्ममहीपतेः शुचिगृहे श्रीगुल्मखेटास्पदे।
चातुर्मास्य मथातिवाह्यतपसा सप्ताहयोगःकृती, सात्येतः किल संवरेण क्रुधिया शेष व्यपेताहितः ॥ ११ ॥

श्रुत्वाकेवलबोध वैभवमिदं दृष्टवा च ते तापसाः। पादद्वंद्वगति शतान्यपिगता प्राप्तत्रिलोकीपते।
आमंस्तेदशगण्य गीर्गणधराः श्रीमत् स्वयंभूमुखाः, शून्येष्वग्निमिताश्च पूर्वचतुराश्चेनश्चमत्कारिणः ॥ १२ ॥

रंध्राणि द्वि वियद्गुतानि निरताः शश्वत्कृते शैक्षिकाः, संतो विष्णुपदद्वयाहतगुणं स्थानावधिज्ञानिनः।
भास्वत्केवलिनः सहस्रमृषयस्तद्वद्गता विक्रिया-मर्हन खत्रतमप्रमंमितियुता श्रीमन्मनःपर्ययाः ॥ १३ ॥

अष्टवेचशतानिदुर्मतभिदः स्याद्वादिनो वादिनः, साध्यः खत्रयषड्भिर्मामिनिमितालक्षं तथोपासकाः।
लक्षास्त्रिस्र उपासिकान गणितादेवाश्चदेव्यो बुधै-स्तिर्यचोमितकीर्त्तनश्चभगवन पूज्यस्त्वमेभिः श्रियैः ॥ १४ ॥

त्रैलोक्ये स शिरोविभूषणमणे सम्मेदमुक्तेविभो, जीरापल्लिपुरप्रकृष्टमहिमन सौकुन्दसेवानिशे।
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्र चंद्रचलनालग्नस्य दासस्य मे, नाम्नैव श्रुतसागरस्य शिवकृद्यात्भवोच्छित्तये ॥ १५ ॥

॥ इति पार्श्वनाथस्तोत्रं समाप्तम् ॥

हमारी तीर्थ यात्राके संस्मरण

(परमानन्द जैन शास्त्री)

श्रवणबेलगोल नामका एक छोटासा गांव है, वहाँ जैनियोंके मन्दिरों आदिके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु देखने योग्य नहीं है। इस ग्रामके दक्षिणकी ओर विन्ध्यगिरि और उत्तरकी ओर चन्द्रगिरि नामके पहाड़ हैं। इन पर्वतोंके मध्यमें श्रवणबेल्गोल (श्वेत सरोवर) नामका गाँव बसा हुआ है, जिसे जैनबद्री भी कहा जाता है। यह गांव मैसूरराज्यके हासन जिलेका प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान है। यह स्थान कितना सुरम्य है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं।, यह स्थान अनेक महर्षियोंकी तपोभूमि और समाधिस्थान रहा है। यहाँ अनेक शिलालेख, विशाल मूर्तियाँ प्राचीन गुफाएँ और अनेक भव्यमन्दिर विद्यमान हैं। यह वही स्थान है जहाँ ईसाकी तीसरी शताब्दी पूर्व भद्रबाहु श्रुतकेवलीने समाधिमरण पूर्वक देहोत्सर्ग किया था। और उनके शिष्य मौर्यसाम्राट् चन्द्रगुप्तने अपने गुरु भद्रबाहुकी चरण पूजा करते हुए अपना शेष अन्तिम जीवन व्यतीत किया था। आचार्य भद्रबाहुने इन्हें दीक्षित किया था, इनका दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र रक्खा गया था ॐ। इसी स्थान पर गंगवंशी राजा राचमल द्वितीयके सेनानी, वैरीकुलकालदण्ड रणराजसिंह, समरधुरंधर आदि अनेक पद विभूषित महामात्य राजा चामुण्डरायने बाहुबलीकी विशाल मूर्तिको उद्घाटित कर सन् १०२८ में उसका प्रतिष्ठाकार्य सम्पन्न किया था। ऐसा श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है। राजा चामुण्डराय आचार्य अजितसेनके शिष्य थे। गोम्मटसारके कर्ता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने कर्मकाण्डकी अन्तिम प्रशस्तिमें भगवान् नेमिनाथकी एक हस्त प्रमाण इन्द्रनीलमणिमय प्रतिमाके चामुण्डराय द्वारा बनाये जानेका उल्लेख किया है। ×

इस गाँवमें उक्त दोनों पहाड़ोंके अतिरिक्त अनेक जैन बसदि अथवा मन्दिर विद्यमान हैं जिनका परिचय निम्न प्रकार है:—

१ भण्डारवसदि—यह मन्दिर होय्यसल वंशके प्रथम राजा नरसिंह राजके कोषाध्यक्ष अमात्य (भण्डारी) हुल्लराजने शक सं० १०८० वि० सं० १२१५ में बनवाया था इस कारण इसका नाम भंडारवस्ति पड़ा। हुल्लराज वाजिवंशी यक्षराज और लोकाम्बिकाके पुत्र थे। वे सदा जिनेन्द्रकी भक्तिमें तत्पर रहते थे। जैनधर्मके संपोषक और जैन साधुओंको आहारादि देने, जैनमन्दिरोंका निर्माण एवं जीर्णोद्धार करने और जैन पुराणोंको सुननेके विशेष उत्साहको लिये हुए थे। इनकी उपाधि सम्यक्त्व चूड़ामणि थी। इनके गुरु कुक्कुटासन मलधारीदेव थे। हुल्लराजकी धर्मपत्नीका नाम पद्मावतीदेवी था। मंत्री हुल्लराजने नयकीर्तिमुनिके शिष्य भानुकीर्तिको नरसिंहदेवके विजययात्रासे लौटने पर इस मन्दिरकी रक्षार्थ 'सवणूरु' नामका एक गाँव धारापूर्वक दानमें दिया था। कोपणमें नित्यदानके लिये वृत्तियोंका प्रबन्ध किया। गङ्गनरेशों द्वारा संस्थापित प्राचीन 'केलंगेरे' में एक विशाल जिनमन्दिर, और अन्य पाँच जिनमन्दिर निर्माण कराये। श्रवणबेलगोलमें परकोटा रंगशाला तथा दो आश्रमों सहित इस चतुर्विंशति तीर्थंकर मंदिरका निर्माण कराया। इस वस्तिमें चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हैं। इसी कारण इस मन्दिरको चतुर्विंशति वसति भी कहा जाता है यह मन्दिर बड़ी विशालताको लिए हुए है, और बड़े-बड़े पाषाणोंसे निर्मित है। इस मन्दिरमें गर्भगृह, नवरंग, द्वारमण्डप और उसके चारों ओर एक प्राकार (कोट) बना हुआ है। इस मन्दिरके सामने एक मानस्तम्भ और एक पादुकशिला भी बनी हुई है जिसे वहाँके साहूकार चन्द्रय्याने बनवाया था भंडारवस्तिके पश्चिमकी ओर जो शक सं० १०८१ का शिलालेख अंकित है। उसमें होय्यसल नरेश नरसिंहके वंशका विस्तृत परिचय दिया हुआ है और चतुर्विंशति मन्दिरकी वन्दनाकर 'सवणूरु' ग्रामके दानके उल्लेखके साथ उनके लघुभ्राता लक्ष्मण और अमरका नाम भी उत्कीर्णित है। नरसिंहदेवने इस मन्दिरका नाम 'भव्य चूडामणि' रक्खा था। इस लेखमें हुल्लय्या हेगडे, और बोकय्य आदिके द्वारा प्रार्थना पत्र देकर गोम्मटपुरके कुछ टैक्सोंका दान इस चतुर्विंशति वस्तिको करानेका उल्लेख भी उत्कीर्णित है। लेखका अन्तिम भाग बहुत घिस गया है वह साफ नहीं पढ़ा जाता। दर्शन मण्डपमें ब्रह्मदेव और पद्मावतीकी मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। इस बसदि में कई शिलालेख भी अंकित हैं जिसमें इस मन्दिरके बनवाए जाने आदिका उक्त कथन दिया हुआ है। शक सं० १२०० वि० सं० १३३५ के एक शिलालेखमें इसी भण्डारियवसतीके देवर वल्लभदेवके नित्य अभिषेकके लिए उदयचन्द्रदेवके

ॐ देखो, चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख नं० १

× देखो, गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा नं० ९६२।

शिष्य मुनि चन्द्रदेवादिने उक्त चन्देकी रकम एकत्रित की थी।

२ अक्कनवसदि—यह वसदि चन्द्रगिरि पर्वतके नीचे बनी हुई है, जिसे शिलालेख नं० १२४ ३२७) के अनुसार होय्यसल वंशके द्वितीय राजा बल्लालके ब्राह्मण मन्त्री चन्द्रमौलीके जैनधर्मावलम्बी होनेके बाद उनकी अचियक्का नामकी पत्नीने शक संवत् ११०३ (वि० सं० १२३८) में बनवाया था। मंत्रीके इस कार्यसे सन्तुष्ट होकर राजाने इस वसदिकी पूजनादि व्यवस्थाके लिये 'बम्मनहल्लि' नामका एक ग्राम दानमें दिया था। अचियक्का या आचलदेवीके द्वारा निर्मित होनेके कारण इसका नाम अक्कनवसदि पड़ा है। इस मन्दिरमें गर्भगृह सुखनिवास नवरंग और मुखमंडप हैं। गर्भगृहमें भगवान पार्श्वनाथको सुन्दर मूर्ति विराजमान हैं विग्रहके ऊपर सप्तफणवाला सर्प बना हुआ है और प्रभावली (भामण्डल) में चतुर्विंशति तीर्थकरोंके चिन्ह अंकित हैं। गर्भगृहके सामने धरणेन्द्र और पद्मावतीकी ३॥ फुटकी मूर्तियां भी प्रतिष्ठित हैं। इस वसदिमें कसौटीके ४ सुन्दर खम्मे लगे हुए हैं, जिनमें दर्शकोंके मुख प्रतिविम्बित होते हैं। ऊपर मन्दिरमें पूर्व चित्रकलाके दर्शन होते हैं। मन्दिरके ये खम्भे बड़े ही कीमती हैं।

३ नगर जिनालय—इस मन्दिरका निर्माण होय्यसल वंशके द्वितीय राजा बल्लालके नगर श्रेष्ठी तथा बम्मदेवहेगडे और जगवईके पुत्र और तथा नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्तिके शिष्य मन्त्री नागदेव हेगडेने शक सं० १११८ (वि० सं० १२५३) में बनवाया था। नगरके व्यापारियों द्वारा पोषित और संरक्षित होने आदिके कारण इसका नाम 'नगरजिनालय' पड़ा है। इस मन्दिरमें गर्भगृह, रंगमण्डप और दर्शन मण्डप हैं। गर्भगृहमें भगवान आदिनाथकी २॥ फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। शिलालेख नं० १२२ (३२६) से यह भी पता चलता है कि नयकीर्तिदेवके नाम पर 'नागसमुद्र' नामका एक तालाब भी बनवाया था। जो इस समय 'जिगणे कट्टे' नामसे प्रसिद्ध है। नयकीर्तिका समाधि मरण 1176 A. D. में हुआ था। उनके शिष्य नागदेवने तब उनका स्मारक भी बनवाया था।

४ सिद्धान्त वसदि—इस मन्दिरके निर्माणके बहुत पीछेसे सिद्धान्त ग्रन्थोंके रखने आदिके कारण इसका नाम सिद्धान्तवसदि हुआ है। शक सं० १६२० वि० सं० १७-५५ में किसी यात्रीने इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी एक मूर्तिको प्रतिष्ठित कराकर विराजमान किया है। अब इस मन्दिरमें सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं रहे, वे मूडबिद्रीके सिद्धान्त मन्दिरमें विराजमान हैं।

५ दानशाला वसदि—इस वस्तिका कब निर्माण हुआ, यह कुछ ज्ञात नहीं है। परन्तु चिदानन्द कविके शक संवत् १६०२ में रचित 'मुनिवंशाभ्युदय' नामक ग्रन्थसे इतना जरूर ज्ञात होता है कि मैसूरके राजा दोड्डदेव राजवडयरके राज्यकालमें युवराज चिक्कदेवने सन् १६५९-७२ में इस देवालयमें आकर पंचपरमेष्ठियोंकी मूर्तियोंके दर्शन कर इस वस्तिके सेवा-कार्यके लिये 'मदनेउ' नामका एक ग्राम दानमें दिया था।

६ मंगायि वसदि—इस मंदिरमें गर्भगृह, सुखनासि दर्शनमण्डप हैं। गर्भगृहमें शांतिनाथ भगवानकी ४॥ फुटकी प्रतिमा विराजमान हैं। गर्भगृहके द्वारके दोनों ओर चमर धारी ५ फुट ऊँची दो मूर्तियाँ हैं मुखमण्डपमें वर्धमानस्वामीकी मूर्ति स्थापित है। इस मूर्तिके पीठमें एक शिलालेख नं० ४२१ (३३८) उत्कीर्णित है। इस मन्दिरके दरवाजेमें दो सुन्दर हाथी बने हुए हैं। शिलालेख नम्बर १३२ (३४१) ४३० (३३१) से पता चलता है कि श्री चारुकीर्तिकी भक्ता और शिष्या मंगायि अम्माने इस मन्दिरका निर्माण कराया था इस कारण इसका नाम 'मंगायि वसदि' विश्रुत हुआ है।

इस मन्दिरका दूसरा नाम त्रिभुवन चूडामणि है। ऐसा शिलालेख नं० १३२ (३४१) जिसका समय शक सम्वत् १२४७ के लगभग है, मालूम पड़ता है। भगवान शान्तिनाथकी मूर्तिकी पीठमें उत्कीर्ण शिलालेखसे ज्ञात होता है कि पंडिताचार्यकी शिष्या और देवराजकी रानी भीमादेवीने इसकी प्रतिष्ठा कराई थी। प्रस्तुत देवराज विजयनगरके प्रथम देवराज जान पड़ते हैं। इस मन्दिरका जीर्णोद्धार कार्य गेरुसोप्पे गाँवके हिरियम्माके शिष्य गुम्मटने शक सम्वत् १३३४ में कराया था।

७. जैनमठ—यह मन्दिर अधिक प्राचीन नहीं है और न इसमें अधिक प्राचीन मूर्तियाँ ही हैं। जो मूर्तियाँ विराजमान हैं वे सब प्रायः १८वीं १९वीं सदीकी ज्ञात होती हैं। इस मठमें कागज पर लिखे हुए कई 'सनदपत्र' मौजूद हैं। मठमें ताडपत्रीय ग्रन्थोंका एक महत्वपूर्ण

शास्त्रभण्डार है जिसे देखनेका मुझे उस समय कोई अवसर नहीं मिला, मेलेके कारण देखना बड़ा कठिन था। मन्दिरोंमें दर्शन ही उस समय बड़ी कठिनतासे होता था। इस तरहसे यह नगर किसी समय अधिक सम्पन्न रहा है।

श्रवण बेल्गोलके आसपास अनेक ग्राम हैं, उनमें जैन-मन्दिर तथा अनेक शिलालेख पाये जाते हैं, जिन्हें लेख वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है। उनके देखनेसे यह स्पष्ट पता चलता है कि किसी समय श्रवणबेलगोलके आस-पास के ग्राम भी सम्पन्न और जैनियोंके आवाससे व्याप्त रहे हैं। परन्तु अब उन ग्रामोंमें जैनियोंकी संख्या बहुत ही विरल पाई जाती है जो नहींके बराबर है। जैनियोंकी इस हीनावस्थाके कारणोंके साथ वहाँ व्यापारिक व्यवस्थाका न होना है। दक्षिण प्रान्तमें जैनियोंके अभ्युदय और अवनतिका वह चित्र पट इस यात्रामें मेरे हृदयपर अंकित हो गया है। अतः जब हम जैनधर्मके अभ्युदयके साथ अपनी अवनति पर विचार करते हैं तब चित्तमें बड़ा ही खेद और दुःख होता है।

विन्ध्यगिरि—इस पर्वतका नाम 'दोड्डबेट्ट' अर्थात् बड़ा पर्वत है। समुद्रतलसे इसकी ऊँचाई ३३४७ फुट है और जमीनसे ४७० फुट ऊँचा है तथा उसका विस्तार चौथाई मीलके लगभग जान पड़ता है। इस पर्वतको 'इन्द्रगिरि' और दक्षिण विंध्याचल भी कहते हैं। इसके नीचेसे पहाड़के शिखरतक ऊपर जानेके लिये ५०० सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ये सीढ़ियाँ पहाड़में ही उत्कीर्ण की हुई हैं। प्रवेशद्वारसे पहाड़ सुन्दर जान पड़ता है। अन्य पर्वतोंके समान वह बीहड़ अथवा भयंकर दिखाई नहीं देता। पाषाण चिकना और कुछ ढालूपनको लिये हुए है एक दो पाषाण तो इतने चिकने थे कि बालक उनपर बैठकर ऊपरसे नीचे सरकते थे। पहाड़के ऊपर चारों तरफ कोट है उसमें एक बड़ा दरवाजा है जिसमेंसे उक्त मूर्तिके पास जाया जाता है। मूर्तिके पीछे और बगलमें कोठरियाँ बनी हुई हैं जिनमें चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ विराजमान हैं। उस हातेके मध्यमें गोम्मटेश्वरकी ५७ फीट ऊँची लोक प्रसिद्ध मूर्ति है। इस मूर्तिका मुख उत्तरकी ओर है, ऊपर मूर्तिका कोई आधार नहीं है, शिरके बाल घुंघराले हैं, महामस्तकाभिषेकके कारण नीचेसे ऊपर तक बिजलीके हरे, लाल, नीले, पीले आदि विभिन्न रंगोंके बल्बोंसे पर्वतपर जानेका मार्ग रात्रिमें भी प्रकाशमान था। मूर्तिके ऊपर भी प्रकाशके प्रवाहकी (Feood eight) व्यवस्था हासनके पुट्टय्य स्वामी नामक श्रेष्ठि और उनके पुत्रोंकी सहायतासे कई वर्षोंसे हुई है। जो रात्रिमें भी बराबर मूर्तिका भव्यदर्शन कराती रहती है। मैंने ता० २ मार्चके प्रातःकाल गोम्टेश्वरकी उस दिव्यमूर्तिका साक्षात् दर्शन किया। मूर्तिकी वीतराग मुद्राका दर्शनकर चित्त में जो आल्हाद, आनन्द तथा शान्ति प्राप्त हुई उसे वाणीके द्वारा प्रकाशमें लाना सम्भव नहीं है। बहुत दिनोंसे इस मूर्तिके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा बनी हुई थी, वह पूर्ण हुई, अतएव मैंने अपने मानव जीवनको सफल समझा। वास्तवमें वह मूर्ति कितनी आकर्षक, सौम्य और वीतरागताकी निदर्शक है इसे वही जानता है जिसने उसका साक्षात् दर्शन कर अपनेको सफल बनाया है। मैंने स्वयं मूर्तिके सौन्दर्यका १५-२० मिनटतक चित्तकी एकाग्र दृष्टिसे निरीक्षण किया, तब जो स्तोत्र पाठ पढ़ रहा था वह स्वयं ही रुक गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि जिसतरह किसी दरिद्र व्यक्तिको अपूर्व निधिका दर्शन मिल जानेसे चित्तमें प्रसन्नता एवं आनन्दका अनुभव होता है उसी तरह मुझे जो आनन्द मिला वह वाणीका विषय नहीं है। मूर्तिके पास जाकर दर्शक मूर्तिके अपार सौन्दर्य और उसकी रूप मधुरिमाका पान करते करते उसकी चित्तवृत्ति थककर भले ही परिवर्तित हो जाय परन्तु दर्शककी चिर पिपासित आँखें उस रूप-राशिका पान करती हुई भी तृप्त नहीं होतीं। यही कारण है कि इन्द्र भी प्रभुको सहस्त्रों नेत्रोंसे देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता और सबसे अनूठी बात तो यह है कि अगणित नर-नारी अपने रसज्ञ नेत्रोंसे उस मूर्तिके सौन्दर्य-सिन्धुका पान करते हैं परन्तु उसमें कोई कमी नहीं आती, वह पुनः देखने पर नवीन और आश्चर्यकारक प्रतीत होती है। जैसाकि माघकविके निम्नवाक्य पदसे स्पष्ट है—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः'।

राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, गरीब, अमीर, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा और बालक जो कोई भी उस मूर्तिका दर्शन करता है उसके हृदयमें उस मूर्तिकी आश्चर्यकारक प्रतिभा, महानता और चतुर शिल्पीकी मनमोहक कलाका सुन्दर चित्रपट अंकित हुए बिना नहीं रहता। मूर्तिका प्रत्येक अंग नूतन सुधामृतसे सराबोर जान पड़ता है। अनेकवार दर्शन करनेपर भी वह ज्योंकी त्यों

दर्शनीय बनी हुई है। इस मूर्तिको प्रतिष्ठित हुए एक हजार वर्षके करीबका समय व्यतीत हो गया है फिरभी नवीन सरीखी मालूम पड़ती है। इससे साफ ध्वनित होता है कि उस मूर्तिके सौन्दर्यका अक्षय भंडार है। वह दर्शकको केवल अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं करती, किन्तु उसे उसके वास्तविक स्वरूपकी ओर भी अभिव्यंजित करती हैं। पार्श्ववर्ती लतावेल जो मूर्तिके कंधों तक पहुँच गई है और पैरोंके समीप उत्कीर्ण किए हुए कुक्कुट सर्पोंकी बामियें, बाहुबलीके निर्मम एवं निस्पृह साधु जीवनकी याद दिलाती हैं, उन्होंने अपने साधु जीवनमें भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डांस-मच्छरों, ठंड, वर्षा आदिकी बाधाओं-परिषहों-उपसर्गोंको जीतकर समता और समाधिकी एकता तथा दृढ़ताकी पराकाष्ठाको तो प्रकट किया है ही। साथही, आत्मध्यानकी उस निश्चल एवं निष्कंप एवं अडोल एकाग्र-चित्तवृत्तिको, जो मोहशत्रुको क्षणमें विनष्ट करनेकी क्षमता को प्रकट करता है और जिससे बाहुबलीने कैवल्य पदको प्राप्त किया था।

मूर्तिके विमल दर्शनसे बाहुबलीके जीवनकी महत्ताका स्पष्ट आभास होता है और हृदयमें उनके जीवन-परिचयकी झांकीका वह दृश्य भी हृदयमें हिलोरें लेने लगता है, जो घटनाचक्र दीक्षा लेनेसे पूर्व उनके जीवनकालमें घटित हुआ था और जो दीक्षा लेनेमें कारण हुआ।

बाहुबलीने जब राजाओंके समक्ष भरतजीको दृष्टि, जल और मल्लयुद्धमें जीत लिया, तो भी ये बड़े हैं इसीसे उन्हें पृथ्वीपर नहीं पटका किन्तु भुजाओंसे ऊँचे उठाकर कन्धे पर रख लिया, उस समय बाहुबलीके पक्ष वाले राजाओंने बड़ा शोर मचाया, इतनेमें भारतकी पराजय सहसा क्रोधमें परिणत होगई उनका सारा शरीर क्रोधकी ज्वालाओंसे झुलसने लगा। उन्होंने क्रोधसे अंध बनकर बाहुबलीपर चक्र चलाया; परन्तु देवोपुनीत शस्त्र वंशका घात नहीं करते। अतः बाहुबली बच गए और चक्ररत्न निस्तेज होकर उनके पास जा ठहरा। उस समय बड़े बड़े राजाओंने चक्रवर्तीसे कहा कि बस यह साहस रहने दो, इससे चक्रवर्तीको और भी अधिक सन्ताप हुआ। बाहुबली-ने धीरेसे भाई को उतारा, राजाओंने बाहुबलीसे कहाकि आपने खूब पराक्रम दिखलाया, उस समय कुछ क्षणके लिये बाहुबलीने भी अपनेको विजयी अनुभव किया, किन्तु दूसरे ही क्षण दृश्य बदल गया और कहाकि देखो, भारतने इस नश्वर राज्यके लिये कैसा लज्जाजनक कार्य किया, धिक्कार हो इस राज्य सम्पदाको, जो फलकालमें दुखदाई और क्षणभंगुर है। यह साम्राज्य व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है परन्तु विषयोंमें निमग्न प्राणी उनमें क्षण भंगुरता और नीरसताका अनुभव नहीं करता भोगी नर हित-अहितके ववेकसे शून्य होता है। परन्तु खेद है कि भरत उन सबको नित्य मान रहा है यह दुःखकी बात है, इस तरह भाईके उस लज्जाजनक कार्यका उल्लेख करते हुए बोले कि हे भाई! तूने मोहित होकर अकरणीय साहसका कार्य किया है। अतः यह राज्य-सम्पदा तुम्हें ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्! अब यह राज्य विभूति मेरे योग्य नहीं। इतना कहकर—बाहुबलीने अपने पुत्र महाबलीको राज्य देकर गुरु चरणोंकी स्वयं आराधना करते हुए दीक्षा धारण की। समस्त परिग्रहसे मुक्त होकर मुनि बाहुबलीने एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया—एक ही स्थानपर एक ही आसन-से खड़े रहनेका कठोर नियम लिया—बाहुबलीने इस दुर्धर तपश्चरणका अनुष्ठान करते हुए विविध कष्टों, उपसर्ग परिषहों, शीत-उष्ण और वर्षा आदिकी बाधाओं-की परवाह न करते हुये मौनपूर्वक स्वरूप चिन्तनमें अपने-को लगाया। उसकी भुजाओंसे लताएं लिपट गईं और उनके चरणोंके समीप सर्पोंने बामियाँ बना लीं। बाहुबली-का मुनिजीवन कितना निस्पृह, कितना निश्चल एवं अपूर्व था, तथा उनकी आत्म-साधना और रत्नत्रयरूप निधि कषाय शत्रुओंसे कैसे अजेय बनी रही, यह कल्पनाकी वस्तु नहीं, तपश्चरणसे उन्हें अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुईं। उनकी अहिंसाप्रतिष्ठासे जाति विरोधी जीवोंका वैर शांत हो गया था। इस तरह बाहुबलीको तपश्चरण करते एक वर्ष समाप्त होने पर भरतेश्वरने उनके चरणोंकी पूजा की, और बाहुबलीने केवलज्ञान प्राप्त किया, पश्चात् अव-शिष्ट अघातिया कर्म नष्ट कर अपने पितासे पूर्वही शिव-धाम प्राप्त किया।

मूर्तिके दर्शनसे उनकी जीवनगाथाका स्मरण हुए बिना नहीं रहता। मूर्तिकी गम्भीर आकृति, ध्यानस्थ मुखमुद्रा, और मुखकी सौम्यता दर्शकके चित्तको आकृष्ट किये बिना नहीं रहती। गोम्मटेश्वरकी इस मूर्तिके चारों ओर यक्ष यक्षिणीकी मूर्तियाँ हैं, जिनमें एकके हाथमें चौरी और दूसरेमें फल है। मूर्तिके बाईं ओर पत्थरका

एक गोल पात्र बना हुआ है जिसका नाम 'ललितसरोवर' है। अभिषेकका जल उसीमें एकत्रित होता है।

गोम्मटेश्वर-द्वारकी बाईं ओर एक पाषाण पर उत्कीर्ण हुए शक संवत् ११०२ के बोप्पनकविके कन्नड काव्यसे इस बातका पता चलता है कि गंगवंशीय राजा राचमलके सेनापति राजा चामुण्डरायने गोम्मटेशकी इस विशाल मूर्तिका निर्माण करवाया था। इस बातकी पुष्टि बाहुबली-की मूर्तिके चरण वाले चामुण्डरायके निम्न कनडी लेखसे भी होती है। 'श्री चामुण्डराजे माडिसिदं'।

इस मूर्तिकी प्रतिष्ठा २३ मार्च सन् १,०२८ में सम्पन्न हुई है। मूर्तिका प्रतिष्ठापक उस समयका सुयोग्य वीरसेनानी और धर्मनिष्ठ राजा था, साथ ही विद्वान और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति था। वह अपनी कला कृतियोंके द्वारा अमर है। वह उच्चकोटिका लेखक भी था, यह उसके 'चामुण्डराय नामक' कनडी पुराणके अवलोकनसे स्पष्ट है।

विन्ध्यगिरि पर्वतका परकोटा गंगराजने शक सम्वत् १०३९ सन् १११७ में बनवाया था, जो होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धनका मन्त्री था। इस परकोटे भीतर जो चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियां विराजमान हैं, जिनकी संख्या ४३ है और जिन्हें नयकीर्ति सिद्धान्तदेव और उनके शिष्य बाल-चन्द्र सिद्धान्तदेवके शिष्य भिन्न भिन्न श्रेष्ठियों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है।

इस विन्ध्यगिरि पर अन्य अनेक वस्तियाँ बनी हुई हैं जिनका केवल नामोल्लेख यहाँ पर किया जाता है। अन्य ग्रन्थोंमें उनका परिचय निहित है पाठक वहाँसे देखनेका यत्न करें। ये वस्तियाँ विभिन्न समयों पर अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्मित हुई हैं।

१ सिद्धरवस्ति, २ अखंडबागिलु, ३ सिद्धरगुण्डु, ४ गुल्लकायज्जिबागिलु, ५ त्यागदब्रह्मदेवस्तम्भ ६ चेन्नण्ण-बस्ति, ७ ओदेगलवस्ति, ८ चौबीसतीर्थंकर वस्ति, और ९ ब्रह्मदेव मन्दिर।

चंद्रगिरि—प्राचीन लेखों इस पर्वतका नाम 'कटवप्र' या 'कल्वप्पु' पाया जाता है। इसे 'चिक्कबेट्ट' या छोटा पहाड भी कहा जाता है। तीर्थगिरि और ऋषिगिरि नामसे भी उल्लेखित होता है। इस पहाडके सभी जैन-मन्दिर द्राविड़ी ढंगके बने हुए हैं। इन मन्दिरोंके चारों ओर भीत बनी हुई है जो ५०० फुट लम्बी और २२५ फुट चौडी है।

१ पार्श्वनाथवस्ति—इसमें भगवान पार्श्वनाथकी १५ फुट ऊँची कायोत्सर्ग सप्तफणान्वित मूर्ति विराजमान है। इस पहाड़ी पर यह मूर्ति सबसे उन्नत है। इसके नवरंगमें उत्कीर्णित शिलालेख नं० ६७ से प्रकट है कि शक सं० १०५० सन् १२२९ में यहाँ मल्लिषेण मलधारी-का समाधिमरण हुआ था। इसके सामने एक मानस्तम्भ है जिसमें चारों तरफ मूर्तियाँ खड़ी हुई हैं। नीचे दक्षिण की ओर पद्मावतीदेवीकी पद्मासन मूर्ति है। पूर्वमें यक्ष खड़े हुए हैं और उत्तरमें बैठी हुई कूष्मांडिनी देवी है तथा पश्चिममें ब्रह्मदेव नामका क्षेत्रपाल है। अनन्त कविके गोम्मटेश्वर चरितके अनुसार इस मानस्तम्भको मैसूर-नरेश चिक्कदेवराय ओडयरके समय (सन् १६७२—१७०४) में जैन व्यापारी पुट्टैय्याने बनवाया था।

२ कत्तलेवस्ति—इसका नाम पद्मावतीवस्ति भी है। इसमें भगवान आदिनाथकी ६ फुट उन्नत मूर्ति चमरेंद्रसहित विराजमान है। आसनके लेख (७०) से ज्ञात होता है कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धनके सेनापति गंगराजने इस वस्तीको अपनी माता पचयब्बेके लिये सन् १११८ (वि० सं० ११७५) में बनवाया था। और इसका जीर्णोद्धार ६६ वर्षके करीब हुए जब मैसूर राजघरानेकी स्त्रियोंने, जिनके नाम देविरम्मणी और केम्पमणी हैं।

३ चन्द्रगुप्तवस्ति—इस मन्दिरमें तीन कोठरी हैं जिनमें दाहिनी ओर पद्मावतीदेवी और बाईं ओर कूष्मां-डिनी देवी है और मध्यमें भगवान पार्श्वनाथकी मूर्ति है। वरामदेमें दाहिनी तरफ धरणेन्द्र और बाईं तरफ सर्वाह्न-यक्ष हैं, ये सब मूर्तियाँ बैठे आसन हैं। इस वस्तीके भीतर द्वारों पर बहुत सुन्दर खुदाई की हुई है। इसमें जो चित्र उत्कीर्णित हैं उनमें भद्रबाहु श्रुतकेवली और मौर्य चन्द्रगुप्तके जीवन-सम्बन्धि अनेक दृश्य अंकित हैं। इसमें दासजहनामके चित्रकारका नाम १२ वी शताब्दीके अक्षरोंमें उत्कीर्ण किया हुआ है। मध्य कोठरीके सामने कमरेमें खड़ी हुई क्षेत्रपालकी मूर्तिके आसनका (१४०) लेख भी सम्भवतः उक्त चित्रकार द्वारा सन् ११४५ में खोदा गया है। १७ वीं सदीके मुनिवंशाभ्युदय नामक काव्यमें चिदानन्द कविने इस मन्दिरको चन्द्रगुप्तके वंशजों

द्वारा निर्मित बतलाया है। यह वस्ती इस पहाड़ पर सबसे पुरानी ज्ञात होती है।

४ शांतिनाथवस्ति — इस मन्दिरमें भगवान शान्तिनाथकी ११ फुट ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति विराजमान है।

सुपार्श्वनाथवस्ति—इस मन्दिरमें ७ वें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथकी ७ फण वाली ३ फुटी ऊँची मूर्ति चमरेन्द्रों सहित विराजमान है।

६ चन्द्रप्रभवस्ति—इसमें चन्द्रप्रभ भगवानकी ३ फुट ऊँची पद्मासनमूर्ति विराजमान है। मन्दिरमें गर्भगृह, सुखनासि, नवरंग और एक ड्योढ़ी है। सुखनासिमें उक्त तीर्थंकरके यक्ष और यक्षिणी श्यामा तथा ज्वालामालिनी विराजमान है। बाहरकी भीतपर एक लेख उत्कीर्ण है जिससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण आठवीं शताब्दीके गंगवंशी राजा श्रीपुरुषके पुत्र शिवमारने किया है।

७ चामुण्डरायवस्ति—यह मन्दिर बहुत सुन्दर है, इसके ऊपर भी मंदिर तथा गुम्मट है। इसमें गर्भगृह, सुख नासि और नवरंग भी है। नीचे नेमिनाथकी ५ फुट ऊँची पर्यंकासन मूर्ति चमरेन्द्रसहित विराजमान है। गर्भगृहके बगलमें सर्वान्हयक्ष और कूष्मांडिनी यक्षिणी प्रतिष्ठित हैं। बाहरी द्वारके बगलमें भीतपर जो शिलालेख अंकित है उससे ज्ञात होता है कि इस मन्दिरका निर्माण चामुण्डरायने सन् ९८२के लगभग कराया है। नेमिनाथ भगवान की मूर्तिके आसनपर जो लेख सन् ११३८ का उत्कीर्णित है उससे जान पड़ता है कि गंगराज सेनापतिके पुत्र एचनने त्रैलोक्यरंजन या बोप्पण नामक चैत्यालय निर्माण कराया था, जो इस समय नहीं है। नेमिनाथ की यह मूर्ति वहींसे लाकर विराजमान की गई है। ऊपरके खण्डमें पार्श्वनाथकी एक ३ फुट ऊँची मूर्ति है।

८ शासनवस्ति—इस मन्दिरको सेनापति गंगराजने बनवाया था गर्भगृहमें ५ फुट ऊँची भगवान आदिनाथकी चमरेन्द्र सहित मूर्ति विराजमान है। द्वारपरके लेखसे ज्ञात होता है कि गंगराजने सन् १११८ में 'परमग्राम' नामका एक गांव भेंट किया था, जो उसे विष्णुवर्द्धनसे प्राप्त हुआ था। सुखनासिमें गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी नामक यक्षिणीकी मूर्तियाँ हैं। बाहरी दीवारों और स्तम्भोंमें कहीं कहीं प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की हुई हैं।

९ मज्जियण्णवस्ति — इस मन्दिरमें अनन्तनाथ स्वामीकी साढ़े तीन फुट उन्नत मूर्ति है। बाहरी दीवारके आसपास फूलदार चित्रकारीके पत्थरोंका घेरा भी है।

१० एरडुकट्टेवस्ति—इसमें आदिनाथ भगवानकी ५ फुट ऊँची एक मूर्ति चमरेन्द्र सहित विराजमान है। इस मन्दिरको सन् १११८ में सेनापति गंगराजकी भार्या लक्ष्मीने बनवाया था।

११ सवतिगन्धवारणवस्ति—इस मन्दिरको सन् ११२३ में विष्णुवर्द्धनकी महारानी शान्तलदेवीने बनवाया था। इसका नाम भी उक्त रानीके उन्मत्त एक हाथीके कारण पड़ा है। इसमें शान्तिनाथकी ५ फुट उन्नत प्रतिमा चमरेन्द्र सहित प्रतिष्ठित है।

१२ तेरिनवस्ति—इसके सन्मुख रथाकार इमारत बनी हुई है, इसे बाहुबलि वस्ति भी कहा जाता है; क्योंकि इसमें बाहुबलीकी ५ फुट ऊँची मूर्ति है। सामने रथाकार मन्दिर पर चारों ओर जिन मूर्तियां उत्कीर्णित हैं। इसे विष्णुवर्द्धनके समय पोयसलसेठकी माता माचिकब्बे और नेमिसेठकी माता शान्तिकब्बेने बनवाया था।

१३ शान्तीश्वरवस्ति—इसमें शांतिनाथ भगवानकी मूर्ति है।

१४ कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ—यह स्तम्भ गंगवंशी राजा मारसिंह द्वितीयकी मृत्युका (सन् ९७४) स्मारक है।

१५ महानवमी मंडप—कट्टले वस्तिके दक्षिण दो सुन्दर चार खम्भे वाले मंडप पूर्व मुख पास-पास हैं। हर एक खम्भे पर लेख अंकित हैं। नं० ६६ (४२) के लेखसे ज्ञात पड़ता है कि यह जैनाचार्य नयकीर्तिका स्मारक है जिसे सन् ११७६ में स्वर्गवास होने पर उनके शिष्य राज मंत्री नागदेवने स्थापित किया था। इस प्रकारके कई स्तम्भ इस पहाड़ पर मौजूद हैं।

१६ इरुवे ब्रह्मदेव मन्दिर—इसमें ब्रह्मदेवकी मूर्ति है, यह सन् ९६० का बनवाया हुआ है।

१७ कन्डुन दोन—ऊपरके मन्दिरके उत्तर-पश्चिम एक सरोवर है जिसे बेल्लसरोवर कहते हैं। यहाँ कई शिलालेख हैं।

१८ लक्कीडोन—यह दूसरा सरोवर है इसे लक्की नामकी एक स्त्रीने बनवाया था। इसमें ३० शिलालेख उत्कीर्णित हैं जो ६ वीं १० वीं शताब्दीके हैं। अनेक यात्रियों जैनाचार्यों, कवियों, आफिसरों और उच्च पदाधिकारियोंके नाम भी अंकित हैं। इसका संरक्षण आवश्यक है

१९ भद्रबाहुगुफा—इस गुफामें भद्रबाहुश्रुत केवलीके चरण अंकित हैं। इसकी मरम्मत करते समय सन् ११०० का एक लेख नष्ट हो गया है।

२० चामुण्डराय चट्टान—इस पहाड़के नीचे खुदा हुआ एक पाषाण है। कहा जाता है कि चामुण्डरायने गोम्मटेशकी मूर्तिको उद्घाटित करनेके लिए इस परसे बाण चलाया था। इस पर जैन गुफाओंके चित्र हैं और उनके नीचे नाम भी अंकित हैं।

श्रवणबेलगोलमें हम लोग ६ दिन ठहरे मैंने भगवान बाहुबलीकी ६-७ बार दोनों वक्त यात्रा की, और चन्द्रगिरीकी तीन बार। महामस्तिकाभिषेकके दिन जनताकी अपार भीड़ थी। जैन समाजके अतिरिक्त इतर समाजकी उपस्थिति भी अधिक तादादमें थी। उस समय दोनों पहाड़ों पर जनता मस्तकाभिषेकका अपूर्व दृश्य देखनेके लिये उत्सुक थी। मैंने स्वयं चन्द्रगिरी पर्वत परसे अभिषेकका वह रमणीय दृश्य देखा, उस समय जो आनन्दातिरेक हुआ वह वचनातीत है। दुग्धसे अभिषेक होने पर मूर्तिका सर्व शरीर शुक्ल आभासे देदीप्यमान हो रहा था। अन्य द्रव्योंसे अभिषेक करने पर उसका वह रूप परिवर्तित हो गया था। और ऐसा जान पड़ता था कि उस प्रकृत रूपमें कुछ विकृति सी आगई, किन्तु मुखाकृतिको वह स्निग्ध सौम्यता अपनी आभासे और भी उसे उद्दीपित कर रही थी। ता० ५ मार्चकी रात्रिको वीरसेवा मन्दिरका नैमित्तिक अधिवेशन बाबू मिश्रीलालजी कलकत्ताकी अध्यक्षतामें सानन्द सम्पन्न हुआ। और ता० ७ के प्रातःकाल हम लोग श्रवणबेलगोलसे हासनके लिये चल दिये।

—क्रमशः

वामनावतार और जैन-मुनि विष्णुकुमार

[लेखकः श्री अगरचन्द्र जी नाहटा]

अनुकरण-प्रियता, प्राणियोंका सहज स्वभाव है। बुद्धिका विकास आयु और शारीरिक स्थिति पर निर्भर होता है, उससे पूर्व प्रत्येक प्राणधारी अनुकरणके जरिये ही आगे बढ़ता है। जीवन व्यवहारकी शिक्षाएं सब अनुकरणप्रियताके कारण ही प्राप्त होती है। पशुओंका जीवन तो प्रायः इसी पर आधारित रहता है। क्योंकि उनमें बुद्धिका विकास, स्वतन्त्र विचार व रक्षणके योग्य नहीं हो पाता। वे सोच नहीं सकते। मनुष्यमें भी बालकका स्वभाव व विकास इसी अनुकरण वृत्तिपर ही अवलम्बित है। वह अपने आसपास जैसा देखता है, सुनता है, अनुभव करता है तदनुरूप उसका जीवन ढलता है। भावी जीवनके निर्माणकी तैयारी इसी समय हो जाती है उस समय जो स्वभाव, वृत्तियां, तरीके, बालक अपना लेता हैं उनका प्रभाव उसके जीवनभर दिखाई देता है। विवेककी परिपक्वता अथवा प्रबलता होने पर यदि वह सुधरता है, नये रास्ते पर मुड़ता भी है, तो भी बहुत सी बातें जो दूसरोंके अनुकरण द्वारा उसके हृदयमें घर कर चुकी हैं! उनका प्रभाव उसके जीवनमें और स्वभावमें अवश्य विद्यमान रहता है। बड़े होने पर भी वेशभूषा, रीति, रिवाज, आचार विचार एवं प्रवृत्तियों में अधिकतर अनुकरणता ही प्रधान रहती है। अधिकांश जनसाधारणका व्यवहार, उन्हीं पर निर्भर रहता है, विचारोंकी गहराई बुद्धिकी विलक्षणता कितने व्यक्तियोंको मिलती है? और इनके बिना स्वतन्त्रपथ निर्माण कठिन ही है।

आदान-प्रदान विश्वका सनातन नियम है मनुष्य जो विचार और चिन्तन करता है, उसका प्रचार भी करता रहता है, वह अपनेमें ही सीमित नहीं रहता। उसका प्रभाव आसपासके व्यक्तियों पर पड़ता है। वैसे ही दूसरोंका उन पर। जिसका व्यक्तित्व अधिक आकर्षक और प्रभावशाली होता है। उसका प्रभाव अधिक पड़ना स्वाभाविक ही है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने विचारोंको ऐसे ढंगसे व्यक्त करता है, कि दूसरा व्यक्ति या सहस्त्रों व्यक्ति उसके विचारोंसे तत्काल प्रभावित होजाते हैं, यावत

विरोधी विचार रखनेवालोंको भी वह अपना समर्थक, और अनुकूल बना लेता है। विचार विनिमय द्वारा भी एक दूसरोंके विचारोंका आदान प्रदान होता ही रहता है। एक व्यक्तिके रहन-सहन, वेश भूषा, आदिका प्रभाव उसके सम्पर्कमें आने वालों पर न्यूनाधिक रूपमें अवश्य ही पड़ता है। कुछ बातें जो उसे आकर्षित करती हैं, वह अपना लेता है। संगतिका असर इसीलिये इतना अधिक माना गया है। भारतमें जब पाश्चात्य देशोंका सम्पर्क बढ़ा तो अधिकांश भारतीय भी पाश्चात्योंकी वेश भूषा, भाषा रहन, सहन, चालढाल इत्यादि अंगीकार करने लगे। और अभीतक उन्हें छोड़ नहीं पाए भारतीय संस्कृतिको छोड़-कर वे उस विदेशी संस्कृतिकी ओर झुक रहे हैं तथा उसे अच्छा समझकर अपना रहे हैं। यह सब अनुकरण प्रवृता-का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भारतमें आर्य, अनार्य संस्कृतिका सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रोंमें बहुत कुछ पारस्परिक आदान प्रदान हुआ। कई अनार्य देवताओं और पूजा विधिको आर्योंने अपना लिया तो अनार्योंकी कई बातोंको आर्योंने अपनाया। शदियोंके सम्पर्कके बाद आज यह पता लगाना भी कठिन हो गया है, कि किस विषयमें किसका कितना प्रभाव है। लोक साहित्य और जनविश्वासमें तो बहुतसी बातें सारे विश्व भरमें समानरूपमें मिलती हैं। लोक कथाओंमें प्रायः एक ही बात कुछ साधारण अन्तरके साथ या उसी रूपमें भी विभिन्न राष्ट्रोंके साहित्यमें मिलेंगी। दार्शनिक क्षेत्रमें कई सिद्धान्त और आचार विचारोंकी समानताएँ पाई जाती हैं साहित्यके सम्बन्धमें भी यह सत्य है। कहीं भाव साम्य, कहीं अर्थ साम्य तो कहीं शैली और नामकरणकी समानता देख बहुत बार तो विस्मय सा होता है। जैनागमोंकी कई गाथायें बौद्धादिके कथाग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। इसी प्रकार कई पौराणिक आख्यानोंको वैदिकग्रन्थों और जैन साहित्यमें (एक ही कथा) समान रूपसे पाते हैं। इनमेंसे कई दन्तकथायें आदि तो लोकप्रिय होनेसे तीनों जैन, बौद्ध और वैदिकोंने, अपने अनुकूल बना कर ग्रहण कर लिया प्रतीत होती हैं। कई एक दूसरेकी कथाओंसे प्रभावित होकर—अपने अपने धार्मिक कथा साहित्यमें मिला दी गई हैं। कई पौराणिक कथाओंको दोनों धर्म (जैन और वैदिक धर्म) ग्रन्थोंमें समान रूपसे आदर प्राप्त है। नल दमयन्ती, सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र इत्यादि की कथायें मुख्यतः पौराणिक प्रतीत होती हैं पर ये कथायें जैन साहित्यमें भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हैं। तुल-नात्मक अध्ययनकी कमीके कारण ही हम एक दूसरेके साहित्यकी विशेषताओंसे सर्वथा अपरिचित हैं। इसी प्रकार वामनावतार और विष्णुकुमारकी है। कुछ बातोंमें वैषम्य होने पर भी मूल घटनाओंमें इतनी समानता है कि पढ़ कर आश्चर्य होता है। किसने किसका अनुकरण किया, यह तो निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता पर सम्भव है वामनावतार प्रसिद्ध १० अवतारोंमें सम्मिलित होनेसे यह कथा पौराणिक ही रही हो। भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके सम्बन्धमें एकसी घटनायें घटित होना असम्भव नहीं पर इस कथाको पढ़ कर हृदय इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं होता कि दोनोंकी घटनायें अलग अलग हैं। कई वर्षोंसे इन दोनों कथानकों-की समानता मुझे आकर्षित कर रही थी। कुछ वर्ष हुये विष्णुकुमारके कथासम्बन्धी अनेक जैनग्रन्थोंकी शोध करते समय उनमें सबसे प्राचीन ग्रंथ ५वीं शताब्दी*की 'वसुदेव हिंडी' ज्ञात हुआ अतः आगे उसीमें वर्णित कथा दी जा रही है। वामनावतार तो सब पुराणोंमें प्रसिद्ध है ही पर वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थमें भी उसका मूल प्रसंग वर्णित है अतः उसको दिखाते हुये भागवत पुराणमें वर्णित प्रसंगको तुलनाके लिए यहाँ दिया जा रहा है।

श्री सम्पूर्णानन्दने अपने 'आर्योंका आदि देश' नामक ग्रन्थमें वेदमें निहित वामनावतारके उल्लेखोंको इस प्रकार दिया है।

"विष्णुके तीन पदोंकी कथा पुराणमें प्रसिद्ध है। असुरराज बलिने इन्द्रसे स्वर्गका राज्य छीन लिया था। बलीकी दानवीरता प्रसिद्ध थी। विष्णु उनके यहाँ बौने ब्राह्मणके रूपमें आये और उनसे तीन पद भूमि माँगी।

---

* श्री अगरचन्द जी नाहटाने संघदासगणीका जो समय ५ वीं शताब्दी लिखा है वह ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि मुनि श्री जिनविजयजीने भारतीयविद्याके वर्ष ३ अङ्क १ में संघदासगणीका समय विशेषावश्यक भाष्यके कर्त्ता जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणके समीपवर्ती होना लिखा है। चूंकि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका समय शक सं० ५३१ वि० सं० ६६६ निश्चित है। अतः यही समय मुनि जिनविजयजीके अनुसार संघदासगणीका होना चाहिये। वह ५वीं शताब्दी किसी तरह भी नहीं हो सकता।

—प्रकाशक

बलिने देना स्वीकार किया। विष्णुने दो पांवमें भूलोक और सुरलोक माप लिया; तीसरे पांवमें बलिको अपना शरीर देना पड़ा, फलतः वह पातालमें जा बसे, और इन्द्रको फिर अपना राज्य मिल गया। विष्णुने यह वामन रूप इन्द्रकी सहायता करनेके लिये धारण किया था।

यह पौराणिक कथा एक वैदिक आख्यानका विस्तृत संस्करण है। वह आख्यान इस प्रकार है।—

'विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा (ऋक् १-२२-१९) इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे (ऋक् १-२२-१७) त्रीणि पदविक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन् (ऋक् १-२२-१८)'

विष्णुके कर्मोंको देखो जिसके द्वारा यजमानादि व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। विष्णु इन्द्रके योग्य सखा हैं। इस (सारे जग पर) विष्णु चले (उन्होंने) त्रिधा पांव रक्खा। उनके धूलसे भरे पांवसे (यह सारा जगत) ढक गया। अजेय, (जगत् के) रक्षक विष्णु तीन पद चले, धर्म्मोंको धारण करते हुये।

विष्णु और इन्द्रके सखा होनेके कई उदाहरण आये हैं। गउओंके उद्धारमें तथा असुरोंसे लड़नेमें उन्होंने बराबर इन्द्रका साथ दिया है। उन्होंने ये तीन पांव भी इन्द्रके कहनेसे ही रखे, क्योंकि ऋक् ४-१८-११ में वर्णन मिलता है।

'अथाब्रवीत् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व'

अथ वृत्रको मारते हुए इन्द्रने कहा हे सखे विष्णु बड़े बड़े पांव रखो। 'वितरं विक्रमस्व' का शब्दार्थ यही है यहाँ 'क्रमस्व' जो क्रिया पद आया है वह भी ऊपरके मंत्रोंके 'विचक्रमे' का सजातीय है। परन्तु सायणके भाष्यमें बड़े 'पराक्रमी हो' ऐसा अर्थ किया गया है। अस्तु ये तीनो पद कहां रखे गये? एक मत तो यह है कि विष्णुने पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाशमें पांव रखा। दूसरा मत यह भी है कि पहला पांव समारोह (उदयाचल) में दूसरा आकाश (विष्णु पद) में और तीसरा (जय शिरस) अस्ताचलमें रखा गया। तीसरा मत यह है कि विष्णु पृथ्वी पर अग्निरूपसे, अन्तरिक्षमें वायु रूपमें, और आकाशमें सूर्यरूपसे वर्तमान हैं।'

वैदिक मतानुयायियोंके अति मान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत्में वामनावतारकी कथा जिस रूपमें वर्णित है उसका सार निम्न प्रकार है :—

भृगुवंशी शुक्राचार्यने बलि राजाको जीवित किया। तबसे वह उनका शिष्य हो गया। और उनकी सेवा करने लगा। स्वर्ग जीतनेके इच्छुक बलि राजासे उस प्रतापी ब्राह्मणने विश्वजीत नामक यज्ञ करवाया। यज्ञमें रथ, घोड़ा, ध्वज, धनुष, तरकश और दिव्य कवच, ये वस्तुयें प्राप्त हुईं। इन अलौकिक वस्तुओंको पाकर राजा इन्द्रको जीतनेके लिये स्वर्गपुरीको चला।

इन्द्रने गुरु बृहस्पतिसे बलि राजाके पुण्य प्रतापकी कथा ज्ञात की, तथा शत्रुके इन बढ़ते दिनोंमें स्वर्ग त्याग कर चले जानेकी सलाहको मानकर स्वर्गपुरीकी राजधानी छोड़कर वे देवताओंके साथ अन्यत्र चले गये और बलि राजाने वहीं रहते हुये एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये।

देव माता अदितिने अपने पुत्रोंकी दुर्दशासे दुखी होकर पति कश्यप ऋषिसे सारा वृत्तान्त कहा। ऋषिने फालगुन शुक्ल पक्षके १२ दिनों तक भगवान वासुदेवकी उपासना 'ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय' द्वादशाक्षरी महामन्त्रका जाप और ब्रह्मचर्य, हिंसा, असत्य आदि त्याग कर केवल दुग्धाहारसे जपयज्ञ करनेका आदेश दिया। पति आज्ञा शिरोधार्य कर अदितिने ऐसा ही किया, जिससे भगवानने प्रसन्न होकर उसके यहाँ अवतार ग्रहण कर, अभीष्ट सम्पादन करनेका वरदान दिया। इसके बाद योग्य समयमें अदितिकी कुक्षिमें आकर भगवान वासुदेवने भाद्रशुक्ला १२ 'विजयाद्वादशी' के दिन वामन रूपसे जन्म लिया। वामन बड़े तेजस्वी और उग्र तेज वाले थे। वे योग्य वयमें सब संस्कारों द्वारा सम्पन्न हुये।

एक बार बलि राजाका अश्वमेध यज्ञ श्रवण कर वामन नर्मदा नदीके तट पर भृगुकच्छ क्षेत्रमें गये जिससे समस्त ऋषि और सभासद् गण निस्तेज हो गये। वामन राजाने तेजस्वी राजाका बड़ा आदर सत्कार किया और इच्छित वस्तु याचना करनेके लिये निवेदन किया। वामनने उनके पूर्वजों और उसके दानगुणकी सराहना करते हुये अपने पैरके मापसे तीन डग पृथ्वी मांगी बलि राजाने अधिक मांगनेका बहुत आग्रह किया। पर भगवान वामनने अधिक कुछ भी लेना स्वीकार न किया।

राजा बलि याचित पृथ्वीदान करनेके लिये हाथमें

जलपात्र लेकर संकल्प करनेके लिए तैयार हुआ। तब शुक्राचार्यने अपने निश्चयको बदलनेके लिये राजाको बहुत समझाया तथा उस दानको सर्वनाशकारी बतलाया। बलि राजाने गुरुकी सलाहको अमान्य करते हुए कहा कि प्रहलादका पौत्र होकर मैं अपनी प्रतिज्ञा-सत्यसे विचलित कदापि नहीं हो सकता। उसे शुक्राचार्यने अपनी आज्ञा उल्लंघन करनेके अपराधमें राज्य लक्ष्मीसे भ्रष्ट होनेका श्राप दे दिया। क्रुद्ध गुरुसे श्राप पाकर भी महान नरेश्वर सत्यसे भ्रष्ट नहीं हुआ। उनकी पत्नी विन्ध्यावती भी उसे प्रतिज्ञापालनमें दृढ़ रहनेके लिये उत्तेजित करती हुई वामनजीके चरण प्रक्षालनार्थ स्वर्ण कलश लेकर शीघ्रतासे आ पहुँची। बलि राजाने वामनजीके चरण युगल प्रक्षालन कर उनके द्वारा याचित तीन डग भूमि दान की। वामन-जीका शरीर तत्काल अद्भुत रूपमे बढ़ने लगा देखते देखते पृथ्वी, स्वर्ग, दिशायें और आकाश उनके स्वरूपमें समा गये। उन्होंने बलि राजाकी समस्त पृथ्वीको एक पैरसे तथा दूसरे पैरसे स्वर्गकी भूमिको अधिकृत कर लिया। तीसरे पैरकी भूमि मापनेके लिए बलि राजाके पास क्या बचा था? उनके क्रुद्ध अनुचर वामनजीका मायाचार देख कर मारने दौड़े। जिन्हें बलिराजाने अपने दुर्दिनको दोष देते हुए रोक दिया। तत्पश्चात् तीसरे पैरकी भूमि मांगने पर बलि राजाने अपने मस्तक बताते हुए कहा कि तीसरा पैर मेरे मस्तक पर रखिये। मुझे अपकीर्तिका जितना भय है, स्थानभ्रष्ट होनेका नहीं। आपने मुझ मदान्धका ऐश्वर्य नष्ट करके उपकार ही किया है।

उस समय ब्रह्माजी वामन भगवानको निवेदन करने लगे हे ईश्वर! आपने बलि राजाका सर्वस्व हरण कर लिया है और बन्धनमें डाल दिया है फिर भी इसने अपना ऐश्वर्य तथा अपने आपको श्री चरणोंमें समर्पित कर दिया है लोग तो आपको जल दूर्वा देकर ही उत्तम गति पा लेते हैं फिर इसकी यह दशा करना योग्य नहीं है।

श्री वामन भगवानने कहा— हे ब्रह्मा! मैं जिन पर प्रसन्न होता हूँ उनका धन हरण कर लेता हूँ क्योंकि धनमदमें प्राणी कल्याण मार्गसे पराङ्मुख हो जाता है। यह बलि राजा दैत्य और दानवोंमें अग्रणी है, इसने मेरी अजित मायाको भी जीत लिया है। क्योंकि ऐसे दुर्भाग्य-पूर्ण समयमें भी यह निर्भय निराकुल है छलसे बन्धनमें आकर भी धर्म और सत्यमें अविचल है। अतः देवोंसे भी दुर्लभ मेरे स्थानके योग्य तो यह कभीका हो चुका है, पर जब तक आठवां सावर्णि मन्वन्तर प्रारम्भ हो, तब तक भले ही सुतल निवास करे। वहाँ मानसिक कष्ट, आलस्य, थकावट, पराभव तथा शारीरिक उपद्रव नहीं, मेरे संरक्षणमें रहते हुए सदा अपनेको मेरे पास ही पायेगा दैत्योंके संसर्गजन्य इसके आसुरी भाव भी मेरे प्रभावमे नष्ट हो जायेंगे पीछे सावर्णि मनुके समयमें यह इन्द्र होगा और मैं हर समय इसका रक्षण करूंगा।

इसके बाद शुक्राचार्यने भगवानकी आज्ञासे बलि राजाका अपूर्ण यज्ञ पूर्ण किया। बलि राजा सपरिवार अपने पितामह प्रहलादके साथ सुतलमें रहने लगा। इस प्रकार भगवानने अदितिकी मनोकामना पूरी की तथा इन्द्रको पुनः उसका स्वर्ग प्राप्त करा दिया।

इस कथाका जैन ग्रन्थोंमें विष्णुकुमारको कथाके रूपमें इस प्रकार वर्णन मिलता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें जैन मुनि विष्णुकुमारने किस प्रकार मुनियोंके धर्मकी रक्षा की। इसके उदाहरण रूपमें यह कथा अनेक ग्रन्थोंमें वर्णित है। अनेक ग्रन्थोंकी टीकाओंमें एवं कथासंग्रह ग्रन्थोंमें अपनी अपनी शैलीमें अनेक जैन विद्वानोंने इसे प्रस्तुत किया है। परवर्ती कति-पय मौलिक रचनायें भी प्राप्त हैं उन सबमें 'वसुदेव-हिंडी' ग्रंथ ही सबसे प्राचीन ज्ञात हुआ है, जो संघदासने ५वीं सदीमें प्राकृत भाषामें बनाया है। विविध दृष्टियोंसे यह ग्रन्थ अत्यन्त मूल्यवान है उनका संक्षिप्त परिचय मैंने नागरीप्रचारिणी पत्रिकामें प्रकाशित किया है। जैन आत्मा नन्द सभा, भावनगरसे इसका मूल एव गुजराती अनु वाद प्रकाशित हो चुका है। जैनग्रंथ 'वसुदेवहिंडी' में वर्णित विष्णुकुमारकी कथा निम्न प्रकारसे है—

हस्तिनापुर नगरमें पद्मरथ नामक राजा था, जिसके लक्ष्मीमती नामक रानी और विष्णु एवं महापद्म नामक दो पुत्र थे। पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ स्वामीकी पर-पराके सुव्रत नामक अणगारके पास राजाने विष्णुकुमारके साथ दीक्षा ली और महापद्म हस्तिनापुरका राज्य करने लगा। परम संविग्न भावसे संयमाराधन कर राजर्षि पद्मरथ निर्वाण प्राप्त हुए। धर्मश्रद्धासे अविचल श्रमण विष्णुकुमारने आठ हजार वर्ष पर्यन्त दुष्कर तप किया जिससे उन्हें विकुर्वणी, सूक्ष्म बादर, विविधरूपकारिणी'

अन्तर्धानी और गगनगामिनी चार लब्धियाँ प्राप्त हुईं।

महापद्म राजाके नमुचि नामक पुरोहित था जो महाजनोंके बीच साधुओंसे शास्त्रार्थमें पराजित होकर उनके प्रति द्वेष रखने लगा था। एक बार नमुचि राजाको प्रसन्न कर वरदान पाकर स्वयं राजा हो गया। राज्याभिषेकके सम्मानसे सम्मानित नमुचिने साधुओंको बुलाकर कहा—'तुम लोग मेरा जयकार नहीं बोलते, इससे ज्ञात होता है कि मैं तुम्हें मान्य नहीं हूँ। साधुओंने कहा हमारे वचनोंसे आपकी जय-पराजय थोड़े ही होती है, स्वाध्याय ध्यानमें लीन होनेके कारण हमें आपके अभिषेकका वृत्तान्त भी मालूम नहीं हुआ। नमुचिने कहा अधिक क्या? मेरे राज्यमें तुम लोग नहीं रह सकोगे। साधुओंने कहा— राजन्, वर्षाऋतुमें विहार करना शास्त्र विरुद्ध है अतः हम लोग शरद् ऋतुमें चले जायेंगे। नमुचिने कहा— सात रातसे अधिक जो यहाँ रहेगा उसका मैं वध कर दूँगा। साधुओंने कहा—संघ एकत्र करके हम आपको कहेंगे।'

स्थविरोंने एकत्र होकर कहा—'आर्यो! श्रमणसंघपर विपत्ति आई हुई है अतः जिनके पास जो शक्ति हो, कहो एक साधूने कहा—'मुझमें आकाश मार्गमें गमन करनेकी शक्ति है अतः जो कार्य हो आज्ञा कीजिये।' संघस्थविरोंने कहा आर्य! तुम अंगमन्दर पर्वतस्थ श्रमण विष्णुको कल ही यहाँ ले आओ वह साधु आकाशमार्गमें जाकर दूसरे दिन विष्णुकुमारको साथ लेकर हस्तिनापुरमें आ पहुँचा। साधुओंको देश-निकालेका नमुचिका निश्चय ज्ञात कर विष्णुने कहा—'संघ निश्चिन्त रहे, अब मैं यह उत्तरदायित्व अपनेपर लेता हूँ।'

विष्णु नमुचिके पास गये उसने उनका खड़े होकर स्वागत किया। विष्णुने कहा—'साधु लोग वर्षाकालमें यहाँ भले ही रहें नमुचिने कहा आप स्वामी हैं तो महापद्म राजके हैं इनसे मुझे क्या! मैं आपको कुछ भी नहीं कहता, मुझे तो श्रमणोंको अवश्य ही देशसे निकालना है। विष्णुने कहा—'वर्षाकालमें पृथ्वी जीव जन्तुओंसे भरी होनेके कारण श्रमणोंको विहार करना निषिद्ध है, अतः तुम्हारी आज्ञासे यदि वे उद्यानगृहमें वर्षाकाल बिता कर नगरमें प्रवेश किए बिना ही विदेश चले जांय तो भी मेरा वचन तुमने मान्य किया, समझूँगा। नमुचिने कहा जो मेरे लिए वध्य हैं, वे मेरे उद्यानोंमें भी कैसे रह सकते हैं?' विष्णुकुमारने कहा—भरत आदि नरेशोंने साधुओंका पूजन और संरक्षण किया है, तुम यदि उन्हें पूज्य नहीं मानो तो ठीक किन्तु 'साधु मेरे लिए वध्य हैं।' ऐसा बोलना राजाके योग्य नहीं, ऐसा तो दस्युओंको शोभा नहीं देता। अतः शान्त हो व वर्षा काल बीतने पर साधु लोग स्वयं अन्यत्र चले जायेंगे।' नमुचिने कहा तुम कहते हो पूर्व पुरुष साधुओंकी पूजा करते थे, यह तो उस राजाका चरित्र होगा, जो राज पुत्र हो पीढ़ियोंसे राज करता आया हो, उसका धर्म है। मैं तो अपने वंशमें पहला ही राजा हूँ। अतः मुझे दूसरोंसे कोई प्रयोजन नहीं। सात रातके बाद जो साधु दिखाई देगा वह जीवित नहीं रह सकेगा। आप जाईये। आपका कुछ नहीं कहता। दूसरे साधुओंका जीवन आजसे खतरेमें ही समझिए।

विष्णु कुमारने कहा नमुचि।' जब तुम्हारा यही निश्चय है तो ऐसा करो—मुझे एकान्त प्रदेशमें तीन डग भूमि दो। जहाँ रह कर साधु लोग प्राण त्याग करेंगे। क्योंकि वर्षाकालमें उन्हें विहार करना योग्य नहीं। इससे मेरा वचन भी रह जाएगा। और तुम्हारी साधुओंकी वध्य करनेकी प्रतिज्ञा भी पूरी हो जायगी।' नमुचिने सन्तुष्ट होकर कहा, यदि यह सत्य हो, कि वे उस भूमिमें से जीते बाहर न निकलें, तो मैं देता हूँ।' विष्णुकुमार तीन डग जमीन लेना स्वीकार कर नगरके बाहर चले गए।

नमुचिने विष्णु कुमारसे कहा, मैंने जो तीन डग भूमि आपको दी है, माप कर ले लो, विष्णुकुमार रोषसे प्रज्वलित थे। श्रमण संघके संकटको दूर कर नमुचिको शिक्षा देनेकी भावना उनके चित्तको उद्वेलित कर रही थी। उन्होंने तीन डग भूमि नापनेके लिए अपना विराट रूप विकुर्वण किया और पैरको ऊँचा किया। नमुचि भयसे त्रस्त होकर विष्णुके चरणोंमें पड़ कर क्षमा याचना करने लगे। विष्णुने ध्रूपद पदा जिससे क्षणभरमें वे दिव्य रूपधारी हो गए। उनके मुकटमणियोंकी किरण ज्योतिसे दिशाएँ रंगीन मालूम होने लगी। ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी भाँति उनका तेज असह्य हो रहा था। कानों पर कुण्डल संपूर्ण मण्डल शशांककी भाँति चमकते थे, वक्षस्थल सेवतहारसे शरदऋतुके धवल मेघालंकृत मन्दराचलकी भाँति शोभायमान था। कड़ा और केयूर पहिने हुए हाथ इन्द्र धनुषकी भाँति भासित होते थे। मुक्ताओंके आलम्ब और अवचूल सूर्य मंडलकी माला

सहित मध्यलोक प्रतीत होते थे। इस प्रकार वृद्धि पाते हुए विष्णुके रूपको देखकर भय सन्त्रस्त सुरासुर शिखा, पर्वत शिखर और वृक्षादि आक्षेप करते थे। जो उनके हुँकारकी वायुसे उछलकर इतस्ततः गिरे जाते थे। विशालदेह वाले विष्णुको देखकर भयग्रस्त अप्सराएं किन्नर, किंपुरुष, भूत, यक्ष, राक्षस, महोरग, ज्योतिषी देवादि यत-स्ततः चिल्लाते, काँपते हुए दौड़ने लगे। देखते-देखते विष्णुका शरीर लाख योजन ऊँचा हो गया। अत्यन्त तेजस्विताके कारण विष्णु किसीको प्रज्वलित अग्नि व किसी को चन्द्रमा प्रतीत होते थे। विष्णुके शरीरमें क्रमशः वक्षस्थल नाभि, कटि प्रदेश और घुटनों पर ज्योतिष्कोंका मार्ग आ गया। भूमि कंप हुआ, विष्णुने मन्दरगिरि पर अपना दाहिना पैर रखा, इस पैरको उठाते ही समुद्र जल क्षुब्ध हुआ। विष्णुकी हथेलियोंको ऊपरको उठाते ही सबसे महर्द्धिक देवोंके अंगरक्षक अंगत हो उठे।

इस प्रकारकी विकट स्थितिमें इन्द्रका आसन कम्पायमान हुआ। विपुल अवधिज्ञानसे सारी परिस्थिति ज्ञातकर इन्द्रने नृत्य और संगीत मंडलीको आज्ञा दी कि नमुचिके अत्याचारसे कुपित होकर श्रमण भगवान विष्णुने विराट रूप धारण किया है अतः उन्हें गीत नृत्यादि द्वारा नम्रता पूर्वक शान्त करो। इन्द्राज्ञासे मेनका रम्भा, उर्वशी और तिलोत्तमाने विष्णुके दृष्टिके समक्ष नृत्य किया। वादित्रध्वानके साथ 'भगवान शान्त हो भावमय कर्ण-मधुर स्तुति करते हुए जिनेश्वरोंके क्षमादि गुण वर्णन सह तुम्बरू, नारद हा हा हू-हू. और विश्वावसुने गायन किया। भगवान विष्णुको प्रसन्न करनेके लिए देवराजइन्द्रके सब परिवार आगमनकी बात सुनकर वैताढ्य श्रेणिवासी महर्धिक विद्याधर भी आकर मिल गए। और विष्णुके चरणकमलोंमें लीन हो कर स्तुति करने लगे। तुंबुरू और नारदने विद्याधरों पर प्रसन्न हो कर संगीत कलाका वरदान देते हुए सप्तस्वराश्रित गधार स्वरमें विष्णु गीतिका प्रदान की।

'उवसम साहुवरिट्ठया, न हु कोवो वण्णिओ जिणंदाहि।
हुंति हु कोवनसीलय, पावंति बहूणि भमराइं (?)'

हे साधुश्रेष्ठ शान्त हो जिनेश्वरने भी क्रोधको उत्तम नहीं कहा। जो क्रुद्ध होता है वह बहुसंसार भ्रमण करते हैं। विद्याधरोंने आभारपूर्वक यह गीतिका ग्रहण की।

इधर नमुचिके अविनीति पूर्ण और भगवान विष्णुकी अपूर्व चेष्टा और उनके विराट रूपको ज्ञातकर राजा महापद्म नगर और जनपद सहित संघकी शरणमें आया और गद्गद् वाणीसे कहने लगा—'मैं भगवान सुव्रत अणगारका शिष्य श्रमणोपासक हूँ मेरी रक्षा कीजिये मैं आपके शरणागत हूँ।' श्रमण संघने कहा—'तुमने कुपात्रको राजा स्थापित किया, हमें खबर भी नहीं दी यह तुम्हारी बड़ी भूल हुई। अस्तु, हमारी तो कोई बात नहीं, तुम्हारी विजय प्रमत्त वृत्ति और असावधानीसे आज त्रैलोक्यका अस्तित्व ही खतरेमें आ गया है। अतः श्रमण विष्णुकुमारको शान्त करो, तत्पश्चात् समस्त श्रमणसंघ विष्णुके चरणोंमें करबद्ध प्रार्थना करने लगा। हे विष्णु शांत हो। संघने महापद्म राजाको क्षमा कर दिया। आप चरण न हिलाकर स्वाभाविक रूपमें आयें। आपके तेजसे कम्पित पृथ्वी रसातलको जा रही है यह श्रमण संघ आपके चरणोंके अति निकट है अवस्थित है। लाखों योजन ऊँचा होनेके कारण श्रमण मर्यादाके बाहर श्रमणसंघके वचन नहीं सुननेसे बहुश्रुत श्रमणोंने कहा—विष्णुकी' श्रोत्रेन्द्रिय गगन मण्डलके किसी भागमें है लाखों योजन ऊँची देह है और १२ योजनसे आगे शब्द नहीं सुनाई देते। अतः भगवानके चरणोंका स्पर्श करनेसे वे देखेंगे तो श्रमणसंघको देखकर अवश्य शान्त होंगे। यह विचार कर सबने जब चरण दबाया तो विष्णु महर्षिने पृथ्वीकी ओर देखा अपने अन्तःपुर और परिजनोंके साथ राजा महापद्म के श्रमणसंघकी शरणमें है तथा श्रमणसंघको भी शान्त हों, बोलते हुए स्वचरणोंके निकट देखकर उन्होंने सोचा 'मक्खनकी तरह कोमल स्वभाववाले श्रमणसंघने राजा महापद्मको अवश्य ही क्षमा कर दिया, अतः संघकी इच्छाका मुझे भी उलंघन नहीं करना चाहिए।

देवोंके वचनसे मृदु हृदयवाले विष्णु अणगार, संघकी इच्छानुसार अपना रूप संकोच कर शरद्ऋतुके चंद्रमाकी तरह सौम्य होकर भूमि पर विराजमान हुए। देव, दानव, विद्याधरादि, वर्ग पुष्प वृष्टि करके स्वस्थान गए।

× नाहटाजीने मुनि विष्णुकुमारके वस्त्राभूषणांकित वामन रूपका जो अलंकृत वर्णन किया है। वह दिगम्बर परम्पराके हरिवंशपुराणमें नहीं है। और भी जहां कथामें अतिरंजितरूप जान पड़ता है। वह भी नहीं है।

—प्रकाशक

इस प्रकार स्वाभाविक रूपमें आनेके बाद विष्णुकुमारने राजा महापद्मको राजश्रीके अयोग्य बतलाते हुए कैद ※ कर उसके पुत्रको न्याय पूर्वक प्रजा पालन करनेका निर्देश किया भगवान विष्णुकी कृपासे प्रजाने भी उस पुत्रको राजा स्वीकार किया। बद्ध किए जाते नमुचिको श्रमणसंघने बचा लिया। उसे देशसे निष्कासित कर दिया गया।

विष्णु अणगार एक लाख वर्ष तक तप करके कर्म मलको दूर कर केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर निर्वाण लक्ष्मी पा मोक्ष पधारे।

यहाँ दोनों कथानकोंके साम्य वैषम्य पर भी संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। १ भागवतमें बृहद् रूप धारण करने वाले वामन, वासुदेव विष्णुके अवतार हैं। ऋग्वेदमें वामनको विष्णु ही कहा है जैन कथामें नाम विष्णुकुमार है। अतः नाम एक ही है। २ भागवतमें वामनको ऐसा करनेका कारण इन्द्रका कष्ट हटाना और सहायता करना बतलाया है। ऋग्वेदके अनुसार भी वे इन्द्रके सखा थे। जैन विष्णुकुमारने मुनियोंके कष्ट निवारणार्थ बृहद्रूप धारण किया था। दोनोंमें कष्ट निवारणार्थ उद्देश्य तो एकसा ही है। व्यक्ति अलग अलग हैं ३ जिस राजाने तीन डग भूमिको मांगकी गई भागवतादिके अनुसार उसका नाम बलि राजा था। जैन कथानुसार नमुचि ×। नामकी तरह उनके चरित्रमें बड़ा अन्तर है। भागवतके अनुसार बलिराजा एक दानी और दृढ प्रतिज्ञ आदर्श व्यक्ति था। गुणीजनोंका आदर करने वाला था। पर नमुचि दुष्ट था। उसके अत्याचारके कारण ही जैन मुनिको अपनी तपशक्तिको प्रयोग करना पड़ा था। उसका कार्य उचित जान पड़ता है। इसीलिए नमुचिके प्रति पाठकोंकी सहानुभूति नहीं उत्पन्न हुई। बलि जैसे किसी धर्मिष्टका अकारण केवल इन्द्रकी ही सहायताके लिये, वामन रूप धरके कष्ट देना अनुचित लगता है बलिके प्रति सहज सहानुभूति होती है पुराणोंमें भी अवतारोंका कार्य दुष्टदमन और साधु रक्षण बताया है। जो विष्णु कुमारकी कार्यकी पुष्टि करता है। वामनावतारको उस रूपमें चित्रित नहीं किया गया यहाँ बल्कि अकारण कष्ट दिया गया है। इस दृष्टिसे जैनकथा अधिक संगत है। वामनके कार्यके अनौचित्यका उद्घाटन ब्रह्माकी स्तुतिसे भी भली भाँति हो जाता है यद्यपि वामनने अपना बचाव करनेका प्रयत्न किया है। पर वह जनसाधारणकी दृष्टिसे सफल नहीं प्रतीत होता, उच्च भूमिका वालोंको ही भले न ठीक जंचे कथामें पहले धन एवं ऐश्वर्य पाकर बलिराजा अनाचार और अत्याचार करने लगा, ऐसा चित्रण किया जाता तो भी संगति बैठ जाती। पर उसे तो प्रशंसनीय बतलाया गया है। ४ तीन डग जितनी भूमि मांगने और मापते समय बृहद्रूप धारण कर छलनेकी बात दोनोंमें समान है ही। वास्तवमें वही सबसे प्रधान साम्य माना जाना चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि दोनोंके रूप एकसे हैं। अब विद्वानोंको इस सम्बन्धमें विशेष विचार प्रगट करनेक अनुरोध है।

※ दिगम्बर कथा ग्रन्थोंमें राजा महापद्मको कद करने जैसी कोई भी बात नहीं है।

× दिगम्बर परम्परामें राजाबलिसे ही तीन डग पृथ्वी मांगनेका उल्लेख है और बलिको ही दुष्ट कार्य करने वाला, तथा सात दिनका राज्य प्राप्त करने वाला लिखा है। —प्रकाशक

गोम्मटसार जीवकाण्डका हिन्दी पद्यानुवाद

[परमानन्द जैन]

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गोम्मटसार पर अनेक टीका टिप्पण लिखे गये हैं × पाठकोंको जान कर प्रसन्नता होगी कि भा० दि० जैन महासभाके शास्त्रभंडारों-मेंसे मुझे गोम्मटसार जीवकाण्डका पद्यानुवाद उपलब्ध हुआ है, जो पं० टोडरमलकी हिन्दी टीकाके बाद बनाया गया है। इस पद्यानुवादके कर्ता वर्णी दौलतराम हैं, यह किस वंशके विद्वान थे और इनकी गुरुपरम्परा और समय क्या है इसका ग्रन्थप्रशस्तिमें कोई उल्लेख नहीं किया है। सिर्फ इतना ही बतलाया है कि मूलगाथाके अर्थको अवधारण करनेके लिये, और अपने शिष्यको पढ़ानेके लिये जिसका नाम व्यक्त नहीं किया वर्णी दौलतरामने यह पद्यानुवाद किया है जैसा कि ग्रन्थके अन्तिम सवैया पद्यसे प्रकट है:—

गाथा मूलमांहि अर्थ न विशेष समझांहि,
तातैं अर्थ अवधारनेका लोभी थायकें।
अथवा स्वशिष्य ताके पढ़ावन काज,
यह कर दियो आरम्भ गुरुपदेश पायकें।
क्रीडनके तालसम मैं वर्णी दौलतवाल जान
श्रत-सागरमें पर्यौ उमगायके
सो अब लघु बुद्धिपाय शारद सहाय थारी,
आय गयौ आधे पार विलम्ब विहायकें।

कविने अपनी लघुता प्रगट करते हुए लिखा है कि ग्रन्थमें कहीं छन्द और अर्थमें भूल रह गई हो तो विद्वानों को चाहिये कि मूलगाथाको देख कर उसका शोधन करलें, मैंने तो गाथाके अर्थको सुगम रीतिसे अवधारण करनेके लिये मात्र प्रयत्न किया है।—

जो है छन्द अर्थ महि भूल, सोधहु सुधी देखि श्रुतमूल
गाथारथ अवधारण काज, सुगमरीति कीनी हित साज।२।

कविने नेमिचन्द्रकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नामक संस्कृतटीका और पं० टोडरमलजीके* 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामक भाषाटीका इन दोनों टीकाओं से अर्थका अवलोकन कर संदृष्टि और यन्त्रोंको छोड़ कर मूल गाथाओंका अर्थ कहा गया है। और यन्त्र वाली गाथाओंके अर्थको गुरु-टीकामें (पं० टोडरमलजीकी टीकामें) देखनेका संकेत किया गया है यथा—

तिनही संस्कृत भाषा दोय, वृत्तिनमेंसे अर्थ विलोय।
संदृष्टि अरु यन्त्र विचार, गाथा मूल अर्थ कहूं सार।।८७
यन्त्र तनी गाथानकौ, अर्थ सुरचनायुक्त।
देखौ गुरुटीका विषैं, करहु भ्रांत निजमुक्त ॥ ८८ ॥

अब पाठकोंकी जानकारीके लिये कुछ मूल गाथाओंका पद्यानुवाद मूलगाथाओंके नीचे दिया जाता है पाठक उस परसे कविके रचना और भाषा आदिके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणंदवरणेमिचंदमकलंकं।
गुणरयणभूषणुदयं जीवस्स परुवणं वोच्छं ॥

दूहा—गुण-मणि-भूषण उदय वर नेमिचन्द जिनराय।
सिद्ध शुद्ध अकलङ्क नम, कहुं जिय प्ररुपण गाय ॥
गुण-रतन-भूषण उदययुत श्रीसिद्ध शुद्ध जिनेन्द्रजी,
वरनेमिचन्द कलंकविन चौबीस वा तीर्थेन्द्रजी।

× आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसार पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। उन उपलब्ध टीकाओंमें गोम्मटसारकी' 'पंजिका टीका' जिसके कर्ता आचार्य चन्द्रकीतिके शिष्य मुनिगिरिकीर्ति हैं। उन्होंने यह टीका शक सं० १०१६ (वि० सं० ११५१ में बनाकर समाप्त की है। इस टीकाकी एक प्रति मौजमाबाद जयपुरके शास्त्र भण्डारमें १५६० की लिखी हुई मौजूद है जिसे भ० ज्ञानभूषणके शिष्य लघु विशालकीर्तिको गंधार मन्दिरमें हूमडवंशी श्रावक सर भाइयाकीका की पुत्री माणिकबाईने लिखा कर प्रदानकी थी। दूसरी कनड़ी टीका केशववर्णीकी है जिसे उन्होंने शक सं० १२८१में बनाकर समाप्त की है। तीसरी टीका अभयचन्द्र सूरीकी मन्दप्रबोधिका है। चौथी टीका नेमचन्द्रकी है। ५ वीं टीका पं० टोडरमलजी की है।

* कविने पं० टोडरमलजीको छप्पयछन्दकी निम्न पंक्तियोंमें सेठ लिखा है, जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि पं० जी अर्थसम्पन्न साहूकार थे। उनके यहाँ लेनदेनका निजी कार्य भी सम्पन्न होता था—

अथवा श्रीजिनवीर वा श्रीसिद्ध वा सु-समय सही।
वा सर्व सिद्धसमूह अथवा प्ररूपणा जियकी कही॥
'पुन भाषाटीका तासुकी सम्यक्ज्ञानजुचन्द्रका
श्री सेठ जु टोडरमल्लजी रची भरण अमरन्द्रका ॥८६॥

वा श्री नेमिचन्द्रवरसूर, सबही पूर्वकथित गुणपूर।
तिन युग चरणांबुज सिरनाय, जीवप्ररूपणा कहौं सो गाय ॥१॥

× × × ×

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
हिण धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जुरदो॥

अनुभवता मिथ्यात्व सदीव, है विपरीत दर्शनी जीव।
सो पुन धर्म्म न रौचे कदा, जिय ज्वरवान मधुररस सदा॥

× × ×

संजुलण णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणण पमादो विय तम्हा हु पमत्तविरदो सो॥३।

जो देशघाती संज्वलन नव-नोकषाय उदै सही।
संयम सकल अरु मल जनक परमाद दोउ हेतु ही॥
तातैं जिया सोई प्रमत सोई विरत उर आनिये।
वरती जु षष्ठम थानि तातैं प्रमत संयत मानिये॥ ३२॥

× × ×

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्म-रय-विप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि॥ ६५॥

सब भेद शीलतने जु अठ दश सहस तिनको पायजी।
आश्रव समस्त निरोधजिय पुन स्वपदमें थिर थाय जी॥
नव वध्यमान करममईरज कर विमुक्त भये सही।
मन वचन तनके योग विन जिन अजोगि संज्ञा लही।६५।

× × ×

इकहत्तर गाथा सुखकार, शतइक उनइस छन्द मझार।
गुणस्थान अधिकार जु एह, पूरण भयौ प्रथम सुखगेह॥

इति श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति विरचित गोम्मटसार द्वितीय नाम पंचसंग्रह ताकी जीवतत्त्वप्रदीपिका नाम संस्कृत टीका वा सम्यक् ज्ञानचन्द्रिका नाम भाषा-टीकाके अनुसार मूलगाथार्थ छन्द बन्ध व.सबोध छन्दार्णवग्रन्थमें गुणस्थान प्ररूपणानाम प्रथमोऽधिकारः ॥१॥

× × ×

णट्ठ पमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणा भावा।
सेसा कम्मत्थित्ते णुवयारे णत्थि ण हि कज्जे॥ ६॥

अरिल—अप्रमत्त आदिक गुणथान मझारही,
कारण तने अभाव प्रथम संज्ञा नहीं।
कर्मोदय अस्तित्व जु सज्ञा शेष ही।
है उपचारहिं मात्र कार्य रूपी नहीं॥

गाथा जु षट्नव छन्द महि अधिकार उत्तम यह सही।
संज्ञा सुनामा पचमो पूरण कियो सुखदाय ही।
लाख छन्द अर्थ मझार घटबढ सुधी लेहु सुधारके।
वांचहु पढावहु पढहु जिहि विधि होहु तट तिन धारके॥

संधि पुष्पिका वाक्य ऊपर मुजब है। इस तरह गोम्मटसारका यह पद्यानुवाद एक अप्रकाशित रचना है जिसका समाजमें कोई उल्लेख आजतक सामने नहीं आया। इस तरहकी अनेकों अज्ञात रचनाएँ ग्रन्थभण्डारोंमें छिपी पड़ी हैं जिन्हें प्रकाशमें लानेका यत्न करना चाहिए। आशा है कोई दानी महानुभाव दौलतरामवर्णीकी इस कृतिको प्रकाशमें लानेका यत्न करेंगे इस ग्रन्थकी एक प्रति बिजनौरके शास्त्रभण्डारमें भी मौजूद है। ये दोनों प्रतियाँ मथुरामें सं० १६६१ में प्रतिलिपि की गई हैं।

जैनसाहित्यका दोषपूर्ण विहंगावलोकन

[पं० परमानन्द जैन शास्त्री]

'अमण' के पांचवें वर्षके द्वितीय अंकमें 'जैनसाहित्यका विहंगावलोकन' नामका एक तालिका-लेख डाक्टर इन्द्रके नामसे प्रकाशित हुआ है। उसको देखनेसे पता चलता है कि जैन साहित्यका यह विहंगावलोकन बड़ा ही दोषपूर्ण है। उसमें अहमदाबादकी गत अक्तूबर मासमें होने वाली जैन साहित्य-इतिहास-परिषदके असाम्प्रदायिक प्रस्तावकी बहुत कुछ अवहेलना की गई है। डा० इन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट उस तालिकामें कितनेही ग्रन्थकारोंको आगे पीछे कर दिया है, कितनोंको बिल्कुल ही छोड़ दिया है और कितनोंका समय-निर्देश गलत रूपमें उपस्थित किया है। कह नहीं सकते कि यह सब कार्य डा० इन्द्रने स्वयं किया है या किसी निर्दिष्ट योजनाका वह परिणाम है, पर इतना तो स्पष्ट झलकता है कि उसका उद्देश्य समन्तभद्र और अकलंक जैसे न्यायसर्जक और प्रतिष्ठापक प्राचीन विद्वानों को अर्वाचीन और अपने अर्वाचीन विद्वानोंको प्राचीन सिद्ध करना रहा है। इससे जहाँ ऐतिहासिक तथ्योंको हानि पहुँचेगी और अनेक नूतन भ्रान्त धारणाओंकी सृष्टि होगी, वहाँ ऊपरसे असाम्प्रदायिक लगने वाली अन्तः साम्प्रदायिक नीतिका उद्‌भावन भी हो जावेगा। तालिका में जो नीति वर्ती गई है उसमें अन्तः साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भले प्रकार सन्निहित है और उसके द्वारा साहित्यिकोंको साहित्यके वैसे इतिहास निर्माणकी दृष्टि ही नहीं दी गई बल्कि एक प्रकारसे प्रेरणा भी की गई है। जबकि हम लोग उस साम्प्रदायिकतासे ऊपर उठना चाहते हैं जो पतनका कारण है तब ऐसी नीति समुचित कैसे कही जा सकती है? इतिहासज्ञोंको तो उदार और असाम्प्रदायिक होनेके साथ साथ वस्तुतत्त्वके निर्णयमें दृष्टिको शुद्ध एवं निष्पक्ष रखने की बड़ी जरूरत है, उसीको जुटाना चाहिये, बिना उसके इतिहासमें प्रामाणिकता नहीं आ सकती। अप्रामाणिक इतिहास बहुत कुछ आपत्तियों-विप्रतिपत्तियोंका घर बन सकता है जिनसे व्यर्थ ही समाजकी शक्तियोंका क्षय होना सम्भव है।

यहाँ यह विचारणीय है कि जिन आचार्योंका समय ऐतिहासिक विद्वान प्रायः एक मतसे निरूपण करते हैं उसे न मान कर उन्हें यों ही मन माने ढंगसे अर्वाचीन प्रकट करना और अर्वाचीनोंको प्राचीन बतलाना क्या उचित कहा जा सकता है। आज यह लेख इसी विषय पर विचार करनेके लिये लिखा जाता है। आशा है डाक्टर साहब योजना संयुक्त मन्त्रीके नाते उस पर गहरा विचार करनेकी कृपा करेंगे।

विहंगावलोकनको उस तालिकामें १४वें नम्बर पर हरिभद्रके बाद जो हरिषेणका नामोल्लेख किया गया है वह गलत है; क्योंकि पद्मपुराणके कर्ता हरिषेण नहीं हैं और न उनका समय ही वि० सं० ८०० हो सकता है। हरिषेण नामके दो विद्वानोंका उल्लेख मिलता है जिनमें प्रथम हरिषेण 'हरिषेण कथाकोश' के कर्ता हैं जिसे उन्होंने शक स० ८५३ (वि० सं० ९८८) में विनायकपालके राज्यकालमें बनाकर समाप्त किया है; दूसरे हरिषेण वे हैं जिन्होंने वि० सं० १०४४में 'धर्मपरीक्षा' नामका ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें बनाकर समाप्त किया है। इन दोनों हरिषेणोंमेंसे वहाँ कोईभी विवक्षित नहीं है। वहाँ हरिषेण की जगह रविषेण होना चाहिए। उस तालिकामें जो यह गल्ती हुई है उसका कारण फतेचन्द बेलानीकी वह पुस्तक जान पड़ती है जिसका नाम 'जैनग्रन्थ और ग्रन्थ-कार' है, उसमें भी हरिभद्रके बाद 'पद्मचरित (पद्मपुराण) के कर्ताको हरिषेण लिखा है उस पुस्तकमें दूसरे भी बहुतसे गलत उल्लेख हैं, सैकड़ों ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार छूटे हुए हैं। डाक्टर साहबने उक्त तालिका उसी परसे बनाई जान पड़ती है, इसीसे दोनोंमें बहुत कुछ समानता पाई जाती है तालिका बनाते समय उस पर कोई खास ध्यान दिया गया मालूम नहीं होता, अन्यथा ऐसी गल्तीकी पुनरावृत्ति न होती

उक्त तालिकामें डा० इन्द्रने कषायपाहुड और षट्खण्डा-गमके कर्ता आचार्य गुणधर भूतबली पुष्पदन्त के साथ आचार्य कुन्दकुन्दको विक्रमकी तीसरी शताब्दीका विद्वान प्रकट किया है और उनके बाद उमास्वातिको रक्खा है। उमास्वातिका बादमें रखना तो ठीक है परंतु कुन्दकुन्दादिका समय ठीक नहीं है और न उमास्वातिसे पहले विमलका

समय ही ठीक है। जबकि विद्वान अनेक प्रमाणोंके आधार पर कुन्दकुन्दाचार्यका समय विक्रमकी पहली शताब्दी घोषित कर रहे हैं।

तालिकामें सिद्धसेन दिवाकरको वि० ४०० ५०० के मध्य रक्खा है और उन्हें सन्मतितर्क, न्यायावतार तथा द्वात्रिंशिकाओंका कर्ता सूचित किया है; जबकि जैन न्यायके सर्जक समन्तभद्राचार्यको वि० ७०० में जिनदास महत्तरके भी बाद रक्खा है। यह सब देखकर बड़ाही आश्चर्य और खेद होता है; क्योंकि प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामके विस्तृत निबन्धमें, अनेक प्रमाणोंके आधारसे यह सिद्ध किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थोंके कर्ता एक सिद्धसेन नहीं किन्तु तीन हुए हैं जिनमें प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता प्रथम, सन्मतिसूत्रके कर्ता द्वितीय और न्यायावतारके कर्ता तृतीय सिद्धसेन हैं और इन तीनोंका समय भिन्न भिन्न है। साथ ही यह भी बतलाया है कि सन्मतितर्कके कर्ता सिद्धसेन बादको 'दिवाकर' नामसे भी उल्लेखित किये जाते थे, वे दिगम्बर विद्वान हैं, प्रथमादि कुछ द्वात्रिंशिकाएँ जिन सिद्धसेनकी बनाई हुई हैं उनपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव ही लक्षित नहीं होता बल्कि प्रथमद्वात्रिंशिका में तो 'सर्वज्ञपरीक्षक्षमाः' जैसे शब्दों द्वारा समन्तभद्रका उल्लेख तक किया है और न्यायावतारके कर्ता सिद्धसेन-श्वेताम्बर सम्प्रदायके विद्वान हैं जिनका समय पात्रकेशरी और बौद्ध विद्वान धर्मकीर्तिके बाद का है और समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान हैं; जिस समयको श्वेताम्बर ग्रन्थोंका भी समर्थन प्राप्त है। न्यायावतारके कर्ताने तो समन्तभद्रके 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' का 'आप्तोपज्ञ' नामका पद्य भी अपने ग्रन्थमें अपनाया है ×। मुख्तार श्री के उक्त निबन्धका कहींसे भी कोई प्रतिवाद ५ वर्ष हो जाने पर भी देखनेमें नहीं आया। ऐसी स्थितिमें भी समन्तभद्रको जान बूझ कर ७ वीं सदीका विद्वान सूचित किया है, इतना ही नहीं किन्तु जिनदासगणी महत्तरके बादका भी विद्वान सूचित किया है; जबकि जिनदासगणीने जो श्वेताम्बर विद्वान हैं, अपनी नन्दीचूर्णि शक संवत् ५९८ में बनाकर समाप्त की है ※। इससे वे वि० सं० ७३३ के विद्वान होते हैं। इतना ही नहीं; किन्तु उन्होंने अपनी निशीथचूर्णि और नन्दीचूर्णिमें समन्तभद्रके कई शताब्दी बाद होनेवाले टीकाकार अकलंकदेवके 'सिद्धिविनिश्चय' का स्पष्ट उल्लेख किया है। यह सब होते हुए भी जिनदासगणी महत्तरके बाद समन्तभद्रका नामोल्लेख करना कैसे संगत एवं दृष्टि विकार विहीन कहा जा सकता है? और यह अवलोकन तो और भी अधिक दृष्टि विकारका सूचक है जो समन्तभद्रको पूज्यपादसे भी १०० वर्ष पीछेका विद्वान प्रकट करता है; जबकि पूज्यपाद स्वयं अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका उल्लेख 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्रके द्वारा करते हैं।

इसी तरह आचार्य अकलंकदेवको जो हरिभद्रके बाद अन्तमें रक्खा है वह किसी तरह भी उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हरिभद्रकी कृतियों पर अकलंकदेवका स्पष्ट प्रभाव ही अंकित नहीं है। किन्तु हरिभद्रने अपनी 'अनेकान्तजय पताका' में अकलंकदेवके न्यायका उल्लेख भी किया है +। ऐसी स्थितिमें अकलंकदेवको हरिभद्रका उत्तर वर्ती बतलाना कितना दृष्टि दोषको लिये हुए है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं रहती!

अकलंक तो जिनदासगणी महत्तरसे भी पूर्ववर्ती है; क्योंकि जिनदासने अपनी चूर्णियोंमें उनके 'सिद्धिविनिश्चय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है यह सर्वविदित है। और साथ ही यह भी निश्चित है कि अकलंकका वि० सं० ७०० में बौद्धोंसे बहुत बड़ा वाद हुआ था, जिसमें उन्होंने विजय प्राप्त की थी ※। इन सब ऐतिहासिक साक्षियोंके होते हुए भी बलात् उन्हें हरिभद्रका उत्तरवर्ती विद्वान प्रकट करना प्राचीन आचार्योंको अर्वाचीन और अर्वाचीनों को प्राचीन प्रकट करनेकी दूषित दृष्टि अथवा नीतिका ही परिणाम जान पड़ता है। अकलंकदेवके विषयमें अधिक

× देखो, 'सन्मतिसिद्धसेनाङ्क' नामका अनेकान्तका विशेषांक वर्ष ९ कि ११-१२

※ 'शकराज्ञः पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्यध्ययन चूर्णि समाप्ता।' देखो भारतीय विद्या वर्ष ३ अंक १ में प्रकाशित जिनभद्र क्षमाश्रमण' नामका लेख

+ 'इति अकलंक न्यायानुसारि चेतोहरं वचः' अनेकान्त जयपताका पृष्ठ २०२, विशेषके लिये न्यायकुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावना देखें।

※ विक्रमार्क- शकाब्दीय–शत–सप्त–प्रमाजुषि।
कालेऽकलंक यतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत ॥
—अकलंक चरित

संभव तो यह है कि वे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमके समकालीन या कुछ पूर्व वर्ती रहे हैं।

ज्ञानार्णवके कर्ता आचार्य शुभचन्द्रको वि० सं० १३०० में होनेवाले पण्डित आशाधर जीके बादका विद्वान बतलाना किसी तरह भी संगत नहीं कहा जा सकता। जबकि पं० आशाधरजी की इष्टोपदेशटीकामें ज्ञानार्णवके कई पद्य 'उक्तं च' रूपसे पाये जाते हैं, ऐसी हालतमें उक्त निष्कर्ष निकालना समुचित नहीं कहा जा सकता शुभचन्द्र नामके अनेक विद्वान हुये हैं। प्रस्तुत शुभचन्द्र यदि १३ वीं शताब्दीके विद्वान होते तो वे जिनसेन तकके प्रधान आचार्योंका स्मरण करके ही न रह जाते बल्कि जिनसेनके बाद होनेवाले कुछ महान आचार्योंका भी स्मरण करते; परन्तु स्मरण नहीं किया, इससे वे १३ वीं शताब्दीके उत्तरार्धके विद्वान नहीं जान पड़ते। ज्ञानार्णवके कर्ता अधिकसे अधिक १० वीं ११ वीं शताब्दीके विद्वान ज्ञात होते हैं। ज्ञानार्णव के 'गुण दोष विचार' नामक प्रकरणमें जिन तीन पद्योंको 'उक्तं च' बतलाया गया है उन्हें ज्ञानार्णव कारने यशस्तिलक चम्पूसे नहीं लिया है; क्योंकि यशस्तिलकचम्पूकी कई प्राचीन लिखित प्रतियोंमें उक्त तीनों ही पद्य 'उक्तं च' रूपसे अंकित हैं इससे वे यशस्तिलकमें उद्धृत होनेके कारण उनसे प्राचीन जान पड़ते हैं। अतः वे पद्य शुभचन्द्रने यशस्तिलक चम्पूसे लिये यह नहीं कहा जा सकता। हमने ज्ञानार्णवकी कई प्राचीन प्रतियोंका अवलोकन किया है जिनमेंसे दो तीन प्रतियोंके हाशिये पर जो ग्रन्थ बाह्य पद्य किसीने अपनी जानकारीके लिये नोट कर दिये थे उन्हें बादके लिपिकारोंने मूलमें शामिल कर दिया। इस तरह प्रतिलिपिकारोंकी कृपा अथवा नासमझीसे अनेकों पद्य प्रक्षिप्तरूपसे ग्रन्थोंमें शामिल हो गये हैं यह बात ग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन करने वालोंसे छिपी नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें ज्ञानार्णवकी शुद्ध प्राचीन प्रतियोंसे मुद्रित प्रतिका संशोधन होना जरूरी है।

'राघवपाण्डवीय' काव्यके कर्ता कविधनंजयका नामोल्लेख उक्त तालिकामें आचार्य जिनसेन वीरसेन, जिनसेन शाकटायन और आचार्य विद्यानन्दके बाद वि० सं० ९०० में किया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त कविकी 'अनेकार्थ नाम माला' का निम्न एक पद्य आचार्य वीरसेनने एक उपयोगी श्लोक कह कर अपनी धवला टीकामें उद्धृत किया है:—

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यये।
प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दः विदुर्बुधा॥

यह धवला टीका वि० सं० ८७३ में बन कर समाप्त हुई है। उक्त उल्लेखानुसार धनंजय कविका समय वि० सं० ८७३ से पूर्व वर्ती है। अतः उनका नामोल्लेख वीरसेनाचार्यसे भी पूर्व होना चाहिए, न कि विद्यानन्दके बाद।

इसी तरह अपभ्रंश दोहा साहित्यके रचयिता योगीन्द्रदेवको विक्रमकी ११वीं शताब्दीमें रक्खा है। जबकि परमात्मप्रकाश ग्रंथके टीकाकार ब्रह्मदेव विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान हैं। और डाक्टर ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्ने अनेक प्रमाणोंके आधारसे योगीन्द्रदेवका समय परमात्मप्रकाशकी प्रस्तावनामें ईसाकी ७ वीं शताब्दी निश्चित किया है। अतः बिना किसी प्रमाणके उन्हें विक्रम की ११ वीं शताब्दीमें रखना उचित नहीं है। क्योंकि आचार्य हेमचन्द्रने योगीन्द्रदेवकी परमात्मप्रकाशकी रचनासे अनेक पद्य उद्धृत किये हैं अपभ्रंश भाषाकी प्राचीन रचना दोहा साहित्यसे शुरू होती है।

पउमचरियके कर्ता विमल कविके समयमें जरूर कुछ संशोधन किया गया है। ग्रन्थमें उल्लिखित विक्रम संवत् ६० का रचनाकाल आपत्तिके योग्य है। इस पर कई विद्वानोंने आपत्ति की है। हमने भी उसका आन्तरिक परीक्षण किया जिसके फलस्वरूप कविका समय विक्रमकी ५ वीं ६ ठी शताब्दी स्थिर किया गया, परन्तु प्रस्तुत तालिकामें वह बिना किसी प्रमाणके तीसरी शताब्दी रक्खा गया है।

अब मैं उन विद्वानोंमें से कुछ प्रमुख विद्वानोंका नामोल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूँ जिनको प्रमुख ग्रन्थकार होते हुए भी तालिकामें छोड़ दिया गया है। उदाहरण स्वरूप 'जल्पनिर्णय' के कर्ता श्रीदत्त, 'सुमति सप्तक' ※ और सन्मतिसूत्रविवृतके कर्ता सुमतिदेव, जिनका तत्वसंग्रह नामक बौद्ध ग्रन्थके टीकाकार कमलशीलने 'सुमतिदेव दिगम्बरेण इम वाक्यके द्वारा उल्लेख किया

※सुमतिदेव ममुं स्तुत येनवस्सुमति सप्तकमाप्ततयाकृतम्।
परिहृतापथ-तत्त्व-पथार्थिनां सुमतिकोटिविवर्तिभवार्तिहृत्॥
—शिलालेख सं० भा० १-५४

× इस ग्रंथका उल्लेख वादिराजने पार्श्वनाथ चरित्रमें किया है।

है। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार शिवकोटि × 'जिनस्तुति' और त्रिलक्षण कदर्थन' नामक ग्रन्थोंके रचयिता पात्र-केशरी, जिनका 'जिन तुति' नामका ग्रन्थ पात्रकेशरी स्तोत्र नामसे प्रकाशित हो चुका है, 'नव-तोत्र' के कर्ता वज्रनन्दी, + जिन्होंने किसी प्रमाण ग्रन्थकी भी रचनाकी थी। 'वाद-याय' के कर्ता कुमारनन्दी, जिनका उल्लेख 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' 'प्रमाण परीक्षा' और 'पत्र परीक्षा' में आचार्य विद्यानन्दने किया है। 'लोकविभाग' प्राकृतके कर्त्ता 'सर्वनन्दी' जिन्होंने अपना उक्त ग्रंथ शक स० ३८० में बना कर समाप्त किया है। 'सुलोचनाकथा' के कर्ता महासेन, छन्दोनुशासन' के कर्ता जयकीर्ति, और 'श्रुत-विन्दु' के कर्ता चन्द्रकीर्त्याचार्य, ※ 'वागर्थसंग्रह' पुराण के कर्ता कवि परमेष्ठी इन विद्वानोंकी अधिकांश रचनाएं यद्यपि इस समय अनुपलब्ध हैं फिर भी उनके स्पष्ट उल्लेख तथा वाक्योंके उद्धरण तक मिलते हैं। इनके सिवाय, जिन आचार्योंकी महत्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं उनका भी नामोल्लेख नहीं किया गया है। उदाहरणके तौर पर पात्रकेशरी और उनके प्रसिद्ध स्तोत्रको छोड़कर निम्न विद्वानों और रचनाओंका उल्लेख यहाँ होना आवश्यकीय है।

य गसारके कर्ता अमितगति प्रथम, आत्मानुशासन, उत्तरपुराण और जिनदत्तचरित्रके कर्ता (जिनसेनाचार्य के प्रधान शिष्य) गुणभद्राचार्य, समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायरूप प्राभृतत्रयके टीकाकर तथा पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थोंके रचयिता अमृत-चन्द्राचार्य, धर्मरत्नाकरके कर्ता जयसेनाचार्य, काव्यानु-शासन और छन्दोनुसानके कर्ता नेमिकुमारके पुत्र वाग्भट्ट, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, जम्बूस्वामिचरित्र, लाटीसंहिता, समयसारकलशटीका, छन्दोविद्या और पंचाध्यायी नामक ग्रन्थोंके कर्ता कवि राजमल्ल।

इसी तरह अपभ्रंश साहित्यके भी कई प्रमुख विद्वानों को भी छोड़ दिया गया है यथा—

पार्श्वनाथ पुराणके कर्ता कवि पद्मकीर्ति, जिनकी उक्त रचनाका काल वि० सं० ९९९ है। जंबूस्वामिचरित्रके कर्ता कवि 'वीर' जिनकी उक्त रचनाका समय वि० सं० १०७६ है

इस तरह जैन साहित्यका उक्त विहंगावलोकन अनेक दोषों, त्रुटियों, स्खलनों और साम्प्रदायिकनीतिके दृष्टि-कोणको लिये हुए है। यदि वस्तुतः तालिकाके निर्माणमें साम्प्रदायिक नीतिका कोई दृष्टिकोण नहीं है—वैसे ही फतेचन्द वेलानीकी उक्त पुस्तकका अनुसरण करके उसे दे दिया गया है—तो खुले दिलसे उसका शीघ्रही संशोधन होकर उसे प्रकाशमें लाना चाहिये।

× तस्यैव शिष्यः शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बन देहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थ सूत्रं तदलंचकार॥
—शिलालेख सं० भा० १, १०५

+ नवस्तोत्रं येन व्यरचि सकलार्हत्प्रवचन।
प्रपंचान्तर्भावप्रवण-वरसन्दर्भ सुभगम्॥
—शिलालेख सं० भाग १, ५४ (६७

※ देखो, शिलालेख संग्रह भाग १, ५४ (६७)

हिन्दी-जैन-साहित्यमें अहिंसा

[ले० कुमारी किरणवाला जैन]

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

—आचार्य उमास्वामी

अर्थात् प्रमाद और कषायके योगसे प्राणोंका व्यपरोपण करना—घात करना, दुःख देना—हिंसा है, और इनका न होना अहिंसा है। प्रमाद शब्दका एक विशेष लाक्षणिक अर्थ भी है जिसका भाव है कि संकल्प द्वारा काम, क्रोध, स्वार्थ तथा लोभादिके वशीभूत होकर कार्यमें असावधानीसे प्रवृत्ति करना।

प्राचीनकालमें यज्ञोंकी प्रधानता थी। यज्ञ देवताओंको प्रसन्न करनेके लिए किये जाते थे। यज्ञको विष्णु और प्रजापति भी कहा जाता था। जब वैदिक सम्प्रदायका ओर बढ़ा और यज्ञोंका भारतमें अधिक प्रचार होने लगा तब उनकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। उपासनाकी अपेक्षा ये यज्ञ विशेषतः स्वार्थ-साधनाकी पूर्तिके हेतु किये जाते थे। इनमें व्यक्तियोंके स्वार्थकी भावना अन्तर्निहित थी। इन्होंने उसे धर्म तक कह दिया था, क्योंकि साधा-

रथ रूपसे मांस भक्षण करना हिंसा है तवदेपारकेन्तु भ भोग लेनेके पश्चात् वे उसे देव-प्रसादका रूप मानकर उसका खाना धर्म मानते थे। वैदिक कर्मकाण्ड हिंसा प्रधान हो गया था। उसके विरोधमें उपनिषद् कालके विचारकोंने आत्मज्ञानकी स्थापना की। 'आत्मानः वृद्धि' अर्थात् अपनी आत्म.की उन्नति करो। यज्ञोंको उपनिषद्में फूटी नाव कहा गया है। 'यज्ञाहूयते दढ़ा प्लावा : ये यज्ञ निश्चय ही फूटी नाव हैं। वैदिक युगके ऋषि स्वर्ग-कामनासे यज्ञ करते थे, उपनिषद् कालके विचारक आत्म-ज्ञानकी पिपासासे आकुल हो समस्त वैभव छोड़कर वनमें चले जाते थे।'

ऐसी ही विकट परिस्थितिमें जैनियोंके अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध अवतरित हुए। वे वैदिक हिंसाके अथवा क्रियाकाण्डको सहन न कर सके। उन्होंने दुखित प्राणियोंकी करुण-ध्वनिको अपनी ध्वनिमें मिश्रित कर दयाका संचार किया। और यज्ञोंकी बलिमे पशु समुदायकी रक्षा की। मनुष्योंको उपदेश देते हुए उन्होंने कहा कि विश्वकी शान्ति, अहिंसा और दया पर ही अवलम्बित हैं। वीरप्रभुके उपदेशोंने प्राणियोंके अन्तस्तलको स्पर्श किया। स्थान-स्थान पर सभाएँ कर अहिंसा तत्वका दिग्दर्शन कराया और उसकी महत्ता बताई। संसारका प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन सुरक्षित रखना चाहता है और जीवन वालोंके साथ रहना चाहता है, अतएव उन्होने 'जियो और जीने दो' का उपदेश दिया।

प्रोफेसर आयंगरने लिखा है—'अहिंसाके पुण्य सिद्धान्तने वैदिक हिन्दू धर्मकी क्रियाओं पर प्रभाव डाला है। यह जैनियोंके उपदेशोंका प्रभाव है जिससे ब्राह्मणोंने पशुबलिको पूर्णतया बन्द कर दिया था, तथा यज्ञोंके लिये सजीव प्राणियोंके स्थानमें आटेके पशु बनाकर कार्य करना प्रारम्भ किया था*।'

श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीके कथनानुसार 'अहिंसा तत्त्व ही इतना व्यापक है कि उसके उदरमें सब धर्म आजाते हैं जैसे हिंसा पापमें सब पाप गर्भित हो जाते हैं। अहिंसा जैनधर्मका मूल सिद्धान्त है। इसके अभावमें जैनधर्म निष्प्राण हो जायगा।'

अहिंसामें प्राणी, भूत जीव और सत्त्व की रक्षाके लिये आत्मोत्सर्गको प्रधानता दी गई है। जैनपुराणोंमें यदुकुमार 'नेमिनाथ' के वैराग्यकी घटना इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि किस प्रकार परोपकारके हेतु उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुखका त्यागकर साधनामें जीवन बिताना स्वीकार किया। नेमिनाथ प्रभु रथ पर आरूढ़ हो राजुलसे विवाह करने जा रहे थे मार्गमें अनेक पशुओंको बन्धनसे ग्रस्त देखकर उनका हृदय द्रवीभूत हो उठा! उन्होंने पूछा कि ये तृण-भक्षक पशु यहाँ किस कारणसे आरूढ किए गए हैं। पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि विवाहमें निमंत्रित कुमारोंके सत्कारके निमित्त ये यहाँ लाए गए हैं। यह सुनते ही उन्हें जगतसे वैराग्य हो गया। उन्होंने पशुओंको तत्काल बन्धनसे छुड़वाया और स्वयं उसी क्षण दीक्षा ग्रहण करनेके लिये वनकी ओर चल दिए। आगे चलकर अहिंसाका उपदेश दिया।'×

दूसरा उदाहरण प्रभु पार्श्वनाथजी का है। उन्होंने कठोरसे कठोर विरोध का प्रतिशोध सहिष्णुता और धैर्यके आधार पर किया। अनेक वर्षों तक हिंसाका अहिंसासे सामना करते रहे, परन्तु कभी भी हृदयमें प्रतिकूल भावोंकी सृष्टि नहीं हुई। उपयुक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि जैन-साहित्यमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा व्यक्तिगत साधना और त्यागके बल पर ही जीवित एवं प्रतिष्ठित हुई है।

---

*"The noble principle of Ahimsa has influenced the Hindu Vedic rites. As a resuht of Jain preachings.

The animal sacrifices were completely stopped by the Brahamens and the images of beasts made of flour were substituted for the reat and veritable ones required in the conducting of yagas."(Prof. M.S. Ramaswami Ayangar M.A.) —जैन शासन, पृ० १३४।

×भगवान नेमिनाथके विवाह और वैराग्यका वर्णन जस्टिस जैनीने बड़ा आकर्षक किया है+

"He (Naminath) was a Prince born of the Yadva clan at Dwarka and he renounced the world when about to be married to princess Rajimati, daughter of the chief, Ugrasena. When the marriage procession of Naminath app-

अहिंसाका अर्थ है कर्त्तव्य परायणता। अपने कर्त्तव्यसे विमुख होनेपर ही हिंसामें प्रवृत्ति होती है। साधारणतः हिंसा दो प्रकार की होती है—१. द्रव्य हिंसा और २. भाव हिंसा। कविवर वृन्दावनदासजीने भी हिंसाके दो भेद माने हैं—

'हिंसा दोय प्रकार है, अंतरबाहिजरूप।
ताको भेद लिखों यहां, ज्यों भाषी जिनभूप॥ ६४॥
अंतरभाव अशुद्ध करि, जो मुनि वरतत होय।
घातत शुद्ध सुभाव निज, प्रबल सुहिंसक होय॥ ६५॥
अरु बाहिज विनु जतन जो, करै आचरन आप।
तहं पर जियको घात हो, वा मति होहु कदाप॥ ६६॥
अंतर निज हिंसा करै, अजतनचारी धार।
ताको मुनिपद भंग है, यह निहचै निरधार॥ ६७॥
जे मुनि शुद्धोपयोग जुत, ज्ञान प्रान निजरूप।
ताको इच्छा करन नित, निरखन सहज स्वरूप॥ ६८॥'[1]

सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करनेपर यह स्वतः अनुभवमें आता है कि व्यक्ति कषाय करके स्वयं अपने भावोंका हनन करता है इसीलिये वह हिंसक है अतः किसीके प्रति राग या द्वेषके अभावको अहिंसाकी संज्ञा दी जाती है।

अपनी महत्वपूर्ण कृति 'हिन्दुस्तानकी पुरानी सभ्यता' में प्रयाग विश्वविद्यालयके भूतपूर्व प्रोफेसर डा० वेणीप्रसादजीने लिखा है—'सबसे ऊंचा आदर्श जिसकी कल्पना मानवमस्तिष्क कर सकता है अहिंसा है। अहिंसाके सिद्धान्तका जितना व्यवहार किया जायगा उतनी ही मात्रा सुख और शान्तिकी विश्वमंडलमें होगी। यदि मनुष्य अपने जीवनका विश्लेषण करे तो इस परिणाम पर पहुँचेगा कि सुख और शान्तिके लिये आन्तरिक सामंजस्यकी आवश्यकता है[2]।'

यह आन्तरिक सामंजस्यकी स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मनुष्यका सब प्राणियोंके प्रति साम्यदृष्टि-बिन्दु हो। सबसे परस्पर प्रेम भाव हो, मनुष्यको सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर प्राणीको कष्ट पहुँचानेका अधिकार नहीं। कष्ट सब जीवोंको अप्रिय होता है। सुख अनूकूल लगता है, दुःख प्रतिकूल लगता है। जहाँ अहिंसा सब प्राणियोंमें मैत्रीभाव स्थापित करती है वहीं हिंसा अथवा क्रूरता वैर-भाव प्रकट करती है।

जैन-साहित्यमें अहिंसा तीन भागोंमें विभक्त की गई है—१. आध्यात्मिक अहिंसा, २. नैतिक अहिंसा और ३. बौद्धिक अहिंसा।

आध्यात्मिक अहिंसा—का महत्त्व आत्म-भावोंकी निर्मलता है इसी कारण जैनदर्शनमें भावनाको प्रधानता दी गई है। क्योंकि जहां भावोंमें कर्कशता कठोरता एवं क्रूरताका दिग्दर्शन होता है वहां अवश्य हिंसा होती है। क्रूरता निर्बलतासे आती है। आत्मनिर्बलताही कायरता अथवा हिंसाकी जनक है। इसीसे जैनधर्मने आन्तरिक भावशुद्धिपर जोर दिया है। कारणकि भावोंकी विशुद्धता ही अहिंसाकी प्रतिष्ठाको प्रतिष्ठापन करनेमें सहायक है। साधारणतः मनुष्यका यह कर्त्तव्य है कि वह भावनासे कार्यकी पहचान करे। अपने प्रेम व सहृदयताकी भावनाके द्वारा शत्रुओंके हृदयको परिवर्तित कर उनके हृदयमें प्रेम-भावको स्थापित करना अहिंसा ही है। अहिंसा कठोरसे कठोर विरोधोंका सामना करती है। अतः किसी भी व्यक्तिके प्रति कुविचार न रखते हुए आत्मसमपर्णकी भावना रखना ही अहिंसाका वास्तविक पालन है।

नैतिक अहिंसासे तात्पर्य है कि प्रत्येक प्राणी समाजके लक्ष्यको समक्ष रखकर अपने जीवनकी आवश्यकताओंको इतना सीमित रक्खें जिससे उसके स्वयंका जीवन तो शुद्ध

---

roached the bride's castle, he heard the bleating and moaning of animals in the cattle pen upon inquiry he boud that the animals were to be slaughtered for the guests his own friends and party.

"Compossion surged in the youthful breast of Naminath and the torture which his marriage would cause to so many dumb ereature, paid here before him the mockery of human civiligation and heartless selbishness. He blung away his prinely ornaments and repaired at once to the forest."

[Cutlines of Jainisim PXXXIV]

१ प्र० परमागम पृ० १७६-१८०।

२ हिन्दुस्तानकी पुरानी सभ्यता पृष्ठ ६१३।

और सरल रहे साथ ही अन्य व्यक्तियोंके जीवनमें कोई बाधा न पड़े। वे अपनी आवश्यकताओंके हेतु किसीके अर्थका शोषण न करें।

बौद्धिक अहिंसा—आज विश्वमें स्वार्थके साथ साथ विचारोंका संघर्षभी चल रहा है। इसी कारण आधुनिक युगको बौद्धिक युगकी संज्ञा प्रदान की गई है। जैनदर्शन स्याद्वादके रूपमें बौद्धिक अहिंसाका प्रदर्शन करता है। स्याद्वादका अर्थ है अपनी दृष्टि,विचार और कथनको संकुचित हठ व पक्षपात पूर्वक न बनाकर उदार, निष्पक्ष एवं विशाल बनाना है। अपनी विचार धाराका उदार और निष्पक्ष बनानेके साथ उसका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह अपनी नीति सत्यको ग्रहण कर असत्यको त्यागनेकी बनावे। अतः संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जगतको आत्मसात् करनेके लिये अग्रसर होनाही बौद्धिक अहिंसा है।

आधुनिक विश्व अशान्त है। अशान्तिका मूल है व्यक्तित्ववाद क्योंकि व्यक्तिकी सामाजिकता नष्ट हो गई है अथवा व्यक्ति अधिक असमाजिक हो गया है। वह समाजसे पृथक रहकर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। समाजके स्थायित्वकी चिन्ता न कर अपने स्वार्थ साधनोंकी पूर्तिके हेतु चेष्टा करता है। मानवने क्या न किया। मनुष्यने विज्ञानकी गहरी खाईयाँ खोदी तथा नाना प्रकारकी गैसोंका निर्माण किया। किन्तु इन सबका दुष्परिणाम स्वयं उन्हींको सहन करना पड़ा और पड़ेगा।

अतः अर्वाचीन कालमें मनुष्य समाजको विश्वव्यापी युद्ध और अहिंसाके मध्य अपनी रुचिके अनुकूल चुनाव करना है। आज विश्वके सामने मुख्य समस्या यह है कि किस प्रकार विज्ञानको नाशात्मक कार्योंसे पृथक रक्खा जाय। अब भी इस विश्वमे ऐसी जाति और व्यक्ति विद्यमान हैं जो यह कल्पना करते हैं कि विज्ञान और युद्धका परस्पर सम्बन्ध है अथवा एक दूसरेके विरुद्ध नहीं है। कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो सोचते हैं कि विश्व युद्ध होकर ही रहेगा और शांति तथा अहिंसाके कोई भी उस प्रयत्नको रोक नहीं सकेंगे। एक अहिंसा प्रेमी व्यक्तिके लिये विश्वयुद्ध क्या अन्य कलहके छोटे-छोटे कारण मात्रोंसे घृणा होती है। परन्तु यह सत्य न खेदका विषय है कि विश्वव्यापी युद्ध होते हुये भी जाति और मनुष्यके नेत्र नहीं खुलते और एक युद्धके पश्चात् दूसरा और दूसरेके पश्चात् तीसरे युद्धके काले काले मेघ उनके मस्तक पर मडरा रहे हैं। वास्तवमें युद्धकी समाप्ति तभी सम्भव है जब कि मनुष्यमें मानवताका पर्याप्त विकास हो। डा० तानका यह कथन है, मानवताका पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है इससे यह अव्यवहार्य भले ही प्रतीत होता है, किन्तु जब मानवताकी विशेष उन्नति होगी तथा वह उच्च स्तर पर पहुँचेगी तब अहिंसाका विशेष व्रत सबको पालन करना होगा। ※

सम्भव है विश्वके व्यक्ति तृतीय युद्धमें शामिल हों; परन्तु यह निश्चय है कि उन्हें इस निर्णय पर आना होगा कि वे युद्धको अच्छा समझते हैं या शान्तिको। वास्तवमें विज्ञान और नाश एक हलमें नहीं जोते जा सकते इनका क्षेत्र और उद्देश्य बिल्कुल भिन्न है। विज्ञानकी उन्नतिके साथ साथ मनुष्यकी समस्या भी बढ़ती जा रही है। सन् १७५७ का भारतवर्षका प्लासीका विश्वविख्यात युद्ध दोनों ओर केवल कुछ ही सहस्त्र सिपाहियोंमें सीमित था। देशके अन्य लोगों पर इसका प्रभाव न पड़ा और लड़ाईकी जड़ का भी कुछ ही घण्टोंमें निर्णय हो गया। किन्तु आधुनिक कालका युद्ध विज्ञानकी उन्नतिके साथ अतिभयानक है। कोरिया, जो कि विश्वका एक छोटासा भाग है, के युद्धमें इतनी बड़ी हिंसा हो सकती है जो कि प्रत्यक्ष ही है तो यह विषय विचारणीय है कि विश्वव्यापी युद्धमें कितनी अधिक हिंसा होती होगी? इससे यह स्पष्ट है कि आज का विज्ञान कितना हानिकारक हो गया। अतः प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह इस प्रश्न पर विचार करे कि विश्वमें शान्ति हो या युद्ध। क्योंकि यदि इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध रहा तो यह निश्चय है कि मनुष्य समाजका अन्त हो जायेगा। जिस प्रकार रोटीको खाना और बचाकर भी रख लेना असभंव है इसी प्रकार युद्ध होते हुए शान्ति स्थापित करना भी असंभव है। यदि विज्ञानका उद्देश्य मनुष्य समाजकी उन्नति है तो

※ 9 Humanity hos not yet progressed enough. When the bumanity has sufficently developed and reached in certain higher stage this law of Ahimsa should be and would be followed by ael. —जैन शासन, पृ० १४३।

अहिंसाके द्वारा ही यह सम्भव हो सकती है न कि हिंसाके द्वारा। यह सम्भव हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोंको युद्धसे लाभ हो जाय परन्तु यदि उन्हें विज्ञानसे पूर्ण लाभ उठाना है तो अहिंसाको कार्यरूपमें परिणित करना होगा और शान्तिके सिद्धान्तोंका अनुगमन करना होगा! विश्वमें रामराज्य अहिंसाके द्वारा ही स्थापित हो सकता है न कि हिंसाके द्वारा। यदि मनुष्य विश्वम शान्ति स्थापित करना चाहता है तो यह आवश्यक है कि विज्ञानका उचित प्रयोग किया जाय और अहिंसाकी महत्ताको समझा जाय। विश्वमें समय समय पर समाज सुधारक और धर्मोपदेशक अवतरित होते रहे हैं। जिन्होंने हिंसाके उपद्रवसे विश्वको मुक्त किया और शान्ति तथा अहिंसाके आदेशसे प्राणीमात्रकी रक्षा की। अहिंसाका उद्देश्य सर्व प्रथम विशेषतया जैन तीर्थंकरोंने गम्भीरता एवं सुव्यवस्था पूर्वक बताया और उचित रीतिसे प्रचारित किया। अहिंसा के विषयमें जैनधर्मका दृष्टिकोण वस्तुतः मौलिक है। यह मौलिकता इसमें है कि जैन विचारकोंने अहिंसाकी व्याख्याका विचारबिन्दु आत्माको माना है। जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानस्वामी और बुद्धधर्मके प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध तथा ईसाई धर्मके प्रवर्त्तक लॉर्ड जेसस क्राइस्ट इत्यादिने अहिंसाकी महत्ता पर विचार कर विश्वको उसका उपदेश दिया। इस प्रकार उन्होंने अपने समय के हिंसात्मक कार्योंसे मनुष्योंको बचाया।

सम्राट् अशोकने कलिंगके महायुद्धके पश्चात् अहिंसाकी महत्ता समझी और जब तक राज्य किया प्रेम और शान्तिसे अपनी प्रजाको एक सूत्रमें बांधा। सन् १६८८ में इंग्लैंडमें रक्तहीन क्रान्ति हुई जो 'ग्लोरियस रेवूलेशन' के नामसे प्रसिद्ध है। यह घटना इंग्लैंड एवं योरोपके इतिहासमें अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे स्टूअर्ट राजाओंके दैवी अधिकार सिद्धान्तका अन्त कर दिया और इंग्लैंडमें पार्लियामैंटको प्रधानता प्रदान कर दी। इस क्रान्ति द्वारा यह सिद्ध होता है कि अहिंसामें जो शक्ति विद्यमान है वह तलवार और बाम्ब आदिमें नहीं।

हमारे अपने युगमें विश्वविभूति महात्मा गान्धीजीने जो महत्वपूर्ण कार्य कर विश्वके समस्त विचारकोंका ध्यान आकर्षित किया—वह है सार्वजनिक क्षेत्रमें अहिंसाके सिद्धान्तोंका प्रयोग। उन्होंने अपने निशदिनके व्यवहारमें अहिंसाको कार्यरूपमें परिणित किया। यह उन्हीं महात्मा-गान्धीकी एकनिष्ठतासे अहिंसाकी साधनाका प्रभाव है कि १०० वर्षोंसे पराधीनताकी बेड़ीमें पड़े हुए भारतवर्षको मुक्त कराया। उनके कथनानुसार अहिंसा मन्दिरों अथवा प्रकोष्ठोंके एक कोनेमें बैठ कर प्रयोग करनेकी वस्तु नहीं वरन् जीवनके प्रत्येक क्षेत्रम तथा प्रत्येक क्षणमें उसका उपयोग होना चाहिये। तभी मानव जीवन सफल हो सकता है।

आज विश्वमें युद्धोंका कारण केवल पूंजीका असमान वितरण है। जब तक दूसरोंकी भूमिका निर्दयता पूर्वक हड़प लेना न बन्द होगा और पूंजीका समान वितरण न होगा, युद्ध होना निश्चित है। आज कम्युनिज्म और केपिटलिज्मका ही संग्राम है। विश्वरूपी अखाड़ेमें यह दोनों पहलवान अपनी शक्तिकी परीक्षाके हेतु उतरे हैं और जब तक इन समस्याओंका निर्णय न होगा यह आपत्ति दूर न होगी।

विश्ववंद्य महात्मा गाँधीके प्रसिद्ध अनुयायी श्रीकाका कालेलकरके अहिंसाके विषयमें अत्यन्त उच्च विचार हैं। उनके कथनानुसार 'जबसे मनुष्यने माताके पेटसे जन्म लिया, तबसे अहिंसाका जन्म हुआ है। बलिदान तथा स्वार्पणके बिना अहिंसा जीवित नहीं रह सकती।'*

हिन्दी जैन-साहित्यमें अहिंसाकी महत्ता और हिंसाके निषेधके विषय पर साहित्यिकोंने सुन्दर प्रकाश डाला है। कविवर बनारसीदासजीके कथनानुसार हिंसा करनेसे कभी भी पुण्य फलकी प्राप्ति नहीं होती—

> जो पश्चिम रवि उगै, तिरै पाषान जल,
> जो उलटै भुवि लोक होय शीतल अनल।
> जो सुमेरू डिगमगै, सिद्ध के होय पग,
> तबहु हिंसा करत, न उपजै पुण्य फल॥ १

जैन-साहित्यके सुप्रसिद्ध कवि भूधरदासजीने हिंसासे बलि किये गये पशुओंके मुखसे अत्यन्त करुण भाव व्यक्त कराये हैं। यथा—

> कहै पशु दीन सुन यज्ञके करैया मोहि।
> होमत हुताशनमें कौनसी बड़ाई है॥
> स्वर्ग सुख में न चहों देहु मुझे यों न कहों।
> घास खाय रहौं मेरे यही मन भाई है॥
> जो तू यह जानत है वेद यों बखानत है।

* श्रमण, वर्ष १, अंक ७ पृ० ११।
१. प्राचीन हि० जै० कवि पृ० ६०।

जल जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है ॥
डारे क्यों न वीर यामें अपने कुटुम्ब ही को।
मोहि जिन जारे जगदीशकी दुहाई है ॥ २

ठीक यही भाव महात्मा कबीरदासजीने भी ज़िवह की जाने वाली मुर्गीके मुखसे व्यक्त कराये हैं—

मुर्गी मुल्लासौं कहै, जिवह करत हैं मोहि।
साहिब लेखा मांगसी, संकट परिहै तोहि ॥
कहता हो कहि जात हो, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम काटि हो सो फिर काटि तुम्हार ॥ ३

हिन्दी जैन गद्य साहित्यगगनके दैदीप्यमान नक्षत्र पं० टोडरमलजी ने अपने 'पुरुषार्थ सिद्धयुप' नामक ग्रन्थकी टीकामें हिंसाके दोषोंका सुन्दर विवेचन किया है—

—हिंसा नाम तो घात हीका है। परन्तु घात दोय प्रकारके हैं, एक तो आत्मघात, एक परघात। सो जब यह आत्मा कषाय भावाने परणमते अपना बुरा किया तब आत्मघात तो पहिले ही होय, पिवस्या पीछे अन्य जीवका आयु पूरा हुआ होय अथवा पापका उदय होय तो उसका भी घात होय तो उसका घातको न कर सकै हैं, तिससे उसका तो घात उसके धर्म आधीन है, इसकी तो इसके भावनिका दोष है इस प्रकार प्रमादसहित योगविषै आत्मघातकी अपेक्षा तो हिंसा नाम पाया। अब आगे परघातकी अपेक्षा भी हिंसाका सद्भाव भी दिखावे हैं—

—परजीवका घात रूप जो हिंसा सो दोय प्रकार है एक अविरमण रूप एक परिरमण रूप है। जिस काल जीव पर जीवका घात विषै तो नाहीं प्रवर्तै और ही कोई कार्य विषै प्रवर्तै है, परन्तु हिंसाका त्याग नाहीं किया है तिसका उदाहरण जैसे हरित कायका त्याग नाहीं और वह किसी काल विषै हरित कायका भक्षण भी नाहीं करै है जैसे जो हिंसाका त्याग नाहीं है और वह किसी काल विषै हिंसा विषै नाहीं प्रवर्तै है परन्तु अंतरंग हिंसा करनेका अस्तित्व भावका नाश न हुआ तिसको अविरमण रूप हिंसा कहिए। बहुरि जिस काल जीव परजीवके घात विष मन करि वचन करि व कार्य कार प्रवर्त्तै तिसको परिरमण रूप हिंसा कहिये ये दो भेद हिंसाके कहे, तिन दोऊ भेदन विषै प्रमाद सहित योगका अस्तित्व पाइये है। १.

अपनी प्रसिद्ध कृति 'बुधजन सतसई' मे कविवर बुधजनजी ने आखेटकी निन्दा करते हुए कहा है—

जैसे अपने प्रान हैं तैसे परके जान।
कैसे हरते दुष्टजन बिना बैर पर प्रान ॥
निरजन वनधनमें फिरै, मरै भूख भय हान।
देखत ही घूंसत छुरी, निरदय अधम अजान ॥
दुष्टसिंह अहि मारिये तामें का अपराध। ?
प्रान पियारे सबनिको, याही मोटी बांध ॥
भलो-भलो फल लेत है, बुरो बुरो फल देत।
तू निरदय ह्वै मारकै, क्यों है पाप समेत ॥ १

यद्यपि अहिंसा जैनधर्मका प्राण है पर विश्वका ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसमें अहिंसाका विरोध किया हो। चाहे वह हिन्दू धर्म हो, चाहे बौद्ध धर्म हो, चाहे इस्लाम हो अथवा क्रिश्चियन। इन भिन्न भिन्न मतानुयायियोंने अहिंसा जैसे रत्नको पाकर उसे आलोकित किया। अहिंसाके विषयमें व्यासजीके वाक्य स्मरण रखने योग्य हैं—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय पर-पीडनम् ॥
प्राणघातत्वयोगेन धर्मं यो मनु तेजनः ।
सः वान्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

अर्थात् अठारह पुराणोंमें केवल दो ही वचन श्रेष्ठ है—परोपकारसे पुण्य और पर पीडनसे पाप होता है। जो प्राणियोंकी हिंसासे धर्मकी इच्छा करता है वह कृष्ण सर्पके मुंहसे अमृतकी वृष्टि चाहता है।

बाइबिलमें हज़रत ईसामसीहने भी अहिंसाका उपदेश देते हुए कहा तू प्राणियोंकी हत्या मत कर।

हमारे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजीने जैनधर्मकी मान्यताके विषयमें निम्न भाव व्यक्त किये हैं—'मैं अपने को धन्य मानता हूँ कि मुझे महावीर स्वामीके प्रदेशमें रहनेका सौभाग्य मिला है। अहिंसा जैनोंकी वशेष सम्पत्ति है। जगतके अन्य किसी धर्ममें अहिंसाका प्रतिपादन इतनी सूक्ष्मता और सरलतासे नहीं मिलता।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन तीर्थंकरोंने जैनाचार्यों और जैन कवियोंने एक स्वर होकर अहिंसा पर जोर दिया है। क्योंकि यह मानवता एवं धार्मिकताका मूल है। धर्मका मूलाधार अहिंसा ही है। यही कारण है कि जैन कवियोंकी अन्तरवाणी भी यत्र तत्र सर्वत्र अहिंसासे अनुप्रमाणित होती रही है।

---

१ पु० सिद्धयुपाय पृ० ३६–३७।
२. जैन शतक पृ० ४२। ३. वीर वाणी वर्ष १ अंक १३।

१ बु० सतसई पृ० २१–२१।

समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी

(सम्पादकीय)

[गतकिरण नं० ६ से आगे]

सारे जिनशासनको देखनेमें हेतु—

श्रीकानजीस्वामीने अपने प्रवचनमें कहा है कि—'शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है, इसलिए जो जीव अपने शुद्धआत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।' इस तर्कवाक्यसे यह फलित होता है कि अपने शुद्ध-आत्माको देखने-जानने वाला जीव जो समस्त जिनशासन को देखता-जानता है उसके उस देखने-जाननेमें हेतु शुद्धात्मा और जिनशासनका (स्वरूपादिसे) एकत्व है। यह हेतु स्वामीजीके द्वारा नया ही आविष्कृत हुआ है; क्योंकि प्रस्तुत मूल गाथामें न तो ऐसा उल्लेख है कि 'जो शुद्धात्मा वह जिनशासन है' और न सारे जिनशासनकी जानकारीको सिद्धकरनेके लिए किसी हेतुका ही प्रयोग किया गया है—उसमें तो 'इसलिए' अर्थका वाचक कोई पद वा शब्द भी नहीं है जिससे बलात् हेतुप्रयोगकी कुछ कल्पना की जाती। ऐसी हालतमें स्वामीजीने अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको जो आचार्य कुन्दकुन्द-द्वारा गाथामें कही गई बतलाया है वह कुछ संगत मालूम न होकर उनकी निजी कल्पना ही जान पड़ती है। अस्तु; इस कल्पनाके द्वारा जिस नये हेतुकी ईजाद की गई है वह असिद्ध है अर्थात् शुद्धात्मा और समस्त जिनशासनका एकत्व किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, दोनों को एक माननेमें अनेक असंगतियाँ अथवा दोषापत्तियाँ उपस्थित होती हैं जिनका कुछ दिग्दर्शन एवं स्पष्टीकरण ऊपर "शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन" शीर्षकके नीचे किया जा चुका है।

जब यह हेतु असिद्धसाधनके रूपमें स्थित है तब इसके द्वारा समस्त जिनशासनको देखने-जानने रूप साध्यकी सिद्धि नहीं बनती। अभीतक सम्पूर्ण जिनशासनको देखने-जाननेका विषय विवादापन्न नहीं था—मात्र देखने-जानने-का प्रकारादि ही जिज्ञासाका विषय बना हुआ था—अब इस हेतु प्रयोगने संपूर्ण जिनशासनके देखने-जाननेको भी विवादापन्न बनाकर उसे ही नहीं किन्तु गाथाके प्रतिपाद्य विषयको भी झमेलेमें डाल दिया है।

स्वामीजीने जिस प्रकार अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-द्वारा गाथामें कही गई बतलाया है उसी प्रकार यह भी बतलाया है कि "इस गाथामें आचार्यदेवने जैनदर्शनका मर्म खोलकर रखा है।" यह कथन भी आपका कुछ संगत मालूम नहीं होता; क्योंकि गाथाके मूलरूपको देखते हुए उसमें जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको खोलकर रखने जैसी कोई बात प्रतीत नहीं होती। जिनशासनका लक्षण या स्वरूप तक भी उसमें दिया हुआ नहीं है। यदि दिया हुआ होता तो दूसरी शंकाका विषयभूत यह प्रश्न ही पैदा न होता कि 'उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस दृष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है ?' गाथामें सारे जिनशासनको देखने मात्रका उल्लेख है—उसे सार या संक्षेपादिके रूपमें देखनेकी भी कोई बात नहीं है। सारा जिनशासन अथवा जिनप्रवचन द्वादशांग जिनवाणीके विशाल रूपको लिये हुए है, उसे शुद्धात्मदर्शीके द्वारा—शुद्धात्माके द्वारा नहीं—कैसे देखा जाता है, किस दृष्टि या किन साधनोंसे देखा जाता है, साक्षात् रूपमें देखा जाता है या असा-क्षात् रूपमें और आत्माके उन पाँच विशेषणोंका जिन-शासनका पूर्ण रूपमें देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है अथवा वे कैसे उस देखनेमें सहायक होते हैं, ये सब बातें गाथामें जैनदर्शनके मर्मकी तरह रहस्यरूपमें स्थित हैं। उनमेंसे किसीको भी आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने गाथामें खोलकर नहीं रक्खा है। जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको खोलकर बतानेका कुछ प्रयत्न कानजी स्वामीने अपने प्रवचनमें जरूर किया है परन्तु वे उस यथार्थरूपमें खोलकर बता नहीं सके—भलेही आत्मधर्मके सम्पादक उक्त प्रवचनको उद्धृत करते हुए यह लिखते हों कि 'उस (१५ वीं गाथा) में भरा हुआ जैनशासनका अतिशय महत्वपूर्ण रहस्य पूज्यस्वामीजीने इस प्रवचनमें स्पष्ट किया है (खोलकर रखा है)।' यह बात आगे चलकर पाठकोंको स्वतः मालूम पड़ जायगी यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि अपने द्वारा खोले गये मर्म या रहस्यको स्वामीजी-का श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके मत्थे मंढना किसी तरह भी समु-चित नहीं कहा जा सकता। इससे साधारण जनता व्यर्थ ही भ्रमका शिकार बनती है। अस्तु; कानजी स्वामीने

जिनशासनका जो भी मर्म या रहस्य अपने प्रवचनमें खोलकर रक्खा है उसका मूलसूत्र यही है कि 'जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है।' यह सूत्र कितना सारवान् अथवा दोषपूर्ण है और जिनशासनके विषयमें लोगोंको कितना सच्चाज्ञान देने वाला या गुमराह करने वाला है इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेखमें पहले कराया जा चुका है। अब मैं जिन शासनसे सम्बन्ध रखने वाली प्रवचनकी कुछ दूसरी बातोंको लेता हूँ।

जिनशासनका सार—

प्रवचनमें आगे चलकर समस्त जिनशासनकी बातको छोड़कर उसके सारकी बातको लिया गया है और उसके द्वारा यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि शुद्धात्मदर्शनके साथ संपूर्ण जिनशासनके दर्शनकी संगति बिठलाना कठिन है। चुनाँचे स्वामीजी सारका प्रसंग न होते हुए भी स्वयं प्रश्न करते हैं कि "समस्त जैनशासनका सार क्या है?" और फिर उत्तर देते हैं—"अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करना" जब उक्त सूत्रके अनुसार शुद्धात्मा और जिनशासन एक हैं तब जिनशासनका सार वही होना चाहिये था जो कि शुद्धात्माका सार है न कि शुद्धात्माका अनुभव करना; परन्तु शुद्धात्माका सार कुछ बतलाया नहीं गया, अतः जिनशासनका सार जो शुद्धात्माका अनुभवन प्रकट किया गया है वह विवादापन्न हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो वह संसारी अशुद्धात्माके कर्तव्यका एक आंशिक सार है—पूरा सार भी नहीं है; क्योंकि एकमात्र शुद्धात्माका अनुभव करके रह जाना या उसीमें अटके रहना उसका कर्तव्य नहीं है बल्कि उसके आगे भी उसका कर्तव्य है और वह है कर्मोपाधिजनित अपनी अशुद्धताको दूरकरके शुद्धात्मा बननेका प्रयत्न, जिसे एकान्तदृष्टिके कारण छोड़ दिया गया जान पड़ता है। और इसलिये वह जिनशासनका सार नहीं है। जिनशासन वस्तुतः निश्चय और व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों मूल नयोंके कथनोपकथनोंको आत्मसात् किये हुए है और इसलिये उसका सार वही हो सकता है जो किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती न होकर दोनोंके समन्वय एवं अविरोधको लिए हुए हो। इस दृष्टिसे अति संक्षेपमें यदि जिनशासनका सार कहना हो तो यह कह सकते हैं कि—नयविरोधसे रहित जीवादि तत्त्वों तथा द्रव्योंके विवेक सहित जो आत्माके समीचीन विकासमार्गका प्रतिपादन है वह जिनशासन है।' ऐसी हालतमें केवल अपने शुद्धात्माका अनुभव करना यह जिनशासनका सार नहीं कहला सकता। अशुद्धात्माओंके अनुभव विना शुद्धात्माका अनुभव बन भी नहीं सकता और न अशुद्धात्माके कथन विना शुद्धात्मा कहनेका व्यवहार ही बन सकता है। अतः जिनशासनसे अशुद्धात्माके कथनको अलग नहीं किया जा सकता और जब उसे अलग नहीं किया जा सकता तब सारे जिनशासनके देखने और अनुभव करनेमें एकमात्र शुद्धात्माका देखना या अनुभव करना नहीं आता, जिसे जिनशासनके साररूपमें प्रस्तुत किया गया है

वीतरागता और जैनधर्म—

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनमें कहते हैं कि "शुद्ध आत्माके अनुभवसे वीतरागता होती है और वही (वीतरागता ही) जैनधर्म है; जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नहीं है।" यह कथन आपका सर्वथा एकान्तदृष्टिसे आक्रान्त है—व्याप्त है; क्योंकि जैनदर्शनका ऐसा कोई भी नियम नहीं जिससे शुद्धात्मानुभवके साथ वीतरागताका होना अनिवार्य कहा जा सके— वह होती भी है और नहीं भी होती। शुद्ध आत्माका अनुभव हो जानेपर भी रागादिककी परिणति चलती है, इन्द्रियोंके विषय भोगे जाते हैं, राज्य किये जाते हैं युद्ध लड़े जाते हैं और दूसरे भी अनेक राग-द्वेषके काम करने पड़ते हैं, जिन सबके उल्लेखोंसे जैनशास्त्र भरे पड़े हैं। इसकी वजह है दोनोंके कारणोंका अलग अलग होना। शुद्धात्माका अनुभव जिस सम्यग्दर्शनके द्वारा होता है उसके प्रादुर्भावमें दर्शनमोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वादि तीन और चारित्रमोहनीयकी अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी चार ऐसी सात कर्म-प्रकृतियोंके उपशमादिक निमित्त कारण हैं और वीतरागता जिस वीतरागचारित्रका परिणाम है उसकी प्रादुर्भूतिमें चारित्रमोहनीयकी समस्त कर्म-प्रकृतियोंका क्षय निमित्त कारण है। दोनोंके निमित्त कारणोंका एक साथ मिलना अवश्यंभावी नहीं है और इसलिये स्वात्मानुभवके होते हुए भी बहुधा वीतरागता नहीं होती। इस विषयमें यहां दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—एक सम्यग्दृष्टि देवोंका और दूसरा राजा श्रेणिकका। राजा श्रेणिकको मोहनीय कर्मकी उक्त सातों प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ और इसलिए उसके द्वारा अपने शुद्धात्माका अनुभव तो हुआ परन्तु वीतरागताका कारण उपस्थित न होनेके कारण वीतरागता नहीं आ सकी और इसलिये उसने राज्य किया, भोग भोगे, अनेक प्रकारके

राग-द्वेषोंको अपनेमें आश्रय दिया तथा अपघात करके मरण किया। वह मर कर पहले नरकमें गया, वहाँ भी उसके वह क्षायिक सम्यक्त्व और स्वात्मानुभव मौजूद है परन्तु प्रस्तुत वीतरागता पास नहीं फटकती, नित्य ही नरक-पर्यायाश्रित अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम और अशुभतर देह वेदना तथा विक्रियाका शिकार बना रहना होता है साथ ही दुःखोंको समभाव विहीन होकर सहना पड़ता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि देव, जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तक होता है, अपने आत्माका अनुभव तो रखते हैं परन्तु प्रस्तुत वीतरागता उनके भी पास नहीं फटकती है—वे सदा रागादिकमें फंसे हुए, अपना जीवन प्रायः आमोद-प्रमोद एवं क्रीडाओंमें व्यतीत करते हैं पर्याय-धर्मके कारण चारित्रके पालनेमें सदा असमर्थ भी बने रहते हैं. फिर भी चारित्रसे अनुराग तथा धर्मात्माओंसे प्रेम रखते हैं और उनमेंसे कितने ही जैन तीर्थकरोंके पंचकल्याणकके अवसरों पर आकर उनके प्रति अपना बड़ा ही भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं, ऐसा जैनशास्त्रोंसे जाना जाता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना लाजिमी नहीं है और इसलिए स्वामीजीका एकमात्र अपने शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना बतलाना कोरा एकान्त है।

इसी तरह 'वीतरागता ही जैनधर्म है; जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नहीं है' यह कथन भी कोरी एकान्त कल्पनाको लिये हुए है; क्योंकि इससे केवल वीतरागता अथवा सर्वथा वीतरागता ही जैनधर्मका एकमात्र रूप रह कर उस समीचीन चारित्रधर्मका विरोध आता है जिसका लक्षण अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्ति है, जो व्रतों समितियों तथा गुप्तियों आदिके रूपमें स्थित है और जिसका जिनेन्द्रदेवने व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपने शासनमें प्रतिपादन किया है; जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्न गाथासे प्रकट है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

साथ ही, मुनिधर्म और श्रावक (गृहस्थ) धर्म दोनों के लोपका भी प्रसंग आता है; क्योंकि दोनों ही प्रायः सरागचारित्रके अंग हैं, जिसे व्यवहारचारित्र भी कहते हैं। इनके लोपसे जिनशासनका विरोध भी सुघटित होता है; क्योंकि जिनशासनमें इनका केवल उल्लेख ही नहीं बल्कि गृहस्थों तथा गृहत्यागियोंके लिये इन धर्मोंके अनुष्ठानका विधान है और इन दोनों धर्मोंके कथनों तथा उल्लेखोंसे अधिकांश जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं, जिनमें श्रीकुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड आदि ग्रन्थ भी शामिल हैं। इन दोनों धर्मोंको जिनशासनसे अलग कर देने पर जैनधर्मका फिर क्या रूप रह जायगा उसे विज्ञ पाठक सहजमें ही अनुभव कर सकते हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सरागचारित्र जो सब ओरसे शुभभावोंकी सृष्टिको साथमें लिये होता है तथा शुभोपयोगी कहलाता है, वीतरागचारित्रका साधक है—बाधक नहीं ※। उसकी भूमिकामें प्रवेश किये बिना वीतरागचारित्र तक किसीकी गति भी नहीं होती। वीतरागचारित्र मोक्षका यदि साक्षात् हेतु है तो वह पारम्पर्य हेतु है ×। दोनों मोक्षके हेतु हैं तब एकका दूसरेके साथ विरोध कैसा? इसीसे जिस निश्चयनयका विषय वीतरागचारित्र है वह अपने साधक अथवा सहायक व्यवहारनयके विषयका विरोधी नहीं होता, बल्कि अपने अस्तित्वके लिये उसकी अपेक्षा रखता है। जो निश्चयनय व्यवहारकी अपेक्षा नहीं रखता, व्यवहारनयके विषयको जैनधर्म न बतलाकर उसका विरोध करता है और एकमात्र अपने ही विषयको जैनधर्म बतलाता हुआ निरपेक्ष होकर प्रवर्तता है वह शुद्ध—सच्चा निश्चयनय न होकर अशुद्ध एवं मिथ्या निश्चयनय है और इसलिये वीतरागतारूप अपनी अर्थक्रियाके करनेमें असमर्थ है; क्योंकि निरपेक्ष सभी नय मिथ्या होते हैं तथा अपनी अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होते हैं और सापेक्ष सभी नय सच्चे वास्तविक होते तथा अपनी अर्थक्रिया करनेमें समर्थ होते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् (देवागम)

※ इसीसे स्वामी समन्तभद्रने 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि चारित्रका अनुष्ठान—चाहे वह सकल हो या विकल—रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये किया जाता है।

× "स्वशुद्धात्मानुभूतिरूप शुद्धोपयोगलक्षण-वीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रं प्रतिपादयति।"—द्रव्यसंग्रहटीकायां, ब्रह्मदेवः

ऐसी हालतमें जो निरपेक्ष निश्चयनयका अवलम्बन लिये हुए हों वे वीतरागताको प्राप्त नहीं होते। इसीसे श्रीअमृतचन्द्रसूरि और जयसेनाचार्यने पंचास्तिकायकी १७२ वीं गाथाकी टीकामें लिखा है कि 'व्यवहार तथा निश्चय दोनों नयोंके अविरोधसे (सापेक्षसे) ही अनुगम्य मान हुआ वीतरागभाव अभीष्टसिद्धि (मोक्ष) का कारण बनता है, अन्यथा दोनों नयोंके परस्पर निरपेक्षसे। नहीं—

'तदिदं वीतरागत्वं व्यवहार-निश्चयाऽविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा ।' –(अमृतचंद्रः) 'तत्र वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्य-साधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकं ।'
—(जयसेनः)

यदि जैनधर्ममें रागभावका सर्वथा अभाव माना जाय तो जैनधर्मानुयायी जैनियोंके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके धर्मोंमेंसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान नहीं बन सकेगा। सन्तान-पालन और प्रजा-संरक्षणादि जैसे लौकिक धर्मोंकी बात छोड़िये; देवपूजा, अर्हन्तादिकी भक्ति, स्तुति-स्तोत्रोंका पाठ, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, दया-परोपकार, इन्द्रियनिग्रह, कषायजय, मन्दिर-मूर्तियोंका निर्माण, प्रतिष्ठापन, व्रतानुष्ठान धर्मोपदेश-प्रवचन, धर्मश्रवण, वात्सल्य, प्रभावना, सामायिक और ध्यान-जैसे कार्योंको ही लीजिये, जो सब पारलौकिक धर्मकार्योंमें परिगणित हैं और जैनधर्मानुयायियोंके द्वारा किये जाते हैं। ये सब अपने अपने विषयके रागभावको साथमें लिये हुए होते हैं और उत्तरोत्तर अपने विषयकी रागोत्पत्तिमें बहुधा कारण भी पड़ते हैं। रागभावको साथमें लिये हुए होने आदिके कारण ये सब कार्य क्या जैनधर्मके कार्य नहीं हैं? यदि जैनधर्मके कार्य नहीं हैं तब क्या जैनेतरधर्मके कार्य हैं या अधर्मके कार्य हैं? श्री कानजी स्वामी इनमेंसे बहुतसे कार्योंको स्वयं करते-कराते तथा दूसरोंके द्वारा अनुष्ठित होने पर उनका अनुमोदन करते हैं, तब क्या उनके ये कार्य जैनधर्मके कार्य नहीं हैं? मैं तो कमसे कम इसे माननेके लिये तैयार नहीं हूँ और न यही माननेके लिये तैयार हूँ कि ये सब कार्य उनके द्वारा बिना रागके ही जड़ मशीनोंकी तरह संचालित होते हैं। मैंने उन्हें स्वयं स्वेच्छासे प्रवचन करते, शंका-समाधान करते और अर्हन्तादिकी भक्तिमें भाग लेते देखा है, उनकी संस्था 'जैनस्वाध्यायमन्दिर' तथा उसकी प्रवृत्तियोंको भी देखा है और साथ ही यह भी देखा है कि वे रागरहित नहीं हैं। परन्तु यह सब कुछ देखते हुए भी मेरे हृदय पर ऐसी कोई छाप नहीं पड़ी जिसका फलितार्थ यह हो कि आप जैन नहीं या आपके कार्य जैनधर्मके कार्य नहीं। मैं आपको पक्का जैन समझता हूँ, आपके कार्योंको रागमिश्रित होने पर भी जैनधर्मके कार्य मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि उनके द्वारा जैनधर्म तथा समाजकी कितनी ही सेवा हुई है। इसीसे आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्संगको अच्छा समझता हूँ; परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पड़ता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमें जाने-अनजाने वचनाऽनयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार समीचीन नय-विवक्षाको साथमें लेकर नहीं होता अथवा निरपेक्ष नय या नयोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोषसे दूषित कहलाता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासन ग्रन्थमें यह प्रकट करते हुए कि वीरजिनेन्द्रका अनेकान्त शासन सभी अर्थक्रियार्थी जनोंके द्वारा अवश्य आश्रयणीय ऐसी एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, फिर भी वह जो विश्वव्यापी नहीं हो रहा है उसके कारणोंमें प्रवक्ताके इस वचनाऽनय दोषको प्रधान एवं असाधारण बाह्य कारणके रूपमें स्थित बतलाया है[1] —कलिकाल तो उसमें साधारण बाह्य कारण है—और यह ठीक ही है, प्रवक्ताओंके प्रवचन यदि वचनानयके दोषसे रहित हों और वे सम्यक् नयविवक्षाके द्वारा वस्तुतत्त्वको स्पष्ट एवं विशद करते हुए बिना किसी अनुचित पक्षपातके श्रोताओंके सामने रक्खे जायँ तो उनसे श्रोताओंका कलुषित आशय भी बदल सकता है और तब कोई ऐसी खास वजह नहीं रहती जिससे जिनशासन अथवा जैनधर्मका विश्वव्यापी प्रचार न हो सके। स्वामी समन्तभद्रके प्रवचन स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए होनेके कारण वचनानयके दोषसे रहित होते थे इसीसे वे अपने कलियुगी समयमें श्रीवीरजिनके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त

१. कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुःप्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥

हुए हैं, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके एक प्राचीन शिलालेखमें पाया जाता है१ और जिस तीर्थ-प्रभावनाका अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने भी बड़े गौरवके साथ अपने अष्ट-शती भाष्यमें उल्लेख किया है२।

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनों पर यदि कड़ा अंकुश रखें, उन्हें निरपेक्ष निश्चयनयके एकान्तकी ओर ढलने न दें, उनमें निश्चय-व्यवहार दोनों नयोंका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्योंका सामंजस्य स्थापित करें, एक-दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोंके वक्तव्यकी तरह चित्रित करें—न कि स्व-पर-प्रणाशी शत्रुओंके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दाचार्यके 'ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे' इस वाक्यको खास तौरसे ध्यानमें रखते हुए उन लोगोंको जो कि अपरमभाव स्थित हैं—वीतरागचारित्रकी सीमातक न पहुँचकर साधक अवस्थामें स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनयके द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोपायके रूपमें 'तीर्थ' कहा गया है, तो उनके द्वारा जिनशासनकी अच्छी ठोस सेवा बन सकती है और जैनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढल जानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।

हां, जब स्वामीजी रागरहित वीतराग नहीं और उनके कार्य भी रागरहित पाये जाते हैं तब एक नई समस्या और खड़ी होती है जिसे समयसारकी निम्न दो गाथायें उपस्थित करती हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणमयं तु सव्वागमधरो वि॥२०१
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो॥२०२॥

इन गाथाओंमें बतलाया है कि 'जिसके परमाणुमात्र भी रागादिक विद्यमान है वह सर्वागमधारी (श्रुतकेवली जैसा) होने पर भी आत्माको नहीं जानता, जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता, (इस तरह) जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। आचार्यश्री कुन्दकुन्दके इस कथनानुसार क्या श्री कानजीस्वामीके विषयमें यह कहना होगा कि वे रागादिके सद्भावके कारण आत्मा-अनात्मा (जीव-अजीव) को नहीं जानते और इसलिए सम्यग्दृष्टि नहीं हैं? यदि नहीं कहना होगा और नहीं कहना चाहिए तो यह बतलाना होगा कि वे कौनसे रागादिक हैं जो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यको विवक्षित हैं। उन रागादिकके सामने आने पर यह सहजमें ही फलित हो जायगा कि दूसरे रागादिक ऐसे भी हैं जो जैनधर्ममें सर्वथा निषिद्ध नहीं हैं।

जहाँ तक मैंने इस विषयमें विचार किया है और स्वामी समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासनकी 'एकान्तधर्माभिनिवेशमूलाः' इत्यादिकारिकासे मुझे उसकी दृष्टि प्रदान की है, उक्त गाथोक्त रागादिक वे रागादिक हैं जो एकान्त-धर्माभिनिवेशमूलक होते हैं—एकान्तरूपसे निश्चय किये हुए वस्तुके किसी भी धर्ममें अभिनिवेशरूप जो मिथ्या-श्रद्धान है वह उनका मूल कारण होता है—और मोही—मिथ्यादृष्टि जीवोंके मिथ्यात्वके उदयमें जो अहंकार-ममकारके परिणाम होते हैं उनसे वे उत्पन्न होते हैं। ऐसे रागादिक जिन्हें अमृतचन्द्राचार्यने उक्त गाथाओंकी टीका-में मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' लिखा है, जहाँ जीवा-दिकके सम्यक् परिज्ञानमें बाधक होते हैं वहाँ समतामें—वीतरागतामें—भी बाधक होते हैं इसीसे उन्हें निषिद्ध ठहराया गया है। प्रत्युत इसके, जो रागादिक एकान्त-धर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमें चारित्रमोहके उदयवश होते हैं वे उक्त गाथाओंमें विवक्षित नहीं है। वे ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होनेसे न तो जीवादिकके परि-ज्ञानमें बाधक हैं और न समता—वीतरागताकी साधनामें ही बाधक होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव विवेकके कारण उन्हें कर्मोदयजन्य रोगके समान समझता है और उनको दूर करनेकी बराबर इच्छा रखता एवं चेष्टा करता है। इसीसे जिनशासनमें उन रागादिके निषेधकी ऐसी कोई खास बात नहीं जैसी कि मिथ्यादर्शनके उदयमें होने वाले रागादिककी है। सरागचारित्रके धारक श्रावकों तथा मुनियों-में ऐसेही रागका सद्भाव विवक्षित है—जो रागादिक दृष्टिविकारके शिकार हैं वे विवक्षित नहीं हैं।

---

१. देखो, युक्त्यनुशासनकीप्रस्तावनाके साथ प्रकाशित समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय।

२. तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे, र्भव्या-नामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ। येनाचार्य-समन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं, कृत्वा विवियते ··।

इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि न तो एकमात्र वीतरागता ही जैनधर्म है और न जैनशासनमें रागका सर्वथा निषेध ही निर्दिष्ट है अतः कानजीस्वामीका 'वीतरागता ही जैनधर्म है' इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनयके वक्तव्यका विरोधी है, वचनानयके दोषसे दूषित है और जिनशासनके साथ उसकी संगति ठीक नहीं बैठती ।

(क्रमशः)

साहित्य परिचय और समालोचन

समालोचनाके लिये प्रत्येक ग्रन्थकी दो प्रतियां आनी आवश्यक हैं ।

१ अहिंसावाणीका पार्श्वनाथ अंक—सम्पादक, बाबू कामताप्रसादजी, अलीगंज (एटा)। प्रकाशक, अखिल जैन विश्वमिशन, अलीगंज (एटा)। वार्षिक-मूल्य ४॥) रुपया। इस अंकका मूल्य २) रुपया।

'अहिंसावाणी' का यह विशेषांक है। इसमें भगवान पार्श्वनाथका जीवन-परिचय अंकित है। भगवान पार्श्वनाथको मुक्त हुए तीन हजार वर्षके लगभग समय हो गया है, परन्तु फिर भी आज उनकी स्मृति और पूजा इस बातकी द्यौतक है कि उन्होंने वैदिक क्रियाकाण्डोंके विरुद्ध अहिंसा मार्गका प्रदर्शन करते हुए लोकमें सुख और शान्तिका अनुपम मार्ग प्रदर्शित किया था। इस अंकमें उनके जीवन-सम्बन्धि अनेक चित्र दिये गये है, परन्तु उनसबमें कुमार पार्श्वनाथका 'वनविहार और तापस सम्बोधन' नामका तिरंगा चित्र भावपूर्ण और चित्ताकर्षक है। सम्पादकजीने भगवान पार्श्वनाथके विहार-स्थलोंका संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देते हुए उनकी अनेक मूर्तियों और मन्दिरोंका उल्लेख किया है और अनेक चित्र भी दिये हैं, जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि भगवान पार्श्वनाथकी महत्ता आज भी कम नहीं है। यद्यपि वे भगवान महावीरसे २५० वर्ष पूर्व हुए हैं। हां, जैन आचारांग (मूलचार) से उनके 'चातुर्यमधर्मका' पता चलता है। बंग और विहारमें पार्श्वनाथका शासन विस्तृतरूपसे फैला हुआ था। इस अंकमें उपयोगी और पठनीय सामग्रीका संकलन किया गया है। इस सब प्रयत्नके लिए बाबूकामता प्रदसादजी धन्यवादके पात्र हैं।

गोरक्षा—सम्पादक श्री महेशदत्त जी शर्मा, अध्यक्ष, गोरक्षण साहित्य मन्दिर रामनगर, बनारस वार्षिक मूल्य २॥) रुपया विदेशमें ५) रुपया।

गोरक्षाके दो अंक इस समय मेरे सामने हैं। इनमें गोरक्षा-सम्बन्धि अनेक अच्छे लेख दिये हुए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भारतके स्वतन्त्र हो जानेके बाद यहां गोकशी बहुत अधिक तादादमें होने लगी है। चर्म उद्योगके लिये जीवित पशुओंका चर्म उन्हें भारी कष्ट पहुँचा कर निकाला जाता है, जिसे देख व सुन कर सहृदय मानवका दिल दहल उठता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या यह अहिंसाका दुरुपयोग नहीं है ? जबकि भारत जैसे गरीब देशमें शुद्ध घी दूधका मिलना बहुत कठिन है। ऐसी स्थितिमें पशुधनका इस कदर संहार कियार किया जाना किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता। सरकारको चाहिये कि वह अविलम्ब गोकशीको बन्द करनेका आदेश दे और पशुधनकी रक्षाका प्रयत्न करे। जैन समाज और अहिंसाकी उपासक हिंदू समाजका कर्तव्य है कि वह जीवित पशुओंके चकड़ेसे बनी हुई चीजोंका उपयोग करना छोड़ दें। इससे गोरक्षामें बहुत सहायता मिलेगी। पत्र अच्छा है आशा है उसे और भी आकर्षक बनानेका प्रयत्न किया जाएगा।

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(१० सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतती सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी 'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

सोनगढ़के सन्त

श्री सत्पुरुष कानजी स्वामी

श्री कानजी स्वामी करीब एक हजार साधर्मी भाइयोंके साथ श्री ऊर्जयन्त-गिरि (गिरनार) की यात्रार्थ गए हैं। उनके सदुपदेशसे गुजरातप्रान्तमें अनेक दिगम्बर जैनमन्दिरोंका निर्माण हुआ और हो रहा है।

विषय-सूची

श्री-जिज्ञासा

मुझे उन श्रियोंको जाननेकी इच्छा है जो क्षुल्लकों-ऐलकों तथा मुनियोंके साथ लगी रहती हैं और जिनका सूचन क्षुल्लक-ऐलकोंके नामके साथ 'श्री १०५' और मुनियोंके नामके साथ 'श्री १०८' लिखकर किया जाता है। ये दोनों वर्गकी श्रियाँ यदि भिन्न भिन्न हैं तो उन सबके अलग-अलग नाम मालूम होनेकी जरूरत है और यदि मुनियोंकी १०८ श्रियोंमें १०५ वे ही हैं जो क्षुल्लकों ऐलकोंके साथ रहती हैं तो १०५ श्रियोंके नामके साथ केवल उन तीन श्रियोंके नाम और दे देनेकी जरूरत होगी जो क्षुल्लक-ऐलकोंकी अपेक्षा मुनियोंमें अधिक पाई जाती है। साथ ही यह भी जाननेकी इच्छा है कि श्रियोंका वह विधान कौनसे आगम अथवा आर्ष ग्रन्थमें पाया जाता है, कबसे उनकी संख्या-सूचनका यह व्यवहार चालू हुआ है और उसको चालू करनेके लिये क्या जरूरत उपस्थित हुई है। अतः मुनिमहाराजों, क्षुल्लकों और दूसरे विद्वानोंसे भी मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस विषयमें समुचित प्रकाश डालकर मेरी जिज्ञासाको तृप्त करनेकी कृपा करें। इस कृपाके लिये मैं उनका बहुत आभारी रहूँगा।

—जुगलकिशोर मुख्तार

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ॥)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

वर्ष १२ किरण ९ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
माघ वीर नि० संवत २४८०, वि० संवत २०१० | फरवरी १९५४

श्रीश्रुतसागरसूरिविरचिता

शांतिनाथस्तुतिः

वाचामगम्यो मनसोऽपि दूरः, काय कथं देत्तुमलं नमज्ञः ।
तथापि भक्त्या त्रिनयेन वंद्यः, श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ १ ॥
महीलिनाऽहिमृगराएमृगः स्यादिभः स्तुभोऽभोदचयो दवाग्निः ।
नाम्नापि यस्याऽसुमतां स देव श्रीशांतिनाथ शरणं ममाऽस्तु ॥ २ ॥
यः संवरारिर्नकदाश्रवोभूच्छुचिर्नसंतापकरः परेषां ।
चक्री तथाप्यत्र न च द्विजिह्वः, श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ३ ॥
विघ्नव्यूदाम त्रिजगद्व्यूदामः प्रकामसिद्धैः प्रणतः सदा सः ।
संपत्तिकर्त्ता विपदेकहर्त्ता, श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ४ ॥
न दुर्गतिर्नैव यशोविनाशो न चाल्पमृत्युर्न रुजां प्रवेशः ।
यत्सेवया भद्रमिदं चतुर्द्धा श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ५ ॥
कृतांजलिर्यस्य सदा पिनाकी, सदान्युतस्तस्य कियान पिनाकी ।
योगैकलक्ष्यः कृतिकल्पवृक्षः श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ६ ॥
नयस्त्रिवेदी परमस्त्रिवेदी निराकृता येन विदां त्रिवेदी ।
तपःकुठारस्मरदारुभेदी, श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ७ ॥
निर्दोषरूपः पदनम्रभूपः, कलंकमुक्तः सदगश्मयुक्तः ।
आनन्दसांद्रो भुवनैकचन्द्रः, श्रीशांतिनाथः शरणं ममाऽस्तु ॥ ८ ॥
स्तुतिःकृतेयं जिननाथ-भक्त्या, विद्वांवरेण श्रुतसागरेण ।
बोधिः समाधिश्चनिधिर्विधानामिमां सदाऽऽदायजनो जिनोऽस्तु ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीशांतिनाथस्तुतिः समाप्ता ॥

आठ शंकाओंका समाधान

(श्री० १०५ क्षुल्लक सिद्धसागर)

समयसार की १५वीं गाथा और श्री कान जी स्वामी नामक लेखमें जो अनेकान्तकी गत किरण ६ में प्रकाशित हुआ है मुख्तार श्री जुगलकिशोर जीकी आठ शंकाएँ प्रकाश में आई हैं जिनका समाधान मेरी दृष्टिसे निम्न प्रकार है—

आठ शंका

(१) आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेषरूपमें देखने पर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है ?

(२) उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है ?

(३) वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलंक जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है ?

(४) यदि भिन्न नहीं है तो इन सबके द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति कैसे बैठती है ?

(५) इस गाथामें 'अपदेसमसंतमज्झं' नामक जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झं' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं, उसे 'जिणसासण' पदका विशेषण बतलाया जाता है और उससे द्रव्य-श्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सब कहाँ तक संगत है अथवा पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध क्या होना चाहिए ?

(६) श्रीअमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थ विषयमें मौन हैं और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमें प्रयुक्त हुए शब्दोंको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पड़ता है, यह क्या ठीक है अथवा उस अर्थमें खटकने जैसी कोई बात नहीं है ?

(७) एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपवेससंत-मज्झं (अप्रवेशसान्तमध्यं) है, जिसका अर्थ अनादि-मध्यान्त होता है और यह 'अप्पाणं (आत्मानं) पदका विशेषण है, न कि जिणसासण पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथमद्वात्रिंशिका १) में 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमें अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्तविभागमुक्त' जैसे शब्दों द्वारा इसी बातका उल्लेख किया है। इन सब बातोंको भी ध्यानमें लेना चाहिये और तब यह निर्णय करना चाहिये कि क्या उक्त सुझाव ठीक है ? यदि ठीक नहीं है तो क्यों ?

(८) १४वीं गाथामें शुद्धनयके विषयभूत आत्माके लिए पाँच विशेषणोंका प्रयोग किया गया है, जिनमेंसे कुल तीन विशेषणोंका ही प्रयोग १५ वीं गाथामें हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषण-'नियत और असंयुक्त' को भी उपलक्षणके रूपमें ग्रहण किया जाता है; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५ वीं गाथामें उन विशेषणोंको क्रमभंग करके रखनेकी क्या जरूरत थी ? १४वीं गाथा * के पूर्वार्धको ज्योंका त्यों रख देने पर भी शेष दो विशेषणोंको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया; तब क्या इसमें कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होने की जरूरत है ? अथवा इस गाथाके अर्थमें उन दो विशेषणोंको ग्रहण करना युक्त नहीं है ?

---

१ * उक्त १४ वीं गाथा इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४ ॥

समाधान

(१) समाधान—समयसार ग्रन्थकी १२वीं गाथामें जो अबद्धस्पृष्ट प है—इसमें बद्धके साथ स्पृष्टका निषेध किया गया है। जब बद्धस्पृष्टके कारण आस्रव तथा उसके विरोधको संवर, बद्धस्पृष्टके एक देश क्षयके कारण निर्जरा और बद्धस्पृष्टके निरवशेष रूपसे आत्मासे दूर होने या क्षय होनेको जाने तब आत्माके अबद्धस्पृष्ट स्वरूपका ठीक बोध हो बंध प्रकृतमें अजीवक साथ जीवका है, अतः अजीवका ज्ञान होना भी अत्यावश्यक है—उनके लक्षणोंको विशेष प्रकारसे जानने पर ही आत्माका अनन्य रूपसे बोध होता है—जब यह अविशेषकी निष्ठाको जान लेता है तब वह अविशेष रूप आत्माको जानता है—चूंकि सामान्य विशेष-निष्ठा आश्रयमें रहता है—इस प्रकार प्रयोजन भूत सात तत्त्व जोकि जिनशासन रूप हैं या जिन शासनमें बतलाये गये हैं—इनको गुणस्थान मार्गणास्थान आदिके विवेचनसे—या दया, दम, त्याग समाधिरूप विवेचनमें—जो जानता है वह तत्त्वार्थ श्रद्धान करने वाला होने पर वास्तवमें आत्मा को जानने वाला सारे जिनशासनको जानता है—जो भी द्रव्यश्रुतरूप स्याद्वाद शासनमें या भावश्रुतमें जो भी प्रकाशित होता है वह सात तत्त्व रूपसे बतलाया जाता है या जाना जाता है—जो प्रयोजन भूत आत्माको जानता है वह प्रयोजनभूत सात तत्त्वको बतलाने वाले जिन शासनको भी प्रयोजनभूत रूपसे अवश्य पूर्णरूपसे जानता है। जो प्रयोजनभूत जिनशासनको पूर्णतया नहीं जानता है वह आत्माको भी नहीं जानता है या यथार्थ रूपसे नहीं जानता है—'अपदेशसुत्तमज्झं जिनसासणं' द्रव्यश्रुतमें बतलाये गये जिनशासनको, आत्माको यथार्थरूपसे जाननेवाला या अनुभव करने वाला या देखने वाला अवश्य पूर्णरूपसे जानता है जो कि प्रयोजन भूत है—आत्माको पूर्ण रूपसे सब गुणपर्यायों सहित जो जान लेता है वह सर्वज्ञ है चूंकि किसी भी पदार्थका पूर्णज्ञान सर्वज्ञको होता है—उसने तो अवश्य ही सारे जिनशासनको जाना ही है—किन्तु श्रुतज्ञानसे युक्त छद्मस्थ भी सारे जिनशासनको कुछ गुणपर्याय सहित प्रयोजनभूत रूपसे अवश्य जानता है यदि वह सम्यक्त्वी है, जो सम्यक्त्वी है वही सात तत्त्वको जानने वाले अपने आत्माका छद्मस्थ अवस्थामें अनुभव करता है इसलिये आत्माको जानने वाला सारे जिनशासनको पूर्ण रूपसे अवश्य जानता है जो कि प्रयोजन भूत है। प्रयोजनभूत जिनशासनका जो प्रयोजनभूतरूपसे श्रुतज्ञान होता है वह प्रयोजनभूत श्रुतज्ञान भी छद्मस्थका पर्याय है अतः जो आत्माको प्रयोजनभूत रूपसे उक्त तीन विशेषणोंसे अबद्धस्पष्ट अनन्य-विशेष अविशेष–सामान्यरूपसे जानता है— वह प्रयोजनभूत जिनशासनको पूर्ण रूपसे जानता है अर्थात् जो समयसारके सम्पूर्ण प्रयोजनभूत अधिकारोंको सामान्य विशेष रूपसे जानता है वास्तवमें वह समयसारको तत्त्वतः जानता है और जो समयसारको तत्त्वतः जानता है वह निरस्ताग्रह सारे जिनशासनको कुछ गुणपर्यायों सहित जानता है चाहे वह द्रव्यश्रुतमें कहा गया हो या स्याद्वादरूपसे बतलाया गया हो या भावश्रुतसे जाना गया हो।

भाव श्रुतज्ञान आत्माका पर्याय है अतः आत्माको जानने वाला सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ अवश्य उस (श्रुतज्ञान) के द्वारा जाने गये प्रयोजनभूत पूर्ण जिनशासनको जानता है—प्रकृतमें आत्माको जानने वाला ज्ञान परोक्ष है-वह न्यायशास्त्रकी अपेक्षा छद्मस्थका आत्मानुभव या ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हो सकता है।

(२) समाधान—'स्याद्वाद' जिनशासनमें छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थ बतलाए गये हैं—ये सब जीव और अजीवके विशेष हैं। जीव और अजीवके विशेष आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं। सात तत्त्वोंका विवेचन करने वाला तत्त्वार्थसूत्र इनमें आ गया है और उस सूत्र द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण प्रमेय भी सात तत्त्वका अति वर्तन नहीं करते हैं। वे सब सामान्य–विशेषात्मक जात्यन्तर हैं-इन सातोंमेंसे प्रयोजन भूत एक तत्त्वका पूरा ज्ञान तब होता है जब सातोंका ज्ञान हो, अतः आत्माका सम्यग्बोध उसीको होता है जो प्रयोजन भूत रूपसे इन सातोंको जान कर श्रद्धान करता है। छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नौ पदार्थ इन्हीं सात तत्त्वोंमें अन्तरभूत हैं—स्याद्वाद श्रुतज्ञान इनको जानता है और स्याद्वाद द्रव्यश्रुत इनका विवेचन करता है। स्याद्वाद और उसका अन्यतम प्रमेय सामान्य विशेषात्मक है अतः सम्पूर्ण जिन शासन सामान्य विशेषात्मक है—कहा भी है 'अभेद भेदात्मकमथतत्त्वं, तव स्वतन्त्रमंन्यतरत्ख पुष्पम् इस

विषयमें प्रमेयकमलमार्तण्ड देखें। उक्त दो चरण युक्त्यनुशासनके हैं जो कि संस्कृतमें उद्धृत हैं।

(३) समाधान—वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति—गृद्धपिच्छाचार्य, और अकलङ्क जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे कोई भिन्न नहीं है।

(४) इन सबके द्वारा प्रतिपादित एवं संसूचित जिनशासनके साथ उसकी संगति बैठ जाती है चूंकि कहीं पर किसीने संक्षिप्त रूपसे वर्णन किया है तो किसीने विस्तारसे, किसीने किसी विषयको गौण और किसीको प्रधान रूपसे वर्णन किया है—जैसे कि समयसारमें आत्माकी मुख्यतासे वर्णन है यद्यपि शेष तत्त्वोंका भी प्रासंगिक रूपमें गौणतया वर्णन है—जीव द्रव्यका विशद विवेचन जीवकाण्डमें मिलेगा। बन्धका अत्यन्त विस्तार पूर्वक वर्णन महाबन्धमें मिलेगा। किसीने किसी भङ्गका छन्दके कारण पहले वर्णन किया तो किसीने बादमें, तो भी भंग तो सात ही माने हैं किसीने एव' कार लिखा है तो किसीने कहा कि उसे आशयसे जान लेना चाहिये या प्रतिज्ञासे जान लेना चाहिए 'स्याद्', पदके प्रयोगके विषयमें भी उक्त मन्तव्य चरितार्थ होता है संग्रह, व्यवहार, और ऋजुसूत्र इन तीन नयोंके प्रयोगसे सामान्य विशेष और अवाच्यकी या विधि, निषेध और अवाच्यकी या नित्य, अनित्य और अवाच्यकी या व्यापक, व्याप्य और अवाच्यकी योजना करना चाहिये न कि सर्वथा-आग्रहसे। उभय नामका भंग, नैगमनयसे योजित करना चाहिये। संग्रह, व्यवहार और उभयके साथमें ऋजूसूत्रकी योजना करके शेष तीन संग्रह-अवाच्य व्यवहार-अवाच्य और उभय-अवाच्य भङ्ग, नययोगसे लगाना चाहिये न कि सर्वथा—विना सामान्यकी निष्ठाको समझे सामान्यका सच्चा ज्ञान नहीं होता है। चूंकि निर्विशेष सामान्य गधेके सींगके समान है। जब सामान्य है तो वह विशेष रूप आधारमें—निष्ठामें रहता है अतः संक्षिप्तसे वह सारा शासन सामान्य और विशेष आत्मक है उसीको प्रामाणिक आचार्योंने बतलाया है। अतः समयसार पढ़ कर निरस्ताग्रह होना चाहिये न कि दुराग्रही—उन्मत्त। इसी प्रकार अन्य किसी भी न्याय या सिद्धान्तको पढ़ कर या किसी भी अनुयोगको पढ़ कर बुद्धिमें और आचरणमें अपने योग्य समत्व और सौम्यताके दर्शन होना चाहिये। यदि दुरभिनिवेशका या सर्वथा आग्रहरूपभावका अन्त न हुआ तो ये सब समीचीनशास्त्र जन्मान्धके नेत्रों पर चश्मा लगानेके समान हैं—जो निरस्ताग्रह नहीं होता है वह प्रकृतमें जन्मान्ध तुल्य है चूंकि स्याद्वाद रूप सफेद चश्मा उसको यथार्थ वस्तुस्थिति देखनेमें निमित्त कारण नहीं हो रहा है। यदि वह निमित्त कारण उसके देखनेमें है तो वह जन्मान्ध नहीं है। सम्पूर्ण द्वादशांग या उसके अवयव आदिक रूप समयसारादिक स्याद्वाद रूप हैं अतः वे सब महान आचार्यों द्वारा कहे गये ग्रन्थ सत्यके आधार पर ही हैं।

(५-६) समाधान—'अपदेससुत्तमज्झं सव्वं जिणसासणं' द्रव्य श्रुतमें रहने वाले सम्पूर्ण जिनशासनका' यह उक्त पाठका अर्थ होनेसे पाठ शुद्ध है। अथवा द्रव्यश्रुतमें विवेचना रूपसे पाए जाने वाले सम्पूर्ण जिनशासनको' यह अर्थ ले लेवें। अथवा सप्तमी अर्थमें द्वितीयका प्रयोग मानकर उसको—'जिणसासणं' का विशेषण न रख कर प्रकृत तीन विशेषणोंसे युक्त आत्माको बतलाने वाले इस गाथा रूप द्रव्यश्रुतमें या इसके निमित्तसे होने वाले भावश्रुतमें सम्पूर्ण जिनशासनको देखता है जो कि उक्त तीन विशेषणोंसे विशिष्ट आत्माको सम्यग् प्रकारसे जानता देखता या अनुभव करता है। अतः 'अपदेससुत्तमज्झं' पाठ सगत है और खटकने सरीखा नहीं है—भले ही यहाँ 'अपदेससन्तमज्झं' वाले पाठकी संगति किसीने तात्पर्यभावमें रक्खी हो। किन्तु प्राचीनतम प्रतिमें जो 'अपदेससुत्तमज्झं' पाठ है तो अन्य पाठकी संगति से क्या?

(७) समाधान—इस विषयमें मूल प्राचीनतम प्रतियोंकी देखना चाहिये और इस समयसार पर आ. प्रभाचन्द्रका समयसारप्रकाश नामक व्याख्यान देखना चाहिये—जो कि सेनगण मन्दिर कारंजामें है—जयसेनाचार्यके सामने 'अपदेससुत्तमज्झं'—यह पाठ था आ. अमृतचन्द्रके सामने यह पाठ नहीं था यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता है। 'अपदेससन्तमज्झं' इस पाठको आत्माका भी विशेषण बनाया जा सकता है और जिनशासनका भी चूंकि जिनशासन भी प्रवाहकी अपेक्षासे अनादिमध्यान्त है। संभव है कि—सुत्तमेंसे 'उ' के नहीं लिखे जानेसे 'अपदेससंतमज्झं' पाठ हो गया हो। और किसीने उसकी शुद्धिके लिये 'द' को 'व' पढ़ा हो तब वह 'अपवेससंतमज्झं' हो गया हो। दोनों पाठ शुद्ध हैं चाहे दोनोंमेंसे कोई हो किन्तु 'अपदेशसुत्तमज्झं' ही उसका मूल पाठ

होना चाहिये चूंकि जयसेनाचार्यने पाठको सुरक्षित रक्खा है।

(८) समाधान—जो अर्थ अनन्य विशेषणका है वह विशेष है और सामान्य अर्थका सूचक पद अविशेष है। वैसा अर्थ न तो नियत पदमें है जो कि क्षोभ रहित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और न असंयुक्त—शब्दमें चूंकि १४ वीं गाथामें उसका प्रयोग अमिश्रित अर्थमें हुआ है—इसी लिए अविशेष शब्दका प्रयोग हुआ है। स्पष्ट अर्थमें आचार्यवर्यको यह बताना था कि आत्माको अबद्ध तथा विशेष और सामान्य दोनों प्रकारसे देखना चाहिये चूंकि आत्माको बिना पूर्वोक्तरीत्या देखे वह जिनशासनका पूर्ण ज्ञाता नहीं कहा जा सकता था जो कि प्रकृत अपदेशसूत्रके मध्यमें निर्दिष्ट है—समयसारके सम्पूर्ण अधिकारोंका विवेचन इसी मूल गाथाकी भित्ति पर है यदि उसके अंत: परीक्षणसे काम लिया जावे। समयसार कलशका मंगलाचरण भी इस गाथाकी ओर इशारा करके बतला रहा है कि 'सर्वभावान्तरच्छिदे' ऐसे समयसारके लिये ही हमारा अंतःकरणसे नमस्कार है—न कि दुराग्रहके दलदलके प्रति। असंयुक्त और नियतपद १५ वीं गाथामें आवश्यक न थे—चूंकि सारा जिनशासन जो सात तत्वको बतलाने वाला है वह समान्य विशेष आत्मक है अतः प्रकृतमें अविशेष पद रक्खा गया है। यहाँ उपलक्षण वाले भमेलेसे क्या जब कि वह नियत पद प्रकृत 'अविशेष' अर्थका घातक नहीं हो सकता है चूंकि वह पूर्व गाथामें अक्षुब्ध अर्थमें प्रयुक्त हुआ है—उसका अर्थ मोह और राग द्वेष रहित अवस्था विशेष है उससे मुक्त आत्माको बतलाना इष्ट था। किन्तु प्रकृतमें ऐसा अर्थ आचार्यवर्यको इष्ट नहीं था इसी लिए वह नियत पद अविशेषके स्थान पर रक्खा गया, नकि उपलक्षण रूप वह बनाया गया। १४वीं गाथामें शुद्धनयके विषयभूत आत्माको पाँच विशेषणोंसे युक्त बतलाया है—उसका अर्थ यह है कि शुद्ध नय कभी अबद्ध देखता है। कभी दूसरे रूप नहीं है—अनन्य है इस प्रकार देखता है, कभी मोह क्षोभ रहित नियत देखता है, कभी वह ज्ञान, दर्शन, सुख इत्यादिक भेद न करते हुए, ज्ञाता रूपसे देखता कि ज्ञान भी आत्मा है सुख भी आत्मा है इत्यादि और कभी वह शुद्धनयसे आत्माको दूसरे द्रव्यादिकके मिश्रणसे रहित असंयुक्त देखता है—किन्तु १५ वीं गाथामें तो सारे जिनशासनको देखनेका कहा है। अतः १५ वीं गाथाका विवेचन अपने विशिष्ट विवेचनसे अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत हो गया है जो शुद्ध अशुद्ध आदिकको जानने वाला ज्ञाता-सप्ततत्त्व द्रष्टा है उसको केवल सामान्य ही नहीं विशेष भी जाननेको कहा है दोनोंको प्रधान रूपसे जानने वाला ज्ञान प्रमाण है प्रकृतमें वही यहाँ इष्ट है जो आत्मरूप है। आगे इस पर और भी अधिक विस्तारसे अन्य लेखोंमें विचार किया गया है।

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(लेखक : परमानन्द जैन शास्त्री)

श्रवणबेलगोलसे चलकर हम लोग हासन आए। हासन मैसूर स्टेटका एक जिला है। यहाँ वनवासीके कदम्बवंशी राजाओंने चौथी पांचवीं शताब्दीसे ११ वीं शताब्दी तक राज्य किया है। यहांका अधिकांश भाग जैन राजाओंके हाथमें रहा है। इस जिलेमें पूर्वकालमें जैनियोंका बड़ा भारी अभ्युदय रहा है। वह इस जिलेमें उपलब्ध मूर्तियों, शिलालेखों ग्रन्थभंडारों और दानपत्रों आदिसे सहजही ज्ञात हो जाता है। हासनमें ठहरनेका कोई विचार नहीं था किन्तु रोड टैक्सको जमा करनेके लिए रुकना पड़ा। यहां केवल लारीका ही टैक्स नहीं लिया जाता किन्तु सवारियोंसे भी फी रुपया सवारी टैक्स लिया जाता है। इसमें कुछ अधिक विलम्ब होते देख म्युनिस्पल कमेटीके एक बागमें हम लोगोंने आज्ञा लेकर भोजनादिका कार्य शुरु किया। मैं और मुख्तार साहब नहा-धोकर शहरके मंदिरमें दर्शन करनेके लिए गए। शहरमें हमें पासहीमें दो जिन मन्दिर मिले। जिनमें अन्य तीर्थंकर प्रतिमाओंके साथ मध्यमें भगवान पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान थी। दर्शन करके चित्तमें बड़ी प्रसन्नता हुई। परन्तु वहाँ और कितने मन्दिर हैं, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका और न वहाँ के जैनियोंका ही कोई परिचय प्राप्त हो सका। जल्दीमें यह सब कार्य होना संभव भी नहीं है। मन्दिरजीसे चलकर कुछ शाक-सब्जी खरीदी और भोजन करनेके बाद हम लोग १ बजेके करीब हासनसे २४ मील चलकर बेलूर आए। यह वही नगर है,जिसे दक्षिण काशी भी कहा जाता था; क्योंकि यहां होयसल राजा विष्णुवर्द्धनने जैनधर्मसे वैष्णवधर्मी होकर 'चेन्न केशव' का विशाल एवं सुन्दर मन्दिर बनवाया था। बेलूरसे ११ मील पूर्व चलकर हम लोग 'हलेबीडु' आये। इसे दोर या द्वारसमुद्र भी कहा जाता है।

'हलेबीडु' पूर्व समयमें जैनधर्मका केन्द्रस्थल रहा है। किसी समय यह नगर जन धनसे समृद्ध रहा है और इसे होयसल वंशके राजा विष्णुवर्द्धनकी राजधानी बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। राजा विष्णुवर्द्धनकी पट्टरानी जैनधर्म-परायणा, धर्मनिष्ठा, व्रत-शीला, मुनिभक्ता, चतुर्विध दान देनेमें दक्ष और विनयादि सद्गुणोंसे अलंकृत, प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेवकी शिष्या थी, जो मूलसंघ देशीयगण पुस्तकगच्छके विद्वान् आचार्य मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य थे, जिनका स्वर्गवास शक सं० १०३७ (वि० संवत् ११७२) में मगशिर सुदि १४ बृहस्पतिवारके दिन सद्-ध्यानसहित हुआ था। उनके शिष्य प्रभाचंद्र सिद्धांतदेवने महादण्डनायक गंगराज द्वारा उनकी निषद्या बनवाई थी*। जिनकी मृत्यु शक संवत् १०६८ (वि० संवत् १२०३) में आश्विन सुदि १० बृहस्पतिवारके दिन हुई थी×। शान्तलदेवीके पिताका नाम 'मारसिङ्गय्य और माताका नाम माचिकब्बे था। इनकी मृत्यु शान्तलदेवीके बाद हुई थी। शान्तलदेवीने शक सं० १०५० (वि० सं० ११८५) में चैत्रसुदि ५ के दिन शिवगङ्गे' नामक स्थानमें शरीरका त्याग किया था†।

राजा विष्णुवर्द्धन एक वीर एवं पराक्रमी शासक था। इसने मांडलिक राजाओं पर विजय प्राप्त की थी और अपने राज्यका खूब विस्तार किया था। पहले इस राजाकी आस्था जैनधर्मपर थी किन्तु सन् १११७ में रामानुजके प्रभावसे वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया था, और उसीकी स्मृतिस्वरूप बेलूरमें विष्णुवर्द्धनने केशवका विशाल मंदिर भी बनवाया था। यह मन्दिर देखने योग्य है। कहा जाता है कि जैनियोंके ध्वंस किए गए मन्दिरोंके पत्थरोंका उपयोग इसके बनानेमें किया गया है। उस समय हलेबिड-में जैनियोंके ७२० जिनमन्दिर थे। जैनधर्मका परित्याग करनेके बाद विष्णुवर्द्धनने उन जैनमन्दिरोंको गिरवा कर नष्ट-भ्रष्ट करवा दिया था, इतना ही नहीं; किन्तु उस समय इसने अनेक प्रसिद्ध २ जैनियोंको भी मरवा दिया था और उन्हें अनेक प्रकारके कष्ट भी दिये थे, जैनियोंके साथ उस समय भारी अन्याय और अत्याचार किये गए थे जिनका उल्लेख कर मैं समाजको शोकाकुल नहीं बनाना चाहता

---

*देखें, जैन शिलालेख संग्रह भाग १, लेख नं. ४७ (१२७)।
×शिलालेख नं० ५०(१४०)।
†शिलालेख नं० ५३ (१४३)।

हां, 'स्थल पुराण' के कथनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि विष्णुवर्द्धनके द्वारा जैनियों पर किये गए अत्याचारोंको पृथ्वी भी सहन करनेमें समर्थ नहीं हो सकी। फलस्वरूप हलेबिडके दक्षिणमें अनेकवार भूकम्प हुए और उन भू-कम्पोंमें पृथ्वीका कुछ भू-भाग भी भू-गर्भ में विलीन हो गया, जिससे जनताको अपार जन-धनकी हानि उठानी पड़ी। इन उपद्रवोंको शान्त करनेके लिये यद्यपि राजाने अनेक प्रयत्न किये, अनेक शान्ति-यज्ञ कराये और प्रचुर धन-व्यय करने पर भी राजा वहाँ जब प्रकृतिके प्रकोपजन्य उपद्रवोंको शांत करनेमें समर्थ न हो सका। तब अन्तमें मजबूर होकर विष्णुवर्द्धनको श्रवण-बेल्गोलके तत्कालीन प्रसिद्ध आचार्य शुभचन्द्रके पास जा कर क्षमा याचना करनी पड़ी। आचार्य शुभचन्द्र* राजाके द्वारा किये गए अत्याचारोंको पहलेसे ही जानते थे। प्रथम तो उन्होंने राजाकी उस अभ्यर्थनाको स्वीकार नहीं किया; किन्तु बहुत प्रार्थना करने या गिड़-गिड़ानेके पश्चात् राजा को क्षमा किया। राजाने जैनधर्मके विरोध न करनेकी प्रतिज्ञा की और राज्यकी ओरसे जैनमन्दिरों एवं मठोंको पूजादि निमित्त जो दानादि पहले दिया जाता था उसे पूर्ववत् देनेका आश्वासन दिलाया तथा उक्त कार्योंके अनन्तर शान्तिविधान भी किया गया।

विष्णुवर्द्धनके मंत्री और सेनापति गंगराज तथा हुल्लाने उस समय जैनधर्मका बहुत उद्योत किया, अनेक जिन मन्दिर बनवाए और मन्दिरोंकी पूजादिके निमित्त भूमिके दान भी दिये। श्रवणबेल्गोल आदिके अनेक शिलालेखोंसे गंगराज और हुल्लाकी धर्मनिष्ठा और कर्तव्य-परायणताके उल्लेख प्राप्त हैं जिनसे उनके वैयक्तिक जीवन-की झांकीका भी दिग्दर्शन हो जाता है। विष्णुवर्द्धनने शक सं० १०३३ (वि० सं० ११६८ से शक संवत् १०६१ (वि० सं० ११९५) तक राज्य किया है। हलेबिडमें इस समय जैनियोंके तीन मन्दिर मौजूद हैं पार्श्वनाथवस्ति, आदिनाथवस्ति और शान्तिनाथवस्ति, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है:—

१ पार्श्वनाथवस्ति—हलेबिडकी इस पार्श्वनाथवस्ति-को शक सं० १०५५ (वि० सं० ११९०) में बोप्पाने अपने स्वर्गीय पिता गङ्गराजकी पुण्य-स्मृतिमें बनवाया था। इस मन्दिरमें पार्श्वनाथ भगवानकी १४ फुट ऊँची काले पाषाणकी मनोज्ञ एवं चित्ताकर्षक तथा कलापूर्ण मूर्ति विराजमान है। इस मूर्तिके दोनों ओर धरणेन्द्र और पद्मावती उत्कीर्णित हैं। मन्दिर ऊपरसे साधारणसा प्रतीत होता है; परन्तु अन्दर जाकर उसकी बनावटको देखनेसे उसकी कलात्मक कारीगरीका सहजही बोध हो जाता है इस मन्दिरमें कसौटी पाषाणके सुन्दर चौदह खम्भे लगे हुए हैं उनमेंसे आगेके दो खम्भोंपर पानी डालनेसे उनका रंग कालेसे हरा हो जाता है। मुख्य द्वारके दाहिनी ओर एक यक्षकी मूर्ति और बाईं ओर कूष्मांडिनीदेवीकी मूर्ति है।

इस मन्दिरके बाहरकी दीवालके एक पाषाण पर संस्कृत और कनडी भाषाका एक विशाल शिलालेख अंकित है जिसमें इस मन्दिरके निर्माण कराने और प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न किये जाने आदिका कितनाही इतिहास दिया हुआ है। उसमें गंगवंशके पूर्वजोंका आदि स्रोत प्रकट करते हुए उनके 'पोयसल' नाम रूढ होनेका उल्लेख भी किया गया है। उसी वंशमें विनयादित्य राजाका पुत्र एरेयंग था उसकी पत्नी एचलदेवीसे ब्रह्मा विष्णु और शिवकी तरह बल्लाल, विष्णु और उदयादित्य नामके तीन पुत्र हुए इनमें विष्णुका नाम लोकमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसकी दिग्विजयों और उपाधियोंका वर्णन करनेके पश्चात् तलकाड, कोङ्ग, नङ्गलि, गङ्गवाडि, नोलम्बवाडि, मासवाडि, हुलिगेरे, हलसिगे बनवसे, हानुगल. भङ्ग, कुन्तल, मध्यदेश, काञ्ची, विनीत और मदुरापर भी उनके अधिकारको सूचित किया है।

विष्णुवर्द्धनका पादपद्मोपजीवी महादंडनायक गंगराज था, जो अनेक उपाधियोंसे अलंकृत था, उसने अनेक ध्वस्त-

*यह शुभचन्द्राचार्य सम्भवतः वे ही जान पड़ते हैं जो मूलसंघ कुन्दकुन्दन्वय देशीगण और पुस्तकगच्छके कुक्कु-टासन मलधारिदेवके शिष्य थे और जिन्हें मंडलिनाड्के भुजबल गंग पेमार्डिदेवकी काकी एडवि देमियक्कने श्रुत-पंचमीके उद्यापनके समय, जो बलिकेरेके उत्तुंग चैत्यालय-में विराजमान थे। धवलाटीकाको प्रति समर्पित की गई थी। इन शुभचन्द्राचार्यका स्वर्गारोहण शक सं० १०४५ (वि० सं० ११८०) श्रावण शुक्ला १० मी शुक्रवारको हुआ था।

देखो, जैन शिलालेख संग्रह भा० १ ले० नं० ४३।

जैन मन्दिरोंका पुनः निर्माण कराया था और अपने दानों-से ९६०००) गंगवाडिको कोपणके समान प्रसिद्ध किया था। उक्त गंगराजकी रायमें सात नरक निम्न थे— झूठ बोलना, युद्धमें भय दिखाना, परदारारत रहना, शरणार्थियोंको आश्रय न देना, अधीनस्थोंको अपरितृप्त रखना, जिन्हें पासमें रखना आवश्यक है उन्हें छोड़ देना और अपने स्वामीसे विद्रोह करना।

उक्त सेनापति गङ्गराज और नागलदेवीसे 'बोप्प' नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके कुलगुरु गौतमगण धरकी परम्परामें प्रख्यात मलधारीदेवके शिष्य शुभचन्द्रदेव थे जो बोप्पदेवके गुरु थे, और बोप्पदेवके पूज्य गुरु गंगमंडलाचार्य प्रभाचन्द्र सैद्धान्तिक थे। बोप्पदेवने द्रोर या द्वार समुद्रके मध्यमें अपने पिताकी पवित्र स्मृतिमें उक्त पार्श्वनाथ वस्तिका निर्माण कराया था। उसमें भगवान पार्श्वनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा नयकीर्ति सिद्धान्त-चक्रवर्तीके द्वारा शक सं० १०५५ (वि० सं० ११६४) में सोमवारके दिन सम्पन्न कराई गई थी, जो मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय देशीयगण पुस्तकगच्छके विद्वान थे। आगे शिलालेखमें बतलाया गया है कि इनसोगे ग्रामके समीपवर्ती इस द्रोह घरट्टजिनालयकी प्रतिष्ठाके बाद जब पुरोहित चढ़ाए हुए भोजनको बंकापुर विष्णुवर्द्धनके पास ले गए तब विष्णुवर्द्धनने मसण नामक आक्रमण करने वाले राजाको परास्त कर मार दिया और उसकी राज्यश्री जब्त कर ली। उसी समय उसकी रानी लक्ष्मीमहादेवीके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो गुणोंमें दशरथ और नहुषके समान था। राजाने पुरोहितोंका स्वागत कर प्रणाम किया और यह समझ कर कि भगवानकी पार्श्वनाथ प्रतिष्ठासे युद्ध-विजय और पुत्रोत्पत्ति एवं सुख-समृद्धिके उपलक्षमें विष्णुवर्द्धनने देवताका नाम 'विजय पार्श्वनाथ' और पुत्रका नाम 'विजयनरसिंहदेव' रक्खा, और अपने पुत्रकी सुख-समृद्धि एवं शान्तिकी अभिवृद्धिके लिये 'आर्सिदनाड' के जावगलका मन्दिरके लिये दान दिया, इसके सिवाय, और भी बहुतसे दान दिये। उक्त शिलालेखके निम्न पद्यमें 'विजयपार्श्वनाथ' की स्तुतिकी गई है वह पद्य इस प्रकार है:-

> श्रीमन्नतेन्द्रमणिमौलिमरीचिमाला.
> मालार्चिताय भुवनत्रयधर्म्मनेत्रे ।
> कामान्तकाय जित-जन्मजरान्तकाय,
> भक्त्या नमो विजय-पार्श्व-जिनेश्वराय ॥

इस पद्यमें बतलाया गया है कि इन्द्रके मस्तक पर लगे हुए मणियोंसे जटित मुकुटोंकी माला पंक्तिसे पूजित भुवनत्रयके लिये धर्मनेत्र, कामदेवका अन्त करने वाले जन्म जरा और मरणको जीतने वाले उन विजय पार्श्वनाथ जिनेन्द्रके लिये नमस्कार हो।

यह मन्दिर जितना सुन्दर बना हुआ है खेद है कि आजकल इस मन्दिरमें बिल्कुल सफाई नहीं है, उसमें हजारों चमगादड़ें लटकी हुई हैं जिनकी दुर्गन्धिसे दर्शकका जी ऊब जाता है, और वह उससे बाहर निकलनेके जल्दी प्रयत्न करता है। मैसूर सरकारका कर्तव्य है कि वह उस मन्दिरकी सफाई करानेका यत्न करे। अब सरकार पुरातन धर्मस्थानोंको अपना रक्षक मानती है, ऐसी हालतमें उसके संरक्षणादिका पूरा दायित्व सरकार पर ही निर्भर हो जाता है। आशा है मैसूर सरकार इस सम्बन्धमें पूरा विचार करेगी।

२ आदिनाथवस्ति— दूसरा मन्दिर भगवान आदिनाथका है जिसे सन् ११३८ में हेगड़े मल्लिमायाने बनवाया था।

३ शान्तिनाथवस्ति— तीसरा मन्दिर भगवान शान्तिनाथका है। इस मन्दिरमें शान्तिनाथकी १४ फुट ऊंची खड्गासनमूर्ति विराजमान है। यह मन्दिर सन् १२०४ का बना हुआ है। इस मन्दिरमें एक जैन मुनिका अपने शिष्यको धर्मोपदेश देनेका बड़ा ही सुन्दर दृश्य अङ्कित है। मूर्तिके दोनों ओर मस्तकाभिषेक करनेके लिये सीढ़ी बनी हुई हैं। और मन्दिरके सामने वाले मानस्तम्भमें श्रीगोम्मटेश्वरकी मूर्ति विराजमान है।

हलेबिडमें सबसे अच्छा दर्शनीय मन्दिर होयसलेश्वर का है। कहा जाता है कि इस कलात्मक मन्दिरके निर्माण-कार्यमें ८६ वर्षका समय लगा है। फिर भी वह अधूरा ही है— उसका शिखर अभी तक भी पूरा नहीं बन सका है पर यह मन्दिर जिस रूपमें अभी विद्यमान है वह अपनी ललित कलामें दूसरा सानी नहीं रखता। इसकी शिल्प-कला अपूर्व एवं बेजोड़ है। जिस चतुर शिल्पीने इसका निर्माण किया उसने केवल अपनी कलाकृतिका प्रदर्शन ही नहीं किया; प्रत्युत इन कलात्मक चीजोंके निर्माण द्वारा अपनी आन्तरिक प्रतिभाका सजीव चित्रण भी अभिव्यंजित किया है। इस मन्दिरकी बाह्य दीवालों पर हाथी, सिंह, और विभिन्न प्रकारके पक्षी, देवी देवता और ४०० फुटकी

लम्बाईमें रामायणके सरस दृश्य भी अंकित किए गए हैं जो दर्शकोंको अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहते। खेद है! कि हलेबिडमें आज जैनियोंकी आबादी नहीं है। वहाँ के ये कीर्ति-मन्दिर जैनधर्मकी गुण-गरिमा पर किसी समय इठलाते थे। पर आज यह नगर अपने गौरव हीन जीवन पर सिसिकयाँ ले रहा है— दुःख प्रकट कर रहा है। सड़कसे दूर होनेके कारण यात्री वहाँ दर्शनार्थ बहुत ही कम जाते हैं। हलेबिडसे चल कर हम लोगोंने रात्रि उलियूरमें धर्मशालाके पीछेके दहलानमें बिताई और सवेरे ४ बजेसे चल कर १०॥ बजेके करीब दुपहरके समय वेणूर (Venuru) पहुँचे।

यह ग्राम दक्षिण कनारामें हलेबिडसे ६० मील दूर है और गुरपुर नदीके किनारे बसा हुआ है। यहाँ तालाबमें हम लोगोंने स्नान किया, बाहुबली और अन्य चार मंदिरोंके दर्शन किये, तथा थोड़ा सा नास्ता किया। भिंडी तथा रमाशकी फली खरीदीं। यहा श्रवणबेलगोलके भट्टारक चारुकीर्तिकी प्रेरणासे शक सं० १५२६ (वि० सं० १६६१) में चामुण्डरायके कुटुम्बी तिम्मराजने (Timmaraja) ने, जो अजलरका शासक था, बाहुबलीकी ३७ फुट ऊँची कायोत्सर्ग मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई *। इस मूर्तिका ६० वर्षमें एक बार मस्तिकाभिषेक होता है। इसके चारों ओर ७-८ फुट ऊँचा एक कोट भी है। उक्त तिम्मराजने एक मन्दिर शान्तिनाथका भी बनवाया था। इस मन्दिरमें शक सं० १५२६ (वि० सं० १६६१) का एक शिलालेख भी अंकित है। गोम्मटेश्वरकी यह मूर्ति गुरुपुर नदीके बायें तट पर प्राकारके अन्दर अत्यन्त मनोज्ञ जान पड़ती है। गोम्मटेश्वरकी इस मूर्तिका पग ८ फुट ३ इंच लम्बा है। बाहुबलीकी मूर्तिके अतिरिक्त यहाँ चार मन्दिर और भी हैं। इसे शक सं० १५२६ में स्थानीय रानीने बनवाया है। १ विभिन्न वस्ति २ अक्किनगलेबस्ति ३ तीर्थंकर वस्ति— इस मन्दिरके शक सं० १५४६ के शिलालेखसे ज्ञात होता है कि इसे यहाँके स्थानीय राजाने बनवाया था। और ४शान्तिनाथ वस्ति। यहाँ के एक मन्दिरमें एक सहस्र मूर्तियाँ विराजमान है, ऐसा वहांके पुजारीसे ज्ञात हुआ। वे देखनेमें भी आईं, परन्तु जल्दीमें कोई गणना नहीं की जा सकी। यहाँसे चल कर हम लोग २ बजेके करीब मूडबिद्री पहुँचे और वहांके राजा देवपालके पेलिस भवनमें ठहरे, भवनके इस हिस्से पर सरकारने कब्जा कर लिया है। आपके निजी भवनमें भी एक चैत्यालय है। शिलालेखोंमें मूडबिद्रीका प्राचीन नाम 'बिद्री' 'वेणुपुर' या 'वंसपुर' उल्लिखित मिलता है। इसे जैनकाशी भी कहा जाता है। यह नगर 'तुलु' या तौलव देशमें बसा हुआ है। इस देशके बोलचालकी आम भाषा भी 'तुलु' है परन्तु व्यावहारिक भाषा कनाड़ी होनेके कारण इसे कर्नाटकदेश भी कहा जाता है। यह नगर किसी समय कर्नाटक देशके कांची राज्यमें शामिल भी था, जिसकी राजधानी बादामी थी, जो बीजापुर जिलेमें अवस्थित है। उसके बाद उत्तर कनाडा में स्थित कदम्बवंशी राजाओंने भी उस पर राज्य शासन किया है और सम्भवतः छठी शताब्दीके लगभग यह पूर्वी चालुक्य राजाओंके अधिकार में चला गया था। उस समय तक इस देशका राजधर्म जैनधर्म बना रहा, जब तक होयसालवंशके राजा विष्णुवर्द्धन और बल्लालने जैनधर्मका परित्यागकर वैष्णवधर्मको स्वीकार नहीं किया था। राजा विष्णुवर्द्धनके धर्मपरिवर्तन के कारण जैन राजा मैसूर ओडीयर स्वतन्त्र हो गए, उस समय उनका शासन कुछ ऐसा रहा जो दूसरे सम्प्रदायके लोगों पर विपरीत प्रभाव को अंकित कर रहा था। फलतः उस समय जैन धर्मकी स्थिति अस्थिर एवं कमजोर हो गई। उस समय उनके आधीन चौटर, बंगर और अजलर वगैरह प्रसिद्ध २ राजा थे। मूलबिद्रीमें चौटर जैन राजाओंका राज्य था, तब यह नगर चौटर राजाओंका प्रसिद्ध नगर कहा जाता था। अब भी यहां चौटरवंशी रहते हैं जिन्हें अंग्रेजी राज्यमें पेन्शन मिलती थी। नंदावरमें बंगर, अलदंगदीके अजलर और मुलकीके सेवतर हुए। यहाँ राजाका पुराना महल भी है, जिसमें लकड़ी की छत पर बढ़िया खुदाई की गई है और भीतों पर अनेक चित्र भी उत्कीर्णित हैं।

दक्षिण तौलवदेशके अनेक राजाओंने वहां पर बहुतसे जिन मंदिर बनवाए हैं जिनकी संख्या १८० के करीब बतलाई जाती है। उनमें से १८ मंदिर मूलबिद्रीमें और १८ मंदिर कारकलके भी अन्तर्निहित हैं। इन सब मंदिरों और उस समयके राज्यों का इतिवृत्त मालूम करनेसे इस बातका सहज ही पता लग जाता है कि उस समय वहां जैनधर्मका कितना गहरा प्रभाव अंकित था। मूलबिद्रीका नाम दक्षिणके अतिशय जैनतीर्थ क्षेत्रोंमें प्रसिद्ध है।

× See, Indian Antiquary V. 36

* See, mediaval Jainism P. 663

गुरुवस्ति—यहां के स्थानीय १८ मन्दिरों में सबसे प्राचीन 'गुरुवस्ति' नामका मंदिरही जान पड़ता है। कहा जाता है कि उसे बने हुए एक हजार वर्षसे भी अधिकका समय हो गया है। इस मन्दिरमें षट्खण्डागमधवला टीका सहित, कषायपाहुड जयधवला टीका सहित तथा महाबन्धादि सिद्धान्तग्रन्थ रहनेके कारण इसे सिद्धान्तवस्ति भी कहा जाता है। इस मन्दिरमें ३२ मूर्तियाँ रत्नोंकी और एक मूर्ति ताडपत्रके अक्की इस तरह कुल ३३ अनर्घ्य मूर्तियाँ विराजमान हैं; जो चाँदी सोना, हीरा, पन्ना, नीलम, गरुत्मणि, वैडूर्यमणि, मूंगा, नीलम, पुखराज, मोती, माणिक्य, स्फटिक और गोमेधिक रत्नोंकी बनी हुई हैं। इस मंदिरमें एक शिलालेख शक संवत् ६२६ (वि० सं० ७७१) का है उससे ज्ञात होता है कि इस मन्दिरको स्थानीय जैन पंचोंने बनवाया था। इस मन्दिरके बाहरके 'गद्दुगे' मंडपको शक संवत् १२३७ (वि० सं० १३७२) में चोलसेट्टि नामक स्थानीय श्रेष्ठीने बनवाया था। इसी वस्तिके एक पाषाणपर शक सं० १३२१ (वि. सं. १४६४) का एक उत्कीर्ण किया हुआ एक लेख है जिसमें लिखा है कि इसे स्थानीय राजाने दान दिया। तीर्थंकर वस्तिके पास एक पाषाण स्तम्भके लेखमें जो शक सं० १२११ (वि० सं० १३६४) में उत्कीर्ण हुआ है उक्त गुरुवस्तिको दान देनेका उल्लेख है। इस मंदिरकी दूसरी मंजिलपर भी एक वेदी है उसमें भी अनेक अनर्घ्य मूर्तियाँ विराजमान हैं। कहा जाता है कि कुछ वर्ष हुए जब भट्टारकजीने इसका जीर्णोद्धार कराया था, इसी कारण इसे 'गुरुवस्ति' नामसे पुकारा जाने लगा है। मुख्तारश्रीने मैंने और बाबू पन्नालालजी अग्रवाल आदिने इन सब मूर्तियोंके सानन्द दर्शन किये हैं जिन्हें पं० नागराजजी शास्त्रीने कराये थे और ताडपत्रीय धवल ग्रन्थकी वह प्रति भी दिखलाई थी जिसमें संयत' पद मौजूद है, पं० नागराजजीने वह सूत्र पढ़कर भी बतलाया था। इसी गुरुवस्तिके सामनेही पाठशालाका मन्दिर है जिसमें मुनिसुव्रतनाथकी मूर्ति विराजमान है।

दूसरा मन्दिर 'चन्द्रनाथ' का है जिसे त्रिलोकचूडामणि वस्ति' भी कहते हैं। यह मन्दिर भी सम्भवतः छहसौ वर्ष जितना पुराना है। यह मन्दिर तीन खनका है जिसमें एक हजार शिलामय स्तम्भ लगे हुए हैं। इसीसे इसे 'साविरकंबदवसदी' भी कहा जाता है। इस मन्दिरके चारों ओर एक पक्का परकोटा भी बना हुआ है। रानी भैरादेवीने इसका एक मंडप बनवाया था जिसे 'भैरादेवी मंडप' कहा जाता है उसमें भीतरके खम्भोंमें सुन्दर चित्रकारी उत्कीर्ण की गई है। चित्रादेवी मंडप और नमस्कार मंडप आदि छह मंडपोंके अनन्तर पंचधातुकी कायोत्सर्ग चन्द्रप्रभ भगवानकी विशाल प्रतिमा विराजमान है। दूसरे खनमें अनेक प्रतिमाएँ और सहस्रकूट चैत्यालय है। तीसरी मंजिलपर भी एक वेदी है जिसमें स्फटिकमणिकी अनेक मनोज्ञ मूर्तियाँ हैं। इस मन्दिरमें प्रवेश करते समय एक उन्नत विशाल मानस्तम्भ है जो शिल्पकलाकी साक्षात् मूर्ति है। इस मन्दिरका निर्माण शकसंवत् १३५२ (वि० स० १४८७) में श्रावकों द्वारा बनवाया गया है।

तीसरा मंदिर 'बडगवस्ति' कहलाता है, क्योंकि वह उत्तर दिशामें बना हुआ है इसके सामने भी एक मानस्तम्भ बना हुआ है। इसमें सफेद पाषाणकी तीन फुट ऊँची चन्द्रप्रभ भगवानकी अति मनोज्ञमूर्ति विराजमान है।

शेट्टवस्ति—इसमें मूलनायक श्री वर्धमानकी धातुमय मूर्ति विराजमान है। इस मन्दिरके प्राकारमें एक मंदिर और है जिसमें काले पाषाण पर चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। इसके दोनों ओर शारदा और पद्मावतीदेवी की प्रतिमाएँ हैं।

हिरेवेवस्ति—इस मंदिरमें मूलनायक शान्तिनाथ हैं। इस मन्दिरके प्राकारके अन्दर पद्मावतीदेवीका मंदिर है, जिसमें मिट्टीसे निर्मित चौबीस तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं। पद्मावती और सरस्वति की भी प्रतिमाएँ हैं इसीसे इसे अम्मनवरवस्ति कहा जाता है।

बेटकेरिवस्ति—इसमे वर्धमान भगवानकी ५ फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है।

कोटिवस्ति—इस मन्दिर को 'कोटि' नामक श्रेष्ठीने बनवाया था। इसमें नेमिनाथ भगवानकी खड्गासन एक फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है।

विक्रम सेट्टिवस्ति—इस मंदिरका निर्माण विक्रमनामक सेठने कराया था। इसमें मूलनायक आदिनाथकी प्रतिमा है। अन्दर एक चैत्यालय है और जिसमे धातुकी चौबीस मूर्तियाँ विराजमान हैं।

लेप्यदवस्ति—इसमें मिट्टीकी लेप्य निर्मित चन्द्रप्रभकी मूर्ति विराजमान है। इस मूर्तिका अभिषेक वगैरह नहीं किया जाता। इस मंदिरमें लेप्य निर्मित ज्वालामालिनीकी

एक मूर्ति विराजमान है। मिट्टीकी मूर्तियोंके बनानेका रिवाज कबसे प्रचलित हुआ यह विचारणीय है।

कल्लुवस्ति—इसमें चन्द्रप्रभभगवानकी दो फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है। कहा जाता है कि पहले इस मंदिरके भूगर्भमें ही सिद्धान्तग्रन्थ रक्खे जाते थे।

देरमसेट्ठिवस्ति—इस मंदिरको 'देरम' नामक सेठने बनवाया था। मूलनायक मूर्ति तीनफुट ऊँची है इस मूर्तिके नीचे भागमें चौबीस तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं। और ऊपरके खंडमें भगवान मल्लिनाथकी पद्मासन मूर्ति विराजमान है।

चोलसेट्ठिवस्ति—इस मन्दिरको उक्त सेठने बनवाया था। इस मंदिरमें सुमति पद्मप्रभ और सुपार्श्वनाथकी चार चार फुट ऊँची मूर्तियाँ विराजमान हैं। इस मंदिरके आगे भागमें दायें बायें वाले कोठोंमें चौबीस तीर्थंकर मूर्तियाँ विराजमान हैं। इसीसे इसे 'तीर्थंकरवस्ति' कहा जाता है।

महादेवसेट्ठिवस्ति—इस वस्तिके बनवाने वाले उक्त सेठ हैं। इसमें मूलनायक ४ फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है।

वंकिवस्ति—इसे किसी ढंकम अधिकारीने बनवाया था। इस अनन्तनाथ भगवानकी मूर्ति विराजमान है।

केरेवस्ति—इस मन्दिरमें कालेपाषाणकी ४ फुट ऊँची मल्लिनाथ भगवानकी मूर्ति विराजमान है।

पडुवस्ति—इसमें मूलनायक प्रतिमा अनंतनाथ की है जो पद्मासन चारफुट ऊँची है। कहा जाता है कि पहले शास्त्रभण्डार इसी मन्दिरके भूग्रहमें विराजमान था, जो दीमकादिने भक्षणकर लुप्त प्राय: कर दिया था, उसमेंसे अवशिष्ट ग्रंथोंकी सूचीआदिका कार्य आरा निवासी बाबू देवकुमारजीने अपने द्रव्यसे कराया था। बादमें वे सब ग्रन्थ मठमें विराजमान करा दिये गए हैं।

मठवस्ति—इस मन्दिरमें काले पाषाणकी पार्श्वनाथ की सुन्दर मूर्ति है।

यहाँ सुपारी नारियल कालीमिर्च और काजूके वृक्षोंके अनेक बाग हैं। कालीमिर्चका भाव उस समय १) रुपया सेर था। धान भी यहाँ अच्छा पैदा होता है। यहां के चावलभी बहुत अच्छे और स्वादिष्ट होते हैं। यहाँ से भोजनकर ११ बजेके करीब चलकर हम लोग कारकल पहुँचे।

कारकल—यह नगर मद्रास प्रान्तके दक्षिण कर्नाटक जिलेमें अवस्थित है। कहा जाता है कि यह नगर विक्रमकी १३ वीं शताब्दीसे १७ वीं शताब्दी तक जन-धनसे सम्पन्न एवं खूब समृद्धशाली रहा है। इसकी समृद्धिमें जैनियोंने अपना पूरा योग दान दिया था। उक्त शताब्दियोंमें कारकल भैररस नामक पाण्ड्य राजवंशके जैन राजाओंसे शासित रहा है। प्रारम्भमें यह राजवंश अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता था; परन्तु वह स्वतन्त्रता अधिक समय तक कायम न रह सकी। कारकलके इस पाण्ड्यवंशको विजयनगर और हायसल वंश तथा अन्य अनेक बलशाली शासक राजाओंकी अधानता अथवा परतंत्रतामें रहना पड़ा। उस समय वहां जैनियोंका बहु संख्यामें निवास था और वहांके व्यापार आदिमें भी उनका विशेष हाथ था।

कारकलमें सन् १२६१ से सन् १२८६ तक पाण्ड्यचक्रवर्ती, रामनाथ, वीर पाण्ड्य और इम्मडि भैरवराय आदि जैन राजाओंने उस पर शासन किया है। भैररस राजा वीर पाण्ड्यने शक संवत् १३५३ (वि० सं० १४८८) में फाल्गुन शुक्ला द्वादशीके दिन वहांके तत्कालीन प्रसिद्ध राजगुरु भट्टारक ललितकीर्ति* जो मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय देशीयगण पुस्तकगच्छके विद्वान देवकीर्तिके शिष्य थे और पनसोगेके निवासी थे, उनके द्वारा स्थिरलग्नमें बाहुबलीकी उस विशाल मूर्तिकी, जो ४१ फुट ५ इंच ऊँची थी—प्रतिष्ठा कराई गईथी। मूर्तिके इस प्रतिष्ठा महोत्सवमें विजयनगरके तत्कालीन शासक राजादेवराय (द्वितीय) भी शामिल हुए थे। कविचन्द्रमने अपने 'गोम्मटेश्वर चरित' नामक ग्रन्थमें बाहुबलीकी इस मूर्तिके निर्माण और प्रतिष्ठादिका विस्तृत परिचय दिया है जिसमें बतलाया गया है कि उक्त मूर्तिके निर्माणका यह कार्य युवराजकी देख-रेखमें

* भट्टारक ललितकीर्ति काव्य न्याय व्याकरणादि शास्त्रोंके अच्छे विद्वान एवं प्रभावशाली भट्टारक थे। इनके बाद कारकलकी इस भट्टारकीय गद्दी पर जो भी भट्टारक प्रतिष्ठित होता था, वह विद्वान ललितकीर्ति नामसे ही उल्लेखित किया जाता है। उक्त भ० ललितकीर्तिके अनेक शिष्य थे। कल्याणकीर्ति, देवचन्द्र आदि। इनमें कल्याणकीर्तिने, जिनयज्ञफलोदय (१३५०) ज्ञानचन्द्राभ्युदय, कामनकथे, अनुप्रेक्षे, जिनस्तुति, तत्वभेदाष्टक, सिद्धराशि, यशोधर चरित (श० १३७५) और फणिकुमारचरितका (श० १३६४) रचनाकाल पाया जाता है।

सम्पन्न हुआ था। और बीच-बीचमें राजा स्वयं भी उपयोगी सलाह देता रहता था मूर्ति तैयार होने पर बीस पहियोंकी मजबूत एक गाड़ी तय्यार करा कर दस हजार मनुष्यों द्वारा मूर्तिको गाड़ी पर चढ़ाया गया था, जिसमें राजा; मंत्री, पुरोहित और सेनानायकके साथ जनसमुदायने जयघोषके साथ उस गाड़ीको खींचा था। और कई दिनोंके लगातार परिश्रमके बाद मूर्तिको अभिलषित स्थान पर बाईस खम्भोंके बने हुए अस्थायी मंडपमें विराजमान कर पाया था, मूर्तिकी रचनाका अवशिष्ट कार्य एक वर्ष तक बराबर वहीं होता रहा वहीं ही मूर्ति पर लता बेल और नासादृष्टि आदिका वह कार्य सम्पन्न हुआ था। इस मूर्तिका कोई आधार नहीं है। मूर्ति सुन्दर और कलापूर्ण तो है ही, अतः अब इसकी सुरक्षाका पूरा ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। क्योंकि यह राजा वीरपाण्ड्यकी भक्तिका सुन्दर नमूना है।

राजा इम्मडि भैरवरायने जो अपने समयका एक वीर पराक्रमी शासक था अपने राज्यको पूर्ण स्वतन्त्र बनानेके प्रयत्नमें सफल नहीं हो सका। यह राजा भी जिन भक्तिमें कम नहीं था। इसने शक सं० १५०८ (वि० सं० १६४३) में 'चतुर्मुखवसदि' नामका एक मन्दिर बनवाया था। यह मन्दिर कलाकी दृष्टिसे अनुपम है और अपनी खास विशेषता रखता है। इस मन्दिरका मूल नाम 'त्रिभुवन तिलक चैत्यालय' है। इस मन्दिरके चारों तरफ एक एक द्वार है जिनमेंसे तीन द्वारोंमें पूर्व, दक्षिण, उत्तरमें प्रत्येकमें अरह नाथ मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत इन तीन तीर्थंकरोंकी तीन मूर्तियाँ विराजमान हैं। और पश्चिम द्वारमें चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी २४ मूर्तियां स्थापित हैं। इनके सिवाय दोनों मण्डपोंमें भी अनेक प्रतिमाएं प्रतिष्ठित हैं। दक्षिण और वाम भागमें ब्रह्मयक्ष और पद्मावतीकी सुन्दर चित्ताकर्षक मूर्तियां हैं। मन्दिरकी दीवालों पर और खंभों पर भी पुष्पलता आदिके अनेक चित्र उत्कीर्णित हैं, जो उक्त राजाके कला प्रेमके अभिव्यंजक है। जैन राजाओंने सदा दूसरे धर्म वालोंके साथ समानताका व्यवहार किया है। राजाओंका वास्तविक कर्तव्य है कि वह दूसरे धर्मियोंके साथ समानताका व्यवहार करें, इससे उनकी लोकप्रियता बढ़ती है और राज्यमें सुख शान्तिकी समृद्धि भी होती है।

राजा इम्मडि भैरवराय समुदार प्रकृति था। उसने सन् १५८४ में शंकराचार्यके पट्टाधीश नरसिंह भारतीको राजधानीमें कुछ समय तक ठहरनेका आग्रह किया था, इस पर उन्होंने कहा कि यहाँ अपने कर्मानुष्ठानके लिये कोई देव मन्दिर नहीं है, अतः मैं यहाँ नहीं ठहर सकता। इससे राजाके चित्तमें कष्ट पहुँचा, और उसने वह अप्रतिष्ठित जैन मन्दिर जो नवीन उसने बनवाया था और जिसमें उक्त नरसिंह भारतीको ठहराया गया था, उसीमें राजाने 'शेषशायी अनन्तेश्वर विष्णु' की सुन्दर मूर्ति स्थापित करा दी थी। इससे भट्टारक जी रुष्ट हो गये थे अतः उनसे राजाने क्षमा माँगी, और एक वर्षमें उससे भी अच्छा जिन मन्दिर बनवानेकी प्रतिज्ञा ही नहीं की, किन्तु 'त्रिभुवनतिलक' नामक चैत्यालय एक वर्षके भीतर ही निर्माण करा दिया। यह मन्दिर जैनमठके सामने उत्तर दिशामें मौजूद है। मठकी पूर्व दिशामें पार्श्वनाथ वस्ति है।

कारकलमें बाहुबलीकी उस विशाल मूर्तिके अतिरिक्त १८ मन्दिर और हैं। जिनकी हम सब लोगोंने सानन्द यात्रा की। उक्त पर्वत पर बाहुबलीके सामने दाहिनी ओर बाईं ओर दो मन्दिर हैं उनमें एक शीतलनाथका और दूसरा पार्श्वनाथका है।

कारकलका वह स्थान जहां बाहुबलीकी मूर्ति विराजमान है बड़ा ही रमणीक है। यह नगर भी किसी समय वैभवकी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। यहां इम्म वंशमें अनेक राजा हुए हैं जिन्होंने समयसमय पर जैनधर्मका उद्योत किया है। इन राजाओंकी सभामें विद्वानोंका सदा आदर रहा है। कई राजा तो अच्छे कवि भी रहे हैं। पाण्ड्य क्ष्मापतिने 'भव्यानन्द' नामका सुभाषित ग्रन्थ बनाया था और वीर पाण्ड्य 'क्रियानिघण्टु' नामका ग्रन्थ रचा था। इनके समयमें इस देशमें अनेक जैन कवि भी हुए हैं, ललितकीर्ति देवचन्द्र, कल्याणकीर्ति और नागचन्द्रआदि। इन कवियों और इन कृतियोंके सम्बन्धमें फिर कभी अवकाश मिलने पर प्रकाश डाला जायगा।

कारकलमें अनेक राजा ही शासक नहीं रहे हैं, किन्तु उक्त वंशकी अनेक वीराङ्गनाओंने भी राज्यका भार वहन करते हुए धर्म और देशकी सेवा की है। —क्रमशः

राष्ट्रकूटकालमें जैनधर्म

(ले० डा० अ० स० अल्तेकर, एम० ए० डी० लिट०)

दक्षिण और कर्नाटक अब भी जैनधर्मके सुदृढ़ गढ़ हैं। वह कैसे हो सका ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये राष्ट्रकूट वंशके इतिहासकी पर्यालोचन अनिवार्य है। दक्षिणभारतके इतिहासमें राष्ट्रकूट राज्यकालका (सं० ७५३-९७३ ई०) सबसे अधिक समृद्धिका युग था। इस कालमें ही जैनधर्मका भी दक्षिण भारतमें पर्याप्त विस्तार हुआ था। राष्ट्रकूटोंके पतनके बाद ही नये धार्मिक सम्प्रदाय लिङ्गायतोंकी उत्पति तथा तीव्र विस्तारके कारण जैनधर्मको प्रबल धक्का लगा था। राष्ट्रकूटकालमें जैनधर्मका कोई सक्रिय विरोधी सम्प्रदाय नहीं था फलतः वह राज्यधर्म तथा बहुजन धर्मके पद पर प्रतिष्ठित था। इस युगमें जनाचार्योंने जैन साहित्यकी असाधारण रूपसे वृद्धि की थी। तथा ऐसा प्रतीत होता है कि वे जनसाधारणको शिक्षित करनेके सत्प्रयत्नमें भी संलग्न थे। वर्णमाला सीखनेके पहले बालकको श्री 'गणेशाय नमः' कण्ठस्थ करा देना वैदिक सम्प्रदायोंमें सुप्रचलित प्रथा है, किन्तु दक्षिण भारतमें अब भी जैन नमस्कार, वाक्य 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः' (ओनामासीधं १) व्यापक रूपसे चलता। श्री० चि० वि० वैद्यने बताया है कि उक्त प्रचलनका यही तात्पर्य लगाया जा सकता है कि हमारे काल (राष्ट्रकूट) में जैन गुरुवोंने देशकी शिक्षामें पूर्ण रूपसे भाग लेकर इतनी अधिक अपनी छाप जमाई थी कि जैनधर्मका दक्षिणमें संकोच हो जानेके बाद भी वैदिक सम्प्रदायोंके लोग अपने बालकोंको उक्त जैन नमस्कार वाक्य सिखाते ही रहे। यद्यपि इस जैन नमस्कार वाक्यके अजैनमान्यता पर रख अर्थ भी किये जा सकते हैं तथापि यह सुनिश्चित है कि इसका मूलस्रोत जैन-संस्कृति ही थी।

भूमिका—

राष्ट्रकूट युगमें हुए जैनधर्मके प्रसारकी भूमिका पूर्ववर्ती राज्यकालोंमें भली भांति तैयार हो चुकी थी। कदम्बवंश (ल० ५ वीं० ६ठी शती ई०) के कितने ही राजा २ जैनधर्मके अनुयायी तथा अभिवर्द्धक थे। लक्ष्मेश्वरमें कितने ही कल्पित अभिलेख (ताम्रपत्रादि) मिले३ हैं जो सम्भवतः ईसाकी १० वीं अथवा ११ वीं शतीमें दिये गये होंगे तथापि उनमें वे धार्मिक उल्लेख हैं जो प्रारम्भिक चालुक्य-राजा विनयादित्य, विजयादित्य तथा विक्रमादित्य द्वितीयने जैन धर्मायतनोंको दिये थे। फलतः इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उक्त चालुक्य नृपति यदा कदा जैनधर्मके पृष्ठपोषक अवश्य रहे होंगे अन्यथा जब ये पश्चात् लेख लिखे गये तब उक्त चालुक्य राजा ही क्यों दातार' रूपमें चुने गये तथा दूसरे अनेक प्रसिद्ध राजाओंके नाम क्यों न दिये गये इस समस्याको सुलझाना बहुत ही कठिन हो जाता है। बहुत संभव है कि ये अभिलेख पहिले प्रचारित हुए तथा छील कर मिटा दिये गये मूल लेखोंकी उत्तरकालीन प्रतिलिपि मात्र थे। और भावी इतिहासकारोंके उपयोगके लिये पुनः उत्कीर्ण करा दिये गये थे, जोकि वर्तमानमें उन्हें मनगढ़ंत कह रहे हैं। तलवाड़के गंगराजवंशके अधिकांश राजा जैन धर्मानुयायी तथा अभिरक्षक थे। जैनधर्मायतनोंको गंगराज राचमल्ल द्वारा प्रदत्त दानपत्र कुर्गमें४ मिले हैं। जब इस राजाने बहुमलाई पर्वत पर अधिकार किया था तो उस पर एक जैनमन्दिरका निर्माण५ कराके विजयी स्मृतिको अमर किया था। प्रकृत राज्यकालमें लक्ष्मेश्वरमें 'राय-राचमल्ल बसदि, गंगापरमादि चैत्यालय, तथा गंग-कन्दर्प चैत्यमन्दिर नामोंसे विख्यात जैनमन्दिर६ वर्तमान थे। जिन राजाओंके नामानुसार उक्त मन्दिरोंका नामकरण हुआ था वे सब गंगवंशीय राजा लोग जैनधर्मके अधिष्ठाता थे; ऐसा निष्कर्ष उक्त लेख परसे निकालना समुचित है। महाराज मारसेन द्वितीय तो परम जैन थे। आचार्य अजितसेन उनके गुरु थे। जैनधर्ममें उनकी इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी कि उसीके वश होकर उन्होंने ९७६ ई० में राज्य त्याग करके समाधि मरण

---

१ मध्यभारत तथा उत्तरभारतके दक्षिणी भागमें इस रूपमें अब भी चलता है।

२ इण्डियन एण्टीक्वायरी ६–पृष्ठ २१ तथा आगे— इण्डियन एण्टीक्वायरी ७–पृ० ३३—

३ इण्डियन एण्टीक्वायरी ७–पृ० १११ तथा आगे।

४ इ० एण्टी० ६ पृ० १०३

५ एपी ग्राफिका इण्डिका, ४ पृ० १४०

६ इ० एण्टी० ७ पृ० १०५-६

(सल्लेखना) पूर्वक प्राण विसर्जन किया था। मारसिंहके मन्त्री चामुण्डराय चामुण्डरायके रचयिता स्वामिभक्त प्रबल प्रतापी सेनापति थे। श्रवणबेलगोलामें गोम्मटेश्वर (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवके द्वितीय पुत्र बाहुबली) की लोकोत्तर, विशाल तथा सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्तिकी स्थापना इन्होंने करवाई थी। जैनधर्मकी आस्था तथा प्रसारकताके कारण ही चामुण्डरायकी गिनती उन तीन महापुरुषोंमें की जाती है जो जैनधर्मके महान प्रचारक थे। इन महापुरुषोंमें प्रथम दो तो श्रीगंगराज तथा हुल्ल थे जो कि होयसलवंशीय महाराज विष्णुवर्द्धन तथा मारसिंह प्रथमके मन्त्री थे। नोलम्बावाडीमें जैनधर्मकी खूब वृद्धि हो रही थी। एक ऐसा शिलालेख मिला है जिसमें लिखा है कि नोलम्बावाडी प्रान्तमें एक ग्रामको सठने राजासे खरीदा था। तथा उसे धर्मपुरी४ (वर्तमान सलेम जिलेमें पड़ती है) में स्थित जैन धर्मायतनको दान कर दिया था।

जैन-राष्ट्रकूट-राजा—

राष्ट्रकूट राजाओंमें अमोघवर्ष प्रथम वैदिक धर्मानुयायीकी अपेक्षा जैन ही अधिक था। आचार्य जिनसेनने अपने 'पार्श्वाभ्युदय' काव्यमें 'अपने आपको नृपतिका परमगुरु लिखा है, जो कि अपने गुरु पुण्यात्मा मुनिराजका नाम मात्र स्मरण करके अपने आपको पवित्र मानता था१' गणित शास्त्रके ग्रन्थ सारसंग्रह' में इस बातका उल्लेख है कि 'अमोघवर्ष' स्याद्वादधर्मका अनुयायी था२। अपने राज्यको किसी महामारीसे बचानेके लिए अमोघवर्षने अपनी एक अंगुलीकी बलि महालक्ष्मीको चढ़ाई थी३। यह बताता है कि भगवान महावीरके साथ साथ वह वैदिक देवताओंको भी पूजता था वह जैन धर्मका सक्रिय तथा आगरूक अनुयायी था। स्व० प्रा० राखालदास बनर्जीने मुझे बताया था कि बनवासीमें स्थित जैनधर्मायतनोंने अमोघवर्षका अपनी कितनी ही धार्मिक क्रियाओंके प्रवर्तकके रूपमें उल्लेख किया है। यह भी सुविदित है कि अमोघवर्ष प्रथमने अनेकबार राजसिंहासन त्यागकर दिया था। यह बताता है कि वह कितना सच्चा जैन था। क्योंकि सम्भवतः कुछ समय तक 'अकिञ्चिन' धर्मका पालन करनेके लिये ही उसने यह राज्य त्याग किया होगा। यह अमोघवर्षकी जैन-धर्म-आस्था ही थी जिसने आदिपुराणके अन्तिम पांच अध्यायोंके रचयिता गुणभद्राचार्यको अपने पुत्र कृष्ण द्वितीयका शिक्षक नियुक्त करवाया था४। मूलगुण्डमें स्थित जैन मन्दिरको कृष्णराज द्वितीयने भी दान दिया था५। फलतः कहा जा सकता है कि यदि वह पूर्णरूपसे जैनी नहीं था तो कमसे कम जैन धर्मका आश्रयदाता तो था ही। इतना ही इसके उत्तराधिकारी इन्द्र तृतीयके विषयमें भी कहा जा सकता है। दानवुलपडु६ शिलालेखमें लिखा है कि महाराज श्रीमान् नित्यवर्ष (इन्द्र तृ० ने अपनी मनोकामनाओंकी पूर्तिकी भावनासे श्रीअर्हन्तदेवके अभिषेक मंगलके लिये पाषाणकी वेदी (सुमेरु पर्वतका उपस्थापन) बनवायी थी। अंतिम राष्ट्रकूट राजा इन्द्र-चतुर्थ भी सच्चा जैन था जब वह बारंबार प्रयत्न करके भी तैल द्वितीयसे अपने राज्यको वापस न कर पाया तब उसने अपनी धार्मिक आस्थाके अनुसार सल्लेखना व्रत धारण करके प्राण त्याग कर दिया था७।

जैन सामंतराजा—

राष्ट्रकूट नृपतियोंके अनेक सामंत राजा भी जैन धर्मावलम्बी थे। सौनदत्तिके रट्टशासकोंमें लगभग सब सबही जैन धर्मावलम्बी थे। जैसा कि राष्ट्रकूट इतिहासमें लिख चुका हूँ। अमोघ वर्ष प्रथमका प्रतिनिधि शासक बंकेयन्द भी जैन था। यह बनवासीका शासक था। अपनी राजधानीके जैन धर्मायतनोंको एक ग्राम दान करनेके लिए इसे राजाज्ञा प्राप्त हुई थी८।

बङ्केयका पुत्र लोकादित्य जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट धर्मका प्रचारक था; ऐसा उसके धर्मगुरु श्रीगुणचन्द्रने भी लिखा है। इन्द्रतृतीयके सेनापति श्रीविजय१० भी जैन थे इनकी छत्रछायामें जैन साहित्यका पर्याप्त विकास हुआ था।

४ एपी० इ० भा० १० पृ० ५७

(१) इ० एण्टी० भा० ७ पृ० २१६-८,

(२) विंटर निट्जका 'प्रैशीचरी' भा० ३ पृ० ५७५,

(३) एपी० इ० भा० १८ पृ० २४८

(४) जर्नल ब० ब्रा० रॉ० ए० सो०, भा० २२ पृ० ८५,

(५) जर्नल ब० ब्रा० रॉ० ए० सो० भा० १० पृ० १८२,

(६) आर्के० सर्वे० रि० १६०५ ६ पृ० १२१-२,

(७) इ० एण्टी० भा० २३ पृ० १२४,

(८) हिस्ट्री ऑ० राष्ट्रकूटस पृ० २७२ ३,

(९) एपी० इ० भा० ६ पृ० २९।

(१०) एपी. इ० भा. १० पृ. १४६,

उपर्युल्लिखित महाराज, सामंतराजा पदाधिकारी तो ऐसे हैं जो अपने दान पत्रादिकके कारण राष्ट्रकूट युगमें जैन धर्म प्रसारकके रूपसे ज्ञात है, किन्तु शीघ्र ही ज्ञात होगा कि इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जन राजा इस युग में हुए थे। इस युगने जैन ग्रंथकार तथा उसके उपदेशकोंकी एक अखण्ड सुन्दर मालाही उत्पन्न की थी। यतः इन सबको राज्याश्रय प्राप्त था फलतः इनकी साहित्यिक एवं धर्म प्रचारकी प्रवृत्तियोंसे समस्त जनपद पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। बहुत सम्भव है इस युगमें दक्षिण जनपदकी समस्त जनसंख्याका एक तृतीयांश भगवान महावीरकी दिव्यध्वनि (सिद्धांतोंका अनुयायी रहा हो। १अल-बरुनीके उद्धरणके आधारपर रसीद उद-दीनने लिखा है कि कोंकण तथा थानाके निवासी ई० की ग्यारवीं शतीके प्रारम्भ न समनी (श्रमण अर्थात् बौद्ध) धर्मके अनुयायी थे।

अल-इदसीने नहरवाला (अर्नाहल पट्टन के राजाको बौद्ध धर्मावलम्बी लिखा है। इतिहासका प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि जिस राजाका उसने उल्लेख किया है वह जैन था, बौद्ध नहीं। अत एव स्पष्ट है कि मुसलमान बहुधा जैनोंको बौद्ध समझ लेते थे। फलतः उपर्युल्लिखित रशीद-उद-दीनका वक्तव्य दक्षिणके कोंकण तथा थाना भागोंमें दशमी तथा ग्यारहवीं शतीके जैन धर्म-प्रसारका सूचक है बौद्ध धर्मका नहीं। राष्ट्रकूट कालकी समाप्तिके उपरान्तही लिंगायत सम्प्रदायके उदयके कारण जैनधर्मको अपना बहुत कुछ प्रभाव खोना पड़ा था क्योंकि किसी हद तक यह सम्प्रदाय जैन धर्मको मिटाकर ही बढ़ाया।

जैन संघ जीवन

इस कालके अभिलेखोंसे प्राप्त सूचनाके आधार पर उस समयके जैन मठोंके भीतरी जीवनकी एक झांकी मिलती है। प्रारम्भिक कदम्ब२ वंशके अभिलेखोंसे पता लगता है कि वर्षा ऋतुमें चतुर्मास अनेक जैन साधु एक स्थान पर रहा करते थे। इसीके (वर्षाके३) अन्तमें वे सुप्रसिद्ध जैन पर्व पर्यूषण मनाते थे। जैन शास्त्रोंमें पर्यूषण बड़ा महत्व है। दूसरा धार्मिक फाल्गुन शुक्ला अष्टमीसे प्रारम्भ होता था और एक सप्ताह तक चलता था। श्वेताम्बरोंमें वह चैत्र शुक्ला दमी से प्रारम्भ होता है। शत्रुंजय पर्वत पर यह पर्व अब भी बड़े समारोहसे मनाया जाता है, क्योंकि उनकी मान्यतानुसार श्रीऋषभदेवके गणधर पुण्डरीकने पांच करोड़ अनुयायीयोंके साथ इस तिथिको ही मुक्ति पायी५ थी। यह दोनों पर्व षष्ठशतीसे दक्षिणमें सुप्रचलित थे। फलतः ये राष्ट्र कूट युगमें भी अवश्य बड़े उत्साहसे मनाये जाते होंगे। क्योंकि जैन शास्त्र इनकी विधि करता है और ये आज भी मनाये जाते हैं।

राष्ट्रकूट युगके मंदिर तो बहुत कुछ अर्थोंमें वैदिक मंदिर कलाकी प्रतिलिपि थे। भगवान महावीरकी पूजा-विधि वैसी ही व्यय-साध्य तथा विलासमय हो गयी थी जैसी कि विष्णु तथा शिवकी थी।

शिलालेखोंमें भगवान महावीरके 'अंग भोग तथा रंग-भोग' के लिये दान देनेके उल्लेख मिलते हैं जैसा कि वैदिक देवताओंके लिये चलन था। यह सब भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट सर्वांग आकिंचन्य धर्मकी व्याख्या नहीं थी।

जैन मठोंमें भोजन तथा औषधियोंकी पूरी व्यवस्था रहती थी तथा धर्म शास्त्रके शिक्षणकी६ भी पर्याप्त व्यवस्था थी?

अमोघवर्ष प्रथमका कोन्नूर शिलालेख तथा कर्कके सूरत ताम्रपत्र जैन धर्मायतनोंके लिये ही दिये गये थे। किन्तु दोनों लेखोंमें दानका उद्देश्य बलिचरुदान, वैश्वदेव तथा अग्निहोत्र दिये हैं। ये सबके सब प्रधान वैदिक संस्कार हैं। आपाततः इनको करनेके लिए जैन मंदिरोंको दिये गये दान को देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यमें पड़ जाता है। सम्भव है कि राष्ट्रकूट युगमें जैन धर्म तथा वैदिकधर्मके बीच आजकी अपेक्षा अधिकतर समता रही हो। अथवा राज्यके कार्यालयकी असावधानीके कारण दानके उक्त हेतु शिलालेखोंमें जोड़ दिये गये हैं। कोन्नूर शिलालेखमें ये हेतु इतने अयुक्त स्थान पर हैं कि मुझे दूसरी व्याख्या ही अधिक उपयुक्त जंचती है।

(१) इलियट, १. पृ. ६८.

(२) इ. एण्टी. भा ७ . पृ ३४,

(३) एस. एपी टोम ओफ जैनिज्म पृ. ६७६-७।

(४) भादोंके अंत में पर्यूषण होता है। तथा चतुर्मासके अन्तमें कार्तिककी अष्टान्हिका पड़ती है।

(५) इनसाइक्लोपी डिया ओफ रिलीजन तथा इथिक्स भाग ५ पृ. ८७८।

(६) जर्नल बो. ब्रा. रो. ए. सो.-भा. १० पृ. २१७

राष्ट्र-कूट युगका जैन साहित्य—

जैसा कि पहले आ चुका है अमोघवर्ष प्रथम कृष्ण द्वितीय तथा इन्द्र तृतीय या तो जैन धर्मानुयायी थे अथवा जैनधर्मके प्रश्रय दाता थे। यही अवस्था उनके अधिकतर सामन्तोंकी भी थी। अतएव यदि इस युगमें जैन साहित्यका पर्याप्त विकास हुआ तो यह विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है। ८वीं शतीके मध्यमें हरिभद्रसूरि हुए हैं तथापि इनका प्रांत अज्ञात होनेसे इनकी कृतियोंका यहां विचार नहीं करेंगे। स्वामी समन्तभद्र यद्यपि राष्ट्रकूट कालके बहुत पहले हुए हैं तथापि स्याद्वादकी सर्वोत्तम व्याख्या तथा तत्कालीन समस्त दर्शनोंकी स्पष्ट तथा सयुक्तिक समीक्षा करनेके कारण उनकी आप्त मीमांसा इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी कि इस राज्यकालमें ८वीं शती के आरम्भसे लेकर आगे इस पर अनेक टीकायें दुनियामें लिखी गयी थी।

राष्ट्रकूट युगके प्रारम्भमें अकलंक भट्टने इस पर अपनी अष्टशती टीका लिखी थी। श्रवणबेलगोलाके ६७वें शिलालेखमें अकलंकदेव राजा साहसतुङ्गसे अपनी महत्ता कहते हुए चित्रित किये गये हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये साहसतुङ्ग दन्तिदुर्ग द्वितीय थे। इस शिलालेखमें बौद्धोंके विजेता रूपमें अकलङ्कभट्टका वर्णन है। ऐसी भी दन्तोक्ति है कि अकलङ्क भट्ट राष्ट्रकूप सम्राट कृष्ण प्रथमके पुत्र थे१। किन्तु इसे ऐतिहासिक सत्य बनानेके लिये अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता है। आप्तमीमांसाकी सर्वांगसुन्दरटीकाके रचयिता श्रीविद्यानन्द इसके थोड़े समय बाद हुए थे। इनके उल्लेख श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें२ है।

न्याय-शास्त्र—

इस युगमें जैन तर्क शास्त्रका जो विकास हुआ है वह भी साधारण न था? ८वीं शतीके उत्तरार्धमें हुए माणिक्यनंदिने 'परीक्षामुखसूत्र'३ की रचना की थी। नौवीं शतीके पूर्वार्द्धमें इस पर आचार्य प्रभाचन्द्रने अपनी विख्यात 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' टीका लिखी थी। इन्होंने मार्तण्डके अतिरिक्त 'न्यायकुमुदचन्द्र'भी लिखा था। जैन तर्कशास्त्रके दूसरे आचार्य जो कि इसी युगमें हुए थे वे मल्लवादी थे, जिन्होंने नवसारीमें दिगम्बर जैन मठकी स्थापना की थी जिसका अब कोई पता नहीं है? कर्क स्वर्णवर्षके४ सूरत पत्रमें इनके शिष्यके शिष्यको ८२१ ई० में दानदानका उल्लेख है इन्होंने धर्मोत्तराचार्यकी५ न्यायबिन्दुटीकापर टिप्पण लिखे थे जो कि धर्मोत्तर टिप्पण नामसे ख्यात है। बौद्धग्रन्थके ऊपर जैनाचार्य द्वारा टीका लिखा जाना राष्ट्रकूटकालके धार्मिक समन्वय तथा सहिष्णुताकी भावनाका सर्वथा उचित फल था।

अमोघवर्षकी राजसभातो अनेक विद्वानरूपी मालासे सुशोभित थी यही कारण है कि आगामी अनेक शतियोंमें वह महान-साहित्यिक प्रश्रयदाताके रूपमें ख्यात था६। उसके धर्मगुरु जिनसेनाचार्य हरिवंशपुराणके रचयिता थे, वह ग्रन्थ ७८३ ई० में समाप्त हुआ था। अपनी कृतिकी प्रशस्तिमें उस वर्षमें विद्यमान राजाओंके नामोंका उल्लेख करके उनके प्राचीन भारतीय इतिहासके शोधक विद्वानों पर बड़ा उपकार किया है वह अपनी कृति आदि पुराणको समाप्त करने तक जीवित नहीं रह सके थे। जिसे उनके शिष्य गुणचन्द्रने ८९७ ई० में समाप्त किया था; जो बनवासी७ १२००० के शासक लोकादित्यके धर्मगुरु थे। आदि पुराण जैनग्रन्थ हैं जिसमें जैनतीर्थंकर आदि शलाका पुरुषोंके जीवन चरित्र हैं। आचार्य जिनसेनने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यमें शृङ्गारिक खण्डकाव्य मेघदूतकी प्रत्येक श्लोककी अंतिम पंक्ति (चतुर्थ चरण) को तपस्वी तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन वर्णनमें समाविष्ट करनेकी अद्भुत बौद्धिक कुशलताका परिचय दिया है। पार्श्वाभ्युदयके प्रत्येक पद्यकी अन्तिम पंक्ति मेघदूत८ के उसी संख्याके श्लोकसे ली गई है। व्याकरण ग्रंथ शाकटायनकी अमोघवृत्ति९ तथा वीराचार्यका गणित ग्रन्थ 'गणितसार संग्रह' भी अमोघवर्ष प्रथमके राज्यकालमें समाप्त हुए थे।

---

(१) पिटरसनकी रिपोर्ट सं २,७३। ज० ब० ब्रा. रो. ए. सो० भा० १८ पृ० २१३

(२) एपी० कर्णा० भा० २ सं. २५४

(३) भारतीय न्यायका इतिहास पृ० १७३,

(४) एपी० इ० भाग २१, (५भा० न्या० पृ० ११४—२१

(५) इ० एण्टी० १९०४ पृ० ७७,

(६) इ० एण्टी० भा० १२ पृ० २१६

(७) इसमें अपनेको लेखक'अमोघवर्षका परमगुरु'कहता है

(८) इ० एण्टी० १९१४ पृ० २०५

(९) बिम्बर मिश्र गजेटी. भा० १ पृ० ४०

तद्देशीय साहित्य

कनारी भाषामें प्रथम लक्षणशास्त्र 'कविराजमार्ग' लिखे जानेका श्रेय भी सम्राट् अमोघवर्षके राज्यकालको है। किन्तु वह स्वयं रचयिता थे या केवल प्रेरक थे यह अब भी विवादग्रस्त१ है। प्रश्नोत्तरमालाका रचयिता भी विवादका विषय है क्योंकि इसके लिये भी शंकराचार्य, विमल तथा अमोघवर्ष प्रथमके नाम लिये जाते हैं। डा० एफ० डब्ल्यू० थोमसने तिब्बती भाषाके इसके अनुवादकी प्रशस्तिके आधार पर लिखा है कि इस पुस्तिकाके तिब्बती२ भाषाके अनुवादके समय अमोघवर्ष प्रथम इसका कर्त्ता माना जाता था। अतः बहुत सम्भव है कि वही इसका कर्त्ता रहा हो।

दशवीं शतीके मध्य तक दक्षिण कर्नाटकके चालुक्य-वंशीय सामन्तोंकी राजधानी गंगधारा भी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका बड़ा केन्द्र हो गई थी। यहीं पर सोमदेवसूरि३ ने अपने 'यशस्तिलकचम्पू' तथा 'नीतिवाक्यामृत' का निर्माण किया था। यशस्तिलक यद्यपि धार्मिक पुस्तक है तथापि लेखकने इसको सरस चम्पू बनानेमें अद्भुत साहित्यिक सामर्थ्यका परिचय दिया है। द्वितीय पुस्तक राजनीतिकी है। कौटिल्यके अर्थशास्त्रकी अनुगामिनी होनेके कारण इसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं आंका जा सकता है तथापि यह साम्प्रदायिकतासे सर्वथा शून्य है तथा कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे भी ऊँची नैतिक दृष्टिसे लिखा गया है।

महाकवि पम्प

इस राज्यकालमें कर्नाटक जैनधर्मका सुदृढ़ गढ़ था। तथा जैनाचार्योंको यह भली भांति स्मरण था कि उनके परमगुरु तीर्थंकरने जनपदकी भाषाओंमें धर्मोपदेश दिया था। परिणामस्वरूप १० वीं शतीमें हम कनारी लेखकों-की भरमार पाते हैं। जिनमें जैनी ही अधिक थे। इनमें प्राचीनतम तथा प्रधानतम महाकवि पम्प थे इनका जन्म ९०२ ई० में हुआ था। आन्ध्रदेशके निवासी होकर भी कनारी भाषाके आदि कवि हुए थे। इन्होंने अपनी कृति आदि पुराणको ९४१ ई० में समाप्त किया था, यह जैन ग्रन्थ है। अपने मूल ग्रन्थ 'विक्रमार्जुन विजय' में इन्होंने अपने आश्रयदाता 'अरिकेशरी'४ द्वितीयको अर्जुन रूपसे उपस्थित किया है। अतः यह ग्रन्थ ऐतिहासिक रचना है। इसी ग्रन्थसे हमें इन्द्र तृतीयके उत्तर भारत पर किये गये उन आक्रमणोंकी सूचना मिलती है जिनमें उसका सामन्त अरिकेशरी द्वितीय भी जाता था। इस कालके दूसरे ग्रन्थकार 'असंग' तथा 'जिनभद्र' थे जिनका उल्लेख पूनने किया है यद्यपि इनकी एक भी कृति उपलब्ध नहीं है। पून कवि १० वीं शतीके तृतीय चरणमें हुए हैं। यह संस्कृत तथा कनारी भाषामें कविता करनेमें इतने अधिक दक्ष थे कि इन्हें कृष्ण तृतीयने उभयकुल चक्रवर्तीकी उपाधि दी थी। इनकी प्रधान कृति 'शांतिपुराण'५ है। महाराज मारसिंह द्वितीयके सेनापति चामुण्डरायने 'चामुण्डराय पुराण' को दसवीं शतीके तीसरे६ चरणमें लिखा था६ रन्न भी प्रसिद्ध कनारी कवि थे। इनका जन्म ९४९ ई० में हुआ था। इनका अजितनाथ पुराण ७, ९९३ में समाप्त हुआ था जैनधर्म ग्रन्थोंका पुराण रूपमें रचा जाना बताता है कि राष्ट्रकूट युगमें जैनधर्मका प्रभाव तथा मान्यता दक्षिणमें असीम थी।

—(वर्णी अभिनन्दन ग्रंथसे)

(१) इ० एण्टी १९०४ पृ० १९९
(२) ज० ब० ब्रा० रो० ए० सो० १२ पृ० ६८०
(३) यशस्तिलकचम्पू पृ० ४१९
(४) कर्नाटक भाषाभूषण, भूमिका० पृ० १३-४
(५) कर्नाटक भाषाभूषण भूमिका० पृ० १२
(६) एपी० इ० भा० ५ पृ० १७५
(७) एपी० इ० भाग ६ पृ० ७२।

मथुराके जैनस्तूपादिकी यात्राके महत्वपूर्ण उल्लेख

(श्री अगरचन्द नाहटा)

मथुराकी खुदाईसे जो प्राचीन सामग्री प्राप्त हुई है वह जैन इतिहास और मूर्तिपूजा आदिकी प्राचीनताकी दृष्टिसे बहुत ही महत्वपूर्ण है, मथुराका देवनिर्मित स्तूप तो जैन साहित्यमें बहुत ही प्रसिद्ध रहा है, प्रस्तुत लेखमें हम प्राचीन जैन साहित्यसे ई० १७वीं शताब्दी तकके ऐसे उल्लेखोंको संगृहीतकर प्रकाशित कर रहे हैं, जो मथुरासे जैनोंके दीर्घ कालीन संबंध पर नया प्रकाश डालेंगे, उनसे पता चलेगा कि कब-कब किस प्रकार इन स्तूपादिकी यात्राके लिये जैन यात्री मथुरा पहुँचे। इन उल्लेखोंसे मथुराके जैन स्तूपों व तीर्थके रूपमें कब तक प्रसिद्धि रही, इसका हम भली-भांति परिचय पा जाते हैं सर्व-प्रथम जैन साहित्यमें मथुरा सम्बन्धी उल्लेखोंकी चर्चा की जाती है।

जैन-साहित्यमें मथुरा

श्वे० जैनागमोंमें एकदश अंग सूत्र सबसे प्राचीन ग्रन्थ माने जाते हैं। भगवान महावीरकी वाणीका प्रामाणिक संग्रह इन ग्रंथोंमें मिलता* है जहां तक मेरे अध्ययन, मथुराका सबसे प्राचीन उल्लेख इन ११ अंग सूत्रोंमेंसे छट्ठे ज्ञाता सूत्रमें आता है, प्रसंग है द्रौपदीके स्वयंवर मंडपका स्वयंवर मंडपमें आनेके लिये अनेक देशके राजाओंको द्रौपदीके पिता अपने दूतोंके द्वारा आमंत्रण पत्र भेजता है, इनमें एक दूत मथुराके 'धर नामक राजाके पास भी जाता है, इससे उस समय मथुराका शासक 'धर' नामक कोई राजा रहा था, ऐसा ज्ञात होता है। इसी द्रौपदी अध्ययनके आगे चलकर दक्षिणमें पांडवोंने मथुरा नगरी बसाई, इनका भी उल्लेख मिलता है, इसलिये बृहद्कल्पसूत्रमें उत्तर मथुरा और दक्षिण मथुरा, इन दो मथुराओंका नाम मिलता है, वहांके उल्लेखानुसार शालिवाहनका दंडनायक दोनों मथुरा पर अधिकार करता है, परवर्ती प्रबंधकोषमें भी यह अनुश्रुति सी मिलती है।

अंगसूत्रोंके बाद उपांगसूत्रोंका स्थान है। इनकी संख्या १२ मानी गई है, जिनमेंसे पन्नवणा (प्रज्ञापनासूत्र) में साढे पच्चीस आर्य देशोंकी सूची दी गई है। इन सूचीमें शौरसेन देशकी राजधानीके रूपमें मथुराका उल्लेख पाया जाता है। तत्परवर्ती साहित्य 'वसुदेवहिण्डी' ५वीं × शताब्दीका प्राचीनतम प्राकृत कथा ग्रन्थ है, इसके श्यामा-विजय लंभकमें कंस अपने श्वसुरसे मथुराका राज्य मांगता है, और अपने पिता उग्रसेनको कैद कर स्वयं मथुराका शासक बन जाता है। उद्धरण है—इस ग्रंथके प्रारंभमें जंबू स्वामीका चरित्र दिया गया है। उसमें मथुराकी कुबेरदत्ता वेश्याका १८ नातों वाला विचित्र कथानक है फिर आगमोंकी चूर्णियां और भाष्योंमें भी मथुराके सम्बन्धमें महत्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। डा० जगदीशचन्द्र जैनने इन उल्लेखोंका संक्षिप्त अपने 'जैन ग्रन्थोंमें भौगोलिक सामग्री और भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार' नामक लेखमें दिया गया है, जिसे यहां उद्धृत कर देना आवश्यक समझता हूँ

'मथुराके आस पासका प्रदेश शूरसेन' कहा जाता है, मथुरा अत्यन्त प्राचीन नगरी मानी जाती है। जहां जैन-श्रमणोंका बहुत प्रचार था। (उत्तराध्ययन चूर्णी)।

उत्तरापथमें मथुरा एक महत्व पूर्ण नगर था। जिसके अन्तर्गत ९६ ग्रामोंमें लोग अपने घरोंमें और चौराहों पर जिन मूर्तिकी स्थापना करते थे। अन्यथा घर गिर पड़ते थे। (बृहद् कल्पभाष्य)।

मथुरामें एक देवनिर्मित स्तूप था। जिसके लिये जैनों और बौद्धोंमें झगड़ा हुआ था। कहा जाता था कि इसमें जैनोंकी जीत हुई और स्तूप पर उनका अधिकार हो गया१ (व्यवहार भाष्य)

मथुरा आर्यमंगू व आर्यरक्षित आदि जैन श्रमणोंका विहार स्थल था। यहां अनेक पाखंडी साधु रहते थे, अत-एव मथुराको 'पाखंडी गर्भ' कहा गया है। (आवश्यक चूर्णी, आचारांग-चूर्णी श्रावकचरित्र)

---

* लेखकका यह कथन अभी बहुत ही विवादापन्न है। —प्रकाशक

× यह ग्रन्थ ७वीं शताब्दीका है, बिना किसी प्रामाणिक अनुसंधानके अनुमानसे ५वीं शती लिख दिया गया है। उसकी रचना ७वीं शताब्दीसे पूर्वकी नहीं है। —प्रकाशक

१. इसके कारणके लिये देखिये विविध तीर्थकल्प।

जैन सूत्रोंका संस्कार करनेके लिये मथुरामें अनेक जैन श्रमणोंका संघ उपस्थित हुआ था। वह सम्मेलन 'माथुरी वाचना' के नामसे प्रसिद्ध है। (नन्दीचूर्णी)

मथुरा भंडीरयक्षकी यात्राके लिये प्रसिद्ध था। (आवश्यक चूर्णी)।

यह नगर व्यापारका बड़ा केन्द्र था, और विशेष कर वस्त्रके लिए प्रसिद्ध था। (आवश्यक टीका)।

यहांके लोग व्यापार पर ही जीवित रहते थे, खेती-बाड़ी पर नहीं' (बृहद्कल्प भाष्य १) यहां स्थल मार्गसे माल आता जाता था। आचारांग चूर्णी)।

मथुराके दिया पश्चिमकी ओर महोली नामक ग्रामको प्राचीन ग्रन्थोंमें मथुरा बतलाया जाता है। (मुनि कल्याणविजयजीका श्रमण भगवान महावीर, पृ० ३७१)।

इसमें आधारित मथुराके देवनिर्मित जैन स्तूपकी अनुश्रुति व्यवहारभाष्यमें सर्वप्रथम पाई जाती है। डा० 'मोतिचन्द्र'के 'कुछ जैन अनुश्रुतियाँ और पुरातत्त्व' शीर्षक लेखमें उस अनुश्रुतिका सारांश इस प्रकार है—

एक समय एक जैनमुनिने मथुरामें तपस्या की। तपस्यासे प्रसन्न होकर एक जैनदेवीने मुनिको वरदान देना चाहा, जिसे मुनिने स्वीकार नहीं किया। रुष्ट होकर देवीने रत्नमय देवनिर्मितस्तूपकी रचना की। स्तूपको देखकर बौद्ध भिक्षु वहां उपस्थित हो गये और स्तूपको अपना कहने लगे। बौद्ध और जैनोंकी स्तूप सम्बन्धि लड़ाई ६ महीने तक चलती रही। जैन साधुओंने ऐसी गड़बड़ी देखकर उस देवीकी आराधना की। जिसका वरदान लेना पहले अस्वीकार कर चुके थे। देवीने उन्हें राजाके पास जाकर यह अनुरोध करनेकी सलाह दी कि राजा इस शर्त पर फैसला करे कि अगर स्तूप बौद्धोंका है तो उस पर गैरिक झंडा फहराना चाहिये, अगर वह जैनका है तो सफेद झंडा। रातों रात देवीने बौद्धोंका केशरिया झंडा बदलकर जैनोंका सफेद कपड़ा स्तूप पर लगा दिया और सबेरे जब राजा स्तूप देखने आया तो उस पर सफेद झंडा फहराते देखकर उसने उसे जैन स्तूप मान लिया।

इसके पश्चात् दिगम्बर हरिषेणाचार्य रचित 'बृहत कथा कोश' के अन्तरगत वैरकुमारकी कथामें मथुराके पंच स्तूपोंका वर्णन आया है। इस ग्रन्थका रचनाकाल ई० सं० ९३२ है। तदनंतर ई० सं० ९५९ में रचित सोमदेवसूरिके यशस्तिलकचंपूमें कुछ हेर फेरके साथ देवनिर्मित स्तूपकी अनुश्रुति दी है। सोमदेवने जब एक स्तूप होना बतलाया है तो हरिषेणने स्तूपोंकी संख्या ५ बतलाई है। इन अनुश्रुतियोंके सम्बन्धमें विशेष विचार डा० मोतीचंद्रजीने अपने उक्त लेखमें भली प्रकार किया है। उन्होंने जिनप्रभसूरिके 'विविधतीर्थकल्प' की अनुश्रुतिका सारांश भी दिया है।

अभी तक विद्वानोंके सम्मुख उपर्युक्त उल्लेख ही आये हैं। अब मैं अपनी खोजके द्वारा मथुराके जैन स्तूपादिके बारेमें जो महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त हुये हैं उन्हें क्रमशः दे रहा हूँ—

आचार्य भद्रबाहुकी ओघनिर्युक्तिमें मुनि कहां कहां विहार करें। इनका निर्देश करते हुए 'चक्के थुभे' पाठ आता है। टीकाकारने इसका 'स्तूपमथुरायां' इन शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण किया है।

सं० १३३४में प्रभावक चरित्रके अनुसार आर्यरक्षितसूरि मथुरामें पधारे थे तब इन्द्रने आकर निगोद सम्बन्धी पृच्छा की थी, जिसका सही उत्तर पाकर उसने सन्तोष पाया। इसी ग्रन्थके पादलिप्तसूरि प्रबंधानुसार वे भी यहां पधारे थे व 'सुपार्श्वजिनस्तूपकी' यात्रा की थी। यथा—

'अथवा मथुरायां स सूरिर्गत्वा महायशाः;
श्रीसुपार्श्वजिन-स्तुपेऽनमत् श्रीपार्श्वमञ्जुसु'''

'प्रभावकचरित्र' एवं 'प्रबन्धकोश' दोनों ग्रन्थोंके बप्पभट्टसूरि प्रबन्धके अनुसार यहां आम राजाने पार्श्वनाथ मंदिर बनवाया था जिसकी प्रतिष्ठा बप्पभट्टिसूरिजीने की थी। आम राजाके कहनेसे वाक्पतिराजको प्रबोध देनेको वे मथुरा आये तब वाक्पति राजा 'वराह मंदिर' में ध्यानस्थ था। सूरिजीने इसे प्रबोध देकर जैन बनाया, उसका स्वर्गवास भी यहीं हुआ। बप्पभट्टसूरिसे लेपमय ४ बिम्ब कलाकारसे बनवाये थे। उनमेंसे एक मथुरामें स्थापित किया गया। विविध तीर्थ कल्पानुसार बप्पभट्टिसूरिजीने जीर्णोद्धार करवाया एवं महावीर बिम्बकी स्थापना की।

इनमें आर्यरक्षित प्रथम शती, पादलिप्त पांचवीं,

१. बृहद्कल्पभाष्यगत उल्लेखोंके लिये मुनि पुण्यविजयजी सम्पादित संस्करणके छठे भागका परिशिष्ट देखिये।

व बप्पभट्टि ६ वीं शताब्दी में हुये हैं। प्रभावक चरित्रमें वीरसूरिके भी यहाँ पधारनेका उल्लेख है।

युगप्रधानाचार्य गुर्वावलीके अनुसार सं० १२१४ से १७ के बीच मणिधारी जिनचन्द्र सूरिने मथुराकी यात्रा की थी।

सं० १३७५ में हस्तिनापुर और मथुरा महातीर्थकी यात्राका संघ खरतरगच्छाचार्य जिनचन्द्रसूरिके नेतृत्वमें ठाकुर अचलने निकाला। इस बड़े संघने मथुराके पार्श्व, सुपार्श्व व महावीरकी यात्रा की। इस संघका विस्तृत वर्णन उपर्युक्त युगप्रधानाचार्य गुर्वावलीमें मिलता है।

'भत्यपूज्यैः ? सुश्रावकसंघमहामेलापकेन श्रीमथुरायां श्रीपार्श्व, श्रीमहावीरतीर्थंकराणां व राजायां च महता विस्तरेण यात्रा कृता।'

पाटण भंडारके ताडपत्रीय ग्रंथोंकी सूचिके पृष्ठ १२५में सिद्धसेनसूरि रचित सकलतीर्थस्तोत्रमें ऐतिहासिक जैन तीर्थों सम्बन्धि गाथायें प्रकाशित हैं। उनमें मथुरा सम्बंधी गाथा इस प्रकार है—

सिरि पासनाह सहियं रम्मं सिरिनिम्मियं महाथूमं।
कलिकालवि सुतित्थं महुरानयरीउ (ए) वंदामि ॥२०॥

यद्यपि इस स्तोत्रके रचनाकालका ठीक समय ज्ञात नहीं, पर ताडपत्रीय प्रतिको देखते हुए यह १२वीं १३वीं शताब्दीकी रचना अवश्य होगी।

संस्कृतमें संगमसूरि रचित 'तीर्थमाला' की एक प्रति हमारे संग्रहमें है। इसमें मथुराके स्तूपादिका उल्लेख इस प्रकार है—

मथुरापुरि प्रतिष्ठितः सुपार्श्वजिनकाल संभवो जयति।
अद्यापि सुराऽभ्यर्च्य श्रीदेवी विनिर्मित स्तूप :···

इस तीर्थ मालामें भी रचनाकाल दिया हुआ नहीं है पर इसमें आबूके जैन मन्दिरका उल्लेख करते हुये केवल विमलवाहके रचित युगादिमन्दिरका ही उल्लेख है, वस्तुपाल तेजपाल कारित नेमिजिनालयका नहीं है। इसलिये इसकी रचना संवत् १०८६ से १२८६ के बीचकी निश्चित है।

इसके पश्चात् अंचलगच्छके महेन्द्रसूरि रचित 'अष्टोतरी तीर्थमाला' में मथुराके सुपार्श्वस्तूप सम्बन्धी गाथा इस प्रकार मिलती है।

सुरच निम्मायावाये, सेय पडागा मिसाइ जहिं जाया···
लवग पभावा तं थुणि, महुराई सुपासजिण थूमं···

इस गाथामें व्यवहारभाष्यकी पूर्व दी गई अनुश्रुतिका उल्लेख किया गया है। अञ्चलगच्छ पट्टावलीमें इस तीर्थमालाके रचयिता महेन्द्रसिंहसूरिका गच्छनायक काल सं० १२६६ से १३०६ तकका बतलाया है। इस तीर्थमालामें आबूके वस्तुपालका रचित मन्दिरका भी उल्लेख होनेसे इसकी रचना सं० १३०० से १३०६ के बीचमें हुई प्रतीत होती है।

१४ वीं शतीकी अंचलगच्छके संघ यात्राका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है।

१५ वीं शताब्दीके खरतर गच्छाचार्य जिनवर्धनसूरिजीने पूर्वदेशके जैनतीर्थोंकी यात्रा करके 'पूर्वदेशचैत्य परिपाटी; की रचना की। इसकी ८ वीं गाथामें लिखा है—

त पासु सुपासह थूम ·नमउं, सिरिमथुरा नयरंमि।
त सौरीपूर सिरिनेमिजिण, समुद्दविजय वंसंमि ॥ ८ ॥

इसी शतीके मुनि प्रभसूरिके अष्टोतरी तीर्थमालाके २० वें पद्यमें 'महुरानयरी थूमु सुपासह' इन शब्दोंमें उल्लेख मिलता है।

१७ वीं शताब्दीके जयरव रचित 'पूर्व देश चैत्य-परिपाटी' की ११ वीं गाथामें मथुरा यात्राका उल्लेख इस प्रकार है—

तिह तीरथ यात्रा करि, पहुता मथुरा ठाम ;
तुई जिण हर थी रिषमना, थूम सिरि प्रभवा स्वामी ॥११॥

मन्त्रीश्वर कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तन काव्यके अनुसार बीकानेरके महाराजा रायसिंहके मन्त्री कर्मचन्द्रने मथुराके चैत्योंका जीर्णोद्धार करवाया था। यथा—

शत्रुञ्जये मधुपद्ये जीर्णोद्धार चकार यः
येनैतत्सदृशं पुण्यं कारणं नास्ति किंचन ॥ ३१४ ।

व्याख्या—यो मंत्री शत्रुञ्जये पुण्डरीकाद्रे तथा मधुपद्ये मथुरानां जीर्णोद्धार-जीर्ण पतितं चैत्य समारचनं चकार।

इसी शताब्दीके कवि दयाकुशलने सं० १६४६ में अनेक जनतीर्थोंकी यात्रा करके 'तीर्थमाला बनाई। इसकी प्रारम्भिक २८ गाथायें प्राप्त नहीं है पर प्राप्त पद्योंमें से ४० वें में मथुराके ५०० स्तूपों और स्थान स्थान पर जिन प्रतिमाओंके होनेका उल्लेख इस प्रकार है :—

मथुरा देखिउ मन उल्लसइ, मनोहर थुम्भ जिहां पांचसइं।
गौतम जंबू प्रभवो साम, जिणवर प्रतिमा ठामोठाम ॥४०॥

इस शताब्दीके सुप्रसिद्ध आचार्य हीरविजय सूरिजीने मथुराके ५२७ स्तूपोंकी यात्रा की, जिसका उल्लेख उनके भक्त

कवि ऋषभदासने 'हीरविजयसूरिरास' में इस प्रकार किया है :—

हीरै कर्यो जे विहारवाला, हीरै कर्यो जे विहार।
मथुरापुर नगरीमें आवे, जुहार्या ज पास कुँवार वाला।१।
यात्रा करि सुपासनी रे, पूठे बहु परिवार।
संघ चतुर्विध तिहां मिल्यो, पूरसे तीरथ जुसार वाल ॥२॥
जम्बू परमुख मा वर्णीरे, थूभ वे अतिहि उदार।
पांचसे सताविस सूं तो, जुहारतां हर्ष अपार वाला ॥३॥

इस यात्राका विस्तृत वर्णन हीरसौभाग्यकाव्यके १४ वें सर्गमें मिलता है। पार्श्वनाथ सुपार्श्व एवं ५२७ स्तूपोंकी यात्राका ही उसमें उल्लेख है।

उपर्युक्त सभी उल्लेख श्वेताम्बर जैन साहित्यके हैं दिगम्बर साहित्यमें भी कुछ उल्लेख खोजने पर अवश्य मिलना चाहिए। १७ वीं शतीके दि० कवि राजमल्लके जंबूस्वामी चरित्रके प्रारम्भमें यह ग्रन्थ, जिस साहु-टोडरके अनुरोधसे रचा गया उसका ऐतिहासिक परिचय देते हुए सं० १६३० में उसके द्वारा मथुराके स्तूपोंके जीर्णोद्धारका महत्वपूर्ण विवरण दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ जगदीशचन्द्र शास्त्री द्वारा संपादित, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित है। जगदीशचन्द्रजीने उपर्युक्त प्रसंगका सार इस प्रकार दिया है—

'अगरवाल जातिके गर्गगोत्री साहु टोडरके लिये राजमल्लने संवत् १६३२ के चैत वदि को यहाँ जंबूस्वामि चरित्र बनाया। टोडर भटानियाके निवासी थे।

एक बारकी बात है कि साहु टोडर सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करने मथुरामें आये। वहाँ पर बीचमें जंबू स्वामिका स्तूप (निःसही स्थान) बना हुआ था और उसके चरणोंमें विद्युच्चर मुनिका स्तूप था। आस पास अन्य मोक्ष जाने वाले अनेक मुनियोंके स्तूप भी मौजूद थे। इन मुनियोंके स्तूप कहीं पांच कहीं आठ, कहीं दस और कहीं बीस, इस तरह बने हुये थे। साहु टोडरको इन स्तूपोंकी जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें देख कर इनका जीर्णोद्धार करनेकी प्रबल भावना जागृत हुई। फलतः टोडरने शुभ दिन और शुभ लग्न देखकर अत्यन्त उत्साहपूर्वक इस पवित्र कार्यका प्रारम्भ किया। साहु टोडरको इस पुनीत कार्यमें बहुत सा धन व्यय करके ५०१ स्तूपोंका एक समूह और १३ स्तूपों-का दूसरा समूह इस तरह कुल ५१४ स्तूपोंका निर्माण कराया। तथा इन स्तूपोंके पास ही १२ द्वारपाल आदि की भी स्थापना की। प्रतिष्ठा कार्य विक्रम सं० १६३० के ज्येष्ठ शुक्ला १२ बुधवारके दिन नौ घड़ी व्यतीत होने पर सूरिमन्त्र पूर्वक निर्विघ्न सानन्द समाप्त हुआ। साहु टोडरने चतुर्विध संघको आमन्त्रित किया। सबने परम आनन्दित होकर टोडरको आशीर्वाद दिया। और गुरुने उसके मस्तक पर पुष्प वृष्टि की। तत्पश्चात् साहु-टोडरने सभामें खड़े होकर शास्त्रज्ञ कवि राजमल्लसे प्रार्थना की, कि मुझे जंबुस्वामिपुराण सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा है। इस प्रार्थनासे प्रेरित हो कवि राजमल्लने यह रचना की।

विशाल जैन साहित्यके सम्यक् अनुशीलनसे और भी बहुत सामग्री मिलनेकी सम्भावना है पर अभी जो जो उल्लेख ध्यानमें थे, उन्हें ही संग्रहित कर प्रकाशित कर रहा हूँ। इनसे भी निम्नोक्त हुई नये ज्ञातव्य प्रकाशमें आते हैं -

१. मथुरा सम्बन्धी उल्लेखोंकी प्रचुरता श्वेताम्बर साहित्यमें ही अधिक है। अतः उनका संबंध वहाँसे अधिक रहा है। जैन तीर्थके रूपमें मथुराकी यात्रा १७ वीं शती तक श्वे० मुनि एवं श्रावकगण निरन्तर करते रहे।

२. देव निर्मित स्तूप सम्बन्धी अनुश्रुतियाँ दोनों सम्प्रदायके साहित्यमें मिलती हैं, अतः वह स्तूप दोनोंके लिए समान रूपसे मान्य-पूज्य रहा होगा। वह स्तूप पार्श्वनाथका था।

३. कुछ शताब्दियों तक तो जैनोंके लिये मथुरा एक विशिष्ट प्रचार केन्द्र रहा है। जैनोंका प्रभाव यहाँ बहुत अधिक रहा। जिसके फलस्वरूप मथुरा व उसके ९६ गांवों में भी प्रत्येक घरमें मंगलचैत्य स्थापित किये जाने लगे, जिसमें जैन मूर्तियाँ होती थी। विविधतीर्थकल्पके अनुसार यहाँके राजा भी जैन रहे हैं।

४. जैनागमोंकी 'माथुरी वाचना' यहाँकी एक चिर-स्मरणीय घटना है।

५. ९ वीं शतीके आचार्य बप्पभट्टसूरिने यहाँ पार्श्व जिनालयको प्रतिष्ठित किया व महावीर बिम्ब भी भेजा।

६. पहले यहाँ एक देवनिर्मित स्तूप ही था फिर पाँच स्तूप हुये, क्रमशः स्तूपोंकी संख्या ५२७ तक पहुँच गई, जो १७ वीं शती तक पूज्य रहे हैं। ५२७ स्तूपोंका

सम्बन्ध जंबूस्वामी, प्रभवस्वामी आदि ५२७ व्यक्तियोंसे जो साथ ही दीक्षित हुए थे जोड़ा गया प्रतीत होता है।

७. अकबरकी जैन परिपाटीके अनुसार १७ वीं शती से पहले यहाँ ऋषभदेवके भी दो मन्दिर स्थापित हो चुके थे।

८. सं० १६३० में यहाँ दि० साहु टोडर द्वारा ५१४ स्तूपोंकी प्रतिष्ठा उल्लेखनीय है।

प्राप्त सभी उल्लेख अकबरके राज्यकाल तकके हैं। यहाँ तक तो स्तूपादि सुरक्षित और पूज्य थे। इसके बाद इनका उल्लेख नहीं मिलता। अतः औरंगजेबके समय यहाँ अन्य हिंदू प्राचीन मन्दिरोंके साथ जैन स्मारक भी विनाशके शिकार बन गये होंगे।

मथुरासे प्राप्त जैन पुरातत्व और इन साहित्यगत उल्लेखोंके प्रकाशमें मथुराके जैन इतिहास पर पुनः विचार करना आवश्यक है। यहांके जैन प्रतिमालेखोंका संग्रह स्व० पूर्णचन्द्रजी नाहटा, हिंदी अंग्रेजी अनुवाद व टिप्पणियों सहित छपाना चाहते थे। पर उनके स्वर्गवास हो जानेसे वह संग्रहग्रन्थ यों ही पड़ा रह गया। इसे किसी योग्य व्यक्तिसे संपादित कराके शीघ्र ही प्रकाशित करना आवश्यक है।

जैन मूर्तिकला पर श्री उमाकान्त शाहने हालहीमें 'डाक्टरेट' पद प्राप्त किया है उन्होंने मथुराकी जैनकला पर भी अच्छा अध्ययन किया होगा। उसका भी शीघ्र प्रकाशित होना आवश्यक है।

जैन साहित्यकी विशद जानकारी वाले विद्वानोंसे मथुरा सम्बन्धी और भी जहाँ कहीं उल्लेख मिलता है उसका संग्रह करवाया जाना चाहिए। आशा है जैन समाज इस ओर शीघ्र ध्यान देगी दि० विद्वानोंसे विशेष रूपसे अनुरोध है कि उनको निर्वाणकांड-भक्ति आदिमें जो जो उल्लेख हों शीघ्र प्रकाशित कर हमारी जानकारी बढ़ावें।

नोट : श्री अगरचन्दजी नाहटाने अपने इस लेखमें मथुराके सम्बन्धमें जो अपनी धारणानुसार निष्कर्ष निकाला है वह ठीक मालूम नहीं होता। क्या दिगम्बर साहित्यके मथुरा सम्बन्धी सभी उल्लेख प्रकाशित हो चुके हैं? यदि नहीं तो फिर जो कुछ थोड़े से समुल्लेख प्रकाशित हुए हैं उन परसे क्या निम्न निष्कर्ष निकालना उचित कहा जा सकता है कि—'मथुरा सम्बन्धी उल्लेखोंकी प्रचुरता श्वेताम्बर साहित्यमें ही है। अतः उनका सम्बन्ध यहाँ से अधिक रहा है।' दिगम्बर ग्रन्थोंमें मथुरा सम्बन्धी अनेक उल्लेख निहित हैं। इतना ही नहीं किन्तु मथुरा और उसके आस-पासके नगरोंमें दिगम्बर जैनोंका प्राचीन समयसे निवास है। अनेक मंदिर और शास्त्र भण्डार हैं, बादशाही समयमें जो नष्टभ्रष्ट किये गये हैं और अनेक शास्त्र भण्डार जला दिये गये। थोड़ी देरके लिये यदि यह भी मान लिया जाय कि उल्लेख कम है और यह भी हो सकता है कि दिगम्बर विद्वान् इस विषयमें आपकी तरह उपेक्षित भी रहे हों तो इससे क्या उनकी मान्यताकी कमीका अंदाज लगाया जा सकता है।

मथुरामें राजा उदितोदयके राज्यकालमें अर्हद्दास सेठके कथानकमें कार्तिकमासकी शुक्लपक्षकी अष्टमीसे पूर्णिमा तक कौमुदी महोत्सव मनानेका उल्लेख हरिषेण कथाकोषमें विद्यमान है जिसमें उक्त सेठकी आठ स्त्रियोंके सम्यक्त्व प्राप्त करनेके उल्लेखके साथ उस समय मथुरामें आचार्यों और साधुसंघका भी उल्लेख किया गया है। इसके सिवाय तीर्थस्थानरूपसे निर्वाणकाण्डकी 'महुराए अहिछित्ते' नामक गाथामें मथुराका स्पष्ट उल्लेख है। इस कारण तीर्थक्षेत्रकी यात्राके लिये भी वे आते जाते रहे और वर्तमानमें तीर्थ यात्राके लिये भी आते रहते हैं।

इनके सिवाय मथुराके देवनिर्मित स्तूपका उल्लेख आचार्य सोमदेवने अपने यशस्तिलकचम्पूमें किया है और आचार्य हरिषेणने अपने कथाकोषमें वैरमुनिकी कथाके निम्नपद्यमें मथुरामें पंचस्तूपोंके बनाये जानेका उल्लेख किया है।

'महारजतनिर्माणान् खचितान् मणिनायकैः।
पञ्चस्तूपान् विधायाग्रे समुच्चजिनवेश्मनाम् ॥१३२॥

पंचस्तूपान्वयकी यह दिगम्बर परम्परा बहुत पुरानी है। आचार्य वीरसेनने धवलामें और उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाटीका प्रशस्तिमें पंचस्तूपान्वयके चन्द्रसेन आर्यनन्दि नामके दो आचार्योंका नामोल्लेख किया है जो वीरसेनके गुरु व प्रगुरु थे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य चन्द्रसेनसे पूर्व उक्त परंपरा प्रचलित थी इसके सिवाय पंचस्तूप निकायके आचार्य गुहनन्दीका उल्लेख पहाड़पुरके ताम्रपत्रमें पाया जाता है, जिसमें गुप्त संवत् १५९ सन् ४७८ में नाथशर्मा ब्राह्मणके द्वारा गुहनन्दीके विहारमें

अर्हन्तोंकी पूजाके लिये तीन ग्रामों और अशर्फियोंके देने का उल्लेख* है। इससे भी स्पष्ट है कि उक्त संवत्से पूर्व पंचस्तूपान्वय विद्यमान था।

पांडे रायमल्लने अपने जम्बू स्वामीचरितमें ५१४ स्तूपोंका जीर्णोद्धार साहू टोडर द्वारा करानेका उल्लेख किया है। इससे १७वीं शताब्दी तक तो मथुराके स्तूपोंका समुद्धार दिगम्बर परम्पराकी ओरसे किया गया है। यात्रादिके साधारण उल्लेखोंको छोड़ दिया गया है। इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि मथुरा दि० जैन समाजका पुरातन समयसे ही मान्य तीर्थस्थान था और वर्तमानमें भी है। मुनि उदयकीर्तिने अपनी निर्वाण पूजामें मथुरामें ५१५ स्तूपोंका उल्लेख किया है—

'महुराउरि वंदउं पासनाह, शुम पंचसयइं ठिइ पंदराइं।'

संवत् १६४० में ब्रह्मचारी भगवतीदासके शिष्य पांडे जिनदासने अपने जंबूस्वामिचरित्रमें साहु पारसके पुत्र टोडर द्वारा मथुराके पास निसही बनानेका भी उल्लेख किया है। और भी अनेक उल्लेख यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं जिन्हें फिर किसी समय संकलित किया जायगा। अतः नाहटाजीने आधुनिक तीर्थयात्रादिके सामान्य उल्लेखों परसे जो निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया, वह समुचित प्रतीत नहीं होता। दिगम्बर जैन परम्पराका मथुरासे बहुत पुराना सम्बन्ध है।

लेखकने श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें मथुराके दक्षिण उत्तर मथुराका उल्लेख किया है। दिगम्बर साहित्यमें भी उत्तर दक्षिण मथुराके उल्लेख निहित हैं। इतना ही नहीं उत्तर मथुरा तो दिगम्बर जैनोंका केन्द्रस्थल है ही, किन्तु दक्षिण मथुरा भी दिगंबर जैन संस्कृतिका केंद्र रहा है। मद्रासका वर्तमान मदुरा जिला ही दक्षिण मथुरा कहलाती है। उस जिलेमें दि० जैन गुफाएं और प्राचीन मूर्तियोंका अस्तित्व आज भी उनकी विशालताका द्योतक है। मदुराका पाण्ड्य राज्यवंशभी जैनधर्मका पालक रहा है।

हरिषेणकथाकोशके अनुसार पांड्यदेशमें दक्षिण मथुरा नामका नगर था। जो धन धान्य और जिनायतनोंसे मंडित था, वहां पाण्डु नामका राजा था और सुमति नामकी उसकी पत्नी। वहाँ समस्त शास्त्रज्ञ महातपस्वी आचार्य मुनिगुप्त थे। एक दिन मनोवेग नामके विद्याधर कुमारने जैनमंदिर और उक्त आचार्यकी भक्तिभावसहित वन्दना की। एक मुहूर्तके बाद कुमारने श्रावस्ति नगरके जिनकी वन्दना-को जानेका उल्लेख किया। तब गुप्ताचार्यने कुमारसे कहा कि तुम रेवती रानीसे मेरा आशीर्वाद कह देना। उस विद्याधर कुमारने रेवती रानीकी अनेक तरहसे परीक्षा की और बादमें आचार्य गुप्तका आशीर्वाद कहा। इस सब कथनसे दोनों मथुराओंसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायका सम्बन्ध ही पुरातन रहा जान पड़ता है।

* देखो, एपि ग्राफिका इंडिका भाग २० पे० ४६।

अपभ्रंश भाषाके अप्रकाशित कुछ ग्रन्थ

(परमानन्द जैन शास्त्री)

[कुछ वर्ष हुए जब मुझे जैनशास्त्रभण्डारोंका अन्वेषण कार्य करते हुए अपभ्रंश भाषाके कुछ ग्रन्थ मिले थे जिनका सामान्य परिचय पाठकोंको करानेके लिये मैंने दो वर्ष पूर्व एक लेख लिखा था, परन्तु वह लेख किसी अन्य कागजके साथ अन्यत्र रक्खा गया, जिससे वह अभी तक भी प्रकाशित नहीं हो सका। उसे तलाश भी किया गया परन्तु वह उस समय नहीं मिला किन्तु वह मुझे कुछ नोट्सके कागजोंको देखते हुए अब मिल गया। अतः उसे इस किरणमें दिया जा रहा है।]

भारतीय भाषाओंमें अपभ्रंश भी एक साहित्यिक भाषा रही है। लोकमें उसकी प्रसिद्धिका कारण भाषा सौष्ठव और मधुरता है। उसमें प्राकृत और देशीय भाषा-के शब्दोंका सम्मिश्रण होनेसे प्रान्तीय भाषाओंके विकासमें उससे बहुत सहायता मिली है। पर अपभ्रंशभाषाका पद्य साहित्य ही देखनेमें मिलता है गद्य-साहित्य नहीं। जैनकवियोंने प्रायः पद्य साहित्यकी सृष्टि की है। यद्यपि दूसरे कवियोंने भी ग्रन्थ लिखे हैं परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त विरल है। अपभ्रंश भाषाका कितना ही प्राचीन

साहित्य नष्ट हो गया है और कितना ही साहित्य जैन-शास्त्रभण्डारोंमें अभी दबा पड़ा है जिसके प्रकाशमें लानेकी खास आवश्यकता है। यही कारण है कि अपभ्रंश भाषाका अभी तक कोई प्रामाणिक इतिहास तय्यार नहीं किया जा सका। अस्तु, इस लेखमें निम्न ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है जो विद्वानोंकी दृष्टिसे अभी तक ओझल थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—णेमिणाहचरिउ लक्ष्मणदेव सम्भवणाहचरिउ और वरांगचरिउ कवि तेजपाल, सुकमालचरिउके कर्ता मुनि पूर्णभद्र, सिरिपालचरिउ और जिनरत्तिकथाके कर्ता कवि नरसेन, णेमिणाहचरिउ और चन्दप्पहचरिउके कर्ता कवि दामोदर, आराहणासारके कर्ता कवि वीर।

१. णेमिणाहचरिउ—इस ग्रन्थके कर्ता कवि लक्ष्मणदेव हैं। इनका वंश पुरवाड था और पिताका नाम रयण या रत्नदेव था। इनकी जन्मभूमि मालवदेशके अन्तर्गत गोनन्द नामके नगरमें थी, जहाँ पर अनेक उत्तुंग जिनमन्दिर और मेरु जिनालय भी था। वहीं पर कविने पहले किसी व्याकरण ग्रन्थका निर्माण किया था जो बुधजनोंके कण्ठका आभरण रूप था, परन्तु वह कौनसा व्याकरण ग्रन्थ है, उसका कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया और न अभी तक उसके अस्तित्वका पता ही चला है। गोनन्द नगर कहाँ बसा था, इसके अस्तित्वका ठीक पता नहीं चलता; परन्तु इतना जरूर मालूम होता है कि यह नगरी उज्जैन और भेलसाके मध्यवर्ती किसी स्थान पर रही होगी। कवि लक्ष्मण उसी गोनन्द नगरमें रहते थे, वे विषयोंसे विरक्त और पुरवाड वंशके तिलक थे, तथा रात दिन जिनवाणीके रसका पान किया करते थे। कविके भाई अम्बदेव भी कवि थे, उन्होंने भी किसी ग्रन्थकी रचना की थी, उस ग्रन्थका नाम, परिमाण और रचनाकाल आदि क्या था यह सब अन्वेषणीय है।

कविवर लक्ष्मणकी एक मात्र कृति 'णेमिणाहचरिउ' ही इस समय उपलब्ध है जिसमें जैनियोंके बाईसवें तीर्थंकर श्रीकृष्णके चचेरे भाई भगवान नेमिनाथका जीवन-परिचय दिया हुआ है। इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद या संधियाँ हैं, जिसके श्लोकोंकी आनुमानिक संख्या १३०२ है। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें रचनाकाल दिया हुआ नहीं है। सम्भव है ग्रन्थकी किसी अन्य प्राचीन प्रतिमें वह उपलब्ध हो जाय। कविने इसे ग्रन्थको आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशीको प्रारम्भ करके चैत्र कृष्णा त्रयोदशीको १० महीनेमें समाप्त किया है। इस ग्रन्थकी एक प्रति जयपुर में मैंने सं० १५३६ की लिखी हुई सन् ४४ के मई महीनेमें देखी थी, और डाक्टर हीरालालजी एम० ए० डी० लिट्को इस ग्रन्थकी एक प्रति सं० १५१० में प्राप्त हुई थी। सम्भव है अन्य ग्रंथभण्डारोंमें इससे भी प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हो जायं।

२. सम्भवणाहचरिउ—इस ग्रंथके कर्ता कवि तेजपाल हैं, जो काष्ठासंघान्तर्गत माथुरान्वयके भट्टारक सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति मलयकीर्ति और गुणभद्रकी परम्पराके विद्वान थे। यह भट्टारक देहली, ग्वालियर, सोनीपत और हिसार आदि स्थानोंमें रहे हैं। पर वह यह पट्ट कहाँ था इस विषयमें अभी निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता है, पर उक्त पट्टके स्थान वही हैं जिनका नामोल्लेख ऊपर किया गया है। कवि तेजपालने अपने जीवन और माता-पितादिक तथा वंश एवं जाति आदिका कोई समुल्लेख नहीं किया। प्रस्तुत ग्रन्थमें १० सन्धियाँ हैं जिनमें जैनियोंके तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथजीका जीवन परिचय दिया हुआ है। इस ग्रन्थकी रचना भादानक देशके श्रीनगरमें दाऊदशाहके राज्यकालमें की गई है। श्रीप्रभनगरके अग्रवाल वंशीय मित्तलगोत्रीय साहू लक्ष्मदेवके चतुर्थ पुत्र थील्हा, जिनकी माताका नाम महादेवी और प्रथम धर्मपत्नीका नाम 'कोल्हाही; और दूसरी पत्नीका नाम आसाराही था, जिससे त्रिभुवनपाल और रणमल नामके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। थील्हाके पाँच भाई और भी थे, जिनके नाम खिउसी, होलू, दिवसी, मल्लिदास और कुन्थदास थे। ये सभी भाई और उनकी संतान जैनधर्मके उपासक थे।

लखमदेवके पितामह साहु हल्लुने जिन बिम्ब प्रतिष्ठा भी कराई थी, उन्हींके वंशज थील्हाके अनुरोधसे कवि तेजपालने उक्त सम्भवनाथ चरितकी रचना की है। ग्रन्थमें रचनाकालका कोई समुल्लेख नहीं है, भट्टारकोंकी नामावली जो ऊपर दी गई है उनमें सबसे अन्तिम नाम भट्टारक गुणभद्रका है, जो भट्टारक मलयकीर्तिके शिष्य थे, और सं० १५०० के बाद किसी समय पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे, उनका समय विक्रमकी १५ वीं शताब्दीका अन्तिम चरण और सोलहवीं शताब्दीका प्रारम्भिक काल जान पड़ता है।

इस ग्रन्थकी एक प्रति सं० १५८३ को लिखी हुई ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन ब्यावरमें मौजूद है. जिससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थका रचनाकाल उक्त सं० १५८३ से बादका नहीं है यह सुनिश्चित है, किन्तु वह उससे कितने पूर्वका है यह ऊपरके कथनसे स्पष्ट हो है, अर्थात् यह ग्रन्थ संभवतः १५०० के आस पासकी रचना है।

इनकी दूसरी कृति 'वरांगचरिउ' है। यह ग्रन्थ नागौरके भट्टारकीय शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। उसमें चार संधियाँ हैं। यह ग्रंथ इस समय सामने नहीं है, इस कारण उसके सम्बन्धमें अभी कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

३ सुकमालचरिउ—इस ग्रंथके कर्ता मुनि पूर्णभद्र हैं जो मुनि गुणभद्रके प्रशिष्य और कुसुमभद्रके शिष्य थे। यह गुजरात देशके 'नागर मंडल' नामक नगरके निवासी थे। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुनि पूर्णभद्रने अपनी गुरु परम्पराका उल्लेख करते हुए निम्न मुनियोंके नाम दिये हैं। वीरसूरि, मुनिभद्र, कुसुमभद्र, गुणभद्र, और पूर्णभद्र। ग्रन्थकर्ताने अपनेको शीलादिगुणोंसे अलंकृत और 'गुण-समुद्र' बतलाया है।

इनकी एकमात्र कृति 'सुकमालचरिउ' है. जिसमें अवन्तीके राजा सुकमालका जीवन परिचय छह सन्धियों अथवा परिच्छेदोंमें दिया हुआ है जिससे मालूम होता है कि वे जितने सुकोमल थे, परीषहों तथा उपसर्गोंके जीतनेमें उतने ही कठोर एवं गम्भीर थे और उपसर्गादिक कष्टोंके सहन करनेमें दक्ष थे। ग्रन्थमें उसका रचनाकाल दिया हुआ नहीं है जिससे निश्चयतः यह कहना कठिन है कि यह ग्रंथ कब बना? आमेर भण्डारकी इस प्रतिमें लेखक पुष्पिका वाक्य नहीं है। किन्तु देहली पंचायती मन्दिरकी प्रति सं० १६३२ की लिखी हुई है और इसकी पत्र संख्या ४३ है। जिससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ सं० १६३२ से पूर्व की रचना है कितने पूर्वकी यह अभी अन्वेषणीय है।

४ सिरिपाल चरिउ—इस ग्रन्थके कर्ता कवि नरसेन हैं कविने इस ग्रन्थमें अपना कोई परिचय नहीं दिया और न ग्रन्थका रचनाकाल ही दिया है, जिससे उस पर विचार किया जा सकता। इस ग्रन्थकी एक प्रति संवत् १५१२ चैत्रवदि ११ मंगलवारका रावर पत्तनके राजाधिराज डूंगरसिंहके राज्यकालमें बलात्कारगण सरस्वति गच्छके भट्टारक शुभचन्द्रके शिष्य एवं पट्टधर भट्टारक जिनचन्द्रके समयमें लिखी गई है। भ० जिनचन्द्रका पट्टसमय सं० १५०७ पट्टावलियोंमें पाया जाता है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस ग्रन्थका निर्माण सं० १५ २ से पूर्व हुआ है. परन्तु पूर्व सीमा अभी अनिश्चित है। ग्रन्थमें दो सन्धियाँ हैं जिनमें श्रीपाल नामक राजाका चरित्र और सिद्धचक्रव्रतके महत्वका दिग्दर्शन कराया गया है।

इनकी दूसरी कृति 'जिनरत्तिविहाणकहा' नामकी है, जिसमें शिवरात्रिके ढंग पर 'वीरजिननिर्वाणरात्रिकथा' को जन्म दिया गया है और उसकी महत्ता घोषित की गई है। यह एक छोटा सा खण्ड ग्रन्थ है जो भट्टारक महेन्द्रकीर्तिके आमेर के भण्डारमें सुरक्षित है।

५-६ णेमिणाहचरिउ, चंदप्पहचरिउ—इन दोनों ग्रन्थोंके कर्ता जिनदेवके सुत कवि दामोदर हैं। ये दोनोंही ग्रन्थ नागौर भण्डारमें सुरक्षित हैं, ग्रन्थ सामने न होने से इस समय इनका विशेष परिचय देना सम्भव नहीं है।

७ मल्लिनाथकाव्य—इस ग्रन्थके कर्ता मूलसंघके भट्टारक प्रभाचन्द्रके प्रशिष्य और भट्टारक पद्मनन्दिके शिष्य कवि जयमित्रहल या कवि हरिचन्द्र हैं जो सहदेवके पुत्र थे यह ग्रन्थ अभीतक अपूर्ण है। आमेर भंडारने इसकी एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ प्रतिमें शुरूके चार पत्र नहीं हैं और अन्तिम १२२ वां पत्र भी नहीं है। ग्रन्थकी उपलब्ध प्रशस्तिमें उसका रचना काल भी दिया हुआ नहीं है जिससे कवि हरिचन्द्रका समय निश्चित किया जा सके। यह ग्रंथ पुहम (पृथ्वी) देशके राजाके राज्यमें आल्हासाहुके अनुरोधसे बनाया गया था। आल्हासाहुके ४ पुत्र थे जिन्होंने इस ग्रंथको लिखाकर प्रसिद्ध किया है।

इनकी दूसरी कृति 'वड्ढमाणकव्व अथवा श्रेणिक चरित है। यह ग्रन्थ ११ सन्धियोंमें पूर्ण हुआ है जिसमें जैनियोंके चौबीसवें तीर्थंकर महावीर और तत्कालीन मगधदेशके सम्राट् बिम्बसार या श्रेणिकका चरित वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थको देवरायके पुत्र संघाधिप होलिवम्मु' के अनुरोधसे बनाया गया है और उन्हींके कर्णाभरण किया गया है। इस ग्रन्थकी कई प्रतियाँ कई शास्त्र भंडारोंमें पाई जाती हैं। इस ग्रंथमें भी रचनाकाल दिया हुआ नहीं है। यह प्रति जैन सिद्धान्त भवन आराकी है संवत् १६०० की लिखी हुई है जिससे इस ग्रन्थकी उत्तरावधि तो निश्चित है कि वह १६०० से पूर्व रचा गया है।

चूंकि ग्रन्थ कर्ताके गुरु भट्टारक पद्मनन्दि हैं जो भट्टारक प्रभाचन्द्रके पट्टधर × थे जैसा कि 'मल्लिनाथचरिउ' की अन्तिम प्रशस्तिके निम्न वाक्यसे प्रकट है जिसमें पद्मनन्दिको प्रभाचन्द्रके पट्टधर होनेका स्पष्ट उल्लेख है:—

'सुणि पहचंद पट्ट सु पहावया, पउमणंदि गुरु विरिय उपावया।'

जिनका समय विक्रमकी १४ वीं शताब्दीका अन्तिम चरण और १५ वीं शताब्दीका प्रारम्भिक समय है; क्योंकि पट्टावलियोंमें पद्मनन्दीके गुरु प्रभाचन्द्रके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेका समय संवत् १३७५ बतलाया गया है।

पद्मनन्दी मूलसंघ, नन्दिसंघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके विद्वान थे। यह उस समयके अत्यन्त प्रभावशाली विद्वान भट्टारक थे। इनकी कई कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। जिनमें पद्मनन्दिश्रावकाचार प्रमुख है, दूसरी कृति 'भावन पद्धति' जिसका दूसरा नाम 'भावनाचतुस्त्रिंशतिका', तीसरी कृति वर्धमान चरित' है जो संवत् १५१२ फाल्गुण सुदि सप्तमीका लिखा हुआ है और गोपीपुरा सूरतके शास्त्रभंडारमें सुरक्षित है। इनके सिवाय 'जीरापल्ली' 'पार्श्वनाथ स्तवन' और अनेक स्तवन, पद्मनन्दि मुनिके द्वारा बनाए हुए उपलब्ध हुए हैं। इनके अनेक शिष्य थे, जिनमें अनेक शिष्य तो बड़े कवि और ग्रन्थ कर्ता हुये हैं। जिनमें भ० सकलकीर्ति और भ० शुभचन्द्रके नाम उल्लेखनीय हैं। इनके एक शिष्य विशालकीर्ति भी थे जिनके द्वारा सं० १४७० में प्रतिष्ठित २६ मूर्तियाँ टोंक

× श्रीमत्प्रभाचन्द्रमुनीन्द्रपट्टे शश्वत्प्रतिष्ठा प्रतिभा गरिष्ठः।
विशुद्धसिद्धान्तरहस्यरत्नरत्नाकरो नन्दतु पद्मनन्दी
—विजोलिया शिलालेख

हंसो ज्ञानमरालिका समसमाश्लेषप्रभूताद्भुता—
नन्दं क्रीडति मानसेति विशदे यस्यानिशं सर्वतः।
स्याद्वादामृतसिन्धुवर्धनविधौ श्रीमत्प्रभेन्दुप्रभाः,
पट्टे सूरिमतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥१॥
महाव्रतपुरन्दरः प्रशमदग्ध रागाङ्कुरः।
स्फुरत्परमपौरुषः स्थितिरशेषशास्त्रार्थवित्।
यशोभरमनोहरी कृतसमस्तविश्वम्भरः,
परोपकृतितत्परो जयति पद्मनन्दीश्वरः॥
—शुभचन्द्र गुर्वावली

राजस्थानमें प्राप्त हुई हैं⁂। इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि उक्त दोनोंके कर्ता कवि हरिचन्द या जयमित्रहल विक्रमकी १५ वीं शताब्दीके प्रारम्भिक विद्वान हैं।

८ आराधनासार—इस ग्रन्थके कर्ता कवि वीर हैं वे कब हुए हैं और उनकी गुरु परम्परा क्या है? यह ग्रन्थ परसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। यह वीर कवि 'जम्बूस्वामी चरित' के कर्तासे संभवतः भिन्न जान पड़ते हैं जिसका रचनाकाल विक्रम संवत् १०७६ है प्रस्तुत ग्रन्थमें दर्शन ज्ञान, चारित्र, और तप रूप चार आराधनाओंका स्वरूप २० कडवकोंमें बतलाया गया है। जो आमेर भंडारके एक बड़े गुटकेमें पत्र ३३३ से ३३८ तक दिया हुआ है।

इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थ अपभ्रंश भाषाके रास अथवा 'रास' नामसे सूचियोंमें दर्ज मिलते हैं, परन्तु उनके अवलोकनका अवसर न मिलनेसे यहाँ परिचय नहीं दिया जा सका।

९ दोहानुप्रेक्षा—इस अनुप्रेक्षा ग्रन्थके कर्ता ग्रन्थ प्रतिमें लक्ष्मीचन्द्र बतलाए गये हैं, परन्तु उनकी गुरु परम्पराका कोई परिज्ञान नहीं हो सका। ग्रन्थमें ४७ दोहे हैं जिनमें १२ भावनाओंके अतिरिक्त अध्यात्मका संक्षिप्त वर्णन दिया हुआ है। यह ग्रंथ अनेकान्तकी इसी किरणमें अन्यत्र दिया जा रहा है।

दिगम्बर शास्त्रभण्डारोंमें अभी सहस्रों ग्रन्थ पड़े हुए हैं जिनके देखने या नोट करनेका कोई अवसर ही नहीं आया है। जैन समाजका इस ओर कोई लक्ष्य भी नहीं है। खेद है कि इस उपेक्षा भावसे अनेक बहुमूल्य कृतियाँ नष्ट हो गई हैं और हो रही हैं। क्या समाजके साधर्मी भाई अब भी अपनी उस गाढ़ निद्राको दूर करनेका यत्न करेंगे।

—सरसावा (सहारनपुर), ता० १२-११-५१

⁂ संवत् १५०० ज्येष्ट सुदि ११ गुरौ श्रीमूलसंघे गुणे (गच्छे) कोकगण उद्धारक श्री प्रभाचन्द्रदेवः (तत्) पट्टे पद्मनन्दि देवाः शिष्यः वशालकीर्तिदेवः तयोरुपदेशेन महासंघ खंडेलवाल गंमवाल गोत्रस्य लेता भार्या सिवासिरी तयो पुत्र धर्मा भार्या जलू तयो पुत्रत्रयः सा० भोजा, राजा, देढू प्रणमंति [नित्यम्]।

संस्कृत साहित्यके विकासमें जैन विद्वानोंका सहयोग

(डा० मंगलदेव शास्त्री, एम. ए., पी. एच. डी.)

भारतीय विचारधाराकी समुन्नति और विकासमें अन्य आचार्योंके समान जैन आचार्यों तथा ग्रन्थकारोंका जो बड़ा हाथ रहा है उससे आजकलकी विद्वानमंडली साधारणतया परिचित नहीं है। इस लेखका उद्देश्य यही है कि उक्त विचार-धाराकी समृद्धिमें जो जैन विद्वानोंने सहयोग दिया है उसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाय। जैन विद्वानोंने प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल आदि भाषाओंके साहित्यकी तरह संस्कृत भाषाके साहित्यकी समृद्धिमें बड़ा भाग लिया है। सिद्धान्त, आगम, न्याय, व्याकरण, काव्य, नाटक, चम्पू, ज्योतिष आयुर्वेद, कोष, अलंकार, छन्द, गणित, राजनीति, सुभाषित आदिके क्षेत्रमें जैन लेखकोंकी मूल्यवान संस्कृत रचनाएँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार खोज करने पर जैन संस्कृत साहित्य विशालरूपमें हमारे सामने उपस्थित होता है। उस विशाल साहित्यका पूर्ण परिचय कराना इस अल्पकाय लेखमें संभव नहीं है। यहाँ हम केवल उन जैन रचनाओंकी सूचना देना चाहते हैं जो महत्वपूर्ण हैं। जैन सैद्धान्तिक तथा आरंभिक ग्रन्थोंकी चर्चा हम जानबूझकर छोड़ रहे हैं।

जैन न्याय—

जैनन्यायके मौलिक तत्वोंको सरल और सुबोधरीतिसे प्रतिपादन करने वाले मुख्यतया दो ग्रन्थ हैं। प्रथम अभिनव धर्मभूषणयति-विरचित न्यायदीपिका, दूसरा माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख, न्यायदीपिकामें प्रमाण और नयका बहुत ही स्पष्ट और व्यवस्थित विवेचन किया गया है। यह एक प्रकरणात्मक संक्षिप्त रचना है जो तीन प्रकाशोंमें समाप्त हुई है।

गौतमके न्यायसूत्र' और दिग्नागके 'न्यायप्रवेश' की तरह माणिक्यनन्दिका 'परीक्षामुख' जैन न्यायका सर्व प्रथम सूत्र ग्रंथ है। यह छः परिच्छेदोंमें विभक्त है और समस्तसूत्र संख्या २०७ है। यह नवमी शतीकी रचना है और इतनी महत्वपूर्ण है कि उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंने इसपर अनेक विशालटीकाएँ लिखी हैं आचार्य प्रभाचन्द्र [७८०-१०६५ ई०] ने इस पर बारह हजार श्लोक परिमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक विस्तृत टीका लिखी है। १२वीं शतीके लघुअनन्तवीर्यने इसी ग्रन्थ पर एक 'प्रमेयरत्नमाला' नामक विस्तृत टीका लिखी है। इसकी रचना-शैली इतनी विशद और प्राञ्जल है और इसमें वर्णित किया गया प्रमेय इतने महत्वका है कि आचार्य हेमचन्द्रने अनेक स्थलोंपर अपनी 'प्रमाणमीमांसा' में इसका शब्दशः और अर्थशः अनुकरण किया है। लघु अनन्तवीर्यने तो माणिक्यनन्दीके परीक्षामुखको अकलङ्कके वचनरूपी समुद्रके मन्थनसे उद्भूत न्यायविद्यामृत[1] बतलाया है।

उपर्युक्त दो मौलिक ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य प्रमुख न्यायग्रन्थोंका परिचय देना भी यहाँ अप्रासंगिक न होगा। अनेकान्तवादको व्यवस्थित करनेका सर्वप्रथम श्रेय स्वामी समन्तभद्र, (द्वि० या तृ० शती ई०) और सिद्धसेन दिवाकर (छठी शती ई०) को प्राप्त है स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन महत्व पूर्ण कृतियां हैं। आप्त मीमांसामें एकान्तवादियोंके मन्तव्योंकी गम्भीर आलोचना करते हुए आप्तकी मीमांसा की गई है और युक्तियोंके साथ स्याद्वाद सिद्धान्तकी व्याख्या की गई है। इसके ऊपर भट्टाकलंक (६२०-६८० ई०) का अष्ट शती विवरण उपलब्ध है तथा आचार्य विद्यानंदि (९वीं श. ई०) का 'अष्टसहस्री' नामक विस्तृत भाष्य और वसुनन्दिकी (देवागम वृत्ति) नामक टीका प्राप्य है। युक्त्यनुशासनमें जैन शासनकी निर्दोषता सयुक्तिक सिद्ध की गई है। इसी प्रकार सिद्धसेनदिवाकर द्वारा अपनी स्तुति प्रधान बत्तीसियोंमें और महत्वपूर्ण सम्मतितर्कभाष्यमें बहुतही स्पष्ट रीतिसे तत्कालीन प्रचलित एकान्तवादोंका स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ किया गया समन्वय दिखलाई देता है।

भट्टाकलङ्कदेव जैन न्यायके प्रस्थापक माने जाते हैं और इनके पश्चाद्भावी समस्त जैनतार्किक इनके द्वारा व्यवस्थित न्याय मार्गका अनुसरण करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी अष्टशती, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह बहुत ही महत्वपूर्ण दार्शनिक रचनाएँ हैं। इनकी समस्तरचनाएँ जटिल और दुर्बोध

---

1. 'अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥'
'प्रमेयरत्नमाला' पृ० २

हैं। परन्तु वे इतनी गम्भीर हैं कि उनमें 'गागरमें सागर' की तरह पदे-पदे जैन दार्शनिक तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है।

आठवीं शतीके विद्वान आचार्य हरिभद्रकी 'अनेकांत जयपताका' तथा षट्दर्शन समुच्चय मूल्यवान और सारपूर्ण कृतियाँ हैं। ईसाकी नवीं शतीके प्रकाण्ड आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, आदि रचनाओंमें भी एक विशाल किन्तु आलोचना पूर्ण विचारराशि बिखरी हुई दिखलाई देती है। इनकी प्रमाणपरीक्षा नामक रचनामें विभिन्न प्रामाणिक मान्यताओंकी आलोचना की गई है और अकलङ्क सम्मत प्रमाणोंका सयुक्तिक समर्थन किया गया है। सुप्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्र आचार्यने अपने दीर्घकाय प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें जैन प्रमाण शास्त्रसे सम्बन्धित समस्त विषयोंकी विस्तृत और व्यवस्थित विवेचना की है। तथा ग्यारवीं शतीके विद्वान अभय देवने सिद्धसेन दिवाकर कृत सन्मतितर्ककी टीकाके व्याजसे समस्त दार्शनिक वादोंका संग्रह किया है। बारवीं शतीके विद्वान् वादी देवराज सूरिका स्याद्वादरत्नाकर भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। तथा कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा भी जैन न्यायकी एक अनूठी रचना है।

उक्त रचनाएँ नव्य न्यायकी शैलीसे एक दम अस्पष्ट है। हाँ, विमलदासकी सप्तभंगतरंगिणी और वाचक यशोविजयजी द्वारा लिखित अनेकान्तव्यवस्था शास्त्रवार्तासमुच्चय तथा अष्टसहस्रीकी टीका अवश्य ही नव्य न्यायकी शैल से लिखित प्रतीत होती हैं।

व्याकरण—आचार्य पूज्यपाद (वि छटीं श०) का 'जैनेन्द्रव्याकरण' सर्वप्रथम जैनव्याकरण माना जाता है। महाकवि धनञ्जय (८ वीं शती) ने इसे अपश्चिमरत्न[१] बतलाया है। इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित टीकाएँ उपलब्ध हैं:—

(१) अभयनन्दिकृत महावृत्ति (२) प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर (३ आचार्य श्रुतकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया, (४) पं० महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र।

प्रस्तुत जैन व्याकरणके दो प्रकारके सूत्र पाठ पाये जाते हैं। प्रथम सूत्रपाठके दर्शन ऊपरि लिखित चार टीकाग्रंथोंमें होते हैं और दूसरे सूत्रपाठके शब्दार्णवचन्द्रिका तथ शब्दार्णवप्रक्रियामें। पहले पाठमें ३००० सूत्र हैं। यह सूत्रपाठ पाणिनीयकी सूत्र पद्धतिके समान है। इसे सर्वाङ्ग सम्पन्न बनानेकी दृष्टिसे महावृत्तिमें अनेक वार्तिक और उपसंख्याओंका निवेश किया गया है। दूसरे सूत्रपाठमें ३७०० सूत्र हैं। पहले सूत्रपाठकी अपेक्षा इसमें ७०० सूत्र अधिक हैं और इसी कारण इसमें एक भी वार्तिक आदिका उपयोग नहीं हुआ है। इस संशोधित और परिवर्द्धित संस्करणका नाम शब्दार्णव है। इसके कर्ता गुणनन्दि (वि० १० श०) आचार्य है। शब्दार्णव पर भी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं:—(१) शब्दार्णवचन्द्रिका और (२) शब्दार्णव प्रक्रिया। शब्दार्णवचन्द्रिका सोमदेव मुनिने वि० सं० १२६२ में लिख कर समाप्त की है और शब्दार्णवप्रक्रियाकार भी बारवीं[२] शती चारुकीर्ति पण्डिताचार्य अनुमानित किये गये हैं।

महाराज अमोघवर्ष (प्रथम) के समकालीन शाकटायन या पाल्यकीर्तिका शाकटायन (शब्दानुशासन) व्याकरण भी महत्वपूर्ण रचना है। प्रस्तुत व्याकरण पर निम्नाङ्कित सात टीकाएँ उपलब्ध हैं—

(१) अमोघवृत्ति—शाकटायनके शब्दानुशासन पर स्वयं सूत्रकार द्वारा लिखी गयी यह सर्वाधिक विस्तृत और महत्वपूर्ण टीका है। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षको लक्ष्यमें रखते हुए ही इसका उक्त नामकरण किया गया प्रतीत होता है (२) शाकटायनन्यास अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा विरचित यह न्यास है। इसके केवल दो अध्याय ही उपलब्ध हैं। (३) चिंतामणि टीका (लघीयसीवृत्ति) इसके रचयिता यक्षवर्मा हैं और अमोघवृत्तिको संक्षिप्त करके ही इसकी रचना की गयी है। (४) मणिप्रकाशिका—इसके कर्ता अजितसेनाचार्य हैं। (५) प्रक्रियासंग्रह—भट्टोजीदीक्षितकी सिद्धांतकौमुदीकी पद्धति पर लिखी गयी यह एक प्रक्रिया टीका है, इसके कर्ता अभयचन्द्र आचार्य हैं। (६) शाकटायन टीका—

१ प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणं।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥
—धनंजयनाममाला

२ जैन साहित्य और इतिहास (पं० नाथूराम प्रेमी) का 'देवनन्दि और' उनका जैनेन्द्रव्याकरण' शीर्षक निबन्ध।

भावसेन१ त्रैविद्यदेवने इसकी रचना की है यह कातन्त्र रूपमाला टीकाके भी रचयिता हैं। (७) रूपसिद्धि—लघु-कौमुदीके समान यह एक अल्पकाय टीका है। इसके कर्ता दयापाल वि० ११ वीं श०) मुनि हैं।

आचार्य हेमचन्द्रका सिद्धहेम शब्दानुशासन भी महत्त्व पूर्ण रचना है। यह इतनी आकर्षक रचना रही है कि इसके आधार पर तैयार किये गये अनेक व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक जैन व्याकरण ग्रंथ जैनाचार्योंने लिखे हैं और अनेक जैनेतर व्याकरण ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ भी लिखी हैं। पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक एक न्यास लिखा था जो सम्प्रति अप्राप्य है। और जैनाचार्यों द्वारा सारस्वत व्याकरण पर लिखित विभिन्न बीस टीकाएँ आज भी उपलब्ध हैं*।

शर्ववर्मका कातंत्रव्याकरण भी एक सुबोध और संक्षिप्त व्याकरण है तथा इस पर भी विभिन्न चौदह टीकाएँ प्राप्य हैं।

अलङ्कार

अलङ्कार विषयमें भी जैनाचार्योंकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं। हेमचन्द्र और वाग्भटके काव्यानुशासन तथा वाग्भटका वाग्भटालंकार महत्त्वकी रचनाएँ हैं अजितसेन आचार्यकी अलंकार चिन्तामणि और अमरचन्द्रकी काव्य-कल्पलता बहुत ही सफल रचनाय हैं।

जैनेतर अलंकार शास्त्रों पर भी जैनाचार्योंकी तिपय टीकाएँ पायी जाती हैं। काव्यप्रकाशके ऊपर भानुचन्द्रगणि जयनन्दिसूरि और यशोविजयगणि (तपागच्छ) की टीकाए उपलब्ध हैं। इसके सिवा, दण्डीके काव्यादर्श पर त्रिभुवन चन्द्रकृत टीका पायी जाती है और रुद्रटके काव्यालङ्कार पर नमिसाधु (११२५ वि०सं०) के टिप्पण भी सारपूर्ण हैं।

नाटक—

नाटकीय साहित्यसृजनमें भी जैन साहित्यकारोंने अपनी प्रतिभाका उपयोग किया है। उभय-भाषा-कवि-चक्रवर्ति हस्तिमल्ल (१३ वीं श०) के विक्रांतकौरव, जयकुमार सुलोचना) सुभद्राहरण और अंजनापवनंजय उल्लेखनीय नाटक हैं। आदिके दो नाटक महाभारतीय कथाके आधारपर रचे गये हैं और उत्तरके दो रामकथाके आधारपर। हेमचन्द्र आचार्यके शिष्य रामचन्द्रसूरिके अनेक नाटक उपलब्ध हैं जिनमें नलविलास, सत्यहरिश्चंद्र, कौमुदी मित्रानंद, राघवाभ्युदय, निर्भयभीमव्यायोग आदि नाटक बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्णमिश्रके 'प्रबोध चंद्रोदय' की पद्धतिपर रूपकात्मक (Allegorical) शैलीमें लिखा गया यशपाल (१३ वीं शती०) का 'मोहराज पराजय' एक सुप्रसिद्ध नाटक है। इसी शैलीमें लिखे गये वादिचन्द्रसूरिकृत ज्ञानसूर्योदय तथा यशश्चंद्रकृत मुद्रितकुमुदचंद्र असाम्प्रदायिक नाटक हैं। इनके अतिरिक्त जयसिंहका हम्मीरमद-मर्दन नामक एक ऐतिहासिक नाटक भी उपलब्ध है।

काव्य—

जैन काव्य-साहित्य भी अपने ढंगका निराला है। काव्य साहित्यसे हमारा आशय गद्य काव्य, महा काव्य, चरित्रकाव्य, चम्पूकाव्य, चित्रकाव्य और दूतकाव्योंसे है। गद्यकाव्यमें तिलकमंजरी (६७० ई०) और ओडयदेव (वादीभसिंह ११ वीं सदी) की गद्यचिन्तामणि महाकवि बाणकृत कादम्बरीके जोड़की रचनाएँ हैं।

महाकाव्यमें हरिचंद्रका धर्मशर्माभ्युदय, वीरनन्दिका चन्द्रप्रभचरित अभयदेवका जयन्तविजय, अर्हद्दासका मुनिसुव्रत काव्य, वादिराजका पार्श्वनाथचरित्र, वाग्भटका नेमिनिर्वाणकाव्य मुनिचन्द्रका शान्तिनाथचरित और महासेनका प्रद्युम्नचरित्र, आदि उत्कृष्ट कोटिके महाकाव्य तथा काव्य हैं। चरित्र काव्यमें जटासिंहनन्दिका वराङ्गचरित, रायमल्लका जम्बूस्वामीचरित्र, असग कविका महावीर चरित, आदि उत्तम चरित काव्य माने जाते हैं।

चम्पू काव्यमें आचार्य सोमदेवका यशस्तिलकचम्पू (वि० १०१६) बहुत ही ख्याति प्राप्त रचना है। अनेक विद्वानोंके विचारमें उपलब्ध संस्कृत साहित्यमें इसके जोड़ का एकभी चम्पू काव्य नहीं है। हरिश्चन्द्र महाकविका जीवन्धरचम्पू तथा अर्हद्दासका पुरुदेवचम्पू (१३वीं शती) भी उच्च कोटिकी रचनाएँ हैं। चित्रकाव्यमें महाकवि धनंजय (८ वीं श०) का द्विसन्धान शान्तिराजका पञ्चसंधान, हेमचन्द्र तथा मेघविजयगणीके सप्तसन्धान, जगन्नाथ (१६६६ वि० सं०) का चतुर्विंशति सन्धान तथा

---

१ जिनरत्नकोश (भ० ओं० रि० इ० पूना)

* जिनरत्नकोश (भ० ओं० रि० इ०, पूना)।

जिनसेनाचार्यका पार्श्वाभ्युदय उत्तम कोटिके चित्र काव्य हैं।

दूत काव्यमें मेघदूतकी पद्धति पर लिखे गये वादिचन्द्रका पवनदूत, चारित्र सुन्दरका शीलदूत, विनयप्रभका चन्द्रदूत, विक्रमका नेमिदूत और जयतिलकसूरिका धर्मदूत उल्लेखनीय दूत-काव्य हैं।

इनके अतिरिक्त चन्द्रप्रभसूरिका प्रभावक चरित, मेरुतुङ्गकृत प्रबन्ध चिन्तामणि (१३०६ ई०) राजशेखर का प्रबन्ध कोष (१३४२ ई०) आदि प्रबन्ध काव्य ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़ेही महत्व पूर्ण हैं।

छन्द शास्त्र—

छन्द शास्त्र पर भी जैन विद्वानोंकी मूल्यवान रचनाएँ उपलब्ध हैं। जयकीर्ति (११९२) का स्वोपज्ञ छन्दोऽनुशासन तथा आचार्य हेमचन्द्रका स्वोपज्ञ छन्दोऽनुशासन महत्वकी रचनाएँ हैं। जयकीर्तिने अपने छन्दोऽनुशासनके अन्तमें लिखा है कि उन्होंने मायडव्य, पिङ्गल, जनाश्रय, सैतव, श्रीपूज्यपाद और जयदेव आदिके छन्दशास्त्रोंके आधारपर अपने छन्दोऽनुशासनकी रचना की है१। वाग्भटका छन्दोऽनुशासन भी इसी कोटिकी रचना है और इस पर इनकी स्वोपज्ञ टीका भी है। राजशेखरसूरि (११४६ वि०) का छन्दःशेखर और रत्नमंजूषा भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

इसके अतिरिक्त जैनेतर छन्दः शास्त्र पर भी जैनाचार्योंकी टीकाएं पायी जाती हैं। केदारभट्टके वृत्तरत्नाकर पर सोमचन्द्रगणी, क्षेमहंसगणी, समयसुन्दरउपाध्याय, आसड और मेरुसुन्दर आदिकी टीकायें उपलब्ध हैं। इसी प्रकार कालिदासके श्रुतबोध पर भी हर्षकीर्ति, और कांतिविजयगणीकी टीकाएँ प्राप्य हैं। संस्कृत भाषाके छन्द-शास्त्रोंके सिवा प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके छंदशास्त्रों पर भी जैनाचार्योंकी महत्वपूर्ण टीकाएँ उपलब्ध हैं।

कोश—

कोशके क्षेत्रमें भी जैन साहित्यकारोंने अपनी लेखनीका यथेष्ट कौशल प्रदर्शित किया है। अमरसिंहगणीकृत अमरकोष संस्कृतज्ञ समाजमें सर्वोपयोगी और सर्वोत्तम कोष माना जाता है। उसका पठन-पाठनभी अन्य कोषोंकी अपेक्षा सर्वाधिक रूपमें प्रचलित है। धनञ्जयकृत धनञ्जय-नाममाला दो सौ श्लोकोंकी अल्पकाय रचना होने परभी बहुत ही उपयोगी है। प्राथमिक कक्षाके विद्यार्थियोंके लिये जैन समाजमें इसका खूब प्रचलन है।

अमरकोषकी टीका (व्याख्यासुधाख्या) की तरह इस पर भी अमरकीर्तिका एक भाष्य उपलब्ध है। इस प्रसङ्गमें आचार्य हेमचन्द्रविरचित अभिधानचिन्तामणि नाममाला एक उल्लेखनीय कोशकृति है। श्रीधरसेनका विश्वलोचनकोष, जिसका अपर नाम मुक्तावली है एक विशिष्ट और अपने ढंगकी अनूठी रचना है। इसमें ककारादि व्यंजनोंके क्रमसे शब्दोंकी संकलना की गयी है जो एकदम नवीन है।

मन्त्रशास्त्र—

मन्त्रशास्त्र पर भी जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं। विक्रमकी ११ वीं शतीके अन्त और बारवींके आदिके विद्वान मल्लिषेणका 'भैरवपद्मावतिकल्प, सरस्वतीमन्त्रकल्प और ज्वालामालिनीकल्प महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। भैरव पद्मावतिकल्पमें१ मन्त्रीलक्षण, सकलीकरण, देव्यर्चन, द्वादशरंजिकामन्त्रोद्धार, क्रोधादिस्तम्भन, अङ्गनाकर्षण, वशीकरणयन्त्र, निमित्तवशीकरणतन्त्र और गारुडमन्त्र नामक दस अधिकार हैं तथा इस पर बन्धुषेणका एक संस्कृत विवरण भी उपलब्ध है। ज्वालामालिनी कल्प नामक एक अन्य रचना इन्द्रनन्दिकी भी उपलब्ध है जो शक सं० ८६१ में मान्यखेटमें रची गयी थी। विद्यानुवाद या विद्यानुशासन नामक एक और भी महत्वपूर्ण रचना है जो २४ अध्यायोंमें विभक्त है। वह मल्लिषेणाचार्यकी कृति बतलायी जाती है परन्तु अन्तः परीक्षणसे प्रतीत होता है कि इसे मल्लिषेणके किसी उत्तरवर्ति विद्वानने ग्रथित किया है२। इनके अतिरिक्त हस्तिमल्लका विद्यानुवादाङ्ग तथा भक्तामरस्तोत्र मन्त्र भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

---

(१) माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सैतवाख्य,
श्रीपूज्यपाद-जयदेवबुधादिकानां।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि, सत्प्रयोगान्,
छन्दोनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम् ॥

१ इस ग्रन्थको श्री साराभाई मणिलाल नवाब अहमदाबादने सरस्वतीकल्प तथा अनेक परिशिष्टोंमें गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

२ जैन साहित्य और इतिहास (श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५१५।

सुभाषित और राजनीति—

सुभाषित और राजनीतिसे सम्बंधित साहित्यके सृजन-में जैन लेखकोंने पर्याप्त योगदान किया है। इस प्रसंगमें आचार्य अमितगतिका सुभाषित रत्नसन्दोह (१०५० वि०) एक सुन्दर रचना है इसमें सांसारिकविषयनिराकरण, मायाहंकारनिराकरण इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोष-विचार, देवनिरूपण आदि बत्तीस प्रकरण हैं। प्रत्येक प्रकरण बीस बीस, पच्चीस पच्चीस पद्योंमें समाप्त हुआ है। सोमप्रभकी सूक्तिमुक्तावली. सकलकीर्तिकी सुभाषिता-वली आचार्य शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव, हेमचन्द्राचार्यका योग शास्त्र आदि उच्च कोटिके सुभाषित ग्रन्थ हैं। इनमेंसे अन्तिम दोनों ग्रन्थोंमें योगशास्त्रका महत्वपूर्ण निरूपण है।

राजनीतिमें सोमदेवसूरिका नीतिवाक्यामृत बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। सोमदेवसूरिने अपने समयमें उपलब्ध होने वाले समस्त राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय साहित्यका मन्थन करके इस सारवत् नीतिवाक्यामृतका सृजन किया है। अतः यह रचना अपने ढंगकी मौलिक और मूल्यवान है।

आयुर्वेद

आयुर्वेदके सम्बन्धमें भी कुछ जैन रचानाएं उपलब्ध हैं। उग्रादित्यका कल्याणकारक, पूज्यपादवैद्यसार अच्छी रचनाएँ हैं। पण्डितप्रवर आशाधर (१३ वीं सदी) ने वाग्भट्ट या चरक संहितापर एक अष्टाङ्ग हृदयोद्योतिनी नामक टीका लिखी थी परन्तु सम्प्रति वह अप्राप्य है। चामुण्डरायकृत नरचिकित्सा, मल्लिषेणकृत बालग्रह चिकित्सा, तथा सोमप्रभाचार्यका रसप्रयोग भी उपयोगी रचनाएं हैं।

कला और विज्ञान

जैनाचार्योंने वैज्ञानिक साहित्यके ऊपर भी अपनी लेखनी चलायी। हंसदेव (१३ वीं सदी) का मृगपक्षी-शास्त्र एक उत्कृष्टकोटिकी रचना मालूम होती है। इसमें १०१२ पद्य हैं और इसकी एक पाण्डुलिप त्रिवेंद्रमके राजकीय पुस्तकागारमें सुरक्षित है। इसके अति-रिक्त चामुण्डरायकृत कूपजलज्ञान, वनस्पतिस्वरूप, विधानादि परीक्षाशास्त्र, धातुसार, धनुर्वेद रत्नपरीक्षा, विज्ञानार्णव आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय वैज्ञानिक रचनाएँ हैं।

ज्योतिष, सामुद्रिक तथा स्वप्नशास्त्र

ज्योतिष शास्त्रके सम्बन्धमें जैनाचार्योंकी महत्वपूर्ण रचनाएँ उपलब्ध हैं। गणित और फलित दोनों भागोंके ऊपर ज्योतिग्रंन्थ पाये जाते हैं। जैनाचार्योंने गणित ज्योतिष सम्बन्धि विषयका प्रतिपादन करनेके लिये पाटी-गणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति, गोलीय-रेखागणित, चापीय एवं वक्रीयत्रिकोणमिति, प्रतिभा-गणित, शृंगोन्नतिगणित, पंचांगनिर्माण गणित, जन्मपत्र-निर्माणगणित ग्रहयुति उदयास्तसम्बन्धी गणित एवं यन्त्रादिसाधनसम्बन्धितगणितका प्रतिपादन किया है।

जैन गणितके विकासका स्वर्णयुग छठवींसे बारवीं तक है। इस बीच अनेक महत्वपूर्ण गणित ग्रंथोंका प्रणयन हुआ है। इसके पहलेकी कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं है। कतिपय आगमिक ग्रन्थोंमें अवश्य गणित-सम्बन्धि कुछ बीजसूत्र आते हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति प्राकृतकी रचनायें होने पर भी जैन गणितकी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्राचीन रचनाएं हैं। इनमें सूर्य और चन्द्रसे तथा इनके ग्रह, तारा मण्डल आदिसे सम्बन्धित गणित तथा सिद्धान्तोंका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इनके अतिरिक्त महावीराचार्य (९वीं सदी) का गणितसारसंग्रह श्रीधरदेवका गणितशास्त्र, हेमप्रभसूरिका त्रैलोक्यप्रकाश और सिंहतिलकसूरिका गणिततिलक आदि ग्रन्थ सारगर्भित और उपयोगी हैं।

फलित ज्योतिषसे सम्बन्धित होराशास्त्र, संहिताशास्त्र, मुहूर्तशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र प्रश्नशास्त्र और स्वप्नशास्त्र आदि पर भी जैनचार्योंने अपनी रचनाओंमें पर्याप्त प्रकाश डाला है और मौलिक ग्रथ भी दिये हैं। इस प्रसंगमें चन्द्रसेन मुनिका केवलज्ञान होरा दामनंदिके शिष्य भट्टवो-सरिका आयज्ञानतिलक. चंद्रोन्मीलनप्रश्न, भद्रबाहुनिमित्त-शास्त्र, अर्घकाण्ड, मुहूर्तदर्पण. जिनपालगणीका स्वप्न-चिंतामणि आदि उपयोगी ग्रन्थ हैं।

जैसा ऊपर कहा गया है, इस लेखमें संस्कृत साहित्यके विषयमें जैनविद्वानोंके मूल्यवान सहयोगका केवल दिग्दर्शन ही कराया गया है। संस्कृत साहित्यके प्रेमियोंको उन आदरणीय जैन विद्वानोंका कृतज्ञ ही होना चाहिए। हमारा यह कर्तव्य है कि हम हृदयसे इस महान् साहित्यसे परिचय प्राप्त करें और यथा सम्भव उसका संस्कृत समाजमें प्रचार करें। (वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थसे)

दोहाणुपेहा

(कवि लक्ष्मीचंद)

पणविवि सिद्ध महारिसिहिं, जो परभावहं मुक्कु ।
परमाणंद परिठियउ, चउ-गइ-गमणहं चुक्कु ।। १ ।।
जइ बीहउ चउ-गइ-गमणु, तो जिणउत्तु करेहि ।
दो दह अणुवेहा मुणहि, लहु सिव-सुक्खु लहेहि ।।२।।
अद्धुय असरणु जिणु भणइं, संसारु वि दुह-खाणि ।
एकत्तुवि अण्णत्तु मुणि, असुइ सरीरु वियाणि ।।३
आसव संवर णिज्जर वि, लोया भावविसेसु ।
धम्मुवि दुल्लह बोहिजिय,, भावें गलइ किलेसु ।।४।।
जलबुब्बउ जोविउ चवलु, धणु जोव्वण तडि-तुल्लु ।
इसउ वियाणि वि मा गमहिं माणुस-जम्मु अमुल्लु ।।५।।
जइ णिच्चु वि जाणियइ, तो परिहरहिं अणिच्चु ।
तं कांइं णिच्चुवि मुणहिं, इम सुय केवलि वुत्तु ।।६
असरणु जाणहिं सयलु जिय, जीवहं सरणु ण कोइ ।
दंसण-णाण-चरित्तमउ, अप्पा अप्पउ जोइ ।।७
दसण-णाण-चरित्तमउ अप्पा सरणु मुणेइ ।
अण्णु ण सरणु वियाणि तुहुँ जिणवरु एम भणेइ ।।८।।
तइ लो उ वि महु मरणु बुहु, हउं कहु सरण हु जाम ।
इम जाणे विणु थिरु रहइ, जो तइ लोयकु साम ।।९।।
पंच पयारह परिभमइ पंचह बंधिउ सोइ ।
जाम ण अप्पु मुणेहि फुडु, एम भणंति हु जोइ ।।१०।।
इक्किल्लउ गुणगणनिलउ, बीयउ अत्थि ण कोइ ।
मिच्छादंसणु मोहियउ, चउगइ हिंडइं सोइ ।।११
जइ सद्दंसणु सो लहइ, तो परभाव चएइ ।
इक्किल्लउ सिव-सुहु लहइ, जिणवरु एम भणेइ ।।१२।।
अण्णु सरीरु मुणेहिं जिय, अप्पउ केवलि अण्णु ।
तो अणु विसयलु वि चयहि, अप्पा अप्पउ मण्णु ।। ३।।
जिम कट्ठह डहणहं मुणहिं वइसानरु फुडु होइ ।
तिम कम्मह डहणहं भविय, अप्पा अण्णु क होइ ।।१४
सत्त धाउमउ पुग्गलु वि, किमि-कुलु-असुइ निवासु ।
तहिं णाणिउं किमइं करइ, जो छंडइ तव पासु ।।१५।।
असुइ सरीरु मुणेहिं जइ, अप्पा णिम्मलु जाणि ।
तो असुइ वि पुग्गलु चयहिं,एम भणंति हु णाणि ।।१६।।
जो स-सहाव चए वि मुणि, परभावहिं परणेइ ।
सो आसउ जाणे हि तुहुं, जिणवर एम भणेइ ।।१७।।
आसउ संसारह मुणहिं, कारणु अण्णु ण कोइ ।
इम जाणे विणु जी तुहुँ, अप्पा अप्पउ जोइ ।।१८
जो परियाणइं अप्प-परु, जो परभाव चएइ ।
सो संवर जाणे वि तुहुँ, जिणवर एम भणेइ ।।१९।।
जइ जिय संवरु तुहु करहि, भो ! सिव सुक्खु लहेहिं ।
अण्णु वि सयलु परिच्चयहिं, जिणवर एम भणेहिं ।।२०।।
सहजाणंद परिट्ठियउं, जे परभाव ण लिंति ।
ते सुहु असुहु वि णिज्जरहिं, जिणवरु एम भणंति ।।२१।।
स-सरीरु वि तइलोउ मुणि, अण्णु ण बीयउ कोइ ।
जहिं आधार परिट्ठियउ, सो तुहुं अप्पा जोइ ।।२२।।
सो दुल्लह लाहु वि मुणहिं, जो परमप्पय लाहु ।
अण्णु ण दुल्लह किंपि तुहुँ, णाणी बोलहिं साहु ।।२३
पुणु पुणु अप्पा झाइयइ, मण-वय-काय-ति-सुद्धि ।
राय रोस-वे परिहरि वि, जइ चाहहि सिव-सिद्धि ।।२४।।
राय-रोम-जो परिहरि वि, अप्पा अप्पहिं जोइ ।
जिणसामिउ एमइ भणइं, सहजि उपज्जइ सोइ ।।२५।।
जो जोवइसो जोइयइ, अण्णु ण जोयहिं कोइ ।
इम जाणेविणु सम-रहं, सइं पहुँ पइयउं होइ ।। ६।।
को जोवइ को जोइयइ, अण्णु ण दीसइ कोइ ।
सो अखंडु जिण उत्तियउ, एम भणंतिहु जोइ ।।२७
जो सुण्णु वि सो सुण्णु मुण, अप्पा सुण्णु ण होइ ।
सल्लु सहावें ·रिहवइं, एम भणंति हु जोइ ।।२८
परमाणंद परिट्ठियहिं, जो उपज्जइ कोइ ।
सो अप्पा जोणेवि तुहुं, एम भणंति हु जोइ ।।२९।।
सुधु सहावें परिणवइ, परभावहं जिण उत्तु ।
अप्प सहावें सु-णु णवि, इम सुइ केवलि उत्तु ।।३०।।
अप्प सरूवहं लइ रहहि, छंडइ सयल-उपाधि ·
भणइं जाइ जोइहिं भणउ, जीवह एह समाधि ।।३१।।
सो अप्पा मुणि जीव तुहुं, केवलणाण सहावु ।
भणइ जोई जोईहि जिउ, जइ चाहहि सिवलाहु ।।३·
जोइय जोउ निवारि, समरसताइ परिट्ठियउ ।
अप्पा अण्णु विचारि, भणइं जोइहि भणिउ ।।३३
जोइ य जोयइ जीओ, जो जोइज्जइ सो जि तुहुं ।
अण्णु ण बीयउ कोइ, भणइं जोइ जोइहिं भणिउ ।३४

सोहं सोहं जि हउं, पुणु पुणु अप्पु मुणेइ ।
मोक्खहं कारणि जोइया, अण्णु म सो चिंतेइ ॥३५
धम्मु मुणिज्जहि इक्कु पर, जइ चेयण परिणामु ।
अप्पा अप्पउ झाइयइ, सो सासय-सुहु-धामु ॥३६
ताई भूप विडंवियओ, णो इत्थहि (णिव्वाणु ।
तो न समीहहि तत्तु तुहुं, जो तइलोय-पहाणु ॥३७
हत्थ अ दुट्ठ जु देवलि, तहि सिव संतु मुणेइ ।
मूढा देवलि देउ णवि, भुल्लउ काइं भमेइ ॥३८
जो जाणइ ति जाणियउ, अण्णु ण म जाणइ कोइ ।
धंधइ पडियउ सयल्लु जगु एम भणंति हु जोइ ॥३९॥
जो जाणइ सो जाणियइं यहु सिद्धंतहं सारु ।
सो झाइज्जइ इक्कु पर, जो तइलोयह सारु ॥४०॥
अज्झवसाण णिमित्ताइण, जो बंधिज्जइ कम्मु ।
सो मुच्चिज्जइ तो जि परु, जइ लब्भइ जिण धम्मु ॥४१
जो सुह-असुहु विवज्जयउ, सुद्ध सचेयण भाउ ।
सो धम्मु वि जाणेहिं जिय, णाणी बोल्लहि साहु ॥४२॥
वेयहं धारणु परिहरिउ, जासु पइट्ठइ भाउ ।
सो कम्मेण हि बंधयइं, जहिं भावइ तहिं जाउ ॥४३
सो दोहउ अप्पाण हो, अप्पा जो ण मुणेइ ।
सो झायंत हं परम पउ, जिणवरु एम भणेइ ॥४४
वउ-तउ-णियमु करंत यहं जो ण मुणइ अप्पाणु ।
सो मिच्छादिट्ठि हवइ णहु पावहि णिव्वाणु ॥४५
जो अप्पा णिम्मलु मुणइ, वय-तव-सील समाणु ।
सो कम्मक्खउ फुडु करइ, पावइ लहु णिव्वाणु ॥४६
ए अणुवेहा जिण भणय, णाणी बोलहिं साहु ।
ते ताविज्जहिं जीव तुहुँ, जइ चाहहि सिव-लाहु ॥४७॥

इति अणुवेहा

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी 'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक — परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

मार्च १९५४

यह चित्ताकर्षक मूर्ति श्रीसीमन्धरस्वामीकी है और राजकोटके नूतन जैनमन्दिरमें विराजमान है। इस मन्दिर और मूर्तिका निर्माण सोनगढ़के सन्त सत्पुरुष कानजी स्वामीकी प्रेरणासे हुआ है और उन्हींके द्वारा यह प्रतिष्ठित है। यात्रियोंको गिरनारजी जाते समय इस भव्यमूर्तिका दर्शन जरूर करना चाहिये।

सम्पादक-मण्डल
श्रीजुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
बा० छोटेलाल जैन M. R. A. S.
बा० जय भगवान जैन एडवोकेट
पण्डित डी. एस. जैतली
पं० परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त वर्ष १२
किरण १०

विषय-सूची

मेरीभावनाका नया संस्करण

जैनम्यूजियमकी आवश्यकता

देहलीमें किसी उचित स्थान पर एक जैन म्यूजियमकी अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें पुरातत्त्वकी दृष्टिसे सब सामग्री एकत्रित की जाय। आशा है समाज पूरा ध्यान देगा वरना वीरसेवामन्दिको इस कमीकी पूर्ति करनी चाहिए।

१८–३–५४]

—पन्नालाल जैन अग्रवाल

जैन आर्ट-गैलरी

दिल्लीमें किसी योग्य स्थानपर जैसे लाल मन्दिर या नई दिल्लीमें एक 'जैन आर्ट-गैलरी' की अत्यन्त आवश्यकता है। जिसमें जैन आर्टको सर्वोत्तमरूपसे प्रदर्शित किया जाय। समाजको इसपर विचारकर शीघ्रही कार्यरूपमें परिणत करना चाहिए। अथवा वीरसेवामन्दिर जो अपना भवन बनवानेका आयोजन करे उसे इस लक्ष्यकी ओर ध्यान देना चाहिए।

—पन्नालाल जैन अग्रवाल

ॐ अर्हम्

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १२ किरण १० | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
फाल्गुण वीर नि० संवत २४८०, वि० संवत २०१० | मार्च १९५४

भ० पद्मनन्दि-शिष्य-शुभचन्द्र-कृतम्

श्रीशारदास्तवनम्

सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्रवंद्या, या चर्चिता योगिजनैः पवित्रैः।
कवित्व-वक्तृत्व-फलाधिरूढां, सा शारदा मे वितनोतु बुद्धिम् ॥ १ ॥
शब्दागमैस्तर्पित-देववृन्दं, मायाक्षरी सार्वपथीनमार्गम्।
मंत्राक्षरैरर्चितदेहरूपमर्चन्ति ये त्वां भुवि वन्दनीयाम् ॥ २ ॥
या चक्षुषा ज्ञानमयेन वाणी, विश्वं पुनातीन्दुकलेव नित्यम्।
शब्दागमं भास्वति वर्तमानं, सा पातु वो हंसरथाधिरूढा ॥ ३ ॥
प्रमाण-सिद्धान्त-सुतत्त्वबोधाद्या संस्तुता योगि-सुरेन्द्रवृन्दैः।
तां स्तोतुकामोऽपि न लज्जयामि, पुत्रेषु मातेव हितापरा सा ॥ ४ ॥
नीहारहारोत्थितधौतवस्त्राम श्रीबीजमंत्राक्षर-दिव्यरूपाम्।
या गद्य-पद्यैःस्तवनैः पवित्रैस्त्वं स्तोतुकामो भुवने नरेन्द्रैः ॥ ५ ॥
अवश्यसेव्यं तव पादपद्मं ब्रह्मेन्द्र-चन्द्रार्क-हृदि स्थितं यः।
न दृश्यमानः कुरुते बुधानां ज्ञानं परं योगिनि योगिगम्यम् ॥ ६ ॥
कायेन वाचा मनसा च कृत्वा, न प्रार्थ्यते ब्रह्मपदं त्वदीयम्।
भक्तिं परां त्वच्चरणारविन्दे, कवित्वशक्तिं मयि देहि दीने ॥ ७ ॥
तव स्तुतिं यो वितनोतु वागि! वर्णाक्षरैरर्चितरूपमालाम्।
स गाहते पुण्य-पवित्र-मुक्तिमर्थागमं खण्डित-वादि-वृन्दम् ॥ ८ ॥
श्रीपद्मनन्दीन्द्र-मुनीन्द्र-पट्टे शुभोपदेशी शुभचन्द्रदेवः ॥
विदां विनोदाय विशारदायाः श्रीशारदायाः स्तवनं चकार ॥ ९ ॥

इतिश्रीशारदास्तवनम्।

जन्म-जाति-गर्वापहार

[कुछ अर्सा हुआ मुझे एक गुटका वैद्यश्री पं० कन्हैयालाल जी कानपुरसे देखनेको मिला था, जो २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है और जिसमें कुछ प्राकृत वैद्यक ग्रन्थों, निमित्त शास्त्रों, यंत्रों-मंत्रों तथा कितनी ही फुटकर बातोंके साथ अनेक सुभाषित पद्योंका भी संग्रह है। उसकी कतिपय बातोंको मैंने उस समय नोट किया था, जिनमेंसे दो एकका परिचय पहले 'अनेकान्त' के पाठकोंको दिया जा चुका है। आज उसके पृष्ठ २२३ पर उद्धृत दो सुभाषित पद्योंको भावानुवादके साथ पाठकोंके सामने रक्खा जाता है, जो कि जन्म-जाति-विषयक गर्वको दूर करनेमें सहायक हैं। —युगवीर]

कौशेयं कृमिजं सुवर्णमुपला [द्] दूर्वापि गोरोमतः

पंकात्तामरसं शशांकमु (उ) दधेरिंदीवरं गोमयात्।

काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणि र्गोपित्त गो (तो) रोचना,

प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छंति किं जन्मना ॥ १ ॥

जन्मस्थानं न खलु विमलं वर्णनीयो न वर्णो,

दूरे शोभा वपुषि नियता पंकशंकां करोति।

नूनं तस्याः सकलसुरभिद्रव्यगर्व्वापहारी

को जानीते परिमलगुणांकस्तु कस्तूरिकायाः। २ ॥

भावार्थ—उस रेशमको देखो जो कि कीड़ोंसे उत्पन्न होता है, उस सुवर्णको देखो जो कि पत्थरसे पैदा होता है, उस (मांगलिक गिनी जाने वाली हरी भरी) दूबको देखो जो कि गौके रोमोंसे अपनी उत्पत्तिको लिये हुए है, उस लाल कमल को देखो जिसका जन्म कीचड़से है, उस चन्द्रमाको देखो जो समुद्रसे (मन्थन-द्वारा) उद्भूत हुआ कहा जाता है, उस इन्दीवर (नीलकमल) को देखो जिसकी उत्पत्ति गोमयसे बतलाई जाती है। उस अग्निको देखो जो कि काठसे उत्पन्न होती है, उस मणिको देखो जो कि सर्पके फणसे उद्भूत होती है, उस (चमकीले पीतवर्ण) गोरोचनको देखो जो कि गायके पित्तसे तैयार होता अथवा बनता है, और फिर यह शिक्षा लो कि जो गुणी हैं—गुणोंसे युक्त हैं—वे अपने गुणोंके उदय-विकाशके द्वारा स्वयं प्रकाशको—प्रसिद्धि एवं लोकप्रियताको—प्राप्त होते हैं, उनके जन्मस्थान या जातिसे क्या ?—वे उनके उस प्रकाश अथवा विकाशमें बाधक नहीं होते। और इसलिए हीन जन्मस्थान अथवा जातिकी बातको लेकर उनका तिरस्कार नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥ इसी तरह उस कस्तूरीको देखो जिसका जन्मस्थान विमल नहीं किन्तु समल है—वह मृगकी नाभिमें उत्पन्न होती है, जिसका वर्ण भी वर्णनीय (प्रशंसाके योग्य) नहीं—वह काली कलूटी कुरूप जान पड़ती है। (इसीसे) शोभाकी बात तो उससे दूर वह शरीरमें स्थित अथवा लेपको प्राप्त हुई पंककी शंकाको उत्पन्न करती है—ऐसा मालूम होने लगता है कि शरीरमें कुछ कीचड़ लगा है; इतने पर भी उसमें सकल सुगन्धित द्रव्योंके गर्वको हरने वाला जो परिमल (सातिशायि गन्ध) गुण है उसके मूल्यको कौन आँक सकता है ? क्या उसके जन्म जाति या वर्णके द्वारा उसे आँका या जाना जा सकता है ? नहीं। ऐसी स्थितिमें जन्म-जाति कुल अथवा वर्ण जैसी बातको लेकर किसीका भी अपने लिये गर्व करना और दूसरे गुणीजनोंका तिरस्कार करना व्यर्थ ही नहीं किन्तु नासमझीका भी द्योतक है ॥ २ ॥

कविवर भूधरदास और उनकी विचार-धारा

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

हिन्दीभाषाके जैनकवियोंमें पं० भूधरदासजीका नाम भी उल्लेखनीय है। आप आगरेके निवासी थे और आपकी जाति थी खंडेलवाल। उन दिनों आगरा अध्यात्मविद्याका केन्द्र बना हुआ था। आगरेमें आने जाने वाले सज्जन उस समय वहां की गोष्ठीसे पूरा लाभ लेते थे। अध्यात्मचर्चाके साथ वहां आचार-मार्गका भी खासा अभ्यास किया जाता था, प्रतिदिन शास्त्रसभा होती थी, सामायिक और पूजनादि क्रियाओंके साथ आत्म-साधनाके मार्ग पर भी चर्चा चलती थी। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और पदार्थसंग्रहरूप पापोंकी निवृत्तिके लिये यथाशक्य प्रयत्न किया जाता था और बुद्धिपूर्वक उनमें प्रवृत्ति न करनेका उपदेश भी होता था, गोष्ठीके प्रायः सभी सदस्यगण उनका परिमाण अथवा त्याग यथाशक्ति करते थे, और यदि उनका त्याग करनेमें कुछ कचाई या अशक्ति मालूम होती थी तो पहले उसे दूर करनेका यथा साध्य प्रयत्न किया जाता था, उस आत्म निर्बलता (कमजोरी) को दूर कर करने की चेष्टा की जाती थी, और उनके त्यागकी भावनाको बलवती बनाया जाता था, तथा उनके त्यागका चुपचाप साधन भी किया जाता था। बाहरके लोगों पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ता था और वे जैनधर्मकी महत्तासे प्रेरित हो अपनेको उसकी शरणमें ले जानेमें अपना गौरव समझते थे।

जो नवागन्तुक भाई राज्यकार्यमें भाग लेते थे, वे रात्रिमें अवकाश होनेपर धर्मसाधनमें अपनेको लगानेमें अपना कर्तव्य समझते थे। उस समय धर्म और तज्जनित धार्मिक क्रिया-काण्ड बड़ी श्रद्धा तथा आत्म-विश्वासके साथ किये जाते थे, आजकल जैसी धार्मिक शिथिलता या अश्रद्धाका कहीं पर भी आभास नहीं होता था। श्रद्धालु धर्मात्माओंकी उस समय कोई कमी भी नहीं थी, पर आज तो उनकी संख्या अत्यन्त विरल दिखाई देती है। किन्तु लोकदिखावा करनेवाले या सौ-दोसौ रुपया देकर संगमरमरका फर्शादि लगवाकर नाम खुदवानेवाले तथा अपनी इष्ट सिद्धिके लिये बोल कबूल या मान-मनौती रूप अभिमतकी पुष्टिमें सहायक पद्मावती आदि देवियोंकी उपासना करने वाले लोगोंकी भीड़ अधिक दिखाई देती है। ये सब क्रियाएँ जैनधर्मकी निर्मल एवं निस्पृह आत्मपरिणतिसे सर्वथा भिन्न हैं—उनमें जैनधर्मकी उस प्राण-प्रतिष्ठाका अंशभी नहीं है।

कविवरकी आत्मा जैनधर्मके रहस्यसे केवल परिचित ही नहीं थी किन्तु उसका सरस रस उनके आत्म-प्रदेशोंमें भिद चुका था, जो उनकी परिणतिको बदलने तथा सरल बनानेमें एक अद्वितीय कारण था। उन्हें कविता करनेका अच्छा अभ्यास था। उनके मित्र चाहते थे कि कविवर कुछ ऐसे साहित्यका निर्माण कर जांय, जिसे पढ़कर दूसरे लोग भी अपनी आत्म-साधना अथवा जीवनचर्याके साथ वस्तुतत्त्वको समझने में सहायक हो सकें। उन्हीं दिनों आगरेमें जयसिंह सवाई सूबा और हाकिम गुलाबचन्द वहां आए, शाह हरीसिंहके वंशमें जो धर्मानुरागी मनुष्य थे उनकी बार-बार प्रेरणासे कविके प्रमादका अन्त हो गया और कविने सं० १७८१ में पौष कृष्णा १३ के दिन 'शतक' नामका ग्रन्थ बनाकर समाप्त किया१।

अध्यात्मरसकी चर्चा करते हुए कविवर आत्म-रसमें विभोर हो उठते थे। उनका मन कभी-कभी वैराग्यकी तरंगों में उछलने लगता था। और कभी-कभी उनकी दृष्टि धन-सम्पदाकी चंचलता, अस्थिरता और शरीर आदिकी उस विनाशिक परिणति पर जाती थी, और जब वे संसारकी उस दुःखमय परिणतिका विचार करते जिसके परिणमनका दृश्य भी कभी-कभी उनकी आंखोंके सामने आ जाया करता था। तो वे यह सोचते ही रह जाते थे कि अब क्या करना चाहिये, इतनेमें मनकी गति बदल जाती थी और विचारधारा उस स्थानसे दूर जा पड़ती थी, अनेक तर्कणाएँ उत्पन्न होतीं और समा जाती थीं अनेक विचार आते और चले जाते थे, पर वे अपने जीवनका कोई अन्तिम लक्ष्य स्थिर नहीं कर पा रहे थे। घरके भी सभी कार्य करते थे, परन्तु मन उनमें नहीं लगता था, कभी प्रमाद सताता था और कभी कुछ। हृदयमें आत्म-

---

१ आगरे मैं बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल, बालकके ख्याल-सौं कवित्त कर जानै है। ऐसे ही करत भयो जैसिंघ सवाई सूवा, हाकिम गुलाबचन्द आये तिहि थानै हैं॥ हरीसिंह शाहके सुवंश धर्मरागी नर, तिनके कहेसौं जोरि कीनी एक ठानै है। फिरि-फिर प्रेरे मेरे आलसको अन्त भयो, उनकी सहाय यह मेरो मन मानै है॥ सतरहसै इक्यासिया पोह पाख तमलीन।—तिथितेरस रविवारको,सतक समापत कीन।

—जिन शतक प्रशस्ति।

हितकी जो तरंग उठती थी वह भी विदा हो जाती थी किन्तु संसारके दुःखोंसे छूटनेकी जो टीस हृदयमें घर किये हुए थी वह दूर न होती थी, और न उसकी पूर्तिका कोई ठोस प्रयत्न ही हो पाता था। अध्यात्मगोष्ठीमें आना और चर्चा करनेका विषय उसी क्रमसे बराबर चल रहा था, उनके मित्रोंकी तो एकमात्र अभिलाषा थी 'पद्यबद्धसाहित्यका निर्माण'। अतः अब वे अवसर पाते कविवरको उसकी प्रेरणा अवश्य किया करते थे।

एक दिन वे अपने मित्रोंके साथ बैठे हुए थे कि वहांसे एक वृद्ध पुरुष गुजरा, जिसका शरीर थक चुका था, दृष्टि अत्यन्त कमजोर थी, दुबला-पतला लठियाके सहारे चल रहा था, उसका सारा बदन कांप रहा था, मुंहसे कभी-कभी लार भी टपक पड़ती थी। बुद्धि शठियासी गई थी। शरीर अशक्त हो रहा था किंतु फिर भी वह किसी आशासे चलनेका प्रयत्न कर रहा था। यद्यपि लठिया भी स्थिरतासे पकड़ नहीं पा रहा था वह वहांसे दस पांच कदम ही आगेको चल पाया था कि दैव-योगसे उसकी लाठी छूट गई और वह बेचारा धड़ामसे नीचे गिर गया, गिरनेके साथही उसे लोगोंने उठाया, खड़ा किया, वह हांप रहा था, चोट लगनेसे कराहने लगा, लोगोंने उसे जैसे-तैसे लाठी पकड़ाई और किसी तरह उसे ले जाकर उसके घर तक पहुँचाया। उस समय मित्रोंमें बूढ़ेकी दशाका और उसकी उस घटनाका जिक्र चल रहा था। मित्रोंमेंसे एकने कहा भाई क्या देखते हो? यही दशा हम सबकी आने वाली है, उसकी व्यथाको वही जानता है, दूसरा तो उसकी व्यथा-का कुछ अनुभव भी नहीं कर सकता, हमें भी सचेत होनेकी आवश्यकता है, कविवर भी उन सबकी बातें सुन रहे थे, उनसे न रहा गया और वे बोल उठे—

आयारे बुढ़ापा मानी सुधि बुधि विसरानी॥
श्रवनकी शक्ति घटी, चाल चलै अटपटी, देह लटी भूख घटी, लोचन झरत पानी ॥१॥ दाँतनकी पंक्ति टूटी हाडनकी संधि छूटी, कायाकी नगरि लूटी, जात नहिं पहिचानी ॥२॥ बालोंने वरन फेरा, रोगने शरीर घेरा, पुत्रहू न आवै नेरा, औरोंकी कहा कहानी ॥३॥ **भूधर समुझि अब, स्वहितकरैगो कब? यह गति** ह्वै है जब, तब पछतैहै प्रानी ॥४॥

पदके अन्तिम चरणको कविने कई बार पढ़ा और यह कहा कि यही दशा तो हमारी होने वाली है, जिस पर हम कुछ दिलगीर और कभी कुछ हंस से रहे हैं। यदि हम अब नहीं सँभले, न चेते, और न अपने हितकी ओर दृष्टि दी, 'तो मैं कब स्वहित करूँगा'? फिर मुझे जीवनमें केवल पछतावा ही रह जायगा। पर एक बात सोचने की है और वह यह कि यह अज्ञ मानव कितना अभिमानी है, रूप सम्पदाका लोभी, विषय-सुखमें मग्न रहने वाला नरकीट है, बूढ़ेकी दशाको देखकर तरह-तरहके विकल्प करता है, परके बुढ़ापे और उसके सुख-दुखकी चर्चा तो करता है किन्तु अपनी ओर झांककर भी नहीं देखता, और न उसकी दुर्बल दुःखावस्थामें, अनन्त विकल्पोंके मध्य पड़ी हुई भयावह अव-स्थाका अवलोकन ही करता है, और न आशा तृष्णाको जीतने अथवा कम करनेका प्रयत्न ही करता है। हां, चाह-दाहकी भीषण ज्वालामें जलाता हुआ भी अपनेको सुखी मान रहा है। यही इसका अज्ञान है, पर इस अज्ञानसे छुटकारा क्यों नहीं होता! उसमें बार बार प्रवृत्ति क्यों होती है यह कुछ समझमें नहीं आता, यह शरीर जिसे मैं अपना मान कर सब तरहसे पुष्ट कर रहा हूँ एक दिन मिट्टीमें मिल जावेगा। यह तो जड़ है और मैं स्वयं ज्ञायक भावरूप चेतन द्रव्य हूं, इसका और मेरा क्या नाता, मेरी और इस शरीरकीको जाति भी एक नहीं है फिरभी चिरकालसे यह मेरा साथी बन रहा है और मैं इसका दास बन कर बराबर सेवा करता रहता हूँ और इससे सब काम भी लेता हूँ। यह सब मैं स्वयं पढ़ता हूँ और दूसरोंसे कहता भी हूँ फिर भी मैंने इन दोनोंकी कभी जुदाई पर कोई ध्यान नहीं दिया और उसे बराबर अपना मानता रहा, इसी कारण स्वहित करनेकी बात दूर पड़ती रही, इन विचारोंके साथ कविवर निद्राकी गोदमें निमग्न हो गये।

प्रातःकाल उठकर कविवर जब सामायिक करने बैठे, तब पुनः शरीरकी जरा अवस्थाका ध्यान आया। और कविवर सोचने लगे—

जब चर्खा पुराना पड़ जाता है, उसके दोनों खूंटे हिलने चलने लग जाते हैं, उर-मदरा खखराने लगता है—आवाज करने लगता है। पंखुड़िया छिद्री हो जाती हैं, तकली बल खाजाती है—वह नीचेकी ओर नव जाती है, तब सूतकी गति सीधी नहीं हो सकती, वह बारबार टूटने लगता है। आयु-माल भी तब काम नहीं देती, जब सभी अंग चलाचल हो जाते हैं तब वह रोजीना मरम्मत चाहता है अन्यथा वह अपने कार्यमें अक्षम होजाता है। किन्तु नया चरखला सबका मन मोह लेता है, वह अपनी अबाधगतिसे दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित करता है, किन्तु पुरातन हो जाने पर उसकी

भी वही दशा हो जाती है, और अन्त में वह ईंधनका काम देता है। ठीक इसी प्रकार जब यह शरीर रूपी चर्खा पुराना पड़ जाता है, दोनों पग अशक्त हो जाते हैं। हाथ, मुंह, नाक, कान, आंख और हृदय आदि, शरीरके सभी अवयव जर्जरित, निस्तेज और चलाचल हो जाते हैं तब शब्दकी गति भी ठीक ढंगसे नहीं हो सकती। उसमें अशक्ति और लड़खड़ानापन आ जाता है। कुछ कहना चाहता है और कुछ कहा जाता है। चर्खेकी तो मरम्मत हो जाती है; परन्तु इस शरीर रूप चर्खेकी मरम्मत वैद्योंसे भी नहीं हो सकती। उसकी मरम्मत करते हुए वैद्य हार जाते हैं ऐसी स्थितिमें आयुकी स्थिति पर कोई भरोसा नहीं रहता, वह अस्थिर हो जाती है। किन्तु जब शरीर नया रहता है, उसमें बल, तेज और कार्य करनेकी शक्ति विद्यमान रहती है। तब वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित करता ही है। किन्तु शरीर और उसके वर्णादिक गुणोंके पलटने पर उसकी वही दशा हो जाती है। और अन्तमें वह अग्निमें जला दिया जाता है। ऐसी स्थितिमें हे भूधर! तुम्हीं सोचो, तुम्हारा क्या कर्तव्य है। तुम्हारी किसमें भलाई है। यही भाव कविके निम्नपदमें गुंफित हुए हैं—

चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना ॥
पग खूंटे दो हाल न लागे, उरमदरा खखराना।
छीदी हुई पांखुड़ी पांसू, फिरै नहीं मनमाना ॥१॥
रसनातकलीने बलखाया, सो अब कैसे खूंटै।
शब्द सूत सूधा नहिं निकसै, घड़ी-घड़ी पल टूटै ॥२॥
आयु मालका नहीं भरोसा, अङ्ग चलाचल सारे।
रोज इलाज मरम्मत चाहें, वैद बाढ़ ही हारे ॥३॥
नया चरखला रंगाचंगा, सबका चित्त चुरावै।
पलटा वरन गये गुन अगले, अब देखै नहिं आवै ॥४
मोटा महीं कातकर भाई, कर अपना सुरमेरा।
अंत आगमें ईंधन होगा, भूधर समझ सबेरा ॥५॥

कविवर इस पदको पढ़ ही रहे थे कि सहसा प्रातः काल उठकर कविवर जब सामायिक करने बैठे तब उस बुड्ढेकी दशाका विकल्प पुनः उठा, जिसे कविने जैसे तैसे दबाया और नित्यकर्मसे निमिटकर मंदिरजीमें पहुंचे। मंदिरजीमें जानेसे पहले कविवरके मनमें बारबार यह भावना उद्गत हो रही थी कि आत्मदर्शन कितनी सूक्ष्म वस्तु है क्या मैं उसका पात्र नहीं हो सकता? जिन दर्शन करते करते युग बीत गये परन्तु आत्मदर्शनसे रिक्त रहे, यह तेरा अभाग्य है या तेरे पुरुषार्थकी कुछ कमी है। यह सब विकल्पपुंज कविको स्थिर नहीं होने देते थे। पर मंदिरजीमें प्रवेश करते ही ज्यों ही अन्दर पार्श्वप्रभुकी मूर्तिका दर्शन किया त्यों ही हृदयमें कुछ अद्भुत प्रसादकी रेखा प्रस्फुटित हुई। कविवरकी दृष्टि मूर्तिके उस प्रशांत रूप पर जमी हुई थी मानों उन्हें साक्षात् पार्श्वप्रभुका दर्शन हो रहा था, परन्तु शरीरकी सारी चेष्टाएँ क्रिया शून्य निश्चेष्ट थीं। कविवर आत्म-विभोर थे—मानों वे समाधिमें तल्लीन हों, उनके मित्र उन्हें पुकार रहे थे, पंडित जी आइये समय हो रहा है कुछ अध्यात्मकी चर्चा द्वारा आत्मबोध करानेका उपक्रम कीजिये पर दूसरोंको कविवरकी उस दशाका कोई आभास नहीं था, हाँ, दूसरे लोगोंको तो इतना ही ज्ञात होता था कि आज कविवरका चेहरा प्रसन्न है। वे भक्तिके प्रवाहमें निमग्न हैं। इतनेमें कविवरके पढ़नेकी आवाज सुनाई दी, वे कह रहे हैं :—

भवि देखि छवि भगवानकी।
सुन्दर सहज सोम आनंदमय, दाता परम कल्याणकी।
नासादृष्टि मुदित मुख वारिज, सीमा सब उपमानकी।
अंग अडोल अचल आसन दिढ़, वही दशा निज ध्यानकी।
इस जोगासन जोगरीतिसौं, सिद्धभई शिव-थानकी।
ऐसैं प्रगट दिखावै मारग, मुद्रा - धात - परवानकी।
जिस देखें देखन अभिलाषा, रहत न रंचक आनकी।
तृषत होत 'भूधर' जो अब ये, अंजुलि अमृतपानकी।

हे भाई! तुम भगवानकी छवीको देखो, वह सहज सुन्दर है, सौम्य है, आनन्दमय है, परम कल्याणका दाता है, नासादृष्टि है, मुख कमल मुदित है, सभी अंग अडोल और आसन सुदृढ है, यही दशा आत्म-ध्यानकी है। इसी योगासन और योग्यानुष्ठानसे उन्होंने वसुविध-समिधि जला कर शिव स्थानकी प्राप्ति की है इस तरह धातु-पाषाणकी यह मूर्ति आत्म-मार्गका दर्शन कराती है। जिसके दर्शनसे फिर अन्यके देखनेकी अभिलाषा भी नहीं रहती। अतः हे मधुर! तू तृप्त होकर उस छविका अमृत पान कर, वह तुझे बड़े भारी भाग्यसे मिली है। जिसका विमल दर्शन दुःखोंका नाशक है और पूजनसे पातकोंका समूह गिर जाता है। उसके बिना इस खारी संसार समुद्रसे अन्य कोई पार करने वाला नहीं है१। अतः तू उन्हींका ध्यान धर, एक क्षण भी उन्हें मत छोड़। तू

१ देखत दुख भाजि जांति दशों दिशा पूजत पातक पुंज गिरै।
इस संसार खार सागरसौं और न कोई पार करै।

सोच और समझ, यह नर भव आसान नहीं है, तात,मात, भ्रात, सुत दारा आदि सभी परिकर अपने अपने स्वार्थके ग़र्जी हैं। तू नाहक पराये कारण अपनेको नरकका पात्र बना रहा है। परकी चिंता में आत्म निधिको व्यर्थ क्यों खो रहा है, तू मत भूल, यह दगा जाहिर है। उस ओर दृष्टि क्यों नहीं देता। यह मनुष्यदेह दुर्लभ है, दाव मत चूक। जो अब चूक गए तो केवल पछताना ही हाथ रहेगा, यह मानव रूपी हीरा तुझे भाग्योदयसे मिला है तू अज्ञानी बन उसके मूल्यको न समझ कर व्यर्थ मत फैंक। नटका स्वांग मत भर, यह आयु छिनमें गल जायगी, फिर करोड़ों रुपया खर्च करने पर भी प्राप्त न होगी, उठ जाग, और स्वरूपमें सावधान हो।

यह माया ठगनी है, झूठी है जगतको ठगती फिरती है, जिसने इसका विश्वास किया वही पछताया, यह अपनी थोड़ी सी चटक मटक दिखा कर तुझे लुभाती है, यह कुलटा है, इसके अनेक स्वामी हो रहे हैं। परन्तु इसकी किसीसे भी तृप्ति नहीं हुई, इसने कभी किसीके साथ भी प्रेमका बर्ताव नहीं किया। अतः हे भूधर ! यह सब जगको भोंदू बनाकर छलती फिरती है। तू इस मायाके चक्करमें व्यर्थ क्यों परेशान हो रहा है। यह माया तेरा कभी साथ न देगी, तू इसे नहीं छोड़ेगा, तो यह तुझे छोड़ कर अन्यत्र भाग जायगी, माया कभी स्थिर नहीं रहती। इस तरहके अनेक दृश्य तूने अपनी इन आंखोंसे देखे हैं, इसकी चंचलता और सम्मोहकता लुभाने वाली है। जरा इस ओर झुके कि स्वहितसे वंचित हुए। इतना सब कुछ होते हुए भी यह मानव मोहसे लक्ष्मी-की ओर ही झुकता है, स्वात्मःकी ओर तो भूलकर भी नहीं देखता, परको उपदेश देता है, उन्हें मोह छोड़नेकी प्रेरणा करता है, पर स्वयं उसीमें मग्न रहना चाहता है। चाहता है किसी तरह धन इकट्ठा हो जाय तो मेरे सब कार्य पूरे हो जावेंगे और धनाशा पूर्तिके अनेक साधनभी जुटाता है उन्हींकी चिन्तामें रात-दिन मग्न रहता है। रात्रिमें स्वप्न-सागरमें मग्न हुआ अपनेको धनी और वैभवसे सम्पन्न समझता है। पर अन्तिम अवस्थाकी ओर उसका कोई लक्ष्य भी नहीं होता। यही भाव कविने शतकके निम्न दो पद्योंमें व्यक्त किये हैं—

चाहत हैं धन होय किसीविध,तो सब काज सरें जियराजी,
गेहचिनायकरूं गहना कछु,व्याहिसुतासुत बांटिए भाजी।
चिंतत यौं दिन जाहिंचले,जम आन अचानक देतदगाजी
खेलत खेलखिलारि गए, रहिजाइ रुपीशतरंजकी बाजी।

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा, धनजोर करोरनकोश भरे ही,
ऐसे बढ़ेतौ कहा भयो हेनर,छोरिचले उठिअन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही।

लक्ष्मीके कारण जो अहंकार उत्पन्न होता है वह जीव उसके नशेमें इतना मशगूल हो जाता है कि वह अपने कर्तव्यसे भी हाथ धो बैठता है। ऐसी अवस्थामें वैभवके नजारेका जब पागलपन सवार होता है तब वह अचिन्त्य एवं अकल्पनीय कार्य कर बैठता है, जिनकी कभी स्वप्नमें भी आशा नहीं हो सकती। मानो विवेक उसके हृदयसे कूच कर जाता है, *न्याय अन्यायका उसे कोई भान नहीं होता*, वह सदा अभिमानमें चूर रहता है, कभी कोमल दृष्टिसे दूसरोंकी ओर झांक कर भी नहीं देखता, वह यह भी नहीं सोचता कि आज तो मेरे वैभवका विस्तार है यदि कलको वह न रहा तो मेरी भी इन रंकों जैसी दुर्दशा होगी, मुझे कंगाल बन कर पराये पैरोंकी खाक झाड़नी पड़ेगी। भूख, गर्मी शर्दीकी व्यथा सहनी पड़ेगी।

परन्तु फिर भी यह धन और जीवनसे राग रखता है तथा विरागसे कोसों दूर भागता है। जिस तरह खरगोश अपनी आंखें बन्द करके यह जानता है कि अब सब जगह अन्धेरा हो गया है, मुझे कोई नहीं देखता कविने यही आशय अपने निम्न पद्यमें अंकित किया है :—

'देखो भर जोबनमें पुत्रको वियोग आयो,
तैसें ही निहारी निज नारी काल मग मैं।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान हीं पैं,
रंक भये फिरैं तेऊ पनही न पगमैं।
एते पै अभाग धन-जीतबसौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहूँगो अलगमैं।
आंखिन विलोकि अन्ध सूसेकी अंधेरी करै,
ऐसे राजरोगको इलाज कहा जग मैं।। ३५।।

हे भूधर ! तू क्या संसारकी इस विषम परिस्थितिसे परिचित नहीं है, और यदि है तो फिर पर पदार्थोंमें रागी क्यों हो रहा है ? क्या उन पदार्थोंसे तेरा कोई सुहित हुआ है, या होता है ? क्या तूने यह कभी अनुभव भी किया है कि मेरी यह परिणति दुखदाई है, और मेरी भूल ही मुझे दुःखका पात्र बना रही है। जब संसारका अणुमात्र भी पर-पदार्थ तेरा नहीं है, फिर तेरा उस पर राग क्यों होता है ? चित्तवृत्ति स्वहितकी ओर न झुक कर परहितकी ओर क्यों

झुकती है, तू यह सब जानते हुए भी अनजान सा क्यों हो रहा है यह रहस्य कुछ मेरी समझमें नहीं आता

हे भूधर ! परपदार्थों पर तेरे इस रागका कारण अनन्त-जन्मोंका संचित परमें आत्म-कल्पनारूप तेरा मिथ्या अध्यवसाय ही है जिसकी वासनाका संस्कार तुझे उनकी ओर आकर्षित करता रहता है—बार बार झुकाता है। यही वासना रूप संस्कार तेरे दुःखोंका जनक है। अतः उसे दूर करनेका प्रयत्न करना ही तेरे हितका उपाय है; क्योंकि जब तक परमें तेरी उक्त मिथ्या वासनाका संस्कार दूर नहीं होगा तब तक पर पदार्थोंसे तेरा ममत्व घटना संभव नहीं है। यदि तुझे अपने हितकी चिन्ता है, तू सुखी होना चाहता है, और निजानन्द-रसमें लीन होनेकी तेरी भावना है तो तू उस भ्रामक संस्कार-को छोड़नेका शीघ्र ही प्रयत्न कर, जब तक तू ऐसा प्रयत्न नहीं करता तब तक तेरा वह मानसिक दुःख किसी तरह भी कम नहीं हो सकता, किन्तु वह तेरे नूतन दुःखोंका जनक होता रहेगा।

इस तरह विचार करते हुए कविवरने अपनी भूल पर गहरा विचार किया और आत्म-हितमें बाधक कारणका पता लगा कर उसके छोड़ने अथवा उससे छूटनेकी ओर अपनी शक्ति और विवेककी ओर विशेष ध्यान दिया। कविवर सोचते हैं कि देखो, मेरी यह भूल अनादि कालसे मेरे दुःखों-की जनक होती रही है, मैं बावला हुआ उन दुःखोंकी असह्य वेदनाको सहता रहा हूँ,परंतु कभी भी मैंने उनसे छूटनेका सही उपाय नहीं किया, और इस तरह मैंने अपनी जिन्दगीका बहुभाग यों ही गुजार दिया। विषयोंमें रत हुआ कष्ट पर-म्पराकी उस वेदनाको सहता हुआ भी किसी खास प्रतीतिका कोई अनुभव नहीं किया। दुखसे छूटनेके जो कुछ उपाय अब तक मेरे द्वारा किए गए हैं वे सब भ्रामक थे। मैं अपनी मिथ्याधारणावश अपने दुःखोंका कारण परको समझता रहा और उससे अपने राग-द्वेष रूप कल्पनाजालमें सदा उल-झता रहा, यह मेरी कैसी नादानी (अज्ञानता) थी जिसकी ओर मेरा कभी ध्यान ही नहीं जाता था, अब भाग्योदयसे मेरे उस विवेककी जागृति हुई है जिसके द्वारा मैं अपनी उस अनादि भूलको समझनेका प्रयत्न कर पाया हूँ। अब मुझे यह विश्वास हो गया है कि मैं उन दुःखोंसे वास्तविक छुटकारा पा सकता हूँ। पर मुझे अपनी उस पूर्व अवस्थाका ख्याल बार बार क्यों आता है? जिसका ध्यान आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह मेरी मानसिक निर्बलता अथवा आत्म कमजोरी है। इस कमजोरीको दूर कर मुझे आत्मबल बढ़ाना आवश्यक है। वास्तवमें जिनभगवान और जिनवचन ही इस असार संसारसमुद्रसे पार करनेमें समर्थ हैं। अतः भव-भवमें मुझे उन्हींकी शरण मिले यही मेरी आन्तरिक कामना है ×जिन वचनोंने ही मेरी दृष्टिको निर्मल बनाया है और मेरे उस आन्तर्विवेकको जागृत किया है जिससे मैं उस अनादि भूलको समझ पाया हूँ। जिनवचन-रूप ज्ञानःशलाकासे वह अज्ञान अन्धकार रूप कलुष अंजन धुल गया है और मेरी दृष्टिमें निर्मलता आगई है। अब मुझे सांसारिक झंझटें दुखद जान-जान पड़ती हैं। और जगत के ये सारे खेल असार और झूठे प्रतीत होते हैं। मेरा मन अब उनमें नहीं लगता, यह इन्द्रिय विषय कारे विषधरके समान भयंकर प्रतीत होते हैं। मेरी यह भावना निरन्तर जोर पकड़ती जाती है कि तू अब घरसे उदास हो जंगलमें चला जा, और वहाँ मनकी उस चंचल गतिको रोकनेका प्रयत्न कर, अपनी परिणतिको स्वरूपगामिनी बना वह अनादिसे पर-गामिनी हो रही है, उसे अपनी ज्ञान और विवेक ज्योतिके द्वारा निर्मल बनानेका सतत उद्योग कर, जिससे अविचल ध्यानकी सिद्धि हो, जो कर्म कलंकके जलानेमें असमर्थ है; क्योंकि आत्म-समाधिकी दृढ़ता यथाजात मुद्राके बिना नहीं हो सकती। और न विविध परीषहोंके सहनेकी वह क्षमता ही आ सकती है। कविवरकी इस भावनाका वह रूप निम्न पद्यमें अंकित मिलता है।

> कब गृहवाससौं उदास होय वन सेऊँ,
> वेऊँ निजरूप गति रोकूं मन-करीकी।
> रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग,
> सहिहौं परीसा शीत-घाम-मेघ-झरीकी।
> सारंग समाज कबधौं खुजै है आनि,
> ध्यान-दल-जोर जीतूं सेना मोह-अरीकी।
> एकल विहारी जथाजात लिंगधारी कब,
> होऊँ इच्छा चारी बलिहारी हौं वा घरी की।

कविवरकी यह उदात्त भावना उनके समुन्नत जीवनकी प्रतीक है। कविकी उपलब्ध रचनाएँ उनकी प्रथम साधक अवस्था की हैं जिनका ध्यानसे समीक्षण करने पर उनमें कविकी अन्तर्भावना प्रच्छन्न रूपसे अंकित पाई जाती है। जो उनके मुमुक्षु जीवन बितानेकी ओर संकेत करती है।

×इस असार संसारमैं और न सरन उपाय।
जन्म-जन्म हूजो हमैं, जिनवर धर्म सहाय॥

कविवर कहते हैं कि—इसमें कोई सन्देह नहीं कि जरा (बुढ़ापा) मृत्युकी लघु बहन है फिर भी यह जीव अपने हितकी चिन्ता नहीं करता, यह इस आत्माकी बड़ी भूल है। यही भाव उनके निम्न दोहेमें निहित है—

"जरा मौतकी लघुवहन यामें संशयनाहिं।
तौ भी सुहित न चिन्तवै बड़ी भूल जगमाहिं॥"६२

रचनाएँ

कविकी इस समय तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनशतक, पदसंग्रह और पार्श्वपुराण।

ये तीनों ही कृतियाँ अपने विषयकी सुन्दर रचनाएँ हैं। यह पढ़नेमें सरस मालूम होती हैं, और कविके भावुक हृदयकी अभिव्यंजक हैं। उनमें पार्श्वपुराणकी रचना अत्यन्त सरल और संक्षिप्त होते हुए भी पार्श्वनाथके जीवनकी परिचायक है। जीवन-परिचयके साथ उसमें अनेक सूक्तियाँ मौजूद हैं जो पाठकके हृदयको केवल स्पर्श ही नहीं करतीं; प्रत्युत उनमें वस्तुस्थितिके दर्शन भी होते हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिए कुछ सूक्ति पद्य नीचे दिये जाते हैं—

उपजे एकहि गर्भसौं सज्जन दुर्जन येह।
लोह कवच रक्षा करै खांडो खंडे देह॥ ५८
दुर्जन दूषित संतको सरल सुभाव न जाय।
दर्पणकी छवि छारसौं अधिकहिं उज्जवल थाय॥ ६८
पिता नीर परसै नहीं, दूर रहै रवियार।
ता अंबुजमें मूढ अलि उरझि मरै अविचार॥ ७१
त्यों ही कुविसन रत पुरुष होय अवसि अविवेक।
हित अनहित सोचे नहीं हिये विसनकी टेक॥ ७२
सज्जन टरै न टेवसौं, जो दुर्जन दुख देय।
चन्दन कटत कुठार मुख, अवसि सुवास करेय॥ १०६
दुर्जन और सलेश्मा ये समान जगमांहि।
ज्यों ज्यों मधुरो दीजिये त्यों त्यों कोप कराहिं॥ ११३
जैसी करनी आचरै तैसो ही फल होय।
इन्द्रायनकी बेलिके आम न लागैं कोय॥ १२०
बढी परिग्रह पोट सिर, घटी न घटकी चाह।
ज्यों ईंधनके योगसौं अगिन करै अति दाह॥ १५०
सारस सरवर तजगए, सूखो नीर निराट।
फलविन विरख विलोककैं पक्षी लागे वाट॥ १६०

कविवरने अपने पार्श्वपुराणकी रचना संवत् १७८९ में आगरामें असाढ सुदि पंचमीके दिन पूर्ण की है×। और जिनशतककी रचनाका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पदसंग्रह कविने कब बनाया। इसका कोई उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। मालूम होता है कविने उसकी रचना भिन्न भिन्न समयोंमें की है। इस पदसंग्रहमें कविकी अनेक भावपूर्ण स्तुतियोंका भी संकलन किया गया है जो विविध समयों में रची गई हैं।

× संवत् सतरह शतकमैं, और नवासी लीय।
सुदि असाढतिथि पंचमी ग्रंथ समापत कीय॥

'अनेकान्त' की पुरानी फाइलें

श्रीबाहुबलीकी आश्चर्यमयी प्रतिमा

[आचार्य श्रीविजयेन्द्रसूरि]

श्रवणबेलगोल नामके ग्राममें अतिविशाल, स्थापत्य-कलाकी दृष्टिसे अद्भुत एक मनुष्याकार मूर्ति है, जो श्रीबाहुबलीकी है यह मूर्ति पर्वतके शिखरपर विद्यमान है और पर्वतकी एक बृहदाकार शिलाको काटकर इसका निर्माण किया गया है। नितान्त एकान्त वातावरणमें स्थित यह तपोरत प्रतिमा मीलों दूरीसे दर्शकका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है।

श्रवणबेलगोल गांव मैसूर राज्यमें मैसूरसे ६२ आर्सिकेरी स्टेशनसे ४२, हासनशहरसे ३२ और चन्नरायपट्टनसे ८ मीलकी दूरीपर है। इसके पासही हलेबेलगोल और कोडी बेलगोल नामके गाँव हैं, उनसे पृथक् दर्शानेके लिए ही इसे श्रमण अर्थात् जैनसाधुओंका बेलगोल कहा जाता है। बेलगोल कन्नड़भाषाका शब्द है और इसका अर्थ है: श्वेत सरोवर। इस स्थानपर स्थित एक सरोवरके कारण ही सम्भवतः यह नाम पड़ा है। इस सरोवरके उत्तर और दक्षिणमें दो पहाड़ियाँ हैं और उनके नाम क्रमशः चन्द्र-गिरि और विंध्यगिरि है। इस विंध्यगिरिपर चामुण्डरायने बाहुबली अथवा भुजबलीकी—जिनका लोकप्रसिद्ध नाम गोम्मटस्वामी या गोम्मटेश्वर है—विशाल प्रतिमाका निर्माण कराया। यह मूर्ति पर्वतके चारों ओर १५ मीलकी दूरीसे दिखाई देती है और चन्नरायपट्टनसे तो बहुत अधिक स्पष्ट हो जाती है।

इस विशाल प्रतिमाके आसपास बादमें चामुण्डरायका अनुकरण करके वीर-पाण्ड्यके मुख्याधिकारीने १४३२ ई० में कारकल मूडबिद्रीसे २२ मीलमें गोम्मटेश्वरकी दूसरी मूर्ति बनवाई। कुछ काल बाद प्रधान तिम्मराजने वेणूर-मूडबिद्रीसे १२ मील और श्रवणबेलगोलसे १६० मील में सन् १६०४ ई० में गोम्मटेश्वरकी उसी प्रकारकी एक और प्रतिमा निर्मित करवाई। इन तीनोंके निर्माणकालमें अन्तर होनेपर भी तीनों एक ही सी हैं। इससे जैनकलाकी एक-नियम-बद्धता और अविच्छिन्न प्रवाहका परिचय मिलता है।

प्रतिमा

ये प्रतिमाएँ संसारके आश्चर्योंमेंसे हैं। श्री रमेशचन्द्र मजूमदारके विचारसे तो यह प्रतिमाएं विश्वभरमें अद्वितीय हैं। श्रवणबेलगोलवाली प्रतिमाकी ऊंचाई ५७ फीट है। इसके विभिन्न अंगोंकी मापसे इसकी विशालताका अनुमान किया जा सकता है।

चरणसे कानके अधोभाग तक	५०'-०"
कानके अधोभागसे मस्तक तक	६'-६"
चरणकी लम्बाई	६'-०"
चरणके अग्रभागकी चौड़ाई	४'-६"
चरणका अंगूठा	२'-९"
छातीकी चौड़ाई	२६'-०

यह हलके भूरे ग्रेनाइट पत्थरके एक विशाल खण्डको काटकर बनाई गई है और जिस स्थानपर स्थित है, वहीं पर ही निर्मित की गई थी। कारकल वाली प्रतिमा भी उसी पत्थरकी है और उसकी ऊँचाई ४२ फीट है, अनुमानतः यह २१७४ मन भारी है। इन विशालकाय प्रतिमाओंमें वेणूर वाली प्रतिमा सबसे छोटी है, इसकी ऊँचाई ३७ फीट है। कलात्मक दृष्टिसे तीनों एक होनेपर भी वेणूरकी प्रतिमाके कपोलोंमें गड्ढेसे हैं जो गंभीर मुस्कराहटकासा भाव लिए हैं। सम्भवतः उसके प्रभावोत्पादक भावमें कुछ न्यूनता आ गई है।

श्रवणबेलगोलकी प्रतिमा तीनोंसे सर्वाधिक प्राचीन अथवा विशाल ही नहीं है किन्तु ढालू पहाड़ीकी चोटी पर स्थित होनेके कारण इसके निर्माणमें बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा होगा। यह मूर्ति उत्तराभिमुख सीधी खड़ी है और दिगम्बर है। जांघोंसे ऊपरका भाग बिना किसी सहारेके है उस स्थल तक यह वल्मीकसे आच्छा-दित है। जिसमेंसे सांप निकलते प्रतीत होते हैं। उसके दोनों पैरों और भुजाओंके चारों ओर माधवी लता लिपटी हुई है और लता अपने अन्तिम सिरों पर पुष्प-गुच्छोंसे शोभित है। मूर्तिके पैर एक विकसित कमल पर स्थित हैं।

इस प्रतिमाके निर्माता हैं शिल्पी अरिष्टनेमि। उन्होंने प्रतिमा-निर्माणमें अंगोंका निर्माण ऐसे नपे तुले ढंगसे किया है कि उसमें किसी प्रकारका दोष निकाल सकना सम्भव नहीं है। सामुद्रिक शास्त्रमें जिन अंगोंका दीर्घ और बड़ा होना सौभाग्य-सूचक माना जाता है वे अंग वैसे ही हैं;

उदाहरणार्थ कानोंका निचला भाग, विशाल कंधे और आजानुबाहु। मूर्तिके कंधे सीधे हैं उनसे दो विशाल भुजाएं स्वाभाविक ढंगसे अवलम्बित हैं हाथकी उंगलियाँ सीधी हैं और अंगूठा ऊपरको उठा हुआ उंगलियोंसे अलग है। पेट पर त्रिवलियां गलेकी धारियां, घुंघरीले बालोंके गुच्छे आदि स्पष्ट हैं। कलात्मक दृष्टिसे आडम्बर-हीन, सादी और सुडौल होनेपर भी आवर्ष्य-जनाकी दृष्टिसे अनुपम हैं।

बाहुबली

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है ये तीनों मूर्तियाँ बाहुबलीकी हैं जो प्रथम तीर्थंकर आदि-जिन ऋषभनाथके पुत्र थे अनुश्रुत परम्पराके अनुसार उनकी दो पत्नियां थीं, सुमङ्गला और सुनन्दा। सुमङ्गलासे उत्पन्न युगलों का नाम था भरत और ब्राह्मी,※ एक लड़का और एक लड़की, सुमङ्गलासे ही अन्य ६८ पुत्र उत्पन्न हुए सुनन्दामे दो सन्तान थीं, बाहुबली और सुन्दरी। जब भगवान ऋषभदेवने केवल-ज्ञान प्राप्तिके लिए गृह-त्याग किया तो उन्होंने अपना राज्य भरतादि सौ पुत्रोंको बांट दिया। बाहुबलीको तक्षशिलाका राज्य मिला। भरतने सम्पूर्ण पृथ्वीका विजय करके चक्रवर्तीका पद धारण तो किया परन्तु भरत चक्रवर्तिका चक्र आयुधशाला (शस्त्रा गार) में प्रवेश नहीं करता था। मन्त्रीसे कारण पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनके भाई बाहुबलीने अधीनता स्वीकार नहीं की, इस कारण यह चक्र शस्त्रागारमें प्रवेश नहीं करता। भरतने सन्देश भेजकर बाहुबलीसे अधीनता स्वीकार करनेको कहा, परन्तु बाहुबलीने यह स्वीकार नहीं किया भरतने बाहुबली पर चढ़ाई की, दोनोंमें भयङ्कर युद्ध हुआ, अन्तमें विजय लक्ष्मी बाहुबलीको प्राप्त हुई।

विजय प्राप्त कर लेने पर भी बाहुबलीको वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने भगवान् ऋषभदेवके पास जानेका विचार किया। चलते समय यह विचार आया कि मेरे ६८ भाई पहले ही दीक्षा लेकर केवल-ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं वे वहां होंगे और उन्हें वन्दन करना पड़ेगा, इसलिए केवलज्ञान प्राप्त करके ही वहां जाना ठीक रहेगा। यह विचार कर वहीं तपस्यारत हो गए। वर्षभर मूर्तिकी भांति खड़े रहे! वृक्षों से लिपटी लताएं उनके शरीर में लिपट गईं। उन्होने अपने वितानसे उनके सिरपर छत्र सा बना बना दिया। उनके पैरोंके बीच कुश उग आए जो देखनेमें बल्मीकसे प्रतीत होने लगे। एक वर्ष तक उग्र तप करने पर भी जब उन्हें केवल ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ — क्योंकि उनके मनमें यह भाव विद्यमान था कि मुझे अपने से छोटे भाइयोंको वन्दन करना पड़ेगा—उन्हें प्रतिबोध कराने के हेतु उनकी बहिनें ब्राह्मी और सुन्दरी आर्यी और बोलीं—'भाई! मोहके मदोन्मत्त हाथीसे नीचे उतरो। इसने ही तुम्हारी तपस्याको निरर्थक बना

※ यह उल्लेख श्वेताम्बर-मान्यताके अनुसार है।
—सम्पादक

रखा है। यह सुनकर बाहुबलीको ज्योति-मार्ग मिल गया और उन्हें केवल-ज्ञान हो गया॥।

यह प्रतिमा इन्हीं बाहुबलीजी की है। उत्तरभारतमें यह इसी नामसे विख्यात है। परंतु दक्षिणमें यह गोम्मटेश्वर नामसे प्रसिद्ध है। प्राचीन ग्रंथोंमें गोम्मटेश्वर नामका प्रयोग नहीं मिलता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह नाम आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती द्वारा दिया हुआ है। मूर्तिके निर्माता चामुण्डरायका एक अन्य नाम गोम्मटराय था, कन्नड़ीमें गोम्मटका अर्थ होता है 'कामदेव'; यह नाम ही वस्तुतः कन्नड़ भाषाका है। गोम्मटराय (चामुण्डराय) के पूज्य होनेके कारण बाहुबली गोम्मटेश्वर कहलाए होंगे। दक्षिणी भाषाका शब्द होनेके कारण इसका वहाँ चलन हो गया।

चामुण्डराय

चामुण्डराय गंगवंशके राजा राचमल्लके मन्त्री और सेनापति थे। इससे पूर्व चामुण्डराय गंगवंशीय मारसिंह द्वितीय और उनके उत्तराधिकारी पांचालदेवके भी मन्त्री रह चुके थे। पांचालदेवके बाद ही राचमल्ल गद्दी पर बैठे थे। मारसिंह द्वितीयका शासनकाल चेर, चोल, पाण्ड्यवंशों पर विजय प्राप्तिके लिए प्रसिद्ध है। मारसिंह आचार्य अजितसेनके शिष्य थे और अपने युगके बड़े भारी योद्धा थे और अनेक जैनमन्दिरोंका निर्माण कराया था। राचमल्ल भी मारसिंहकी भांति जैनधर्म पर श्रद्धा रखते थे।

चामुण्डराय तीन तीन नृपतियोंके समय अमात्य रहे। इन्हींके शौर्यके कारण ही मारसिंह द्वितीय वज्जल, गोनूर और उच्छंगीके रणक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त कर सके। राचमल्ल के लिए भी उन्होंने अनेक युद्ध जीते। गोविन्दराज, वेंकोंडुराज आदि अनेक राजाओंको परास्त किया। अपनी योग्यता के कारण इन्हें अनेक विरुद प्राप्त हुए। श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंमें चामुण्डरायकी बहुत प्रशंसा है। इन लेखोंमें अधिकांशतः युद्धोंमें विजय प्राप्त करनेका ही उल्लेख है। परन्तु जीवनके उत्तरकालमें चामुण्डराय धार्मिक कृत्योंमें प्रवृत्त रहे। वृद्धावस्थामें इन्होंने अपना जीवन गुरु अजितसेनकी सेवामें व्यतीत किया।

चामुण्डराय द्वारा निर्मित इस प्रतिमाके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। बाहुबलि-चरित्र नामक संस्कृत काव्यके अनुसार राचमल्लकी राजसभामें चामुण्डरायने एक पथिक-व्यापारीसे यह सुना कि उत्तरमें पौदनपुरी स्थानपर भरत द्वारा स्थापित बाहुबलीकी एक प्रतिमा है। उसने अपनी माता समेत उस प्रतिमाके दर्शनका विचार किया। परन्तु पौदनपुरी जाना अत्यन्त दुष्कर समझ कर एक सुवर्णबाणसे पहाड़ीको छेदकर रावण द्वारा स्थापित बाहुबलीकी प्रतिमाका पुनरुद्धार किया। देवचन्द्र द्वारा रचित कनाडी भाषाकी एक नवीन पुस्तकमें भी थोड़े अन्तरसे यही कथा आयी है इसके अनुसार इस प्रतिमाके सम्बन्धमें चामुण्डरायकी माताने पद्मपुराणका पाठ सुनते समय यह सुना कि पौदनपुरीमें बाहुबलीकी प्रतिमा है। इस कथासे भी यह प्रतीत होता है कि चामुण्डरायने यह प्रतिमा नहीं बनवाई अपितु इस पहाड़ पर एक प्रतिमा पहलेसे विद्यमान थी, चामुण्डरायने शिल्पियोंसे इस प्रतिमाके सब अंगोंको ठीक ढंगसे सुडौल बनवाकर सविधि स्थापना और प्रतिष्ठा कराई। श्रवणबेलगोलमें भी कुछ इसी प्रकारकी लोक-कथाएं प्रचलित हैं और उनसे ऊपरकी किंवदन्तियोंके अनुसार प्रतीत होता है कि इस स्थान पर एक प्रतिमा थी जो पृथ्वीसे स्वतः निर्मित थी।

प्रतिमा-निर्माण काल

जिस शिलालेखमें चामुण्डरायने अपना वर्णन किया है उसमें केवल अपनी विजयोंका उल्लेख किया है किसी धार्मिक कृत्यका नहीं। यदि मारसिंह द्वितीयके समय उसने प्रतिमाका निर्माण कराया होता तो उस शिलालेखमें अवश्य इसका निर्देश रहता। मारसिंह द्वितीयकी मृत्यु ९७५ ई० में हुई। चामुण्डरायने अपने ग्रन्थ चामुण्डराय-पुराणमें भी इस प्रतिमाके सम्बन्धमें कोई निर्देश नहीं किया। इस पुस्तकका रचनाकाल ९७८ ई० है। राजमल्ल द्वितीयने ९८४ ई० तक राज्य किया। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रतिमाका निर्माण ९७८ और ९८४ ई० के बीच हुआ होगा।

बाहुबलि-चरितमें आये एक श्लोकके अनुसार चामुण्डरायने बेलगुल नगरमें कुम्भलग्नमें, रविवार चैत्र शुक्ल पंचमीके दिन विभव नाम कल्कि षट्शताब्द संवत्सरके प्रशस्त मृगशिरा नक्षत्रमें गोमटेश्वरकी स्थापना की।

इस श्लोकमें निर्दिष्ट समय पर अबतक ज्योतिषके

॥ यह सब कथन श्वेताम्बर-मान्यताके अनुसार है। —सम्पादक

हिसाबसे जो कार्य हुआ है उसके अनुसार १७८ और और १८४ के बीच १ अप्रैल १८० ई० को मृगशिरा नक्षत्र था और पूर्व दिवससे (चैत्रकी बीसवीं तिथि) शुक्ल पक्षकी पंचमी लग गई थी और रविवारको कुम्भलग्न भी था। परन्तु कल्कि संवत् ६०० ई० सन्‌का १०७२ होता है और इस सन्‌में चैत्रशुक्ल पक्षकी पंचमी तिथि चैत्रके तेईसवें दिन शुक्रवार पड़ता है जो उपर्युक्त श्लोकमें निर्दिष्ट समयके प्रतिकूल है। परन्तु यह मान लिया गया है कि कल्कि संवत् ६०० का अभिप्राय छठी शताब्दि है, संस्कृतका इसके अनुरूप पद है: 'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये'। विभवका ८वां वर्ष मान लेनेसे ५०८ कल्क्यब्द बनता है जो कि ईस्वी सन् का १८० बन जाता है। इस गणनासे ऊपरकी संगति बैठ जाती है और प्रतिमाका स्थापनाकाल १ अप्रैल १८० ई० निश्चित होता है। (हिन्दुस्थान से)

गरीबी क्यों?

(गरीबीके दस कारणों की खोज और व्याख्या)

'गरीबी क्यों' इस प्रश्नका सीधा-सा और बंधाबंधाया उत्तर दिया जाता है 'पूंजीवादी शोषणके कारण गरीबी है।' इस उत्तरमें सचाई है और काफी सचाई है, फिर भी कितने लोग इस सचाईका मर्म समझते हैं मैं नहीं कह सकता। पूंजीवादसे गरीबी क्यों आती है इसकी छानबीन भी शायद ही कोई करता हो। महर्षि मार्क्सने मुनाफा या अतिरिक्त मूल्यका जो विश्लेषण किया है वही रट-रटाया उत्तर बहुतसे लोग दुहरा देते हैं। पर यह सिर्फ दिशा-निर्देश है उससे गरीबीके सब या पर्याप्त कारणों पर प्रकाश नहीं पड़ता, सिर्फ गरीबीके विष-वृक्षके बीजका पता लगता है। पर वह बीज अंकुरित कैसा होता है फूलता फलता कैसे है इसका पता बहुतोंको नहीं है।

साधारणतः शोषकोंमें मिलमालिकों, बैंकरों तथा बड़े-कारखानेदारोंको गिना जाता है, और यह ठीक भी है। छोटे-छोटे कारखाने जिनमें दस-दस पाँच-पाँच आदमी काम करते हैं, उनमें मालिक तो उतना ही कमा पाता है जितना कि उस कारखानेमें एक मैनेजर रख दिया जाय और उसे वेतन दिया जाय। पूंजीवादी प्रथा न होने पर भी उन छोटे छोटे कारखानोंमें मजदूरोंको आमदानीका उतना ही हिस्सा मिलेगा जितना आज मिलता है। इसलिये उनका शोषकोंमें गिनना ठीक नहीं। बाकी किसान, मजदूर, दुकानदार, अध्यापक, लेखक, कलाकार आदि भी शोषकोंमें नहीं गिने जाते और है भी यह ठीक। बल्कि इनमेंसे अधिकांश शोषित ही होते हैं। सच पूछा जाय तो इस प्रकार देशकी जनतामें शोषकोंका अनुपात हजारमें एकके हिसाबसे पड़ता है। ऐसी हालतमें यह कहना कठिन है कि एक आदमीका शोषण इतना अधिक हो जाता है कि वह ६६६ आदमियोंको गरीब करदे।

अभी मैं एक बड़ी भारी कपड़ेकी मिलमें गया। पता लगा कि यहाँ साधारणसे साधारण मजदूरको कम-से-कम ७५) माह मिलता है। और किसी किसीको ३००) माह से भी अधिक मिलता है। तब मैंने सोचा कि इन मजदूरों-की टोटल आमदनी प्रति व्यक्ति १००) माहवार समझना चाहिये।

अब मान लीजिये कि मजदूर तो १००) माह पाता है और मालिक पच्चीस हजार रुपया माह लेकर घोर शोषण और अन्याय करता है। अगर मालिक यह पच्चीस हजार रुपया न ले और यह रुपया मजदूरोंमें बंट जाय तो पाँच हजार मजदूरोंमें पच्चीस हजार रुपया बंटनेसे हरएक मजदूरको सौ के बदले एक सौ पाँच रुपया माहवार मिलने लगे। निःसन्देह इससे मजदूरकी आमदानीमें तो अन्तर पड़ेगा। पर क्या यह अन्तर इतना बड़ा है कि १००) में मजदूरको गरीब कह दिया जाय और १०५ में अमीर कह दिया जाय? क्या देशकी अमीरीका आदर्शमें और आजकी गरीबीमें सिर्फ पाँच फीसदीका ही फर्क है।

यदि देशके अमीरोंकी सब सम्पत्ति गरीबोंमें बांट दी जाय तब भी क्या गरीबोंकी सम्पत्ति ५ फीसदीसे अधिक बढ़ सकती है? अगर हम पैंतीस करोड़ रुपया हर साल अमीरोंसे छीनकर पैंतीस करोड़ गरीबोंमें बांट दे तो सबको एक-एक रुपया मिल जायगा। इस प्रकार सालमें एक-एक रुपएकी आमदनीसे क्या गरीबी अमीरोंमें बदल जाएगी। पैंतीस करोड़की बात जाने दें पर वह रुपया सिर्फ आठे

तीन करोड़ आदमियोंमें ही बाँटे तो भी दस-दस रुपए हिस्सोंमें आयेंगे इससे भी गरीबी अमीरीमें तब्दील नहीं हो सकती। सब सम्पत्ति दानयज्ञमें हर साल दस बीस करोड़ रुपया पानेसे भी क्या होगा ?

जो लोग दानके द्वारा गरीब देशको अमीर बनाना चाहते हैं वे अर्थ शास्त्रकी वर्णमाला भी नहीं जानते ऐसा कह देना अपमान जनक होगा, जो लोग विचारकतामें नहीं संस्कारमान्य यश प्रतिष्ठामें ही बड़प्पन समझते हैं वे इसे छोटे मुंह बड़ी बात समझेंगे, कुछ लोग इसे धृष्टता कहेंगे इसलिए यह बात न कहकर इतना तो कहना चाहिए कि ये लोग अर्थशास्त्रके मामलेमें देशको काफी गुमराह कर रहे हैं न वे गरीबीके कारणोंको ढूंढ कर उसका निदान कर पा रहे हैं न उसका इलाज।

दस कारण

शोषणका प्रत्यक्ष परिणाम विषम वितरण भी गरीबीका कारण है, पर यह एक ही कारण है, वह भी इतना बड़ा नहीं कि अन्य कारण न हों तो अकेला यही कारण देशको गरीब बनादे। विषम वितरण और शोषण अमेरिकामें होने पर भी अमेरिका संसारका सबसे बड़ा धनवान देश है। इसलिए सिर्फ गरीबीके लिए इसी पर सारा दोष नहीं मढा जा सकता। हाँ ! कुछ कारण इसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष परिणाम स्वरूप अवश्य हैं।

खैर ! हमें देशकी और व्यक्तिकी गरीबीके सब कारणों पर विचार करना है और उनमेंसे जितने कारण दूर हो सकें दूर करना है। और यह भी सोचना है कि गरीबीके किस कारणको दूर करनेका क्या परिणाम होगा।

गरीबीके दस कारण हैं—

१. अश्रम	(नोशिहो)
२. श्रमानुपलब्धि	(शिहोनोशिनो)
३. कामचोरी	(कज्जो चुरो)
४. असहयोग	(नोमाजो)
५. वृथोत्पादकश्रम	(नकंजेजशिहो)
६. अनुत्पादक श्रम	(नोजेजशिहो)
७. पापश्रम	(पाप शिहो)
८. अल्पोत्पादक श्रम	(बेजेज शिहो)
९. अनुत्पादकार्जन	(नोजेज अर्नो)
१०. अनुचित वितरण	(नोधिक जुरो)

१. अश्रम—बहुतसे लोग श्रम करनेके योग्य होने पर भी श्रम नहीं करते। इसलिए उनसे जो सुख-सुविधा या सुख-सुविधाका सामान पैदा हो सकता है वह नहीं हो सकता है वह नहीं हो पाता। बालक और बूढ़ोंको छोड़ दिया जाय तो भी इस श्रेणीमें कई करोड़ आदमी पाये जाते हैं।

(क)—समाजकी कोई सेवा न करने वाले युवक साधुवेषी, जो लाखोंकी संख्यामें हैं। वे सिर्फ भजन पूजा करते हुए आशीर्वाद देते हुए मुफ्तमें खाते हैं।

(ख)—भिखारी काम करनेकी योग्यता रखते हुए भी किसी न किसी बहानेसे भीख माँगते हैं। इनसे भी कोई उत्पादन नहीं होता।

(ग)—पैत्रिक सम्पत्ति मिल जानेसे, या दहेज आदिमें सम्पत्ति मिल जानेसे जो पड़े पड़े खाते हैं और कुछ उत्पादन नहीं करते। ऐसे लोग भी हजारोंकी संख्यामें हैं।

(घ)—घरमें चार दिनको खानेको है, मजदूरी क्यों करें, इस प्रकारका विचार करने वाले लोग बीच-बीचमें काम नहीं करते, इससे भी उत्पादन कम होता है। मजदूर संगठन करके अधिक मजदूरी ले लेते हैं और फिर कुछ दिन काम नहीं करते।

(ङ)—चाटुकार चापलूसी करके कुछ माँगने वाले लोग भी मुफ्तखोर हैं। राजाओंके पास ऐसे लोग रहते हैं या रहते थे जो हुजूरकी जय हो आदि बोल कर हुजूरको खुश करके चैनसे खाने पीनेकी सामग्री पा जाते हैं। यद्यपि इन मुसाहितोंकी चापलूसोंकी टोलियाँ कम होती जाती हैं पर अभी भी हैं।

इस प्रकार कई करोड़ आदमी हैं जो कोई उत्पादन श्रम नहीं करते। अगर ये काममें लगें तो देशकी सुख-सम्पत्ति काफी बढ़ जाये।

२. श्रमानुपलब्धि—श्रम करनेकी तैयारी होने पर भी श्रम करनेका अवसर नहीं मिलता। इस बेकारीके कारणसे काफी उत्पादन रुकता है और देश गरीब रहता है। बेकारीका कारण यह नहीं है कि देशमें काम नहीं है। काम तो असीम पड़ा है। पीढ़ियों तक सारी जनता काममें जुटी रहे तो भी काम पूरा न होगा. इतना पड़ा है। न अधिकांश लोगोंके पास रहने योग्य ठीक मकान हैं न सब जगह आतायातके लिये सड़कें हैं, न भरपूर कपड़े हैं, न घरमें जरूरी सामान है, न सबको उचित शिक्षण मिल

पाता है, न कलाओंका विकास हो पाता है, न चिकित्सा-की भरपूर व्यवस्था है, न सबके पास यातायातके भरपूर साधन हैं, इत्यादि असीम काम पड़ा है, इसलिए कामके अभावमें बेकारी नहीं है। एक तरफ काम पड़ा है, दूसरी तरफ कामकी सामग्री पड़ी है, तीसरी तरफ काम करने वाले बेकार बैठे हैं, इन तीनोंको मिलानेकी कोई आर्थिक व्यवस्था नहीं है यही बेकारीका कारण है जिससे असीम उत्पादन रुका पड़ा है और देश गरीब है।

३. कामचोरी—काम करने वाले नौकरोंमें उत्तेजनाका कोई कारण न होने से वे किसी तरह समय पूरा करते हैं कम-से-कम काम करते हैं, किसी न किसी बहानेसे समय बर्बाद करते हैं, मन्द गतिसे काम करते हैं इसलिये उत्पादन कम होता है। कामका ठेका दिया जाय या नौकरोंको हिस्सेदारकी तरह आमदनीमेंसे हिस्सा दिया जाय तो इस तरह समयकी बर्बादी न हो, न मन्दगतिसे काम हो। उत्पादन बढ़े। इसलिए किसी न किसी तरह-का संघीकरण करना जरूरी है।

४. असहयोग—व्यक्तिवादी आर्थिक व्यवस्था होनेसे काममें दूसरोंका उचित सहयोग नहीं मिलता इसलिए कार्य ठीक ढंगसे और ठीक परिमाणमें नहीं हो पाता, इसलिए उत्पादन काफी घट जाता है। जानकारोंकी सलाह न मिल सकना, यातायातके ठीक साधन न मिलना, या जरूरत समझी जानेसे काफी महंगे और अधूरे साधन मिलना, मजदूरोंका अड़कर बैठ जाना आदि असहयोगके कारण उत्पादन घटता है। व्यक्तिवादका यह स्वाभाविक पाप है।

५. वृथोत्पादकश्रम—श्रम करने पर उत्पादन तो होता है पर वह उत्पादन किसी कामका नहीं होता या उचित कामका नहीं होता। एक आदमी काफी मेहनत करके दवाइयाँ बनाता है, पर दवाई किसी कामकी नहीं होती सिर्फ किसी तरह दवाई बेच कर पेट पाल लिया जाता है। इसी तरह कोई बेकारके खिलौने बना कर पेट पालने लगता है, ये सब वृथोत्पादक श्रम हैं इनसे मेहनत तो होती है पर कुछ लाभ नहीं होता बल्कि कुछ सामग्री बेकार नष्ट हो जाती है। व्यक्तिवादकी प्रधानतामें जब आदमीको कोई धन्धा नहीं मिलता वह ऐसे वृथोत्पादक श्रम करके गुजर करने लगता है। जरूरी काम पड़े रहते हैं और बेजरूरी काम श्रम और साधनोंकी बर्बादी करने लगते हैं।

६. अनुत्पादकश्रम—जिसमें मेहनत तो की जाय पर उससे उत्पादन या काम कुछ न हो वह अनुत्पादक श्रम है।

बीमारीका इलाज करनेके लिए जप, होम, बलिदान, परिक्रमा तथा पूजा आदिमें धन और शक्ति बर्बाद करना या पानी बरसाने आदिके लिये ऐसे कार्य करना, जिससे शारीरिक शक्तिका कोई उपभोग नहीं ऐसी शारीरिक शक्ति बढ़ानेके लिये मेहनत करना जैसे पहलवानी आदि, शांतिकी ठीक योजनाओंके बिना विश्व शान्ति यज्ञ करना, आदि अनुत्पादक श्रम हैं।

मनुष्यजातिकी दृष्टिसे सैनिकताके कार्य भी अनुत्पादक श्रम हैं। फौजी बजटका बढ़ना भी देशकी गरीबीको निमन्त्रण देना है।

स्वास्थ्यके लिये व्यायाम करना, मनकी शांतिके लिये प्रार्थना आदि करना, अनुत्पादक श्रम नहीं है। क्योंकि जिस शारीरिक और मानसिक लाभके लिये वे किये जाते हैं। उस लाभके वे उचित उपाय हैं। अनुत्पादक श्रममें ऐसे अनुचित कार्य किए जाते हैं जो अपने लक्ष्यके उपाय साबित नहीं होते। अनुत्पादश्रममें देशका उत्पादन तो बढ़ता ही नहीं किन्तु उत्पादनके निमित्त धन-जन-शक्तिकी बर्बादी होती है।

७. पापश्रम—चोरी डकैती जुआ आदि कार्योंमें जो श्रम किया जाता है उससे पाप तो होता ही है पर देशमें उत्पादन कुछ नहीं बढ़ता। जिनका धन जाता है वे तो गरीब होते ही हैं पर जिन्हें धन मिलता है वे भी मुफ्तके धनको जल्दी उड़ा डालते हैं। इस तरह के पापकार्य जिस देशमें जितने अधिक होंगे देशकी गरीबी उतनी ही बढ़ेगी।

८. अल्पोत्पादकश्रम—जिस श्रमसे जितना पैदा होना चाहिये उससे कम पैदा करना, अर्थात्-थोड़े कार्यमें अधिक लोगोंका लगना या अधिक शक्ति लगना अल्पोत्पादकश्रम है। जैसे—

जो कार्य मशीनोंके जरिये अधिक मात्रामें पैदा किया जा सकता है उसे कोरे हाथोंसे करना। इससे अधिक आदमी अधिक शक्ति खर्च करके कम पैदा कर पायेंगे। जैसे मिलोंकी अपेक्षा हाथसे सूत कातना। इसमें अधिक आदमियोंके द्वारा थोड़ा कपड़ा पैदा होता है, कई ज्यादा

लगती है माल भी खराब बनता है। इसी प्रकार हाथसे कागज तैयार करना। इसमें भी समय ज्यादा लगता है और खराब माल तैयार होता है। मनुष्यकी शक्ति अधिक लगती है। जिस कामके लिये मशीनें नहीं हैं या जहां मशीनें नहीं मिल सकतीं वहाँकी बात दूसरी है पर बेकारी हटानेके नाम पर मशीनोंका बहिष्कार करना देशको कंगाल बनाना है। सबको जीविका देनेकी आर्थिक योजना न बनाकर हस्तोद्योगके नामपर व्यक्तिवाद पनपना देश और दुनियाके साथ दुश्मनी करना है, उन्हें कंगाल बनाना है।

जहाँ अमुक तरहका माल बेचनेके लिये पांच दुकानोंकी जरूरत है वहाँ पच्चीस दूकान बन जाना भी अल्पोपादक-श्रम है। क्योंकि ग्राहकोंकी सुविधा तो उतनी पैदा की जायगी पर श्रमखर्च होगा पांचकी जगह पच्चीस का। इस प्रकार हर एकका श्रम अल्पोत्पादक होगा। व्यक्ति-वादमें यह हानि स्वाभाविक है; क्योंकि किस किस काममें कहाँ कितने आदमियोंको लगानेकी जरूरत है इसकी कोई सामाजिक व्यवस्था तो होती नहीं है, जिसे जो करना होता है अपनी इच्छासे करने लगता है। इसलिये एक दुकानकी जगह चार दुकानदार एक प्रेसकी जगह चार प्रेस बन जाते हैं, ग्राहक एककी जगह चार जगह बट जाते हैं इसलिये दुकानको अधिक मुनाफा लेना पड़ता है, फिर भी बहुत अधिक नहीं लिया जा सकता है इसलिये उनको भी गरीबीमें रहना पड़ता है। इस प्रकार ग्राहक भी नुकसान उठाते हैं और दुकानदार भी नुकसान उठाते हैं पर व्यक्तिवादमें आज इसका इलाज नहीं है।

देशमें अल्पोत्पादनके लिये जितने आदमियोंकी जरूरत है उससे अधिक आदमियोंका उसी काममें खपाना भी अल्पोत्पादकश्रम है। अमेरिकामें एक समय अस्सी फीसदी आदमी खेतीमें लगे थे फल यह था कि अन्य उद्योग पनप नहीं पाते थे और देश गरीब था, अब पच्चीस फीसदी आदमी ही खेतीमें लगे हैं और देश अमीर है। जो लोग किसी भी एक काममें जरूरतसे ज्यादा आदमियोंको खपाने की योजना बनाते हैं व अल्पोत्पादक श्रमसे देशको कंगाल बनाते हैं। सम्भवतः वे शुभ कामनासे भी ऐसा करते होंगे पर उनकी शुभ कामनाएँ देशको कंगाल बनानेकी तरफ ही प्रेरित करती हैं। अंग्रेजीकी यह कहावत बहुत ठीक है कि 'नरकका रास्ता शुभकामनाओंसे पट पड़ा है'

और अल्पोत्पादक श्रमके समर्थकोंपर यह कहावत पूरी तरह लागू होती है।

बेकारी दूर करनेके दो उपाय हैं, एक तो अधिक आदमियोंसे अधिक उत्पादन करना, दूसरा पुराने या अल्प उत्पादनमेंही अधिक आदमियोंको खपा देना। पहिला तरीका समाजके वैभवका है, दूसरा समाजकी गरीबी या कंगालीका।

६. अनुत्पादकार्जन—कुछ लोग ऐसा काम करते हैं जिससे देशमें धनका या सुविधाका या गुणका उत्पादनतो नहीं बढ़ता फिर भी व्यक्तिगत रूपमें लोग कुछ कमा लेते हैं। यह अनुत्पादकार्जन है। इससे कुछ लोगोंकी शक्ति व्यर्थ जाती है। जो शक्ति कुछ उत्पादन कर सकती थी वह अनुत्पादक कार्योंमें खर्च हो जानेसे देशकी गरीबी ही बढ़ाती है।

सट्टा आदि इसी श्रेणी का है। इससे खींचतान कर कृत्रिमरूपमें बाजार ऊंचा-नीचा किया जाता है, और इसी उतार चढ़ावमें सटोरिये लोग व्यर्थ ही काफी सम्पत्ति झपट लेते हैं। वह सम्पत्ति ग्राहकों और उत्पादकोंके पाकिटसे छिनती है और कुछ मुफ्तखोरोंको अमीर बनाती है। देशका इससे कोई लाभ नहीं, श्रमका तथा धनका नुकसान ही है।

बीमा व्यवसाय भी इसी कोटिका है। इससे देशमें कुछ उत्पादन नहीं बढ़ता, बल्कि कभी कभी काफी नुकसान होता है। जैसे सम्पत्तिका अधिक बीमा कराके, सम्पत्तिमें इस ढंगसे आग लगा देना जो स्वाभाविक लगी हुई कहलाये, आग बुझाने की तत्परतासे कोशिश न करना, इस प्रकार सम्पत्ति नष्ट करके अधिक पैसे वसूल कर लेना। बीमा कम्पनियाँ ऐसे बदमाशोंका पैसा चुका तो देती है पर यह आता कहां से है ? दूसरे बीमावालोंके शोषणमें से ही यह पैसा लिया जाता है, यदि बीमा-कम्पनीका दिवाला निकल जाये तो शेयर होल्डरोंके पैसेसे यह चुकाना कहलाया। मतलब यह कि बीमा कम्पनियाँ बहुतसे ईमानदारोंको लुभाकर उनसे पैसा छीनती हैं और कुछ भले बुरोंको बांट देती हैं और खुद भी बीचमें दलाली खा जाती हैं। इससे इतने लोगोंकी शक्ति व्यर्थ तो जाती ही है, उत्पादन भी कुछ नहीं होता है, साथ ही समय समय पर लाखोंकी सम्पत्ति जानबूझ-कर बर्बाद की जाती है, यहां तक कि कभी कभी जीवन-

बीमामें मन्दविषसे या आकस्मिक कारणोंके बहाने जानें तक ले ली जाती हैं। पर यह व्यक्तिवादका अनिवार्य पाप बना हुआ है। यह भी अनुत्पादकार्जन है।

विज्ञापनबाजी और दलालीके भी बहुतसे काम अनुत्पादकार्जन हैं। इससे उत्पादन तो नहीं बढ़ता, सिर्फ व्यक्तिवादकी लूट खसौटमें ये बिचभैये भी कुछ लूट खसोट लेते हैं। यह भी व्यक्तिवादका अनिवार्य पाप बना हुआ है।

यह सब अनुत्पादकार्जन है इससे देश गरीब ही होता है। आवश्यक सीमित कलाकृतियाँ आनंद पैदा करनेके कारण अनुत्पादकार्जनमें न गिनी जायंगी।

१०. अनुचित वितरण—मेहनत और गुणके अनुसार फल न मिलना, यह अनुचित वितरण है। इससे एक तरफ मुफ्तखोरी विलास आदि बढ़ता है दूसरी तरफ अनुत्पादहीनता बढ़ती है। बेकारी शोषण आदि इसीके परिणाम हैं। इसे ही पूंजीवादका पाप कहते हैं। जो कि व्यक्तिवादका एक रूप है। इससे बेकारी फैलती है। मजदूरोंमें उत्साह नहीं होता, इससे उत्पादन रुकता है और विषम वितरणसे एक तरफ माल सड़ता है दूसरी तरफ मालके लिये लोग तड़पते रहते हैं इस प्रकार इससे देश कंगाल होता है।

किसी देशकी या मानव समाजकी गरीबीके ये दस कारण हैं। हमें इन सभी कारणोंको दूर करना है। किसी एक ही कारणको दूर करनेकी बात पर जोर देने से, एक कारण तो दूर किया जाता है पर दूसरे कारणको भुला दिया जाता है। जैसे साम्यवादी लोग विषम वितरणको हटानेकी बात कहकर अल्पोत्पादक श्रमको इतना अधिक भुला लेते हैं कि विषम वितरणकी गरीबीसे सैकड़ों गुणी गरीबी अल्पोत्पादकश्रमसे बढ़ जाती हैं। इसलिये गरीबीके दसों कारणोंको दूर करना चाहिये और एक कारण हटानेका विचार करते समय इस बातका ख्याल रखना चाहिये कि उससे गरीबीका दूसरा कारण उभड़ न पड़े या इतना न उभड़ पड़े कि एक तरफ जितनी गरीबी दूरकी जाय दूसरी तरफसे उससे अधिक गरीबी बुला ली जाय।

दुर्भाग्यसे इस समय देशमें गरीबीके सब कारणों पर विचार करने वाले राजनीतिक लोगोंकी कमी है। किसी एक दो कारणों पर जोर देनेवाले तथा दूसरे कारणोंको उभाड़ने वाले कार्यक्रमही वहाँ चल रहे हैं। यह देशका दुर्भाग्य है। इस दुर्भाग्यको दूर करनेके लिये सर्वतोमुख दृष्टिसे, विवेकसे और निरतिवादसे काम लेना चाहिये।

—'संगम' से

वीरसेवामन्दिरका नया प्रकाशन

पाठकोंको यह जानकर अत्यन्त हर्ष होगा कि आचार्य पूज्यपादका 'समाधितन्त्र और इष्टोपदेश' नामकी दोनों आध्यात्मिक कृतियाँ संस्कृतटीकाके साथ बहुत दिनोंसे अप्राप्य थी, तथा मुमुक्षु आध्यात्म प्रेमी महानुभावोंकी इन ग्रन्थोंकी मांग होनेके फलस्वरूप वीरसेवामन्दिरने समाधितन्त्र और इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ पंडित परमानन्द शास्त्री कृत हिन्दीटीका और प्रभाचन्द्राचार्यकृत समाधितन्त्र टीका और आचार्यकल्प पंडित आशाधरजी कृत इष्टोपदेशकी संस्कृतटीका भी साथमें लगा दी है। स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये यह ग्रन्थ खास तौरसे उपयोगी है। पृष्ठ संख्या सब तीनसौ से ऊपर है। सजिल्द प्रतिका मूल्य ३) रुपया और विना जिल्दके २॥) रुपया है। बाइंडिग होकर ग्रन्थ एक महीनेमें प्रकाशित हो जायगा। ग्राहकों और पाठकोंको अभीसे अपना आर्डर भेज देना चाहिये।

मैनेजर—वीरसेवामन्दिर,
१ दरियागंज, देहली

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(श्री पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

कारकलसे ३४ मील चलकर 'वरंगल' आए। यहाँ एक छोटीसी धर्मशाला एक कुआ और तालाबके अन्दर एक मंदिर है दूरसे देखने पर पावापुरका दृश्य आँखोंके सामने आ जाता है। मंदिरमें जानेके लिये तालाबमें एक छोटीसी नौका रहती है जिसमें मुश्किलसे १०-१२ आदमी बैठ कर जाते हैं। हमलोग ४-५ बारमें गए और उतनी ही बारमें वापिस लौट कर आए। नौकाका चार्ज ३॥) दिया। मंदिर विशाल है। ४-५ जगह दर्शन हैं। मूर्तियोंकी संख्या अधिक है और वे संभवतः दो सौके लगभग होंगी। मध्य मंदिरके चारों किनारों पर भी दश सुन्दर मूर्तियाँ विराजमान हैं। मन्दिरमें बैठ कर शांति का अनुभव होता है। इस मन्दिरका प्रबन्ध 'हुम्मच' के भट्टारके आधीन है। प्रबन्ध साधारण है। परन्तु तालाबमें सफाई कम थी—घास-फूस हो रहा था। बरसात कम होनेसे तालावमें पानी भी कम था, तालाव में कमल भी लगे हुए हैं, जब वे प्रातःकाल खिलते हैं तब तालाबकी शोभा देखते ही बनती है। गर्मीके दिनोंमें तालाबका पानी भी गरम हो जाता है। परन्तु मन्दिरमें स्थित लोगोंको ठंडी वायुके झकोरे शान्ति प्रदान करते हैं। उक्त भट्टारकजीके पास वरंगक्षेत्र-सम्बन्धी एक 'स्थलपुराण' और उसका महात्म्य भी है ऐसा कहा जाता है। हुम्मच शिमोगा जिले में है। यहांके पद्मावती वस्तिके मंदिरमें एक बड़ा भारी शिलालेख अंकित है जो कनाड़ी और संस्कृत भाषामें उत्कीर्ण किया हुआ है। उसमें अनेक जैनाचार्योंका इतिवृत्त और नाम अंकित मिलते हैं जो अनुसन्धान प्रिय विद्वानोंके लिये बहुत उपयोगी हैं। यहाँ पुरानी भट्टारकीय गद्दी है जिस पर आज भी भट्टारक देवेन्दुकीर्ति मौजूद हैं। यहाँ एक शास्त्रभंडार भी है जिसमें संस्कृत प्राकृत और कनाड़ी भाषाके अनेक अप्रकाशित ग्रन्थ मौजूद हैं।

वरंगसे चलते समय काजू और सुपारी आदिके विशाल सुन्दर पेड़ दिखाई देते थे। दृश्य बड़ा ही मनोरम था। सड़कके दोनों ओरकी हरित वृक्षावली दर्शकके चित्तको आकृष्ट कर रही थी। हम लोग वरंग से १०-१२ मीलका ही रास्ता तय कर पाये थे कि पुलिस चौकीके समीप हमें रुकना पड़ा। और शिमोगा जानेके लिये हमें बतलाया गया कि इस रास्तेसे लारी नहीं जा सकती आपको कुछ घेरेसे जाना पड़ेगा। अतः हमें विवश हो कर सीधा मार्ग छोड़ कर मोड़से बांए हाथकी ओर वाली सड़कसे गुजरना पड़ा, क्योंकि सीधे रास्तेसे जाने पर नदीके पुल पर से कार ही जा सकती थी, लारी नहीं, उस मोड़से हम दो तीन मील ही चले थे कि एक ग्राम मिला, जिसका नाम मुझे इस समय स्मरण नहीं है, वहाँ हम लोगोंने शामका भोजन किया। उसके बाद उसी गांवकी नदीके मध्यमें से निकल कर पार वाली घाटीकी सड़कमें हमारा रास्ता मिल गया। यहाँ नदीका पुल नहीं है, नदीमें पानी अधिक नहीं था, सिर्फ घुटने तक ही था, हम लोगोंने लारीसे उतर कर नदीको पैरोंसे पार कर पुनः लारीमें बैठ गए। घाटीके रास्तेमें ६ मीलकी चढ़ाई है और इतनी ही उतराई है। सड़कके दोनों ओर सघन वृक्षोंकी ऊँची ऊँची विशाल पंक्तियाँ मनोहर जान पड़ती हैं। वृक्षोंकी सघन कतारों के कारण ऊँची नीची भूमि-विषयक विषम स्थान दुर्गम से दिखाई देते थे। चढ़ाई अधिक होनेके कारण मोटरका इञ्जन जब अधिक गर्म हो जाता था तब हम लोग उतर कर कुछ दूर पैदल ही चलते थे। परन्तु रात्रिको वह स्थान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था। कहा जाता है कि उस जंगलमें शेर व्याघ्र, चीता वगैरह हिंस्र-जन्तुओंका निवास है। पर हम लोग बिना किसी भयके १८ मील लम्बी उस घाटीको पार कर ३॥ बजे रात्रिके करीब शिमोगा पहुंचे। और वहां दुकानोंकी पटड़ियों पर बिछौना बिछा कर थोड़ी नींद ली। और प्रातः काल नैमित्तिक कार्योंसे निवृत्त होकर तथा मंदिरमें दर्शन कर हरिहरके लिये चल दिये। और साढ़े ग्यारह बजेके लगभग हम हरिहर पहुँचे। हरिहरमें हम सरकारी बंगलामें ठहरे और वहाँ भोजनादि बना खाकर दो बजेके करीब चलकर रातको ८॥ बजेके लगभग हुगली पहुंचे और मोटरसे केवल बिस्तरादि उतार कर हम लोगोंने मंदिरमें दर्शन किये मंदिर अच्छा है उस में मूल नायककी मूर्ति बड़ी सुन्दर हैं। जैन मन्दिरकी

धर्मशालामें थोड़ेसे स्थानमें रात्रिको विश्राम करना पड़ा; क्योंकि धर्मशाला अन्य यात्रियोंसे भरी हुई थी, उनके शोरोगुलसे रात्रिमें नींद नहीं आई, फिर भी प्रातःकाल चार बजे उठ कर चल दिये, और रास्तेमें भोजनादि कार्योंसे उन्मुक्त हो कर २॥ बजेके करीब हम लोग बीजापुर पहुंचे।

बीजापुर—बम्बई अहातेके दक्षिणी विभागका एक प्राचीन प्रसिद्ध नगर था। इसे पूर्व समयमें 'विजयपुर' के नामसे पुकारा जाता था ईसाकी द्वितीय शताब्दीमें इस नगर पर बादामीके राष्ट्रकूट राजाओंका सन् ७६० से ९७३ तक अधिकार रहा है। उनके बाद सन् ९७३ से ११६० तक कलचूरी राजाओंका और होसाल वंशके यशस्वी राजा बल्लालका अधिकार रहा है। जिनमें दक्षिणी बीजापुरमें सिंदा राजाओंने सन् ११२० से ११८० तक शासन किया है। इनमें अधिकांश राजा जैनधर्म प्रिय थे—उनकी जैन धर्मपर आस्था और प्रेम था, यही कारण है कि इनके समयमें इस प्रान्तमें सैकड़ों जैन मंदिर बने थे परंतु आज उन मंदिरोंके प्राचीन खंडहरात और अनेक मूर्तियाँ मूर्ति-लेखोंसे अंकित पाई जाती हैं। और सन् ११७० से १३वीं शताब्दीतक यादव वंशके राजाओंने मुसलमानोंके आक्रमणसे पूर्व तक राज्य किया है। मुसलमान बादशाहोंमें सबसे पहले अलाउद्दीन खिलजीने देवगिरि पर हमला किया था। और वहां से बहुमूल्य सम्पत्ति रत्न जवाहिरात और सोना वगैरह लूट कर लाया था इसने यादव वंशके नवमें राजा रामदेवको परास्त किया था। सन् १६८६ ई० में औरंगजेबने बीजापुर पर कब्जा कर लिया। इसने इस प्रान्तके अनेक मन्दिरोंको धराशायी करवा दिया और मूर्तियोंको खंडित करवा दिया। बीजापुरके मुसलमानों के सातवें बादशाह मुहम्मद आदिल शाहने एक मकबरा बनवाया था जो 'गोल गुम्बज' के नामसे आज भी प्रसिद्ध है। इसमें आवाज लगानेसे जो प्रतिध्वनि निकलती है वह बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है इसी कारण इसे 'बोली गुम्बज' भी कहा जाता है। मुसलमानोंके बाद बीजापुर पर महाराष्ट्रोंका अधिकार हो गया और उनके बाद अंग्रेजोंका शासन रहा है।

बीजापुरमें जैनियोंके पच्चीस तीस घर हैं जिनमें दशा हूमड़, पंचम कासार आदि जातियोंके लोग पाये जाते हैं। शहरमें दो दिगम्बर जैनमंदिर हैं जिनमें पार्श्वनाथकी मूलनायक प्रतिमा विराजमान हैं। हम लोगोंने उनकी सानन्द बन्दना की। बीजापुरसे दो मील दूरी पर जमीनमें गड़ा अति प्राचीनकालीन कला-कौशल सम्पन्न भगवान पार्श्वनाथका मंदिर मिला था। उसमें भगवान पार्श्वनाथकी लगभग एक हाथ ऊँची १०८ सर्प फणोंसे युक्त पद्मासन मूर्ति विराजमान है। उसके सिंहासन पर कनड़ी भाषामें एक शिलालेख उत्कीर्ण किया हुआ है; परन्तु उसके अक्षर अत्यन्त घिस जानेसे पढ़नेमें नहीं आते। बीजापुरके पंच ही उक्त मन्दिरकी पूजाका प्रबन्ध करते हैं।

मुसलमानोंके शासन कालमें दर्शनीय पुरातन जैन मन्दिरोंको ध्वंस करा दिया था और मूर्तियोंको अखण्डितदशामें चन्दा बावड़ीमें फिकवा दिया गया था। किलेमें जो जैन मूर्तियाँ मिली थीं उन्हें और बावड़ी वाली मूर्तियोंको अंग्रेजोंने बोली गुम्बज वाले पुरातन संग्राहलयमें रखवा दिया था। संग्राहलयकी मूर्तियोंमें से एक मूर्ति काले पाषाणकी है जो करीब तीन हाथ ऊँची होगी। इस मूर्तिके आसनमें जो लेख अंकित है वह संवत् १२३२ का है यह लेख मैंने उसी समय पूरा नोट कर लिया था; परन्तु वह यात्रामें इधर उधर हो गया, इसी कारण उसे यहाँ नहीं दिया जा सका।

बीजापुरमें मुसलमानोंकी दो मस्जिदें हैं, जो पुरानी मस्जिद और जुम्मा मस्जिदके नामसे पुकारी जाती हैं। कहा जाता है कि ये दोनों ही मस्जिदें हिन्दू और जैन मन्दिरोंको तोड़ कर उनके पत्थरों और स्तम्भोंसे बनाई गई हैं। पुरानी मस्जिदके मध्यकी लेन उत्तरी बगलके पास नक्काशीदार एक काले स्तम्भ पर कनाड़ी अक्षरोंमें संस्कृतका एक शिला लेख अंकित है इतना ही नहीं किन्तु चारों ओरके अन्य कई स्तम्भों पर भी संस्कृत और कनड़ीमें लेख उत्कीर्ण हैं उनमें एक लेख सन् १३२० ई० का बतलाया जाता है। इन सब उल्लेखोंसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त शिलालेख वाले पुरातन जैन पाषाण स्तम्भ जैन मन्दिरोंके हैं। इस तरह जैनियोंके धार्मिक स्थानोंका मुसलमानोंने विध्वंस किया है। परन्तु जैनियोंने आज तक किसीके धार्मिक स्थानों.

को क्षति पहुंचानेका कोई उपक्रम नहीं कियां।

बीजापुरसे चलकर हम लोग रास्तेमें एक बड़ी नदीको पार कर १ बजेके करीब शोलापुर पहुँचे और जैन श्राविकाश्रममें ठहरे।

प्रात कालकी नैमित्तिक क्रियाओंसे फारिख हो कर जिनमन्दिरमें दर्शन किये और श्रीमती सुमतिबाईने श्राविकाश्रममें एक सभाका आयोजन किया जिसमें मुख्तार सा० ला० राजकृष्णजी बाबूलाल जमादार, मेरा, विद्युल्लता और सुमतिबाईजीके संक्षिप्त भाषण हुए। श्राविकाश्रमका कार्य अच्छा चल रहा है। श्री सुमतिबाई जी अपना अधिकांश समय संस्था-संचालनमें तथा कुछ समय ज्ञान-गोष्ठीमें भी बिताती हैं। सोलापुरमें कई जैनसंस्थाएँ हैं। जैन समाजका पुरातन पत्र 'जैन बोधक' यहाँ से ही प्रकाशित होता है, श्रीकुन्थुसागर ग्रंथमालाके' प्रकाशन भी यहाँ से ही होते हैं और जीवराज ग्रन्थ-मालाका आफिस और सेठ माणिकचन्द दि० जैन परीक्षालय बम्बईका दफ्तर भी यहाँ ही है। सोलापुर व्यापारका केन्द्रस्थल है। सोलापुरसे ता० १२ के दुपहर बाद चल कर हम लोग बार्सी आए। और वहां सेठजीके एक क्वाटरमें ठहरे जो एक मिलके मालिक हैं और जिनके अनुरोधसे आचार्य शांतिसागरजी उन्हींके बगीचेमें ठहरे हुए थे। हम लोगोंने रात्रिमें विश्राम कर प्रातःकाल आवश्यक क्रियाओंसे निमिट कर आचार्यश्रीके दर्शन करने गये। प्रथम जिनदर्शन कर आचार्य महाराजके दर्शन किये, जहाँ पं० तनसुखरायजी कालाने लाला राजकृष्णजी और मुख्तार साहब आदिका परिचय कुछ भ्रान्त एवं आक्षेपात्मकरूपमें उपस्थित किया जिसका तत्काल परिहार किया गया और जनता ने तथा आचार्य महाराजने पंडितजीकी उस अनर्गल प्रवृत्तिको रोका। उसके बाद आचार्य महाराजका उपदेश प्रारम्भ हुआ। आपने श्रावक व्रतोंका कथन करते हुए कहा कि जिन भगवानने श्रावकोंको जिन पूजादिका उपदेश दिया। तब मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीने आचार्यश्रीसे पूछा कि-महाराज आचार्य पात्रकेशरीने, जो अकलंकदेवसे पूर्ववर्ती हैं, उन्होंने अपने 'जिनेन्द्र-स्तुति' नामके ग्रन्थमें यह स्पष्ट बतलाया है कि ज्वलित (देदीप्यमान) केवल ज्ञानके धारक जिनेन्द्रभगवानने मुक्ति-सुखके लिये चैत्यनिर्माण करना, दान देना और पूजनादिक क्रियाओंका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि ये सब क्रियाएँ प्राणियोंके मरण और पीड़नादिककी कारण हैं; किन्तु आपके गुणोंमें अनुराग करने वाले श्रावकोंने स्वयं ही उनका अनुष्ठान कर लिया है जैसा कि उनके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

"विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः,
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीड़नादिहेतवः।"
त्वया ज्वलितकेवलेन नहि देशितः किंतु ता—
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥३७॥

इस पद्यको सुनकर आचार्यश्रीने कहा कि आदि-पुराणमें जिनसेनाचार्योंने जिनपूजाका सम्मुल्लेख किया है। तब मुख्तार साहबने कहा कि भगवान आदि नाथने गृहस्थ अवस्थामें भले ही जिनपूजाका उपदेश दिया हो; किन्तु केवलज्ञान प्राप्त करनेके बाद उपदेश दिया हो, ऐसा कोई उल्लेख अभी तक किसी ग्रन्थमें देखनेमें नहीं आया। इसके बाद आचार्यश्रीसे कुछ समय एकान्तमें तत्त्व चर्चाके लिए समय प्रदान करनेकी प्रार्थना की गई, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। अनन्तर आचार्यश्री चर्याके लिए चले गए। और हम लोग उनके आहारके बाद डेरे पर आये, तथा भोजनादिसे निवृत्त होकर और सामानको लारीमें व्यवस्थित कर आचार्यश्रीके पास मुख्तार सा०, लाला राजकृष्णजी और सेठ छदामीलालजी बाबूलाल जमादार और मैं गए। और करीब डेढ़ घण्टे तक विविध विषयों पर बड़ी शांतिसे चर्चा होती रही। पश्चात् हम लोग ४ बजेके लगभग बार्सीटाउनसे रवाना होकर सिद्ध क्षेत्र कुंथलगिरी आये। कुंथलगिरिमें देखा तो धर्मशाला यात्रियोंसे परिपूर्ण थी। फिर भी जैसे तैसे थोड़ी नींद ले कर रात्रि व्यतीत की, रात्रिमें और भी यात्री आये। और प्रातःकाल नैमित्तिक क्रियाओंसे निमिट कर वन्दना की। निर्वाणकाण्डके अनुसार कुंथलगिरिसे कुलभूषण और देशभूषण मुनि मुक्ति गये थे जैसा कि निर्वाणकाण्डकी निम्न गाथासे प्रकट है :—

वंसस्थलवरणियरे पच्छिमभायम्मि कुंथुगिरीसिहरे
कुलदेसभूसणमुणी, णिव्वाणगया णमो तेसिं ॥

यहाँ पर १० १२ मन्दिर हैं। पर वे प्रायः सब ही

आधुनिक हैं प्राचीन मंदिर जीर्णशीर्ण हो गया था जिसका जीर्णोद्धार संवत् १६३२ में भट्टारक कनककीर्ति ईडरवालोंकी ओरसे किया गया था। यहाँ एक ब्रह्मचर्याश्रम भी है जिसमें उस प्रान्तके अनेक विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। यह क्षेत्र कितना पुराना है इसका कोई इतिवृत्त मुझे जल्दीमें प्राप्त नहीं हो सका। हम लोगोंने सानन्द यात्रा की। और भोजनादिके पश्चात् यहांसे औरंगाबादके लिये रवाना हुए। (क्रमशः)

जैनधर्म और जैनदर्शन

(लेखक : श्री अम्बुजाक्ष एम. ए. बी. एल.)

पुण्यभूमि भारतवर्षमें वैदक (हिन्दू) बौद्ध और जैन इन तीन प्रधान धर्मोंका अभ्युत्थान हुआ है। यद्यपि बौद्धधर्म भारतके अनेक सम्प्रदायों और अनेक प्रकारके आचारों व्यवहारोंमें अपना प्रभाव छोड़ गया है, परन्तु वह अपनी जन्मभूमिसे खदेड़ दिया गया है और सिंहल, ब्रह्मदेश, तिब्बत, चीन आदि देशोंमें वर्तमान है। इस समय हमारे देशमें बौद्धधर्मके सम्बन्धमें यथेष्ट आलोचना होती है, परन्तु जैनधर्मके विषयमें अब तक कोई भी उल्लेख योग्य आलोचना नहीं हुई। जैनधर्मके सम्बन्धमें हमारा ज्ञान बहुतही परिमित है। स्कूलोंमें पढ़ाये जाने वाले इतिहासोंके एक दो पृष्ठोंमें तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रचारित जैनधर्मके सम्बन्धमें जो अत्यन्त संक्षिप्त विवरण रहता है, उसको छोड़ कर हम कुछ भी नहीं जानते। जैनधर्म-सम्बन्धी विस्तृत आलोचना करनेकी लोगोंकी इच्छा भी होती है, पर अभी तक उसके पूर्ण होनेका कोई विशेष सुभीता नहीं है। कारण दो चार ग्रन्थोंको छोड़ कर जैनधर्म सम्बन्धी अगणित ग्रन्थ अभी तक भी अप्रकाशित हैं; भिन्न-भिन्न मन्दिरोंके भण्डारोंमें जैन ग्रन्थ छुपे हुए हैं, इसलिए पठन या आलोचना करनेके लिए ये दुर्लभ हैं।

हमारी उपेक्षा तथा अज्ञता

बौद्धधर्मके समान जैनधर्मकी आलोचना क्यों नहीं हुई? इसके और भी कई कारण हैं। बौद्धधर्म पृथ्वीके एक तृतीयांश प्राणियोंका धर्म है, किन्तु भारतके चालीस करोड़ लोगोंमें जैनधर्मावलम्बी केवल लगभग बीस लाख हैं। इसी कारण बौद्धधर्मके समान जैनधर्मके गुरुत्वका किसी को अनुभव नहीं होता। इसके अतिरिक्त भारतमें बौद्ध प्रभाव विशेषताके साथ परिस्फुटित है। इसलिए भारतके इतिहासकी आलोचनामें बौद्धधर्मका प्रसंग स्वयं ही आकर उपस्थित हो जाता है। अशोकस्तम्भ, चीनी यात्री ह्वेन्सांग का भारत भ्रमण, आदि जो प्राचीन इतिहासकी निर्विवाद बातें हैं उनका बहुत बड़ा भाग बौद्धधर्मके साथ मिला हुआ है भारतके कीर्तिशाली चक्रवर्ती राजाओंने बौद्धधर्मको राजधर्मके रूपमें ग्रहण किया था, इसलिए किसी समय हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी तककी समस्त भारत भूमि पीले कपड़े वालोंसे व्याप्त हो गयी थी। किन्तु भारतीय इतिहासमें जैनधर्मका प्रभाव कहाँ तक विस्तृत हुआ था यह अब तक भी पूर्ण रूपसे मालूम नहीं होता है। भारतके विविध स्थानोंमें जैनकीर्तिके जो अनेक ध्वंसावशेष अब भी वर्तमान हैं। उनके सम्बन्धमें अच्छी तरह अनुसन्धान करके ऐतिहासिक तत्त्वोंको खोजनेकी कोई उल्लेख योग्य चेष्टा नहीं हुई है। मैसूर राज्यके श्रवणबेलगोल नामके स्थानके चन्द्रगिरि पर्वत पर जो थोड़ेसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उनसे मालूम होता है कि मौर्यवंशके प्रतिष्ठाता महाराज चन्द्रगुप्त जैनमतावलम्बी थे। इस बातको श्री विन्सेंट स्मिथने अपने भारतके इतिहासके तृतीय संस्करण (१९१४) में लिखा है परन्तु इस विषयमें कुछ लोगोंने शंका की है किन्तु अब अधिकांश मान्य विद्वान इस विषयमें एक मत हो गये हैं। जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि महाराज चन्द्रगुप्त (छट्ठे ?) पाँचवे श्रुतकेवली भद्रबाहुके द्वारा जैनधर्ममें दीक्षित किये गये थे और महाराज अशोक भी पहले अपने पितामहसे ग्रहीत जैनधर्मके अनुयायी थे; पर पीछे उन्होंने जैनधर्मका परित्याग करके बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था। भारतीय विचारों पर जैनधर्म और जैनदर्शनने क्या प्रभाव डाला है, इसका इतिहास लिखनेके समग्र उपकरण अब भी संग्रह नहीं किए गए हैं। पर यह बात अच्छी तरह निश्चित हो चुकी है कि जैन विद्वानोंने न्यायशास्त्रमें बहुत अधिक उन्नति

की थी। उनके और बौद्धनैयायकोंके संसर्ग और संघर्षके कारण प्राचीन न्यायका कितना ही अंश परिवर्द्धित और परिवर्तित किया गया और नवीन न्यायके रचनेकी आवश्यकता हुई थी। शाकटायन आदि वैयाकरण, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र-स्वामी, उमास्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, भट्टाकलङ्कदेव, आदि नैयायिक, टीकाकृत कुलरवि मल्लिनाथ, कोषकार अमरसिंह, अभिधानकार पूज्यपाद, हेमचन्द्र तथा गणितज्ञ महावीराचार्य, आदि विद्वान् जैन धर्मावलम्बी थे। भारतीय ज्ञान भण्डार इन सबका बहुत ऋणी है।

अच्छी तरह परिचय तथा आलोचना न होनेके कारण अब भी जैनधर्मके विषयमें लोगोंके तरह तरह के ऊटपटांग ख्याल बने हैं। कोई कहता था यह बौद्धधर्मका ही एक भेद है। कोई कहता था वैदिक (हिन्दू) धर्म में जो अनेक सम्प्रदाय हैं, इन्हींमेंसे यह भी एक है जिसे महावीर स्वामी-ने प्रवर्तित किया था। कोई कोई कहते थे कि जैन आर्य नहीं हैं, क्योंकि वे नग्न मूर्तियोंको पूजते हैं। जैनधर्म भारतके मूलनिवासियोंके किसी एक धर्म सम्प्रदायका केवल एक रूपान्तर है। इस तरह नाना अनभिज्ञताओंके कारण नाना प्रकारकी कल्पनाओंसे प्रसूत भ्रांतियाँ फैल रही थीं, उनकी निराधारता अब धीरे-धीरे प्रकट होती जाती है।

जैनधर्म बौद्धधर्मसे अति प्राचीन

यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा नहीं है महावीर स्वामी जैनधर्मके संस्थापक नहीं हैं, उन्होंने केवल प्राचीन धर्मका प्रचार किया था। महावीर या वर्द्धमान स्वामी बुद्धदेवके समकालीन थे। बुद्धदेवने बुद्धत्व प्राप्त करके धर्मप्रचार कार्यका व्रत लेकर जिस समय धर्मचक्रका प्रवर्तन किया था, उस समय महा-वीर स्वामी एक सर्व विश्रुत तथा मान्यधर्म शिक्षक थे। बौद्धोंके त्रिपिटिक नामक ग्रन्थमें 'नातपुत्त' नामक जिस निर्ग्रन्थ धर्मप्रचारकका उल्लेख है, वह 'नातपुत्त' ही महावीर स्वामी हैं उन्होंने ज्ञातृनामक क्षत्रियवंशमें जन्मग्रहण किया था, इसलिए वे ज्ञातपुत्र[1] (पाली भाषामें जा [ना] त पुत्र) कहलाते थे। जैन मतानुसार महावीरस्वामी चौबीसवें या अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके लगभग २०० वर्ष पहले तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथस्वामी हो चुके थे। अब तक इस विषयमें सन्देह था कि पार्श्वनाथ स्वामी ऐतिहासिक व्यक्ति थे या नहीं; परन्तु डा० हर्मन जैकोबीने सिद्ध किया है कि पार्श्वनाथने ईसासे पूर्व आठवीं शताब्दीमें जैनधर्मका प्रचार किया था। पार्श्वनाथके पूर्ववर्ती अन्य बाईस तीर्थंकरों-के सम्बन्धमें अब तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है।

दिगम्बर मूल परम्परा है

'तीर्थिक', निर्ग्रन्थ, और नग्न नाम भी जैनोंके लिये व्यवहृत होते हैं। यह तीसरा नाम जैनोंके प्रधान और प्राचीनतम दिगम्बर सम्प्रदायके कारण पड़ा है। मेगस्थनीज इन्हें नग्न दार्शनिक (Gymnosphists) के नामसे उल्लेख करता है। ग्रीस देशमें एक ईलियाटिक नामका सम्प्रदाय हुआ है। वह नित्य, परिवर्तन रहित एक अद्वैत सत्तामात्र स्वीकार करके जगतके सारे परिवर्तनों, गतियों और क्रियाओंकी संभावनाको अस्वीकार करता है। इस मतका प्रतिद्वन्द्वी एक 'हिराक्लीटियन' सम्प्रदाय हुआ है वह विश्वतत्त्वकी (द्रव्य) की नित्यता सम्पूर्ण रूपसे अस्वीकार करता है। उसके मतसे जगत सर्वथा परिवर्तनशील है। जगत-स्रोत निरबाध गतिसे बह रहा है, एक क्षण भरके लिए भी कोई वस्तु एक भावसे स्थित होकर नहीं रह सकती। ईलियाटिक-सम्प्रदायके द्वारा प्रचारित उक्त नित्य-वाद और हीराक्लीटियन सम्प्रदाय द्वारा प्रचारित परिवर्तन-वाद पाश्चात्य दर्शनोंमें समय समय पर अनेक रूपोंमें नाना समस्याओंके आवरणमें प्रकट हुए हैं। इन दो मतोंके सम-न्वयकी अनेक बार चेष्टा भी हुई है; परन्तु वह सफल कभी नहीं हुई। वर्त्तमान समयके प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक बर्ग-सान (Bergson) का दर्शन हिराक्लीटियनके मतका ही रूपान्तर है।

भारतीय नित्य-अनित्यवाद

वेदान्तदर्शनमें भी सदासे यह दार्शनिक विवाद प्रकाश-मान हो रहा है। वेदान्तके मतसे केवल नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभाव चैतन्य ही 'सत्' है, शेष जो कुछ है वह केवल नाम रूपका विकार 'माया प्रपंच'—'असत्' है। शङ्कराचार्यने सत् शब्दकी जो व्याख्या की है उसके अनुसार हम दिखलाई देने वाले जगत प्रपंचकी कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें जिस वस्तुके

[1] दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें महावीर स्वामीके वंशका उल्लेख 'नाथ' नामसे मिलता है, जो निश्चय ही ही 'ज्ञातृ' के प्राकृत रूप 'णात' का ही रूपान्तर है।

सम्बन्धमें बुद्धिकी भ्रांति नहीं होती, वह सत् है और जिसके सम्बन्धमें व्यभिचार होता है—वह असत् है[१]। जो वर्त्तमान समयमें है, वह यदि अनादि अतीतके किसी समयमें नहीं था और अनन्त भविष्यत्के भी किसी समयमें नहीं रहेगा, तो सत् नहीं हो सकता—वह असत् है। परिवर्तनशील असद्वस्तुके साथ वेदान्तका कोई सम्पर्क नहीं है! वेदांत-दर्शन केवल अद्वैत सद्ब्रह्मतत्त्व दृष्टिसे अनुसंधान करता है। वेदान्तकी यही प्रथम बात है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और यही अन्तिम बात है। क्योंकि—'तस्मिन् विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञातं भवति'।

वेदान्तके समान बौद्धदर्शनमें कोई त्रिकाल अव्यभिचारी नित्य वस्तु नहीं मानी गयी है बौद्ध क्षणिकवादके मतसे 'सर्वः क्षणं क्षणं'। जगत् स्रोत अप्रतिहततया अबाध गतिसे बराबर बह रहा है—क्षणभरके लिए भी कोई वस्तु एक ही भावसे एक ही अवस्थामें स्थिर होकर नहीं रह सकती। परिवर्तन ही जगतका मूलमन्त्र है! जो इस क्षणमें मौजूद है, वह आगामी क्षणमें ही नष्ट होकर दूसरा रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार अनन्त मरण और अनन्त क्रीडायें इस विश्वके रंगमंच पर लगातार हुआ करती हैं। यहाँ स्थिति, स्थैर्य, नित्यता असम्भव है।

जैन अनेकान्त

'स्याद्वादी जैनदर्शन वेदान्त और बौद्धमतकी आंशिक सत्यताको स्वीकार करके कहता है कि विश्वतत्व या द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी। वह उत्पत्ति, ध्रुवता और विनाश इन तीन प्रकारकी परस्पर विरुद्ध अवस्थाओंमेंसे युक्त है। वेदान्तदर्शनमें जिस प्रकार 'स्वरूप' और 'तटस्थ' लक्षण कहे गये हैं उसी प्रकार जैनदर्शनमें प्रत्येक वस्तुको समझानेके लिये दो तरहसे निर्देश करनेकी व्यवस्था है। एकको कहते हैं 'निश्चयनय' और दूसरेको कहते हैं 'व्यवहारनय'। स्वरूप लक्षणका जो अर्थ है, ठीक वही अर्थ निश्चयनयका है। वह वस्तुके निजभाव या स्वरूपको बतलाता है। व्यवहारनय वेदांतके तटस्थ लक्षणके अनुरूप है। उससे वर्ण्यमाण वस्तु किसी दूसरी-वस्तुकी अपेक्षासे वर्णित होती है। द्रव्य निश्चयनयसे ध्रुव है किन्तु व्यवहारनयसे उत्पत्ति और विनाशशील है, अर्थात् द्रव्यके स्वरूप या स्वभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो वह नित्यस्थायी पदार्थ है, किन्तु साक्षात् परिदृश्यमान व्यवहारिक जगतकी अपेक्षासे देखा जाय तो वह अनित्य और परिवर्तनशील है। द्रव्यके सम्बन्धमें नित्यता और परिवर्तन आंशिक या अपेक्षिक भावसे सत्य है—पर सर्वथा एकांतिक सत्य नहीं है। वेदान्तने द्रव्यकी नित्यता के ऊपर ही दृष्टि रखी है और भीतरकी वस्तुका सन्धान पाकर, बाहरके परिवर्तनमय जगत-प्रपञ्चको तुच्छ कह कर उड़ा दिया है; और बौद्ध क्षणिकवादने बाहरके परिवर्तनकी प्रचुरताके प्रभावसे रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादिकी विचित्रतामें ही मुग्ध होकर इस बहिर्वैचित्र्यके कारणभूत, नित्य-सूत्र अभ्यंतरको खो दिया है। पर स्याद्वादी जैनदर्शनने भीतर और बाहर, आधार आधेय, धर्म और धर्मी, कारण और कार्य, अद्वैत और वैविध्य दोनोंको ही यथास्थान स्वीकार कर किया है।

स्याद्वादकी व्यापकता

'इस तरह स्याद्वादने, विरुद्ध वादोंकी मीमांसा करके उनके अन्तःसूत्र रूप आपेक्षिक सत्यका प्रतिपादन करके उसे पूर्णता प्रदान की है। विलियम जेम्स नामके विद्वान-द्वारा प्रचारित—Pragmtaism वादके साथ स्याद्वादकी अनेक अंशोंमें तुलना हो सकती है। स्याद्वादका मूलसूत्र जुदे-जुदे दर्शन शास्त्रोंमें जुदे-जुदे रूपमें स्वीकृत हुआ है। यहाँ तक कि शंकराचार्यने पारमार्थिक-सत्यसे व्यवहारिक सत्यको जिस कारण विशेष रूपमें माना है, वह इस स्याद्वादके मूलसूत्रके साथ अभिन्न है। श्रीशंकराचार्यने परिदृश्यमान या दिखलायी देने वाले जगतका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया है। बौद्ध विज्ञानवाद एवं शून्यवादके विरुद्ध उन्होंने जगतकी व्यवहारिक सत्ताको अत्यन्त दृढ़ताके साथ प्रमाणित किया है। समतल भूमि पर चलते समय एक तल्ल, द्वितल्ल, त्रितल्ल, आदि उच्चताके नानाप्रकारके भेद हमें दिखलायी देते हैं, किन्तु बहुत ऊँचे शिखरसे नीचे देखने पर सत खण्डा महल और कुटियामें किसी प्रकारका भेद नहीं जान पड़ता। इसी तरह ब्रह्मबुद्धिसे देखने पर जगतमायाका विकास, ऐन्द्रजालिक रचना अर्थात् अनित्य है; किन्तु साधारण बुद्धिसे देखने पर जगतकी सत्ता स्वीकार करना ही पड़ती है। दो प्रकारका सत्य दो विभिन्न दृष्टियोंके कारणसे स्वयं सिद्ध हैं। वेदांतसारमें मायाको जो प्रसिद्ध 'संज्ञा' दी गई है, उससे भी इस प्रकारकी भिन्न दृष्टियोंसे समुत्पन्न सत्यताके भिन्न रूपोंकी स्वीकृति

---

१ 'यद्विषया बुद्धिर्नव्यभिचरति तत्सत्,
यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति तदसत्'।
गीता शंकरभाष्य २—१६।

इष्ट है। बौद्ध दर्शनवादमें शून्यका जो व्यतिरेकमुख लक्षण किया है, उसमें भी स्याद्वादकी छाया स्पष्ट प्रतीत होती है। अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति दोनों, अस्ति नास्ति दोनों नहीं, इन चार प्रकारकी भावनाओंके जो परे हैं, उसे शून्यत्व कहते हैं १। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी दर्शनोंके जुदे-जुदे स्थानोंमें स्याद्वादका मूलसूत्र तत्वज्ञानके कारण रूपसे स्वीकृत होने पर भी, स्याद्वादको स्वतन्त्र उच्च दार्शनिक मतके रूपमें प्रसिद्ध करनेका गौरव केवल जैनदर्शनको ही मिल सकता है।

जैनसृष्टिक्रम—

जैनदर्शनके मूलतत्त्व या द्रव्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है उससे ही मालूम हो जाता है कि जैनदर्शन यह स्वीकार नहीं करता कि सृष्टि किसी विशेष समयमें उत्पन्न हुई है। एक ऐसा समय था जब सृष्टि नहीं थी, सर्वत्र शून्यता थी, उस महाशून्यके भीतर केवल सृष्टिकर्ता अकेला विराजमान था और उसी शून्यसे किसी एक समयमें उसने उस ब्रह्माण्डको बनाया। इस प्रकारका मत दार्शनिक दृष्टिसे अतिशय भ्रमपूर्ण है। शून्यसे (असतसे) सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत्कार्यवादियोंके मतसे केवल सत्से ही सत्की उत्पत्ति होना सम्भव है २। सत्कार्यवादका यह मूलसूत्र संक्षेपमें भगवत् गीतामें मौजूद है। सांख्य और वेदांतके समान जैनदर्शन भी सत्कार्यवादी हैं।

'जैनदर्शनमें 'जीव' तत्त्वकी जैसी विस्तृत आलोचना है वैसी और किसी दर्शनमें न

'वेदांतदर्शनमें संचित, क्रियामाण और प्रारब्ध इन तीन प्रकारके कर्मोका वर्णन है। जैनदर्शनमें इन्हींको यथाक्रम सत्ता, बन्ध और उदय कहा है। दोनों दर्शनोंमें इनका स्वरूप भी एकसा है।'

'सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थाके साथ हमारे शास्त्रोंकी जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिकी तुलना हो सकती है। जुदे जुदे गुणस्थानोंके समान मोक्षप्राप्तिकी जुदी जुदी अवस्थाएँ वैदिक-दर्शनोंमें मानी गयी हैं। योगवाशिष्टमें शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, संसक्ति, पदार्थाभाविनी और तूर्यगा: इन सात ब्रह्मविद् भूमियोंका वर्णन किया गया है।

'संवरतत्व और 'प्रतिमा' पालन जैनदर्शनका चारित्रमार्ग है। इससे एक ऊँचे स्तरका नैतिक आदर्श प्रतिष्ठापित किया गया है। सब प्रकारसे आसक्ति रहित होकर कर्म करना ही साधनाकी भित्ति है आसक्तिके कारण ही कर्मबन्ध होता है; अनासक्त होकर कर्मकरनेसे उसके द्वारा कर्मबन्ध नहीं होगा। भगवद्गीतामें निष्काम कर्मका जो अनुपम उपदेश किया है, जैनशास्त्रोंके चरित्र विषयक ग्रन्थोंमें वह छाया विशदरूपमें दिखलाई देती है।

'जैनधर्मने अहिंसा तत्वको अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक करके व्यवहारिक जीवनको पग, पग पर नियमित और वैधानिक करके एक उपहासास्पद सीमा पार पहुंचा दिया है, ऐसा कतिपय लोगोंका कथन है। इस सम्बंधमें जितने विधि-निषेध हैं उन सबको पालते हुए चलना इस बीसवीं शतीके जटिल जीवनमें उपयोगी, सहज और संभव है या नहीं यह विचारणीय है।

जैनधर्ममें अहिंसाको इतनी प्रधानता क्यों दी गयी है? यह ऐतिहासिकोंकी गवेषणाके योग्य विषय है। जैनसिद्धांतमें अहिंसा शब्दका अर्थ व्यापकसे व्यापकतर हुआ है। तथा अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थोंमें वह रूपांतर भावसे ग्रहण किया गया गीताके निष्काम-कर्म-उपदेशसा प्रतीत होता है तो भी, पहले अहिंसा शब्द साधारण प्रचलित अर्थमें ही व्यवहृत होता था, इस विषयमें कोई भी सन्देह नहीं है। वैदिक-युगमें यज्ञ-क्रियामें पशुहिंसा अत्यंत निष्ठुर सीमा पर जा पहुँची थी। इस क्रूरकर्मके विरुद्ध उस समय कितने ही अहिंसावादी सम्प्रदायोंका उदय हुआ था, यह बात एक प्रकारसे सुनिश्चित है। वेदमें 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' यह साधारण उपदेश रहने पर भी यज्ञकर्ममें पशु हत्याकी अनेक विशेष विधियोंका उपदेश होनेके कारण यह साधारण-विधि (व्यवस्था) केवल विधिके रूपमें ही सीमित हो गयी थी. पद पदपर उपेक्षित तथा उल्लंघित होनेसे उसमें निहित कल्याणकारी उपदेश सदाके लिये विस्मृतिके गर्भमें विलीन हो गया था और अंतमें 'पशुयज्ञके लिये ही बनाये गये हैं यह अद्भुत मत प्रचलित हो गया था*। इसके फलस्वरूप वैदिक कर्मकाण्डः बलिमें मारे गये पशुओंके रक्तसे लाल होकर समस्त सात्विक भावका विरोधी हो गया था। जैन

(१) "सदसदुभयानुभय-चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यत्वम्"—

(२) "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"—

* "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
अतस्त्वां घातयिष्यामि तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥"

कहते हैं कि उस समय यज्ञकी इस नृशंस पशु हत्याके विरुद्ध जिस-जिस मतने विरोधका बीड़ा उठाया था उनमें जैनधर्म सबसे आगे था 'मुनयो वातवसनाः' कहकर ऋग्वेदमें जिन नग्न मुनियोंका उल्लेख है, विद्वानोंका कथन है कि वे जैन दिगम्बर सन्यासी ही हैं।

बुद्धदेवको लक्ष्य करके जयदेवने कहा है—

"निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदय हृदय दर्शित पशुघातम् ?"

किन्तु यह अहिंसातत्त्व जैनधर्ममें इस प्रकार अंग-अंगी-भावसे संमिश्रित है कि जैनधर्मकी सत्ता बौद्धधर्मके बहुत पहलेसे सिद्ध होनेके कारण पशुघातात्मक यज्ञ विधिके विरुद्ध पहले पहले खड़े होनेका श्रेय बुद्धदेवकी अपेक्षा जैनधर्मको ही अधिक है। वेदविधिकी निंदा करनेके कारण हमारे शास्त्रोंमें चार्वाक, जैन और बौद्ध पाषण्ड 'या अनास्तिक' मतके नामसे विख्यात हैं। इन तीनों सम्प्रदायोंकी झूठी निंदा करके जिन शास्त्रकारोंने अपनी साम्प्रदायिक संकीर्णताका परिचय दिया है, उनके इतिहासकी पर्यालोचना करनेसे मालूम होगा कि जो ग्रन्थ जितना ही प्राचीन है, उसमें बौद्धोंकी अपेक्षा जैनोंको उतनी ही अधिक गाली गलौज की है। अहिंसावादी जैनोंके शांत निरीह शिर पर किसी किसी शास्त्रकारने तो श्लोक पर श्लोक ग्रन्थित करके गालियोंकी मूसलाधार वर्षा की है। उदाहरणके तौर पर विष्णुपुराणको ले लीजिये अभीतककी खोजोंके अनुसार विष्णुपुराण सारे पुराणोंसे प्राचीनतम न होने पर भी अत्यन्त प्राचीन है। इसके तृतीय भागके सत्तरहवें और अठारवें अध्याय केवल जैनोंकी निंदासे पूर्ण है। 'नग्नदर्शनसे श्राद्धकार्य भ्रष्ट हो जाता है और नग्नके साथ संभाषण करनेसे उस दिनका पुण्य नष्ट हो जाता है। शतधनुनामक राजाने एक नग्न पाषण्डसे संभाषण किया था, इस कारण वह कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, गीध और मोरकी योनियोंमें जन्म धारण करके अंतमें अश्वमेधयज्ञके जलसे स्नान करने पर मुक्तिलाभ कर सका।' जैनोंके प्रति वैदिकोंके प्रबल विद्वेषकी निम्नलिखित श्लोकोंसे अभि-व्यक्ति होती है—

'न पठेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्॥

यद्यपि जैन लोग अनंत मुक्तात्माओं (सिद्धों)की उपासना करते हैं तो भी वास्तवमें वे व्यक्तित्वरहित पारमात्म्य स्वरूपकी ही पूजा करते हैं। व्यक्तित्व रहित होनेके कारण ही जैनपूजा-पद्धतिमें वैष्णव और शाक्तमतोंके समान भक्तिकी विचित्र तरङ्गोंकी सम्भावना बहुत ही कम रह जाती है।

बहुत लोग यह भूल कर रहे थे कि बौद्धमत और जैनमतमें भिन्नता नहीं है पर दोनों धर्मोंमें कुछ अंशोंमें समानता होने पर भी असमानताकी कमी नहीं है। समानतामें पहली बात तो यह है कि दोनोंमें अहिंसाधर्मकी अत्यन्त प्रधानता है। दूसरे जिन, सुगत, अर्हन्, सर्वज्ञ तथागत, बुद्ध आदि नाम बौद्ध और जैन दोनों ही अपने अपने उपास्य देवोंके लिये प्रयुक्त करते हैं। तीसरे दोनों ही धर्मवाले बुद्धदेव या तीर्थंकरोंकी एक ही प्रकारकी पाषाण प्रतिमाएँ बनवाकर चैत्यों या स्तूपोंमें स्थापित करते हैं और उनकी पूजा करते हैं। स्तूपों और मूर्तियोंमें इतनी अधिक सदृशता है कि कभी कभी किसी मूर्ति और स्तूपका यह निर्णय करना कि यह जैनमूर्ति है या बौद्ध, विशेषज्ञोंके लिये कठिन हो जाता है। इन सब बाहरी समानताओंके अतिरिक्त दोनों धर्मोंकी विशेष मान्य-ताओंमें भी कहीं कहीं सदृशता दिखती है, परन्तु उन सब विषयोंमें वैदिकधर्मके साथ जैन और बौद्ध दोनोंका ही प्रायः एक मत्य है। इस प्रकार बहुत सी समानताएँ होने पर भी दोनोंमें बहुत कुछ विरोध है। पहला विरोध तो यह है कि बौद्ध क्षणिकवादी हैं; पर जैन क्षणिकवादको एकांतरूपमें स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म कहता है कि कर्म फलरूपसे प्रवर्तमान जन्मांतरवादके साथ क्षणिकवादका कोई सामंजस्य नहीं हो सकता। क्षणिकवाद माननेसे कर्मफल मानना असम्भव है। जैनधर्ममें अहिंसा नीतिको जितनी सूक्ष्मतासे लिया है उतनी बौद्धोंमें नहीं है। अन्य द्वारा मारे हुए जीवका मांस खानेको बौद्धधर्म मना नहीं करता, उसमें स्वयं हत्याकरना ही मना है। बौद्धदर्शनके पंचस्कन्धोंके समान कोई मनोवैज्ञानिक तत्त्वभी जैनदर्शनमें माना नहीं गया।

बौद्ध दर्शनमें जीवपर्याय अपेक्षाकृत सीमित है, जैन-दर्शनके समान उदार और व्यापक नहीं है। वैदिकधर्मो तथा जैनधर्ममें मुक्तिके मार्गमें जिस प्रकार उत्तरोत्तर सीढियोंकी बात है, वैसी बौद्धधर्ममें नहीं है। जैनगोत्र-वर्णके रूपमें जाति-विचार मानते हैं, पर बौद्ध नहीं मानते।

'जैन और बौद्धोंको एक समझनेका कारण जैनमतका भलीभांति मनन न करनेके सिवाय और कुछ नहीं है। प्राचीन भारतीय शास्त्रोंमें कहीं भी दोनोंको एक समझनेकी भूल नहीं की गई है। वेदांतसूत्र में जुदे जुदे स्थानों पर जुदे जुदे हेतुवादसे बौद्ध और जैनमतका खण्डन किया है।

शंकर दिग्वजयमें लिखा है कि शंकराचार्यने काशीमें बौद्धोंके साथ और उज्जयनीमें जैनोंके साथ शास्त्रार्थ किया था। यदि दोनों मत एक होते, तो उनके साथ दो जुदे जुदे स्थानोंमें दो बार शास्त्रार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं थी। प्रबोधचन्द्रोदय नाटकमें बौद्धभिक्षु और जैनदिगम्बरकी लड़ायीका वर्णन है।

'वैदिक (हिन्दू) के साथ जैनधर्मका अनेक स्थानोंमें विरोध है; परन्तु विरोधकी अपेक्षा सादृश्यही अधिक है। इतने दिनोंसे कितने ही मुख्य विरोधोंकी ओर दृष्टि रखनेके कारण वैर-विरोध बढ़ता रहा और लोगोंको एक दूसरेको अच्छी तरहसे देखसकनेका अवसर नहीं मिला। प्राचीन वैदिक सब सह सकते थे परन्तु वेद परित्याग उनकी दृष्टिमें अपराध था।

वैदिकधर्मको इष्ट जन्म-कर्मवाद जैन और बौद्ध दोनों ही धर्मोका भी मेरुदण्ड है। दोनों ही धर्मोंमें इसका अविकृत रूपसे प्रतिपादन किया गया है। जैनोंने कर्मको एक प्रकारके परमाणुरूप सूक्ष्म पदार्थ (कार्मणवर्गणा) के रूपमें कल्पना करके, उसमें कितनी सयुक्तिक श्रेष्ठ दार्शनिक— विशेषताओंकी सृष्टि ही नहीं की है, किन्तु उसमें कर्म-फलवादकी मूल मन्त्रनाको पूर्णरूपसे सुरक्षित रखा है: वैदिक दर्शनका दुःखवाद और जन्म-मरणात्मक दुःखरूप संसार सागरसे पार होनेके लिए निवृत्तिमार्ग अथवा मोक्षान्वेषण— यह वैदिक-जैन और बौद्ध सबका ही प्रधान साध्य है। निवृत्ति एवं तपके द्वारा कर्मबन्धका क्षय होने पर आत्मा कर्मबन्धसे मुक्त होकर स्वभावको प्राप्त करेगा और अपने नित्य-अबद्ध शुद्ध स्वभावके निस्सीम गौरवसे प्रकाशित होगा। उस समय—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यह स्पष्ट रूपसे जैन और वैदिक शास्त्रोंमें घोषित किया गया है। 'जन्मजन्मांतरोंमें कमाये हुये कर्मोंको; वासनाके विध्वंसक निवृत्तिमार्गके द्वारा क्षय करके परम पद प्राप्तिकी साधना वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों ही धर्मोंमें तर-तमके समान रूपसे उपदेशित की गई है। दार्शनिक मतवादोंके विस्तार और साधनाकी क्रियाओंकी विशिष्टतामें भिन्नता हो सकती है, किन्तु उद्देश्य और गन्तव्य स्थल सबका ही एक है—

रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

महिम्नस्तोत्रकी सर्व-धर्म-समानत्वको करनेमें समर्थ यह उदारता वैदिक शास्त्रोंमें सतत उपदिष्ट होने पर भी संकीर्ण साम्प्रदायिकतासे उत्पन्न विद्वेष बुद्धि प्राचीन ग्रन्थोंमें जहां-तहां प्रकट हुई है; किन्तु आजकल हमने उस संकीर्णताकी क्षुद्रमर्यादाका अतिक्रम करके यह कहना सीखा है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

'ईसाकी आठवीं शतीमें इसी प्रकारके महान उदारभावोंसे अनुप्राणित होकर जैनाचार्य मुनिमान स्याद्वाद भट्टाकलङ्कदेव कह गए हैं—

यो विश्वं वेदवेद्यं जननजलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं,
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा॥

(वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थसे)

उज्जैनके निकट दि० जैन प्राचीन मूर्तियाँ

(बाबू छोटेलाल जैन)

अभी ४ मार्चको पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल श्री टी० एन रामचन्द्रन् उज्जैनके दौरे पर गए थे। उज्जैनसे ४५ मील दूर 'गन्धबल' नामक स्थानमें अनेक प्राचीन अवशेषोंका निरीक्षण किया, जिनमें अधिकांश दिगम्बर जैन मूर्तियाँ थीं। ये अवशेष परमारयुग-कालीन दशमी शताब्दीके प्रतीत होते हैं।

१. भवानीमन्दिर—यह जैनमन्दिर १० वीं शताब्दीका है। १—यहां धरणेन्द्र पद्मावती सहित पार्श्वनाथ धर्म-चक्र सहित २—और सिंहलांछन और मातंगयक्ष तथा सिद्धायनी यक्षिणी सहित एक खण्डित महावीर स्वामीका पादपीठ दशमी शताब्दीका है। ३—प्रथम तीर्थंकरकी यक्षिणी चक्रेश्वरी। ४—सिद्धायनी सहित वर्द्धमान, पार्श्वनाथकी मूर्तिके ऊपरी भागमें है। ५—द्वारपाल। ६—द्वारपाल। ७—एक शिलापट्ट तीर्थंकरोंका तथा देवियों

सहित, देवियाँ कुलिकका सहित प्रदर्शितकी गई हैं। ८—द्वारपाल। ९—छतका शिलाखण्ड जिसकी चौकोर वेदीमें कीर्तिमुख प्रदर्शित किये गए हैं। १०—खड्गासन वर्द्धमान प्रतिमा और उसके ऊपर पार्श्वनाथकी मूर्ति स्तम्भ पर अंकित है। ११—खड्गासन वर्द्धमान, चमरेन्द्र तथा छत्रत्रयादि प्रातिहार्यों सहित। १२—शिलापट्ट चौबीस तीर्थंकरों सहित। १३—शान्तिनाथ, इसके नीचे दानपति और प्रतिष्ठाचार्य भी प्रणाम करते हुए प्रदर्शित किए गए हैं। १४—शांतिनाथ १५—हस्तिपदारूढ चतुर्भुज इन्द्र। १६—पद्मप्रभु। १७—सुमतिनाथ। १८—इन्द्र हाथीपर। १९—मातंग और सिद्धायनी सहित वर्द्धमान। २० द्वारपाल वीणा-सहित चारयक्ष, मातंगयक्ष, और शंखनिधिसहित।

२—उक्त भवानीमन्दिरसे ४० फीट दक्षिण पूर्वमें नेमिनाथकी मूर्ति है। तथा आदिनाथका मस्तकभाग, एक यक्षी, और वर्द्धमानकी मूर्ति है।

३. दरगाह—यहाँ वर्द्धमानकी मूर्तिको लपेटे हुए एक बड़का वृक्ष है जहाँ निम्नलिखित मूर्तियाँ हैं। १—सिद्धायनी और मातंग यक्षसहित वर्द्धमान। २—अम्बिका यक्षी और सर्वाण्हयक्ष खड्गासन। ३—चक्रेश्वरी आदिनाथ। ४—द्वारपाल। ५—यक्ष-यक्षी वर्द्धमान। ६ वर्द्धमान। ७—पार्श्वनाथ। ८—नेमिनाथ। ९—ईश्वर (शिव) यक्ष श्रेयांसनाथ। १०—त्रिमुखयक्ष संभवनाथ। ११—त्रिमुख-यक्ष। १२ धर्मचक्र गोमुखयक्ष और चक्रेश्वरी (आदिनाथ)

४. शीतलामाता मन्दिर—यहाँ चक्रेश्वरी, गौरीयक्षी, नेमिनाथकी यक्ष यक्षी (अम्बिका)। आदिनाथ, वर्द्धमानकी खड्गासन मूर्तियाँ, शीतलनाथकी यक्षी मानसी, पार्श्वनाथ, किसी तीर्थंकरका पादपीठ, दशवें तीर्थंकरका यक्ष ब्रह्मेश्वर, एक तीर्थंकरका मस्तक, तथा अनेक शिलापट्ट, जो एक चबूतरे में जड़े हुए हैं उन पर तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ अंकित हैं, एक तीर्थंकर मूर्तिका ऊपरका भाग, जिसमें सुर पुष्पवृष्टि प्रदर्शित है, वर्द्धमानकी मूर्ति।

५ हरिजनपुर—यह एक नया मन्दिर है जिसकी दीवालों पर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, सुमतिनाथ और मातंगयक्ष की मूर्तियाँ अंकित हैं।

६ चमरपुरीकी मात—यह एक प्राचीन टीला है यहाँ इमलीके वृक्षके नीचे जैनमूर्तियाँ दबी हुई हैं। १२ फीट की एक विशाल तीर्थंकर मूर्ति चमरेन्द्रों सहित संभवतः वर्द्धमानकी है। नेमिनाथ और अम्बिकाकी मूर्ति भी है। इस टीलेकी खुदाई होनी चाहिए। यहाँ दशवीं शताब्दीका मंदिर प्राप्त होनेकी सम्भवना है।

७ गंधर्वसेनकामन्दिर—इस मन्दिरमें एक प्रस्तर-खण्ड पर पार्श्वनाथको उपसर्गके बाद केवलज्ञान प्राप्तिका दृश्य अंकित है। यह प्रस्तरखण्ड दशमी शताब्दीसे पूर्व और पर गुप्त कालीन मालूम होता है। इसके अतिरिक्त वर्द्धमान और आदिनाथकी मूर्तियाँ हैं।

८ बालिकाविद्यालय—यहाँ दो तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ हैं। उज्जैनमें सिन्धिया ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट है जहाँ हजारों हस्तलिखित ग्रन्थोंका संग्रह है जिनमें जैनग्रन्थ भी काफी हैं, जिनकी सूचीके लिये पुस्तकाध्यक्षको लिखा गया है। यहाँ की मूर्तियोंके फोटो आगामी अंकमें प्रकाशित किये जायंगे।

श्रमणका उत्तरलेख न छापना

दो महीनेसे अधिकका समय हो चुका, जब मैंने श्रमण वर्ष ५ के दूसरे अंकमें प्रकाशित जैन साहित्यका विहंगालोकन नामके लेखमें 'जैन साहित्यका दोषपूर्ण विहंगावलोकन' नाम-का एक सयुक्तिक लेख लिखकर और श्रमणके सम्पादक डा० इन्द्रको प्रकाशनार्थ दिया था। परन्तु उन्होंने उसे अपने पत्रमें अभी तक प्रकट नहीं किया, इतना ही नहीं किन्तु उन्होंने ला० राजकृष्णजी को उसे वापिस लिवानेको भी कहा था, और मुझे भी वापिस लेनेकी प्रेरणाकी थी और कहा था कि आप अपना लेख वापिस नहीं लेंगे तो मुझे अपनी पोजीशन क्लीयर (साफ) करनी होगी। मैंने कहा कि आप अपनी पोजीशन क्लीयर (साफ) करें, पर उस लेखको जरूर प्रकाशित करें। परन्तु श्रमणके दो अंक प्रकाशित हो जाने परभी डा० इन्द्रने उसे प्रकाशित नहीं किया। यह मनोवृत्ति बड़ी ही चिन्त्यनीय जान पड़ती है और उससे सत्यको बहुत कुछ आघात पहुंच सकता है। हम तो इतना ही चाहते हैं कि जिन पाठकोंके सामने श्रमणका लेख गया उन्हीं पाठकोंके सामने हमारा उत्तरलेख भी जाना चाहिए, जिससे पाठकों-को वस्तु-स्थिति के समझनेमें कोई गल्ती या भ्रम न हो।

—परमानन्द जैन

—×—

वीरसेवा-मन्दिर ट्रस्टकी मीटिंग

आज ता० २१-२-५४ रविवारको रात्रिके ७॥ बजेके बाद निम्न महानुभावोंकी उपस्थितिमें वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी मीटिंगका कार्यप्रारम्भ हुआ। १ बाबू छोटेलालजी कलकत्ता (अध्यक्ष) २ पं० जुगलकिशोरजी (अधिष्ठाता) ३ बाबू जयभगवानजी एडवोकेट (मन्त्री) पानीपत, ४ ला० राजकृष्णजी (आ० व्यवस्थापक) देहली, ५ श्रीमती जयवन्तीदेवी, ६ और बाबू पन्नालालजी अग्रवाल, जो हमारे विशेष निमंत्रण पर उपस्थित हुए थे।

१—मंगलाचरणके बाद संस्थाके मंत्री बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपतने वीरसेवामन्दिरका विधान उपस्थित किया, और यह निश्चय हुआ कि विधानका अंग्रेजी अनुवाद कराकर बा० जयभगवानजी वकील पानीपतके पास भेजा जाय, तथा उनके देखनेके बाद ला० राजकृष्णजी उसकी रजिस्ट्री करानेका कार्य सम्पन्न करें।

२—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि दरिया गंज नं० २१ देहली में जो प्लाट वीरसेवामन्दिरके लिये खरीदा हुआ है उस पर बिल्डिंग बनानेका कार्य जल्दीसे जल्दी शुरू किया जाय।

३—अनेकांतका एक संपादक मंडल होगा, जिसमें निम्न ५ महानुभाव होंगे। श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, बा० छोटेलालजी, बा० जयभगवानजी वकील, पं० धर्मदेवजी जैतली, और पं० परमानन्द शास्त्री।

४—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि सोसाइटीके रजिष्टर्ड होने पर मुख्तार साहब अपने शयर्स, जो देहली क्लॉथ मिल्स और बिहार सुगर मिल के हैं उन्हें वीरसेवा-मन्दिरके अध्यक्षके नाम ट्रान्सफर कर देवें।

५—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि वीरसेवामन्दिर सरसावाकी बिल्डिंगके दक्षिणकी ओर जो जमीन मकान बनानेके लिये पड़ी हुई है, जिसमें दो दुकानें बनानेके लिये जिसका प्रस्ताव पहलेसे पास हो चुका है उसके लिये दो हजार रुपया लगाकर बना लिया जाय।

६—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि पत्र व्यवहार और हिसाब किताबमें मिति और तारीख अवश्य लिखी जानी चाहिये।

७—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि हिसाब किताबके लिये एक क्लर्ककी नियुक्तिकी जाय।

८—यह मीटिंग प्रस्ताव करती है कि अनेकान्तका नये वर्षका मूल्य ६) रुपया रक्खा जा।

जय भगवान जैन मंत्री, वीरसेवामन्दिर

श्रीजिज्ञासापर मेरा विचार

अनेकान्तकी गत किरण ६ में पंडित श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने 'श्री जिज्ञासा' नामकी एक शंका प्रकट की थी और उसका समाधान चाहा था, जिस पर मेरा विचार निम्न प्रकार है—

'श्री' शब्द स्वयं लक्ष्मी, शोभा, विभूति, सम्पत्ति, वेष, रचना, विविधउपकरण, त्रिवर्गसम्पत्ति तथा आदर-सत्कार आदि अनेक अर्थोंको लिये हुए है※। श्री शब्दका प्रयोग प्राचीनकालसे चला आ रहा है। उसका प्रयोग कब, किसने और किसीके प्रति सबसे पहले किया यह अभी अज्ञात है। श्री शब्दका प्रयोग कभी शुरू हुआ हो, पर वह इस बातका द्योतक जरूर है कि वह एक प्रतिष्ठा और आदर सूचक शब्द है। अतः जिस महापुरुषके प्रति 'श्री' या 'श्रियों' का प्रयोग हुआ है वह उनकी प्रतिष्ठा अथवा महानताका द्योतन करता है। लौकिक व्यवहारमें भी एक दूसरेके प्रति पत्रादि लिखनेमें 'श्री' शब्द लिखा जाता है। सम्भव है इसीकारण पूज्य-पुरुषोंके प्रति संख्यावाची श्री शब्द रूढ हुआ हो। क्षुल्लकों और आर्यिकाओंको १०५ श्री और मुनियोंको १०८ श्री क्यों लगाई जाती हैं। इसका कोई पुरातन उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया और न इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख ही दृष्टिगोचर हुआ है।

तीर्थंकर एकहजार आठ लक्षणोंसे युक्त होते हैं। संभव है इसी कारण उन्हें एक हजार आठ श्री लगाई जाती हों×। मुनियोंको १०८, क्षुल्लकों और आर्यिकाओंको १०५ श्री उनके पदानुसार लगानेका रिवाज चला हो। कुछ भी हो पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि यह प्रथा पुरानी है। हां, एक श्री का प्रयोग तो हम प्राचीन शिलालेखोंमें आचार्यों, भट्टारकों, विद्वानों और राजाओंके प्रति प्रयुक्त हुआ देखते हैं।

नारायना (जयपुर) के १८वीं शताब्दीके एक लेखमें आचार्य पूर्णचन्द्रके साथ १००८ श्री का उल्लेख है। परन्तु इससे पुराना संख्यावाचक 'श्री' का उल्लेख अभी तक नहीं मिला है। —क्षुल्लक सिद्धिसागर

※ श्रीवेषरचनाशोभा भारतीसरलद्रुमे।
लक्ष्म्यां त्रिवर्गसंपत्तौ वेषोपकरणे मतौ॥ —मेदिनीकोषः।

× कितने ही श्वेताम्बर विद्वान् अपने गुरु आचार्योंको १००८ श्री का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। —सम्पादक

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्रीमती ज्ञानवतीदेवी जैन, धर्मपत्नी 'वैद्यरत्न' आनन्ददास जैन, धर्मपुरा, देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

अप्रैल १९५४

केशरिया जी (उदयपुर) के प्रसिद्ध कलापूर्ण दिगम्बर जैन मन्दिर

अनेकान्त वर्ष १२
किरण ११

विषय-सूची

समाजसे निवेदन

'अनेकान्त' जैन समाजका एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोज पूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनकर, तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें केवल दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणीमें नाम लिखाने वाले दो सौ सज्जनोंकी आवश्यकता है। आशा है समाजके दानी महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदानकर सहायकश्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बंटायगे।

मैनेजर—'अनेकान्त'
१ दरियागंज, देहली.

विवाहमें दान

अमृतसर निवासी ला० मुन्नीलालजी जैनने अपने सुपुत्र चि० दर्शनकुमारके विवाहोपलक्ष्यमें १०१) रु० दानमें दिये हैं। —जयकुमार जैन

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरों को बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूकर अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियां और जैन-अजैन विद्वानोंको।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पताः—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

ॐ अर्हम्

वर्ष १२ किरण ११

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
चैत्र वीर नि० संवत २४८०, वि० संवत २०११

अप्रैल १९५४

सोमसेन-विरचितम्

चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-स्तवनम्

श्रीशारदाऽऽधारमुखारविन्दं सदाऽनवद्यं नतमौलिपादम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥१॥
निराकृताराति कृतान्तसङ्गं सन्मण्डलीमण्डितसुन्दराङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥२॥
शशिप्रभा-रीतियशोनिवासं समाधिसाम्राज्यसुखावभासम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥३॥
अनल्पकल्याणसुधाब्धिचन्द्रं सभावलीमून-सुभाव-केन्द्रम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥४॥
करालकल्पान्तनिवारकारं कारुण्यपुण्याकर-शान्तिसारम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥५॥
वाणीरसोल्लासकरीरभूतं निरञ्जनाऽलंकृतमुक्तिकान्तम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥६॥
क्रूरोपसर्गं परिहर्तुमेकं वाञ्छाविधानं विगताऽपसङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥७॥
निरामयं निर्जितवीरमारं जगद्धितं कृष्णपुरावतारम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ॥८॥
अविरलकविलक्ष्मीसेनशिष्येण लक्ष्मी-विभरणगुणपूतं सोमसेनेन गीतम् ।
पठति विगतकामः पार्श्वनाथस्तवं यः सुकृतपदनिधानं स प्रयाति प्रधानम् ॥९॥

मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता

(श्री पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री)

'मूलाचार'—जैन साधुओंके आचार-विचारका निरूपण करने वाला एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है, जिसे दिगम्बर-सम्प्रदायका आचारांगसूत्र माना जाता है और प्रत्येक दिगम्बर जैन साधु इसके अनुसार ही अपने मूलोत्तर गुणोंका आचरण करता है।

मूलाचारके कर्ता 'वट्टकेराचार्य' माने जाते हैं, पर उनकी स्थिति अनिर्णीत या संदिग्धसी रहनेके कारण कुछ विद्वान् इसे एक संग्रह ग्रन्थ समझते हैं और इसी लिये मूलाचारकी मौलिक गाथाओंको ग्रन्थान्तरोंमें पाये जाने मात्रसे वे उन्हें वहाँसे लिया हुआ भी कह देते हैं। श्वेताम्बर विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी सन्मति-प्रकरणके द्वितीय संस्करणकी अपनी गुजराती प्रस्तावनामें लिखते हैं:—

'दिगम्बराचार्य वट्टकेरकी मानी जाने वाली कृति 'मूलाचार' ग्रथका बारीक अभ्यास करनेके बाद हमें खातरी हो गई है कि वह कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु एक संग्रह है। वट्टकरने सन्मतिकी चार गाथएँ (२,४०-३) मूलाचारके समयसाराधिकार (१० ८७-९०) में ली हैं, इससे आपन इतना कह सकते हैं कि यह ग्रंथ सिद्धसेनके बाद संकलित हुआ है।"

इसी प्रकार कुछ दिगम्बर विद्वान् भी ग्रन्थकर्तादिकी स्थिति स्पष्ट न होनेसे इसे संग्रह ग्रन्थ मानते आ रहे हैं, जिनमें पं० परमानन्दजी शास्त्रीका नाम उल्लेखनीय है। जिन्होंने अनेकान्त वर्ष २ किरण ५ में 'मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकसे एक लेख भी प्रगट किया है और उसके अन्तमें लेखका उपसंहार करते हुए लिखा है:—

"इस सब तुलना और ग्रन्थके प्रकरणों अथवा अधिकारोंकी उक्त स्थिति परसे मुझे तो यही मालूम होता है कि मूलाचार एक संग्रह ग्रन्थ है और उसका यह संग्रहत्व अथवा सकलन अधिक प्राचीन नहीं है, क्योंकि टीकाकार वसुनन्दीसे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें उसका कोई उल्लेख अभी तक देखने तथा सुननेमें नहीं आया।"

उपरि-लिखित दोनों उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि ये विद्वान् इसे संकलित और अर्वाचीन ग्रंथ मानते हैं।

पं० परमानन्दजीने 'मूलाचार' को अधिक प्राचीन न माननेमें युक्ति यह दी है कि टीकाकार वसुनन्दीसे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें उसका कोई उल्लेख अभी तक देखने व सुननेमें नहीं आया। यह लेख आपने ८-१-३८ में लिखा था इसलिए बहुत संभव है कि तब तकके आपके देखे हुए ग्रन्थोंमें इसका कोई उल्लेख आपको प्राप्त न हुआ हो। पर सन् १९३८ के बाद जो दि० सम्प्रदायके षट्खंडागम, तिलोयपण्णत्ती आदि प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशमें आए हैं, उन तकमें इस मूलाचारके उल्लेख मिलते हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहाँ उक्त दोनों ग्रन्थोंका एक-एक उल्लेख दिया जाता है:—

(१) षट्खण्डागम भाग ४ के पृष्ठ ३१६ पर धवला टीकाकार आचार्य वीरसेन अपने मतकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं:—

'तह आयारंगे वि उत्तं—

पंचत्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि॥'

यह गाथा मूलाचार (५,२०२) में ज्योंकी त्यों पाई जाती है। इस उल्लेखसे केवल मूलाचारकी प्राचीनताका ही पता नहीं चलता, बल्कि वीरसेनाचार्यके समयमें वह 'आचारांग' नामसे प्रसिद्ध था, इसका भी पता चलता है। आ० वीरसेनकी धवला टीका शक सं० ७३८ मे बन कर समाप्त हुई है।

(२) दूसरा उल्लेख धवलाटीकासे भी प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तीमें मिलता है, जो कि यतिवृषभकी बनाई हुई है और जिनके समयको विद्वानोंने पाँचवीं शताब्दी माना है। तिलोयपण्णत्तीके आठवें अधिकारकी निम्न दो गाथाओंमें देवियोंकी आयुके विषयमें मतभेद दिखाते हुए यतिवृषभाचार्य लिखते हैं:—

पलिदोवमाणि पंच य सत्तारस पंचवीस पणतीसं।
चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं॥५३१॥
आरणदुगपरियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
मूलाआरे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति॥५३२॥

अर्थात्—चार युगलोंमें इन्द्र-देवियोंकी आयु-क्रमसे पांच, सत्तरह, पच्चीस और पैंतीस पल्यप्रमाण जानना चाहिए॥५३१॥ इसके आगे आरणयुगल तक पांच पांच

पल्यकी वृद्धि होती है। ऐसा मूलाचारमें आचार्य स्पष्टतासे निरूपण करते हैं ॥५१२॥

यतिवृषभने यहां मूलाचारके जिस मतभेदका उल्लेख किया है, वह वर्तमान मूलाचारके बारहवें पर्याप्त्यधिकारकी ८०वीं गाथामें उक्त रूपसे ही इस प्रकार पाया जाता है:—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥८०॥

अर्थात्—देवियोंकी आयु सौधर्म-ईशान कल्पमें पांच पल्य, सनत्कुमार माहेन्द्रकल्पमें सत्तरह पल्य, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पमें पच्चीस पल्य, लान्तव-कापिष्ठ-कल्पमें पैंतीस पल्य, शुक्र-महाशुक्रमें चालीस पल्य, शतार-सहस्रारकल्पमें पैंतालीस पल्य, आनत-प्राणत कल्पमें पचास पल्य और आरण-अच्युत कल्पमे पचवन पल्य है॥

यतिवृषभाचार्यके इस उल्लेखसे मूलाचारकी केवल प्राचीनता ही नहीं, किंतु प्रमाणिकता भी सिद्ध होती है।

यहाँ एक बात और भी जानने योग्य है और वह यह कि मूलाचार-कारने देवियोंकी आयुसे सम्बन्ध रखने वाले जहां केवल दो ही मतोंका उल्लेख किया है, वहां तिलोयपण्णत्तीकारने देवियोंकी आयु-सम्बन्धी चार मत-भेदोंका उल्लेख किया है। उनमें प्रथम मतभेद तो बारह स्वर्गोंकी मान्यता वालोंका है। तीसरा मतभेद 'लोकायनी' (संभवतः लोकविभाग) ग्रन्थका है। दूसरा और चौथा मत मूलाचार का है। इससे एक खास निष्कर्ष यह भी फलित होता है कि मूलाचार-कारके सम्मुख जब दो ही मत-भेद थे, तब तिलोयपण्णत्ती-कारके सम्मुख चार मतभेद थे—अर्थात् तिलोयपण्णत्तीके रचना-कालसे मूलाचारका रचना-काल इतना प्राचीन है कि मूलाचारकी रचना होनेके पश्चात् और तिलोयपण्णत्तीकी रचना होनेके पूर्व तक अन्तरालवर्त्ती कालमें अन्य और भी दो मत-भेद देवियोंकी आयुके विषयमें उठ खड़े हुए थे और तिलोयपण्णत्तीकारने उन सबका संग्रह करना आवश्यक समझा।

इन दो उल्लेखोंसे मूलाचारकी प्राचीनता और मौलिकता असंदिग्ध हो जाता है।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि धवला टीकामें जो गाथा आचारांगके नामसे उद्धृत है, वह श्वेता० आचारांगमें नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त राजवार्तिक आदिमें आचारांगके स्वरूपका वर्णन करते हुए जो प्रश्न और उत्तर रूपसे दो गाथाएं पाई जाती हैं, वे भी श्वेता० आचारांगमें उपलब्ध नहीं हैं, जब कि वे दोनों गाथाएं मूलाचारके समयसाराधिकारमें पाई जाती हैं और इस प्रकार हैं:—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ?
कधं भुंजेज भासिज कधं पावं ण बज्झदि ॥१२१
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज भासेज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥

धवला टीकाके उपर्युक्त उल्लेखसे तथा इन दोनों गाथाओंकी उपलब्धिसे वर्तमान मूलाचार ही आचारांग सूत्र है, यह बात भले प्रकार सिद्ध होती है।

अब देखना यह है कि स्वयं मूलाचारकी स्थिति क्या है और वह वर्तमानमें जिस रूपमें पाया जाता है उसका वह मौलिक रूप है या संगृहीत रूप ?

मूलाचारकी टीका प्रारम्भ करते हुए आ० वसुनन्दीने जो उत्थानिका दी है, उससे उक्त प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है अतः उसे यहां उद्धृत किया जाता है। वह उत्थानिका इस प्रकार है:—

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुणप्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-पंचाचार-पिंडशुद्धि—षडावश्यक—द्वादशानुप्रेक्षाऽनगारभावना-समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्यधिकार-निबद्धमहार्थगभीरं, लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोऽनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचारांगमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायु—शिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते—

अर्थात् जो श्रुतस्कन्ध—द्वादशाङ्गरूप श्रुतवृक्षका आधारभूत है, अट्ठारह हजार पद-परिमाण है, मूलगुण आदि बारह अधिकारोंमें निबद्ध एवं महान् अर्थ-गाम्भीर्यसे युक्त है, लक्षण-सिद्ध वर्ण, पद और वाक्योंसे सम-

न्वित है. घातिकर्मक्षयसे उत्पन्न केवलज्ञानके द्वारा जिन्होंने षट् द्रव्यों और नव पदार्थोंके समस्त गुण और पर्यायोंको जान लिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेवसे उपदिष्ट है, बारह प्रकारके तपोंके अनुष्ठानसे जिनके अनेक प्रकारकी ऋद्धियां उत्पन्न हुई हैं, ऐसे गणधरदेवसे जो रचित है, और जो साधुओंके मूलगुणों और उत्तरगुणोंके स्वरूप, भेद उपाय, साधन, सहाय और फलका निरूपण करने वाला है, ऐसे आचार्य—परम्परासे आये हुए आचाराङ्गको अल्प बल बुद्धि और आयु वाले शिष्योंके लिए द्वादश अधिकारोंसे उपसंहार करनेके इच्छुक श्रीवट्टकेराचार्य अपने और श्रोताजनोंके प्रारब्ध कार्यमें आने वाले विघ्नोंके निराकरणमें समर्थ ऐसे शुभ परिणामको धारण करते हुए सर्व प्रथम मूलगुणाधिकारके प्रतिपादन करनेके लिए मंगल-पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं :—

इस उत्थानिकाके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जिनेन्द्र-उपदिष्ट एवं गणधर-रचित, द्वादशांग वाणीका आद्य जो आचारांग सूत्र है वह महान् गम्भीर और अति विशाल है, उसे अल्प बल-बुद्धि वाले शिष्योंके लिए ग्रन्थकार उन्हीं बारह अधिकारोंमें उपसंहार कर रहे हैं, जिन्हें कि गणधरदेवने रचा था। इस उल्लेखसे प्रस्तुत ग्रन्थकी मौलिकता एवं प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। यह उल्लेख ठीक उसी प्रकारका है, जैसा कि कसायपाहुडके लिए वीरसेनाचार्यने किया है। यथा—

'तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चेव आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवादपंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुडमहण्णव-पारएण गंथवोच्छेदभएण पवयणवच्छलपरवसीकयहियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदिसदमेत्तगाहाहि उपसंहारिदं।''

अर्थात्—उक्त अंग-पूर्वोका एक देश ही आचार्य परम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञान-प्रवाद नामक पांचवें पूर्वकी दशवीं वस्तुके तीसरे कसाय पाहुडरूप महार्णवके पारको प्राप्त उन गुणधर-भट्टारकने जिनका कि हृदय प्रवचनके वात्सल्यसे परिपूर्ण था, सोलह हजार पदप्रमाण इस पेज्जदोसपाहुडका ग्रन्थ-विच्छेदके भयसे केवल एकसौ अस्सी गाथाओंके द्वारा उपसंहार किया।

इस विवेचनसे न केवल मूलाचारकी मौलिकता और प्रामाणिकताका ही बोध होता है, अपितु उसके कर्ता वट्टकेराचार्यके अगाध श्रुतपांडित्यका भी पता चलता है। उक्त उल्लेखके आधार पर कमसे कम इतना तो निर्विवाद मानना ही पड़ेगा कि उन्हें आचार्य-परम्परासे आचारांगका पूर्ण ज्ञान था, वे उसके प्रत्येक अधिकारसे भली भांति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने उन्हीं बारह अधिकारोंमें अट्ठारह हजार पदप्रमाण उस विस्तृत आचारांगसूत्रका उपसंहार किया है। ठीक वैसे ही, जैसे कि सोलह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडका गुणधराचार्यने मात्र एक सौ अस्सी गाथाओंमें उपसंहार किया है।

मूलाचार एक मौलिक ग्रन्थ है, संग्रह ग्रन्थ नहीं, इसका परिज्ञान प्रत्येक अधिकारके आद्य मंगलाचरण और अन्तिम उपसंहार-वचनोंसे भी होता है और जो पाठकके हृदयमें अपनी मौलिकताकी मुद्राको सहजमें ही अंकित करता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब यह मौलिक ग्रन्थ है, तो फिर इसके भीतर अन्य ग्रंथोंकी गाथाएँ क्यों उपलब्ध होती हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह—कि जिन गाथाओंको अन्य ग्रन्थोंकी कहा जाता है, बहुत सम्भव है कि वे इन्हींके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थोंकी हों? और दूसरे यह कि अनेकों गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चली आ रही थीं, उन्हें मूलाचारकारने अपने ग्रन्थमें यथास्थान निबद्ध कर दिया। अपने इस निबद्धीकरणका वे प्रस्तुत ग्रन्थमें यथास्थान संसूचन भी कर रहे हैं। उदाहरणके तौर पर यहाँ ऐसे कुछ उल्लेख दिये जाते हैं:—

(१) वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीए (४,१)
(२) वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं (८,१)
(३) पज्जत्ती-संगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीए (१२,१)

तीसरे उद्धरणमें आया हुआ 'पज्जत्ती संगहणी' पद उपर्युक्त शंकाका भली भांति समाधान कर रहा है।

वट्टकेराचार्य कौन हैं?

मूलाचारके कर्त्ताके रूपमें जिनका नाम लिया जाता है, वे वट्टकेराचार्य कौन हैं, इस प्रश्नका अभी तक निर्णय नहीं हो सका है? विभिन्न विद्वानोंने इसके लिए विभिन्न आचार्योंकी कल्पनाएँ की हैं. परन्तु इस नामके आचार्यका किसी शिलालेखादिमें कोई उल्लेखादि न होनेसे 'वट्टकेराइरिय' अभी तक विचारणीय ही बने हुए हैं।

पुरातन-जैनवाक्य-सूची की प्रस्तावनाके १८ वें पृष्ठ पर आचार्य श्री प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने लिखा है:—

"××× इस (वट्टकेराइरिय) नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों शिलालेखों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता और इसलिए ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कालरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं ?"

श्री मुख्तार सा० ने 'वट्टकेराचार्य' के सन्धि-विच्छेद-द्वारा अर्थ-संगति बिठानेका प्रयास भी उक्त प्रस्तावनामें किया है। वे 'वट्टकेराइरिय' का वट्टक+इरा+आइरिय' ऐसा सन्धि-विच्छेद करते हुए लिखते हैं:—

"वट्टक' का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, 'इरा' गिरा वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी सरस्वती प्रवर्तिका हो जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगाने वाली हो—उसे वट्टकेर' समझना चाहिए। दूसरे, वट्टकों—प्रवर्तकोंमें जो इरि = गिरि प्रधान-प्रतिष्ठित हो, अथवा ईरि = समर्थ-शक्तिशाली हो, उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिए। तीसरे 'वट्ट' नाम वर्तन-आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं, सदाचारमें जो प्रवृत्ति कराने वाला हो, उसका नाम 'वट्टेरक' है। अथवा 'वट्ट' नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी वट्टेरक कहते हैं। और इसलिए अर्थकी दृष्टिसे ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिए बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं, जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिए 'वट्टकेरकाचाय (प्रवर्तकाचार्य)' जैसे पदका प्रयोग किया गया हो।"

श्री० नाथूरामजी प्रेमीका 'मूलाचारके कर्ता वट्टकेरि' शीर्षक लेख जैन सिद्धान्त-भास्करके भाग १२ की किरण १ में प्रकाशित हुआ है, उसमें वे लिखते हैं:—

'××× वट्टकेरि' नाम भी गाँवका बोधक होना चाहिए और मूलाचारके कर्ता बेट्टगेरी या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहने वाले होंगे और जिस तरह कोण्डकुण्डके रहने वाले आचार्य कोण्डकोण्डाचार्य, तथा तुम्बुलूर ग्रामके रहने वाले तुम्बुलूराचार्य कहलाये, उसी तरह ये वट्टकेराचार्य कहलाने लगे।'

इसी लेखमें आप लिखते हैं कि 'डा० ए. एन. उपाध्यायने मुझे बतलाया है कि कनडीमें 'बेट्ट' छोटी पहाड़ीको और 'केरी' गली या मोहल्लेको कहते हैं। बेलगाव और धारवाड़ जिलेमें इस नामके गांव अब भी मौजूद हैं।

आगे आप लिखते हैं—"पं० सुबय्या शास्त्रीसे मालूम हुआ कि श्रवणबेल्गोलका भी एक मुहल्ला बेट्टगेरि नामसे प्रसिद्ध है। कारिकलके हिरियंगडि बस्तिके पद्मावती देवीके मन्दिरके एक स्तम्भ पर शक सं० १३१७ का एक शिलालेख है जो कनडी भाषामें है। इस लेखमें 'बेट्टकेरि' गांवका नाम दो बार आया है और वह कारिकलके पास ही कहीं होना चाहिए। सो हमारा अनुमान है कि मूलाचारके कर्ता 'वट्टकेरि' भी उक्त नामके गांवोंमेंसे ही किसी गांवके रहने वाले होंगे।"

प्रेमीजीके इस लेखमें सुझाई गई कल्पनाओंके विषयमें मुख्तार साहब अपनी उसी प्रस्तावनामें लिखते हैं:—

"बेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं. मूलाचारके कर्ता उन्हींमें से किसी बेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहने वाले होंगे और उस परसे कोण्डकुण्डादिकी तरह 'बेट्टकेरी' कहलाने लगे होंगे, यह कुछ संगत नहीं मालूम होता—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं. किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। 'बेट्ट' शब्द प्रेमीजीके लेखानुसार छोटी पहाड़ीका वाचक कनडी भाषाका शब्द है और 'गेरि' उस भाषामें गली-मोहल्लेको कहते हैं; जबकि 'वट्ट' और वट्टक' जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रन्थकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रन्थभरमें तथा उसकी टीकामें 'बेट्टगेरि' या 'बेट्टकेरी' रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रन्थके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता।"

(पुरातन जैनवाक्यसूची प्रस्ता० पृ० १९)

उपर्युक्त दोनों विद्वानोंके कथनोंका समीक्षण करते हुए मुझे मुख्तार साहबका अर्थ वास्तविक नामकी ओर अधिक संकेत करता हुआ जान पड़ता है। यदि 'वट्टकेराइरिय' का सन्धि-विच्छेद 'वट्टक + एरा + आइरिय' करके और संस्कृत-प्राकृतके 'ड-लयोः र-लयोरभेदः' नियमको ध्यानमें रखकर इसका अर्थ किया जाय, तो सहजमें ही 'वर्तक + एला + आचार्य = वर्तकैलाचार्य' नाम प्रगट हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दका एक नाम 'एलाचार्य' भी

प्रसिद्ध है। वर्तक या प्रवर्तक यह उनकी उपाधि या पद रहा है, जिसका अर्थ होता है—वर्तन, प्रवर्तन, या आचरण करानेवाला। मेरे इस कथनकी पुष्टि इसी मूलाचारके समाचाराधिकारसे भी होती है जिसमें साधुको कहाँ पर नहीं रहना चाहिए इस बातको बतलाते हुए मूलाचार-कार कहते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरिय-उवज्झाया पवत्त थेरा गणधरा य ॥१५५

अर्थात्–साधुको उस गुरुकुलमें नहीं रहना चाहिए, जहां पर कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर, ये पाँच आधार न हों।

आ० वसुनन्दी 'पवत्त' पदकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—'संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः' अर्थात् जो संघका उत्तम दिशामें प्रवर्तन करे, वह प्रवर्तक कहलाता है।

स्वयं मूलाचार-कार उपर्युक्त पांचों आधारोंका अर्थ इससे आगेकी गाथामें इस प्रकार सूचित करते हैं:—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसो वि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ।१५६

अर्थात्—जो शिष्योंके अनुग्रहमें कुशल हो, उसे आचार्य कहते हैं जो धर्मका उपदेश दे, वह उपाध्याय कहलाता है। जो संघका प्रवर्तक हो चर्या आदिके द्वारा उपकारक हो उसे प्रवर्तक कहते हैं, जो साधु-मर्यादाका उपदेश दे, वह स्थविर है और जो सर्व प्रकारसे गणकी रक्षा करे उसे गणधर कहते हैं।

मूलाचार कारने इससे आगेके षडावश्यक अधिकारमें सामायिक करनेके पूर्व किस-किसका कृतिकर्म करना चाहिए, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है :—

आइरिय-उवज्झायाणं पवत्तय त्थेर-गणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं कायव्वं णिज्जरट्ठाए ॥६४॥

अर्थात् कर्मोंकी निर्जराके लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधरादिका कृतिकर्म करना चाहिए।

मूलाचारके इन दोनों उद्धरणोंसे जहां 'प्रवर्तक' पद की विशेषता प्रकट होती है, वहां उससे इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि मूलाचार-रचयिताके समय तक अनेक साधु-संघ विशाल परिमाण में विद्यमान थे और उनके भीतर उक्त पाँचों पदोंके धारक मुनि-पुंगव भी होते थे। यही कारण है कि वे शिष्यों-सामान्य साधुओंके लिए हिदायत देते हुए कहते हैं कि साधुको उस गुरुकुलमें नहीं रहना चाहिए, जहाँ पर कि उक्त पाँच आधार न हों। दूसरे उल्लेखसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है, जिसमें कि संघ के आधारभूत उक्त पांचोंके कृतिकर्म करनेका विधान किया गया है।

समाचाराधिकारकी गाथा नं. १५६ के 'संघवट्टवओ' पदका आ० वसुनन्दिकृत अर्थ '*संघप्रवर्तकश्चर्यादिभिरुपकारकः*' देखनेसे और स्वयं आचारांग शास्त्रके रचयिता होनेसे यह बात सहजमें ही हृदय पर अंकित होती है कि एलाचार्य किसी बहुत बड़े साधु संघके प्रवर्तक पद पर आसीन थे और इसी कारण पश्चाद्वर्ती आचार्योंने उन्हें इसी नामसे स्मरण किया। वर्तक+एलाचार्यका ही प्राकृतरूप 'वट्टकेराइरिय' है। ऐसा ज्ञात होता है कि मूलाचारकी जो मूलप्रतियाँ आ० वसुनन्दीके सामने रही हैं उनके अन्त में 'वट्टकेराइरिय विरइय' जैसा पाठ रहा होगा और उसमें के अन्तिम पद 'आइरिय' का संस्कृतरूप आचार्य करके प्रारंभके 'वट्टकेर' को उन्होंने किसी आचार्य विशेषका नाम समझकर और उसके संस्कृतरूप पर ध्यान न देकर अपनी टीकाके आदि व अन्तमें उसके रचयिताका 'वट्टकेराचार्य' नाम से उल्लेख कर दिया।

वर्तक-एलाचार्य या कुन्दकुन्द

उक्त विवेचनसे यह तो स्पष्ट हो गया कि मूलाचारके कर्त्ता प्रवर्तक एलाचार्य हैं। पर इस नामके अनेक आचार्य हो गये हैं, अत मूलाचारके कर्त्ता कौनसे एलाचार्य हैं? यह सहजमें ही प्रश्न उपस्थित होता है। ऐतिहासिक विद्वानोंने तीन एलाचार्योंकी खोज की है। प्रथम कुन्दकुन्द, जो मूलसघके प्रवर्तक माने जाते हैं। दूसरे वे, जो धवला टीकाकार वीरसेनाचार्यके गुरु थे और तीसरे 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रन्थके आद्य प्रणेता। जैसा कि लेखके प्रारम्भमें बताया गया है, धवला टीकामें मूलाचारके आचारांगके रूपसे और तिलोयपण्णत्तीमें मूलाचारके रूपसे उल्लेख होनेके कारण मूलाचारके कर्ता अन्तिम दोनों एलाचार्य नहीं हो सकते हैं, अतः पारिशेषन्यायसे कुन्दकुन्द ही एलाचार्यके रूपसे सिद्ध होते हैं।

मूलाचारकी कितनी ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंमें भी ग्रन्थकर्त्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य पाया जाता है।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित मूलाचारके अन्तमें जो पुष्पिका पाई जाती है उसमें भी मूलाचारको कुंदकुंदाचार्य प्रणीत लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है :—

'इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।' इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

आ० कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थोंके साथ मूलाचारका कितना सादृश्य है, यह पृथक् लेख द्वारा प्रगट किया जायगा। यहाँ पर इस समय इतना ही कहना है कि मूलाचारको सामने रखकर कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंका गहरा अभ्यास करने वाले पाठकोंसे यह अविदित नहीं रहेगा कि मूलाचारके कर्त्ता आ० कुन्दकुन्द ही हैं। ऐसी हालतमें प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका या पं० परमानंदजी शास्त्रीका कथन कितना सार-गर्भित है, यह सहज ही जाना जा सकता है। यहाँ पर मुझे यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि पं० परमानन्दजीको अब अपने उस पूर्व कथनका आग्रह नहीं है, वे कुछ पहलेसे ही मूलाचारको एक अति प्राचीन मौलिक ग्रन्थ समझने लगे हैं।

पाँचवे श्रुतकेवली आ० भद्रबाहुके समयमें होने वाले दुर्भिक्षसे जो संघभेद हो गया और इधर रहने वाले साधुओंके आचार-विचारमें जो शिथिलता आई, उसे देखकर ही मानों आ० कुन्दकुन्दने साधुओंके आचार-प्रतिपादक मूल आचारांगका उद्धार कर प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना की, इसी कारणसे इस ग्रन्थका नाम मूलाचार पड़ा और तदनुसार साधु-संघका प्रवर्तन करानेसे उनके संघका नाम भी मूलसंघ प्रचलित हुआ, ये दोनों ही बातें 'वट्टकेराइरिय' नामके भीतर छिपी हुई हैं और इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूलाचार अति प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है और उसके रचयिता एलाचार्य नाम से प्रख्यात आ० कुन्दकुन्द ही हैं।

आर्य और द्रविड़ संस्कृतिके सम्मेलनका उपक्रम

(बाबू जयभगवानजी एडवोकेट)

द्रविड़ संस्कृतिकी रूप रेखा—

भारतकी हिन्दू संस्कृति दो मुख्य संस्कृतियोंके सम्मेलनसे बनी है, इनमेंसे एक वैदिक आर्योंकी आधिदैविक संस्कृति और दूसरी द्राविड़ लोगोंकी आध्यात्मिक संस्कृति। परन्तु वास्तवमें यदि देखा जाय तो हिंदू संस्कृतिका अधिकांश भाग बारहसे चौदह आने तक सब अनार्य है। भारतीयोंका खान-पान (चावल, भात, दाल, सत्तू, दूध, घी, गुड़, शक्कर आदि) वेषभूषा (धोती, चादर, पगड़ी) रहन सहन. (ग्राम, नगर दुर्ग, पत्तन) आचार व्यवहार (अहिंसात्मक—सभीके अधिकारों और सुभीताओंका आदर करना), जीवन आदर्श—(मुक्तिकी खोज), आराध्यदेव (त्यागी, तपस्वी सिद्ध पुरुष) धर्म मार्ग—(दया, दान, दमन, व्रत, उपवास) पूजा-भक्ति तीर्थ गमन आदि सभी बातें द्रविड़ संस्कृतिके सांचेमें ढली हैं १।

भारतीय व वैदिक साहित्यके अनुशीलनसे तथा लघु एशियाकी पुरातत्त्व व सिन्ध और पंजाबके मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरोंकी खुदाईसे प्राप्त वस्तुओंसे यह बात तो सर्व सम्मत ही है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया और मध्य एशियाके देशोंमेंसे होते हुए त्रेतायुगकी आदिमें लगभग ३००० ई० पूर्वमें इलावर्त और उत्तरपश्चिमके द्वारसे पंजाबमें आये थे। उस समय पहलेसे ही द्राविड़ लोग गान्धारसे विदेह तक; और पंचालसे दक्षिणके मयदेश तक अनेक जातियोंमें बटे हुए अनेक जनपदोंमें बसे हुए थे, और सभ्यतामें काफी बढ़े चढ़े थे। ये दुर्ग ग्राम, पुर और नगर बनाकर एक सुव्यवस्थित राष्ट्रका जीवन व्यतीत करते थे। ये वास्तुकलामें बड़े प्रवीण थे। ये भूमि खोदकर बड़े सुन्दर कूप, तालाब, बावड़ी, भवन और प्रासाद बनाना जानते थे२। इनके नगर और दुर्ग ईंट, पत्थर और चूने के बने हुए थे। इनके कितने ही दुर्ग लोहा, सोना

---

१. (अ) अनेकान्त वर्ष ११ किरण ४-५—लेखक द्वारा लिखित 'भारतकी अहिंसा संस्कृति' शीर्षक लेख।
(आ) बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटीकी पत्रिका भाग १६ संख्या १ वर्ष ई० १९५०—में प्रकाशित डा० सुनीतिकुमारचटर्जीका लेख 'कृष्ण द्वैपायन व्यास और कृष्ण वासुदेव।'

२. (अ) "रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा इव हि सर्पाणामायतनानि अस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च विभ्रातृव्यम्"।
शत० ब्रा० ४-४-५-३

और चाँदीसे युक्त थे। कृषि, पशु पालन, वाणिज्य व्यापार और शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। वे जहाज चलानेकी कलामें दक्ष थे। वे जहाजों द्वारा समुद्री मार्गसे लघु एशिया तथा उत्तर पूर्वीय अफ्रीकाके दूरवर्ती देशोंके साथ व्यापार करते थे१।

इन्होंने अपने उच्च नैतिक जीवनसे उक्त देशोंके लोगोंको काफी प्रभावित किया था और उन्हें अपने बहुतसे धार्मिक आख्यान बतलाये थे। उनमें अपनी आध्यात्मिक संस्कृतिका प्रसार भी किया था। उक्त देशोंमें जन्मने वाले सभी सुमेरी और आसुरी सभ्यताओंमें जो सृष्टि-प्रलय और सृष्टि पूर्व व्यवस्था-सम्बन्धी मृत्यु तम-अपवाद पुरुष आत्मा-असुर-ब्रात्य-प्रजापति-हिरण्यगर्भवाद, विसृष्टि-इच्छा, तपनादिके आख्यान (Mythes) प्रचलित हैं, वे इन दस्युलोगोंकी ही देन हैं। वे इनके मृत्यु व अज्ञानतम-आच्छादित संसारसागरवाद, संसार-विच्छेदक आदिपुरुष जन्मवाद, ज्ञानात्मक सृष्टिवाद, त्याग तपस्या ध्यान विलीनता द्वारा संसारका प्रलयवाद अन्य आध्यात्मिक आख्यानोंके ही आधिदैविक रूपान्तर हैं; ये आख्यान लघु एशियामेंसे चलकर आनेवाले आर्यजनके वैदिक साहित्यमें तो काफी भरे हुए हैं; परन्तु मध्यसागरके निकटवर्ती देशोंमें पीछेसे यहूदी, ईसाई, इसलाम आदि जितने भी धर्मोंका विकास हुआ है, उन सभीमें अपने-अपने ग्रन्थोंमें उक्त आख्यानोंका भ्रान्तिरूपसे बखान किया है; चूँकि ये सभी आख्यान आध्यात्मिक हैं और आध्यात्मिक व्याख्यासे ही ये सार्थक ठहरते हैं! इसलिये आध्यात्मिक परम्परासे विलग हो जानेके कारण जब इनका अर्थ अन्य उक्त देश वालोंने आधिदैविक रीतिसे करना चाहा तो ये सभी विचारकोंके लिये जटिल समस्या बन गये। और आज भी वे ईश्वर वादी विचारकोंके लिये एक गहन समस्या है।

ये द्रविड़ लोग सर्प चिन्हका टोटका (Totem) अधिक प्रयोगमें लानेके कारण नाग, अहि, सर्प आदि नामोंसे विख्यात थे। वाणिज्य व्यापारमें कुशल होनेके कारण ये पार्ण (वणिक) कहलाते थे। श्यामवर्ण होनेके कारण ये कृष्ण भी कहलाते थे२। अपनी बौद्धिक प्रतिभा और उच्च आचार-विचारके कारण ये अपनेको दास व दस्यु (चमकदार) नामोंसे पुकारते थे। व्रतधारी व संयमी होने तथा वृत्रके उपासक होनेके कारण ये व्रात्य भी कहलाते थे, ये प्रत्येक विद्याओंके जानकार होनेसे द्राविड नामसे प्रसिद्ध थे, संस्कृत विद्याधर शब्द 'द्राविड' शब्दका ही संस्कृत रूपान्तर है— द्राविड' भ्राविद्, विद्याधर। इसीलिये पिछले पौराणिक व जैनसाहित्यमें कथा, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इन्हें विशेषतया विन्ध्याचल प्रदेशी तथा दक्षिण अनार्य लोगोंका "विद्याधर शब्दसे ही निर्देश किया गया है३। ये बड़े बलिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दयालु और अहिंसाधर्मको माननेवाले थे। ये अपने इष्टदेवको वृत्र (अर्थात् सब ओरसे घेर कर रहने वाला अर्थात् सर्वज्ञ)४ अर्हन् (सर्वआदरणीय) परमेष्ठी (परम सिद्धिके मालिक जिन (संसारके विजेता मृत्युञ्जय) शिव (आनन्दपूर्ण) ईश्वर(महिमापूर्ण) नामोंसे पुकारते थे। ये आत्म-शुद्धिके लिये अहिंसा संयम तप मार्गके अनुयायी थे। वे केशी (जटाधारी) (शिश्न-देव) (नग्नसाधुओं) के उपासक थे५। ये नदियों और पर्वतोंको इन योगियोंकी तपोभूमि होनेके कारण तीर्थस्थान मानते थे। वे न्यग्रोध, अश्वत्थ, आदि वृक्षोंको योगियोंके ध्यान साधनासे सम्बन्धित होनेके कारण पूज्य वस्तु मानते थे।

द्राविड़ संस्कृतिकी प्राचीनता—

द्राविड़ लोगोंकी इस आध्यात्मिक संस्कृतिकी प्राचीनताके सम्बन्धमें इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आर्यजनके आगमनसे पूर्व यह संस्कृति भारतमें प्रचलित थी। यहांके विज्ञजन देव-उपासना सत्य-चिन्तन, और कविभावुकतासे ऊपर उठकर आत्मलक्ष्यकी साधनामें जुट चुके थे। वे सांसारिक अभ्युदयको नीरस और मिथ्या जान अध्यात्म

(१) [अ] विशेष वर्णनके लिये देखें अनेकान्त वर्ष ११ किरण २ में प्रकाशित लेखकका "मोहनजोदड़ो कालीन और आधुनिक जैन संस्कृति" शीर्षक लेख।

(२) ऋग्वेद ८, ८९-११-१२

(३) रामायण (वाल्मीकि) सुन्दरकांड सर्ग १२। ब्राह्मी संहिता १२-७; ६-३८; पद्मपुराण स्वर्गखण्ड।

(४) वृत्रोह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्ये यदिदमन्तरेण द्यावा-पृथिव्यौ च यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम।

—शतपथ ब्रा० १. १. ३. ४

(५) इसके लिये देखें अनेकान्त वर्ष १२ किरण २ व ३ में लेखकके 'भारत योगियोंका देश है' शीर्षक लेख।

अभ्युदयके लिये त्यागी, भिक्षाचारी और अरण्यवासी बन चुके थे, वे तपस्या द्वारा अर्हन्, जिन, शिव, ईश्वर, परमेष्ठोरूप जीवनके उच्चतम आदर्शकी सिद्धि पा स्वयं सिद्ध बन चुके थे। अरण्योंमें इन सिद्धपुरुषोंके बैठनेके स्थान जो निषद, निषीदि, निषधा, निषीदिका नामोंसे सम्बोधित होते थे, भारतीय जनके लिए शिक्षा दीक्षा, शोध-चिंतन, आराधना उपासनाके केन्द्र बने हुए थे। इन निषदों परसे प्राप्त होनेके कारण ही आर्यजनने पीछेसे अध्यात्मविद्याको 'उपनिषद्' शब्दमें कहना शुरू किया था। ये स्थान आजकल जैन लोगोंमें निशिया वा निशि नामोंसे प्रसिद्ध हैं और इन स्थानकी यात्रा करना एक पुण्य कार्य समझा जाता है। उनकी इस जीवन-झांकीसे यहाँ पर यही अनुमान किया जा सकता है कि ऐहिक वैभव और दुनियावी भोग विलास वाले शैशव कालसे उठ कर त्याग और सन्तोषके प्रौढ़ जीवन तक पहुँचते थे, उन्हें क्या कुछ समय न लगा होगा। प्रवृत्ति मार्गसे निवृत्तिकी ओर मोड़ खानेसे पहले इन लोगोंने ऐहिक वैभवके सृजन, प्रसार और विलासमें काफी समय बिताया होगा। बहुत कुछ देवी-देवता अर्चन धर्म पुरुषार्थ अथवा अर्थ काम पुरुषार्थ अथवा वशीकरण यन्त्र-मन्त्रोंके करने पर भी जब उनको मनोरथकी प्राप्ति न हुई होगी, तब ही ही तो वे इनकी दृष्टिमें मिथ्या और निस्सार जचे होंगे। इस लम्बे जीवन प्रयोग पर ध्यान देनेसे यह अनुमान होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रारम्भिक काल वैदिक आर्यजनके आगमनसे कमसे कम १००० वर्ष पूर्व अर्थात् ४०००ईसा पूर्वका जरूर होगा। इस अनुमानकी पुष्टि भारतीय अनुश्रुतिसे भी होती है कि सतयुगका धर्म तप था, और त्रेता युगमें यज्ञोंका विधान रहा, और द्वापरमें यज्ञोंका ह्रास होना शुरू हो गया१। भारतीय ज्योतिष गणनाके अनुसार सतयुगका परिमाण ४८००, त्रेताका ३६००, द्वापरका २४०० और कलिका १२०० वर्ष है। यदि वैदिक आर्यजन त्रेतायुगके मध्यमें भारतमें आये हुए माने जाय और त्रेताका मध्यकाल ३००० ईस्वी पूर्व माना जाय तो द्राविड संस्कृतिका आरम्भिक काल उससे कई हजार वर्ष पूर्वका होना सिद्ध होता है।

(१) मनुस्मृति १.८६, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३१, २१-२६। मुण्डक उपनिषद्—१-२-१

वैदिक आर्योंका आदि धर्म—

पंजाबमें बसने वाले आर्यगण अपनी फारसी शाखाके समान ही जो फारस (ईरान) में आबाद हो गई थी, आधिदैविक संस्कृतिके मानने वाले थे। वे मानव चेतनाकी उस शैशवदशासे अभी ऊपर न उठे थे, जब मनुष्य स्वाभाविक पसन्दके कारण रंगबिरंगी चमत्कारिक चीजोंको देख आश्चर्य-विभोर हो उठता है, जब वह बाह्य-तत्वोंके साथ दबकर उन्हें अपने खेल-कूद आमोद-प्रमोदका साधन बनाता है उनके भोग उपभोगमें बहता हुआ गायन और नृत्यके लिए प्रस्तुत होता है। जब वह अपनी लघुता व बेबसी प्राकृतिक शक्तियोंकी व्यापकता और स्वच्छन्दताको देख कर दुःखदर्द और कठिनाईके समय उनमें देवता बुद्धि धारण करता है, उनके सामने नतमस्तक हो उनसे सहायतार्थ प्रार्थना करने पर उतारू होता है। इस दशामें सर्वव्यापक ऊँचा आकाश और उसमें रहने वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण तथा नियमबद्ध घूमने वाला ऋतुचक्र अन्तरिक्ष, लोक और उसमें बसने वाले मेघ, पर्जन्य, विद्युत प्रभंजा, वायु, तथा पृथ्वीलोक, और उस पर टिके हुये समुद्र, पर्वत, क्षितिज, उषा आदि सभी सुन्दर और चमत्कारिक तत्व जीवनमें जिज्ञासा, ओज, स्फूर्ति और विकास करने वाले होते हैं, इसीलिए हम देखते हैं कि शुरू-शुरूमें वैदिक आर्यगण अपनी अन्य फारसी और हिन्दी योरोपीय शाखाओंकी तरह द्यु (आकाश वरुण (आकाशका व्यापक देवता) मित्र (आसमानी प्रकाश) सूर्य, मरुत (अन्तरिक्षमें विचरने वाला वायु) अग्नि, उषा, अश्विन् (प्रांत और सन्ध्या समयकी प्रभा) आदि देवताओंके उपासक थे २।

इस सम्बन्धमें यह बात याद रखने योग्य है कि शैशवकालमें मनुष्यकी मान्यता बाहरी और आधिदैविक क्यों न हो उसके साथ उसकी कामनाओं और वेदनाओंकी अनुभूतियोंका घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जगत् और तत्सम्बन्धि बातोंको जाननेके लिए मनुष्यके पास अपने अनुभूतिके सिवाय

(२) (A) S. Radha Krishnan—Indian philosophy Vol. one—chapter first.
(B) Prof. A Macdonell—Vedic Mythology Vl. 2 and 3

और प्रमाण भी कौनसा है। इसीलिये वह जगत् और उसकी शक्तियोंकी व्याख्या सदा अपनी अनुभूतिके अनुरूप ही करता है। यद्यपि आधिदैविक पक्ष वालोंकी मान्यता है कि ईश्वरने मनुष्यको अपनी छाया अनुरूप पैदा किया है १। परन्तु मनोविज्ञान और इतिहासवालों-का कहना है कि मनुष्य अपनी अनुभूतिके अनुरूप ही जगत्, ईश्वर, और देवताओंकी सृष्टि करता है। और इस तरह मनुष्यका आदिधर्म सदा मानवीय देवतावाद (Anthropomorahism) होता है।

इसी तरह वैदिक आर्योंका आदि धर्म भी मानवीय देवतावाद था२। इनके सभी देवता मानव-समान सजीव सचेष्ट, आकृति-प्रकृतिवाले थे। वे मानव समान ही खान पान करते और वस्त्राभूषण पहनते थे। वे मानवी राजाओंकी तरह ही वाहन, अस्त्र, शस्त्र, सेना, मन्त्री आदि राजविभूतियोंसे सम्पन्न थे। वे राजाओंकी तरह ही रुष्ट होने पर रोग, मरी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि विपदाओंसे दुनियामें तबाही बरपा कर देते हैं और संतुष्ट होने पर वे लोगोंको धन-धान्य, पुत्र पौत्र संतानसे माला-माल कर देते हैं।

इन देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए मनुष्यके पास सिवाय यज्ञ, हवन कुरबानी, प्रार्थना-स्तुतिके और उपाय ही कौनसा है। इसलिए मानव समाजमें जहाँ कहीं और जब कभी भी देवतावादका विकास हुआ है तो उसके साथ साथ यज्ञ, हवन, स्तुति, प्रार्थना, मन्त्रोंका भी विस्तार हुआ है। इस तरह देवतावादके साथ स्तोत्रों और याज्ञिक क्रियाकाण्डका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेदमें इन प्रश्नोंके उत्तरमें कि 'पृथ्वीका अंत कौनसा है, संसार-की नाभि कौनसी है, शब्दका परमधाम कौनसा है' कहा गया है कि यज्ञवेदी ही पृथ्वीका अन्त है, यज्ञ ही संसारकी नाभि है और ब्रह्म (मन्त्रस्तोत्र ही) शब्दका परमधाम३ है अर्थात् अग्निन कायसे आगे कोई कल्याणका स्थान नहीं है। दुःखोंकी निवृत्ति और सुखोंकी सिद्धिके लिये यज्ञ ही जीवनका आधार है। देवता स्तुति एक मंत्र ही शब्दविद्याकी पराकाष्ठा है। इससे अधिक लाभदायक और कोई वाणी नहीं हो सकती। इसी तरह ब्राह्मण ग्रन्थों-में कहा गया है कि यज्ञ ही देवताओंका अन्न है१। यज्ञ ही धर्मका मूल है२। यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है३। बिना यज्ञ किये मनुष्य अजातके समान है४। इसीलिये देव-ताओंकी प्रार्थना की गई है कि सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियों सहित रथोंमें बैठकर आवें और हवि ग्रहण करके सन्तुष्ट-होवें५।

जब तक मनुष्यको अपनी गरिमा और शोभाका बोध नहीं होता उसकी भावनाएँ भी उसकी बाह्यदृष्टि अनुरूप साधारण ऐहिक भावनाओं तक ही सीमित रहती हैं। वे धन धान्य-समृद्धि पुत्र-पौत्र उत्पत्ति, रोगव्याधि-निवृत्ति, दीर्घ आयु, शत्रुनाशन, आदि तक पहुँचकर रुक जाती है। उसके लिये इन्हींकी सिद्धि जीवनकी पराकाष्ठा है, इनसे आगे उसे जीवन-कल्याणका और कोई आदर्श नजर नहीं आता। इसलिए स्वभावतः आधिदैविकयुगके आर्यजन उक्तभावनाओंको लेकर ही देवताओंकी प्रार्थना करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऋग्वेदका अधिकांश भाग इस ही प्रकार-की भावनाओं और प्रार्थनाओंसे भरपूर है६। इन मन्त्रोंमें इन्द्रदेवतासे जहाँ-जहाँ दस्युओंके सर्वनाश और इनके धन-हरण आदिके लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं वे उन घोर लड़ाइयोंकी प्रतिध्वनि है जो आर्यजनको अपने वर्ण और सांस्कृतिक विभेदोंके कारण दीर्घकाल तक दस्यु लोगोंके साथ लड़नी पड़ी है। इनका ऐतिहासिक तथ्य सिंधुदेश और पंजाबके ५००० वर्ष पुराने मोहनजोदड़ो और हडप्पा सरीखे दस्यु लोगोंके उन समृद्धशाली नगरोंकी बरबादीसे समझमें आ सकता है जिनके ध्वंस अवशेष अभी १९२२

(१) So god created man in his own image. Bible Genesis 1-27

(२) वही Indian Philosophy और Vedic Mythology.

(३) इयं वेदिः परोअंतःपृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ ऋग–१, १६४, ३५,

(१) यज्ञो वै देवतानाम् अन्नम्॥ शतपथ ब्राह्मण ८-१-२ १०

(२) यज्ञो वै ऋतस्य योनिः ॥ शतपथ ब्राह्मण १-३,४-१६

(३) यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ॥ शतपथ ब्राह्मण १-७-१-५

(४) अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न भजते स यज्ञेनैव जायते। जैमिनि उप. ३-१४ ८

(५) ऋग—३-६-६, १-२

(६) ऋग—२-२ (पुत्र पौत्र उत्पत्तिके लिये)
ऋग—१०-१८ (शतवर्ष आयुके लिये)
ऋग—१०-२२-१०-२३, ६-१५-२ (दस्यु नाशकके लिये)।

के लगभग सरकारी पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशमें आये हैं।

बहुदेवतावादका उदय—

ज्यों-ज्यों वैदिक ऋषियोंका अनुभव बढ़ा और ऊपर नीचे, दायें-बायें लोककी विभिन्न शक्तियां उनके अवलोकनमें आईं, त्यों त्यों इनके अधिनायक देवताओंकी संख्या बढ़ती चली गई। आखिर यह संख्या क्रम त्रायस्त्रिंश अर्थात् तैंतीस तक पहुँच गई१। ऋग्वेदकी ३-९-९ की श्रुति अनुसार तो यह संख्या ३३३९ तक भी पहुँच गई थी। इन ३३ देवोंमें आठ वसु (१ अग्नि, २ पृथ्वी, ३ वायु, ४ अन्तरिक्ष ५ आदित्य, ६ द्यौ, ७ चन्द्रमा, ८ नक्षत्र)२ ग्यारह रुद्र दश प्राण और एक आत्मा३। द्वादश आदित्य (द्वादश मास)४ एक इन्द्र, एक प्रजापति, सम्मिलित माने जाने लगे थे५। इन देवताओंकी संख्या बढ़ती-बढ़ती इतनी बोझल हो गई कि इन्हें समझने और समझानेके लिये विद्वानोंने इन्हें लोककी अपेक्षा तीन श्रेणियोंमें विभक्त करना शुरू किया। द्यु-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथ्वी-स्थानीय६। इन श्रेणिबद्ध देवताओंमें भी द्यु लोकका सूर्य, अन्तरिक्ष लोकका वायु और पृथ्वीलोककी अग्नि मुख्य देवता माने जाने लगे, परन्तु इनमें भी देवासुर अथवा आर्यदस्यु संग्रामोंमें अधिक सहायक होनेके कारण वैदिक आर्योंने जो महत्ता इन्द्रको प्रदान की वह अन्य देवताओंको हासिल न हुई। जब इन देवताओंकी पृथक् पृथक् स्तुति और यज्ञ अनुष्ठान करना, मनुष्यकी शक्तिसे बाहरका काम हो गया। तब एक ही स्थानमें विश्वदेवाके उच्चारण द्वारा सबहीका ग्रहण किये जाने लगा७। इन उपरोक्त बातोंसे पता लगता है कि भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा मनीषिजन इन देवताओंके नाम उच्चारणके भारसे बचनेका प्रयत्न कर रहे थे।

ये सभी देवता एक समय ही दृष्टिमें न आये थे, ये विभिन्न युगोंकी पैदावार थे। शुरू शुरूमें ये सभी देवता अपने-अपने क्षेत्रमें एक दूसरेसे बिल्कुल स्वतन्त्र, बिल्कुल स्वच्छन्द महाशक्तिशाली माने जाते रहे। अपने अपने विशेष क्षेत्रमें प्रत्येक देवता सभी अन्य देवताओंका शासक बना था। पीछेसे एक जगह सम्मिश्रण होने पर इसमें तारतम्यता, मुख्यता व गौणताका भाव पैदा होने लगा। इनकी शुरू शुरू वाली स्वच्छन्दताकी विशेषता एक ऐसी विशेषता है जो न बहुईश्वरवादसे सूचित की जा सकती है और न एकेश्वरवादसे। प्रो० मेक्समूलरने इसके लिये एक नई संज्ञा प्रस्तुत की है Henotheism अर्थात् बारी-बारीसे विभिन्न देवोंकी सर्वोच्च प्रधानता, यह बात तो सहज मनोविज्ञानकी है कि कोई मनुष्य एक साथ अनेक देवताओंको एक समान सर्वोच्च प्रधान होनेकी कल्पना नहीं करता, वह एक समयमें एकको ही प्रधानता देता है। ऋग्वेदमें जो हम सभी देवताओंको बारी-बारीसे सर्वप्रधान हुआ देखते हैं उसका स्पष्ट तथ्य यही है कि ये सभी देवता एक ही जाति और एक ही युगकी कल्पना नहीं है बल्कि ये भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थिति अनुसार विभिन्न जातियों और विभिन्न युगोंकी कल्पना पर आधारित हैं! इसलिए ये अपने-अपने वर्ग, युग और क्षेत्रमें प्रधानताका स्थान धारण करते रहे हैं। इन सबका उद्गम इतिहास एक दूसरेसे पृथक् है और उन सूक्तोंसे बहुत पुराना है, जिनमें इनका स्तुति गान, किया गया है। इन त्रायस्त्रिंश देवताओंमें सबसे आखिरी दाखला उन देवोंका है जो रुद्र संज्ञासे सम्बोधित किए गए हैं। इनमें पुरुषके दश प्राण और एक आत्मा शामिल है। शतपथ ब्राह्मणकारने रुद्रशब्दकी व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है—'कतमे रुद्रा इति? दश इमे प्राणा, आत्मा एकादश, ते यदा अस्मात् शरीरात् मर्त्यान् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति तस्मात् रुद्रा इति।' (शतपथ ब्रा० ११-६-३-७ व श. ब्रा० १४-७-५।

अर्थात् रुद्र कौनसे हैं ये दश प्राण, और ग्यारहवाँ आत्मा, चूँकि मृतक शरीरसे ये निकलकर चले जाते हैं और दुनियावालोंको रुलाते हैं, इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं।

रुद्रदेवता यक्ष-जन व दस्युजनके पुराने देवता हैं और भारतीय योगसाधनाकी संस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध

(१) ऋग्वेद ३-६-९, (२) शतपथ ब्राह्मण ११-६-३-६ बृह-उप ३-९-३, (३) शतपथ ब्राह्मण १४-७-५, शतपथ ब्रा० ११-६ ३-७, बृह. उप. ३-९-४ छा. उप. ३-१५-३ (४) बृह. उप. ३-९-५, (५) श. ब्रा. ४-५-७ २, (६) (अ) ऋग्वेद १ १३९-११, (आ) भास्कराचार्यकृत निरुक्त (दैवतकाण्ड) १-२-१ (इ) शौनक-सर्वानुक्रमणी २ ८। (७) ऋग्वेद १-८९ में 'विश्वदेवा' के नामसे सबकी इकट्ठी स्तुति की गई है। एते वै सर्वे देवा यद्विश्वे देवाः, कौशनकी ब्रा० ४-१४-५-३। विश्वे देवाः यत सर्वे देवाः, गोपथ ब्रा० उत्तरार्द्ध १।२०।

रखते हैं। सभी तांत्रिक, पौराणिक और जैनसाहित्यमें इनकी मान्यता सुरक्षित है। भारतीय अनुश्रुति-अनुसार ये मृत्युको हिलानेवाले घोर तपस्वी ग्यारह महायोगियोंके नाम हैं। महाभारतमें† इनके नाम निम्न प्रकार बतलाए गए हैं—१ मृगव्याध, २ सर्प, ३ निऋति, ४ अजैकपाद्, ५ अहिर्बुध्न्य ६ पिनाकी, ७ दहन, ८ ईश्वर, ९ कपाली १० स्थाणु, ११ भग। इनमेंसे अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, भग, स्थाणु आदि कई रुद्रोंका उपरोक्त नामोंसे ऋग्वेदके कितने ही सूत्रोंमें बखान किया गया है। ये देवता आर्यजनने इलावर्त और सप्तसिन्धु देशमें प्रवेश होनेके साथ ही साथ वहाँके निवासी यक्ष और गन्धर्व जातियोंसे ग्रहण किये हैं। इस तरह यद्यपि भारत-प्रवेशके साथ इनके देवता-मण्डलमें 'आत्मा' नामके देवताका समावेश जरूर हो गया, पर अभी आत्मीय वस्तु न होकर देवता ही बना रहा। इस 'आत्मा' देवताको आत्मीय तत्त्वमें प्रवृत्त करनेमें आर्यजनको बहुत-सी मंजिलोंसे निकलना पड़ा है।

बहुदेवतावादका ह्रास—

इस बढ़ती हुई संख्याके साथ ही साथ देवतावादका ह्रास भी शुरू हो गया और यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। आखिर बुद्धि इन देवताओंके अव्यवस्थित भारको कब तक सहन करती। जहाँ शिशु-जीवन विस्मयसे प्रेरा हुआ, सामान्यसे विशेषताकी ओर, एकसे अनेकताकी ओर छटपटाता है, वहाँ सन्तुष्टि-लाभ होने पर प्रौढ़ हृदय बाहुल्यता और विभिन्नतासे हटकर एकता और व्यवस्थाकी राह ढूंढता है। स्वभावतः बुद्धिमें किसी एक ऐसे स्थायी, अविनाशी, सर्वव्यापी सत्ताकी तलाश करनी शुरू की जिसमें तमाम देवताओंका समावेश हो सके। शंका ही दर्शनशास्त्रकी जननी है, इस उक्तिके अनुसार एकताका दर्शन होनेसे पहले इन देवताओंके प्रति ऋषियोंके मनमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ पैदा होना शुरू हुईं।

"ये आकाशमें घूमनेवाला सप्तऋषिचक्र दिनके समय कहाँ चला जाता है१ ?"

"द्यु और पृथ्वीमें पहले कौन पैदा हुआ कौन पीछे? ये किसलिए पैदा हुए, यह बात कौन जानता है (२) ?"

† महाभारत आदिपर्व ६६, ८, ३।

(१) ऋग् १ २४-१०, (२) ऋग १-१८५-१,

"इन विभक्त देवोंमें वह कौनसा देवाधिदेव है जो सबसे पहले पैदा हुआ जो सब भूतोंका पति है, जो द्यु और पृथ्वीका आधार है, जो जीवन और मृत्युका मालिक है, इनमेंसे हम किसके लिये हवि प्रदान करें३ ?"

"जिस समय अस्थिरहित प्रकृतिने अस्थियुक्त संसारको धारण किया, उस समय प्रथम उत्पन्नको किसने देखा था। मान लो पृथ्वीसे प्राण और रक्त उत्पन्न हुए परन्तु आत्मा कहाँ से पैदा हुआ। इस रहस्यके जानकारके पास कौन इस विषयकी जिज्ञासा लेकर गया था४ ?"

इस उठती हुई शंका लहरीने इन्द्रको भी अछूता न छोड़ा। होते-होते वैदिक ऋषि अपने उस महान् देवता इंद्र के प्रति भी सशंक हो उठे५। जो सदा देवासुर और आर्य-दस्युसंग्रामोंमें आर्यगणका अग्रणी नायक बना रहा। जिसने वृत्रको मारकर सप्तसिन्धु देश आर्य-जनके बसनेके लिये युद्ध कराया, जिसने दस्युओंका विध्वंस करके उनके दुर्ग नगर, धन, सम्पत्ति, आर्यजनमें वितरण की, जो अपने उक्त पराक्रमके कारण महाराजा, महेन्द्र, विश्वकर्मा आदि नामोंसे विख्यात हुआ६।

एक देवतावादकी स्थापना—

यह प्रश्नावली निरन्तर उन्हें एक देवतावादकी ओर प्रेरणा दे रही थी। आखिरकार भीतरसे यह घोषणा सुनाई देने लगी—

इन्द्रं वरुणं मित्रमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

॥ ऋग्–१ १६४-४६

मेधावी लोग जिसे आज तक इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक नामोंसे पुकारते चले आये हैं वह एक अलौकिक सुन्दर पक्षी के समान (स्वतन्त्र) है। वह अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक रूप नहीं है। वह तो एक रूप है। इस भावनाके परिपक्व होने पर अनेक देवताओंकी जगह यह एक देवता संसारकी समस्त शक्तियोंका स्रष्टा वा संचालक बन गया।

(३) कस्मै देवाय हविषा विधेम—ऋग १०–१२१,

(४) ऋग. १-१६४-४, (५) ऋग १० ८६-१-२-१२-५,

(६) इन्द्रके इस विवेचनके लिये देखें 'अनेकान्त' वर्ष ११ किरण २ में लेखकका मोहनजोदड़ों कालीन और आधुनिक जैनसंस्कृति "शीर्षक लेख।

यही जीवनके समस्त सुख-दुःखोंका एक मात्र आधार हो गया। और ब्रह्मा, प्रजापति, विश्वकर्मा-आदि नामोंसे निर्देश होने लगा। परन्तु आत्माको प्रेरक सत्ताको छोड़कर जो समस्त देवताओंका जनक है, जो आत्म अनुरूपही देवताओंकी सृष्टि करने वाला है, जो समस्त प्रकारके दर्शनों (PhiloSphies) विज्ञानों (Since) और कलाओंका रचयिता है, समस्त रूपोंका सृष्टा है किसी बाह्य अनात्म सत्ताको संसारका प्रेरक माननेमें जो त्रुटियाँ बहु देवतावादमें मौजूद थी—वही त्रुटियाँ इस एक देवतावादमें भी थी इसीलिये जीवन और जगतके प्रति निरन्तर बढ़ती हुई जिज्ञासा इस एक देवतावादसे भी शान्त न हो सकी। वह प्रश्न करती ही चली गई।

सृष्टिकालमें विश्वकर्माका आश्रय क्या था? कहाँ से और कैसे उसने सृष्टि कार्य प्रारम्भ किया? विश्वदर्शक देव विश्वकर्माने किस स्थान पर रहकर पृथ्वी और आकाशको बनाया? वह कौनसा वन और उसमें कौनसा वृक्ष है, जिससे सृष्टि कर्ताने द्यावा पृथ्वीको बनाया? विद्वानों! अपने मनको पूछ देखो कि किस पदार्थके ऊपर खड़ा होकर ईश्वर सारे विश्वको धारण करता है१।

"वह कौनसा गर्भ था जो द्युलोक, पृथ्वी, असुर देवों के पूर्व जलमें अवस्थित था, जिसमें इन्द्रादि सभी देवता रहकर समदृष्टिसे देखते थे२।

"विद्वान् कहते हैं कि सृष्टिसे पहिले सब ओर अन्धकार छाया हुआ था, सभी अज्ञात और जल मग्न था, तपस्याके प्रभावसे वह एक तत्त्व (प्रजापति) पैदा हुआ। उसके मनमें सृष्टिकी इच्छा पैदा हुई। परन्तु इन सब बातोंको कौन जानता है? और किसने इन बातोंको जताया? यह विसृष्टि किस उपादान कारणसे पैदा हुई। देवता लोग तो इस विसृष्टिके बाद ही पैदा हुए। इसलिए यह कौन जानता है कि सृष्टि उस प्रकारसे पैदा हुई। यह विसृष्टि उसमें से पैदा हुई। जो इसका अध्यक्ष है और परम व्योममें रहता है, वही ये बातें जानता होगा और हो सकता है कि वह भी न जानता हो (३)।

(१) ऋग्वेद १०-८१
(२) ऋग्वेद १०-८२
(३) ऋग्वेद १०-१२९

अध्यात्मवादकी ओर

इस प्रकार वैदिक जिज्ञासा तर्कहीन विश्वाससे निकल कर एक सतर्क विचारणाकी ओर बह रही थी। इनकी इस तर्कयुक्त आधिदैविक विचारणामेंसे ही आगे चल कर ईश्वर और सृष्टिप्रलयवाद-मूलक वैशेषिक तथा नैयायिक दर्शनका जन्म हुआ। इसमेंसे ही सृष्टिपूर्व अवस्था सम्बन्धी सत्-असत्, सदसत् रूप तीन वादोंका भी विकास हुआ, उपरोक्त सिद्धान्तोंके निर्माणमें यद्यपि उन आध्यात्मिक आख्यानोंकी गहरी छाप पड़ी है, जो संसार सागरवाद, संसाराच्छेदकपुरुष जन्मवाद, ज्ञानात्मकसृष्टिवाद, तपध्यानविलीनताख्य प्रलयवादके सम्बन्धमें दस्युलोगोंमें लघुएशियायी देशोंमें पहिलेसे ही प्रसारित किये हुए थे। तो भी आधिदैविक रूपमें ढलनेके बाद वे उनकी विचारणाकी स्वाभाविक प्रगतिका ही फल कहे जा सकते हैं! परन्तु यह सब कुछ होने पर भी वैदिक विश्व देवता प्रेरित एक निरर्थक वस्तु और मानव एक शुष्क अस्थिकंकालसे आगे न बढ़ सका, एक प्रजापतिवादकी ऋग्वेद १-१८९-१ और १०-८१ में किये गये, '(क्यों कब और कैसे सृष्टिकी रचना हुई)' प्रश्नोंका हल न कर सकी। मस्तिष्क निरन्तर एक ऐसे अहंकारमय चैतन्य तत्त्वकी मांग करता रहा, जो अपनी कामनाओंसे इस विश्वको सार्थक बनादे, और इस कंकालको अपनी मादकता और स्फूर्तिसे उद्दीप्त करदे।

चुनांचे हम आगे चल कर देखते हैं कि इस मांगके अनुरूप ही वैदिक विचारणामें सहसा ही एक ऐसी क्रांतिका उदय हुआ जिसने इसकी दिशाको बाहरसे हटा भीतरकी ओर मोड़ दिया, उसे देवतावादसे निकाल आत्मवादमें जुटा दिया। इस क्रान्तिके फलस्वरूप ही उसे प्रथम बार यह भाव हुआ कि रंगरूप वाला विश्व जिसकी चमत्कारिक अभिव्यक्तियोंके आधार पर वह इसे महाशक्ति और बुद्धिमान् देवताओंसे अनुशासित मानता रहा है, सत् होते भी असत् है, ऋतवान् होते हुए भी, अनृतसे भरपूर है, सुन्दर होते भी क्रूर उपद्रवोंका घर है यह रोग-शोक और मौतसे व्याप्त है, यह कभी किसीके वशमें नहीं रहता, इसकी ममता, इसका परिग्रहण बहुत दुःखमय है। अग्नि वायु इन्द्र आदि विश्वदेवताओंमें जो शक्ति दिखाई देती है, वह उनकी अपनी नहीं है। इन्हें उद्विग्न और विलोडित करनेवाली कोई और ही भीतरी ही शक्ति है।

वैदिक विचारणाकी यह क्रान्ति उसकी स्वाभाविक

प्रगतिका फल न थी, बल्कि यह भारतकी द्रविड़ संस्कृतिका ही उसे एक अमर देन थी। यही कारण है कि आर्यजाति-की अन्य हिन्दी यूरोपीय शाखाएँ जो यूरोपके अन्य देशोंमें जाकर आबाद हुई, वे भारतकी दस्युसंस्कृतिका सम्पर्क न मिलनेके कारण अध्यात्मिक वैभवमे सदा वंचित ही बनी रही। ईसा पूर्वकी छठी सदीसे यूनान देशकी सभ्यता और साहित्यमें जो आध्यात्मिक पुट नजर आती है और वहाँ पथ्यगोरस, डायोजिनीस, प्रोटागोरस जैसा, पलेटो, सुकरात, जैसे अध्यात्मवादी महा दार्शनिक दिखाई पड़ते हैं, उनका एकमात्रश्रेय आत्मविद्याके अमरदूत भारतीय संतोंको ही है, जो समय समय पर विशेषतया बुद्ध और महावीरकालमें तथा उनके पीछे अशोक और सम्प्रतिकालमें यूनान, ईराक सिरिया, फिलिस्तीन, इथोपिया, आदि देशोंमें देशना और धर्मप्रवर्तनाके लिए जाते रहे हैं। उन्हींकी दी हुई यह विद्या यूनानसे होती हुई रोमकी ओर प्रसारित हुई है। परन्तु इस सम्बन्धमें यह बात याद रखने योग्य है कि यद्यपि भारतीय सन्तोंके परिभ्रमण और देशनाके कारण यूनानमें आध्यात्मिक विचारोंका उत्कर्ष जरूर हुआ। परन्तु अध्यात्मिक संस्कृतिकी सजीव धारासे अलग रहनेके कारण, ये वहाँ फलीभूत न हो सके। वहाँके लोग इन्हें विदेशी और अपनी परम्परा विरुद्ध समझकर सदा इनका विरोध करते रहे और इन दार्शनिकोंको देवता-द्रोह और अत्याचारका अपराधी ठहरा। इन्हें या तो कारावास में डाल दिया या इन्हें देश छोड़ने पर बाध्य किया। चुनांचे हम देखते हैं कि डायोजिनीस (५०० ई० पूर्व) और प्रोटोगोरस (४६० ई० पूर्व) को एथेन्स नगर छोड़ कर विदेश जाना पड़ा और सुकरात (४०० ई० पूर्व) को विष भरा जाम पी अपने प्राणोंसे विदा लेनी पड़ी। इस अध्यात्मविद्याके साथ जो दुर्व्यवहार उक्त कालमें यूनान निवासियोंने किया वही दुर्व्यवहार आजसे लगभग २००० वर्ष पूर्व फिलिस्तीन निवासी यहूदियोंने प्रभु ईसाकी जान लेकर किया। उन यूनानी दार्शनिकोंके समान प्रभु ईसा पर भारतीय सन्तोंके त्यागी जीवन और उनके उच्च आध्यात्मिक विचारोंका गहरा प्रभाव पड़ा था। भारत यात्रासे लौटने पर जब उसने अपने देशवासियोंमें जीवकी अमरता आत्म-परमात्माकी एकता, अहिंसा संयम, तप, त्याग, प्रायश्चित्त आदि शोध मार्गका प्रचार करना शुरू किया तो उस पर ईश्वर-द्रोह और भ्रष्टाचारका अपराध लगा फांसी पर टांग दिया गया।

❀ ❀ ❀

युग-परिवर्त्तन

श्री मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न, प्रभाकर

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है?

आज जगतके मंदिरालयमें,
बना मद्यपी पागल मानव
आत्मज्ञानसे शून्य हो चला
परके दुःखका ज्ञान न कण भर
मुख पर तो देवत्व झलकता
अन्तरमें दानवता छाई
वचनोंमें आडम्बर कितना
तदनुसार आचार नहीं है।

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है?

अपना अहम् बनाये रखना;
परका लघु अस्तित्व मिटाना,
अपना जीवन हो चिर सुखमय;
परके जीवन पर छा जाना,
इसी अहम्की मृग-तृष्णामें;
छलकी चिर-सञ्चित छलनामें;
उलझ रहा है पागल मानव
अपने पनका भान नहीं है।

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है?

वैभवकी शृंखलायें

(मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न, प्रभाकर)

उन दिनों वणिक्-श्रेष्ठ शूरदत्तका वैभव अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था। मालव-राष्ट्र के प्रिय नृपति शूरसेनने अपनी राजसभामें उन्हें 'राष्ट्र-गौरव' कह कर अनेकों बार सम्मानित किया था पर, अनित्यता जो संसारी पदार्थोंके साथ जुड़ी है, शूरदत्तके वैभवका सूर्य मध्यान्हके बाद धीरे धीरे ढलने लगा। और, शूरदत्तकी मृत्युके बाद तो वैभव कपूरकी तरह उड़ गया; विलीन हो गया। लक्ष्मी अपने चंचल चरण रखती हुई न जाने किस ओर बढ़ गई? विशाल भवनमें गृहस्वामिनी है, दो पुत्र हैं, एक पुत्री है किन्तु धनके अभावमें भवन मानो सूना-सूना है। प्रतिक्षण असन्तोष, लज्जा और गत-वैभवका शोक समस्त परिवारमें छाया रहता है।

निर्धनताके बादका वैभव मनुष्यके हृदयको विकसित कर देता है किन्तु वैभवके बादकी दरिद्रता मनुष्यके मनको सदाके लिए कुम्हला देती है। दोनों पुत्र व्यथित थे। हीन दशामें पुरजन और परिजनोंसे निःसंकोच बोलनेका उनमें साहस अवशेष न था। रह-रह कर विचार आता था देशान्तरमें जानेका, किंतु कहाँ जाय? जाय?

शूरमित्र बोला—'प्रिय अनुज! यहांसे चलना ही ठीक है।'

शूरचन्द्र बोला—'पर, कहाँ जानेकी सोच रहे हो?' शूरमित्रने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा—'भाई! जहाँ स्थान मिल जाय मुँह छुपानेके लिए। एक ओर पिताका वैभव कहता है उच्च स्तरसे रहनेके लिए, दूसरी ओर दरिद्रता खींचती है बार-बार हीनताकी ओर। बस, चल दें घरसे। मार्ग मिल ही जायगा।

शूरचन्द्र बड़े असमंजसमें था। उसका हृदय परदेशकी दिक्कतोंकी कल्पना मात्रसे बैठ सा गया था। वह अन्यमनस्क होकर बोला—'यहीं कहीं नौकरी करलें। लज्जा-लज्जामें पेट पर बन्धन बाँध कर भूखा रहनेसे तो अच्छा है।'

शूरमित्रने अनुजकी विकलता देखी। आँखोंसे आँसू बह निकले। वह बोला—'भाई! नौकरीका अर्थ है: भाग्यको हमेशा-हमेशाके लिए बेच देना और व्यापारका अर्थ है, भाग्यकी बार-बार परीक्षा करना। देशान्तर चलें, और व्यापर आरम्भ करें, भाग्य होगा तो पुनः बीते दिन लौट आयेंगे।

दूसरे दिन जब सबेरा होने को ही था, दोनों भाई माताका आशिष लेकर रत्नपुरसे प्रस्थान करके किसी अनजान पथकी ओर बढ़ चले।

× × ×

अनेकों वर्ष व्यतीत हो गये। पद-पद पर भटकते हुए ये दोनों सिंहलद्वीप जा पहुँचे। प्रयत्न करते, पर कुछ हाथ नहीं आता। भाग्य जैसे रूठ गया है। लक्ष्मीको पकड़नेके लिए शून्यमें हाथ फैलाते किन्तु लक्ष्मी जैसे हाथोंमें आना ही नहीं चाहती। उत्साह और आशा टूटने लगी। देशकी स्मृति दिनों दिन हरी होने लगी। एक दिन, दिन भरकी थकानके बाद जब वे आवासकी ओर लौट ही रहे थे, कि दूर एक प्रकाश-पुञ्ज दृष्टिगोचर हुआ। समीप जाकर देखा तो आश्चर्य और हर्षसे मानों पागल हो गये। प्रकाश-पुञ्ज एक दिव्य-रत्नका था, जिसकी किरणें दिग्-दिगंतमें फैल रही थीं। हृदय उमंगोंसे भर गया। भविष्यके लिए सहस्रों सुखद कल्पनायें उठने लगी। शूरमित्र मुस्कराते हुए बोला—'क्या सोचते हो चन्द्र! दिव्य मणि हाथ आ गया है। बस, एक मणि ही पर्याप्त है रूठी हुई चञ्चलाको मनानेके लिए। वैभव फिर लौटेगा, परिजन अपने होंगे, पुरजन अपने होंगे। अब उठ जायँगे हम पुनः दुनियाकी दृष्टिमें, और मालवपतिकी राजसभामें होगा पिता-तुल्य सम्मान। चलो, अब देश चलें। माता और बहिन प्रतीक्षामें होंगीं।

× × ×

भविष्यकी मधुर कल्पनाओंमें सहस्रों योजनका

मार्ग तय कर लिया गया। धनकी उष्णता मनुष्यको गति देती है, स्फूर्ति देती है। एक दिन चलते-चलते सन्ध्याका समय होने लगा। एक ग्राम समीप ही दृष्टिमें आया। अमूल्य रत्न लेकर ग्राममें जाना उचित न समझ कर अनुज बोला—'भाई ! आप मणि लेकर यहीं ठहरें, मैं भोजनकी सामग्री लेकर शीघ्र ही आता हूँ।' इतना कह कर वह ग्रामकी ओर चल दिया।

शूरचन्द्रके अदृश्य होते ही शूरमित्र रत्नको देख-देख कर सोचने लगा—'कितना कीमती है मणि ! मणि एक है, बांटने वाले हैं दो ? अमूल्य मणि मेरे ही पास क्यों न रहे ? चन्द्रको हिस्सेदार बनाया ही क्यों जाय ? थोड़ा सा प्रयत्न ही तो करना है चन्द्र चिरनिद्रामें सोया कि रत्न एकका हो गया। एकाकी सम्पूर्ण वैभव, एकाकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा और एकाकी सम्पूर्ण कीर्त्तिकी धारा प्रवाहित होगी मेरे नाम पर। नया घर बसेगा, नवीन वधू आयेगी, सन्तान-परम्परा विकसित होगी। समस्त संगीत भरा संसार एकका होगा। दूसरा क्यों रहे मार्गमें बाधक ? पनपनेके पूर्व ही बाधाका अंकुर तोड़ ही क्यों न दिया जाय ? काँटा तोड़नेके बाद ही तो फूल हाथ आता है।' लालसाकी तीव्रताने विचारों को धीरे-धीरे दृढ़ बनाना प्रारम्भ कर दिया। वैभवका महल अनुजकी लाश पर रखे जानेका उपक्रम होने लगा। कुछ समय बाद अनुज सामने आया। उसकी आकृति पर संकोच था। वह समीप आते ही बोला—'भाई ! बड़े व्याकुल हो ? देर तो नहीं हुई मुझे भोजन लानेमें ? लो, अब शीघ्र ही भोजन ग्रहण करो।

अनुजका स्वाभाविक आत्मीयताने ज्येष्ठके विकारी मनको झकझोर डाला। विरोधी विचार टूट टूट कर गिरने लगे। अनायास ही बाल्यकालका अनोखा प्यार स्मृति-पट पर अङ्कित होने लगा। नन्हें-से चन्द्रकी लीलाएँ एक-एक करके चित्रोंकी भांति आँखोंके सामने आने लगीं। ममतासे हृदय गीला हो चला और अनुजको खींच कर अपने हृदयसे लगाते हुए वह बोला—"चन्द्र ! यह रत्न अपने पास ही रखो। रत्नका भार अब असह्य हो चला है। छोटेसे मणिने मेरे आत्मिक सन्तुलनको नष्ट कर देनेका दुस्साहस किया है।" इतना कहते-कहते उसने रत्नको अनुजके हाथोंमें सौंप दिया। अनुजकी समझमें यह विचित्र घटना एक पहेली बन कर रह गई। प्रभात होते ही फिर प्रस्थान किया। धीरे धीरे पुनः दिन ढलने लगा। पुनः किसी नगरके समीप बसेरा किया। ज्येष्ठ बोला—"मणि सम्हाल कर रखना, मैं भोजन लेकर शीघ्र ही लौटूँगा।" इतना कह कर वह नगरकी ओर चल दिया।

शूरमित्रके जानेके बाद शूरचन्द्रने रत्न निकाल कर हथेली पर रखा। उसे ऐसा लगा मानों सारा विश्व ही उसकी हथेली पर नाच रहा हो। कितना कीमती है ? करोड़ स्वर्ण मुद्राओंका होगा ? नहीं, इससे भी अधिकका है। पर, मैं क्यों मानता हूँ इसे केवल अपना ? ज्येष्ट भ्राताका भी तो भाग है इसमें। ऊंह ! होगा ज्येष्ठका हिस्सा। बांटना, न बांटना मेरे ही तो आधीन है आज। पर, कैसे होगा ऐसा ? रास्तेसे हटाना होगा ? वैभवकी पूर्णताके लिये बड़े-बड़े पुरुषोंने भी पिता तकका वध किया है। वैभव और प्रतिष्ठाकी राहसे द्वित्वको हटाना ही होता है। ज्येष्ठ भ्राता है, पर विभाजन तो उसीके कारण है। सारे कृत्योंका श्रेय ज्येष्ठको ही मिलता है और अनुज आता है बहुत समय बाद दुनियां की दृष्टिमें। ज्येष्ठ ही वैभव और प्रतिष्ठा पर दीर्घकाल तक छाया रहे, यह कैसे सहन होगा ? सामने ही अन्धकूप है, पानी भरनेको जायगा। बस, एक ही धक्केका तो काम है।" इन्हीं रौद्र विचारोंमें उसके भविष्यका मधुर-स्वप्न और भी रंगीन हो चला।

"पत्नी आयेगी। भवन किलकारियोंसे भर जाएगा। वह भी एकमात्र घरकी अधिस्वामिनी क्यों न होगी ? जेठानीका अंकुश क्यों होगा उसके ऊपर ? वह स्वाधीन होगी, एकमात्र स्वामित्व होगा उसका भृत्य-वर्ग पर।"

इसी समय शूरमित्र आता हुआ दिखाई दिया। शूरचन्द्र भयसे सहसा कांप गया। दुष्कल्पनाओंने उसके मनको विचलित कर दिया। आकृति पर पीलापन छा गया। सोचने लगा—"ज्येष्ठकी आकृति पर हास क्यों ? क्या समझ गया है उसकी विचार धाराको ?"

शूरमित्र समीप आते ही बोला—चन्द्र ! बेचैन क्यों हो ? कुछ देर तो अवश्य हो गई है। लो; अब जल्दी ही भोजन करो।" यह कहते-कहते उसने बड़े स्नेहसे अनुजके सामने भोजन सामग्री रख दी।

अनुजका मन स्नेहके बन्धनमें आने लगा। अपने मानसिक पतन पर रह-रह कर उसे पश्चाताप होने लगा—"ज्येष्ठ भ्राता पिता-तुल्य होता है। कितना नीच हूँ मैं ? एक मणिके लिए ज्येष्ठ भ्राताका वध करनेको उद्यत हुआ हूँ ! वाह रे मानव ! क्षुद्र स्वार्थके भीषण-तम स्वप्न बनाने लगा ! भ्रातृद्रोही ! तुझे शान्ति न मिलेगी। तेरी कलुषित आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक भटकती रहेगी। वाह री वैभवकी आग ! अन्तरके स्नेहको जलानेके लिए मैं ही अभागा मिला था तुझे ? अनुज विचारोंमें खो रहा था और ज्येष्ठ उसके मस्तक पर हाथ रखकर सींच रहा था स्नेह। स्नेहकी धारा बहने लगी और बहने लगा उसमें अनुजका विकारी मन। शूरचन्द्र अपने आपको अधिक समय तक न सम्हाल सका, स्नेहसे गद्-गद् होता हुआ वह, शूरमित्रके चर-णोंमें लोटने लगा। कैसी थी वह आत्मग्लानिकी पीड़ा ? हृदय भीतर ही भीतर छटपटा रहा था। जैसे अन्तरमें कोई मुष्टिका प्रहार ही कर रहा हो। अनुज कराह उठा। वह टूटे कण्ठसे बोला—हे ज्येष्ठ भ्रात ! हे पितातुल्य भ्रात ! लो इस पापी मणिको। लो इस पतनकी आधार-शिलाको। दो हृदयोंमें दीवार बनाने वाले इस पत्थरको आप ही सम्हालो एक क्षण भी यह भार असह्य है मुझे ज्येष्ठ !

ज्येष्ठकी आँखोंसे धारा बह रही थी। वह लड़ख-ड़ाते स्वरमें बोला—"अनुज ! कैसे रखूँ इसे अपने पास ? सबसे पहले तो पापी मणिने मुझे ही गिराया है मानसिक शुद्धिके मार्गसे। रत्नके दावमें आते ही मैं दानव हो जाता हूँ। तुम इसे रखनेमें असमर्थ हो, मैं इसे रखनेके लिए और भी पहले असमर्थ हूँ। क्या किया जाय इस रत्नका ?"

शूरचन्द्र मौन था ! प्राणोंमें कम्पन तीव्र वेगसे उठने लगा। मौन-भंग करते हुए वह बोला—"क्या करना इस पत्थरका ? फेंक दो बेतवाके प्रवाहमें। भाई उतार दो इस जघन्यतम अभिशापको।" इतना सुनते ही शूरमित्रने वह अमूल्य मणि बेतवाके प्रवाहमें इस प्रकार फेंक दिया जैसे चरवाहोंके बच्चे मध्यान्हमें नदीके तीर पर बैठ कर जलमें तरंगे उठानेके लिए कंकड़ फेंकते हैं। रत्नके जलमें विलीन होते ही दोनोंने सुखकी साँस ली, स्नेहका गढ़ अभेद्य हो गया। अब उसमें लालच जैसे प्रबल शत्रुके प्रवेशके लिए कोई मार्ग अवशेष न था। मार्ग तय हो चुका था। स्नेहसे परिपूर्ण दोनों भाई अपने घर जा पहुंचे।

❀ ❀ ❀

पुत्र-युगलका मुख देखते ही माताकी ममता उमड़ने लगी। बहिनने दौड़ कर उन्हें हृदयसे लगा लिया ! माँ बोली—कैसा समय बीता परदेशमें ?

शूरमित्र गम्भीरता पूर्वक बोला—माँ ! परदेश तो परदेश है। सुख दुख सब सहन करने पड़ते हैं। जीवनके हर्ष विषाद सामने आए, प्रलोभन आए। सब पर विजय पाकर दोनों उसी स्नेहसे परिपूर्ण आप-के सामने हैं।

माता पुत्रोंके विश्राम और भोजनके प्रबन्धके लिए व्याकुल थी। समस्त छोटी-मोटी बातें रात्रिके लिए छोड़ कर वह बाजार गई और रोहित नामक मछली लेकर घर आ पहुंची। पुत्रीने सारा सामान व्यवस्थित कर ही दिया था। उसने ज्यों ही मछली को थोड़ा चीरा ही था कि हाथ सहसा रुक गये, आश्च-र्यसे मुख विस्फारित होकर रह गया। मछलीके पेटमें दिव्य-मणि ! हाथमें मणि लेते ही वह सोचने लगी—आज वर्षोंके बाद देखा है ऐसा महार्घ मणि। वर्षोंका दारिद्र नष्ट होनेको है क्षण भरमें। पुत्रोंको दिखाऊँ क्या ? ऊँह क्या दिखाना है पुत्रोंको। कौन किसका है ? बुढ़ापा आया कि सन्तान उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगी। भोजन, वस्त्र ही नहीं पानी तकको तरसते हैं, वृद्ध माँ-बाप। बहुएं नाक-भौंह सिकोड़ती हैं, पुत्र घृणासे मुँह फेर लेते हैं। बुढ़ापेका सहारा मिल गया है। क्यों हाथसे जाने दूं ? पर, कैसे भोग सकूँगी इसे ? मार्गसे हटाना होगा पुत्र-पुत्रीके जंजाल को ? क्यों नहीं, रत्नका प्रतिफल तभी तो पूरा मिलेगा, संसारमें पुत्रोंसे नहीं, धनसे मान मिलता है। एक बूंद हलाहलका ही तो काम है।"

इसी समय पुत्रीने भोजन-कक्षमें प्रवेश किया। आते ही वह बोली—'कितना सुहावना लगता है आज भवनमें। धन भले ही न हो, पुत्र रत्न तो हैं, मनकी शान्तिके लिये। तुम कितनी भाग्यवान हो माँ!

पुत्रीके शब्द सुनते ही उसे एक धक्का सा लगा। चेतना पुनः जागृत हुई। मन धीरे-धीरे विवेककी ओर मुड़ने लगा। सोचने लगी—"ऋषियोंने कहा है पुत्र, कुपुत्र हो सकता है पर माता, कुमाता नहीं होती। और मैं? वाह री माता! नौ माह जिन्हें गर्भमें धारण किया, जिनका मुँह देख कर प्रसव पीड़ा भी भूल गई, जिनके मुखको देख-देखकर एक एक क्षण आत्मविस्मृतिमें समाप्त हुआ; जिनकी किलकारियोंसे सारा भवन भरा रहा, आज उसी अपने रक्तको कुचलने चली है माता? बस, एक पत्थरके टुकड़ेके लिए? धिक् पापिष्ठे! अचेतनके लिये चेतनका व्याघात करने चली है?" इतना सोचते हुए उसने अन्यमनस्क भावसे कहा—"पुत्री! देखो, यह मूल्यवान रत्न है। सम्हाल कर रखना।"

मित्रवतीने रत्नको हाथमें लिया पर माताकी अन्य-मनस्कता वह समझ न सकी। धनमें बड़ा नशा है। जब यह नशा चढ़ता है तो बेहोश हो जाता है प्राणी। विवेककी आँखें बन्द हो जाती हैं। अदृश्यपूर्व था रत्न। सोचने लगी—कौन किसका भाई? कौन-किसकी माँ? सब स्वार्थके सगे हैं। गरीब बहिनको किसने प्यार दिया है? भाई वैभवके नशेमें चूर रहते हैं और बहिन दर-दरकी ठोकरें खाती है। क्यों न सुलादूँ सदाके लिए। धनवान युवतीके लिए कल्पनातीत वर भी तो मिल जाता है। आश्चर्यकी क्या बात है···?

भोजन तैयार हो चुका था मां बेटोंको लेकर भोजन-भवनमें आई। शूरमित्र बोला—चन्द्र आज तो बहिन मित्रवतीके साथ भोजन करेंगे। याद है जब छोटी सी गुड़ियोंकी तरह इसे लिए फिरते थे? चिढ़ाते थे, रुलाते थे, मनाते थे इसे।" इतना कहते-कहते उसने मित्रवतीको अपने थालके समीप ही खींच लिया दोनों भाई स्वयं खाते, बहिनको खिलाते, भवनमें आनन्दकी लहर दौड़ गई।

पर, मित्रवती तो जैसे धरतीमें धँसी जा रही है। भाइयोंकी ओर देखनेका उसे साहस नहीं होता। पाप जो सिर पर चढ़ कर बोल रहा है। वह फफक-फफक कर रो पड़ी। माँका प्यार स्मरण आने लगा। वे लोरियाँ स्मरण आने जो उसे सुलानेके लिए मां बचपनमें गाती रही थी। वे कौतुक याद आने लगे जो बचपनमें स्नेह-सिक्त होकर भाइयोंके साथ किए थे। छिः पापिष्ठे! जन्म दात्री माताका हनन करने चली है? वाह री भगिनी! फूलसे कोमल भाइयोंको मारने चली है, एक पाषाण-खण्डके लिए?

बहिनकी करुण स्थिति देख कर दोनों भाई सोच रहे थे कितना स्नेह है दोनोंके प्रति बहिनका, सारा-का सारा स्नेह जैसे आंसुओंकी धारा बन कर बहा जा रहा है।

मित्रवती भोजन करनेके बाद बहुत समय तक एकान्तमें रोती रही। पश्चातापकी ज्वालामें जलती हुई वह रात्रिके समय भाइयोंके कक्षमें जा पहुंची। हृदय-की समस्त वेदनाको अन्तरमें छुपा कर वह मुस्कराती हुई बोली—लो भैया! एक रत्न है यह मूल्यवान। इसे अपने पास रखो। रत्न देखते ही दोनों सारा रहस्य समझ गये। बहिनके रत्न-दानका रहस्य सोच कर उनमें संसारके प्रति एक विचित्र सी अरुचि होने लगी। माता भी गृह-कार्यसे निवृत होकर आ पहुँची। देश विदेशकी चर्चाओंके बाद उन्होंने मातासे कहा—'माँ! दरिद्रता कोई बुरा वस्तु नहीं। दरिद्रतामें व्यक्ति इतना दुःखी नहीं जितना वैभव पानेके बाद। दरिद्रता व्यक्तिके लिए वरदान है। वैभवकी अपेक्षा दरिद्रतामें शान्ति है, तृप्ति है।'

माँ ने बेटोंकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टिसे देखा। मानों जानना चाहती है कि वैभवमें अशान्ति कैसी?

शूरमित्र बोला—माँ! एक रत्न मिला था हम दोनोंको, जिसे संसार सम्पदा मानता है। रत्न हाथमें आते ही मैंने एकाकी ऐश्वर्यके काल्पनिक सपने बना लिए। अनुजको मार कर वैभवकी एकाकी भोगने-की विषैली महत्वाकांक्षा मनमें भड़कने लगी। भाग्यसे मनमें स्नेहकी धारा वह निकली, अन्यथा भ्रातृ-हत्याका पाप जन्म-जन्ममें लिए भटकता फिरता। शूरचन्द्र बोला—माँ! ज्येष्ठ भ्राताने रत्न मुझे सौप दिया था

किन्तु कुछ समझमें न आ सका था। धनकी मदिरा पीते समय कुछ न सोचा। थोड़ी देरमें वही नशा मुझे भी बेहोश बनाने लगा, जिसका परिणाम ज्येष्ठ भोग चुका था। अन्ध-कूपमें गिरानेका दृढ़ निश्चय कर लिया। किन्तु स्नेहने विकारी मनको रोक दिया, बाँध दिया। बच गया पापके पङ्कमें गिरते-गिरते। किंतु माँ! ज्ञात होता है पापका बीज फिर आगया है इस घर में। मित्रवती द्वारा अर्पित रत्न वही रत्न है, माँ।

माँ की आकृति पर विषादकी रेखायें गहरी हो चलीं। शूरमित्र बोला— माँ! अब दुखी होनेसे क्या लाभ? इस रत्नको अपने पास रखो। माँ! तुम जन्म-दात्री हो, पवित्र हो, गंगा-जलकी भांति। सन्तानके लिए माताके मनमें कल्पना भी नहीं आ सकती, खोटी।'

पुत्रोंकी बात सुन माँका विषाद आँखोंकी राहसे बह निकला। वह भर्रायी हुई ध्वनिमें बोली—'बेटा! वैभवको लालसा बड़ी निष्ठुर है। उसे पानेके लिए माँ भी सन्तानको मारनेके लिए कटिबद्ध हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है? वैभवकी क्षुधा सर्पिणीकी प्रसव कालीन क्षुधा है जो अपनी सन्तानको निगलने पर ही शान्त होती है। मैंने भी मछलीके पेटको चीरते समय ज्यों ही रत्न देखा, मित्रवती और तुम दोनोंको मार डालनेके विचार बलवान होने लगे। पर माँकी ममताने विजय पायी और मैंने ही बड़ी ग्लानिसे मित्रवतीको दे दिया था; वह रत्न।'

मित्रवती बोली—'माँ! मैं भी हतबुद्धि हो चली थी रत्न पानेके बाद लालसाने पारीवारिक बन्धन ढीले कर दिये थे। एक विचित्र पागलपन चलने लगा था मस्तिष्कमें। सौभाग्य है कि दुर्विचार शांत हो गये हैं।'

× × ×

किसी अदृश्य शक्तिके न्यायालयमें चार अपराधी अपना-अपना हृदय खोल कर अचल हो गये थे। चारों ओर स्मशान जैसी भयानक नीरवता थी। पश्चातापकी लपटें सूं-सूं करके पापी हृदयोंका दाह-संस्कार कर रही थीं। एककी ओर देखनेका दूसरेमें साहस न था। मस्तक नत थे, वाणी जड़ थी, विवेक गतिमान था।

शूरमित्र बोला भारी मनसे—'माँ! इस संसारके थपेड़े अब सहन नहीं होते। काम, क्रोध, माया और लालसाका ज्वार उठ रहा है पल पलमें। आत्मा क्षत-विक्षत हो रही है, आधारहीन भटक रही है जहाँ-तहाँ। संसारी सुखोंकी मृग-तृष्णामें कब तक छलूं अपने आपको। दूर किसी नीरव प्रदेशसे कोई आह्वान कर रहा है। कितना मधुर है वह ध्वनि? कितना संगीत-मय है वह नाद? अनादि परम्परा विघटित होना चाहती हैं। देव! अब सहा नहीं जाता। शरण दो, शान्ति दो।'

शूरमित्र ही नहीं सारे परिवारका वह करुण चीत्कार था; विकलता थी; विरक्ति थी, जो उन्हें कि अज्ञात पथकी ओर खींच रही थी।

× × ×

प्रभातका समय है। दिनकरकी कोमल किरणें धरती पर नृत्य करने लगी है। दो युवा पुत्र, पुत्री और माता मुनिराजके चरणोंमें नतमस्तक हैं। अरहंत शरणं गच्छामि! धर्मशरणं गच्छामि!! साधु शरणं गच्छामि!!! की ध्वनिसे दिग्-दिगन्त व्याप्त है। वैभवकी शृङ्खलायें, जो मानवको पापमें जकड़ देती हैं, खण्ड खण्ड हो गई हैं। उदय-कालीन सूर्यकी रश्मियाँ पल-पल पर उनका अभिषेक कर रही है। आज उनकी आत्मामें अनन्त शान्ति है।

आवश्यक सूचना

आगामी वर्षसे अनेकान्तका वार्षिक मूल्य छह रुपया कर दिया गया है। कृपया ग्राहक महानुभाव छह रुपया हो भेजनेका कष्ट करें।

मैनेजर—'अनेकान्त'

धर्म और राष्ट्र निर्माण

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न होता है—कौन सा धर्म? क्या जैनधर्म, क्या बौद्धधर्म, क्या वैदिक धर्म? नहीं यहाँ जो धर्मका स्वरूप बताया गया है वह जैन, बौद्ध या वैदिक सम्प्रदायसे सम्बन्धित नहीं। उसका स्वरूप है—अहिंसा, संयम और तप। जिस व्यक्तिमें यह त्रयात्मक धर्म अवतरित हुआ है उस व्यक्तिके चरणोंमें देव और देवेन्द्र अपने मुकुट रखते हैं। देवता कोई कपोल-कल्पना नहीं है; वह भी एक मनुष्य जैसा ही प्राणी है। यह है एक असाम्प्रदायिक विशुद्ध धर्मका स्वरूप।

आप पूछेंगे—महाराज! आप किस सम्प्रदायके धर्मको अच्छा मानते हैं? मैं कहूंगा—सम्प्रदायमें धर्म नहीं है; वे तो धर्मप्रचारक संस्थायें हैं। वास्तवमें जो धर्म जीवन-शुद्धिका मार्ग दिखलाता है वही धर्म मुझे मान्य है। फिर चाहे उस धर्मके उपदेष्टा और प्रवर्तक कोई भी क्यों न हो? जीवन शुध्यात्मक धर्म सनातन और अपरिवर्तनशील है।वह चाहे कहीं भी हो, मुझे सहर्ष ग्राह्य है।

आज जो विषय रखा गया है वह सदाकी अपेक्षा कुछ जटिल है। जहाँ हम सब आत्मनिर्माण, व्यक्ति-निर्माण और जननिर्माणको लेकर धर्मकी उपयोगिता और औचित्य पर प्रकाश डाला करते हैं, आज वहाँ राष्ट्रनिर्माणका सवाल जोड़ कर धर्मक्षेत्रकी विशालताकी परीक्षाके लिए उसे कसौटी पर उपस्थित करना है। इस विषय पर जिन वक्ताओंने आज दिल खोल कर असंकीर्ण दृष्टिकोणसे अपने विचार प्रकट किये हैं इस पर मुझे प्रसन्नता है।

राष्ट्र-विध्वंस

विषयमें प्रविष्ट होते ही सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि राष्ट्र-निर्माण कहते किसे हैं? क्या राष्ट्रकी-दूर-दूर तक सीमा बढ़ा देना राष्ट्र-निर्माण है? क्या सेना बढ़ाना राष्ट्र-निर्माण है? क्या संहारके अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण व संग्रह करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या भौतिक व वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या सोना-चाँदी और रुपये पैसोंका संचय करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या अन्याय शक्तियों व राष्ट्रोंको कुचल कर उन पर अपनी शक्तिका सिक्का जमा लेना राष्ट्र-निर्माण है। यदि इन्हींका नाम राष्ट्र-निर्माण होता है तो मैं बल पूर्वक कहूँगा—यह राष्ट्र-निर्माण नहीं; बल्कि राष्ट्रका विध्वंस है, विनाश है। ऐसे राष्ट्रके निर्माणमें धर्म कभी भी सहायक नहीं हो सकता। ऐसे राष्ट्र-निर्माणसे धर्मका न कभी सम्बन्ध था और न कभी होना ही चाहिए। यदि किसी धर्मसे ऐसा होता हो तो मैं कहूँगा—वह धर्म, धर्म नहीं,बल्कि धर्मके नाम पर कलंक है। धर्म राष्ट्रके कलेवरका नहीं उसकी आत्माका निर्माता है। वह राष्ट्रके जन-जनमें फैली हुई बुराइयोंको हृदय परिवर्तनके द्वारा मिटाता है। हम जिस धर्मकी विवेचना करना चाहते हैं वह कभी उपरोक्त राष्ट्रके निर्माणमें अपना अणुभर भी सहयोग नहीं दे सकता।

धर्मसे सब कुछ चाहते हैं

धर्मकी विवेचना करनेके पहले हम यह भी कुछ सोच ले कि धर्मकी आज क्या स्थिति है? और लोगोंके द्वारा वह किस रूपमें प्रयुज्य है? धर्मके विषयमें आज लोगोंकी सबसे बड़ी जो भूल हो रही है वह यह है कि धर्मको अपना उपकारी समझ कर उसे कोई बधाई दे या न दे परन्तु दुत्कार आज उसे सबसे पहले ही दी जाती है। अच्छा काम हुआ तो मनुष्य बड़े गर्वसे कहेगा—मैंने किया है; और बुरा काम हो जाता है तो कहा जाता है कि परमात्माकी ऐसी ही मर्जी थी? आगे न देखकर चलनेवाला पत्थरसे टक्कर खाने पर यही कहेगा कि किस बेवकूफने रास्तेमें पत्थर ला कर रख दिया। मगर वह इस ओर तो कोई ध्यान ही नहीं देता कि यह मेरे देख कर न चलनेका ही परिणाम है। लोगोंकी कुछ ऐसी ही आदत पड़ गई है कि वे दोषोंको अपने सिर पर लेना नहीं चाहते, दूसरोंके सिर पर ही मढ़ना चाहते हैं। अहिंसाका उपयुक्त पालन तो स्वयं नहीं करते और अपनी कमजोरियों, भीरुता और कायरताका दोषारोपण करते हैं—अहिंसा पर। धर्मके उसूलों पर स्वयं तो चलते नहीं और भारतकी दुर्दशाका दोष थोपते हैं—धर्म पर। मेरी दृष्टिमें यह भी एक भयंकर भूल है कि लोग अच्छा या बुरा सब कुछ धर्मके द्वारा ही पाना चाहते हैं, मानो धर्म कोई 'कामकुम्भ'

ही है। कहा जाता है—कामकुम्भसे जो कुछ भी मांगा जाता है वह सब मिल जाता है। मुझे यहाँ नीचेका एक छोटा सा किस्सा याद आता है:—

"एक बेवकूफको संयोगसे कामकुम्भ मिल गया। उसने सोचा—मकान, वस्त्र, सोना-चाँदी आदि अच्छी चीजें तो इससे सब मिलती ही हैं पर देखें शराब जैसी बुरी चीज भी मिलती है या नहीं। ज्योंही शराब माँगी त्योंही शराबसे छलाछल भरा प्याला उसके सामने आ गया। अब वह सोचने लगा—शराब तो ठीक, मगर इसमें नशा है या नहीं। पीकर परीक्षा करूँ। पीनेके बाद जब नशा चढ़ा और मस्ती आई तब वह सोचने लगा—वेश्याओंके नयन-मनोहारी नृत्यके बिना तो सब कुछ फीका ही है। विलम्ब क्या था। कामकुम्भके प्रभावसे वह भी होने लगा। तब उसने सोचा—देखें, मैं इस कामकुम्भको सिर पर रखकर नाच सकता हूँ या नहीं; आखिर होना क्या था? कामकुम्भ धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गया। वेश्याओंके नृत्य बन्द हो गए और जब उस बेवकूफकी आँखें खुलीं तो उस कामकुम्भके फूटे टुकड़ोंके साथ-साथ उसे अपना भाग्य भी फूटा हुआ मिला।

कहनेका तात्पर्य यह है कि लोग कामकुम्भकी तरह धर्मसे सब कुछ पाना चाहते हैं। मगर इसके साथ मजेकी बात यह है कि अगर अच्छा हो जाय तो धर्मको कोई बधाई नहीं देता। उसके लिए तो अपना अहंकार प्रदर्शित किया जाता है और अगर बुरा हो गया तो फिर धर्म पर दुत्कारोंकी बौछार कर उसकी चाम उधेड़ ली जाती है। आप यह निश्चित समझें कि धर्म किसीका बुरा करने या बुरा देनेके लिए है ही नहीं। वह तो प्रत्येक व्यक्तिका सुधार करनेके लिए है और उसका इसीलिए उपयोग होना चाहिए।

राष्ट्र और धर्म

अब यह सोचना है कि धर्मका राष्ट्र-निर्माणसे क्या सम्बन्ध है। वास्तवमें राष्ट्रके आत्मनिर्माणका जहाँ सवाल है वहाँ धर्मका राष्ट्रसे गहरा सम्बंध है। मेरी दृष्टिमें राष्ट्रकी आत्मा मानव समाजके अतिरिक्त दूसरी सम्भव नहीं। मानव-समाज व्यक्तियोंका समूह है और व्यक्ति-निर्माण धर्मका अमर व अमिट नारा है ही। इस दृष्टिसे राष्ट्र-निर्माण धर्मसे सीधा सम्बन्ध है। धर्म रहित राष्ट्र राष्ट्र नहीं अपितु प्राण शून्य कलेवरके समान है। राष्ट्रकी आत्मा तब ही स्वस्थ मजबूत और प्रसन्न रह सकती है जब कि उसमें धर्मके तत्त्व घुले-मिले हों।

व्यवस्था और धर्म दो हैं

धर्म क्या राष्ट्र और क्या समाज दोनोंका ही निर्माता है, किन्तु जब उसको राज्य-व्यवस्था व समाज-व्यवस्थामें मिला दिया जाता है तब राज्य और समाज—दोनोंमें भयंकर गड़बड़का सूत्रपात होता है किन्तु इसके साथ-साथ धर्मके प्राण भी संकटमें पड़ जाते हैं। लोगोंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि यहां साधारणसे साधारण कार्यमें भी धर्मकी मोहर लगा दी जाती है। किसीको जल पिला दिया, या किसीको भोजन करा दिया, बस इतने मात्रसे आपने बहुत बड़ा धर्मोपार्जन कर लिया! यह क्या है? इसमें धर्मकी दुहाई क्यों दी जाती है? और धर्मको ऐसे संकीर्ण धरातल पर क्यों घसीटा जाता है? ये सब तो धर्मके धरातलसे बहुत नीचे एक साधारण व्यवस्था और नागरिक कर्तव्यकी चीजें हैं। व्यवस्था और धर्मको मिलानेसे जहाँ धर्मका अहित होता है वहाँ व्यवस्था भी लड़खड़ा जाती है। धर्म, व्यवस्था और सामाजिक कर्तव्यसे बहुत ऊपर आत्म-निर्माणकी शक्तिका नाम है। भौतिक शक्तियोंकी अभिवृद्धिके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं और न उसका यह लक्ष्य ही है कि वे मिलें। आज राजनैतिक नेता उस आवाजको बुलन्द अवश्य करने लगे हैं कि धर्मको राजनीतिसे परे रखा जाय पर हम तो शताब्दियोंसे यही आवाज़ बुलन्द करते आ रहे हैं। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि यदि धर्मको राजनीतिसे अलग नहीं रखा जाएगा तो जिस प्रकार एक समय 'इस्लाम खतरे' का नारा बुलन्द हुआ था उसी प्रकार 'कहीं और कोई धर्म खतरेमें' ऐसा नारा न गूंज उठे। मैं समझता हूँ यदि धार्मिक लोग सजग व सचेत रहें तो कोई कारण नहीं कि भविष्यमें यह त्रुटी दुहरायी जाय।

धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारतीय संविधानमें धर्मको जो धर्म-निरपेक्ष राज्य बताया गया है उसको लेकर भी आज अनेक भ्रान्तियाँ और उलझने फैली हुई हैं। कोई इसका अर्थ धर्महीन राज्य करता है तो कोई 'नास्तिक राज्य'। कोई आध्यात्मिक राज्य करता है तो कोई पापी राज्य। देहली प्रवासमें जब मेरा संविधान विशेषज्ञोंसे सम्पर्क हुआ तो मैंने उनसे इस विषयमें चर्चा की।

उन्होंने बताया—"महाराज ! लोग जैसा अर्थ करते हैं वास्तव में इस शब्दका वह अर्थ नहीं है। इसका मतलब यह है कि यह राज्य किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेषका न होकर समस्त धर्म सम्प्रदायोंका राज्य है।" वास्तवमें यह ठीक ही है जैसे अभी-अभी स्वामीजी (काशीके मण्डलेश्वर) ने बताया कि भारतमें एक हजार धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित हैं। अगर किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेषका राज्य स्थापित किया जाय तो मार्ग सम नहीं रहेगा, प्रत्युत बड़ा विषम व कण्टकाकीर्ण बन जायगा। इतने धर्म सम्प्रदायोंमें किसी एक धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर यह सेहरा बांधना अनेक जटिल समस्याओंसे खाली नहीं है। मेरे विचारसे ऐसा होना नहीं चाहिए। धर्मको राज्यके संकीर्ण व परिवर्तनशील फंदेमें फंसाना राज्यको भयंकर खतरेके मुंहमें ढकेलना और धर्मको गन्दा व सड़ीला बनाना है। विनाश कारक बनाना है। ये दो अलग-अलग धारायें हैं और दोनोंका अलग-अलग अस्तित्व, महत्व और मर्म है। इनको मिलाकर एक करना न तो बुद्धिमत्ता ही है और न कल्याणकर ही।

संकीर्णता न रहे

यह भी आजका एक सवाल है कि अलग-अलग इतनी अधिक संख्यामें सम्प्रदाय क्यों प्रचलित है? क्या इन सबको मिलाकर एक नहीं किया जा सकता। मैं मानता हूं कि ऐसा करना असम्भव तो नहीं है फिर भी जो सदासे अलग-अलग विचारधारा चली आरही हैं उन सबको खत्मकर एक कर दिया जाय यह बुद्धि और कल्पनासे कुछ परे जैसी बात है। मैं इस विषयमें ऐसा कहा करता हूं कि पारस्परिक विचारभेद मिट जाय। जब यह भी संभव नहीं तो ऐसी परिस्थितिमें पारस्परिक जो मनोभेद और आपसी विग्रह हैं उनको तो अवश्य मिटाना ही चाहिये। उनको मिटाये विना धार्मिक संस्कारको क्या तो दें और क्या लें इसका निर्णय कैसे करें? इसलिये इस विभेदकी दीवार किसी धार्मिक व्यक्तिके लिये इष्ट नहीं। यदि परस्पर मिलकर धार्मिक व्यक्ति कुछ विचार-विमर्श ही नहीं कर सकते तो वे कहां कैसे जायें? वे कहां बैठेंगे, हम कहां बैठेंगे। यदि हम लोग ऐसी ही तुच्छ व संकीर्ण बातोंमें उलझते रहे तो मैं कहूंगा—ऐसे संकीर्ण धार्मिक व्यक्ति धर्मकी उन्नतिके बदले धर्मकी अवनति ही करनेवाले हैं और वे धर्मके मौलिक तथ्यसे अभी कोसों दूर हैं। जिन धार्मिक व्यक्तियोंमें संकीर्णता व असहिष्णुता घर कर गई है वे सपनेमें भी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। इसी प्रकार घरपर किसी अभ्यागतका तिरस्कार करना भी इसीका सूचक है कि असलियतमें धर्म अभी आत्मामें उतरा नहीं है। धर्म कभी नहीं सिखाता कि किसीके साथ अनुचित व अशिष्टतापूर्वक व्यवहार किया जाय। वास्तवमें भूतकालमें भारतकी जो प्रतिष्ठा थी, जो उसका गौरव था वह इसलिये नहीं था कि भारत एक धनाढ्य व समृद्धिशाली राज्य था और न वह इसलिये ही था कि यहां कुछ विस्मयोत्पादक आविष्कारक व शक्तिशाली राजा-महाराजा तथा सम्राट् थे। इसका जो गौरव था वह इसलिये था कि यहांके कण-कणमें धर्म, सदाचार, नीति, न्याय और नियन्त्रणकी पावन पुनीत धारा बहती रहती थी। सत्य और ईमानदारी यहांके अणु-अणुमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। तभी बाहरके लोग यहांकी धर्मनीतिका अध्ययन करनेके लिये यहां पर आनेको विशेष उत्सुक व लालायित रहते थे। आज प्रत्येक भारतीयका यह कर्तव्य है कि वह विचार करे कि आज हम उस समृद्धिशाली विश्वगुरु भारतकी संतानें अपनी मूल-पूंजी संभाले हुए हैं या नहीं। यदि भारतीय लोग ही अपनी मूलपूंजीको भूल बैठेंगे तो क्या यह उनके लिये विडम्बना-की बात नहीं है? कहते हुए खेद होता है कि यहां पर नित्य नये धर्म व सम्प्रदायोंके पैदा होनेके बावजूद भी न तो भारत की कुछ प्रतिष्ठा ही बढ़ी है और न कुछ गौरव ही! प्रत्युत सत्य तो यह है कि उल्टी प्रतिष्ठा एवं गौरव घटे हैं। अगर अब भी स्थितिने पल्टा नहीं खाया और यह स्थिति मौजूद रही तो मुझे कहने दीजिये कि धार्मिक व्यक्ति अपनी इज्जत और शान दोनोंको गँवा बैठेंगे

धर्म और लौकिक अभ्युदय—

इतने विवेचनके बाद अब मुझे यह बताना है कि वास्तवमें धर्म है क्या? इसके लिये मैं आपको बहुत थोड़े और सरल शब्दोंमें बताऊँ तो धर्मकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जो 'आत्मशुद्धि'के साधन हैं उन्हींका नाम धर्म है।' इस पर प्रतिप्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर लौकिक अभ्युदयकी सिद्धिके साधन क्या है? जबकि धर्मकी परिभाषा में कहीं-कहीं लौकिक अभ्युदयके साधनोंको भी धर्म बताया गया है। मेरी दृष्टिमें लौकिक अभ्युदयका साधन धर्म नहीं है वह तो धर्मका आनुषंगिक फल है। क्योंकि लौकिक अभ्युदय उसीको माना गया है जो आत्मातिरिक्त सामग्रियोंका विकास व प्रापण होता है। गहराईसे सोचा जाय तो धर्मकी

इसके लिये कोई स्वतन्त्र आवश्यकता है ही नहीं। जिस प्रकार गेहूंकी खेती करनेसे तूड़ी-भूसा आदि गेहूंके साथ-साथ अपने-आप पैदा हो जाती हैं उनके लिये अलग खेती करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार धर्म तो आत्म-शुद्धिके लिये ही किया जाता है मगर गेहूंके साथ तूड़ीकी तरह लौकिक अभ्युदय उसके साथ-साथ अपने-आप फलने वाला है। उसके लिये स्वतन्त्र रूपसे धर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म—

प्राचीन साहित्यमें धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उस समय धर्म शब्द अत्यन्त लोकप्रिय था। इसलिये जो कुछ अच्छा लगा उसीको धर्म शब्दसे सम्बोधित कर दिया जाता था। इसीलिये सामाजिक कर्तव्य और व्यवस्थाके नियमोंको भी ऋषि-महर्षियोंने धर्म कहकर पुकारा। जैन साहित्यमें स्वयं भगवान् महावीरने सामाजिक कर्तव्योंके दश प्रकारके निरूपण करते हुए उन्हें धर्म शब्दसे अभिहित किया है। उन्होंने बताया है कि जो ग्रामकी मर्यादाएँ व प्रथाएँ हैं उन्हें निभाना ग्राम-धर्म है। इसी प्रकार नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदिका विवेचन किया है। यद्यपि तत्त्वतः धर्म वही है जिसमें आत्मशुद्धि और आत्म-विकास हो। मगर तात्कालिक धर्मशब्दकी व्यापकताको देखते हुए सामाजिक रस्मों व रीति-रिवाजोंको भी लौकिक धर्म बताया गया है। लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। उनका मिश्रण करना दोनोंको ग़लत व कुरूप बनाना है। इनका पृथक्त्व इस तरह समझा जा सकता है कि जहां लौकिक धर्म परिवर्तनशील है वहां पारमार्थिक धर्म सर्वदा सर्वत्र अपरिवर्तनशील व अटल है। आज जिसे हम राष्ट्रधर्म व समाजधर्म कहते हैं वे राष्ट्र एवं समाजकी परिवर्तित स्थितियोंके अनुसार कल परिवर्तित हो सकते हैं। स्वतन्त्र होनेके पूर्व भारतमें जो राष्ट्रधर्म माना जाता था। आज वह नहीं माना जाता। आज भारतका राष्ट्रधर्म बदल गया है मगर इस तरह पारमार्थिक धर्म कभी और कहीं नहीं बदलता। वह जो कल था वही आज है और जो आज है वही आगे रहेगा। गौर करिये—अहिंसा-सत्य-स्वरूपमय जो पारमार्थिक धर्म है वह कभी किसी भी स्थितिमें बदला क्या? इसी तरह लौकिक धर्म अलग-अलग राष्ट्रोंका अलग-अलग है जबकि पारमार्थिक धर्म सब राष्ट्रोंके लिये एक समान है। इन कारणोंसे यह कहना चाहिये कि लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म दो हैं और भिन्न-भिन्न हैं। पारमार्थिक धर्मकी गति जब आत्म-विकासकी ओर है तब लौकिक धर्मका तांता संसारसे जुड़ा हुआ है।

राष्ट्र-निर्माणमें धर्म—

राष्ट्रनिर्माणमें धर्म कहां तक सहायक हो सकता है और इसके लिये धर्म कुछ सूत्रोंका प्रतिपादन करता है। वे हैं आत्म स्वतन्त्रता, आत्म-विजय, अदीन भाव, आत्मविकास और आत्म-नियन्त्रण। इन सूत्रोंका जितना विकास होगा उतना ही राष्ट्र स्वस्थ, उन्नत और विकसित बनेगा। इन सूत्रोंका विकास धर्मके परे नहीं है और न धर्मके अभावमें इन सूत्रोंका सूत्रपात व उन्नयन हो किया जा सकता है। आज जब राष्ट्रमें धर्मके विरुद्ध भौतिकवादका वातावरण फैला हुआ है तब राष्ट्रमें दुर्गुणों व अवनतिका विकास हो ही हो, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यही कारण है जहां पदके लिये मनुहारें होतीं थीं फिर भी कहा जाता था कि मुझे पद नहीं चाहिये, मैं इसके योग्य नहीं हूं, तुम्हीं संभालो—वहां आज कहा जाता है कि 'पदका हक मेरा है, तुम्हारा नहीं। पदके योग्य मैं हूं, तुम नहीं। पद पानेके लिये सब अपने-अपने अधिकारोंका वर्णन करते हैं मगर यह कोई नहीं कहता कि पदके योग्य या अधिकारी दूसरा अमुक है। यह पद लोलुपताका रोग धर्मको न अपनाने और भौतिकवादको जीवनमें स्थान देनेका ही दुष्परिणाम है। एक वह समय था कि जब पदकी लालसा रखनेवालोंको निंद्य, अयोग्य और अनधिकारी समझा जाता था और पद न चाहनेवालोंको प्रशंस्य, योग्य और अधिकारी। सुभटोंका किस्सा इसी तथ्यपर प्रकाश डालता है। "एक बार किसी देशमें ५०० सुभट आये। मन्त्रीने परीक्षा करनेके लिए रात्रि समय सबको एक विशाल हॉल सौंपा और कहा कि तुममेंसे जो बड़ा हो वह हॉलके बीचमें बिछे पलंग पर सोये तथा अन्य सब नीचे जमीनपर सोयें। सोनेका समय आने पर उनमें बड़ा संघर्ष मचा। पलंग पर सोनेके लिये वे अपने-अपने हक, योग्यता और अधिकारोंकी दुहाइयां देने लगे। सारी रात बीत गई किन्तु वे एक मिनट भी न सो पाये। सारी रात कुत्तोंकी तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते रहे। प्रातःकाल मंत्रीने उनका किस्सा सुनकर उन्हें उसी समय वहांसे निकाल दिया। दूसरे दिन दूसरे ५०० सुभट आये। मंत्रीने उनके लिये भी वही व्यवस्था की। उनके सामने समस्या यह थी

कि पलंग पर कौन सोये। सबमें परस्पर मनुहारें होने लगी। कोई कहता था—मैं इस बड़प्पनके योग्य नहीं। कोई कहता था—मैं अधिक अनुभवी नहीं। कोई कहता था—मुझमें विद्या बुद्धि कम है। आखिर किसीने पलंग पर सोना स्वीकार नहीं किया। वे बड़े समझदार थे—उसने विचार किया नींद क्यों नष्ट की जाय? सबको पलंगकी ओर सिर करके सो जाना चाहिए। सबने रात भर खूब आनन्दसे नींद ली। प्रातःकाल मंत्रीने सारा किस्सा सुनकर उनको बड़े सत्कारके साथ बड़े-बड़े पद सौंपकर सम्मान किया।" जबतक यह स्थिति न हो यानी पदके प्रति आकर्षण कम न हो तब तक राष्ट्र-निर्माण कैसे हो सकता है। देहली प्रवासमें मेरी पं० नेहरूजीसे जब-जब मुलाकात हुई तो मैंने प्रसंगवश कहा—"पंडितजी! लोगोंमें कुर्सीकी इतनी छीनाझपटी क्यों हो रही है?" उन्होंने खेद भरे शब्दोंमें कहा—"महाराज! हम इससे बड़े परेशान हैं परन्तु करें क्या?" जिस राष्ट्रमें यह अहंमन्यता, पदलोलुपता और अधिकारोंकी भावनाका बोलबाला है वह राष्ट्र ऊंचे उठनेके स्वप्न कैसे देख सकता है? वह तो दिन प्रतिदिन दुःखित, पीडित और अवनत होता जायगा। महाभारत में लिखा है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पंडितमानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति, तद्राष्ट्रमवसीदति॥

जिस राष्ट्रमें सब व्यक्ति नेता बन बैठते हैं, सबके सब अपने आपको पंडित मानते हैं और सब बड़े बनना चाहते हैं वह राष्ट्र जरूर दुःखी रहेगा। भारतकी स्थिति करीब-करीब ऐसी हो रही है इसलिए राष्ट्रकी बुराइयोंको मिटानेके लिए सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकताकी अत्यन्त आवश्यकता है। जबतक सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकता जीवनका मूलमंत्र नहीं बन जाती तबतक मानवताका सूत्र पहचाना जाय यह कभी भी संभव नहीं और राष्ट्रका निर्माण हो जाय यह भी कभी नहीं हो सकता।

उपसंहार—

अन्तमें मैं यही कहूँगा कि लोग धर्मके नामसे चिढ़ें नहीं। धर्म कल्याणका एकमात्र साधन है। उसके नामपर फैली हुई बुराइयोंको मिटाना आवश्यक है न कि धर्मको। मैं चाहता हूँ कि धर्म और राष्ट्रके वास्तविक स्वरूप और पृथकत्वको समझकर धर्मके मुख्य अंग-अहिंसा, सत्य और सन्तोषकी भित्तिपर राष्ट्रके निर्माणके महान् कार्यको सम्पन्न किया जाय। मैं समझता हूँ कि यदि ऐसा हुआ तो राष्ट्र ऊँचा, सुखी, सम्पन्न व विकसित होगा। वहाँ धर्मका भी वास्तविक रूप निखरेगा तथा उससे जन-जनको एक नई प्रेरणा भी प्राप्त हो सकेगी। (जैन भारतीसे)

बंकापुर

(विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री)

बंकापुर पूना-बंगलूर रेलवे लाइनमें, हरिहर रेलवे स्टेशनके समीपवर्ती हावेरि रेलवे स्टेशनसे १५ मील पर, धारवाड जिलेमें है। यह-वह पवित्र स्थान है, जहां पर प्रातः स्मरणीय आचार्य गुणभद्रने सं० ८२० में अपने गुरु भगवज्जिनसेनके विश्रुत महापुराणांतर्गत उत्तर पुराणको समाप्त* किया था+। आचार्य जिनसेन और गुणभद्र जैन संसारके ख्याति प्राप्त महाकवियोंमें से हैं। इस बातको साहित्य-संसार अच्छी तरह जनता हैं। संस्कृत साहित्यमें महापुराण वस्तुतः एक अनूठा रत्न है। इसका विशेष परिचय और किसी लेखमें दिया जायगा। उत्तरपुराणके समाप्ति-कालमें बंकापुर-से जैन वीरबंकेयका सुयोग्य पुत्र लोकादित्य विजय नगरके यशस्वी एवं प्रतापी शासक अकालवर्ष या कृष्णराज (द्वितीय) के सामंतके रूपमें राज्य करता था। लोकादित्य महाशूर तेजस्वी और शत्रु-विजयी था। इसके ध्वजमें मयूरका चिन्ह अङ्कित था‡। और यह चेल्लध्वजका अनुज और चेल्लकेत (बंकेय) का पुत्र था। उस समय समूचा वनवास (वनवासि) प्रदेश लोकादित्यके ही वशमें रहा। उत्तरपुराणकी प्रशस्ति देखें।

उपर्युक्त बंकापुर श्रद्धेय पिता वीर बंकेयके नाम से लोकादित्यके द्वारा स्थापित किया गया था। और उस जमानेमें इसे एक समृद्धिशाली जैन राजधानी होनेका सौभाग्य प्राप्त था। बंकेय भी सामान्य व्यक्ति नहीं था। राष्ट्र-कूट नरेश नृपतुङ्गके लिये राज्य कार्यों-में जैन वीर बंकेय ही पथ प्रदर्शक था। मुकुलका पुत्र एरकोरि, एरकोरिका पुत्र घोर और घोरका पुत्र बंकेय था। बंकेयका पुत्रपितामह मुकुल शुभतुङ्ग कृष्णराज-का पितामह एरकोरि शुभतुङ्गके पुत्र ध्रुवदेवका एवं पिता घोर चक्री गोविन्दराजका राजकार्य सारथि था। इससे सिद्ध होता है कि लोकादित्य और बंकेय ही नहीं; इनके पितामहादि भी राज्य-कार्य पटु तथा महा-शूर थे।

अस्तु, नृपतुङ्गको बंकेय पर अटूट श्रद्धा थी। यही कारण है कि एक लेखमें नृपतुङ्गने बंकेयके सम्बन्धमें "विततज्योतिर्निशितासिरि वा परः" यों कहा है। पहले बंकेय नृपतुङ्गके आप्त सेनानायकके रूपमें अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्तकर नरेशके पूर्ण कृपापात्र बननेके फल-स्वरूप बादमें वह विशाल वनवास या वनवासिप्रांतका सामन्त बना दिया गया था। सामन्त बंकेयने ही गंगराज राजमल्लको एक युद्धमें हराकर बन्दी बना लिया था। बल्कि इस विजयोपलक्ष्यमें भरी सभामें वीर बंकेयका नृपतुङ्गके द्वारा जब कोई अभीष्ट वर मांगनेकी आज्ञा हुई तब जिनभक्त बंकेयने सगद्गद महाराज नृपतुंगसे यह प्रार्थना की कि 'महाराज, अब मेरी कोई लौकिक कामना बाकी नहीं रही। अगर आपको कुछ देना ही अभीष्ट हो तो कोलनूरमें मेरे द्वारा निर्मापित पवित्र जिनमंदिरके लिये सुचारु रूपसे *पूजादिकार्य संचालनार्थ* एक भूदान प्रदान कर सकते हैं'''। बस, ऐसे ही किया गया। यह उल्लेख एक विशाल प्रस्तर खण्डमें शासनके रूपमें आज भी उपलब्ध होता है। बंकेयके असीम धर्म-प्रेम-के लिये यह एक उदाहरण ही पर्याप्त है। इस प्रसंग-में यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि वीर

---

*शक संवत् ८२० आचार्य गुणभद्रके उत्तर पुराणका समाप्ति काल नहीं है किन्तु वह उनके शिष्य मुनि लोकसेन-की प्रशस्तिका पद्य है जिसमें उसकी पूजाके समयका उल्लेख किया गया है। —परमानन्द जैन

+ उत्तर पुराणकी प्रशस्ति देखें।

‡उत्तर पुराणकी प्रशस्तिमे दिया हुआ "चेल्लपताके" वाक्यमे चेल्ल शब्दका अर्थ अमरकोष और विश्वलोचन कोषमें चील (पक्षी विशेष) पाया जाता है। अतः लोकादित्यकी ध्वजामें चीलका चिन्ह था न कि मोरका।

—परमानन्द जैन

बंकेयकी धर्मपत्नी विजया बड़ी विदुषी रही। इसने संस्कृतमें एक काव्य रचा है। इस काव्यका एक पद्य श्रीमान् वेंकटेश भीमराव आलूर, बी० ए०, एल० एल० बी० ने 'कर्नाटकगतवैभव' नामक अपनी सुन्दर रचना में उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है ॐ।

बंकेयके सुयोग्य पुत्र लोकादित्यमें भी पूज्य पिता-के समान धर्म-प्रेमका होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। साथ ही साथ लोकादित्य पर 'उत्तर पुराण' के रचयिता श्री गुणभद्राचार्यका प्रभाव भी पर्याप्त था। इसमें संदेह नहीं हैं कि धर्मधुरीण लोकादित्यके कारण बंकापुर उस समय जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र बन गया था। यद्यपि लोकादित्य राष्ट्रकूट राजाओंका सामंत था। फिर भी राष्ट्रकूट शासकोंके शासन कालमें यह एक वैशिष्ट्य था कि उनके सभी सामंत स्वतन्त्र रहे। आचार्य गुणभद्रजीके शब्दोंमें लोकादित्य शत्रुरूपी अन्धकारको मिटाने वाला एक ख्याति प्राप्त प्रतापी शासक ही नहीं था, साथ ही साथ श्रीमान् भी। उस जमानेमें बंकापुरमें कई जिन मन्दिर थे। इन मंदिरोंको चालुक्यादि शासकोंसे दान भी मिला था। बंकापुर एक प्रमुख केन्द्र होनेसे यहाँ पर जैनाचार्योका वास अधिक रहता था। यही कारण है कि इसकी गणना एक पवित्र क्षेत्रके रूपमें होती थी। इसीलिये ही गंग-नरेश नारसिंह जैसा प्रतापी शासकने यहीं आकर प्रातः स्मरणीय जैन गुरुओंके पादमूलमें सल्लेखनाव्रत संपन्न किया था। दंडाधिप हुल्लने यहाँ पर कैलास जैसा उत्तुंग एक जिन मन्दिर निर्माण कराया था। इतना ही नहीं, प्राचीन कालमें यहाँ पर एक दो नहीं, पाँच महाविद्यालय मौजूद थे ×। ये सब बीती हुई बातें हुईं। वर्तमान कालमें बंकापुरकी स्थिति कैसी है, इसे भी विज्ञ पाठक एक बार अवश्य सुन लें। सरकारी रास्तेके बगलमें उन्नत एवं विशाल मैदानमें एक ध्वंसावशिष्ट पुराना किला है। इस किलेके अंदर १२ एकड़ जमीन है। यह किला बम्बई सरकारके वशमें है। यहाँ पर इस समय सरकारने एक डेरी फार्म खोल रखा है। जहाँ-तहाँ खेती भी होती है। राजमहलका स्थान ऊँचा है और इसके चारों ओर विशाल मैदान है। यह मैदान इन दिनोंमें खेतोंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। इन विशाल खेतोंमें आजकल ज्वार, बाजरा, ऊख, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग, चना, तुबर, कपास और मूँगफली आदि पैदा होते हैं। स्थान बड़ा सुन्दर सुयोग्य अपनी समृद्धिके जमानेमें वह स्थान वस्तुतः देखने ही लायक रहा होगा। मुझे तो बड़ी देर तक यहाँसे हटनेकी इच्छा ही नहीं हुई। किलेके अन्दर इस समय एक सुन्दर जिनालय अवशिष्ट है। यहाँ वाले इसे 'अरवत्तमूरुकबंगल बस्ति' कहते हैं। इसका हिन्दी अर्थ ६३ खम्भोंका जैन मन्दिर होता है। मेरा अनुभव है कि यह मन्दिर जैनोंका प्रसिद्ध शान्तिनाथ मन्दिर और इसके ६३ खंभ जैनोंके त्रिषष्ठिशलाका पुरुषोंका स्मृति-चिन्ह होना चाहिये।

मन्दिर बड़ा सुन्दर है। मन्दिर वस्तुतः सर्वोच्च कलाका एक प्रतीक है। खंभोंका पालिश इतना सुन्दर है कि इतने दिनोंके बाद, आज भी उनमें आसानीसे मुख देख सकते हैं। मन्दिर चार खण्डोंमें विभक्त है। गर्भ गृह विशेष बड़ा नहीं है। इसके सामनेका खण्ड गर्भगृहसे बड़ा है। तीसरा खण्ड दूसरेसे बड़ा है। अंतिम वा चतुर्थ खण्ड सबसे बड़ा है। यह इतना विशाल है कि इसमें कई सौ आदमी आरामसे बैठ सकते हैं। छत और दीवालों परकी सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियां निर्दयी विध्वंसकोंके द्वारा नष्ट की गई हैं। इस मन्दिरको देख कर उस समयकी कला, आर्थिक स्थिति और धार्मिक श्रद्धा आदिको आज भी विवेकी परख सकता है। खेद है कि बंकापुर आदि स्थानोंके इन प्राचीन महत्वपूर्ण जैन स्मारकोंका उद्धार तो दूर रहा। जैन समाज इन स्थानोंको जानती भी नहीं है।

ॐ "सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालीदासादनन्तरम् ॥"

× 'बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक देखें'।

—

मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर आचारांगके रूपमें मौलिक ग्रन्थ है

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

सन् १६३८ में मैंने 'मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकसे एक लेख लिखा था। उस समय मूलाचारकी कुछ गाथाओंके श्वेताम्बरीय आवश्यकनियुक्ति आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होनेसे मैंने यह समझ लिया था कि ये गाथाएँ मूलाचारके कर्ताने वहांसे ली हैं और उनके सम्बन्धमें विशेष विचारका अवसर न पाकर उक्त लेखमें उसे एक 'संग्रहग्रन्थ' बतला दिया था। साथ ही, उसके बारहवें पर्याप्ति नामक अधिकारको असम्बद्ध भी लिख दिया था। उस लेखके प्रकाशित होनेके बादसे मेरा अध्ययन उस विषय पर बराबर चलता रहा। दूसरे प्राचीन दिगम्बर ग्रंथोंको भी देखनेका अवसर प्राप्त हुआ जो उस समय मुझे उपलब्ध न थे। तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैंने मूलाचार और उसकी टीका 'आचारवृत्ति' का गहरा मनन किया और अधिक वाचन चिन्तनके फलस्वरूप मेरा वह अभिमत स्थिर नहीं रहा, अब मेरा यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर एक व्यवस्थित प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है। इस लेख द्वारा अपने इन्हीं विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यह ग्रंथ दिगम्बर जैन परंपराका एक मौलिक आचार ग्रन्थ है, उसकी गहरी विचार-धारा और विषयका विवेचन बड़ा ही समृद्ध और प्राचीनताका उन्नायक है। इतना ही नहीं; किन्तु भगवान महावीरकी वह उस मूल परम्पराका सबसे पुरातन आचार विषयका ग्रन्थ है जिसका भगवान महावीर द्वारा कथित और गणधर इन्द्रभूति द्वारा ग्रथित द्वादशांगश्रुतके आचारांग नामक सूत्र ग्रन्थसे सीधा संबंध जान पड़ता है। इस ग्रन्थकी रचना उस समय हुई है जब द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कारण भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचार मार्गमें विचार-शैथिल्यका समावेश प्रारम्भ होने लगा था। कुछ साधुजन अपने आचार-विचारमें शिथिलताको अपनानेका उपक्रम करने लगे थे और अचेलकताके खिलाफ वस्त्र धारण करने लगे थे। परन्तु उस समय तक अचेलकताके नग्नता अर्थमें कोई विकृति नहीं आई थी, जिसका अर्थ बादको बिगाड़कर 'अल्पचेल' किया जाने लगा। उस समय मूल परम्परागत आचारको सुरक्षित रखने के लिए उक्त मूल आचारके प्रवर्तक बहुश्रुत दिगम्बराचार्यने मूल आचारांग सूत्रका १२ अधिकारोंमें संक्षिप्त रूपसे सार खींचकर इस ग्रन्थकी रचना की है।

आचार्य वसुनन्दी सैद्धान्तिकने इस ग्रन्थ पर लिखी अपनी 'आचारवृत्ति' की उत्थानिकामें स्पष्ट लिखा है कि अठारह हजार पद प्रमाण आचारांगसूत्रको, मूलगुणाधिकारसे लेकर पर्याप्ति अधिकार पर्यन्त १२ अधिकारोंमें उपसंहार किया है—

"श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुण - प्रत्याख्यान - संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-पंचाचार-पिंडशुद्धि - षडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानागारभावना-समयसार-शीलगुण प्रस्तार-पर्याप्त्यधिकार निबद्धमहार्थगभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्य—नवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं, मूलगुणोत्तर गुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकार-प्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते—"

ग्रन्थको बनाते समय आचार्य प्रवरने इस बातका खास तौरसे ध्यान रक्खा मालूम होता है कि इस ग्रन्थमें आचारांगसूत्र-विषयक मूलपरम्पराका कोई भी अंश छूटने न पावे। चुनांचे हम देखते हैं कि ग्रन्थकर्ताने प्रत्येक अधिकारमें मंगलाचरण कर उसके कहनेकी प्रतिज्ञा की है और अन्तमें उसका प्रायः उपसंहार भी किया है।

जैसा कि मूलाचारके 'सामाचार नामक अधिकार' अधिकारकी आदि अन्तिम गाथासे स्पष्ट है:—

तेल्लोक पूयणीए अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं समाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥१२२॥

× ×

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण।

वित्थारसमावरणो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥१६७॥

इस प्रकरणमें उक्त अन्तिम गाथासे पूर्व निम्न गाथा और भी दी हुई है जिसमें विषयका उपसंहार करते हुए बतलाया गया है कि जो साधु और आर्यिका ग्रन्थमें उल्लिखित आचारमार्गका अनुष्ठान करते हैं वे जगत्पूज्य, कीर्ति और सुखको प्राप्त कर सिद्धिको प्राप्त करते हैं—

एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं लद्धूण सिज्झंति ॥१६ ॥

इसी तरह 'पिण्डविशुद्धि' अधिकारमें पिण्ड विशुद्धिका कथन करते हुए जिन साधुओंने उसकालमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार प्रकारके उत्पादन दोषसे दूषित भिक्षा ग्रहणकी है उनका उल्लेख भी बतौर उदाहरणके निम्न गाथामें अङ्कित किया है—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहोपुण रासियाणम्मि ॥४५५

इस अधिकार में बतलाया गया है कि जो साधु भिक्षा अथवा चर्यामें प्रवृत्ति करता है वह मनोगुप्ति, वचनगुप्ति कायगुप्ति के संरक्षणके साथ मूलगुण और शीलसंयमादिककी रक्षा करता है तथा संसार, शरीर और संग (परिग्रह) निर्वेदभाव देखता हुआ वीतरागकी आज्ञा और उनके शासनकी रक्षा करता है। अनवस्था (स्वेच्छा प्रवृत्ति) मिथ्यात्वाराधना और संयम विराधना रूप चर्याका परिहार करता है·

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसील संजमादीणं।
रक्खंतो चरदि मुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥७४॥
आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजम विराधणाविय चरियाए परिहरेदव्वा ॥७५॥

पिण्ड शब्दका अर्थ है आहार (भोज्य योग्य वस्तुओंका समूह रूप ग्रास) या पिण्ड। जो साधुओंको पाणिपात्रमें दिया जाता था और आज भी दिया जाता है। इस अधिकारमें चर्या सम्बन्धि विशुद्धिका विशदवर्णन किया गया है।

मूलाचारमें एषणा समितिके स्वरूप कथनमें एषणाको केवल आहारके लिए प्रयुक्त किया गया है और बतलाया गया है कि जो साधु उद्गम, उत्पादन और एषणादि रूप दोषोंसे शुद्ध, कारण सहित नवकोटिसे विशुद्ध, शीत-उष्णादि भक्ष्य पदार्थोंमें राग द्वेषादि रहित सम भुक्ति ऐसी परिशुद्ध अत्यन्त निर्मल एषणा समिति है। यह इस एषणा समितिका प्राचीन मूल रूप है, जो बादमें विकृतिको प्राप्त हुआ है। चुनांचे श्वेताम्बरीय आचारांगमें यहाँ तक विकार आगया है कि वहाँ पिण्ड एषणाके साथ पात्र एषणा और वस्त्र एषणाको और भी जोड़ा गया है। जिससे यह साफ ध्वनित होता है कि 'मूलआचार' में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कई शताब्दी बाद वस्त्र एषणा और पात्र एषणाकी कल्पना कर उन्हें एषणा समितिके स्वरूपमें जोड़ दिया है। इससे साफ ध्वनित होता है कि मूल आचारांगकी रचना इन सब कल्पनाओंसे पूर्व की है। अन्यथा कल्पनाओंके रूढ होने पर उनका विरोध अवश्य किया जाता।

षडावश्यक अधिकारमें कायोत्सर्गका स्वरूप बतलाते हुए कथन किया है कि जो साधुमोक्षार्थी हैं, जागरणशील हैं निद्राको जीतने वाला है, सूत्रार्थ विशारद है, करण शुद्ध है, आत्मबल वीर्यसे युक्त है उसे विशुद्धात्मा कायोत्सर्गी जानना चाहिए।

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थ विसारदो करणसुद्धो।
आद-बल-विरिय-जुत्तो काउस्सग्गो विसुद्धप्पा ॥६५६॥

यहाँ यह बात खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह यह कि मूलाचारके कर्ताने षडावश्यक अधिकारकी चूलिकाका उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है कि मैंने यह निर्युक्तिकी निर्युक्ति संक्षेपसे कही है इसका विस्तार अनुयोगसे जानना चाहिए।

णिज्जुत्ती णिजुत्ती एसा कहिदा मए समासेण।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदिणादव्वो ॥६६४

समस्त जैनवाङ्मय चार अनुयोगोंमें विभक्त है, प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगोंमेंसे आचार विषयक विस्तृत कथन चरणानुयोगमें समाविष्ट है। यहाँ ग्रन्थकर्ता आचार्यका अभिप्राय 'अनुयोग' से चरणानुयोगका है इसीलिए उसके देखनेकी प्रेरणा की गई है।

मूलाचारके कर्ताने जिन निर्युक्तियों परसे सार लेकर षडावश्यक निर्युक्तिका निर्माण किया है। वे निर्युक्तियाँ वर्तमानमें अनुपलब्ध हैं * और वे इस ग्रन्थ रचनासे पूर्व बनी हुई थीं, जिन्हें ग्रन्थकर्ताके गमकगुरु भद्रबाहु-श्रुतकेवलीने बनाया था। उन्हींका संक्षिप्त प्रसार मूलाचार-

---

* 'अहऽन्नया कालपरिहाणि दोसेणं ताओ णिज्जुत्ति-भास चुण्णीओ वुच्छिन्नाओ।

— महानिशीथ सूत्र अध्याय ५

के इस षडावश्यक अधिकारमें पाया जाता है। अतः कुछ गाथाएँ उपलब्ध श्वेताम्बरीय निर्युक्तियोंमें पाये जानेके कारण संग्रह ग्रंथ होने की जो कल्पना की थी वह ठीक नहीं है; क्योंकि वे निर्युक्तियाँ विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वकी बनी हुई नहीं जान पड़ती+ हैं। और मूलाचार उनसे कई सौ वर्ष पूर्वका बना हुआ है; क्योंकि उसका समुल्लेख विक्रमकी पांचवी शताब्दीके आचार्य-यतिवृषभने अपनी 'तिलोयपण्णत्ती' के आठवें अधिकार-की ५३२वीं गाथामें 'मूलायारे' वाक्यके साथ किया है जिससे मूलाचारकी प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके बाद आचार्यकल्प पंडित आशाधरजीने अपनी 'अनगारधर्मामृत टीका' (वि० सं० १३००) में 'उक्तं च मूलाचारे' वाक्यके साथ उसकी निम्नगाथा उद्धृत की है जो मूलाचार में ५१६ नं० पर उपलब्ध होती है।

सम्मत्तणाण संजम तवेहि जं तं पसत्थ समगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे॥

—अनगारधर्मामृत टी० पृ० ६०५

इनके सिवाय, आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीका में 'तह आयारंगे वि वुत्तं' वाक्यके साथ 'पंचत्थिकाया' नाम की जो गाथा समुद्धृत की है वह उक्त आचारांगके ४०० नं० पर पाई जाती है। वर्तमानमें उपलब्ध श्वेताम्बरीय आचारांग में नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थकी प्रसिद्धि पुरातन कालमें मूलाचार और आचारांग दोनों नामोंसे रही है।

आचार्य वीरनन्दीने जो मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य एवं पुत्र थे, और जिनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था। अतः यही समय (विक्रमकी १२वीं शताब्दी) आचार्य वीरनन्दीका है। आचार्य वीरनन्दीने अपने आचारसारमें मूलाचारकी गाथाओंका प्रायः अर्थशः अनुवाद किया है ×। आचार्य वसुनन्दीने उक्त मूलाचार पर 'आचारवृत्ति' नामकी टीका लिखी है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विक्रमकी १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्तिने अपने मूलाचार प्रदीप' नामक ग्रन्थमें भी मूलाचारकी गाथाओंका सार दिया है। इन सब उल्लेखोंसे दिगम्बर समाजमें मूलाचारके प्रचारके साथ उसकी प्राचीनताका इतिवृत्त पाया जाता है, जो इस बातका द्योतक है कि यह मूलग्रन्थ दिगम्बर परम्पराका मौलिक आचारांग सूत्र है, संग्रह ग्रन्थ नहीं है।

अतः श्वे० निर्युक्तियों परसे 'मूलाचार' में कुछ गाथाओंके संग्रह किये जानेकी जो कल्पना की गई थी, वह समुचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि वीर शासनकी जो श्रुत-सम्पत्ति दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें परम्परासे दुर्भिक्षादि मतभेदके कारण बटी, वह पूर्व परम्परासे दोनोंके पास बराबर चली आ रही थी। भद्रबाहु श्रुतकेवली तक दिगम्बर श्वेताम्बर जैसे भेदोंकी कोई सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय तक भगवान महावीरका शासन यथाजात मुद्रारूपमें ही चल रहा था। उनके द्वारा रची गई निर्युक्तियाँ उस समय साधु सम्प्रदायमें प्रचलित थीं, खास कर उनके शिष्य-प्रशिष्योंमें उनका पठन-पाठन बराबर चल रहा था। ऐसी हालतमें मूलाचारमें कुछ गाथाओंकी समानता परसे आदान-प्रदानकी कल्पना करना संगत नहीं जान पड़ती।

मूलाचारके कर्ताने 'अनगार भावना' नामके अधिकारका प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरणमें त्रिभुवन जयकी तथा मंगलसंयुक्त अर्थात् सर्वकर्मके जलानेमें समर्थ पुण्यसे युक्त, कंचन, पियंगु, विद्रुम, घन, कुन्द और मृणालरूप वर्णविशेष वाले जिनवरोंको नमस्कार कर नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रसे पूजित अनगार महर्षियोंके विविध शास्त्रोंके सार-भूत महंत गुणवाले 'भावना' सूत्रको कहनेका उपक्रम किया है। यथा—

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयण जय मंगलो व वेदाणं।
कंचण-पियंगु-विद्रुम-घण-कुंद-मुणाल वण्णाणं॥
अणयार महरिसिणं णाइंद णरिंद इंद महिदाणं।
वोच्छामि विविहसारं भावणसुत्तं गुणमहंतं॥

इस अधिकारमें लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि भिक्षा-शुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि—शरीरादिकसे ममत्वका त्याग—लोकवादिरहित वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि—पूर्वकर्म रूप मलके शोधनमें समर्थ अनुष्ठान—ध्यान शुद्धि—एकाग्र चिन्तानिरोधरूपप्रवृत्ति—इन दश अधिकारोंका सुन्दर

\+ देखो, अनेकान्त वर्ष ३ कि० १२ में प्रकाशित 'भद्र-बाहुस्वामी' नामका लेख।

× देखो, 'वीरननन्दी और उनका आचारसार' नामका मेरा लेख, जैन सि० भास्कर भा० ६ किरण १

एवं मौलिक विवेचन किया गया है। जिससे इस ग्रंथमें उस समयके मुनियोंके मूल आचारका ही पता नहीं चलता, किन्तु उस समयके साधुओंकी चर्याका भी पुरातन रूप सामने आ जाता है, जिसमें बतलाया गया है कि वे साधु नवकोटिसे शुद्ध, शंकादि दश दोष रहित, नख रोमादि चौदह दोषोंसे विशुद्ध आहार दूसरोंके द्वारा दिया हुआ परघरमें पाणि-पात्रमें लेते थे। और औद्देशिक, क्रीत—खरीदा हुआ—अज्ञात, शंकित अभिघट और सूत्र-प्रतिकूल अशुद्ध आहार ग्रहण नहीं करते थे। वे साधुचर्याको जाते समय इस बातका तनिक भी विचार नहीं करते थे कि ये दरिद्र कुल है यह श्रीमंत है और यह समान है। वे तो मौनपूर्वक घरोंमें घूमते थे। और शीतल, उष्ण, शुष्क रूक्ष, स्निग्ध, शुद्ध, लोणिद, अलोणित आहारको अनास्वादभावसे ग्रहण करते थे। वे साधु अक्षम्रक्षणके समान प्राण धारण और धर्मके निमित्त थोड़ासा आहार लेते थे। यदि कारणवश विधिके अनुसार आहार नहीं मिलता था, तो भी मुनि खेदित नहीं होते थे किन्तु सुख दुखमें मध्यस्थ और अनाकुल रहते थे। वे दीन वृत्तिके धारक नहीं थे, किन्तु वे नरसिंह सिंहकी तरह गिरि-गुह कन्दराओंमें निर्भय होकर वास करते थे। यथाजातमुद्राके धारक थे, अर्थात् दिगम्बर रहते थे। और ध्यान अध्ययनके साथ अंग पूर्वादिका पाठ करते थे। वस्तुतत्त्वके अवधारणमें समर्थ थे। जिस तरह गिरिराज सुमेरु कल्पान्त कालकी वायुसे भी नहीं चलता। उसी तरह वे योगीगण भी ध्यानसे विचलित नहीं होते थे। इस अनगार भावना अधिकारकी १२० वीं गाथामें उस समयके साधुओंके जो पर्याय नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥१२०॥

यह सब कथन ग्रन्थकी प्राचीनताका ही द्योतक है।

समयसार नामका अधिकार भी अत्यन्त व्यवस्थित और सूत्रात्मक है। समयसारका अर्थ टीकाकार वसुनन्दीने 'द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं मूलोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धिविधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं' किया है। जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस अधिकारमें द्वादशांग वाणीका सार खींच कर रक्खा गया है। इसी अधिकारमें आचारांगसे सम्बन्धित गणधर द्वारा तीर्थंकरदेव (भगवान महावीर) से पूछे गये प्रश्नोत्तर वाली दोनों गाथाएँ देकर उनका फल भी बतलाया है:—

कि यत्नपूर्वक आचरण करने वाले दया-प्रेक्षक भिक्षुके नूतन कर्मबन्ध नहीं होता; किन्तु चिरंतन कर्मबन्धन नष्ट हो जाता है।

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३

इसी अधिकारमें पापश्रमणका लक्षण निर्देश करते हुए बतलाया है कि जो साधु आचार्य-कुलको छोड़कर स्वतन्त्र एकाकी विचरता है, उपदेश देने पर भी ग्रहण नहीं करता, वह साधु पापश्रमण कहलाता है। ६१वीं गाथामें उदाहरण स्वरूप ढोंढाचार्य नामक एक ऐसे आचार्यका नामोल्लेख भी किया है। जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है:—

आयरिय कुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणो त्ति वुच्चदि दु ॥६८
आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥६९

इन गाथाओंसे स्पष्ट है कि उस समय कुछ साधु ऐसे भी पाये जाते थे, जिनका आचार स्वच्छन्द था—वे गुरु-परम्पराकी प्राचीन परिपाटीमें चलना नहीं चाहते थे; किन्तु विवेक शून्य होकर स्वच्छन्द एवं अनर्गल सूत्र विरुद्ध प्रवृत्तिको अहितकर होते हुए भी हितकर समझते थे।

शीलगुणाधिकारमें कुल २६ गाथाएं हैं जिनमें शील-स्वरूपका वर्णन करते हुए शीलके मूलोत्तर भेदोंका वर्णन किया है। जिनका आचारके साथ गहरा सम्बन्ध है।

१२ वें 'पर्याप्ति' नामक अधिकारमें पर्याप्ति और संग्रहणी—सिद्धान्तार्थ प्रतिपादक सूत्रों—का ग्रहण किया गया है। जिनमें पर्याप्ति, देह, संस्थान, काय-इन्द्रिय, योनि, आऊ, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद उद्वर्तन, स्थान कुल, अल्पबहुत्व और प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंधरूप सूत्र-पदोंका विवेचन किया है। इस अधिकारमें कुल २०६ गाथाएं पाई जाती हैं। जिनमें उक्त विषयों पर विवेचन किया गया है।

इस अधिकारमें चर्चित गति-आगतिका कथन सार-समय अर्थात् व्याख्या प्रज्ञप्तिमें कहा गया है। 'व्याख्या

प्रज्ञप्ति' नामका एक सूत्र ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें था। जिसका उल्लेख धवला-जयधवला टीकामें पाया जाता है। षट्खण्डागमका 'गति-आगति' नामका यह अधिकार व्याख्याप्रज्ञप्तिसे निकला है + अन्य दूसरे ग्रन्थोंमें भी यह कथन उपलब्ध होता है। इस अधिकारके सम्बन्धमें जो मैंने यह कल्पना पहलेकी थी कि इस अधिकारका कथन आचारशास्त्रके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता, वह ठीक नहीं है; क्योंकि साधुको आचार मार्गके साथ जीवोत्पत्तिके प्रकारों, उनकी अवस्थिति, योनि और आयु काय आदिका भले प्रकार ज्ञान न हो तो फिर उनकी संयममें ठीक रूपसे प्रवृत्ति नहीं बन सकती, और जब ठीक रूपमें प्रवृत्ति नहीं होगी, तब वह साधु षट्कायके जीवोंकी रक्षामें तत्पर कैसे हो सकेगा। अतः जीवहिंसाको दूर करने अथवा उससे बचनेके लिए उस साधुको जीवस्थान आदिका परिज्ञान होना ही चाहिए। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीकी 'तत्त्वार्थवृत्ति' क और आचार्य वीरनंदीके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"ता एताः पंच समितयो विदितजीवस्थानादिविधेमुनेः प्राणि-पीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः%।"

—तत्त्वार्थवृत्ति-अ० ६, ५.

जीवकर्मस्वरूपज्ञो विज्ञानातिशयान्वितः।
कर्मनोकर्मनिर्मोक्षादात्मा शुद्धात्मतां व्रजेत् ॥

—आचारसार-११,१८६

अतः जीवस्थान और उनके प्रकारोंको जाने बिना साधु हिंस्य, हिंसक हिंसा और उसके फल या परिणामसे बच नहीं सकता। उनका परिज्ञान ही उनकी रक्षाका कारण है। अतएव अपनेको अहिंसक बनानेके लिए उनका जानना अत्यन्त आवश्यक है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि मूलाचारके उक्त अधिकार का वह सब कथन सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित है। आचार्य महोदयने इस अधिकारमें जिन-जिन बातोंके कहनेका उपक्रम किया है उन्हींका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। इस कारण इस अधिकारका सब कथन सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है और व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे सिद्धान्त ग्रंथसे सार रूपमें गृहीत कथनकी प्राचीनताको ही प्रकट करता है।

इस तरह मूलाचार बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। वह दिगम्बर परम्पराका एक प्रामाणिक आचार ग्रन्थ है, आचारांग रूपसे उल्लेखित है। अतः वह संग्रह ग्रन्थ न होकर मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके कर्ता भद्रबाहुके शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके दूसरे ग्रन्थोंको सामने रख कर मूलाचारका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे अनेक गाथाओंका साम्य ज्योंके-त्यों रूपमें अथवा कुछ थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ पाया जाता है। कथन शैलीमें भी बहुत कुछ साहश्य है जैसा कि मैंने पहले 'क्या कुन्दकुन्द ही मूलाचारके कर्ता हैं %' नामके लेखमें प्रकट किया था।

+ 'वियाह पण्णत्तीदो गदिरागदिणिग्गदा। धवला भाग १ पृ० १३०

% देखो, तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६-५ पृ० ३२१

% देखो अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१

—:XXX:—

अनेकान्तके ग्राहकोंसे

अगली किरणके साथ १२वें वर्षके ग्राहकोंका मूल्य समाप्त हो जाता है। आगामी वर्षसे अनेकान्तका मूल्य छः रुपया कर दिया गया है। अतः प्रेमी ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे ६) रुपया मनीआर्डरसे भेजकर अनुगृहीत करें। मूल्य मनीआर्डरसे भेज देनेसे उन्हें कमसे कम आठ आनेकी बचत होगी और अनेकान्तका प्रथमाङ्क समय पर मिल सकेगा तथा कार्यालय भी वी० पी० की झंझटोंसे बच जायगा।

मैनेजर **'अनेकान्त'**
१ दरियागंज, देहली

श्री महावीर जयन्ती

इस वर्ष देहलीमें भगवान महावीरकी जन्म-जयन्ती-का उत्सव बहुत ही उत्साहपूर्वक मनाया गया। सब्जीमंडी, मोदीरोड, पहाड़ीधीरज, न्यू देहली और परेडके मैदानमें बनाये हुए विशाल पंडालमें जैनमित्रमंडलकी ओरसे मनाया गया। ता० ११ को पहाड़ी धीरजसे एक विशाल जलूस चाँदनी चौक होता हुआ परेडके मैदानमें पहुँचा और वहाँ भारत सरकारसे निवेदन किया गया कि भगवानकी जन्म-जयंतीकी छुट्टी अवश्य होनी चाहिए। इस वर्ष देहलीकी जनताने अपना सब कारोबार बंद रक्खा। भारत सरकारको चाहिये कि जब उसने दूसरे धर्मवालोंकी जयन्तियोंकी छुट्टी स्वीकृत की। तब अहिंसाके अवतार महावीरकी जन्म जयन्तीकी छुट्टी देना उसका स्वयं कर्तव्य हो जाता है। आशा है भारत सरकार इस पर जरूर विचार करेगी, आगामी वर्ष महावीर जयन्तीकी छुट्टी देकर अनुगृहीत करेगी।

जयन्तीमें अबकी बार अनेक विद्वानोंके महत्वपूर्ण भाषण हुए! उन भाषणोंमें भारतके उपराष्ट्रपति डा० सर राधाकृष्णनका भाषण बड़ा ही गौरवपूर्ण हुआ। आपने अहिंसाकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि अहिंसा जैनोंका ही परमधर्म नहीं है बल्कि वह भारतीय धर्म है। अहिंसाकी प्रतिष्ठासे वैर-विरोधका अभाव हो जाता है और आत्मा प्रशान्त अवस्थाको पा लेता है। इसमें सन्देह नहीं महावीरने अपनी अहिंसाकी अमिट छाप दूसरे धर्मों पर जमाई और उन्होंने उसे वैदिक क्रिया काण्डके विरुद्ध स्थान दिया और कहा :—

यूपं बध्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते॥

यज्ञस्तंभमें बांध कर, पशुओंको मारकर और रुधिरकी कीचड़ बहाकर यदि प्राणी स्वर्गमें जाता है तो फिर नरकमें कौन जायगा। अतः हिंसा पाप है, नरकका द्वार है। अहिंसा ही परम धर्म है और उससे ही सुख-शान्ति मिल सकती है आपने अहिंसाके साथ जैनियोंके अनेकांतवाद सिद्धान्तका भी युक्तिपूर्ण विवेचन किया। डा० युद्धवीरसिंहका भाषण भी अच्छा और प्रभावक था। इसतरह महावीर जयन्तीका यह उत्सव भारतके कोने-कोनेमें सोत्साह मनाया गया है।

अभिनन्दन समारोह

ता० १२ अप्रैलको भगवान् महावीरकी जयंतीके शुभ अवसर पर भारतके उपराष्ट्रपति डा० राधा कृष्णनके हाथसे समाज सेविका ब्रह्मचारिणी श्रीमती पंडिता चन्दाबाईजी को उनकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें देहली महिला समाजकी ओरसे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंटमें दिया गया। श्रीमती ब्रजबालादेवी आराने बाईजीका जीवन परिचय कराया। ता० १६ को भारत वर्षीय दि० जैन महासभाकी ओरसे सर सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेरके हाथसे एक अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया। उस समय कई विद्वानोंने आपकी कार्यक्षमता और जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला। चन्दाबाईजी जैन समाजकी विभूति हैं, हमारी हार्दिक कामना है कि वे शतवर्ष जीवी हों ताकि समाज और देशकी और भी अधिक सेवा कर सकें।

—परमानन्द जैन शास्त्री

धवलादि सिद्धांत ग्रन्थोंका फोटो

पाठकोंको यह जान कर हर्ष होगा कि वीर-सेवा-मन्दिरके सतत प्रयत्नसे मूडबिद्रीके भण्डारमें विराजमान श्रीधवला (तीनों प्रतियाँ), श्री जयधवला तथा महाधवला (महाबन्ध) की ताड़पत्रीय प्रतियोंके फोटो ले लिये गए हैं। वहांके विस्तृत समाचार तथा मूल प्रतियोंके कुछ पृष्ठोंके फोटो अगली किरणमें दिए जावेंगे।

इस महान कार्यमें उग्रतपस्वी श्री १०८ आचार्य नमिसागरजी तथा श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक पं० गणेशप्रसाद जी वर्णीके शुभाशीर्वाद प्राप्त हैं।

—राजकृष्ण जैन

वीरसेवामन्दिरको सहायता

खतौली जि० मुजफ्फर नगर निवासी ला० बलवन्तसिंह माम चन्द्रजीने अपने सुपुत्र चि० बा० हेमचन्द्रके शुभ विवाहोपलक्ष्यमें वीरसेवामन्दिरको १०१) रुपया प्रदान किये हैं। इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

राजकृष्ण जैन—
व्यवस्थापक वीरसेवा मन्दिर

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्री ज्ञानवतीदेवी ध० वैद्य आनन्ददास देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

मई १९५४

अनेकान्त वर्ष १२
किरण १२

अभी जो मूडबद्री में सिद्धान्त शास्त्र-श्री धवला, जयधवला तथा महाधवला के फोटो लिये गये हैं, उनमें धवला के प्रथक तीन पृष्ठ के फोटो।

विषय-सूची

(पृष्ठ ३८६ का शेष

त्मक है उसका अधूरापन दूर हो जायगा।

ग्रन्थ-सूचीका कार्यश्रमसाध्य है। जान पडता है कि सं पादकजीने इसके निर्माणमें पर्याप्त श्रम किया है। महावीर तीर्थक्षेत्रकमेटीका यह कार्य प्रशंसनीय है। कमेटी को चाहिए कि वह इस उपयोगी कार्यमें और भी गति प्रदान करे जिससे ग्रन्थ-सूचीका कार्य जल्दी सम्पन्न हो सके। खेदके साथ लिखना पडता है कि दिगम्बर समाजकी ओरसे दिगम्बर ग्रंथोंकी एक बृहत्सूचीका निर्माण नहीं हो सका। इसका प्रबलकारण अभाव जान पडता है। इस सूचीसे यह जानना अत्यन्त कठिन है कि कौन ग्रन्थ किस सम्प्रदायका है इसका उल्लेख होना आवश्यक है। विविध ग्रंथभंडारोंकी सूचियोंपरसे एक बृहत् ग्रंथ-सूचीका निर्माण अत्यन्तवांछनीय है उसमें इन सूचियोंसे पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

इस सब कार्यके लिये कमेटीके मन्त्री, सेठ वधीचन्द्रजी गंगवाल और सम्पादक महोदय दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

—परमानन्द जैन

अनेकान्तके ग्राहकोंसे निवेदन

अनेकान्तकी इस किरणके साथ ग्राहकोंका मूल्य समाप्त हो जाता है। आगामी वर्षका मूल्य छः रुपया है। अतः प्रेमी ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे अनेकान्तका वार्षिक मूल्य छह रुपया मनीआर्डरसे भेजकर अनुगृहीत करें, मनिआर्डरसे मूल्य भेजदेने से उन्हें आठ आना की बचत होगी, और अनेकान्त की प्रथम किरण भी समय पर मिल जावेगी। आशा है ग्राहक महानुभाव इस निवेदन पर ध्यान देंगे और कार्यालयको वी. पी.की झंझटोंसे बचायेंगे।

मैनेजर—अनेकान्त,
१ दरियागंज, देहली

श्री महावीर जयन्तीके अवसर पर वीर सेवा-मन्दिरकी ओर से

भारतके उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् और गृहमन्त्री डा० कैलाशनाथ काटजू को स्वयंभू स्तोत्र और युक्त्यनुशासनादि ग्रंथ भेंट किये गये।

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ६)

एक किरण का मूल्य ।।)

वर्ष १२ किरण १२ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली वैशाख वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०११ | मई १९५४

आतम-संबोधक-अध्यात्म-पद

—: कविवर दौलतराम :—

हमतो कबहूँ न हित उपजाये

सुकुल-सुदेव-सुगुरु-सुसंगहित, कारन पाय गमाये ।। टेक ।।

ज्यौं शिशु नाचत, आप न माचत, लखनहार बौराये ।

त्यौं श्रुत वांचत आप न राचत, औरनको समुझाये ।। १ ।।

सुजस-लाहकी चाह न तज निज, प्रभुता लखि हरषाये ।

विषय तजे न रचे निजपदमें, परपद अपद लुभाये ।।२।।

पाप त्याग जिन-जाप न कीन्हौं, सुमनचाप-तप-ताये ।

चेतन तनको कहत भिन्न पर, देह-सनेही थाये ।।३।।

यह चिरभूल भई हमरी अब, कहा होत पछताये ।

दौल अबौं भव-भोग रचौ मत, यौं गुरुवचन सुनाये ।।४।।

—★—

मूलाचारकी कुंदकुंदके अन्य ग्रंथोंके साथ समता

(पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

अनेकान्तकी गत किरणमें मैंने मूलाचारकी मौलिकता बतलाते हुए उसके रचयिताकी ओर संकेत किया था और यह बतलाया था कि 'वट्टकेराइरिय' यह पद ही मूलाचार-रचयिता के नामका स्वयं उद्घोष कर रहा है। और वे वर्तकाचार्य कुन्दकुन्द ही हैं। अब हम लेखद्वारा मूलाचार की कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंसे शब्द-साम्य और अर्थ-साम्यके साथ-साथ शैली-गत समता बतलाते हुए यह दिखाया जायगा कि मूलाचारकी गाथाएं कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंमें कहां और किस परिमाणमें पाई जाती हैं, जिससे कि मूलाचारके कर्ता आ० कुन्दकुन्द ही हैं, यह बात भली भांति जानी जा सके।

शैली-समता

जिस प्रकार कुन्दकुन्द-रचित पाहुडों, ग्रंथों और ग्रन्थ-गत अधिकारोंके प्रारम्भमें मंगलाचरण पाया जाता है, ठीक उन्हीं या उसी प्रकारके शब्दोंमें हम मूलाचार-गत प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें मंगलाचरण देखते हैं। यहाँ उदाहरण-के तौर पर कुछ नमूने प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(१) एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
सेसाणं च जिणाणं सगण-गणधराणं च सव्वेसिं॥
(मूलाचार, ३, १)

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
(दर्शनपाहुड १)

चउवीसं तित्थयरे उसहाईवीरपच्छिमे वंदे।
सव्वे सगणगणहरे सिद्धे सिरसा णमंसामि॥
(चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति १)

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
(प्रवचनसार २०१)

(२) काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
(मूलाचार, ७, १)

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
(लिंगपाहुड १)

(३) वंदित्तु देवदेवं तिहुअणमहिदं च सव्वसिद्धाणं
(मूलाचार, १०, १)

वंदित्तु सव्वसिद्धे (समयपाहुड, १,)

वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता (चारित्रपाहुड, १)

णमिऊण जिणवरिंदे णर-सुर-भवणिंदवंदिए सिद्धे।
(भावपाहुड, १)

(४) काऊण णमोक्कारं सिद्धाणं कम्मचक्कवज्जाणं।
(मूलाचार, १२, १)

सिद्धवरसासणाणं सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
काऊण णमुक्कारं। (श्रुतभक्ति, १)

(५) सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दह दह दो दो य जिणे दह दो अणुपेहणं वोच्छं॥
(मूलाचार, ८, १)

णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं वोच्छे॥
(वारस अणुवेक्खा, १)

उक्त अवतरणोंसे पाठकगण स्वयं यह अनुभव करेंगे कि मंगलाचरणके इन पद्योंमें परस्पर कितना साम्य है। इनमें नं० २ का उदाहरण तो शब्दशः ही पूर्ण समता रखता है। यही हाल नं० ४ के अवतरणका है उसमें मूलाचारके प्रथम द्वितीय चरण श्रुतभक्तिके द्वितीय-तृतीय चरणके साथ शब्दशः समता रखते हैं भेदकेवल 'वज्जाणं' के स्थान पर 'मुक्काणं' पदका है, जो कि पर्यायवाची ही है। पांचवें उद्धरणकी तो पूरी गाथा की गाथा ज्यों की त्यों दोनोंमें समान है, केवल प्रथम चरणके दोनों पद एक दूसरेमें आगे पीछे रखे गये हैं। 'दस' आदि पदोंके 'स' के स्थान पर 'ह' पाठ और 'वोच्छं' के स्थान पर 'वोच्छे' पाठ भी प्राकृत भाषाके नियमसे बाहिर नहीं हैं। मंगला-चरणकी यह समता मूलाचारको कुन्दकुन्द-रचित माननेके लिए प्रेरित करती है।

जिस प्रकार कुन्दकुन्द अपने ग्रन्थोंमें मंगलाचरणके साथ ही अपने प्रतिपाद्य विषयके कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं, ठीक यही क्रम मूलाचारके प्रत्येक अधिकारमें दृष्टिगोचर होता है। यथा—

(१) इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि।
(मूलाचार. १,१)

मुक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे।
(चारित्रपाहुड २)

(२) वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीए।
(मूलाचार. ४ १)

पज्जत्तीसंगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीए।
(मूलाचार. १२, १)

दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण।
(दर्शनपाहुड. १)

(३) वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं।
(मूलाचार, १०,१)

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं।
(समयसार. १)

वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं (लिंगपाहुड १)

वोच्छामि भावपाहुड० (भावपाहुड. १)

वोच्छामि रयणसारं रयणसार. १)

(४) पणमिय सिरसा वोच्छं समासदो पिंडसुद्धी दु।
(मूलाचार. ६. १)

एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह वोच्छामि।
(पंचास्तिकाय. २)

जहां उपरि-उक्त अवतरणोंमें प्रतिपाद्य विषयके कहनेकी प्रतिज्ञा मूलाचारके समान ही कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंमें पाई जाती है, वहां क्रियापदोंका और 'समासदो, समासेण, संखेवं, आणुपुव्वीए, जहाणुपुव्वीए आदि पदोंकी समता भी इन ग्रन्थोंके एक कर्तृत्वको प्रगट करती है।

विषय-समता

(१) आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके तृतीय अधिकारमें मुनियोंके २८ मूलगुणोंका संक्षेपसे वर्णन किया है, क्योंकि वह साररूप ग्रन्थ है। परन्तु मूलाचारमें उन्हीं अट्ठाईस मूलगुणोंका विस्तारके साथ प्रवचनसार-निर्दिष्ट क्रमसे वर्णन किया गया है जो कि मुनिधर्मका प्रतिपादक आचार शास्त्र होनेके नाते उसके अनुरूप ही है। इन ग्रन्थोंके संक्षेप-विस्तारका यह साम्य भी दर्शनीय है। यथा:—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ॥२०९
(प्रवचनसार)

पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥२॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥३॥
(मूलाचार, मूलगु०)

प्रवचनसारके 'वदसमिदिंदियरोधो' इस सूत्रका मूलाचारमें भाष्यरूप दृष्टिगोचर होता है। शेष सात गुणोंके नाम दोनोंमें ज्यों के त्यों ही हैं। अर्थात् ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियनिरोध, ६ आवश्यक और १ केशलोंच, २ आचेलक्य, ३ अस्नान, ४ भूमिशयन, ५ अदन्तधावन, ६ स्थितिभोजन, और ७ एक वार भोजन मुनियोंके इन २८ मूलगुणोंका विस्तारसे विवेचन किया गया है।

(२) भावपाहुडमें कान्दर्पी, किल्विषिकी, संमोही, दानवी और आभियोगिकी इन पांच अशुभ भावनाओंके त्यागनेका साधुको उपदेश दिया गया है और बतलाया गया है कि इनके कारण देव-दुर्गति प्राप्त होती है अर्थात् किल्विषिक आदि देवोंमें उत्पन्न होना पड़ता है। भावपाहुडमें जहां यह उपदेश एक गाथा (नं० १३) में दिया गया, वहां इन्हीं पांचों अशुभ भावनाओंका विस्तृत उपदेश मूलाचारके द्वितीय अधिकारमें ७ गाथाओंके द्वारा दिया गया है, जो कि उसके अनुरूप हैं। (देखो गाथा नं० ६२ से ६८ तक)

(३) प्रवचनसारके तृतीय अधिकारमें साधुके लिए जो कर्तव्यमार्गका उपदेश दिया है, उसके साथ जब मूलाचारके अनगार भावनाधिकारका मिलान करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रवचनसारके सूत्रोंका यहां पर भाष्यरूपसे व्याख्यान किया जा रहा है। आहार, विहार, उपधि, वसति आदिके विषयमें दोनों ही ग्रन्थोंमें एकसा वर्णन मिलता है। भेद दोनोंमें केवल संक्षेप और विस्तार का है।

(४) अहिंसादि पांच व्रतोंकी पांच-पांच भावनाओंका जैसा वर्णन मूलाचारके पंचाचाराधिकारमें गाथा नं० १४० से १४४ तक पाया जाता है, कुछ साधारणसे पाठ भेदके साथ उन्हीं शब्दोंमें वह चारित्रपाहुडके गाथा नं० ३२से ३६ तक भी पाया जाता है। यहां उदाहरणके तौर पर एक नमूना प्रस्तुत किया जाता है :—

महिलालोयण-पुव्वरदिसरण-संसत्तवसधि-विकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बह्मह्मि ॥१४३॥
(मूलाचार, पंचाचा०)

महिलालोयण-पुव्वरइसरण-संसत्तवसहि-विकहाहि ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३४॥
(चारित्रपाहुड)

चारित्रपाहुडमें पांच गाथाओंके द्वारा पांचों व्रतोंकी भावनाएं बताकर आगे समितियोंका संक्षिप्त वर्णन किया है। परन्तु मूलाचारमें भावनओंका वर्णन कर उनका माहात्म्य बतलाते हुये कहा गया है कि—

जो साधु इन भावनाओंकी निरन्तर भावना करता है, उसके व्रतोंमें इतनी दृढ़ता आजाती है कि स्वप्नमें भी उसके व्रतोंकी विराधना नहीं होती। सुप्त और मूर्च्छित दशामें भी उसके व्रत अखंडित और शुद्ध बने रहते हैं। फिर जो जागृत साधु है, उसके व्रतोंकी शुद्धि या निर्मलताका तो कहना ही क्या है ?

ण करेदि भावणाभाविदो हु पीलं वदाण सव्वेसिं ।
साधू पासुत्तो समुदहो वि किं दाणि वेदंतो ॥१४५॥
(मूलाचार, पंचा०)

(५) चारित्रपाहुडमें पांच समितियोंका अति संक्षेपसे वर्णन किया गया है। मूलाचारके पंचाचाराधिकारमें उसका विस्तार-पूर्वक अति हृदयग्राह्य मार्मिक वर्णन पूरी ३० गाथाओंमें किया गया है जो कि उसके अनुरूप ही है। समितियोंका उपसंहार करते हुए लिखा है कि—

एदाहिं सया जुत्तो समिदीहिं महिं विहरमाणो दु ।
हिंसादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकाआउले साहू ॥ १२८ ॥
पउमिणिपत्तं व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेहगुणजुत्तं
तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो ॥१३०॥
सरवासेहि पडंतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदि सरेहिं
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥ १३१

अर्थात्—इन पाँचों समितियोंसे सदा सावधान साधु जीवोंसे व्याप्त प्रदेशमें विहार करते हुए भी हिंसादिके पापसे लिप्त नहीं होता। जिस प्रकार स्नेहगुणयुक्त कमलिनी-पत्र जलसे अलिप्त रहता है, उसी प्रकार समिति-युक्त साधु जीवोंके समूहमें संचार करते हुए भी पापसे अलिप्त रहता है। अथवा जैसे दृढ़ कवचका धारक योद्धा युद्धमें वाण-वर्षा होने पर भी अभेद्य बना रहता है, उसी प्रकार साधु भी समितियोंके प्रभावसे जीव-समूहमें विहार करते हुए भी पापसे अलिप्त बना रहता है।

इस प्रकार विषयकी समतासे भी मूलाचार कुन्दकुन्द-रचित सिद्ध होता है।

शब्द-समता

विषय-समताके समान मूलाचारकी कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ शब्द समता भी पाई जाती है। जिसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) मग्गो मग्गफलं तिय दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ॥ ५ ॥
(मूला०, पंचाचाराधिकार)

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणं समक्खादं ।
मग्गो मोक्ख उवायो तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥ २ ॥
(नियमसार)

(२) पेसुण्णहासककसपरणिंदाप्पप्पसंसविकहादी ।
वज्जित्ता सपरहियं भासासमिदी हवे कहणं ॥ १२ ॥
(मूलाचार, मूलगुणाधिकार)

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं ।
परिचित्ता सपरहिदं भासासमिदी वदं तस्स ॥ ६२ ॥
(नियमसार)

(३) एगंते अच्चित्ते दूरे गूढे विसालमविरोहे ।
उच्चारादिच्चाओ पादिठावणिया हवे समिदी ॥१५॥
(मूलाचार, मूलगुणाधिकार)

पासुकभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठा समिदी हवे तस्स ॥ ६५ ॥
(नियमसार)

(४) रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥ ५० ॥
(मूलाचार, पंचाचाराधिकार)

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥
(समयसार)

ऊपरके उद्धरणोंमें नाम मात्रका ही साधारण सा शब्द-भेद है इसकी शब्द-समता दोनों ग्रन्थोंके एककर्तृत्वको पुष्ट करती है।

इसके अतिरिक्त मूलाचारका द्वादशानुप्रेक्षा नामक आठवां अधिकार तो कुन्दकुन्द-कृत 'बारस अणुवेक्खा' नामक ग्रन्थके साथ शब्द और अर्थकी दृष्टिसे कितना साम्य रखता है, यह पाठकोंको स्वयं पढ़ने पर ही विदित हो सकेगा। बहुभाग गाथाएँ दोनोंकी एक हैं। भेद केवल इतना ही है कि एकमें यदि किसी अनुप्रेक्षाका संक्षेपसे वर्णन है, तो दूसरेमें उसीका कुछ विस्तारसे वर्णन है। बाकी मंगलाचरण और अनुप्रेक्षाओंके नामोंका एक ही क्रम है, जो कुन्दकुन्दकी खास विशेषता है। इस प्रकरणके अवतरणोंको लेखके विस्तार-भयसे नहीं दिया जारहा है।

मूलाचार और नियमसार

मूलाचारके विषयका नियमसारके साथ कितना सादृश्य है यह दोनोंके साथ-साथ अध्ययन करने पर ही विदित हो सकेगा। यहाँ दो-एक प्रकरणोंकी समता दिखाई जाती है।

(१) मूलाचारके प्रथम अधिकारमें जिस प्रकार और जिन शब्दोंमें पाँच महाव्रत और पाँच समितियोंका वर्णन किया गया है, ठीक उसी प्रकार और उन्हीं शब्दोंमें नियमसारके भीतर भी वर्णन पाया जाता है। यही नहीं, बल्कि कुछ गाथाएँ तो ज्यों की त्यों मिलती हैं। इसके लिए मूलाचार-के प्रथम अधिकारकी गा० नं० ५ से १५ तकके साथ नियमसारकी गा० नं० ५६ से ६५ तकका मिलान करना चाहिए।

(२) दोनों ही ग्रन्थोंमें तीनों गुप्तियोंका स्वरूप एक सा ही पाया जाता है। यहाँ तक कि दोनोंकी गाथायें भी एक हैं। (देखिए नियमसार गा० नं० ६९-७० और मूलाचार गा० नं० ३३२-३३३)

(३) दोनों ही ग्रन्थोंकी जो गाथाएँ शब्दशः समान हैं, उनकी तालिका पृथक् गाथा-समता-सूचीमें दी गई है। उसके अतिरिक्त अनेक गाथाओंमें अर्थ-समता भी पाई जाती है। लेख-विस्तारके भयसे उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

(४) मूलाचारके षडावश्यकाधिकारकी 'विरदो सव्व-सावज्जं' (गा० नं० २३) से लेकर 'जो दु धम्मं च सुक्कं च' (गा० नं० ३२) तककी गाथाएँ नियमसारकी गा० नं० १२५ से १३३ तक कितनी समता रखती हैं यह पाठकोंको मिलान करने पर ही ज्ञात होगा। भेद केवल इतना ही है कि इन गाथाओंका उत्तरार्द्ध एक सा होनेसे मूलाचारमें दो गाथाओंके पश्चात् पुनः लिखा नहीं गया है। जब कि नियमसारकी प्रत्येक गाथामें वह दिया हुआ है। गाथाओंकी यह एकरूपता और समता आकस्मिक नहीं है। इस प्रकरणकी जो गाथाएँ एकसे दूसरेमें भिन्न पाई जाती हैं, वे भिन्न होने पर भी अपनी रचना-समतासे एक-कर्तृत्वकी सूचना दे रही हैं।

गाथा-साम्य-तालिका

मूलाचारकी जो गाथाएँ कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंमें ज्यों की त्यों पाई जाती हैं, उनकी सूची इस प्रकार है *:—

मूलाचा० गा० नं०	कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थ	गाथा, नं०
१२,१५ ४५,४६	नियमसार	९२,६५,६६ १००
४७,४८,३६,४२	"	१०१,१०२,१०३ १०४,
१०४	"	१०५
२०१	चरित्रपाहुड	७
२०३	समयसार	१३
२२६	बारसअणुपेक्खा	३५
२३१	पंचास्तिकाय	७५
३३२	नियमसार	६९
३३३	"	७०
५ ५,५२६	"	१४२,१२६
६६६	बारसअणुपेक्खा	१४
७०१,७०२ ७०६	"	२ ,२३ ३६
८४१	दर्शनपाहुड	१७
९६६	पंचास्तिकाय	१४८
११६१	बोधपाहुड	३५
११६७	"	३३

जिस प्रकार मूलाचारकी कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके साथ मंगलाचरण, प्रतिज्ञा विषय आदिके साथ समता पाई जाती है, उसी प्रकार मूलाचार-गत अधिकारोंके अन्तमें जो उपसंहार वाक्य हैं वे भी कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंके उपसंहार वाक्योंसे मिलते जुलते हैं। उदाहरणके तौर पर कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं:—

* तालिकाके अंक हिंदी मूलाचारके अनुसार दिए गये हैं।

(१) होऊण जगदि पुज्जो अक्खयरसो क्खं लहइ मोक्खं।
(मूलाचार, गुणा० ३६)

सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि।
(पंचास्तिकाय १७६

(२) जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं जादि विसुद्धप्पा।
(मूला० षडाव० १६३)

अत्थे ठाहिदि चेया सो होहि उत्तमं सोक्खं।
(समयसार ४१५)

(३) तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु।
(मूलाचार बारसअणु० ७६)

सिग्घं मे सुदलाहं जिणवरवसहा पयच्छंतु।
(श्रुतभक्ति ११)

(४) जो पालेदि विसुद्धो सो पावदि सव्वकल्लाणं।
(मूलाचार. शीलगु० १२५)

पालेइ कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं।
(लिंगपाहुड २२)

(५) एवं मए अभिथुदा अणगारा गारवेहिं उम्मुक्का।
धरणिधरेहिं य महिया देंतु समाधिं च बोधिं च॥
(मूलाचार अनगारभा० १२१)

एवं मएऽभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु॥
(योगिभक्ति, २३)

अन्तिम उद्धरणका सादृश्य तो दोनों रचनाओंकी एक आचार्य-कर्तृताका स्पष्ट उद्घोष कर रहा है।

उपर्युक्त तुलनासे पाठक स्वयं ही इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि मूलाचारके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं।

श्रमण बलिदान

(श्री अखिल)

[यह लेख ई० सन् १९५० में मद्रासकी 'पोन्नि' नामक तामिलपत्रिकाके मकान्ति-विशेषांकमें प्रकट हुआ था। इसके प्रशंसनीय लेखक 'अखिल' नामक व्यक्ति हैं जो कि समताभाव एवं सचाईके साथ लिखने वाले ऊंचे दर्जेके लेखकोंमें प्रसिद्ध हैं। इन्होंने तामिलमें कई पुस्तकें लिखी हैं जिनके कारण इनका नाम खूब प्रसिद्ध है। इनकी लेखन-शैली एवं यथार्थ भावनाका पाठक इस लेखसे कितना ही पता लगा सकते हैं। आपने अजैन होते हुए भी जैनत्वकी गरिमा पर खुले दिलसे विचार किया है। साथ ही 'सित्तन्नवासल' पुदुक्कोटा) के कलामय एक चित्रको आधार बना कर ८वीं सदीमें जैनोंके प्रति अजैनों द्वारा जो अनर्थ एवं पैशाचिक नरसंहारका अनुष्ठान 'तिरुनावुक्करसु' एवं संबन्ध नामक ब्राह्मणोंके हाथों किया गया था उसका छोटा सा वर्णन किया है। इसके अलावा जैनियों द्वारा तामिलके प्रति की हुई साहित्य-सेवा और उसके गुणका अभिनन्दन भी किया है। इसे उत्तर हिन्दुस्तान वाले भी पढ़कर विचारमें लासकें, इसीलिए हिन्दीमें यह भाषान्तर प्रस्तुत किया गया है —अनुवादक मल्लिनाथ जैन शास्त्री]

'लोकाः भिन्नरुचयः' इस नीतिके अनुसार लौकिक-जन भिन्न-भिन्न रुचि एवं विचार वाले होते हैं; तदनुसार मैं भी एक दिन कुछ रसिक, लेखक और प्रकाशक आदि मित्र महानुभावोंके साथ एक छोटे पहाड़ पर चित्रित 'सित्तन्नवासल' की सुन्दर एवं पुरातन सजीव चित्रकलाको देखनेके लिये निकल पड़ा।

वह मनोज्ञ स्थान 'पुदुक्कोटा' से करीब दस मीलकी दूरी पर है। वहाँ जंगलके बीचमें पहाड़के पत्थर पर खोद कर कलाविज्ञ श्रमणों (जैनों) ने अपनी कर-कौशलता दिखलाई है। वहाँ दो तीन शय्यायें बनायी गयी हैं जिन पर हाथ रखनेसे हाथ सचिक्कनताका अनुभव करने लगता है। ग्रीष्मकालकी कठिन धूपके समयमें भी वहाँ मन्द-मारुत अपनी मन्दगतिसे चलकर आमोद - प्रमोद कराता है।

हम लोग वहाँ सम्प्रति 'एलडिपट्टम' के नामसे पुकारी जाने वाली एक गुफामें प्रविष्ट होकर अपनी थकावटको दूर करनेके वास्ते बैठने लगे और हममें से कुछ उस चिकनी शय्यापर आरूढ होकर अपने तन एवं मनको सन्तोष पहुंचाने लगे। मैं भी उनमेंसे एक हूँ इसे भूल न जाइयेगा। लेटने पर दो तीन मिनटके अन्दर ही मुझे गाढ निद्रा आ गयी और मैं सो गया। (स्वप्नमें)— पहाड़से गिरने वाली छोटी झरनीके शब्दसमान मन्दहासका मधुर शब्द गूँज उठा। मुड़कर देखा—मित्रोंमें से एक भी नहीं है। लेकिन एक नवयौवना नारी मेरे सम्मुख

खड़ी थी। उसे देखनेसे मालूम पड़ने लगा मानो हजारों कलाविज्ञों एवं रसिकोंको पागल बना रही है। उसकी रूपलावण्यता ने अश्रद्धेय इस गुफाको श्रद्धा करने योग्य बना दिया है। वहाँ के सारे चित्रोंमें वह शिखर समान दीख पड़ती थी मेरे पास तो वह उस समय सजीव चित्रवत् खड़ी थी।

वह कहने लगी—'चित्रमें मुझे देखनेके बाद सब लेखकोंके समान आप भी एक प्रेम की कथा लिखने वाले हैं ना और इस प्रकार कहती हुई जीवित चित्रवत् वहीं विराजमान हो गई।

आजतक नहीं देखी गई, इस रूप सौंदर्य राशिके सामने मैं कुछ भी बोल नहीं सका। मेरा मुँह बन्द रहने के कारण वह खुद ही बोलने लगी।

वह यों कहने लगी— सच्ची कथा लिखिये। कृपाकर मेरे लिये ही वास्तविक कथा लिखनेका प्रयत्न कीजिये। सचाईको बतानेमें हिचकिचानेके कारण ही आज अपनी तमिलनाडू पतित होती जा रही है। प्रान्तकी बात रहने दो; मेरा दिल भी सैकड़ों वर्षोंसे रोता हुआ आ रहा है। मेरे रूपको देखकर चकित होने वाले मेरी अन्तरात्माको पहचान नहीं सकते...।'

वह रूप लावण्यकी पुतली रो रोकर अपनी आँखोंसे मोतियोंकी माला गूंथने लगी। वह दृश्य मेरे दिलको बहुतही खटकने लगा उसके रक्तसे सिंचित दिलके साथ उसके ही द्वारा कही हुई शोकपूर्ण कथाको मैं आपके सम्मुख चित्रित करता हूँ।

वह कथा यह है कि—उस छोटे पहाड़के नजदीक बहुतसी गृहस्थियाँ बसती थीं। कुछ लोग खेती करते थे, कुछ कपड़े बुनते थे और कुछ आस-पासके पत्ते, फल, और मूल आदिसे लोगोंकी दवादारू किया करते थे। 'हमारे मतके अन्दर आजीविकाके साथ उच्चनीचताका भेद भाव नहीं समझा जाता, और जन्मना भी भेद-भाव नहीं है। नीच जाति वाले भी हमारी श्रमण (जैन) जाति के द्वारा सच्चा रास्ता पहचान कर अपनी उन्नति कर सकते हैं; सबके लिये हमारे यहाँ द्वार खुला हुआ है। सब लोग आइये! उठकर आइये!! दौड़कर आइये!!!" इस तरह कुछ लोग प्रचार करते थे।

वहाँ का जीवन कलामय नन्दनवन बना था। कमल-युक्त सरोवरमें जल क्रीड़ाकर गाने बजानेके साथ साथ आनन्दसे दिन बीतता था। वहाँ मृग-जाति भी मेल-मिलापके साथ रहती थी। तत्र स्थित बालिकाएँ सरोवरमें नहा-नहाकर उसमें खेलने वाले मत्स्योंके साथ क्रीड़ा किया करती थीं।

वह रूपवती बीचमें मुझसे पूछने लगी—'आपने उस गुफाके ऊपर चित्रित कमनीय कमलकुल-विकसित सरोवर को देखा?"...। मैंने सिर हिलाकर 'हाँ' भरी।

फिर कहने लगी—इस आनन्दमय जीवनके समय सहसा मथुरा (मदुरा) से एक समाचार आया, जहाँ उस समय "कूनपाण्ड्य" नामक राजा राज्य करता था। वह जैनमतावलम्बी था। परन्तु उसकी साध्वी रानी मंगयर्क्करसि और प्रधान अमात्य 'कुलच्चिरै नायनारः' दोनों शैवमतानुयायी थे। एक 'ज्ञानसम्बन्ध' नामका शैव ब्राह्मण रानीके द्वारा बुलाया गया और राजाको शैव बनानेका दोनों (रानी और अमात्य) षडयन्त्र रचने लगे। श्रमण एवं शैव समय वादियोंके संघर्षका समाचार सारी दिशाओंमें गूँज उठा। सारी गुफाओंमें बसनेवाले श्रमणगण एकदम मथुरामें एकत्रित हो गये। उस समय 'सित्तन्न वासल' * लोग भी चल पड़े।

चित्रस्थित कमनीय कामिनी, कान्त, पिता, माता, भ्राता भी खुद चल पड़े हहा! एक प्रेमकी कथा कहना भूल गया। चित्र में चित्रित सुन्दरीका प्रेमी एक नौजवान था। वह दो विषयोंमें पागल था—एक तो इस रूप-रानीके लावण्यमें और दूसरे चित्रकलामें। उस प्रेमीने उन दोनोंके सम्मिश्रणसे (रूप और कला) उस पत्थरमें इस मोहिनीको चित्रित किया होगा। वह कामिनी उसके प्रेमीके हाथसे ही निर्मापित की गयी होगी। क्योंकि वह रूपवती आज भी उसकी याद का प्रतिबिंब बनकर चमक रही है।

(दक्षिण) मथुरामें कोलाहल मच गया। 'पाण्ड्य-राजाके पेटमें सहसा असह्य वेदना होने लगी। एक तरफ ज्ञान-सम्बन्ध (शैव ब्राह्मण खड़ा था और दूसरी तरफ श्रमण-गण (जैन साधु)।

मैंने कहा— क्यों श्रमण-साधुओंसे राजा की बीमारी हटायी नहीं गयी। संम्बन्ध (शैव ब्राह्मण) ने ही उसे निवारण किया।

रमणी बोल उठी—'सम्बन्धने ही राजा की बीमारी

पैदा की। जिसने उसे पैदा किया उसको दूसरोंकी अपेक्षा उस रोगको शान्त करनेमें आसानी होगी न ?

मुझे वो चोटसी लगी। फिर भी वही बोलने लगी :—'आप उन लोगोंसे लिखी हुई कथाको पढ़कर कहते हैं। शायद हमारे समाजके नेता गण कुछ मन्त्र तन्त्रके द्वारा ठगाकर हराये होंगे। हमारे तालके पत्ते जलना, उनका वेगवती (वैगै) नदीमें बह जाना जैसी घटना शायद आपको सच सी दीखती होगी। लेकिन हे मानव हृदय ! आपसे प्रेमके नामसे पूछती हूँ। या यों समझिये आपके शैवत्वके नामसे पूछती हूँ क्या प्रेम, 'सच्चाई,' आनन्द आदि दुनियां की स्वतन्त्र चीजें नहीं हैं ? क्या विभिन्न मतवाले एवं विभिन्न विचारके लोग दुनियामें जीने नहीं चाहिए ?'

यदि हम लोग हार खाये हुए होते तो हम उस सच्ची कथा को मीठी-मीठी भाषामें (तामिल में) बोलते और लिखते। हे सहृदय ! द्राविड़सुत ! तामिलरूपी शस्य-श्यामलाको हम लोगोंने ही सुगन्धित एवं मधुमिश्रित बनाया। हमलोगोंने ही तामिल भाषाकी सजीवताको दृढ़ किया है। तामिल एवं उस भाषा-भाषीके हृदयको धर्म, प्रेम, दया और दान आदि हम लोगोंने ही दिया है। 'तिरुक्कुरल', 'जीवकचिन्तामणि', सिलप्पधिकार' 'नालडियार' 'नन्नूल', मेरुमन्थरपुराणम्' 'नीलकेशी' आदिके रूपमें कमनीय काव्यरस हमारे धर्मवालोंनेही पिलाया है ...।

वह रूपरानी अपनी इस बातको रोककर और बोलने लगी कि:—हमारे यहाँ शिबिका पर बैठकर जाने वाले कोई 'नायनमार' नहीं है। और उस शिबिकाको अपने कन्धे पर उठाकर ले जाने वाले कोई 'नायनमार' भी नहीं है। हम तो जातिकी कदर नहीं करते। हम यदि हार गये होते तो उसे भी अपनी कवितामें जरूर लिख देते। इसके अलावा शाश्वत संपत्तिके समान उसे पत्थरमें शिलान्यास भी कर देते। मान लीजिये, उस वक्त हमें हार भी हो गई होती; बाद में वह हमें हजारों गुणी विजयका कारण बन जाती। मानो इसी भयसे हम लोगोंका तरुण्य सत्यानाश कर दिया गया है ? उस समय हम लोग उन पाखण्डियों-के द्वारा (झूठे) प्रेमके नामसे, सत्यके नामसे, धर्मके नाम से बड़ी निर्दयताके साथ शूलीपर चढ़ाकर बलिदान कर दिये गये।

शैव मतावलंबियोंसे शास्त्रार्थ किया। लेकिन उन पाखण्डियोंने छलसे हार बताकर एक दो नहीं, आठ हजार श्रमणों साधुओं (जैन) का बलिदान किया ! दया-शील ! आपको श्रमणोंके शूलारोपणकी कथा मालूम होगी ? शायद अबतक जिन तामिल लोगोंको मालूम नहीं है उन्हें मेरी प्रार्थना पर दया कर इसे बताने की कृपा करें और उनकी साधुता पर खुद भी सोचें।

वह सुन्दर नारी जैसे आई थी वैसे ही अदृश्य हो गई। लेकिन उसका स्वप्न मुझे भूलने पर भी भूला नहीं जाता। उस स्वप्नमें पाण्ड्य राजा, उसकी रानी, अमात्य, तथा ज्ञान सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष हुए।

गौर करनेकी बात यह है कि—जब पाण्ड्य राजा श्रमण (श्रमणोपासक जैन) था; तब उसकी रानी और अमात्य शैवमतावलंबी हो कर भी बड़े मजे से रहते थे। किन्तु जब राजा शैव हुआ तब एक श्रमण (जैन भी नहीं रह सका। कल तक राजाके विचार-विमर्शक एवं मित्र के पथ पर रहते हुए लोगोंका भी आज शैवके प्रेमने सीमा-का उल्लंघन कर सत्यानाश कर डाला। सारे श्रमणों (जैनों) को शूली पर चढ़ाने का हुक्म दे दिया गया ? उस आज्ञा को सिरपर धारण कर 'कुलच्चिरनायनार' ने उस कामको बड़ी प्रसन्नतासे संपन्न किया।

फिर हुआ क्या ? सुन्दर मथुरा एकदम श्मसानभूमि बन गई। सर्वत्र मृत शरीरोंकी दुर्गन्ध फैलने लगी। वेगवती (वैगै) नदीमें पानी बहनेके बदले रक्तका प्रवाह बहने लगा। मृत शरीरों पर प्रेमासक्त पशु-पक्षियोंने शिवभक्तोंसे दिए हुए सम्मानको बड़े प्रेमसे ग्रहण किया।

मथुरा नगरीके श्मसानभूमिमें काव्य दिए हुए हृदयको, धर्मोपदेश दी हुई जिह्वाको और चित्रकलामें दक्ष हाथोंको कुत्ते, स्यार, पिशाच आदि खींच खींच कर इधर-उधर लेजाकर पटक देते थे; और भाग जाते थे।

मैंने शूली पर चढ़ा कर मारना क्या चीज है; उसे उसी समय जाना। मानों मुझीको शूली पर चढ़ाया गया हो ! ऐसा कम्प होने लगा कि मेरा स्वप्न टूट गया और आंखें खुल गई।

मेरे आसपासके मित्र हँसे, लेकिन मैं कुछ नहीं बोला। ठंडी आहें भरी। कभी न मुरझाने वाली उस चित्रकी ललना एवं उसका प्रिय पति दोनों उस भयंकर पैशाचिक मनुष्याहुतिमें हव्य बने हों !!!

धवलादि ग्रन्थोंके फोटो और हमारा कर्त्तव्य

(ले० श्री ला० राजकृष्ण जी जैन)

जैन वाङ्मयमें श्री धवल, जयधवल और महाधवलका वही स्थान है, जो कि हिन्दुओंमें वेदोंका, ईसाइयोंमें बाइबिल का और मुसलमानोंमें कुरानका है।

भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्ष तक केवल ज्ञानी और तत्पश्चात् १०० वर्ष तक पूर्ण श्रुतज्ञानी होते रहे। काल क्रमसे श्रुतज्ञानका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया, तब श्रीधरसेनाचार्यने प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर और दिन पर दिन लोगोंकी धारणाशक्तिकी हीनता होती हुई देखकर श्रुत-विच्छेदके भयसे दक्षिण देशसे दो सुयोग्य शिष्योंको बुलाकर अपना श्रुतज्ञान उन्हें पढ़ाया जो कि पीछे भूतबलि और पुष्पदन्तके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने षट्खंडागमकी रचना की। इसी समयके आस-पास गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी रचना की। इन दोनों सिद्धातग्रन्थों पर वीरसेनाचार्यने विशाल भाष्य रचे। षट्खंडागमके प्रारम्भिक ५ खंडोंके भाष्यका नाम धवल है और कषायपाहुडके भाष्यका नाम जयधवल है। षट्खंडागमके छठे खंडका नाम महाबन्ध है जो कि महाधवल नामसे भी प्रसिद्ध है।

भारतीय वाङ्मयमें वेदव्यासके महाभारतका प्रमाण सबसे अधिक माना जाता है, जबकि वह मूलमें ८ हजार श्लोकके लगभग ही रहा है। परन्तु वीरसेनाचार्य रचित अकेले धवलभाष्यका प्रमाण बहत्तर हजार श्लोक और जयधवल भाष्यका प्रमाण साठ हजार श्लोक हैं मेरे ख़यालमें भारतीय ही क्या, संसारके समग्र वाङ्मयमें किसी एक ही ग्रन्थका इतना विशाल प्रमाण खोजने पर भी नहीं मिलेगा।

धवलसिद्धान्तमें जीवकी विविध दशाओंका महाधवलमें चार प्रकारके कर्मबन्धका और जयधवलमें जीव तथा कर्मके निमित्तसे होने वाले राग-द्वेषकी नाना पर्यायों का वर्णन है। जीव और कर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्वोंका यह सुन्दर, सरल और दार्शनिक विवेचन धवल, जयधवल और महाधवल जैसे निर्मल नामोंसे ही अपने उज्जवल देशका परिचय दे रहा है।

इन विशालकाय सिद्धान्तग्रन्थोंके अतिरिक्त दर्शन, आचार, न्याय, ज्योतिष, गणित आयुर्वेद आदि विविध विषयोंपर सहस्रों ग्रन्थोंकी रचना जैनाचार्योंने की। शायद ही कोई ऐसा विषय बचा हो, जिस पर कि जैनाचार्योंने प्राकृत, संस्कृत भाषाके अतिरिक्त कनाडी, तामिल आदि विभिन्न देशी भाषाओंमें भी अपने साहित्यको रचा, जो कि आज भी भारतीय वाङ्मयमें सर्वोच्च स्थानको प्राप्त है।

जब भारतमें सम्प्रदायिकताका बोलबाला था, तब जैनेतरोंके धर्मान्ध प्रबल आक्रमणोंने हजारों जैन ग्रन्थोंको अग्निमें जलाया, तथा नदी और समुद्रोंमें बहाया। उनके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर धार्मिक लोगोंने बचे खुचे साहित्यकी रक्षाके लिए अवशिष्ट ग्रन्थोंको भंडारों और गर्भालयोंमें बन्द किया। सैकड़ों वर्षों तक तालोंमें बन्द रहने और सार संभाल न हो सकनेसे हजारों ही ग्रन्थ सीलनसे गल गये और हजारों ही दीमकोंके भक्ष्य बन गये ऐसे समयमेंहमारे मूडबिद्रीके धर्मप्राण पंचोंने करीब १ हजार वर्षसे उक्त ग्रन्थोंकी एकमात्र प्रतियोंकी अत्यन्त सावधानी के साथ रक्षा की। एतदर्थ उनको जितना भी धन्यवाद दिया जाय और आभार प्रदर्शित किया जाय थोड़ा है। सारा जैन समाज उनके इस महान् कार्यके लिये कल्पान्त तक ऋणी रहेगा। मूडबिद्रीके पंचों और गुरुओंके प्रसादसे ही आज ये ग्रन्थ सुरक्षित रहे और हमारे दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

धवलादि सिद्धांतग्रंथोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि इन ग्रन्थोंके प्रकाशमें लाने और उनका उत्तर भारतमें पठन-पाठन द्वारा प्रचार करनेका विचार पं० टोडरमलजीके समयमें जयपुर और अजमेरकी ओरसे हुआ था, पर उस समय सफलता न मिल सकी तदनन्तर आजसे लगभग ७० वर्ष पूर्व स्व० सेठ माणिकचन्द पानाचन्द जे० पी० बम्बई, सेठ हीराचन्द नेमचन्द सोलापुर और सेठ मूलचन्दजी सोनी अजमेरके वर्षोंके सतत प्रयासके पश्चात्, ताड़पत्रोंसे कागजके ऊपर कनाड़ी और नागरी प्रतिलिपि सन् १९१८ में सम्पन्न हो सकी।

उक्त सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करते समय पंडित

गजपति उपाध्यायने गुप्तरीतिसे उनकी एक कनड़ी प्रतिलिपि भी कर ली। उसे लेकर वे सेठ हीराचन्दजी और सेठ माणिकचन्द्रजीके पास पहुँचे। पर इन्होंने चोरीसे की गई उस प्रतिलिपिको नैतिकताके नाते खरीदना उचित नहीं समझा। अन्तमें वह सहारनपुरके लाला जम्बूप्रसादजी ने खरीदकर अपने मन्दिरमें विराजमान कर दी। कनड़ीसे नागरी लिपिमें लिखते हुए एक गुप्त कापी पं० सीताराम शास्त्रीने भी कर ली, और उनके द्वारा ही ये ग्रन्थराज उत्तर भारतके अनेकों भण्डारोंमें पहुँचे।

सन् १९३५ में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीके दानके द्वारा स्थापित जैनसाहित्योद्धारक फंड अमरावतीसे धवलसिद्धान्तका हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् १९४२ में श्री भा० दि० जैन संघ बनारससे जयधवलका और सन् १९४७ में भारतीय ज्ञानपीठ बनारससे महाधवलका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

इस प्रकार उक्त तीनों संस्थाओंके द्वारा तीनों सिद्धांत ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य हो रहा है।

परन्तु उक्त तीनों सिद्धान्त ग्रन्थोंके सम्पादकोंने ग्रन्थोंका सम्पादन करते हुए अनुभव किया कि चोरीकी परम्परासे आये हुए इन ग्रन्थराजोंमें अशुद्धियोंकी भरमार है, अनेक स्थलों पर पृष्ठोंके पृष्ठ छूट गये हैं और साधारण छूटे हुए पाठोंकी तो गिनती ही नहीं है। यद्यपि उक्त संस्थाओंने मूडबिद्रीमे मूलप्रतियोंके साथ अपनी प्रतियोंका मिलान कराया, जिससे अनेक छूटे और अशुद्ध पाठ ठीक हुए, तथापि अनेक स्थल संदिग्ध ही बने रहे और आज भी मूलप्रतिसे मिलानकी अपेक्षा रखते हैं।

गतवर्ष मैं सकुटम्ब और श्री ब्र० जुगलकिशोर जी मुख्तार, आदि (अधिष्ठाता-वीर सेवा मन्दिर) विद्वानों के साथ महामस्तकाभिषेकके समय दक्षिणकी यात्राको गया और मूडबिद्री पहुँच कर सिद्धान्तग्रन्थोंके दर्शन किये। सिद्धान्तग्रन्थोंके दर्शन करते हुए जितना हर्ष हुआ, उससे कई सहस्रगुणा दुःख उनकी दिन पर दिन जीर्ण शीर्ण होती हुई अवस्थाको देखकर हुआ। ताड़पत्रीय प्रतियोंके अनेक पत्र टूट गये हैं और अनेक स्थलोंके अक्षर बिखर गये हैं। हम लोगोंने उस समय यह अनुभव किया कि यदि यही हाल रहा और कोई समुचित व्यवस्था न की गई, तो वह दिन दूर नहीं, जब कि हम लोग सदाके लिए इनके दर्शनोंसे वंचित हो जावेंगे।

यात्रासे वापिस लौटकर मैं पूज्यपाद श्री १०५ क्षुल्लक पं० गणेशप्रसादजी वर्णीके दर्शनार्थ गया, और सर्व वृत्तान्त कहा। जिनवाणीके आधारभूत उक्त सिद्धांतग्रन्थोंकी जर्जरित दशाको सुनकर श्री वर्णीजीका हृदय द्रवित हो उठा और इन्होंने मूलप्रतियोंके फोटो लिये जानेका भाव मेरे से व्यक्त किया। मैंने दिल्ली आकर पूज्य वर्णीका विचार श्री १०८ नमिसागर जी के सम्मुख प्रकट किया। और उन्होंने भी उसका समर्थन ही नहीं किया, बल्कि तत्काल उसे कार्यान्वित करनेके लिये प्रेरित भी किया।

दो मास पूर्व श्री बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता, अध्यक्ष वीरसेवामंदिर देहली गिरनारकी यात्रार्थ जाते हुए पूज्य वर्णीजीके पास पहुँचे, तब वर्णीजीने उनका ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया। उनके यात्रासे वापिस लौटने पर मैं, मेरी धर्मपत्नी और बाबू छोटेलालजी २१ मार्च को मूडबिद्रीके लिए रवाना हुए। हमारे साथ बाबू पन्नालालजी अग्रवालके सुपुत्र बाबू मोतीरामजी फोटोग्राफर भी थे। और हमारी प्रेरणाको पाकर श्रीमान् पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री भी मूडबिद्री पहुँच गए थे।

हमारे आनेके समाचार मिल जानेसे पहुँचनेके पूर्व ही हमारे ठहरने आदिकी समुचित व्यवस्था वहांके श्री १०५ भट्टारकजी और पंचोंने कर रखी थी। हमने जाकर अपने आनेका उद्देश्य बताया। हमें यह सूचित करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है कि श्री १०५ भट्टारक चारुकीर्ति महाराजने और वहांके पंचोंने धर्मस्थलके श्री मंजैया हैगडेकी अनुमति लेकर हमें न केवल उन ग्रन्थोंके फोटो लेनेकी ही आज्ञा दी, अपितु हर प्रकार का सहयोग प्रदान किया। हम लोग वहां पर करीब १२ दिन रहे। इस बीच वहांके भट्टारक जी और पंचोंने जिस वात्सल्य, सौहार्द एवं प्रेमका परिचय दिया, उसे व्यक्त करनेके लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं हैं। इनमें उल्लेखनीय नाम श्री १०५ भट्टारक चारुकीर्ति जी महाराज, श्री डी० मंजैया हैगडे धर्मस्थल, श्री पुट्टा स्वामी एडवोकेट मंगलौर, श्री देवराज एम० ए० बी० एल० मंगलौर, श्री धर्मसाम्राज्य मंगलौर, श्री जगतपालजी मूडबिद्री, श्रीधर्मपालजी सेठी मूडबिद्री, श्री पद्मराजजी सेठी मूडबिद्री तथा श्री पं० नागराजजी शास्त्री के हैं।

हमारा उद्देश्य

आज भारत स्वतन्त्र है। प्रत्येक धर्म और समाज अपने पूर्वजोंकी कृतियोंको सुरक्षित रखनेके लिए प्रयत्नशील है। भारतकी राजधानी देहलीमें नित्य सांस्कृतिक सम्मेलन होते रहते हैं। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसादजीने अपने भवनका एक भाग पुरातत्त्व कला और साहित्यके संग्रह तथा प्रदर्शनके लिए नियत किया हुआ है। ऐसी दशामें हमारे भी मनमें यह भाव जागृत हुआ कि यदि हमारी भी प्राचीन कला और पुरातत्त्वकी सामग्री प्रकाश में आये, तो जैनधर्मका महत्त्व सारे संसारमें व्याप्त हो सकता है।

इसी उद्देश्यको लेकर हमने निश्चय किया कि दि० जैन सम्प्रदायके इन ग्रन्थराजोंकी जिनकी कि एकमात्र मूलप्रतियां दिन पर दिन जीर्ण शीर्ण हो रही हैं। इनके फोटो लेकर उसी कनडी लिपिमें ताम्र पट पर ज्योंका त्यों अंकित कराया जाय और उनके मूलभूत सिद्धान्तोंका जगतमें प्रचार किया जाय। जिससे कि भौतिकवादकी ओर भागता हुआ संसार अध्यात्मवादकी ओर मुड़े और अशांतिके गहरे गर्तसे निकल कर शांतिकी शीतल छायाकी ओर अग्रसर हो।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, सिद्धांत-ग्रन्थोंकी मूलप्रतियां कालके असरसे बहुत ही जीर्ण शीर्ण हो गई हैं। हमें फोटो लेते वक्त बहुतही सावधानीसे कार्य करना पड़ा लेकिन उसी वक्त हमने यह अनुभव किया कि यदि तत्काल हो इन प्रतियोंका कायाकल्प नहीं किया गया, तो इनकी आयु अधिक दिनकी नहीं है। हमें यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि मूडबिद्री के पंचोंने भी इसी बातका अनुभव किया है। इनके कारण ही महान गौरव आज मूडबिद्री को प्राप्त है, वह सदाके लिए विलुप्त हो जायेगा।

भारत सरकार का एक आलेख संग्रहालय National Archive of India नामक विभाग है, जहां लाखों रुपये की कीमती मशीनरी है, जो अतिजीर्ण-शीर्ण पत्रोंका वैज्ञानिक ढङ्गसे कायाकल्प करती है। जिससे कि उन ग्रन्थोंकी आयु सैकड़ों वर्षकी और बढ़ जाती है। मैंने जब इस विभागका परिचय वहांके पंचोंको कराया, तब उन लोगोंने उत्सुकता प्रगट की कि आप दिल्ली जाकर इन ग्रन्थोंके कायाकल्पके विषयमें उस विभागसे बातचीत कर हमें सूचित करें। मैंने दिल्लीमें इस विभागसे बातचीत प्रारम्भ कर दी है। आशा है कि उक्त विभाग की ओरसे शीघ्र स्वीकृति मिल जायगी और बहुत शीघ्र ताड़पत्रीय प्रतियोंका कायाकल्प किया जा सकेगा।

यह बात तो सिद्धान्तग्रन्थोंकी हुई। इनके अतिरिक्त मूडबिद्रीके भंडारमें इससमय कई हजार ताड़पत्रीय ग्रन्थ हैं जिन्हें खोलनेका शायद ही कभी किसी को कोई अवसर प्राप्त हुआ हो। इन ग्रन्थोंको वहांके पंचोंने कई वर्षों के सतत परिश्रमके पश्चात् दक्षिण कर्नाटकमें संग्रह किया है। उनके द्वारा हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि उत्तर कर्नाटक और तामिल प्रदेशमें अभीभी हजारों जैनग्रन्थ लोगोंके पास और मन्दिरोंके भण्डारोंमें अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियां गिन रहे हैं, जिनके तत्काल उद्धारकी अत्यन्त आवश्यकता है।

हमारे समाजका लाखों रुपया प्रति वर्ष मेले ठेलोंमें व्यय होता है। विवाह शादियोंमें भी रुपया पानीकी तरह बहाया जाता है। फिर भी हमारी समाजका अपनी जिनवाणी माताकी इस दुर्दशाकी ओर जरा भी ध्यान नहीं गया है। आजके युगमें जिस समाजका या जातिका इतिहास जिन्दा न हो, साहित्यका प्रचार न हो, वह जाति भी क्या संसार की जीवित जातियों गिनी जानेके योग्य है? अतएव यह आवश्यक है कि समाजकी सम्पूर्ण शक्ति इस कार्यमें लग जावे। यह कार्य यद्यपि लाखों रुपयेके व्ययसे सम्पन्न हो सकेगा। लेकिन इस प्रयाससे पता नहीं, हम कितने अदृष्ट और श्रुतपूर्व अनमोल ग्रन्थ-रत्नोंको प्राप्त कर सकेंगे।

जिनवाणी जिनेन्द्र भगवानकी दिव्य ध्वनिका ही नाम है। जिनवाणीका उद्धार और प्रचार करना जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका ही प्रसार करना है। हमारे महर्षियों ने कहा है:—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः॥

अर्थात्—जो भक्ति पूर्वक श्रुत (शास्त्र) की पूजा करते हैं, वे निश्चयतः जिनभगवानकी पूजा करते हैं। क्योंकि आप्तजनोंने श्रुत और देवमें कुछ भी अन्तर नहीं कहा है।

यह कार्य किसी एक व्यक्ति या संस्थाका नहीं है, बल्कि सारी जैन समाजका है। अतएव इस पुनीत कार्यमें आ०

दि० जैन महासभा, दि० जैन परिषद्, दि० जैन संघ, विद्वत्परिषद्, भारतीय ज्ञानपीठ, ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन आदि सभी सामाजिक संस्थाएँ वीरसेवा मन्दिरको अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें, तभी यह महान् कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न हो सकेगा। आशा है समाजके श्रीमान अपने धनसे, धीमान अपने बौद्धिक सहयोगसे और अन्य जन अपने वाचनिक और कायिक साहाय्यसे इस पुनीत कार्यमें अपना हाथ बटा देंगे।

उक्त सिद्धान्त ग्रन्थोंकी रचना पूर्ण होने पर ज्येष्ठ शुक्ला ५ को सर्व प्रथम बड़े समारोहके साथ पूजन की थी, अतः तभी से यह तिथि श्रुत पंचमीके नामसे प्रसिद्ध है और प्रति-वर्ष इस दिन हमारे मन्दिरोंमें शास्त्रोंकी पूजन होती है और सार सम्भाल की जाती है। हमने इस वर्ष इसी श्रुत पंचमी के समय श्रुत सप्ताह मनानेका विचार किया है। हम चाहते हैं कि इस अवसर पर सारे भारतवर्षमें श्रुत सप्ताह मनाया जाय और सरस्वती-भंडारों को खोलकर शास्त्रोंकी सार-सम्भाल की जाय, जीर्ण-शीर्ण पत्रोंकी मरम्मत की जाय, शास्त्रोंके वेष्टन बदले जावें और ग्रन्थ सूची बनाई जाय। जहाँ जिन भाइयोंको कोई नवीन ग्रन्थ दृष्टिगोचर हो, वे हमें उसकी सूचना दें और पत्रोंमें प्रकाशित करायें।

मूलाचारके कर्ता

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

मूलाचार अपरनाम 'आचाराङ्ग' दिगम्बरजैन समाजका एक प्रसिद्ध प्रमाणिक ग्रंथ है। जिसका सीधा सम्बन्ध भगवान महावीरकी प्रसिद्ध देशनासे है। जो गणधर केवली श्रुतकेवलियोंकी परम्परासे आचार्य कुन्दकुन्दको प्राप्त हुई थी। जो भद्रबाहु नामक पंचम श्रुतकेवली उनके गमक गुरु थे। जो पूर्व परंपराके पाठी थे। वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दीने स्पष्ट रूपमें मूलाचारके कर्ताको १८००० पद प्रमाण आचारांगके उपसंहारकर्ताके रूपमें बतलाया है। इस ग्रंथका पुराना उल्लेख तिलोयपण्णत्ती में मूलाचार नामसे हुआ है और षट्खण्डागमकी धवला टीकाके कर्ता आचार्यवीरसेनने 'आचाराङ्ग' नामसे उद्घोषित किया है। अतः इस ग्रन्थके अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं रहता है।

मूलाचारके कर्ता वट्टकेराचार्य हैं। 'वट्टकेराचार्य' शब्दका अर्थ क्या है, इस पर सबसे पहले पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने विचार किया है उसके बाद पं० हीरालाल जी शास्त्रीने अपने लेखमें प्रकाश डाला है। 'वट्टक' शब्द वर्तक-प्रवर्तक, वृहद् स्थूल और प्रधान जैसे अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे प्राकृतमें 'ईदृशः' के स्थानपर 'एरिसो' होता है वैसे ही वट्टक-इरा चार्यका वट्टक एलाचार्य या वट्टक एलाइरिय बना है। वट्टक शब्दका अर्थ वर्तक और बृहद् आदि होता है। 'वट्ट' शब्दसे तद्भाव अर्थमें 'क' प्रत्यय करने पर वट्टक' शब्द निष्पन्न होता है। वट्ट शब्दके उराल, थूल, वहल्ल, जेट्ठ और पहाण पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य वीरसेनस्वामीने उरालके पर्यायवाची नाम या एकार्थका विवेचन करते हुए धवलामें लिखा है कि—'उरालं थूलं वट्टं वहल्ल मिदि एयट्ठो, अथवा उरालं जेट्ठं, पहाण मिदि एयट्ठो।'—धवला टीका ता० प० प्रति।

उक्त कथनसे 'वट्टक' या 'वट्ट' का अर्थ ज्येष्ठ प्रधान या वृहद् होता है। अतः वृहद् 'एलाचार्य ज्येष्ट एलाचार्य या प्रधान एलारियको वट्टकेराचार्यका नामान्तर समझना चाहिये। यहां ऐतिहासिक दृष्टिसे वृहद अर्थ मेरे विचारसे उस तथ्यके अधिक निकट ज्ञात पड़ता है। एलाचार्यमें भी वृहद् एलाचार्य इष्ट हैं, क्योंकि एलाचार्य नामके अनेक विद्वान हुए हैं। वट्टकका वृहद् अर्थ, प्रधान या ज्येष्ट अर्थ करने पर उनसे उनका पृथकत्व भी हो जाता है।

अनेकान्त वर्ष १२ की किरण ११ में मूलाचारके सम्बन्धमें पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके लेख विचारपूर्ण हैं, अनेकान्त मंगाकर पाठकोंको उसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

कहानी—

स्तरके नीचे

—मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्य रत्न

ग्रीष्मका तप्त मध्याह्न है। मानव क्या सृष्टिका क्षुद्रतम प्राणी भी प्रकृति की हरित छायामें अपने आपको छुपाये हुए हैं। अब दिनकर की प्रखर किरणें असह्य हो चली हैं। महामुनि चारुकीर्तिके तपश्चरणकी यही अबाधित वेला है। भिक्षाग्रहणके उपरान्त द्वितीय प्रहरके अन्तमें, महामुनि जलते हुए पाषाण खण्डों पर ध्यानस्थ हो गये हैं। धरती पर हैं मुनिकी आत्मिक तेज-रश्मियाँ, और आकाशसे अविरल बरस रही हैं भास्कर की उत्तप्त रश्मियाँ। सृष्टिमें मानों तेज-द्वयकी विचित्र स्पर्धा हो रही है! काम, क्रोध, माया और लोभके भयानक मेघ मुनिके हृदयाकाशसे छिन्न-भिन्न हो चुके हैं। आज ध्याता, स्वयं ही ध्यान और ध्येय बन गया है।

× × × ×

बेचारा धोबी अपने आपमें जलकर अङ्गार होता जा रहा है। न जाने उसकी धोबिन कहाँ जा बैठी है। न भोजन तैयार है और न भोजनकी सामग्री। राजकीय-वस्त्र संध्याके समय देना है। एक ओर है पेटकी ज्वाला और दूसरी ओर है राजाज्ञाका भय भूखा व्यक्ति व्याघ्र से कम नहीं होता। पेटकी आग उसे दानव बना देती है। पर करे तो, क्या करे? वस्त्रोंकी गठरी लिए नदीकी ओर बढ़ रहा है। पैर बढ़ रहे हैं, मन भारी होता जा रहा है। क्रोधके आवेशमें सोचता है—औरत क्या, दुश्मन है। सामने दिख जाय तो ऐसी मरम्मत करूँ छिनाल की कि छठीका दूध याद आ जाय, और महाराजा साहब, ऊँह बैठे होंगे राजमहलों में, खसके पर्दोंमें। उडेल रहे होंगे अंगूरीके गिलास पर गिलास। संध्याका समय होगा। राज भवनका ऊपरी भाग तर कर दिया जावगा, जलसे। पलंग डाले जायेंगे और कामुकता बर्द्धक चादर लेकर जायगा गंगू। बदलेमें मिलेगा तिरस्कार और घृणा।......

मानसिक द्वन्दोंमें उलझा हुआ गंगू ज्योंही जमुनाके घाट पर पहुँचा और मुनिको पाषाण खण्डों पर ध्यानस्थ पाया तो सहसा जलकर अंगार हो गया। काले नागका जैसे मार्ग रोक दिया हो किसी ने। क्रोधसे आँखें लाल हो उठीं—"देखो न संसारमें ढोंगियों की भी कमी नहीं। चोर-उचक्के सण्डे-मुसण्डे इसी वेषमें छुपते हैं। नंगा बैठा है नंगा! दुनियाको बताता फिरता है कपड़ेकी भी चाह नहीं? और राजा महाराजा, सेठ साहूकारोंके घर हलुआ पूरी, मेवे-मुरब्बे पर हाथ साफ करता है। बस थोड़ा सा उपदेश सा उपदेश दे दिया—'गरीबों को न सताओ। बराबर बर्ताव करो' जैसे इसकी आवाज पर रुक जाँयगे, ये सतानेके अभ्यासी लोग? जहाँ बड़ी-बड़ी तोंद वालों और चमकते हुए मुकुटधारियोंने 'महामुनि की जय; महामुनि की जय' दो चार नारे लगाये कि फूलकर गुब्बारा हो गया। बिक गया जय-जयकी बोली पर? और ये जय बोलने वाले? हाँ! ये जय बोलने वाले चिकने घड़े की भाँति उपदेशका जल एक ओर बहाकर दुनियाँ में खून की होलियां खेलने लगते हैं।......

इस प्रकारके भयानक ऊहापोहमें गंगूका आत्मिक सन्तुलन टूटने लगा और गरजता हुआ मुनिसे बोला—

"ओ ढोंगी! उठ यहांसे। क्यों धूपमें सिर फोड़ रहा है। मगजमें गर्मी चढ़ जायगी तो फिर बड़बड़ाने लगेगा उपदेश।"

पर महामुनि चारुकीर्ति तो आत्ममें अपने आपको खो चुके थे। संसारी मानवकी दुर्बलताएँ उन्हें डिगानेको पर्याप्त न थीं। वे सोचने लगे—

'बेचारा संसारी क्रोधकी आगमें झुलसा जा रहा है। कैसी भयानक हैं दुनियां की परिस्थितियाँ। परिस्थितियोंका स्वामी आज उनका दास बना है। आज बन्धनोंमें जकड़ा मानव अपनेको बन्धनोंका स्वामी मान बैठा है, कैसी विडम्बना है? जहाँ दुर्बलताओंका ज्वार आया कि झुका दिया मस्तक, और दास बन गया, युगों के लिए! ओह! अन्तरमें कषायोंका दास और बाह्यमें परिस्थितियोंका संकेत-नर्त्तक? बेचारा मानव!

इधर मुनि मानसिक संसारमें उलझे हुए थे और उधर अनजान संसारी क्रोधकी आगमें जल जलकर मिट रहा था। आवेशमें वह पागल हो उठा और आव देखा,

न ताव, ऐसा धक्का मारा कि विरागीका सिर घाटके पत्थरोंसे जा टकराया। मुनिकी आत्मिकशक्ति सहसा तिलमिला उठी। आन्तरिक शत्रु जो दीर्घकालसे उपशान्त थे, एकाएक भड़क उठे। आखोंमें क्रोधके लाल २ डोरे रह रह कर आग बरसाने लगे। फिर क्या था हिंसाकी प्रतिक्रिया हिंसामें कूद पड़ी। मुनिकी आंखें देख कर गंगू दानव बन बैठा और व्याघ्रकी भांति गरजता हुआ टूट पड़ा मुनि पर। पाँच-सात बार दे मारा सिर शिलाखण्डों पर। मानों कोप-देवताके तर्पणके लिए नारियल फोड़ दिया हो। संसारी पर तरस खाने वाला विरागी भी खो बैठा अपने को और कूद पड़ा आवेशकी ज्वालामें।

दोनों ही आत्मिक, मानसिक और शाब्दिक संयम खो बैठे और होने लगा मल्लों जैसा भीषण युद्ध।

× × × ×

महाराजके वस्त्रोंमें विलम्ब क्यों? नौकर दौड़ा हुआ गंगू के घर आया। पर उसे घर न पाकर ज्योंही घाट पर आया तो संसारी और विरक्तका द्वन्द मचा देखा। साहस न हुआ निवारण करने का। उल्टे पाँव दौड़ा और महाराजको एक सांसमें ही सब कुछ सुना गया। महाराज घबरा कर उठ खड़े हुए और पलक मारते ही घोड़ेको एड़ देते हुए घाट पर जा पहुँचे। पर किनारा पाकर भी हतबुद्धि क्यों? क्या करते वे इस धर्म-संकट में। द्वंद्वके घात-प्रतिघातमें कटिवस्त्र खो चुका था धोबीका। दोनों ही दिगंबर बन बैठे थे। रूपसे दिगंबर, पर कृत्यसे दानव? नग्नत्वकी सीमामें दोनोंका परीक्षण कठिन तम होता जा रहा था महाराज बड़ी उलझन में थे। वे युगों पूर्वकी घटना स्मरण करने लगे।......बालि और सुग्रीवमें युद्ध हुआ था, वहाँ भी सुग्रीवके गलेकी माला आधार थी, रामके लक्ष्यका आज था आधार हीन न्याय, किसकी रक्षा किसको दण्ड? दोनों ही नग्न, दोनोंकी आंखोंमें चिनगारियाँ, दोनों ही के परस्परमें घात-प्रतिघात!

उनके पैर धीरे २ स्थलकी ओर बढ़ने लगे। अधरों और आँखोंमें व्यंगात्मक मुस्कान दौड़ने लगी। दूसरे ही क्षण ज्योंही दोनोंने महाराज जयवर्माको सामने देखा कि दोनों पाषाण-खण्डोंकी भांति अचल हो गए। प्रकृति में स्तब्धता है पर हृदयोंमें ज्वार उठ रहा है। एक राज-कोप से काँप रहा है, तो दूसरा आत्मग्लानिसे पानीपानी हो चला है। युगोंकी साधना एक क्षुद्र मानसिक दुर्बलताने छिन्न भिन्नकर दी थी। जिस क्रोध-शत्रुको मुनि चुका हुआ मानकर निश्चिन्त हो गया था वही राखके नीचे दबे हुए अंगारेकी भांति भड़क उठा, साधनाको नष्ट कर गया। आन्तरिकसे युद्ध था, बाह्यसे उलझ बैठा? न जाने कितने विकारोंको जीतकर वीतरागी होनेका सपना देख रहा था। परीक्षाका समय आया, आँख खोलकर देखा तो पाया अपने आपको साधनाके शिखरके नीचे। साधनाच्युत मुनि आत्मग्लानिने इतना जल उठा था कि उसका वश चले तो महाराजकी कटार उनकी कटिसे खींच कर आत्म-घात कर ले। पर शरीर तो पाषाण हो गया है।

मुनिकी दयनीय स्थिति देखकर सिहर उठे। वे बोले—मुनिराज! क्षमा करना मुझे। प्रयत्न करनेपर न पहचान सका आपको। गुरुदेव। न जाने कितना विकृत हो गया था आपका रूप उस समय!

शिष्टाचार और खेदके ये शब्द मुनिको आत्मग्लानि की आगमें जैसे एक धक्का और मारने लगे। भारी प्रयत्न करने पर उनके मुखसे अस्पष्ट शब्द निकले। लड़-खड़ाती ध्वनि में वे बोले''''राजन्! आपका क्या दोष। स्तर के नीचे गिरनेके बाद महान नहीं रह जाता। फिर महानताकी समाप्तिके बाद महान और साधारणमें भेद कैसा? अब कौन गुरुदेव और कौन मुनिराज? राजन! साधना-भ्रष्टको चुकजाने दो, मिटजाने दो।

अनेकान्तके ग्राहकोंसे

इस किरणके साथ १२वें वर्षके ग्राहकोंका मूल्य समाप्त हो जाता है। १३ वें वर्षसे अनेकान्तका वार्षिक मूल्य छः रुपया कर दिया गया है। अतः प्रेमी ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे ६) रुपया मनीआर्डरसे भेजकर अनुगृहीत करें। मूल्य मनीआर्डरसे भेज देनेसे उन्हें कमसे कम आठ आनेकी बचत होगी और अनेकान्त-का प्रथमाङ्क समय पर मिल सकेगा तथा कार्यालय भी वी० पी० की झंझटोंसे बच जायगा।

मैनेजर 'अनेकान्त' १, दरियागंज, देहली

साहित्य पुरस्कार और सरकार

(सत्यभक्त)

साहित्य निर्माणके कार्यमें सरकार द्वारा मदद एक प्राचीन परम्परा है और जरूरी भी है। साहित्यिक समाज-सेवा असाधारण है। वह मनुष्यताका निर्माण करने वाला है। जिन विचारोंके कारण यह मनुष्याकार प्राणी वास्तविक मनुष्य कहलाता है उन विचारोंका दान साहित्यिक करता है। लेकिन उसे इसका प्रतिपादन नहीं मिलता। उसका पूरा प्रतिदान मिलना तो कठिन ही है, पर पुष्पके रूपमें भी नहीं मिल पाता है।

पुराने जमानेमें छापेका रिवाज न होने से ग्रंथ विक्रयका कार्य नहीं होता था, अब होने लगा है, और दूसरे देशमें ग्रन्थ-प्रणेता लोग इसी कार्यसे काफी बड़े धनवान भी बन जाते हैं। पर भारतमें यह बात नहीं है। यहाँ धनवान बनना तो दूर, पर मध्यम श्रेणी के एक गृहस्थके समान गुजर करना भी मुश्किल है। इने गिने प्रकाशक जरूर कुछ धनवान बने हैं कुछ पुस्तक विक्रेता भी धनवान बने हैं। पर ग्रन्थ प्रणेता तो दुर्भाग्यका शिकार ही हैं।

फिर जो लोग ठोस साहित्य नहीं किन्तु मनोरंजक साहित्य लिखते हैं वे ही किसी तरह कुछ कमा पाते हैं। प्रकाशकको अच्छे साहित्यसे मतलब नहीं उसे अधिकसे अधिक चलतू साहित्य चाहिए और पुस्तक विक्रेताको चलतू साहित्यके साथ अधिकसे अधिक कमीशन मिलना चाहिये। कमीशन अधिक मिले तो वह कचड़ा भी बेचेगा, कमीशन कम मिले तो वह अच्छे से अच्छा साहित्य भी न छुयेगा। यहाँ तक कि चलता साहित्य भी न छुयेगा। ऐसी हालतमें उन लेखकोंकी तो मौत ही है जो समाजके लिये उपयोगी और जरूरी साहित्य तो लिखते हैं पर वह चलतू साहित्य नहीं होता।

यह आश्चर्य और खेदकी बात है कि उच्च श्रेणीका, बहुत कष्टसाध्य, मौलिक साहित्य जो लिखते हैं उनकी तपस्या आर्थिक दृष्टिसे बिलकुल व्यर्थ जाती है, उन्हें प्रकाशक तक नहीं मिलते और किसी तरह प्रकाशन हो भी जाय तो पुस्तक विक्रेता और ग्राहक नहीं मिलते। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दीमें प्रकाशन बहुत होने पर भी साहित्य निर्माणकी तपस्या नहीं होती, नई-नई खोजें नहीं होती, मनोरंजन कथा साहित्यके सिवाय अन्य उपयोगी और जरूरी साहित्य बहुत कम निकलता है और जो निकलता है वह फैल नहीं पाता। ऐसी अवस्थामें यह जरूरी है कि इस कार्यको राज्याश्रय दिया जाय।

सरकारोंका ध्यान

यह प्रसन्नताकी बात है कि स्वराज्य मिलनेके बाद कुछ सरकारोंका ध्यान इस ओर गया है। उत्तर प्रदेशीय सरकारने इस विषयमें देशका पथ-प्रदर्शन किया है। वह अच्छी पुस्तकों पर ३००) से १२००) तक लेखकको पुरस्कार देती है। इससे अनेक लेखकोंको राहत मिली है।

परन्तु इस योजनामें एक त्रुटि है कि लेखकको तो पुरस्कार मिल जाता है लेकिन उसका साहित्य जनता तक नहीं पहुँचता। इसलिये साहित्य निर्माणका वास्तविक साध्य सिद्ध नहीं होता।

इस वर्ष केन्द्रीय सरकारने कुछ सुधरी हुई व्यवस्था बनाई है। उसने हजार हजार रुपयेके पाँच और पाँच पाँच सौ रुपयेके पन्द्रह पुरस्कार रक्खे हैं। साथ ही यह भी निश्चित किया है कि जो साहित्य पुरस्कृत किया जायगा उसकी दो दो हजार प्रतियाँ सरकार खरीदेगी। वास्तवमें यह विधान बहुत जरूरी है। गत वर्ष मेरी पुस्तकोंपर उत्तर प्रदेशकी सरकारने १२००) का प्रथम पुरस्कार दिया इससे कुछ बधाइयाँ तो मिली पर १२००) का पुरस्कार होने पर भी पुरस्कारकी शुहरतसे बाहर पुस्तकें भी नहीं बिकी। इस मामलेमें तो अच्छा और उच्च साहित्यपर तो घोर संकट है। जो उसे समझ सकते हैं व समर्थ होने पर भी समझदारीके इनामके रूपमें मुफ्तमें साहित्य मंगाते हैं। जो नहीं समझते वे उसे लेंगे क्यों? इसलिये सरकारको ही लेखकोंके पुरस्कृत करनेके समान साहित्यका खरीदना भी जरुरी है। केन्द्रीय सरकारने इस तरफ ध्यान देकर बहुत अच्छा कार्य किया है।

जयपुर सरकारने इस विषयमें कुछ दूसरे ढंगसे कार्य किया है, वह लेखकोंको पुरस्तक तो नहीं करती है किन्तु अच्छी पुस्तकें अपने राज्यकी १२३ पुस्तकालयोंके लिये खरीद लेती है। सत्याश्रमके ८-१० प्रकाशन उसने १२३-१२३ की संख्यामें खरीदी हैं। ईमान नामक पुस्तक तो उसने ४५० की संख्यामें खरीदी थी। यह भी एक अच्छा तरीका है। लेकिन अब वह समय आ गया है जब इस योजना पर व्यापक रूपमें विचार किया जाय जिससे लेखकों

और प्रकाशकोंको न्याय मिलनेके साथ साहित्यके साथ भी न्याय हो, जनताको भी उसका लाभ मिले। मैं इस विषय के कुछ सुझाव रख रहा हूँ।

पुरस्कार प्रणाली

(१) सरकार अच्छे साहित्य पर पुरस्कार भी दे और उसकी प्रतियाँ भी खरीदे।

(२) पुरस्कार परिमित ही होंगे। यह हो सकता है कि कुछ पुस्तकों पर पुरस्कार न मिले पर वे अच्छी हों तो उन पुस्तकोंको खरीदनेका ही निर्णय करे।

(३) पुस्तककी उपयोगिता आदिका विचार कर कमसे कम २०० और अधिक से अधिक १००० पुस्तकें सरकार-को खरीदना चाहिये।

(४) जो पुस्तकें खरीदी जावें उनका बिल प्रकाशकोंको चुकाते समय सरकार रायल्टीके दाम काटले। और वह रायल्टी सीधे लेखकोंको दी जाय।

(५) पुस्तक भेजनेके साथ भेजने वालेको यह लिखना होगा कि उसने लेखकसे रचना किस शर्त पर ली है। इस विषयके उपनियम इस प्रकार हों।

(क) यदि लेखक और प्रकाशक एक ही हैं तब पूरा बिल प्रकाशकको चुकाया जाय।

(ख) यदि प्रकाशक लेखकको रायल्टी देता है तो सरकार से खरीदी गई पुस्तकों पर लेखकको २० फीसदी रायल्टी दे दे। इसके बाद उन पुस्तकों पर प्रकाशक लेखक को रायल्टी न दे।

(ग) यदि प्रकाशकने लेखकको पूरे दाम देकर सदाके लिए वह पुस्तक खरीद ली है, या मजदूरी देकर पुस्तक लिखाई है तो सरकार सिर्फ पांच फी सदी रायल्टी लेखक को दे और वह प्रकाशको चुकाये जानेवाले दामोंमें से काट ले।

(घ) यदि पुस्तक अनुवादित है तो आधी या दस फीसदी रायल्टी अनुवादकको और आधी या दस फीसदी रायल्टीमूल लेखकको मिले।

(ङ) यदि अनुवादकने अपना मिहनाताना प्रकाशकसे ले लिया है तो अनुवादकको रायल्टी न मिले।

(च) यदि मूल लेखक विदेशी है तो उसे रायल्टी न मिले (सिर्फ अनुवादक को ही दस फीसदी रायल्टी मिले)

(छ) यदि लेखक या अनुवादक मर चुका है तो उसे मिलने वाली रायल्टी उसके उत्तराधिकारियोंको मृत्युके दस वर्ष बाद तक ही मिले।

(ज) जो लेखक भी नहीं है, अनुवादक भी नहीं हैं सिर्फ संग्राहक या सम्पादक हैं उन्हें पांच फीसदी रायल्टी मिले। वह भी उस अवस्थामें जब प्रकाशकसे उसने मिहनताना प्राप्त न किया हो।

(६) सरकारको साहित्यके भिन्न भिन्न अंगों पर भिन्न भिन्न तरीकोंसे ध्यान देना चाहिए।

(क) अन्वेशक साहित्य। विज्ञानके नए सिद्धान्त, नई भाषा नई लिपि या भाषा लिपीसुधार, नए दार्शनिक सिद्धांत, धर्म संस्कृति आदिका नया निर्माण, आदिको पुरस्कार पहले देना चाहिए।

(ख) रचना साहित्य। जिसमें आविष्कार सरीखी तो कोई बात नहीं हो किन्तु जनताके लिए उपयोगी विचारोंको अच्छी तरहसे पेश किया गया हो इसे दूसरी श्रेणी में रखना चाहिए।

(ग) पद्य साहित्यको तीसरी श्रेणीमें रखना चाहिए।

(घ) कथा साहित्यको चौथी श्रेणीमें रखना चाहिए।

(ङ) जो साहित्य पद्यात्मक हो या कथा साहित्यमय हो, साथ ही उसमें अन्वेषणकी बातें भी हों तो उसे ऊँची श्रेणीमें ही गिना जाना चाहिए।

ग्रन्थरचनामें ग्रन्थकी योजनाका मूल्य तो होना ही चाहिए। साथ ही वह किस श्रेणीका है यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए। उच्च श्रेणीकी रचनाको अधिक अवसर मिलना चाहिए।

(७) हस्तलिखित प्रतियों पर सरकार पुरस्कार ही दे। उनके खरीदनेकी जिम्मेदारी न ले। हाँ छपने पर वह खरीदनेकी दृष्टिसे फिर विचार करे।

(८) पुस्तक खरीदते समय सरकार इस बात पर भी ध्यान दे कि पुस्तककी कीमत तो अधिक नहीं है। कीमत अधिक हो तो वह कम करनेकी शर्त लगा सकती है।

(९) सरकार जो पुस्तक खरीदे उस पर २५ फीसदी कमीशन लें।

(१०) पुस्तकोंका मूल्य, रायल्टी पुरस्कारकी रकमें घोषणाके एक माहके भीतरही सरकार चुका दे।

व्यवस्था

इस समय पुरस्कार योजना जुदी-जुदी सरकारोंकी तरफसे चल रही है। इसको केन्द्रीय सरकारके मार्फत

सारे देशके लिये लागू करना चाहिये इसके लिये निम्न-लिखित सुझाव हैं।

(११) प्रत्येक बड़े प्रांतकी सरकार इस योजनाके लिये एक-एक लाख रुपया दे। और छोटे प्रान्त पचास-पचास हजार रुपये दे। भोपाल अजमेर आदि और भी छोटे प्रान्त और भी कम दें। एक लाख रुपया केन्द्रीय सरकार दे।

(१२) इस रकमका चालीस प्रतिशत भाग पुरस्कारके लिये और ६० प्रतिशत भाग पुस्तक खरीदनेके लिये रक्खा जाय।

(१३) केन्द्रीय सरकारकी रकम आधी हिन्दीके लिये और आधी अन्य सभी प्रान्तीय भाषाओंके लिये खर्च हो और प्रान्तीय सरकारकी रकम दस फीसदी हिन्दी और ६० फीसदी प्रान्तीय भाषाके साहित्यके लिए खर्च की जाय।

इस हिसाबसे जिन प्रान्तोंकी भाषा हिन्दी है उनकी तो सब रकम हिन्दी साहित्यके लिये ही जायगी। पर जिन प्रान्तोंकी भाषा दूसरी है उनकी रकम ६० फीसदी उन प्रान्तोंकी भाषाके साहित्यके लिये खर्च होगी। मध्य-प्रदेश सरीखे प्रांतोंमें जहां हिन्दी और मराठी दो भाषाएँ हैं वहाँ हिन्दी को १० फीसदी तो मिलेगा, साथ ही ६० फीसदीमें से आधा, ४५ फीसदी भाग और भी मिलेगा।

(१४) हर एक भाषाके साहित्यकी जांच उस भाषाके क्षेत्रमें ही हो। और हिन्दी साहित्यकी जांचका केन्द्र केन्द्रीय सरकारका स्थान हो।

(१५) इस योजनाकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि निरीक्षक लोग या अधिकारी लोग बिलकुल निष्पक्ष हों। भाई भतीजावाद रिश्वतखोरी या सिफारिशका जोर इसमें घुसा कि योजना बरबाद हुई। सिर्फ साहित्यकी दृष्टिसे ही यह जांच होनी चाहिये। लेखक-का व्यक्तित्व उसके विचार या दल, या लेखक प्रका-शकके वैयक्तिक सम्बन्धोंका विचार उसमें न आना चाहिये।

साहित्य पुरस्कारकी योजनाओंसे हमें अच्छे साहित्यका निर्माण करना है, उसका प्रचार कराना है और लेखकोंको यथाशक्य आर्थिक न्याय देना है। —'संगम' से

हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण

(गत किरण १० से आगे)

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

औरंगाबादसे ५ बजे चल कर हमलोग 'एलोरा' आये। एलोरा एक प्राचीन स्थान है। इसका प्राचीन नाम 'इलापुर' या एलापुर था। आजकल यहां पर 'एलापुर' नाम-का छोटा सा गांव है। यह राष्ट्रकूट राजाओंका प्रमुख नगर रहा है। उस समय उसका वैभव अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ था। इस स्थानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है यहां पर जैन बौद्ध और हिन्दुओंकी प्राचीन संस्कृतियोंकी कलापूर्ण अनूठी कृतियां पाई जाती हैं, जिन्हें देखकर दर्शकका चित्त आनन्द-विभोर हो उठता है, और वह अपने पूर्वजोंकी गौरव-गरिमाका उत्प्रेक्षण करता हुआ नहीं थकता।

सबसे पहले हमलोग कैलाशमन्दिरके द्वारसे भीतर घुसे, तब देखने पर ऐसा जान पड़ा कि हम लोग दिव्य लोकमें आ गए। पहाड़को काटकर पोला कर दिया गया है। गुफाओं-में अन्धेरा नहीं है, पर्वतके छोटेसे दरवाजेके अन्दर आलीशान महल और मन्दिर बने हुए हैं। उनमें शिल्प तथा चित्रण कलाके नमूने दर्शनीय हैं। एक ही पाषाण-स्तम्भ पर हजारों मन वजन वाला पाषाणमय उत्तुंगगिरि अवस्थित है। कहा जाता है कि इस कैलाश भवन (शिव मंदिर)को राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज (प्रथम) ने बनवाया था। यह राजा शिवका भक्त था। इसने और भी अनेक मन्दिर बनवाए थे, पर उन सबमें उक्त कैलाश मन्दिर ही अपनी कलात्मक कारीगरीके लिये प्रसिद्ध है। शक सम्वत् ६९४ (वि० सं० ८२९) की

इस राजाकी एक प्रशस्ति भी मिली है❀।

इसके बाद हम लोग जैन गुफाओंको देखनेके लिए गए। जैनगुफाएँ उक्त कैलाशमन्दिरसे उत्तरकी ओर दो मीलके करीब दूर होंगी। बाहर लारी, स्टेशनवैगन और कार आदि खड़ी करके हमलोग अन्य गुफाओंको देखते हुए नं० ३० की गुफामें पहुँचे। उससे बगलवाली गुफा नं० २१ भी जैन ही जानपड़ती है क्योंकि उसमें ऐसे कोई चिन्ह विशेष नहीं जान पड़े जिनसे उसे जैन गुफा होनेसे इन्कार किया जासके। नं० ३० से ३४ तक की सभी गुफाएँ जैन हैं। ये गुफाएँ बहुत ही विस्तृत और सुन्दर हैं, इनमें मनोहर दि० जैन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इनके तोरणद्वार, स्तम्भ महराव तथा छतें बड़ी ही सुन्दर बनी हुई हैं जिनमें शिल्पकलाका अनुपमकार्य दिखलाया गया है। इन गुफाओंमें नं० ३३ की 'इन्द्रसभा' नामकी गुफा कैलाशगुफाके समान ही मध्यमें दो खन की है। यह एक विशाल मन्दिर है जो पहाड़को काटकर बनाया गया है। इसमें प्रवेश करते ही छोटी सी गुफामें रंगविरंगी चित्रकलाकी छायामात्र अवशिष्ट है। कहा जाता है कि वहां ततइयोंने छत्ता लगा लिया था, उन्हें उड़ानेके लिए आग जलाई गई, जिससे चित्रकलामें कालिमा आ गई है। और भी छोटी गुफाएँ है। गुफाका मुँह दक्षिणकी ओर है। सभाके बाहर एक छोटासा कमरा भी है। यह इन्द्र सभा दो भागोंमें विभक्त है। उसका एक भाग इन्द्रगुफा और दूसरा भाग जगन्नाथगुफाके नामसे उल्लेखित किया जाता है।

इन्द्रगुफाका विशाल मण्डप चार विशालस्तम्भों पर अवस्थित है। सभा मंडपकी उत्तरीय दीवारके किनारे पर भगवान पार्श्वनाथकी विशाल दि० जैन प्रतिमा विराजमान है, इनके शीशपर सप्तफणवाला मुकुट शोभायमान है। इसीके दक्षिण पार्श्व में ध्यानस्थ बाहुवलीकी एक सुन्दर खड्गासन मूर्ति विराजमान है, माधवी लताएँ जिनके शरीर पर चढ़ रही हैं और भक्तजन पूजन कर रहे हैं। परन्तु मूर्ति परम ध्यानकी गम्भीर आकृतिको लिए हुए है, और उसकी निश्चल एवं निरीहवृत्ति दर्शकके मनको आकृष्ट करती हुई मानों जगतकी असार वृत्तिका अभिव्यंजन कर रही है। सभाके कमरेकी लम्बाई दक्षिण उत्तर ५६ फुट और पूर्व पश्चिममें ७८ फुटके करीब है। इसमें दाहिनी ओर एक हाथी है जिसकी आसनके बिना ऊँचाई १५ फुटके लगभग है जो अब गिर गया है। एक सुन्दर स्तम्भ २७फुटकी ऊँचाईको लिए हुए है, उसके ऊपर चतुर्मुख प्रतिमाविराजमान थी जो अब धराशायी हो गई है। यहां व अन्यत्र कमरेके भीतर वेदी पर चारों दिशाओंमें भगवान महावीरकी प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं दूसरे कमरेमें भगवान महावीरकी मूर्ति सिंहासन पर विराजमान है, उनके सामने धर्मचक्र भी बना हुआ है। इसीमें पिछली दीवालके सहारे इन्द्रकी एक मूर्ति बनी हुई है। उससे पश्चिमकी ओर इन्द्राणीकी सुन्दर मूर्ति अंकित है, वह आसन पर बैठी हुई है और अनेक आभूषणोंसे अलंकृत है। यहांसे ही अन्य छोटे-छोटे कमरोंमें जाना होता है, जिनमें भी तीर्थंकर मूर्तियां अंकित हैं।

इन्द्रसभाके पश्चिम मध्यके कमरेमें दक्षिण दीवाल पर श्रीपार्श्वनाथकी मूर्ति अंकित है और सामने गोम्मटेश्वर हैं। दीवालके पीछे इन्द्र इन्द्राणी और मन्दिरके भीतर भगवान महावीरकी मूर्ति सिंहासन पर विराजमान है, तथा नीचेके हालमें प्रवेश करते ही सामने बरामदेके बाईं ओर दो बड़ी मूर्तियां अवस्थित हैं। जिनमें एक मूर्ति सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ की है, जिस पर आठवीं नौवीं शताब्दीके अक्षरोंमें 'श्री सोहिल ब्रह्मचारिणा शान्तिभट्टारक प्रतिमेयार' नाम का लेख उत्कीर्णित है, जिससे मालूम होता है कि शांतिनाथकी इस मूर्तिका निर्माण ब्रह्मचारी सोहिलने किया है। इसके आगे एक मन्दिर और है जिसमें एक स्तम्भ है जिसपर 'श्रीनागवर्मकृता प्रतिमा' लिखा हुआ है।

दूसरी जगन्नाथ गुफा, जो इन्द्रसभाके समीप है। इसकी रचना प्रायः विनष्ट हो चुकी है। नीचेकी ओर इसमें एक कमरा है जिसकी ऊँचाई १३ फुटके लगभग होगी, उसकी छत चार स्तम्भों पर अवस्थित है। सामने एक बरामदा है और भीत पर दो चोकोर स्तम्भ हैं, दो स्तम्भ बरामदे से कमरेको अलग करते हैं जिसमें दो वेदियां बनी हुई हैं बाईं ओर भगवान पार्श्वनाथ सप्तफण और चमरेन्द्रादि सहित विराजमान हैं: और दहिनी ओर श्री गोम्मटस्वामी हैं। अन्यत्र ६ पद्मासन तीर्थंकरमूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। बरामदेमें बाईं तरफ इन्द्र और दाहिनी ओर इन्द्राणी है। इसके बादके एक कमरेमें पद्मासनस्थ भगवान महावीरकी मूर्तिहै। जगन्नाथसभाके बाईं ओर एक छोटा सा हाल है, उसमें एक कोठरी है जिसके बाईं तरफ पासकी गुफामें जानेका मार्ग है। इस सभाकी दूसरी ओर दो छोटे मंदिर हैं जिनमें चित्रकारी अंकित है।

❀ देखो, एपिग्राफिया इण्डिका भाग १४ पृष्ठ ११५

इस गुफाके कुछ स्तम्भों पर पुरानी कनाड़ीके कुछ लेख उत्कीर्ण हैं जिनका समय सन् ८००से ८५० तकका बतलाया जाता है।

३४वीं गुफाका बरामदा नष्ट हो गया है इसमें एक विशाल हाल है। भीतों पर सुन्दर चित्रकारी अंकित है।

इन गुफाओंकी पहाड़ीकी दूसरी ओर कुछ ऊपर जाकर एक मंदिरमें भगवान पार्श्वनाथकी बहुत बड़ी मूर्ति है जो १६ फुट ऊँची है उसके आसन पर सं० ११२६ फागुन सुदि तीजका एक लेख भी अंकित है। जिसमें उक्त समय श्री वर्द्धमानपुर निवासी रेणुगीके पुत्र गेलुजी और पत्नी स्वर्णासे चक्रेश्वर आदि चार पुत्र थे, उसने चारणोंसे निवासित इस पहाडी पर पार्श्वनाथकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा कराई।

छोटे कैलास नामकी गुफामें जिसे जैनियोंकी पहली गुफा बतलाई जाती है। उसका हाल ३६ फुट चौकोर है इसमें १६ स्तम्भ हैं। कहा जाता है कि यहां खुदाई करने पर शक सम्वत ११६६ की कुछ मूर्तियां मिली थीं।

एलोराकी गुफामें मानव-कदकी एक प्रतिमा अम्बिकाकी अंकित है, जो संभवतः नौमी दशवीं सदी की जान पड़ती है। उसके मस्तक पर आम्रवृक्षकी सघन छाया पड़ रही है। देवी की मुख्य मूर्तिके शिर पर एक छोटी सी पद्मासन प्रतिमा है जो भगवान नेमिनाथ की है। इस मूर्तिकी रचनामें शिल्पीने प्रकृतिके साथ जो सामंजस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया है, वह दर्शनीय है। देवीके इस रूपका उल्लेख ग्रन्थोंमें मिलता है ※।

एलोरासे चलकर हम लोगोंने जलगांवमें खरबूजे संतरे वगैरह खरीदे और फिर अजन्ता पहुँचे, उस समय १॥ बज चुका था, धूप तेज पड रही थी। फिर भी हम लोगोंने अजंता की प्रसिद्ध उन बौद्ध गुफाओंको देखा। अजंताकी वे गुफाएँ बड़ी सुन्दर हैं, इनमें चित्रकारी अब भी सुन्दर रूपमें विद्यमान है। सरकार उनके संरक्षणमें सावधान है। वहां पर बिजलीकी लाईट के प्रकाशमें हम लोगोंने उन-चित्रोंको देखा, और घूम फिर कर सभी गुफाएँ देखीं, कुछ में सुधार हो रहा था, और कुछ नई बन रही थीं। एक गुफामें बुद्धकेपरि निर्वाणकी 'मृत्यु अवस्थाकी' सुन्दर विशाल मूर्ति है। जिसे देखकर कुछ लोग शोकपूर्ण अवस्थामें हैं और कुछ हंस रहे हैं, यह दृश्य अंकित है, यहां बुद्धकी कुछ मूर्तियां ऐसी भी पाई जाती हैं जो पद्मासन जिनप्रतिमाके बिलकुल सदृश हैं। जिन पर फण बना हुआ है। वह मूर्ति पार्श्वनाथ जैसी प्रतीत होती है। चित्रोंमें अधिकांश चित्र बुद्धके जीवनसे सम्बन्ध रखते हैं और अन्य घटनाओंके चित्र भी अंकित हैं। उन सबको समझनेके लिए काफी समय चाहिए। इनमें कई गुफाएं बड़ी सुन्दर और विशाल हैं। जो दर्शकको अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। कुछ मूर्तियां भी चित्ताकर्षक और कलापूर्ण हैं।

अजंतासे चलकर पुनः जलगांव होते हुए हम लोग पाँच बजे शामको जामनेर आए, और यहां जल्दी ही भोजनादिकी व्यवस्थासे निमट कर यहांके श्वेताम्बर जैन सेठ राजमलजी के बंगलेपर ठहरे। रात्रि सानंद बिताई और प्रातः जिन दर्शन पूजनकर आवश्यक क्रियाओंसे मुक्त होकर ११ बजेके करीब हम यहांसे धूलियाके ओर रवाना हुए। और ला० राजकृष्णजी सपरिवार और मुख्तार साहब तथा सेठ छदामीलालजी वगैरह बुरहानपुर होते हुए मुक्तागिरकी तरफ चले गए।

हम लोग ४ बजेके करीब धूलिया पहुँचे और वहाँ शामका भोजन कर ६० मील 'मांगीतुंगी' के दर्शनार्थ गए और रातको ६ बजेके करीब पहुँचे। यहां दो पहाड़ हैं मांगी और तुंगी। निर्वाण काण्डकी निम्न गाथामें इसे सिद्ध क्षेत्र बतलाया है—

> रामहणू सुग्गीओ गव गवाक्खो य णीलमहणीलो।
> णवणवदी कोडीओ तुंगीगिरिणिव्वुदे वंदे॥

इस गाथामें इस क्षेत्रका नाम 'तुंगीगिर' सूचित किया है न कि मांगी तुंगी। पूज्यपादकी संस्कृत निर्वाणभक्तिमें 'तुंग्यां तु संगरहितो बलभद्र नामा' वाक्यमें इसे तुंगीगिर ही बतलाया है साथही उसमें बलभद्रको मुक्तिका विधान है प्राकृत गाथाकी तरह अन्यका कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी स्थितिमें यह बात विचारणीय है कि इस पहाड़का नाम 'मांगी तुंगी' क्यों पड़ा? जबकि ब्रह्म श्रुतसागरजीने बोधपाहुडकी २७ नं०की गाथाकी टीकामें तीर्थक्षेत्रोंके नामोल्लेखमें 'आभीरदेश तुंगीगिरो' ऐसा उल्लेख किया है जिसमें तुंगीगिरकी अवस्थिति आभीरदेशमें बतलाई है। बलभद्र (रामचंद्र) का कोट्ट शिलापरकी केवलोत्पत्तिका उल्लेख तो मिलता है, परंतु निर्वाणका उल्लेख अभीतक मेरे देखनेमें नहीं आया। इस क्षेत्रका मांगीतुंगीनाम कब पड़ा यह अभी विचारणीय है। मांगी पर्वतकी शिखर पर चढ़ते हुए मध्यमें सीताका स्थान बना दिया है, जहां पर सीताक

※ सव्येकद्युपगियंकर सुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं
दिव्याम्रस्तवकं शुभंकरकरश्लिष्टान्य हस्तांगुलीम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितमामाम्रद्रुमच्छायगां
वन्यारुं दशकामु कोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रां यजे॥

भक्तिभावसे अर्घ चढ़ाया जाता है। समझमें नहीं आता कि भक्त जनतामें इस प्रकारकी नई रूढ़ी कहां से प्रचलित हुई। मांगी शिखरमें अनेक गुफाएँ और तीन सौ से ऊपर प्रतिमाएं और चरण हैं। यहां अनेक साधुओं और भट्टारकोंकी भी मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं जिनके पास पीछी और कमण्डलु भी उत्कीर्णित हैं। और पास हीमें उनके नाम भी अंकित हैं। जिनमें भट्टारक सकल कीर्ति, और शुभचन्द्रादिके नाम स्पष्ट पढ़े जाते हैं। एक शिलालेखमें संवत् १४४३ भी अंकित था। यहांपर शिलालेख नोट करनेकी इच्छा थी, परन्तु जल्दीके कारण नोट नहीं कर सका। इससे पुराने कोई उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आए, और न राम हनुमानादिकी तपश्चर्यादिके कोई प्राचीन उल्लेख ही अवलोकनमें आये।

तुंगीगिर बलभद्रका मुक्तिस्थान माना जाता है। इसमें २-३ गुफाएँ उत्कीर्णित हैं। मूलनायककी प्रतिमा चन्द्रप्रभ भगवान की है और उसके आस-पास और बहुत सी प्रतिमाएं चारों ओर उत्कीर्ण की हुई हैं। सामने पानीका एक कुण्ड भी है। इसकी चढ़ाई बहुत कठिन थी, जरा फिसले कि जीवन खतरेसे खाली नहीं था। सेठ राजराजजी गंगवालके सत् प्रयत्नसे वहां सीढ़ियोंका निर्माण किया जारहा है।

नीचे मन्दिर व धर्मशालाएँ हैं जिनमें यात्रियोंके ठहरने की व्यवस्था है। पासही में एक नदी बहती है। मांगी-तुंगी से चलकर धूलिया पुनः वापिस आए। और ५ बजे चलकर मउ छावनी होते हुए १ बजे के करीब दुपहरको इंदौर आए। और सर सेठ हुकमचन्द्रजीकी धर्मशाला जंवरी बागमें ठहरे। जहां पर अगले दिन सवेरे ला० राजकृष्णजी और मुख्तारसाहब मुक्तागिरके ५१ मन्दिरों तथा सिद्ध वरकूटके मन्दिरोंकी यात्रा करते हुए इंदौरमें आये और हम लोग इंदौरसे ५६ मील सिद्धवरकूटको यात्रार्थ आए। निर्वाणकांडकी गाथामें उसका उल्लेख निम्नप्रकार है:—

रेवा णइए तीरे पच्छिमभायम्मि सिद्धवरकूटे।
दो चक्की दहकप्पे आहुट्टयकोडि णिव्वुदे वंदे॥

परन्तु कुछ अन्य प्रतियोंमें उक्त गाथाकी बजाय निम्न दो गाथा उपलब्ध होती हैं जिनमें द्वितीय गाथाके पूर्वार्धमें संभवनाथकी केवलुप्पुत्तिका उल्लेख किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता—

रेवा तडम्मितीरे दक्खिणभायम्मि सिद्धवरकूटे।
आहुट्ठ य कोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

रेवा तडम्मि तीरे सम्भवणाहस्स केवलुप्पत्ति।
आहुट्टय कोडीओ णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

संस्कृत सिद्धभक्तिमें भी 'वरसिद्धकूटे' नामसे उल्लेख मिलता है। ब्रह्म श्रुतसागरने भी सिद्धवरकूटका उल्लेख किया है। यह मोरटक्का स्टेशनसे ७ मील बड़वाहसे ६ मील और सनावदसे आठ मील दूर है। सिद्धवरकूटको जानेके लिए नर्वदा नदीको पार करना पड़ता है। धर्मशालाओंमें ठहरनेकी उचित व्यवस्था है। प्राचीन मंदिर जीर्ण हो जानेसे सं.१६-५१ माघवदी १५ को जीर्णोद्धार कराया गया है। तीनों मन्दिरोंमें सम्भवनाथ चन्द्रप्रभ और पार्श्वनाथकी प्रतिमाएँ मूलनायकके रूपमें विराजमान हैं। सिद्धवरकूटका प्राचीन स्थल कहां था यह अभी विचारणीय है पर सिद्धवरकूट नामका एक तीर्थ नर्वदानदीके किनारे अवश्य था। यह वही है इसे अन्य प्राचीन प्रमाणोंके द्वारा सिद्ध करनेकी आवश्यकता है। वर्तमान क्षेत्रका प्राचीन क्षेत्रसे क्या कुछ सम्बन्ध रहा है, इस बातका भी अन्वेषण होना आवश्यक है। सिद्धवरकूटसे हम पुनः इन्दौर आए।

इन्दौर होलकर स्टेटकी राजधानी है। शहर अच्छा है. यहाँ जैनियोंकी अच्छी बस्ती है। सर सेठ हुकमचन्द्रजीका निवासस्थान है। जंवरीबागमें पार्श्वनाथ चैत्यालय है संयोगिता गंजमें पंचायती मन्दिर और गेंदालालजीके ट्रस्टका मंदिर है। पलासिया आगरा बम्बई रोड पर केशरीमल मोतीलालजीका चैत्यालय है। तुकोगंजमें उदासीन आश्रम, इन्द्रभवन चैत्यालय, शान्तिनाथ जिनालय, अनूप भवन-चैत्यालय, तिलोकभवन चैत्यालय और कमलविध चैत्यालय है। स्नेहलतागंजमें—शंकरलालजी काशलीवालका चैत्यालय है। परदेशीपुरामें गुलाबचन्द्रजीका चैत्यालय, राजावाडामें मानिकचौकमन्दिर, नरसिंहपुरा मन्दिर, शक्कर बाजारमें मारवाड़ी गोठका आदिनाथ जिनालय है, इस मंदिरमें अच्छा शास्त्र भंडार है। तेरापंथी मंदिर और चिमनराम जुहारुमलजीका पार्श्वनाथ जिनालय है। और दीतवारिया बाजारमें शान्तिनाथ भगवानका वह प्रसिद्ध कांचका मन्दिर है, जिसे देखनेके लिये विविध देशोंके व्यक्ति प्रतिवर्ष आया करते हैं। यह मन्दिर अपनी कलाके लिए प्रसिद्ध है। मल्हारगंजमें रामासाका प्राचीन मन्दिर है। संभवनाथका एक चैत्यालय वीस पंथियोंका है और मोदीजीकी नशियां इस तरह इंदौरका यह स्थान व्यापारका केन्द्र होते हुए भी धार्मिकताका केन्द्र बना हुआ है।

इन्दौरसे ४४ मील चलकर मक्सीपार्श्वनाथ आये। यहां लारीसे सामान उतरवाने आदिमें काफी परेशानी उठानी पड़ी। यहां चोरीका भी डर रहता है। इस क्षेत्रको दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही मानते हैं। दोनोंकी धर्मशालाएँ हैं तथा दो दिगम्बर मन्दिर और भी हैं। प्राचीन मन्दिर सिर्फ एक ही है जिसमें भगवान पार्श्वनाथकी एक श्याम वर्ण २॥ फुट ऊँची चित्ताकर्षक मूर्ति विराजमान है, मूलनायक मन्दिरके चारों ओर ४२ देवकुलकाएँ भी बनी हुई हैं। उनमें जो प्रतिमाएँ विराजमान है उनकी चरणचौकी पर मूलसंघ भट्टारक··· शाहजीवराज पापडीवाल सं० १५४८ वैसाखवदी ६ अंकित है।' सबसे पहले पूजन प्रक्षाल दिगम्बर करते हैं, उसके बाद श्वेताम्बर करते हैं। हम लोग पूजनादि करके ग्वालियर आगरा रोड पर चले, और बावरामें मध्यभारतका टैक्स देकर तथा पैट्रोल लेकर एक बागमें भोजनादिक आवश्यक क्रियाओं-से मुक्त होकर रातको ८ बजे शिवपुरी पहुँचे।

शिवपुरीमें रात्रिमें विश्राम कर तथा प्रातःकाल दर्शनपूजनादि कार्योंको सम्पन्न कर तथा भोजनादि कर सोनागिरिके लिए रवाना हुए, और ३॥ बजे के लगभग सोनागिरि आये। धर्मशालामें सामान लगाकर यात्राको जानेका विचार किया, परन्तु शारीरिक हरारत होनेसे जानेको जी नहीं करता था, फिर भी मुख्तार साहबके साथ पहाड़की सानन्द यात्रा की। सोनागिर पहाड़के मन्दिर मूर्तियोंमें समुचित सुधार हुआ है, पहाड़ पर रास्ता अच्छा हो गया है सफाई भी है। रात्रिमें तबियत खराब रही। परन्तु प्रातःकाल उठकर मुख्तार साहबके साथ नीचेके मन्दिरोंके दर्शन किये। भट्टारकीय मन्दिरोंके दर्शन करते समय कई मूर्तियोंके प्राचीन लेख लेनेका विचार आया और एक दो मूर्तिलेख भी नोट किये। जिसके दो नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

मन्दिर नं० १६ राजा खेडा वालोंका—१—'संवत १२१३ गोलापल्ली वसे सा० साबू मोढो, साधू श्री लल्लू भार्या जिणा तयो सुत साबू दील्हा भार्या पल्हासरु जिननाथं सविनय प्रणमंति।'

२—संवत १६४३ वर्षे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे [श्री] चारुणंदीदेव तदन्वये श्रीगोल्लाराडान्वये सा० नावे भार्या केवल, पुत्र नगउ गोल्लासुत सेठ चल्लाती नित्यं प्रणमंति।'

मुख्तार साहब और मैंने वर्तमान भट्टारकजीका शास्त्र भण्डार भी देखा, इसके लिये हम उनके आभारी हैं। समयाभावसे हम लोगोंने कुछ थोड़ेसे ग्रन्थ ही देख पाये थे, जिनमें भ० अमरकीर्तिका सं० १२४४ का रचा हुआ नेमिनाथ चरित्रकी कुछ प्रशस्ति नोट की❀। यह ग्रन्थ इसी भण्डार में प्राप्त हुआ है, अन्यत्र उसके अस्तित्वका पता नहीं चलता। पं० आशाधरजी के सहस्रनामकी स्वोपज्ञ टीका, और श्रुतसागरसूरिकी टीकाकी एक प्रति सं० १५७० की लिखी हुई यहाँ मौजूद है। शेष भंडारको अवकाश मिलने पर देखनेका यत्न किया जावेगा।

सोनागिरसे चलकर ग्वालियर आये और धर्मशालामें रात्रि व्यतीतकर प्रातःकाल दर्शनकर धौलपुर होते हुए आगरा आये और वहां एक बागमें भोजनादि बना खाकर आचार्य वीरसागरजीके दर्शनार्थ बेलनगंजके मन्दिरमें गए और दर्शनकर अलीगढ़, खुर्जा गाजियाबाद होकर रात्रिको एक बजे देहली सानन्द वापिस आ गये। ता० १६-५-५४

❀ देखो, अनेकान्त वर्ष ११ किरण १२ में प्रकाशित 'अपभ्रंश भाषाका नेमिनाथ चरित' नामका लेख, पृ० ४१४

अत्यावश्यक वर्णी सन्देश

संसारमें अभिलषित कार्यकी सिद्धि होना प्रायः असंभव है। मेरे मनमें निरन्तर यह भावना बहुत कालसे रहती है। कि प्राचीन जैनसाहित्यका संग्रह किया जाय। उसके लिए चार विद्वानोंको रखा जाय। उनको निःशल्य कर दिया जाय। कोई चिन्ता उन्हें न रहे। वर्तमानमें उन्हें २५०) रुपया मासिक कुटुम्ब व्ययका दिया जाय तथा उनके भोजनकी व्यवस्था पृथक् हो। वे दिनमें स्वेच्छा पूर्वक कार्य करें। रात्रिमें आपसमें जो कार्य दिनमें करें उस पर ऊहापोह करें। यह कार्य १० वर्ष तक निर्बाध चले। इसके बाद प्रत्येक विद्वानको दस दस हजार रुपये दिए जांय अथवा १ वर्ष २ वर्ष आदि तक यदि कार्य करके पृथक होवें तब उतने ही हजार रुपये दिए जांय।

इसके बाद यदि वे चाहें तो अन्य विद्वानोंको यह

कला सिखा देवें। व्यवस्था जैसी बन जाए समय बतलाएगा।

इसके खर्चके लिये—४००००) रुपया तो ४-विद्वानोंको अन्तमें देना। १०००) रुपया मासिक भेंट, २५०) भोजन व्यय व २५०) लेखक आदिके लिये। इस तरह कुल १५००) एक माहका। दस वर्षका २२००००) इतनेमें यह प्राचीन जैन साहित्यका उद्धार कार्य हो सकता है। यदि सागर प्रान्त चाहता तो सहजमें यह कार्य हो सकता था कोई कठिन बात न थी। परन्तु हम स्वयं इतने कायर रहे जो स्वयं अपने अभिप्रायको पूर्ण न कर सके। अब पश्चातापसे क्या लाभ, अब तो वृद्ध हो गए। चलनेमें असमर्थ बोलनेमें असमर्थ लिखनेमें असमर्थ। यह सब होकर भी भावना वही है जो पूर्वमें थी। अब तो श्री पार्श्वदेवके निर्वाण क्षेत्रमें पहुँच गये हैं। क्या होगा प्रभु जाने। इस कार्यके योग्य क्षेत्र पार्श्व जन्म नगरी वाराणसी ही उपयुक्त है। यदि किसीके मनमें यह आवे तब इस कार्यको बनारस में ही प्रारम्भ करें।

मैंने अब क्षेत्रन्यास कर लिया। यदि क्षेत्रन्यास न किया होता तो अवश्य एक बार उस प्रांतमें जाता और एक वर्षमें ही इस कार्यकी व्यवस्था पूर्ण करवा लेता। ऐसे कई महानुभाव थे, पर अब वह बात दूर हो गई। अब तो पार्श्वप्रभुके चरणोंमें कालपूर्ण कर जन्मान्तरमें इस विकासको देखूंगा। यह मेरा भाव था सो व्यक्त करके निःशल्य हुआ।

अब मैंने १ मासमें एक बार पत्र देनेका नियम किया है। अतः कोई भाई पत्र व्यवहार न करे. जो भाई वा बहिन जिन्हें धर्म-साधनकी इच्छा हो वे निःशल्य होकर यहाँ धर्म साधन करें। यहाँ समागम ब्रह्मचारी श्री सुरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता वालोंका उत्तम है। तथा समय समय पर श्रीमान् प्यारेलालजी भगत जो कि विशिष्ट विद्वान तथा त्यागी हैं उनका भी समागम रहता है।

ईसरी आश्रम शुभचिन्तक
वैशाख बदी २ सं० २०११ गणेश वर्णी

नोटः—परम धार्मिक बन्धुओंको सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि महाराज श्रीवर्णीजीने अपनी पर्याय भरमें बड़े ही अद्भुत कार्य किए हैं। जो जो प्रण किए उन्हें अपने ही समक्ष पूर्ण किए। इस ८० वर्षकी वृद्धावस्थामें सर्व दिशाओंकी यात्रा समाप्त कर सागरसे अन्तिम यात्रा ७०० मीलकी क्रमशः ५ मील प्रति दिन चल कर पूर्ण की, और इस निर्वाण पुरीको ऐश्वर्य अन्वित कर केवल्यके ध्येयसे अपनेको ईसरी में ही अचल बनाया। आज महाराजके मुखारबिन्दसे जो अमृत वर्षा हुई वह इस प्रकार है—

शरीरके वेगोंको रोकनेसे कोई लाभ नहीं। भूखकी बाधा होगी। तब एक दिन नहीं सहोगे दो दिन नहीं सहोगे अन्तमें खाना ही होगा। इसी तरह निद्रा है कब तक नहीं सोवोगे अन्तमें सोना ही पड़ेगा। हाँ आत्माके वेगोंको रोको। क्रोधादिको छोड़ो। यदि क्रोध न करोगे तो काम चल जाएगा। शान्ति क्षमा आदिसे जीवन व्यतीत होगा। इससे ही आनन्द होता है! यह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वाध्याय करो लक्ष्य संवर निर्जराका रखो। केवल ज्ञानवृद्धिका नहीं। ज्ञान तो स्वभाव ही है। कम हो या ज्यादा आशा रहित करो। इसी तरह सब काम ताव आने पर होते हैं। जैसे रोटी सेंकनेका ताव। कड़ाईका ताव विद्यार्थीको परीक्षाका ताव। दुकानदारको विक्रीका ताव। आपका नरभवका ताव आया। इसलिए तैयार हो जाओ कुछ न कुछ छोटी सी प्रतिज्ञा करो उसमें भंग होनेका भय न करो। भंग होने पर सावधानीसे प्रतिज्ञाको सम्भालो। एक बार नरभवको इसी अज्ञान रागादि निवारणमें लगादो आदि।

श्री वर्णी जीने यह भी संकेत किया कि प्राचीन जैनसाहित्यका संग्रह कार्य बनारसमें होगा। तदर्थ एक मकान होना चाहिये। जिसके लिये ४००००) तथा उसको सुशोभित करनेके लिए ४००००) के ग्रंथों की आवश्यकता होगी। इस तरह सब मिला कर ३०००००) की जरूरत है। एक हजारके ३०० सदस्य बन जांय तो सहजमें यह यह कार्य हो जाय। जिनवाणीकी सेवाके लिए अपने द्रव्यका सदुपयोग करनेका सुअवसर है।

गुरुभक्त सन्देश प्रकाशक—
शिखरचन्द्र जैन

धवलादि सिद्धान्त-ग्रन्थोंका उद्धार

[अभी पिछले दिनों मूडबद्रीमें सिद्धान्त ग्रन्थोंके फोटो वीरसेवामन्दिरकी ओरसे लिए गये थे। उसका समाचार गतांकमें दिया जा चुका है। उसका विस्तृत समाचार पाठकोंकी जानकारीके लिये विवेकाभ्युदयसे अनुवादित करके दिया जा रहा है। सम्पादक]

मूडबिद्रीमें गुरुवसदि (सिद्धान्त वसदि) में विराजमान श्री धवला, जयधवला और महाधवला तीनों सिद्धान्त ग्रन्थ जैन ग्रन्थ रचनामें प्रथम तथा महत्वपूर्ण महान ग्रन्थ राज हैं। इन महान ग्रन्थोंके कारण ही यह वसदि (मन्दिर) 'सिद्धान्त मन्दिर' अथवा 'सिद्धान्त वसदि' के नामसे प्रसिद्ध है। इन पवित्र ग्रंथोंके दर्शनों के लिए भारतवर्षके समस्त भागों से अनेक जैन यात्री प्रति वर्ष आते रहते हैं। इन सिद्धांत ग्रंथों का परिचय पहले 'वीर वाणी' और 'विवेकाभ्युदय'आदि पत्रिकाओंमें विस्तार रूप से दे दिया गया है। पुनः उसे यहाँ देना उचित नहीं समझता हूँ। 'विवेकाभ्युदय' कार्यालयसे प्रकाशित 'ऐडु कुसुम गलु' नामक पुस्तकमें भी इन ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है।

मूडबद्री में लिया गया फोटो ग्रुप।

अगली लाइन बाईं से दाईं ओर—(१) पुट्टा स्वामी ऐडवोकेट संपादक विवेकाभ्युदय मङ्गलौर (२) लाला राजकृष्णजी देहली (३) श्री १०५ स्वामी चारुकीर्ति जी महाराज भट्टारक मूडबिद्री (४) श्री पद्मराज जी सेठी मूडबिद्री

पीछे की लाइन—(१) श्री धर्मपाल जी सेठी वल्लाल (२) पं० चन्द्र राजेन्द्र जी शास्त्री साहित्यालङ्कार (३) श्रीधर्म साम्राज्यजी मङ्गलौर (४) बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता।

इन ग्रन्थोंकी भाषा संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा है। ये ग्रन्थ प्राचीन ताडपत्रके ऊपर प्राचीन शिलालेखोंकी तरह पुरानी कनडी लिपियोंमें काजलकी स्याहीसे लिखे गए हैं। इनमें धवलाकी तीन प्रतियाँ और जयधवला, महाधवलाकी एक एक प्रतियाँ हैं। ये प्रतियाँ अधिक प्राचीन हो जानेके कारण जीर्ण शीर्ण अवस्थामें हैं। उपर्युक्त धवलाकी तीन प्रतियोंमेंसे दो प्रतियाँ तो पूर्णतया जीर्ण एवं अपूर्ण रूपमें हैं।

मूडबिद्रीके अतिरिक्त अन्यत्र अप्राप्य इन ग्रन्थोंकी जीर्ण-शीर्ण अवस्थाको देखकर जैन समाजमें इन ग्रन्थ-रत्नोंके उद्धार करनेकी चिंता होने लगी। इसके कारण जैन समाजमे एक प्रकार का आंदोलन उत्पन्न होनेके कारण बम्बई के दानवीर सेठ माणिकचन्द जी और मे हीराचन्दजी नेमचन्दजी सोलापुरके सफल प्रयत्नसे सन १८९५ से १९२२ तक इन ग्रन्थोंकी एक एक देवनागरी और कनडी लिपिमें प्रतियाँ कराई गई। देवनागरी प्रति श्री ब्रह्मसूरि जी शास्त्री मैसूर और श्री गजपतिजी शास्त्री मिरज द्वारा तथा कनडी प्रति देवराज जी सेठी मूडबिद्री, शांतप्प इन्द्र, ब्रह्मय्या इन्द्र तथा पं० नेमराजजी इन्द्र (श्री पार्श्वकीर्तिजी स्वामी) द्वारा लिखी गई। इस कार्यके लिए प्रायः बीस हजार रुपये

खर्च हुए। इस प्रकार इन ग्रन्थोंका उद्धार प्रारम्भ हुआ।

इसके पश्चात् श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसाने १२,०००) बारह हजार रु० प्राप्त कर प्रो० हीरालालजी अमरावतीने प्रायः १९३९ में 'धवला' को सम्पादित कर हिन्दी टीकाके साथ १० भागोंमें अलग-अलग छपवा दिया। 'जयधवला' के दो भाग भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ मथुराकी ओरसे जयधवला कार्यालय बनारससे प्रकाशित हो चुके हैं। महाबन्ध अथवा महाधवलाका प्रथम भाग पं० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर सिवनीके द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित हुआ है। दूसरा तीसरा और चौथा भाग पं० सुमेरचन्दजी द्वारा सम्पादित होकर जिनवाणी उद्धारक संघकी ओरसे और पं० फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित हो रहे हैं। धवला और जयधवलाकी मुद्रणप्रतियोंको (प्रेस कापी) सरस्वती भूषण पं० लोकनाथजी शास्त्री पं० सुमेरचन्द्रजी द्वारा सम्पादित महाधवलाकी मुद्रण प्रति (प्रेस कापी) को पंडित एम० चन्द्र राजेन्द्र शास्त्री साहित्यालंकारने ताड़-पत्रीय मूलप्रतिके साथ मिला कर शुद्ध करके दी है।

इस बीच इन धवलादि ग्रन्थोंकी सुदीर्घ रक्षाकी आवश्यकताको समझ कर आचार्य प्रवर स्वर्गस्त श्री शांति-सागर जी महामुनिके उपदेशसे श्रीमन्त तथा धार्मिक लोगोंने 'धवला ग्रन्थको देवनागरी (बालबोध) लिपिमें ताम्र शासन करवाया।

धार्मिक जनताका हृदय इतनेमें भी शान्त नहीं हुआ। ताड़पत्रीय मूलप्रतियोंकी दिन दिन शिथिल होकर नष्ट हो जानेकी चिन्ता अब भी बनी हुई है। इसके लिए पूज्य आचार्य श्रीके आदेश पाकर उन शास्त्रोंके उद्धारके लिए स्थापित संघके कार्यदर्शी श्री बालचन्दजी देवचन्दजी शाह बम्बईने मूडबिद्री जाकर समस्त ग्रन्थोंके फोटो लेकर उन्हें यथा स्थित ताम्र शासन करानेके उद्देश्यसे कुछ दिनों के प्रयत्नसे फोटो कराकर ले गए। परन्तु वह कार्य अभी तक किसी कारण रुका हुआ पड़ा है।

उसके बाद बाहुबली स्वामीके महामस्तकाभिषेकके समय श्रवणबेल्गोलमें भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा-का अधिवेशन हुआ। उसमें मूडबिद्रीमें विराजमान धव-लादि ग्रन्थोंकी ताड़पत्रीय मूलप्रतियाँ जीर्ण-शीर्ण और शिथिल हो जानेके कारण उनका चित्र लेकर विस्तृत करा कर (enlargement) उसीको ताम्र शासनके रूपमें करा कर मूडबिद्रीमें ही स्थापित किया जाय इस प्रकारका एक प्रस्ताव पास हुआ था जो आठवें प्रस्तावके नामसे प्रसिद्ध है। परन्तु अब तक वह प्रस्ताव कार्य रूपमें परिणत नहीं हुआ। फलतः इसी उद्देश्यकी पूर्ति करनेकी सद्भावनासे प्रेरित होकर देहलीके प्रसिद्ध साहूकार धर्मात्मा लाला राजकृष्णजी जैन बाबू छोटेलालजी कलकत्ता वाले और पं० खूबचन्दजी शास्त्रीने प्रसिद्ध फोटोग्राफर श्री मोतीरामजी जैन देहलीके साथ मूडबिद्री आकर अपना सद् उद्देश्य समझाया और ताड़पत्रीय मूल प्रतियोंका चित्र लेकर उसे ताम्र शासनमें कराकर मूडबिद्रीमें पुनः स्थापित करनेका प्रतिज्ञापत्र भी गुरुवसदिके ट्रस्टियोंके सामने भर दिया गया। वह प्रतिज्ञापत्र इस प्रकार है —

महाशयजी,

प्राचीन कालसे मूडबिद्रीके गुरुवसदिमें आप लोगोंकी देख रेखमें विराजमान ताड़पत्रीय सिद्धान्त ग्रन्थोंकी छाया प्रतियाँ (Photo) को लेकर उन्हें ताम्रशासनके रूपमें परिणत करनेकी अनुमति प्रदान करेंगे, हमें आपसे ऐसी अपेक्षा है। हम प्रतिज्ञा करते हैं, उन ताम्र प्रतियोंको हम मूडबिद्रीके उसी गुरुवसदिमें स्थापित करेंगे। आप लोगों-को इस कार्यको अनुमति देकर बहुत बड़ी कृपा की है।

उपर्युक्त प्रतिज्ञा पत्र आप लोगोंके द्वारा स्वीकृत होने पर हम उन ग्रन्थोंकी छाया प्रतियोंको लेनेके अधिकारी हैं।

छोटेलाल जैन कलकत्ता, राजकृष्ण जैन दिल्ली
खूबचन्द जैन शास्त्री इन्दौर

पंचोंकी ओरसे, श्री पद्मराज सेठी, श्री धर्मपाल सेठी

जैनागमकी रक्षाके इस पुनीत कार्यके लिए गुरुवसदि-के ट्रस्टियोंने सन्तोषसे अनुमति प्रदान की। इनके अतिरिक्त श्री मंजय्या हेगड़े धर्मस्थल, श्री एम० के० देवराज मंगलूर, पूज्य स्वामीजी मूडबिद्री, श्रीजगत्पालजी, श्री पट्टन सेठी, श्रीपद्मराजी और श्री बल्लाल आदि स्थानीय और बाहरके महानुभावोंने इस कार्यकी प्रशंसा कर प्रोत्साहन दिया। इन धवलादि ग्रन्थोंके फोटो लेनेका कार्य इसी महीनेमें दिनांक ४ से प्रारम्भ होकर ९ तक पूर्ण हुआ।

ग्रन्थोंके फोटो लेनेके कार्यमें पं० के० भुजबली शास्त्री पं० चन्द्रराजेन्द्र शास्त्री, पं० नागराज जी शास्त्री, पं० देव कुमारजी जैन आदि महानुभावोंने जो सहायता व परिश्रम किया, इसके लिये हम आभारी हैं।

—सम्पादक विवेकाभ्युदय

साहित्य परिचय और समालोचन

१ वर्णीवाणी (द्वितीयभाग)—संकलयिता और सम्पादक विद्यार्थी नरेन्द्र। प्रकाशक, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन-ग्रंथ-माला भदैनीघाट, काशी। पृष्ठसंख्या ४४८। मूल्य सजिल्द प्रतिका ४) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है। पूज्य वर्णीजी भारतके ही नहीं; किन्तु समस्त संसारके अद्वितीय महापुरुष हैं, उनका त्याग, तपश्चर्या, तथा आत्मसाधना, विवेकवती प्रज्ञा, लोकोद्धारकी निर्मल भावना और उनकी कल्याणकारक वाणी जगतके जीवोंका हित करनेमें समर्थ है। [illegible]जीकी पावन और मधुरवाणीको, जो समय समय पर उनके द्वारा पत्रादिकोंमें लिखी गई, संकलन किया गया है। वह कितनी मूल्यवान है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है, जिन्होंने उनके आध्यात्मिक पत्रोंका अध्ययन किया है उनके भाषण और प्रवचन सुने हैं वे उसके महत्वसे परिचित ही हैं। इस पुस्तकमें भाई नरेन्द्रजीने उनके प्रवचन, अभिलेख और दैनन्दिनीके सारपूर्ण वाक्योंका सिलसिलेवार यथास्थान संकलन कर दिया है। इसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। पुस्तककी छपाई सफाई अच्छी है। आत्महितेच्छुओंको उसे मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये।

२ जीवन्धर—लेखक पं० अजितकुमार जी शास्त्री। प्रकाशक मन्त्री श्री जैन सिद्धान्तग्रन्थमाला दि० जैन धर्मशाला पहाड़ी धीरज, देहली। पृष्ठ संख्या ३१६। मूल्य सजिल्द प्रतिका दो रुपया।

इस पुस्तकमें भगवान महावीरके समकालीन राजा सत्यंधरके पुत्र जीवंधर कुमारका जीवन परिचय दिया गया है। जीवन्धरने अपने पिता सत्यन्धरसे काष्ठांगारके द्वारा छीने गए राज्यको पुनः प्राप्त किया और अन्तमें भगवान महावीरके समवसरणमें दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण किया, फलस्वरूप ध्यानाग्निके द्वारा कर्ममलको जलाकर स्वात्मोपलब्धिको—पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्यको—प्राप्त किया। और उनकी आठों स्त्रियोंने आर्यिकाके व्रतोंका सदनुष्ठान कर उत्तमार्थकी प्राप्ति की।

लेखकने इस पुस्तकमें उन्हींके पावनजीवनको संस्कृत ग्रन्थोंपर से लेकर आजकी हिन्दी भाषामें रखनेका यत्न किया है। भाषा मुहावरेदार और सुगम है। फिर भी उसमें साहित्यिक निखार होनेकी आवश्यकता है जिससे ग्रन्थ और भी उपयोगी बन सके। इस पुस्तकको पढ़कर सभी साधारणजन अपने जीवनको समुन्नत बनाने में समर्थ हो सकते हैं। लेखक ने ग्रन्थमें जहां तहां संस्कृत सूक्तियोंको अपने ही शब्दोंमें रखनेका यत्न किया है। इस पुस्तक की प्रस्तावनाके लेखक हीरालालजी शास्त्री कौशल हैं, पुस्तक पठनीय है इसके लिये लेखक महानुभाव धन्यवादार्ह हैं।

३ चन्दबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—सम्पादिका श्रीसुशीला देवी सुलतानसिंह जैन, श्री० जयमालादेवी जिनेन्द्र-किशोर जैन दिल्ली। प्रकाशिका अ० भा० दि०जैन महिला परिषद्, पृष्ठ संख्या लगभग ७००। मूल्य १०) रुपया।

ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी इस शताब्दीकी सभ्रान्त कुलकी ख्याति प्राप्त एक विदुषी जैन महिला हैं। जिन्होंने महिलाओंके जागरणस्वरूप समाज-सेवामें प्रमुख हाथ बटाया है। उन्होंने समाजमें शिक्षा-साहित्य, पत्रकारिता तथा दूसरे लोकसेवाके उपयोगी कार्योंमें अपना साधनामय जीवनव्यतीत किया और कर रही है। आपका व्यक्तिगत जीवन, बड़ा ही निस्पृह, सीधा सादा रहन-सहन, त्याग और साधना स्पृहाकी वस्तु हैं। वे आराकी जैनजागृतिकी तो उत्तम प्रतीक हैं ही। साथ ही चरित्र निष्ठा, सरल व्यवहार और गुणानुराग उनके जीवनके सहचर हैं। ऐसी महिला रत्नको उनकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें अभिनन्दन ग्रन्थभेंट करनेका एक प्रस्ताव सन् ४८ ई० में देहलीमें पास हुआ था। जो आगत अनेक विघ्नबाधाओंको पार करता हुआ पूर्ण होकर अपने वर्तमान रूपमें महावीर जयन्तीके इस शुभअवसर पर देहलीमें उपराष्ट्र पतिके द्वारा समर्पित किया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थ ६ विभागोंमें विभाजित है १ जीवन संस्मरण और अभिनन्दन २ सन्तोंके शुभाशीर्वाद और श्रद्धाञ्जलियाँ ३ दर्शन-धर्म ४ इतिहास और साहित्य, ५ नारी अतीत प्रगति और परम्परा, और ६ विहार। इनमें से प्रथम विभागमें ३० व्यक्तियोने ब्र० चन्दाबाईजीके जीवन पर अनेक दृष्टि बिन्दुओंसे प्रकाश डाला है। दूसरे में ५५ सन्तों, महिलाओं, सज्जनोंने अपने आशीर्वाद और श्रद्धांजलियाँ भेंट की हैं। अवशिष्ट चार विभागोंमें विविध विद्वान लेखकों द्वारा विविध विषयों पर लिखे गये ७८ लेख दिये हुए हैं। चित्रों की पृष्ठ संख्या १६ है जिनमें बाईजी और उनके परिवारसे संबन्धित चित्रोंके अतिरिक्त अनेक मूर्तियोंके कलापूर्ण चित्र भी

दिये हुए हैं।

इस ग्रन्थमें जहां ब्र० चन्दाबाईजीके पावन जीवन और उनकी महत्वपूर्ण सेवाओंपर प्रकाश डाला गया है वहां जैन-संस्कृतिके विभिन्न अंगों, नारीजातिकी विविध समास्याओंके साथ उनकी कर्मस्थली विहारका गौरवर्ण इतिवृत्त भी पठनीय सामग्री प्रदान करता है।

अभिनन्दन ग्रन्थ जहाँ उपयोगी बना है। वहां लोगोंकी संकीर्ण एवं अनुदार मनोवृत्तिका स्मरण हो आता है, जिस शिल्पीने कठिन परिश्रम, प्रतिभा और कलाके द्वारा उसे वर्तमान मूर्तिमान रूप दिया है उसका नामोल्लेख भी नहीं है अस्तु, काश ! हमलोग इतने विवेकी, सहृदय और समुदार होते, तो शिल्पीकी कला, तथा प्रतिभाका अवश्य ही मूल्यांकन करते और साधुवाद देते। यदि किसी कारणवश उसमें समर्थ न हो पाते, तो साधुवादमें उसका नामोल्लेख किये बिना भी नहीं चूकते। पर इसमें वह भी नहीं है यह खेदका विषय है।

प्रस्तुत ग्रन्थकी प्रेससम्बन्धी अशुद्धियों और वाइडिंग आदिकी त्रुटियोंपर लक्ष्य न दें, तो भी परिमाण तथा सामग्री की दृष्टिसे ग्रन्थ काफी सुन्दर बन गया है। गेट अब चित्ताकर्षक है। ग्रन्थके अन्तमें आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाली महिलाओंकी एक सूची भी लगी हुई है।

४ राजस्थानके जैन शास्त्र-भंडारोंकी ग्रन्थ-सूची (द्वितीय विभाग)—सम्पादक पं० कस्तूरचन्दजी एम. ए. शास्त्री काशलीवाल। प्रकाशक—सेठ वधीचन्द्र गंगवाल मंत्री प्रबन्धकारिणी कमेटी, श्री दि० जैन अतिशयक्षेत्र श्री महावीर जी (जयपुर)। पृष्ठ संख्या सब मिला कर ४३६। मू० सजिल्द प्रतिका ८) रुपया।

राजस्थान दिगम्बर जैन समाजका केन्द्रस्थान रहा है, जैनियोंका पुरातत्त्व और हस्तलिखित अपार ग्रंथराशि, अनगिनत मूर्तियाँ, शिलालेख, कलापूर्ण मन्दिर उनकी गरिमाके प्रतीक हैं, राजस्थानके खण्डहरों और भूगर्भमें अभी प्राचीन सामग्री दबी पड़ी है। राजस्थान जैनाचार्योंकी रचनाका स्थान भी रहा है जिस पर फिर कभी विचार किया जावेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमें जयपुरके दो दिगम्बर जैन मन्दिरोंके शास्त्रभण्डारोंके ग्रन्थोंकी सूची दी हुई है जिनके नाम हैं—१ पं० लूणकरणजी पांड्याका शास्त्रभण्डार और दूसरा तेरह पंथियोंके दि० जैन मन्दिरका शास्त्रभंडार। दूसरे शास्त्र भण्डारमें ग्रन्थोंका अच्छा संकलन है।

प्रथम शास्त्र भण्डारमें ८०० हस्तलिखित ग्रंथ और २२५ गुटके हैं। इस भण्डारमें सबसे पुराना सम्वत् १४०७ का हस्तलिखित ग्रन्थ परमात्मप्रकाश है। भट्टारक सकल कीर्तिके 'यशोधर चरित्र' की प्रति भी सचित्र है जिसमें कथा प्रसंगमें लगभग ३५ चित्र दिये हुए हैं। 'मल्लिषेणाचार्यका २३८ पत्रात्मक विद्यानुवाद' नामक संस्कृतका एक सचित्र मूल ग्रन्थ भी मूल्यवान और प्रकाशनके योग्य है।

दूसरे भण्डारमें २६२१ ग्रन्थ हैं जिनमें ३२४ गुटके भी शामिल हैं। इन गुटकोंमें अनेक छोटे छोटे पाठों अथवा ग्रंथोंका अच्छा संग्रह पाया जाता है। इस शास्त्र भण्डारकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संगृहीत साहित्य साम्प्रदायिकताके संकुचित दायरेसे उन्मुक्त है। इसमें व्याकरण छन्द, काव्य, कथा, दर्शन, संगीत, ज्योतिष, वैद्यक पुराण चरित इतिहास आदि विविध विषयोंके ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह किया गया है। इस भण्डारकी लिखित निम्न प्रतियाँ दर्शनीय एवं प्राचीन हैं। संवत् १३२१ का योगिनीपुर (देहली) में लिखा हुआ आचार्य कुन्दकुन्दका पंचास्तिकाय, सम्वत १४६० की विद्यानन्दाचार्यकी अष्टसहस्री। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इस भंडारमें कुछ नूतन ग्रन्थ भी मिले हैं जिनके अस्तित्वका पता अभीतक दूसरे भंडारोंसे नहीं चला था। यहां उदाहरणके तौर पर कुछ ऐसे ग्रंथोंके नामोंका भी उल्लेख करदेना उचित समझता हूँ।

१ प्रवचनसार अमितगति २ योगसार श्रुतकीर्ति ३ पंचरत्न परीक्षा अपभ्रंश, ४ नागकुमारचरित पं० धर्मधीर, ५ प्रद्युम्नचरित भ० सकलकीर्ति, ६ यत्याचार वसुनन्दि (प्राकृत), ७ पार्श्वनाथ चरित असवाल, अपभ्रंश, ८ णिकचरित और धन्यकुमार चरित यशः कीर्ति, १० संगीत सार, दामोदर ११ उत्तरपुराणटिप्पण लिपि सम्वत् १५६६ १२ विमलनाथ पुराण, रत्नचन्द्र हिन्दी।

१३ सिद्धान्तार्थसार, कविरइधू। इस ग्रंथकी सं १५६३ वैशाख शुक्ला त्रयोदशी भोमवारको कुरु जांगल देशस्थ सुवर्णपथ (स्वनिपद) या सोनीपतमें पातिशाह बाबर मुगल काबिलीके राज्यमें लिखी हुई ६६ पत्रात्मक अपूर्ण प्रति मैंने सन् ४४में बाबा दुलीचन्द्रजीके शास्त्रभंडारमें देखी थी, उसी परसे उसका आद्यभाग और लेखक प्रशस्ति नोट की गई थी। हर्षकी बात है कि इस उपलब्ध प्रतिसे जो १५५ पत्रा-

(शेष टाइटिल के दूसरे पृष्ठ पर)

अनेकान्तका द्विवार्षिक हिसाब

चिट्ठा हिसाब अनेकान्त वर्ष ११वां

(सितम्बर सन् ५० से मई सन् १९५३ तक)

आय (जमा)

१३५०।=) ग्राहक खाते जमा, जिसमें १५४ वी. पी. से प्राप्त हुआ पोस्टेज भी शामिल है।

१३५०।=)

११६) साधारण सहायता खाते जमा

११६)

१६०।≈)।। फाइलों और फुटकर किरणों की विक्रीखाते जमा।

१६०।≈)।।

३२≈) सूद खाते जमा, जो ला० कपूरचन्दजी कानपुर से प्राप्त हुए

३२≈)

४६।≈) कागज खाते जमा बावत १५४ शीट ह्वाइट प्रिन्टिंग और ३६० शीट आर्टपेपर जो इस वर्ष खर्च होने से बचा है।

४६।≈)

१७८८)।।

८६४०) संरक्षकों और सहायकोंसे प्राप्त सहायता

१०३४८)।।

व्यय (खर्च)

२३३३।।।≈) पिछले वर्षका घाटा ❀

१३३५≡) कागज खाते नाम इस प्रकार—:

९२६≈।। कागज सफेद २४ पौंड, २०×३० साइज ४६ रिम, मयमजदूरी के।

३४७।≡) आर्टपेपर टाइटिल और चित्रोंके वास्ते ७। रिम, मयमजदूरी,

५८।।–)।। रेपर पेपर १ रिम १२ दस्ते मयमजदूरी

१३३५≡)

६०) डिजाइन खाते खर्च जो आशाराम शुक्लाको दिये गये

११६।।) ब्लाक बनवाई खाते जिसमें १०७≡)।। धूमीमल धर्मदास को ६।)।। मुरारी फाइन आर्ट दिल्लीको दिये गये।

११६।।)

३२०) चित्रखाते खर्च ३०४) कलकत्तासे चित्रोंके छपकर आनेमें मयआर्ट पेपर, छपाई, पोस्टेज और पैकिंग मा० बा० छोटेलालजी कलकत्ताके १६) 'शास्ता वीरजिन' चित्रकी छपाई धूमीमल धर्मदास दिल्ली को

२४३८।।) छपाई बंधाई अनेकान्त खाते, खर्च इसप्रकार

१५१३) नेशनल प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली को

८५७) रूपवाणी प्रेस दिल्लीको

४८) धूमीमल धर्मदासको छपाई टाईटिल पेज दुरंगा ३००० कापी

❀ दशवें वर्षकी किरण ११-१२ में उस वर्षका हिसाब प्रगट करते हुए घाटे की अन्दाजी रकम २४७६।।) प्रगट की गई थी। साथ ही उस संयुक्त किरणकी बावत खर्चके अन्दाजन ३००) देने बाकी लिखे गए थे, जिसके स्थानपर २७५≈) दिये गये। इससे २४।।।≈) की रकम घाटेमें कम हुई और ११७।।) की प्राप्ति विज्ञापनादिसे और होकर २३३३।।।≈) की रकम घाटे की स्थिर रही।

२०) रैपर पेपरकी छपाई शक्ति प्रिंटिंग प्रेस और धूमीमल धर्मदासको

२४३८॥)

१३) विज्ञप्ति और पोस्टरकी छपाई शक्ति प्रेस तथा रूपवाणी प्रेसको।

३४।।।) स्टेशनरी खर्च खाते

११६।≈)॥ सफर खर्च खाते

१६००) वेतन खर्च, जो पं० परमानन्दजीको १४ मासके दिये गये

७।।।-। मुतफर्रिक खर्च खाते

२१०॥≡। पोस्टेज खर्च खाते

१५) लेख पुरस्कार खर्च खाते

६५६७॥-)॥।

८६० ॥≡)॥।

१४४६॥)॥। शेष रहे।

१०३४८।)॥

जुगलकिशोर मुख्तार, परमानन्द जैन शास्त्री

चिट्ठा हिसाब अनेकान्त वर्ष १२वां

(जून सन ५३ से मई सन १९५४ तक)

१४४६॥)॥। पिछला बकाया

६६०॥) अनेकान्त ग्राहक खाते जमा, जिसमें वा. पी. से प्राप्त पोस्टेज भी शामिल है

६६०॥)

१४६) साधारण सहायता खाते जमा, जिससे जैनेतर विद्वानों और लाइब्रेरी आदिको अनेकान्त फ्री भेजा गया

१४६)

६२६) संरक्षक सहायता फीस खाते जमा

६२६)

६६।≡)॥ फाइल और फुटकर किरण विक्रीखाते जमा

६६।≡)॥

५) विज्ञापन खाते जमा

६।।≈) आटपेपर ७३ सीट शेष

४०-)॥ कागज खाते जमा जो १२वीं किरणके अतिरिक्त बचा, सफेद कागज २ रिम १८६ सीट

२१८०॥≡)

१४४६॥)॥।

३६२७≡)॥।

६८६॥-)॥। घाटेकी रकम देना

परमानन्द जैनशास्त्री प्रकाशक अनेकान्त

६१७।≡)॥ कागज खर्च खाते नाम, मय आर्ट पेपर के

८८६॥≡)॥ जो टाइटिल व चित्रोंमें लगा है

३०॥।) पेपर रिम १

६१७।≡)॥

२०२०॥) छपाई बन्धाई खाते खर्च

१८२८) ११ किरणोंका रूप-वाणी प्रेसको दिये

१७५) के लगभग १२ वीं किरण का देना

१७॥) रैपर छपाई

२०२०॥)

६२।-) ब्लाक बनवाई खाते खर्च

१७।-) ब्लाक ३ बनवाई और सुधराई

४५) ब्लाक ५ की बनवाई पुरानी फाइल आदि

६२।-)

११॥≈)॥ स्टेशनरी खर्च खाते

२॥) सफर खर्च खाते

१७७।≈)॥ पोस्टेज खर्च खाते

१६७।≈)॥ किरण ११ का

१०) किरण १२ वीं का

१७७।≈)॥

१४२५) वेतन खर्च खाते नाम

१०५०) पं० परमानन्दजी को ७ मांहका दर १५०) से

३७५) पं०जयकुमारजी को ५ माहका

१४२५)

४६१६॥।-)॥

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) ... १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमलकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ।॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—श्री० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा० टी० एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, ए
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्री ज्ञानवतीदेवी ध० वैद्य आनन्ददास देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली